Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

19758

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



पुस्तकालय

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय,

हरिद्वार

वर्ग संख्या 530

आगत संख्या 16.2

पुस्तक-वितरण की तिथि नीचे अंकित है । इस तिथि सहित १५वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए । अन्यथा ५ पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा ।

11 FEB 1976

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

५३०
१६६(२१)
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

The Sushruta Sanhita
Sharira...

Prithwi Raj
Prithwi Raj II yr

विजयकुमार
विजय कुमार
विजय कुमार
Prithwi Raj

Avanindra Kumar II yr

81

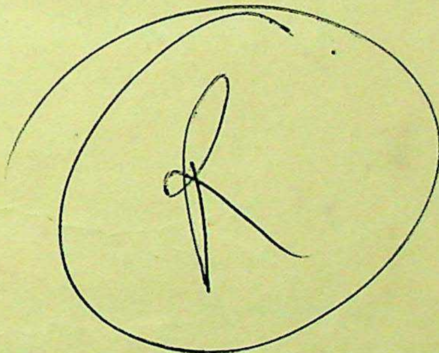
Avanindra

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

Vinay Kumar
Vinay
Vinay

विनयकुमार कुशाल
विनयकुमार कुशाल

Vinaya Kumar
Kul
Kush
Prithwi Raj. II yr
Avanindra Kumar II
Vinaya Kumar



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...ानों का रहा

...ां - सत्वरजस्तम सामान्य

...जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तं नाम

...ताब्राह्मणाः पराः शौचाचाररहितेरताः। निर्गुणान् ॥

...गुणान् प्रसूयन्ते निपरीता (लि) सलिलार्चितान् ।

...लवस्थितता और्वो भीरुत्वं

...रस्परामिमर्दश्च मत्स्य यन्त्रस्य लक्षणम्॥ [illegible] जिसकी [illegible]

[illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

SUSHRUTA SAMHITĀ

WITH HINDI COMMENTARY NAMED

"AYURVEDA RAHASYADĪPIKĀ"

BY

DR. BHĀSKAR GOVIND GHĀNEKAR

B. Sc. (Bombay), M. B. B. S. (Bombay), Ayurvedāchārya, Goldmedalist and Prizeman (All India Ayurveda Vidyapitha), Author of Swāsthya Shiksha Pathavali, Swasthya Vijnan, Jivāṇu Vijnān, Jivanrasāyan Chikitsā Shāstra, Aupasargic Roga, Comparative Survey of Ayurvedic Nosology, Ayurvedic Conception of Urine formation in human body etc. Lecturer, Ayurvedic College, Hindu University, BENARES.

VOLUME II.

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

(Shārirsthān)

PUBLISHED BY

MEHAR CHAND LACHHMAN DAS

Sanskrit and Hindi Booksellers, Publishers & Printers

Jain Street, LAHORE.

First Edition] *1941* [*Price 3/-/-*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

tanga Hridaya

Vagbhata.

Sushruta Sanghita

Charaka Sanghita

Charaka

Charaka

Printed by

KHAZANCHI RAM JAIN AT THE MANOHAR ELECTRIC PRESS,
SAID MITHA BAZAR, LAHORE.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीः

महर्षिणा सुश्रुतेन विरचिता

सुश्रुतसंहिता

आयुर्वेदरहस्यदीपिकाख्यया हिन्दीव्याख्यया समुल्लसिता

शारीरस्थानात्मकः

द्वितीयो भागः

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी

अनुवादक

डॉ० भास्कर गोविन्द घाणेकर

बी० एस० सी० (बॉम्बे), एम० बी० बी० एस० (बॉम्बे), आयुर्वेदाचार्य, सुवर्णपदक और पारितोषिकप्राप्त (निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद विद्यापीठ), स्वास्थ्यशिक्षा-पाठावलि, स्वास्थ्यविज्ञान, जीवाणुविज्ञान, जीवनरसायनचिकित्साशास्त्र, Comparative Survey of Ayurvedic nosology, Ayurvedic conception of Urine formation in Human body,

अध्यापक आयुर्वैदिक कालेज

हिन्दू-विश्वविद्यालय, श्रीक्षेत्र काशी

19758

प्रकाशक

मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास

संस्कृत-हिन्दी पुस्तक-विक्रेता, प्रकाशक तथा मुद्रक

सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर

प्रथमावृत्ति] संवत् १९९७ विक्रमी [मूल्य ३)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक—
लाला तुलसीराम जैन, मैनेजिंग प्रोप्राइटर, मेहरचंद्र लक्ष्मणदास, संस्कृत हिंदी पुस्तक विक्रेता, सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर।

पुनर्मुद्रणादिसर्वेऽधिकाराः प्रकाशकायत्ताः
All Rights Reserved by the publishers.

मुद्रक—
लाला खज़ानचीराम जैन, मैनेजर, मनोहर इलेक्ट्रिक प्रेस, सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निवेदन

शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठो न च नष्टः कथञ्चन।
व्याख्याने तु परं कष्ट इति मे निश्चिता मतिः ॥
टीकाकारयशःप्रार्थी ह्यतो यास्यामि हास्यताम्।
प्रांशुलभ्यं फलं प्राप्सुरुद्वाहुरिव वामनः ॥
तथापि कृतवाग्द्वारे कार्येऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः।
मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः ॥

श्रीविश्वनाथजी की असीम कृपा से आयुर्वेदरहस्यदीपिका के शारीरस्थान का दूसरा भाग पाठकों की सेवा में उपस्थित करने का परम सौभाग्य आज मुझे प्राप्त हुआ है। सूत्रनिदानस्थानात्मक प्रथम भाग प्रकाशित होने के पश्चात् अनेक आयुर्वेदप्रेमी डाक्टरों, वैद्यों तथा आयुर्वैदिक स्कूल, कालेज और पाठशालाओं के विद्यार्थियों ने मुझे प्रशंसात्मक अनेक चिट्ठियाँ लिखीं और इसको शीघ्र समाप्त करने का अनुरोध किया। कुछ लोगों ने समय समय पर इस अनुरोध का स्मरण दिलाने का भी कष्ट उठाया। इसके संबंध में मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि ग्रंथ को शीघ्र समाप्त करने का संकल्प प्रारंभ से ही मैंने कर रक्खा था। परन्तु जिस ढंग से ग्रंथ लिखने का काम मैंने प्रस्तुत किया, वह ढंग तार पर चलने के काम के समान कठिन होने के कारण तथा कुछ अघटितघटनाजनित मानसिक औदासीन्य के कारण ग्रंथ को शीघ्र समाप्त करने का मेरा संकल्प दिन प्रतिदिन दूर होता जा रहा। तो भी शारीरस्थान, जो सुश्रुतसंहिता का सर्वश्रेष्ठ स्थान है; तथा जो अपनी दुर्बोधता के कारण विद्यार्थियों के सामने सदा के लिए एक मतिकुण्ठनस्थान या उलझन-सा बना रहा और प्रथम भाग प्रकाशित होने के समय से विद्यार्थी जिसको पाने के लिए बहुत ही उत्कंठित रहे, समाप्त करके मैंने अपना तथा विद्यार्थियों का बहुत कुछ काम समाप्त कर लिया है।

इस भाग में भी प्रथम भाग की भाँति मूल, अनुवाद और वक्तव्य का ढंग रक्खा गया है। परन्तु विषय अत्यन्त गहन होने के कारण वक्तव्य अधिक विस्तृत और संस्कृत तथा अँग्रेजी ग्रंथों के उद्धरण अधिक संख्या में सविस्तर दिये गये हैं। इसके सिवा अनेक पाठकों से सूचना मिलने के कारण संस्कृत उद्धरणों के अध्यायादि का निर्देश किया गया है। इस टीका के लिए जिन अनेक ग्रंथों से सहायता मिली है, उनका निर्देश प्रथम भाग में करना मैं भूल गया था। इस भाग में उन ग्रंथों में से मुख्य मुख्य ग्रंथों के नाम कृतज्ञता-पूर्वक दिये गये हैं।

प्राचीन काल में सुश्रुतशारीर शारीरविषयक ग्रंथों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। इसका प्रमाण निम्न लोकोक्ति में मिलता है—निदाने माधवः श्रेष्ठः, सूत्रस्थाने तु वाग्भटः। शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठः, चरकस्तु चिकित्सिते॥ आधुनिक काल में पाश्चात्त्य शारीरविषयक ग्रंथों के साथ तुलना होने के कारण सुश्रुतशारीर की सारी श्रेष्ठता जाती रही। इसका प्रमाण म० म० कविराज गणनाथ सेन जी के निम्न वचन में मिलता है—"एवञ्च योऽसौ 'शारीरे सुश्रुतः श्रेष्ठः' इति प्राचीनप्रवादः, स वृद्धसुश्रुतमधिकृत्य प्रचलितो नेदानीन्तने सुश्रुते भग्नप्रच्छिन्नभूयिष्ठे प्रयोक्तव्य इति निःशङ्कं ब्रूमः। इदानीन्तु हन्त 'शारीरे सुश्रुतो नष्टः' इत्येव युज्यते विलपितुम्॥" (प्रत्यक्षशारीर प्रस्तावना, चतुर्थपाद)। कविराज जी का यह मत प्रत्यक्षशारीर (Anatomy) लिखते समय प्रकट हुआ है, इस बात को न भूलना चाहिए। प्रत्यक्षशारीर सुश्रुतशारीर का एक अंश है। इसमें प्रत्यक्षशारीर के अतिरिक्त सांख्य, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, अनुवंशिकता (Heredity), सुप्रजाजनन (Eugenics), गर्भवृद्धि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विज्ञान (Embrgology), शारीरकार्यविज्ञान (Physiology), मनोविज्ञान (Psychology, Psychogeny), स्त्रीरोग और प्रसूतितन्त्र (Gynecology and midwifery), कौमारभृत्य (Paediatrics) इत्यादि गहन विषय सूत्र रूप में गागर में सागर की भाँति भरे हुए हैं। इसलिए कविराज जी के उपर्युक्त मत की यथार्थता एक अंश के लिए ही सीमित हो जाती है, सम्पूर्ण शारीर के लिए नहीं। मेरी अल्पबुद्धि के अनुसार पाश्चात्त्य वैज्ञानिक तुलनात्मक दृष्टि से सुश्रुतशारीरान्तर्गत सम्पूर्ण विषयों की जाँच-पड़ताल करने पर भी उसकी नष्टता की अपेक्षा श्रेष्ठता का ही परिचय मिलता है। यह मेरा मत कहाँ तक ठीक है, इसका निर्णय पाठकगण स्वयं मेरे ग्रंथ को पढ़कर कर सकते हैं।

आयुर्वैदिक ग्रन्थों में सुश्रुतसंहिता-जैसे सर्वोत्तम है, वैसे ही बहुत सरल भी है। परन्तु इसके लिए शारीरस्थान अपवाद है। इसमें अनेक गहन विषय थोड़े में वर्णित होने के कारण बहुत कठिनता आ गई है। परन्तु इस कठिनता में मुझे पत्थर कोयले के कालेपन का नहीं, हीरे की दीप्ति का अनुभव मिला। इसको मैंने ग्रन्थ में विद्यार्थियों के लिए सुलभ करने का भरसक प्रयत्न किया है। मैं जानता हूँ कि यह मेरा प्रयत्न टिड्डी के पैर उठाकर आकाश को स्पर्श करने के साहस के समान या फूस की नाव पर चढ़कर महासागर को पार करने वाले नाविक की हिम्मत के समान, या टिटहरी के चोंच में भर-भरकर नदी को सूखा बनाने की महत्त्वाकांक्षा के समान हास्यास्पद है। तो भी जैसा हो सका, यह काम करके पाठकों के सामने रक्खा गया है।

यह स्थान परम कठिन होने के कारण इसमें दोषों की कुछ अधिकता होना स्वाभाविक है तथा कई विषय विवादास्पद होने के कारण प्राचीन तथा अर्वाचीन आचार्यों के मत के साथ घोर विरोध प्रकट करना अनिवार्य हो गया है। ये दोष ग्रन्थकार के अज्ञान के और विरोध पक्षपातहीन वैज्ञानिक दृष्टि के परिणाम हैं। तो भी विरोध के लिए मैं उन आचार्यों से क्षमायाचना करता हूँ और विद्वान् चिकित्सकों और सहृदय पाठकों से नम्र निवेदन करता हूँ कि आप लोग हंस-क्षीरन्यायेन दोषों की ओर दृष्टि न देकर गुणों को ग्रहण करें और लेखक का साहस बढ़ावें—

संत-हंस गुण गहहिं पय, परिहरि वारि-विकार।

काशी विश्वविद्यालय
विजयादशमी
संवत् १९९७

निवेदक—

भास्कर गोविन्द घाणेकर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीः

शारीरस्थानस्य विषयानुक्रमणिका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अष्टम अध्याय

नवम अध्याय

दशम अध्याय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आयुर्वेदरहस्यदीपिका के प्रमाण-ग्रंथ

List of Books consulted

संस्कृत

१ ऋग्वेद
२ अथर्ववेद
३ तैत्तिरीयसंहिता
४ मनुस्मृति
५ याज्ञवल्क्यस्मृति
६ दक्षस्मृति
७ पाराशरस्मृति
८ आपस्तम्भस्मृति
९ अत्रिस्मृति
१० मन्वर्थमुक्तावली कुल्लूकभट्टविरचित
११ मिताक्षरा विज्ञानेश्वरविरचित
१२ रामायण
१३ महाभारत
१४ भागवत
१५ देवीभागवत
१६ विष्णुपुराण
१७ कूर्मपुराण
१८ योगवासिष्ठ
१९ भगवद्गीता
२० गौतमसूत्र
२१ न्यायसूत्र
२२ वैशेषिकसूत्र
२३ सांख्यसूत्र
२४ सांख्यकारिका
२५ योगसूत्र
२६ वेदान्तसूत्र
२७ कामसूत्र वात्स्यायनकृत
२८ सांख्यतत्त्वकौमुदी वाचस्पतिमिश्रकृत
२९ सांख्यप्रवचनभाष्य
३० सांख्यकारिकाभाष्य गौडपादाचार्यकृत
३१ वात्स्यायनभाष्य न्यायसूत्रस्य
३२ उद्योतकरवार्त्तिक न्यायसूत्रस्य
३३ ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य
३४ दशोपनिषत् शांकरभाष्य
३५ वैशेषिकसूत्रोपस्कार शंकरमिश्रकृत
३६ कणादसूत्रविवृति जयनारायण तर्कपंचाननकृत
३७ वैशेषिकभाष्य चन्द्रकान्तभट्टाचार्यकृत
३८ सांख्यसूत्रभाष्य विज्ञानभिक्षुकृत
३९ जयमंगला टीका (कामसूत्र) यशोधरकृत
४० श्वेताश्वतरोपनिषद् टीका शंकरानन्दकृत
४१ श्वेताश्वतरोपनिषद् नारायणकृत
४२ कठोपनिषद्
४३ प्रश्नोपनिषद्
४४ छान्दोग्योपनिषद्
४५ बृहदारण्यकोपनिषद्
४६ ईशावास्योपनिषद्
४७ गर्भोपनिषद्
४८ श्वेताश्वतरोपनिषद्
४९ मुण्डकोपनिषद्
५० पञ्चदशी
५१ पञ्चीकरणवार्त्तिक
५२ वास्तुशास्त्र मयकृत
५३ अर्थशास्त्र कौटिल्यकृत
५४ शुक्रनीति
५५ रतिमंजरी
५६ सिद्धान्तशिरोमणि भास्कराचार्यकृत
५७ गीतगोविन्द
५८ चरकसंहिता
५९ अष्टांगहृदय
६० अष्टांगसंग्रह
६१ भेलसंहिता
६२ शार्ङ्गधरसंहिता
६३ योगरत्नाकर
६४ भावप्रकाश
६५ चक्रदत्त
६६ वंगसेन
६७ वृन्दमाधव
६८ माधवनिदान
६९ क्षेमकुतूहल
७० उमामहेश्वरसंवादे नाडीज्ञानम्
७१ नाडीज्ञानतरंगिणी
७२ रसार्णव
७३ काश्यपसंहिता
७४ राजनिघण्टु
७५ मदनपालनिघण्टु
७६ धन्वन्तरिनिघण्टु
७७ प्रत्यक्षशारीर प्रस्तावनासहित
७८ सिद्धान्तनिदान
७९ संज्ञापंचकविमर्श
८० हारीतसंहिता
८१ आयुर्वेदसंदीपनीसुश्रुतटीका हाराणचन्द्रकृत
८२ आयुर्वेददीपिका चरकटीका चक्रपाणिकृत
८३ निबंधसंग्रह सुश्रुतटीका डल्हणकृत
८४ सर्वांगसुंदरा अष्टांगहृदयटीका अरुणदत्तकृत
८५ शशिलेखा अष्टांगसंग्रहटीका इन्दुकृत
८६ मधुकोष माधवनिदानटीका विजयरक्षितकृत
८७ आतंकदर्पण माधवनिदान टीका वाचस्पतिमिश्रकृत
८८ शार्ङ्गधरदीपिका आढमल्लकृत
८९ शार्ङ्गधर गूढार्थदीपिका काशीराम
९० रसयोगसागर प्रस्तावनासहित
९१ तर्कसंग्रह
९२ शाकुन्तल
९३ रघुवंश
९४ कुमारसंभव
९५ विक्रमोर्वशीय
९६ नीतिशतक, वैराग्यशतक
९७ अमरकोष
९८ मेदिनीकोष
९९ हलायुधकोष
१०० सुभाषितरत्नभाण्डागार
१०१ मेघदूत
१०२ उत्तररामचरित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ENGLISH

1 Anatomy by Grey
2 Physiology by W. D. Halliburton
3 ,, ,, Howell
4 Applied Physiology by Wrights
5 Physiology by Starlings
6 Materia Medica by Ghosh
7 Indian Materia Medica by Nadkarni
8 Text book of Medicine by F. W. Price
9 Text book of Medicine by Savill
10 Text book of Medicine by Osler
11 Text book of Medicine by Taylor
12 Preventive Medicine and hygiene by Rosenaw
13 Physiology in Health and disease by Wiggers
14 Manual of Pathology by Green
15 Manual of Pathology by Hewlett
16 Tropical Medicine by Rogers and Magau
17 Differential diagnosis by Herbert French
18 Symptom diagnosis by Barton and Yater
19 Lectures in diseases of children by Robert Hutchison
20 Surgery by Rose and Carless
21 Minor Surgery and Bandaging
22 Midwifery by Jellet
23 Midwifery by Ten Teachers
24 Diseases of Women by Bland-Sutton and Jiles
25 Sexual physiology by Chandra Chakrabarty
26 Introduction to sexual Physiology by Marshall
27 Riddle of Sex
28 Studies in the Psychology of Sex by Havelock Ellis
29 Psychology of Sex by Havelock Ellis
30 Ideal Birth by Von De Velda
31 Esoteric Anthropology Dr. Nicholas
32 Manual of Embryology by Frazer
33 Surgical Instruments of the Hindus by Mukerji, G. N.
34 History of Hindu Medicine by Mukerji, G. N.
35 Interpretation of Ancient Hindu Medicine by Chakrabarty
36 History of Hindu Chemistry by P. C. Ray.
37 Studies in the Medicine of Ancient India by Dr. Hoernle
38 English Translation of Sushrut Samhita by Dutt
39 Problem of Rebirth by Hon. Ralph Shirley
40 Book of Meditations by Allen James
41 From Unconscious to conscious by G. Geley
42 Reincarnation by Walker
43 Metaphysics of life and death by Tudor Jones
44 Idealistic view of Life by Sir S. Radhakrishnan
45 Positive sciences of the Hindus by B. N. Seal
46 History of Hindu Philosophy by Das Gupta
47 Medical Annual 1935
48 English Translation of Sushrut by Kaviraj Kunjlal
49 Sushrutic Anatomy by Gangadhar Shastri Joshi
50 Manual of Bacteriology by Muir and Ritchie

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुद्धिपत्र

[शारीरस्थान]

ग्रंथ को शुद्धिपत्र के अनुसार शुद्ध करके पढ़ने की कृपा करें।

पृष्ठ	पार्श्व	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१९	२	४	१०	१७
२१	२	११	हो रह हैं।	हो रहे हैं।
,,	१	४	Disuase	Disuse
२४	१	१३	पूर्ति	स्फूर्ति
,,	२	२८	गोशीषपवतो-त्पन्न	गोशीर्षपर्वतो-त्पन्न
३४	१	५	दस	उस
४२	१	२९	रग	रंग
,,	२	१८	फला	फैला
४५	१	४३	निभर	निर्भर
४६	१	२	आयुवद	आयुर्वेद
४९	१	४६	Fellatis	Fellatio
,,	२	१४	(३)	(४)
,,	,,	२२	Erogenieyones	Erogenic-zones
५०	२	९	altitude	attitude
,,	,,	१८	sexea	sexes
५१	१	१०	लिंग क	लिंग के
५७	१	२१	गभस्थः	गर्भस्थः
५८	२	२१	बेचारी	विचारी
६४	१	१४	गर्भधारणा को	गर्भधारणा के
८३	१	३५	पुष्टताक	पुष्टता के
८५	२	२७	Fribroids	Fibroids
८८	१	२७	Arimal	Animal
८९	१	४५	मोन्यूला (Monula)	मोरूला (Morula)
८९	२	३०	३९वें	४०वें
९५	१	३६	जीवने	जीवेन
९६	१	४६	म फक	में फर्क
१०२	१	७	Tendovs	Tendons
१०६	१	३५	quanulosum	granulosum
१०७	२	२०	,,	,,
,,	,,	३१	,,	,,
१०९	२	१५	Sinusoias	Sinusoids
११४	२	१५	enterious	entericus

पृष्ठ	पार्श्व	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११८	२	१८	Aureters	ureters
,,	,,	३४	Epydydimis	Epididymis
११९	१	२२	शोफसच्छेदात्	शेफसच्छेदात
१२६	१	३३	व्यवसार्थमित्यत्र	व्यवसायार्थ-मित्य
१२९	१	३	इसकी साक्षी	इसका साक्ष्य
,,	२	३५	३९वें	३६वें
१३४	२	१	Cordec	Chordee
१३५	२	३८	Pnetait	Patient
,,	,,	३६	विकारों म	विकारों में
१४२	१	११	अतिनील का	अति नील का
१४५	१	४५	'विहाराचार चपलम्'	'विहाराहार-चपलम
१४९	१	२६	Uneuen	Uneven
१५२	२	३९	Externatos	External c
१५४	१	३३	Frenulum lingvoe	Frenum lingae
,,	२	६	Lamboid	Lambdoid
१५९	२	२१	Fsemur	Femur
,,	,,	३२	starnum	sternum
१६१	१	१२	Anytomn	Anatomy
१६२	१	६	अस्थिमृदुता	अस्थिवक्रता
१६३	१	२२	qristle	gristle
१६३	१	२८	Extauditory	External auditory
१६८	१	३४	valnular	valvular
१७७	२	३३	Theoriatical	Theoretic
१८२	२	१७	scientificie	scientific
१९१	१	२६	peronacal	peroneal
१९१	२	३२	Gastronemius	Gastro-cnemius
१९२	१	३	Inadriceps	Quadrice
१९२	१	२३	Inginnal	Inguinal
१९५	२	१३	गलत है।	गलत नहीं
१९६	१	४०	inamnra	mamma

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९७	२	१८	Ischiaf	Ischial
१९९	२	४	orice	orifice
२०९	१	६	पित्त	रक्त
२११	२	८	linguac	linguae
२१५	२	१२	gaundice	jaundice
२१९	१	४१	३०वें	२९वें
२२५	१	३	अन्तेऽभिहिता	अन्तेऽभिहता
२२७	१	४५	कम हो जाता है।	काम हो जाता है।
२३१	२	१०	Prof. Bhanw	Prof. Bhanu
२३२	२	२४	३९वें	३६वें
२३५	२	१०	Dueta	Vasa
२५५	२	१६,१८,२२ २४,२९	पान मोटरी	पनमोटरी
५९	१	८	वश की पेशियाँ	वक्ष की पेशियाँ
२	१	४०	पान मोटरी	पनमोटरी
	२	९	bobules	tubules
२७१	२	१७	strarning	straining
२७१	२	२६	Plain	Plan
२८९	१	१५	succes	succes
२८९	१	१७	shehas brought on	shewas brought up on
२९१	२	३७	संगठन क्या	संगठन में क्या
२९६	२	९	चार प्रकार	चार विकार
३०३	२	४०	Pasteurigation	Pasteuri-sation
३०८	१	३५	ब्रह्मवर्चसकामस्य	ब्रह्मवर्चस-कामस्य
३०८	१	४६	धर्माधर्मौ त्रद्यायाम्।	धर्माधर्मौ त्रय्याम्।
३०८	२	४६	saued	saved
३१२	२	२	earlicr	earlier
३१२	२	३	inhabitanto	inhabitants
३१२	१	९	Pregnaney	Pregnancy

नोट—इनके अतिरिक्त ग्रंथ में मात्रा, अनुस्वार इत्यादि की कई अशुद्धियाँ हो सकती हैं। परन्तु पाठक उनको आसानी समझ सकते हैं। इसलिए उनका समावेश शुद्धिपत्र में नहीं किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास आयुर्वैदिक ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में प्रसिद्ध प्रसिद्ध आयुर्वैदिक ग्रन्थों के सर्वाङ्गसुन्दर संस्करण छापे जा रहे हैं। आवश्यकतानुसार हिन्दी भाषानुवाद सहित संस्करण या टीकाएँ भी छापी जायँगी।

१. **चक्रदत्त**—कविराज पं० सदानन्द शास्त्री रचित हिन्दी भाषानुवाद बहुत ही सरल और विस्तृत किया गया है। बढ़िया संस्करण ६) छः रुपया राजसंस्करण १२) साधारण संस्करण ४॥)

२. **चक्रदत्त**—शिवदास कृत संस्कृत व्याख्या सहित सजिल्द। विद्यार्थियों के लिये गुटका साइज में छपाया है। मूल्य ३॥)

३. **सुश्रुतसंहिता**—[सूत्रनिदानस्थान] भाषाटीका सहित। टीकाकार—डा० भास्कर गोविन्द घाणेकर बी० एस्० सी० (बाम्बे), एम. बी. बी. एस्. (बाम्बे), आयुर्वेदाचार्य, प्रोफेसर हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस। अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाषानुवाद तथा वक्तव्यों सहित वक्तव्यों में पूर्व और पश्चिम तथा प्राचीन और अर्वाचीन दोनों का सुन्दर सम्मिलन है। इस टीका को लिखने में अनेक संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी, मराठी, बंगाली ग्रन्थों से अमूल्य सहायता ली गई है। आज तक व्याख्या वा भाषा टीका सहित सुश्रुतसंहिता के जितने संस्करण निकले हैं, इसके सामने वे सब फीके पड़ गये हैं। भारतविख्यात श्रीयुत यादवजी त्रिकमजी आचार्य की मार्मिक भूमिका, टीकाकार का हृदयङ्गम निवेदन, विस्तृत विषयानुक्रमणिका, सुश्रुत में प्रयुक्त हुए सम्पूर्ण विशेष संस्कृत हिन्दी शब्दों की अनुक्रमणिका, अंग्रेजी इन्डेक्स (Index of english words in the Book) आदि उपयोगी विषय सहित। छपाई सफाई पाठशुद्धता अत्यन्त सुन्दर। निर्णयसागरी बढ़िया टाइप। उत्तम कागज। पुष्ट रमणीय जिल्द। पृष्ठसंख्या लगभग ५००। मूल्य लागतमात्र पाँच रुपये। ५)

४. **सुश्रुतसंहिता**—[शारीरस्थानमात्र] पं० जयदेव विद्यालङ्कार कृत सरल और विस्तृत हिन्दी भाषानुवाद सहित। व्याख्या की सरलता और मूलार्थाभिव्यञ्जकता की अनेकों विद्वानों ने भूरि भूरि प्रशंसा की है। यह संस्करण अन्य टीकाओं की अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट है। विद्यार्थियों के लिए तो यह अत्यन्त उपयोगी है। १॥)

५. **कैयदेवनिघण्टु**—अर्थात् पथ्यापथ्य विबोधक—हिन्दी अनुवादसहित। सजिल्द। मूल्य ५)

६. **आयुर्वेदीयनावनीतकम्**—सम्पादक कविराज बलवन्तसिंह मोहन। चिकित्सा का अद्भुत ग्रन्थ साधारण आवृत्ति सजिल्द मूल्य ३) लायब्रेरी संस्करण पाँच रुपये ५)

७. **शार्ङ्गधरसंहिता**—सर्वोत्तम हिन्दी भाषानुवाद सहित। व्याख्याकार—श्रीमद्दयानन्द आयुर्वेद महाविद्यालय के रसायनाध्यापक आयुर्वेदाचार्य कविराज श्रीहरदयाल जी वैद्यवाचस्पति। इसमें भाषा बहुत ही सरल है। ऐसी सत्य, भ्रमरहित, आयुर्वेद के रहस्यपूर्ण प्रक्रिया और प्रयोगों को सरलता और विस्तारपूर्वक समझाने वाली कोई भी भाषाटीका आज तक नहीं निकली। मात्रा आदि का अच्छी तरह विवेचनपूर्ण वर्णन किया गया है। विद्यार्थियों, वैद्यों तथा आयुर्वेदविद्यानुरागी सर्व साधारण जनसमुदाय के लिए परमोपयोगी है। सजिल्द ४)

८. **माधवनिदान**—हिन्दी अनुवाद सहित। टीकाकार—आयुर्वेदाचार्य कविराज प्रोफेसर पण्डित दीनानाथ शास्त्री वैद्यवाचस्पति, भूतपूर्व प्रोफेसर दयानन्दायुर्वेद महाविद्यालय लाहौर, वर्तमान प्रोफेसर स० ध० आयुर्वैदिक कालेज लाहौर। संशोधक—आयुर्वेदाचार्य कविराज पण्डित पूर्णानन्द जी पन्त वैद्यशास्त्री। मूलपाठ, मूलपाठ की हिन्दी टीका, मधुकोष संस्कृत व्याख्या, मधुकोष का हिन्दी अनुवाद, विस्तृत हिन्दी वक्तव्य, विशद विवेचन, परिशिष्ट आदि सहित। पृष्ठसंख्या १२०० के लगभग। अजिल्द मूल्य ५) पाँच रुपया बहुत सस्ता रक्खा गया है ~डाकव्यय ॥।=) पंद्रह आना होगा। ५)

उक्त सब पुस्तकों पर विद्यार्थियों को =) दो आना प्रति रुपया कमीशन दिया जाता है।

प्राप्तिस्थान

मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास

संस्कृत-हिन्दी पुस्तक-विक्रेता, सैदमिट्ठा बाज़ार, लाहौर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीः ।

सुश्रुतसंहिता ।

शारीरस्थानम् ।

प्रथमोऽध्यायः ।

अथातः सर्वभूतचिन्ताशारीरं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से सर्वभूतचिन्ता (नामक) शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥१॥

वक्तव्य—शारीरस्थान की प्रवृत्ति 'विज्ञानार्थं शरीरस्य' (प्रथमखण्ड पृष्ठ १६) है । शरीरविज्ञान में गर्भावक्रान्ति (Embryology), अंगप्रत्यंगविज्ञान (Anatomy), शारीरकार्यविज्ञान (Physiology) इत्यादि अनेक विषयों का समावेश होता है—शरीरं चिन्त्यते सर्वं दैवमानुषसम्पदा । सर्वभावैर्यतस्तस्मात् शारीरं स्थानमुच्यते ॥ (चरक, शारीर ८) । इन अनेक विषयों का सम्यक् परिचय तथा आकलन होने के लिए प्राचीन कल्पना के अनुसार सृष्टि के उत्पत्तिक्रम का तथा तदन्तर्गत मनुष्यशरीर की स्थूल और सूक्ष्म रचना का ज्ञान बहुत आवश्यक है । इसलिए इस अध्याय में सृष्ट्युत्पत्ति का संक्षिप्त विवरण मुख्यतया कपिलमहामुनिप्रणीत सांख्यदर्शनानुसार किया गया है । सर्वभूतचिन्ताशारीर—सर्वभूतचिन्ता नामक शारीर । स्थावरजंगमात्मक अखिल भूत याने सृष्ट पदार्थ, इनकी उत्पत्ति स्थिति और कार्य इनका चिन्तन याने विवरण या विचार जिसमें किया गया है, वह अध्याय । स्थावरजंगमात्मक समस्त सृष्टि पञ्चीकृत पंचमहाभूतों से उत्पन्न हुई है और चिकित्सा में इन भूतों से अधिक परे विचार करने की आवश्यकता नहीं होती—भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते ॥ (सुश्रुत, शारीर १) । इसलिए इस अध्याय में अव्यक्त से पंचमहाभूत किस प्रकार से उत्पन्न हुए हैं, इसका विचार किया है । शारीर—शरीरविज्ञान के विषयों का विवरण जिसमें होता है, उसे शारीर कहते हैं—शारीरिकभावमधिकृत्य कृतोऽध्यायः शारीरः । शारीरस्थान का प्रत्येक अध्याय इस कारण से शारीर कहलाता है—निर्दिष्टानि दर्शितानि शारीराणि महर्षिणा । विज्ञानार्थं शरीरस्य भिषजां योगिनामपि ॥ शारीरिक भावों में दार्शनिक भावों का भी समावेश होता है क्योंकि वे शरीर के मूलतत्त्व हैं (५वें अध्याय के ६३वें श्लोक का वक्तव्य भी देखो) । वेदान्तसूत्र इसी कारण से 'शारीरिक सूत्र' कहलाते हैं ।

अब समस्त सृष्टि का आदि कारण जो प्रकृति, उसका वर्णन करते हैं—

सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः सम्भवहेतुरव्यक्तं नाम । तदेकं बहूनां[1] क्षेत्रज्ञानामधिष्ठानं समुद्र इवौदकानां भावानाम् ॥२॥

(अव्यक्तस्वरूप—) समस्त भूतों का (आदि) कारण (परंतु स्वयं) कारणरहित, सत्त्व रज और तम इन (तीनों) के लक्षणों से युक्त, अष्टविधरूप युक्त, और अखिल जगत् की उत्पत्ति का हेतु 'अव्यक्त' है । जैसे कि (एक) समुद्र (मत्स्य, पद्म, कच्छप इत्यादि अनेक) जलजीवों का अधिष्ठान होता है, वैसे ही वही एक अव्यक्त अनेक क्षेत्रज्ञों का अधिष्ठान होता है ॥२॥

वक्तव्य—सर्वभूत—सांख्यपरिभाषा के अनुसार 'व्यक्ततत्त्व' अर्थात् अव्यक्त को छोड़कर बाकी रहने वाले चौबीस तत्त्व । अकारण—जिसके लिए कोई कारण नहीं है अर्थात् जो किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है—न विद्यते कारणं यस्य तदकारणम् । इसलिए 'मूले मूलाभावादमूलं मूलम्' (सांख्यसूत्र १, ६७) और 'मूलप्रकृतिरविकृतिः' (सांख्यकारिका ३) इस प्रकार सांख्यदर्शन में अव्यक्त का वर्णन किया गया है । सत्त्वरजस्तमोलक्षणम्—स्थावरजंगमात्मक

१ अनेकेषां.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समस्त सृष्ट पदार्थों में सत्त्व, रज और तम इनका मिश्रण होता है। ये गुण कभी भी स्वतन्त्र और अकेले नहीं होते, तीनों मिलकर रहते हैं—अन्योन्याभिभवाच्चैते विरुध्यन्ति परस्परम्। तथाऽन्योन्याश्रयाः सर्वे न तिष्ठन्ति निराश्रयाः ॥१३॥ सत्त्वं न केवलं क्वापि न रजो न तमस्तथा। मिलिताश्च सदा सर्वे तेनान्योन्याश्रयाः स्मृताः ॥१४॥ अन्योन्यमिथुनाश्चैव ॥१५॥ (देवीभागवत ३, ८)। इन गुणों की न्यूनाधिकता के कारण सृष्ट पदार्थों में सोना, लोहा, पानी, मिट्टी, प्राणियों का शरीर इत्यादि नानात्व उत्पन्न हुआ है। जिनको सात्त्विक, राजस, तामस कहते हैं उनमें भी तीनों गुण उपस्थित रहते हैं परंतु 'व्यपदेशस्तु भूयसा' इस न्याय से उनमें सत्त्व, रज और तम का क्रम से प्राबल्य होता है—रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत। रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा॥ (भगवद्गीता १४, १०)। सब सृष्ट पदार्थों का कारण जो अव्यक्त है, उसमें भी ये गुण होते हैं; क्योंकि सत्कार्यवाद के अनुसार जो गुण कारण में नहीं होते, वे कार्य में स्वतन्त्ररूप से नहीं आ सकते—असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाभावात्। शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥ (सांख्यकारिका ९)। भेद इतना ही होता है कि सृष्ट पदार्थों में गुण विषमावस्था में याने न्यूनाधिकभाव से और कार्यकर स्थिति में होते हैं, और अव्यक्त में साम्यावस्था में याने अन्यूनाधिकभाव से और अकार्यकर स्थिति में होते हैं—सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः॥ (सांख्यसूत्र १-६१)। साम्यावस्था न्यूनाधिकभावेनासंहननम्, अकार्यावस्थत्वमित्यर्थः। एवं च कार्यभिन्नं गुणत्रयं प्रकृतिरिति पर्यवसितोऽर्थः॥ (अनिरुद्धटीका)। अष्टरूपम्—अष्टौ रूपाणि यस्य तत्तथोक्तम्॥ महान्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्राणि ये प्रकृति के सात रूप हैं। ये सात रूप और स्वयं प्रकृति मिलकर अष्टरूप होते हैं। इसका कारण यह है कि सांख्यशास्त्रकार शिलापुत्रकन्यायेन अव्यक्त के लिए रूपित्व और रूपत्व दोनों ही मानते हैं। परंतु सांख्य में अष्टविध प्रकृति के मूलप्रकृति और प्रकृतिविकृति करके दो भेद किये गये हैं—मूलप्रकृतिरविकृतिः, महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त॥ (सांख्यकारिका ३)। वेदान्त में भी प्रकृति का यही अष्टविध रूप माना जाता है, परंतु उसमें प्रकृति परब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण उस पर रूपत्व और रूपित्व दोनों आरोपित करने की आवश्यकता नहीं होती। जो शास्त्रकार इस तरह पुत्रों की गणना में पिता का समावेश करना पसंद नहीं करते तथापि रूप का अष्टविधत्व क़ायम रखना चाहते हैं, वे प्रकृति के स्थान में मन का समावेश करते हैं—भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ (भगवद्गीता ७, ४)। अव्यक्त—प्रकृति या प्रधान। व्यक्त और अव्यक्त के भेद निम्न प्रकार से सांख्यकारिका में वर्णन किये हैं—हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्। सावयवं परतन्त्रं व्यक्तम्, विपरीतमव्यक्तम्॥१०॥ अर्थात् अव्यक्त अहेतुमत्, नित्य, व्यापी, निष्क्रिय, एक, अनाश्रित, अलिङ्ग, अनवयव और स्वतन्त्र होता है। सांख्यदर्शन के चौबीस तत्त्वों में केवल एक प्रकृति तत्त्व एवं गुणविशिष्ट होने के कारण वह अव्यक्त कहलाता है। क्षेत्रज्ञ—क्षेत्र का वास्तविक अर्थ खेत या भूमि है। दर्शनशास्त्र में चतुर्विंशतितत्त्वसमुदाय को अर्थात् शरीर को क्षेत्र कहते हैं—इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते। (भगवद्गीता १३, १)। खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः। भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा विकाराश्चैव षोडश॥ बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च। समनस्काश्च पञ्चार्था विकारा इति संज्ञिताः॥ इति क्षेत्रं समुद्दिष्टं सर्वमव्यक्तवर्जितम्॥ (चरक, शा॰ १)। इस शरीर का जो ज्ञाता या साक्षी है, वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है—अव्यक्तमस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञमृषयो विदुः॥ (चरक, शा॰ १)। क्षेत्रज्ञ के लिए ही ज्ञ, आत्मा, पुरुष (तृतीय अध्याय सूत्र ३ देखो) इत्यादि पर्याय प्रयुक्त होते हैं—आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः। (महाभारत, शान्ति॰ १८७)। चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः॥ (चरक, शा॰ १)। प्रायः भूमि (क्षेत्र) और बीज का अनुभव सामने रखकर दर्शनशास्त्र में शरीर को क्षेत्र कहने का रिवाज़ पड़ गया होगा। जैसे कि एक क्षेत्र अनेक बीजों का अधिष्ठान होकर अनेक प्रकार की ओषधियें उत्पन्न कर सकता है, वैसे ही शरीररूपी क्षेत्र अनेक पुरुषों का अधिष्ठान होकर अनेक प्रकार के जीवजन्तु उत्पन्न करता है। अधिष्ठान—आश्रय, शरीरोत्पादन का विषय। औदकानां भावानाम्—उदके भवा औदका मत्स्यग्राहादयो जलजन्तुविशेषाः। अव्यक्त एक, अचेतन और अधिष्ठान रूप होता है तथा क्षेत्रज्ञ अनेक, सचेतन और आश्रयी होता है। इस दृष्टि से यदि समुद्र के दृष्टान्त का विचार किया जाय तो 'उदकभवा औदका नदीनदसरस्तडागादयः' यह डल्हणकृत अर्थ अयुक्त मालूम होता है।

अव्यक्त अचेतन है। जब उसका संयोग चेतयिता पुरुष के साथ होता है, तब भूतों की उत्पत्ति होती है। उसका क्रम अब वर्णन करते हैं—

तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव; तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लक्षण एवाहङ्कार उत्पद्यते, स त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति; तत्र वैकारिकादहङ्कारात्तैजससहायात्तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते, तद्यथा—श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणवाग्घस्तोपस्थपायुपादमनांसीति, तत्र पूर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि, इतराणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः; भूतादेरपि तैजससहायात्तल्लक्षणान्येव पञ्चतन्मात्राण्युत्पद्यन्ते, तद्यथा—शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं, रूपतन्मात्रं, रसतन्मात्रं, गन्धतन्मात्रमिति; तेषां विशेषाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः; तेभ्यो भूतानि व्योमानिलानलजलोर्व्यः; एवमेषा तत्त्वचतुर्विंशतिर्व्याख्याता ॥३॥

(अव्यक्त से सृष्ट्युत्पत्ति—) उस अव्यक्त से उसी स्वभाव (सत्त्वरजस्तमःस्वभाव) का महत् (बुद्धितत्त्व) उत्पन्न होता है; और उसी स्वभाव के (त्रिगुणात्मक) बुद्धितत्त्व से उसी स्वभाव का (त्रिगुणात्मक) अहंकार उत्पन्न होता है। यह अहंकार तीन प्रकार का है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(१) वैकारिक (सात्त्विक), (२) तैजस (राजस) और (३) भूतादि (तामस)। उसमें राजस अहङ्कार की सहायता द्वारा सात्त्विक अहङ्कार से ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। जैसे—श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, जिह्वा, घ्राण, वाणी, हस्त, लिङ्ग, गुदा, पाद और मन। इनमें प्रथम पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, दूसरी पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं और मन कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय है। राजस अहङ्कार की सहायता द्वारा तामस अहङ्कार से भी तत्स्वभाव की पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं। जैसे—शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा। उन तन्मात्राओं के विशेष ये हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। उन (तन्मात्राओं) से आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी (ये पाँच भूत उत्पन्न होते हैं)। इस प्रकार यह चौबीस तत्त्वों का समुदाय वर्णन किया है ॥३॥

वक्तव्य—महत्—अव्यक्त और त्रिगुणसाम्यावस्था में स्थित प्रकृति पुरुष का संयोग होते ही स्वयं अव्यक्तावस्था और त्रिगुणसाम्यावस्था को छोड़कर व्यक्त और त्रिगुणवैषम्ययुक्त अनेक तत्त्वों को उत्पन्न करती है। इस तत्त्वपरंपरा का प्रारंभ तभी होता है, जब प्रकृति पुरुषाधिष्ठित होती है। इसमें प्रथम तत्त्व महान् है। इसी को बुद्धितत्त्व भी कहते हैं—यदेतद्विसृतं बीजं प्रधानपुरुषात्मकम्। महत्तत्त्वमिति प्रोक्तं बुद्धितत्त्वं तदुच्यते ॥ सारासार विचार करके किसी विषय के संबंध में निश्चिति करना, या कार्यकारण संबंध को देखकर निश्चय (एवमेव, नान्यथा) करना या अन्य प्रकार से कार्याकार्य निर्णय करना, यह बुद्धि का कार्य है। इस प्रकार के कार्य को 'व्यवसाय या अध्यवसाय' कहते हैं—व्यवसायात्मिका बुद्धिः ॥ (महाभारत)। अध्यवसायो बुद्धिः ॥ (सांख्यसूत्र २, १३; सांख्यकारिका २३)। यह बुद्धि गुणाधिक्य के अनुसार सात्त्विक, राजस और तामस होती है और उसके कार्य में भी गुण के अनुसार फर्क होता है—प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये। बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥ यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च। अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥ अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥ (भगवद्गीता १८)। धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम्। सात्त्विकमेतद्रूपं, तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥ (सांख्यकारिका २३)। बुद्धितत्त्व की व्यापकता और विशालता को देखकर उसको महत् संज्ञा दी गई है—बुद्धेर्महत्तत्त्वसंज्ञा च स्वेतरसकलकार्यव्यापकत्वान्महदैश्वर्याचान्वितार्था ॥ तल्लिङ्ग एव—अव्यक्तस्य लिङ्गमिव लिङ्गं यस्य। अव्यक्त जिस प्रकार त्रिगुणात्मक होता है, वैसा ही जो त्रिगुणात्मक है। परंतु भेद यह होता है कि महान् में त्रिगुण की साम्यावस्था न होकर वैषम्यावस्था होती है और इसी कारण से उपर्युक्त सात्त्विकादि भेद होते हैं। अहङ्कार—अहं अहं करना, अभिमान या पृथक्त्व। प्रकृति से महत्तत्त्व उत्पन्न होने पर भी उसका एकत्व नष्ट नहीं हुआ था, परंतु जब अहङ्कार उत्पन्न हुआ, तब उसमें अनेकत्व और पृथक्त्व आ गया, और इसी अहङ्कार के कारण पानी, पत्थर, प्राणी, वनस्पति इत्यादि स्थावरजङ्गमात्मक अनेक वस्तुएँ तथा मनुष्यों में अभिमान उत्पन्न हुआ है। अहङ्कार बुद्धि का ही एक भेद होने से बुद्धि के पश्चात् उसकी उत्पत्ति होती है तथा बुद्धि के अनुसार उसके सात्त्विकादि तीन भेद होते हैं—अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ (भगवद्गीता ३, २७)। अभिमानोऽहङ्कारः (सांख्यकारिका २४)। इस पर वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—'यत् खल्वालोचितं मतं च तत्र अहमधिकृतः, शक्तः खल्वहमत्र, मदर्था एवाऽमी विषयाः, मत्तो नाऽन्योऽत्राऽधिकृतः कश्चिदस्ति, अतोऽहमस्मि' इति योऽभिमानः सोऽसाधारणव्यापारत्वादहङ्कारः। तमुपजीव्य हि बुद्धिरध्यवस्यति कर्तव्यमेतन्मया' इति। अहङ्कार उत्पन्न होने के पश्चात् आगे की सृष्टि के मुख्य दो विभाग होते हैं—एक वनस्पति, प्राणी, मनुष्य इत्यादि इन्द्रिययुक्त अर्थात् सेन्द्रियसृष्टि का विभाग और दूसरा इन्द्रियविरहित अर्थात् निरिन्द्रिय सृष्टि का (जड़ सृष्टि का) विभाग—सेन्द्रियं चेतनं द्रव्यं निरिन्द्रियमचेतनम् ॥ (चरक, सूत्र १)। यहाँ इन्द्रियशब्द से केवल 'इन्द्रिययुक्त प्राणियों की इन्द्रियों की शक्ति' इतना ही अर्थ अभिप्रेत है, क्योंकि सेन्द्रिय प्राणियों के जड़ शरीर का समावेश निरिन्द्रिय सृष्टि में और आत्मा का समावेश पुरुष में होता है। इसलिए सेन्द्रियसृष्टि का विचार करते समय सांख्यशास्त्र में केवल इन्द्रियों का विचार होता है। सेन्द्रिय और निरिन्द्रिय के सिवा सृष्टि का तीसरा विभाग असंभाव्य होने के कारण अहङ्कार के दो ही विभाग किये गये हैं—अभिमानोऽहङ्कारः, तस्माद्द्विविधः प्रवर्तते सर्गः। एकादशकश्च गणस्तन्मात्रापञ्चकश्चैव ॥ (सांख्यकारिका २४)। एवं द्विविध एव सर्गोऽहङ्कारात्, न त्वन्य इति 'एव'कारेणावधारयति ॥ (वाचस्पति मिश्र)। इन्द्रियशक्ति श्रेष्ठ होने के कारण सेन्द्रियसृष्टि की उत्पत्ति सात्त्विक (सत्त्वगुणोत्कर्ष) अहङ्कार से और निरिन्द्रियसृष्टि तामस अहङ्कार से मानी गई है। परंतु पित्त और कफ के समान सत्त्व और तम पङ्गु और निष्क्रिय होते हैं। इसलिए दोनों प्रकार की सृष्टि में प्रवर्तक रज सहायक होता है—उपष्टम्भकं चलं च रजः ॥ (सा० का० १३)। रजश्च प्रवर्तकं सर्वभावानाम्। (सुश्रुत, प्रथमखण्ड पृष्ठ १३७)। इसलिए लिखा है—सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्। भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम् ॥ (सा० का० २५)। इस कारिका पर वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—तैजसात् राजसादुभयं गणद्वयं भवति। यद्यपि रजसो न कार्यान्तरमस्ति, तथाऽपि सत्त्वतमसी स्वयमक्रिये असमर्थे न स्वस्वकार्यं कुरुतः, रजस्तु चलतया ते यदा चालयति तदा स्वकार्यं कुरुत इति, तदुभयस्मिन् कार्ये सत्त्वतमसोः क्रियोत्पादनद्वारेणास्ति रजसः कारणत्वमिति न व्यर्थं रजः ॥ तल्लक्षणान्यैकादशेन्द्रियाणि—यद्यपि अहङ्कार त्रिगुणात्मक है तथापि इन्द्रियाँ सत्त्वप्रधान होती हैं। इनमें भी मन तथा बुद्धीन्द्रियों में कर्मेन्द्रियों की अपेक्षा सत्त्वोत्कर्ष अधिक होता है। कुछ शास्त्रकार कर्मेन्द्रियों को रजःप्रधान मानते हैं। श्रोत्रत्वक् इति—शृणोत्यनेन श्रोत्रम्। त्वचत्यनेनेति त्वक्। चष्टे रूपं रूपवन्तं च प्रकाशयतीति चक्षुः। जिघ्रत्यनेनेति घ्राणम्। रसयत्यास्वादयत्यनेनेति रसनं (जिह्वा)। पूर्वाणि पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि—श्रोत्र से वाक् तक।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यद्यपि कान, नाक, आँख ये दो दो होते हैं तथापि इन्द्रिय-संख्यागणना की दृष्टि से वे एक एक गिने जाते हैं—यद्यपि चाक्षिणी कर्णौ नासापुटे द्वे तथाऽप्येकेन्द्रियाधिष्ठानत्वेनैकमेवेति कृत्वा पञ्च इत्युक्तम् ॥ (चक्रपाणिदत्त)। उभयात्मकं मनः—इसका अभिप्राय यह है कि मन इन्द्रिय है और दोनों प्रकार का है। अन्य इन्द्रियों के साथ सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होने के कारण मन इन्द्रिय कहलाता है—इन्द्रियं च साधर्म्यात्। (सा० का० २७)। इन्द्रियान्तरैः सात्त्विकाहङ्कारोपादानत्वं च साधर्म्यं, न त्विन्द्रलिङ्गत्वम्, महदहङ्कारयोरप्यात्मलिङ्गत्वेनेन्द्रियत्वप्रसंगात्; तस्माद् व्युत्पत्तिमात्रमिन्द्रलिङ्गत्वं न तु प्रवृत्तिनिमित्तम् ॥ (वाचस्पतिमिश्र) । बुद्धीन्द्रिय कहने का कारण यह है कि बुद्धीन्द्रियाँ अर्थ ग्रहण करने में तब प्रवृत्त और समर्थ होती हैं, जब मन उनमें अधिष्ठित होता है—मनःपुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति। तत् (मन) अर्थात्मसंपदायत्तचेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतमिन्द्रियाणाम् ॥ (चरक, सू० ८) । चक्षुः पश्यति रूपाणि मनसा न तु चक्षुषा । मनसा व्याकुले चक्षुः पश्यन्नपि न पश्यति ॥१७॥ यथेन्द्रियाणि सर्वाणि पश्यन्तीत्यभिचक्षते । न चेन्द्रियाणि पश्यन्ति मन एवात्र पश्यति ॥१८॥ (महाभारत, शान्ति ३११) । अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति ॥ (बृहदारण्यकोपनिषत् १. ५. ३) । बुद्धीन्द्रियों के साथ मन का संबंध इतना घनिष्ठ होने के कारण उसको छठा इन्द्रिय भी कहने का संप्रदाय पड़ गया है—षडिन्द्रियप्रसादनः (चरक, सूत्र० २९) । तत्र मधुरो रसः षडिन्द्रियप्रसादनः ॥ (सुश्रुत प्रथमखण्ड २३०) । मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ (भगवद्गीता १५, ७)। बुद्धीन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान के संबंध में वकील की तरह अमुक ऐसा है (संकल्प), अमुक ऐसा नहीं है (विकल्प), इत्यादि सारासार विचार बुद्धि के सामने कार्याकार्यनिर्णय के लिए व्यवस्थित रूप से रखने का काम मन का है और बुद्धि के द्वारा निर्णय प्राप्त होने पर उसके अनुसार कर्मेन्द्रियों के द्वारा काम कराने का कार्य मन ही करता है। इस तरह विस्तार और व्यवस्था करने का कार्य व्याकरण कहलाता है—मनो व्याकरणात्मकम् (महाभारत)। इसलिए उसका समावेश कर्मेन्द्रियों में भी किया गया है—बुद्धीन्द्रियं कर्मेन्द्रियं च, चक्षुरादीनां वागादीनां च मनोधिष्ठितानामेव स्वस्वविषयेषु प्रवृत्तेः ॥ (वाचस्पतिमिश्र) । चरक में उपर्युक्त विचारपरम्परा संक्षेप में निम्न प्रकार से वर्णन की गई है—इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते । कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽथवा ॥ जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका । व्यवस्यति तथा वक्तुं कर्तुं वा बुद्धिपूर्वकम् ॥ (चरक, शा० १)। तन्मात्र—शब्दस्पर्शादि का अमिश्रित पृथक् पृथक् सूक्ष्म मूलरूप या बीज। आपस में इनका पार्थक्य (जैसे—शब्दतन्मात्र से रूपतन्मात्र इत्यादि) बाह्येन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकता। इसलिए ये तन्मात्र अविशेष कहलाते हैं—तन्मात्राण्यविशेषाः, तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः । एते स्मृता विशेषाः शान्ता मूढाश्च घोराश्च ॥ (सा० का० ३८)। शब्दादितन्मात्राणि सूक्ष्माणि, न चैषां शान्तत्वादिरस्ति उपभोगयोग्यो विशेष इति मात्रशब्दार्थः । तन्मात्राणि त्वस्मदादिभिः परस्परव्यावृत्तानि नानुभूयन्ते इत्यविशेषाः सूक्ष्मा इति चोच्यन्ते ॥ (वाचस्पतिमिश्र) । तस्मिंस्तस्मिंस्तु तन्मात्रा तेन तन्मात्रता स्मृता। न शान्ता नाऽपि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषिणः ॥ (विष्णुपुराण)। विशेष—बाह्येन्द्रियग्राह्य व्यवच्छेदक गुण, जिनके द्वारा शे तन्मात्र आपस में विभिन्न किये जा सकते हैं। जैसे—शब्द तन्मात्र शब्दगुण द्वारा, स्पर्शतन्मात्र स्पर्शगुण द्वारा अन्य तन्मात्राओं से विभिन्न किया जाता है। भूत—पृथिव्यादि पञ्च महाभूत। ये भूत स्थूल बहिरिन्द्रियग्राह्य होते हैं—भूतत्वं नाम बहिरिन्द्रियग्राह्यविशेषगुणवत्त्वम् ॥ (न्यायबोधिनी) तेभ्यः—इन सूक्ष्म तन्मात्राओं से एकोत्तरपरिवृद्ध्या आकाशादि स्थूल पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। 'तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः' इस कारिका (३८) पर वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—तेभ्यस्तन्मात्रेभ्यो यथासंख्यमेकद्वित्रिचतुःपञ्चभ्यो भूतान्याकाशानिलानलसलिलावनिरूपाणि पञ्च पञ्चभ्यस्तन्मात्रेभ्यः ॥ जैसे-शब्दतन्मात्र से शब्दगुण आकाश, शब्दतन्मात्र सहित स्पर्शतन्मात्र से शब्दस्पर्शगुण वायु, शब्दस्पर्शतन्मात्रसहित रूपतन्मात्र से शब्दस्पर्शरूपगुणयुक्त तेज, शब्दस्पर्शरूपतन्मात्रसहित रसतन्मात्र से शब्दस्पर्शरूपरसगुणयुक्त जल, शब्दस्पर्शरूपरसतन्मात्रसहित गन्धतन्मात्र से शब्दस्पर्शरूपरसगन्धयुक्त पृथिवी । चरक में लिखा है—महाभूतानि खं वायुरग्निरापः क्षितिस्तथा । शब्दः स्पर्शं च रूपं च रसो गन्धश्च तद्गुणाः ॥ तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे । पूर्वः पूर्वगुणश्चैव क्रमशो गुणि स्मृतः ॥ (शारीर १)। तत्त्वचतुर्विंशतिः—अव्यक्त, महान् अहङ्कार, पंच बुद्धीन्द्रियाँ, मन, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच तन्मात्र और पंच महाभूत इन चौबीस तत्त्वों का समुदाय—प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः। तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ॥ (सा० का० २२) । सुश्रुतोक्त समुदाय में चौबीस तत्त्व सांख्यदर्शन के अनुसार हैं। चरकसंहिता में जो चौबीस तत्त्व दिये हैं, उनमें तन्मात्राओं का उल्लेख नहीं और उनके स्थान में पंचमहाभूतों का निर्देश किया और पंचमहाभूतों के स्थान में पंचार्थों का निर्देश कि है। संक्षेप में, चरकोक्त चौबीस तत्त्वों की गणना में तन्मात्र नहीं हैं, पंच इन्द्रियार्थ हैं। चरक बहुत पुराना ग्रन्थ है उसके समय में सांख्यदर्शन का उदय हो रहा था पर उसकी नीव पक्की नहीं हुई थी । इसलिए उपर्युक्त प मिलता है (आगे भी ७वें सूत्र की टिप्पणी देखो) सुश्रुत के समय तथा चक्रपाणिदत्त (चरकटीकाकार) समय सांख्यदर्शन की तत्त्वचतुर्विंशति निश्चित हुई थी इसलिए चक्रपाणिदत्त अपनी टीका में 'खादीनि' से 'तन्मा और 'पञ्चार्थ' से 'पञ्चमहाभूत' ऐसा अर्थ करके सांख्यद के साथ समन्वय करने का प्रयत्न करते हैं—खादीनि सूक्ष्म खादीनि तन्मात्रशब्दाभिधेयानि। पञ्चार्था इति स्थूला आकाशा शब्दादिरूपाः, गुणगुणिनोर्हि परमार्थतो भेदो नास्त्येवास्मिन् दर्श (शारीर अ० १. ६३-६४) । परन्तु यह दूरान्वय है, सर न्वय नहीं है।

तत्र, बुद्धीन्द्रियाणां शब्दादयो विषयाः; क

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न्द्रियाणां यथासङ्ख्यं वचनादानानन्दविसर्गविहरणानि ॥४॥

(इन्द्रियों के विषय—) उन (इन्द्रियों) में बुद्धीन्द्रियों के शब्दादि विषय होते हैं। कर्मेन्द्रियों के क्रम से वचन, आदान, आनन्द, विसर्ग और विहरण (ये विषय होते हैं ॥४॥

वक्तव्य—शब्दादयो विषयाः—श्रोत्र का विषय शब्द, त्वचा का स्पर्श, चक्षु का रूप, जिह्वा का रस और घ्राण का गन्ध। यथासंख्य—वाणी का वचन, हस्त का आदान, उपस्थ का आनन्द, गुदा का उत्सर्ग और पाद का विहरण। बुद्धीन्द्रियों के जैसे केवल एक एक विषय होते हैं, वैसे कर्मेन्द्रियों के नहीं हैं। कर्मेन्द्रियों के विषयों में अनेकता होती है। इसलिए यहाँ पर वचनादानादि जो विषय बताये गये हैं, वे केवल उपलक्षणात्मक समझने चाहिएँ। इसी अर्थानेकता के कारण ग्रन्थान्तरों में कर्मेन्द्रियों के अर्थों के सम्बन्ध में कुछ भिन्नता दिखाई देती है। जैसे हस्त के विषय में चरक में लिखा है—हस्तौ ग्रहणधारणे (शारीर १)। आनन्द—यह उपस्थ का विषय है। उपस्थ से स्त्री और पुरुष दोनों का जननेन्द्रिय अभिप्रेत है—उपस्थं रतिसम्पाद्यसुखसाधनम् ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति ३. ९२ की टीका में विज्ञानेश्वर)। अर्थात् आनन्द से मैथुनजन्य आनन्द यहाँ अभिप्रेत है। इसके सिवाय प्रजोत्पत्ति के आनन्द का भी इसी में समावेश करते हैं—उपस्थ आनन्दं प्रजोत्पत्त्या। (गौडपादाचार्य)। मैथुन और प्रजोत्पत्ति के सिवाय सूत्र, शुक्र, और आर्तव इनका उत्सर्ग करना यह भी उसका स्वाभाविक कार्य होता है। इसलिए चरक में उसका कार्य विसर्ग भी बताया है—पायूपस्थं विसर्गार्थम्। (शा० १)।

मन के विषयों का यहाँ पर वर्णन नहीं दिया है। चरक में इसके विषय का वर्णन मिलता है—चिन्त्यं विचार्यमूह्यं च ध्येयं संकल्प्यमेव च। यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम् ॥ (शारीर १)। मन के विषय का विवरण पीछे ३ सूत्र के 'उभयात्मकं मनः' इसकी टिप्पणी में किया गया है।

अव्यक्तं महानहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतयः; शेषाः षोडश विकाराः ॥५॥

(प्रकृति और विकृति—) अव्यक्त, महान्, अहङ्कार और पंचतन्मात्र यह आठ (तत्त्व) प्रकृति हैं; शेष सोलह (तत्त्व) विकार हैं ॥५॥

वक्तव्य—इस सूत्र में उपर्युक्त चौबीस तत्त्वों के दो विभाग किये हैं—प्रथम विभाग प्रकृति का और दूसरा विकृति का है। प्रकृति—प्रकरोतीति प्रकृतिः। तत्त्वान्तरोपादानत्वं प्रकृतित्वम् ॥ जो अन्य तत्त्वों को पैदा करती है, वह प्रकृति है। इस कारण मात्रवाचक साधारण अर्थ से यहाँ आगे के लिए प्रकृति शब्द प्रयोग किया गया है। 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' यह जो प्रकृति का लक्षण पीछे द्वितीय सूत्र के वक्तव्य में दिया गया है, उस लक्षण के अनुसार यहाँ पर प्रकृति शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है, क्योंकि यह लक्षण केवल अव्यक्त पर लागू होता है, परन्तु 'प्रकरोति इति प्रकृतिः' यह लक्षण आठों पर भी लागू होता है। जैसे—अव्यक्त महान् को, महान् अहङ्कार को, अहङ्कार पञ्चतन्मात्र को और पञ्चतन्मात्र पञ्चमहाभूतों को पैदा करते हैं। सांख्यशास्त्र में प्रकृति के दो भेद किये गये हैं। (१) प्रथम भेद को मूलप्रकृति कहते हैं। यह प्रकृति दूसरे तत्त्व को उत्पन्न करती है परन्तु स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती अर्थात् यह किसी की विकृति नहीं होती है—मूलप्रकृतिरविकृतिः। (सा० का० ३)। इस भेद में केवल अव्यक्त आता है। (२) दूसरे भेद को प्रकृतिविकृति कहते हैं। इस भेद के तत्त्व अन्य तत्त्वों को उत्पन्न करते हैं, तथा स्वयं दूसरे तत्त्व से उत्पन्न होते हैं, इसलिए प्रकृतिविकृति कहलाते हैं—तत्त्वान्तरोपादानत्वे सति कार्यत्वं प्रकृतिविकृतित्वम्। इस विभाग में महान्, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्र इन सात तत्त्वों का समावेश होता है। जैसे—महान् अहङ्कार की प्रकृति और अव्यक्त की विकृति है, अहङ्कार पञ्चतन्मात्राओं की प्रकृति और महान् की विकृति है और पञ्चतन्मात्र पञ्चमहाभूतों की प्रकृति और अहङ्कार की विकृति होती है। इस कारण से ये सात तत्त्व प्रकृतिविकृति कहलाते हैं—महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ॥ (सा० का० ३)। अष्टौ प्रकृतयः—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि सांख्यदर्शन में प्रकृति का अष्टविधत्व नहीं है। यह वर्गीकरण वेदान्त के प्रभाव से सांख्यदर्शन में प्रारम्भ हुआ और यही वर्गीकरण महाभारतान्तर्गत सांख्यशास्त्र में दिया गया है—अव्यक्तं च महान्तं च तथाऽहङ्कारमेव च। पृथिवी वायुराकाशमापो ज्योतिश्च पञ्चमम्। एताः प्रकृतयस्त्वष्टौ ॥ (शान्तिपर्व ३१०)। चरक में भी यही वर्गीकरण है—खादीनि बुद्धिरव्यक्तमहङ्कारस्तथाष्टमः। भूतप्रकृतिरुद्दिष्टा ॥ (शा० १)। इस सूत्र में पञ्चमहाभूतों के स्थान में उनकी तन्मात्राएँ देकर प्रकृति का अष्टविधत्व माना गया है। वेदान्त की कल्पना सांख्य में ठीक बैठने के लिए यह फर्क किया गया है। विकार—जो किसी अन्य तत्त्व को उत्पन्न नहीं करता, परन्तु स्वयं अन्य तत्त्व से उत्पन्न होता है, वह विकार है—तत्त्वान्तराजनकत्वे सति जन्यत्वं विकारत्वम् ॥ इस विभाग में ग्यारह इन्द्रियाँ और पञ्चमहाभूत मिलाकर सोलह तत्त्व समाविष्ट होते हैं क्योंकि इनसे आगे कोई तत्त्व निर्माण नहीं होते। इस पर यहाँ शङ्का हो सकती है कि जब पञ्चमहाभूतों से समस्त सृष्टि के अनन्त पदार्थ उत्पन्न हुए हैं तब प्रकृति केवल सप्त या अष्ट और विकार केवल षोडश इस प्रकार इयत्ता करना अयुक्त है। इसका समाधान वाचस्पति मिश्र निम्न प्रकार से करते हैं—यद्यपि च पृथिव्यादीनां गोघटवृक्षादयो विकाराः, एवं तद्विकारभेदानां पयोबीजादीनां दध्यङ्कुरादयः,तथाऽपि गवादयो बीजादयो वा न पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरम्। 'तत्त्वान्तरोपादानत्वं च प्रकृतित्वम्' इहाभिप्रेतमिति न दोषः। सर्वेषां गोघटादीनां स्थूलतेन्द्रियग्राह्यता च समेति न तत्त्वान्तरम् ॥ इसका तात्पर्य यह है कि गोघटादि पृथिव्यादि के समान स्थूल, बाह्येन्द्रियग्राह्य और शान्तादिधर्मयुक्त होने के कारण स्थूल पञ्चमहाभूतों से भिन्न तत्त्व के नहीं हैं। इसलिए प्रकृति और विकारों की संख्या जो ऊपर निर्दिष्ट की गई है, वही सही है।

खः खश्चैषां विषयोऽधिभूतं; स्वयमध्यात्मं; अ-

१ अधिदैवतमथ.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धिदैवतं तु—बुद्धेर्ब्रह्मा, अहङ्कारस्येश्वरः, मनसश्चन्द्रमाः, दिशः श्रोत्रस्य, त्वचो वायुः, सूर्यश्चक्षुषः, रसनस्यापः, पृथिवी घ्राणस्य, वाचोऽग्निः, हस्तयोरिन्द्रः, पादयोर्विष्णुः, पायोर्मित्रः, प्रजापतिरुपस्थस्येति ॥६॥

(तत्त्वों का अधिभूतादि त्रैविध्य—) इनका अपना अपना विषय अधिभूत होता है। स्वयं तत्त्व आध्यात्मिक है और अधिदैवत बुद्धि का ब्रह्मा, अहङ्कार का ईश्वर, मन का चन्द्रमा, श्रोत्र की दिशाएँ, त्वचा का वायु, नेत्र का सूर्य, रसना का जल, घ्राण की पृथिवी, वाणी का अग्नि, हाथों का इन्द्र, पादों का विष्णु, गुद का मित्र और जननेन्द्रिय का प्रजापति है ॥६॥

वक्तव्य—अधि—इस उपसर्ग का अर्थ तद्विषयक, तदधिष्ठित या तदधिकृत्य ऐसा होता है। अधिभूतम्—भूतेषु विद्यमानं विषयभूतं शब्दादिकम्। अध्यात्मम्—आत्मनि कार्यकारणसंघाते शरीरे विद्यमानं श्रोत्रादि। अधिदैवतम्—देवतासु विद्यमानं दिगादिकम्।

बाह्य सृष्टि का अवलोकन करके उसकी रचना, उत्पत्ति, कार्यक्षमता इत्यादि के सम्बन्ध में प्राचीन काल में अनेक विद्वान् अनेक कल्पनाएँ करते थे और उनके कई पक्ष बन गये थे। भगवद्गीता के आठवें अध्याय के प्रारम्भ में अर्जुन ने इन पक्षों के सम्बन्ध में प्रश्न किया है और भगवान् ने भी उनके सम्बन्ध में संक्षेप में उत्तर दिया है—किं तद् ब्रह्म, किमध्यात्मं, किं कर्म पुरुषोत्तम। अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ अक्षरं परमं ब्रह्म, स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते। अधिभूतं क्षरो भावः, पुरुषश्चाधिदैवतम् ॥ (गीता)। 'अधिभूतपक्ष' का कथन था कि सब सृष्टि पञ्चमहाभूतात्मक होने से भूतों के सिवाय दूसरा कोई तत्त्व नहीं है। 'अध्यात्मपक्ष' का कथन था कि पञ्चमहाभूतात्मक जडसृष्टि कुछ नहीं कर सकती। जैसे, मनुष्य के शरीर में आत्मा है, वैसे ही प्रत्येक पदार्थ में आत्मा के समान एक सूक्ष्म चैतन्ययुक्त शक्ति वास करती है, जो उस पदार्थ का वास्तविक स्वरूप होती है। 'अधिदैवतपक्ष' का कथन था कि प्रत्येक जड़ पदार्थ में कोई देवता होता है, जो उसका वास्तविक रूप है। जैसे, सूर्य जड़ है परन्तु उसमें अधिष्ठाता सूर्य देवता होता है, जो प्रकाशादि का काम करता है। इन अधिष्ठाता देवताओं के सम्बन्ध में मतभिन्नता होती है। इन अधिदैवत, अध्यात्म और अधिभूत पक्षों की दृष्टि से एक ही विवेचन के भिन्न-भिन्न प्रकार कैसे होते हैं, उसका स्पष्टीकरण इस सूत्र में महदादि त्रयोदश तत्त्वों के उदाहरण से किया गया है। इस प्रकार की विचारसरणि सांख्यदर्शन में नहीं मिलती, वेदान्तदर्शन में मिलती है। महाभारत, पञ्चीकरणवार्त्तिक तथा अन्य वेदान्त के ग्रन्थों में इसका विवरण मिलता है। सुखस्मरणार्थ नीचे महाभारत के श्लोक दिये जाते हैं—पादावध्यात्ममित्याहुर्ब्राह्मणास्तत्त्वदर्शिनः। गन्तव्यमधिभूतञ्च विष्णुस्तत्राधिदैवतम् ॥१॥ पायुरध्यात्ममित्याहुर्यथातत्त्वार्थदर्शिनः। विसर्गमधिभूतञ्च मित्रस्तत्राधिदैवतम् ॥२॥ उपस्थोऽध्यात्ममित्याहुर्यथायोगप्रदर्शिनः। अधिभूतं तथाऽनन्दो दैवतं प्रजापतिः ॥३॥ हस्तावध्यात्ममित्याहुर्यथा सांख्यानदर्शिनः। कर्तव्यमधिभूतञ्च इन्द्रस्तत्राधिदैवतम् ॥४॥ वागध्यात्ममिति प्राहुर्यथायोगनिदर्शिनः। वक्तव्यमधिभूतन्तु वह्निस्तत्राधिदैवतम् ॥५॥ चक्षुरध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः। रूपमत्राधिभूतन्तु सूर्यश्चाप्यधिदैवतम् ॥६॥ श्रोत्रमध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः। शब्दस्तत्राधिभूतन्तु दिशस्तत्राधिदैवतम् ॥७॥ जिह्वामध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः। रस एवाधिभूतन्तु आपस्तत्राधिदैवतम् ॥८॥ घ्राणमध्यात्ममित्याहुर्यथा श्रुतिनिदर्शिनः। गन्ध एवाभिभूतन्तु पृथिवी चाधिदैवतम् ॥९॥ त्वगध्यात्ममिति प्राहुस्तत्त्वबुद्धिविशारदाः। स्पर्शमेवाधिभूतन्तु पवनश्चाधिदैवतम् ॥१०॥ मनोऽध्यात्ममिति प्राहुर्यथा शास्त्रविशारदाः। मन्तव्यमधिभूतन्तु चन्द्रमाश्चाधिदैवतम् ॥११॥ आहङ्कारिकमध्यात्ममाहुस्तत्त्वनिदर्शिनः। अभिमानोऽभिभूतन्तु बुद्धिश्चात्राधिदैवतम् ॥१२॥ बुद्धिरध्यात्ममित्याहुर्यथावदर्दर्शिनः। बोद्धव्यमभिभूतन्तु क्षेत्रज्ञश्चाधिदैवतम् ॥१३॥ (शान्तिपर्व ॥३१३॥)

१ वचसोऽग्निः.

तत्र सर्व एवाचेतन एष वर्गः, पुरुषः पञ्चविंशतितमः कार्यकारणसंयुक्तश्चेतयिता भवति। सत्यप्यचैतन्ये प्रधानस्य पुरुषकैवल्यार्थं प्रवृत्तिमुपदिशन्ति क्षीरादींश्चात्र हेतूनुदाहरन्ति ॥७॥

(प्रकृति से लेकर महाभूतों तक वर्णन किया हुआ चौबीस के चौबीस तत्त्वों का) यह वर्ग पूर्णतया (आदि से अन्त तक) अचेतन (जड़) होता है। पचीसवाँ तत्त्व पुरुष कार्यकारण से संयुक्त होने पर (इस वर्ग को) चैतन्य देने वाला होता है। अचेतन होने पर भी प्रकृति की प्रवृत्ति पुरुष के मोक्ष के लिए (होती है, ऐसा सांख्यशास्त्रकार कहते हैं, और इस प्रवृत्ति के लिए क्षीरादि हेतु बताते हैं ॥७॥

वक्तव्य—अचेतन—प्रकृति त्रिगुणात्मक होने के कारण जैसे उससे उत्पन्न होने वाले सब तत्त्व त्रिगुणात्मक होते हैं, वैसे ही वह अचेतन होने के कारण उससे होने वाले तत्त्व अचेतन ही होते हैं। सांख्यशास्त्र में इसको सत्कार्यवाद (सा० का० ९) कहते हैं। इसका उल्लेख अन्यत्र भिन्न स्वरूप में होता है—नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ॥ (भगवद्गीता २)। कारणानुविधायित्वात् कार्याणां तत्स्वभावता ॥ (अष्टांगहृदय, शा० १)। पुरुषः पञ्चविंशतितमः—विशुद्ध सांख्य में पुरुष पचीसवाँ तत्त्व अव्यक्त से भिन्न माना जाता है। चरकसंहिता में यद्यपि पुरुष तत्त्व माना गया है तथापि सांख्यदर्शन के अनुसार वह स्वतन्त्र तत्त्व न समझकर अव्यक्त में ही समाविष्ट किया गया है। अर्थात् शरीर चौबीस तत्त्वात्मक माना गया है— चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुषसंज्ञकः। पुनश्च धातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः ॥ (शा० १)। इसकी टीका में चक्रपाणि लिखते हैं—यद्यपि पञ्चविंशतितत्त्वमयोऽयं पुरुषः सांख्यैरुक्तः, तथाऽपीह प्रकृतिव्यतिरिक्तं चोदासीनं पुरुषमव्यक्तसाधर्म्यादव्यक्तायां प्रकृतावेव प्रक्षिप्य अव्यक्तशब्देनैव गृह्णाति; तेन चतुर्विंशतिकः पुरुष इत्यवरुद्धम्, उदासीनस्य हि सूक्ष्मस्य भेदप्रति

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नमिहानतिप्रयोजनमिति न कृतम् ॥ पुरि शरीरे शेते इति पुरुषः ॥ कार्यकारणसंयुक्तः—कार्यस्य महदादिविकारगणस्य (महदादि तच्च कार्यम्। सां० का० ८), कारणेन मूलप्रकृत्या (कारणमस्त्यव्यक्तम्। सां० का० १६) संयुक्तः ॥ महदादि कार्य का कारण जो प्रकृति उससे संयुक्त होने पर। जब चैतन्य युक्त पुरुष प्रकृति के साथ मिलता है, तब उससे उत्पन्न हुए सब तत्त्व चैतन्य युक्त हो जाते हैं। वास्तव में जब तक प्रकृति पुरुषाधिष्ठित नहीं होती, तब तक प्रकृति से तृतीय सूत्र में बताई हुई महदादितत्त्वपरम्परा उत्पन्न हो नहीं सकती, पुरुषाधिष्ठित होने पर प्रारंभ होती है—तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् ॥ (सांख्यसूत्र १, ९६)। यथा अयस्कान्तमणेः सान्निध्यमात्रेण शल्यनिष्कर्षकर्तृत्वं (प्रथम खण्ड, पृष्ठ १६५) न सङ्कल्पादिना तथैवादिपुरुषस्य संयोगमात्रेण प्रकृतेर्महत्तत्त्वरूपेण परिणमनम् ॥ (सांख्यप्रवचनभाष्य)। पुरुष सचेतन होने पर भी अकर्ता होने के कारण और प्रकृति कर्त्री होने पर भी अचेतन होने के कारण ये स्वतन्त्रतया सर्गोत्पत्ति नहीं कर सकते। जैसे—पङ्गु और अंधा स्वतन्त्रतया मार्ग आक्रमण करके अपने ईप्सित स्थान पर जाने में असमर्थ होते हैं, परंतु संयुक्त होने (पंगु अंधे के कंधे पर सवार होने) पर वही कार्य कर सकते हैं; वैसे ही प्रकृति और पुरुष स्वतन्त्रतया सर्गोत्पत्ति करने में असमर्थ होने पर भी संयुक्त होने पर वही कार्य कर सकते हैं—पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ (सां० का० २१)। प्रवृत्ति—महदादि सर्गोत्पत्ति की प्रवृत्ति। कैवल्यार्थम्—केवलस्य भावः कैवल्यम्। अद्वितीयता, अकेलापन अर्थात् प्रकृति से वियोग। प्रकृति से संयुक्त होने के पश्चात् उससे वियुक्त होने की स्थिति को सांख्यदर्शनकार मोक्ष कहते हैं। यह मोक्ष या वियोग तब होता है, जब पुरुष को केवल ज्ञान प्राप्त होता—एवं तत्त्वाभ्यासान्नाऽस्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम्। अविपर्यायविशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥ (सां० का० ६४)। नास्मीत्यात्मनः कर्तृत्वनिषेधः। न मे इति सङ्गनिषेधः। नाहमिति तादात्म्यनिषेधः ॥ (विज्ञानभिक्षु)। सचेतन पुरुष के साथ संयोग होने पर जड प्रकृति सृष्टि का कार्य प्रारंभ करती है और जिस प्रकार नर्तकी नाना प्रकार के नाच और हावभावों के द्वारा प्रेक्षकों का मनोरंजन करके उनका मन अपनी ओर आकर्षण करती है; वैसे ही प्रकृति भी पुरुष का नाना प्रकार की उपभोग्य वस्तुओं द्वारा मनोरंजन करके उसको अपनी ओर आकर्षण करती है। इन विविध मनोरंजन के पदार्थों से जब तक पुरुष को आनंद होता है, उनके न मिलने से उसको दुःख होता है और वह अहङ्काराभिमूढ होकर सब सृष्टि का कर्तृत्व अपने में मानता है, तब तक उसको मोक्ष नहीं मिलता। जब पुरुष को ज्ञान प्राप्त होता है कि वह स्वयं त्रिगुणातीत और अकर्ता है तथा प्रकृति त्रिगुणात्मक और कर्त्री है अर्थात् जब वह प्रकृति से अपना पृथक्त्व समझता है और प्रकृति उससे पृथक् हो जाती है तब उसको कैवल्य प्राप्त होता है। इससे यह स्पष्ट है कि सुख-दुःख भोग के बिना कैवल्य नहीं मिल सकता और इष्ट पदार्थों के बिना सुख-दुःख भोग नहीं होता है।

इसलिए पुरुष के उपभोगार्थ और पर्याय से कैवल्यार्थ उसका संयोग होते ही प्रकृति में महदादि सर्गोत्पत्ति की प्रवृत्ति होती है—संयोगो हि न महदादिसर्गमन्तरेण भोगाय कैवल्याय च पर्याप्त इति संयोग एव भोगापवर्गार्थं सर्गं करोति ॥ कैवल्य सृष्ट्युत्पत्ति का यद्यपि अन्तिम और मुख्य उद्देश है तथापि सुख-दुःख भोग भी उसके साथ उद्देश होता है, परंतु वह गौण और साध्य का साधन होने के कारण यहाँ पर अनिर्दिष्ट है। 'विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य' इस सांख्यसूत्र (२, १) पर विज्ञानभिक्षु लिखते हैं—यद्यपि मोक्षवद्भोगोऽपि सृष्टेः प्रयोजनं तथापि मुख्यत्वान्मोक्ष एवोक्तः ॥ सांख्यकारिका (२१) में दोनों का निर्देश किया है—पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥२१॥ क्षीरादि हेतु—प्रकृति सर्गोत्पत्ति में कैसे प्रवृत्त होती है, इसके संबंध में सांख्यदर्शनकार क्षीर के तथा अन्य दृष्टान्त देते हैं। (१) क्षीर का दृष्टान्त—जैसे दूध के स्वयं अज्ञ—अचेतन—होते हुए भी वत्स पैदा होते ही उसकी वृद्धि के लिए प्रवृत्ति याने उत्पत्ति होती है, वैसे ही प्रधान के स्वयं अचेतन होते हुए भी पुरुष का संयोग होते ही उसके मोक्ष के लिए सर्गोत्पत्ति की प्रवृत्ति होती है—वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य। पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ (सां० का० ५७)। यथा तृणोदकं गवां भक्षितं क्षीरभावेन परिणम्य वत्सविवृद्धिं करोति, पुष्टे च वत्से निवर्तते, एवं पुरुषविमोक्षनिमित्तं प्रधानम्, इति अज्ञस्य प्रवृत्तिः ॥ (गौडपादाचार्य)। सांख्यसूत्र में भी क्षीर का यही दृष्टान्त (अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य ३, ५९)। दिया हुआ है, परंतु विज्ञानभिक्षु उसका अर्थ 'दूध का दही में परिवर्तन' करते हैं—यथा क्षीरं पुरुषप्रयत्नैरपेक्ष्येण स्वयमेव दधिरूपेण परिणमते, एवमचेतनत्वेऽपि परप्रयत्नं विनाऽपि महदादिरूपपरिणामः प्रधानस्य भवतीत्यर्थः ॥ (२) दूसरा दृष्टान्त काल का दिया है। जैसे सृष्टिवृद्धि के लिए काल का वर्षा, शीत, ग्रीष्म इत्यादि ऋतुओं का चक्र स्वयं जारी रहता है, वैसे ही पुरुषमोक्ष के लिए प्रकृति का सृष्टिचक्र जारी रहता है—कर्मवद् दृष्टेर्वा कालादेः ॥ (सां० सूत्र ३, ६०)। अथैको गच्छति ऋतुरितरश्च प्रवर्तत इत्यादिरूपं कालादिकर्म स्वत एव भवत्येवं प्रधानस्यापि चेष्टा स्यात् ॥ (विज्ञानभिक्षु)। (३) तीसरा दृष्टान्त मनुष्यों के व्यवहार का दिया है। जैसे, ईप्सितार्थ प्राप्ति के लिए मनुष्य अनेक कार्यों में प्रवृत्त होता है, वैसे ही पुरुषमोक्ष के लिए प्रकृति अनेक प्रकार की सृष्टि उत्पन्न करने में प्रवृत्त होती है—औत्सुक्यनिवृत्त्यर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोकः। पुरुषस्य विमोक्षार्थं प्रवर्तते तद्वदव्यक्तम् ॥ (सां० का० ५८)। (४) चौथा दृष्टान्त नर्तकी का है। जैसे कि, प्रेक्षकों के मनोरञ्जनार्थ नर्तकी गीत वाद्य नृत्य हावभाव इत्यादि में प्रवृत्त होती है, वैसे ही प्रकृति प्रवृत्त होती है। पुरुष के कैवल्य के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति स्वभाव से या संस्कार से होती है—स्वभावाच्चेष्टितमनभिसन्धानाद् भृत्यवत् ॥ (सांख्यसूत्र ३, ६१)। ये दृष्टान्त प्रकृति की प्रवृत्ति के लिए जैसे सूचक हैं, वैसे उसकी निवृत्ति के लिए भी सूचक होते हैं। जैसे वत्स पुष्ट होने पर तृणोदक क्षीरोत्पत्ति से निवृत्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है, पानी का काम समाप्त होने पर वर्षाऋतु आप से आप निवृत्त होती है, भोजन बनने पर मनुष्य (रसोइया) भोजनव्यापार से निवृत्त होता है [विविक्तबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके ॥ (सांख्यसूत्र ३, ६३) । परवैराग्येण पुरुषार्थसमाप्तौ प्रधानस्य सृष्टिर्निवर्तते, यथा पाके निष्पन्ने पाचकस्य व्यापारो निवर्तत इत्यर्थः ॥ (सांख्यप्रवचनभाष्य)], और प्रेक्षकों का मनोरञ्जन होने पर नर्तकी रंगभूमि से निवृत्त होती है [रङ्गस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात् । पुरुषस्य तथाऽऽत्मानं प्रकाश्य निवर्तते प्रकृतिः ॥ (सां० का० ५९) । यथा परिषद्भ्यो नृत्यदर्शनार्थं प्रवृत्ताया नर्तक्यास्तत्सिद्धौ निवृत्तिरित्यर्थः ॥ (सांख्यप्रवचनभाष्य)], वैसे ही पुरुष को कैवल्य प्राप्त होने पर प्रकृति उससे याने पर्याय से सर्गोत्पत्ति से निवृत्त होती है।

अत ऊर्ध्वं प्रकृतिपुरुषयोः साधर्म्यवैधर्म्ये व्याख्यास्यामः । तद्यथा—उभावप्यनादी, उभावप्यनन्तौ, उभावप्यलिङ्गौ, उभावपि नित्यौ, उभावप्यनपरौ, उभौ च सर्वगताविति; एका तु प्रकृतिरचेतना त्रिगुणा बीजधर्मिणी प्रसवधर्मिण्यमध्यस्थधर्मिणी चेति, बहवस्तु पुरुषाश्चेतनावन्तोऽगुणा अबीजधर्माणोऽप्रसवधर्माणो मध्यस्थधर्माणश्चेति ॥८॥

(प्रकृतिपुरुषसाधर्म्यवैधर्म्य—) अब इसके पश्चात् प्रकृति और पुरुष के साम्य और वैषम्य का व्याख्यान करते हैं। वह (साम्य और वैषम्य) इस प्रकार का है—दोनों ही अनादि, दोनों ही अनन्त, दोनों ही अलिङ्ग, दोनों ही नित्य, दोनों ही अपर और दोनों ही सर्वव्यापी होते हैं। परन्तु प्रकृति एक, अचेतन, त्रिगुणात्मक, बीजधर्मी, प्रसवधर्मी, और अमध्यस्थधर्मी है। पुरुष अनेक, सचेतन, निर्गुण, बीजधर्मरहित, प्रसवधर्मरहित और मध्यस्थधर्मी होते हैं ॥८॥

वक्तव्य—उभावप्यनादी—दोनों में बहुत समता होने के कारण चरकसंहिता में प्रकृति और पुरुष दोनों का समावेश अव्यक्त में किया गया है। **साधर्म्यवैधर्म्ये**—समानो धर्मः साधर्म्यम् । विरुद्धो विसदृशो वा धर्मो वैधर्म्यम् ॥ समता और विषमता । **अनादि**—नास्ति आदिः कारणं पूर्वकालो वा यस्य सः । चरक में प्रकृति और पुरुष के अनादित्व के सम्बन्ध में लिखा है कि आत्मा अनादि है, इसमें संदेह नहीं है और क्षेत्रपरम्परा भी अनादि है; अतः दोनों ही अनादि होने के कारण इनके अनादित्व में तरतम भेद नहीं किया जा सकता है—आदिर्नास्त्यात्मनः, क्षेत्रपारम्पर्यमनादिकम्। अतस्तयोरनादित्वात् किं पूर्वमिति नोच्यते ॥ (शा० १) । **अनन्त**—नास्ति अन्तो यस्य । यह आनन्त्य तीन प्रकार का होता है—न व्यापित्वाद्देशतोऽतो नित्यत्वान्नापि कालतः । न वस्तुतोऽपि सर्वात्म्यादानन्त्यं ब्रह्मणि त्रिधा ॥ **अलिङ्ग**—न विद्यते लिङ्गं यस्य तदलिङ्गम् । लिङ्ग्यतेऽनेनेति लिङ्गमाकारो लक्षणं वा । लिङ्गग्राह्यता व्यक्त का लक्षण है । इसलिए अलिङ्ग से अव्यक्त का बोध होता है । किंवा 'लिङ्गं लययुक्तम् । लयकाले पञ्चमहाभूतानि तन्मात्रेषु लीयन्ते, तान्येकादशेन्द्रियैः सहाहङ्कारे, स च बुद्धौ, सा च प्रधा[ने] लयं यातीति । नैवं प्रधानम्, तस्मादलिङ्गं प्रधानम्' ॥ (गौडपा[दा]चार्य) । अर्थात् जिनका लय नहीं होता है, उस प्रकार का किंवा 'कारणानुमापकत्वाल्लयगमनाद्वात्र लिङ्गं कार्यजातम्' (सांख्यप्रवचनभाष्य) । जो कार्यजात नहीं होता, [वह] अलिङ्ग है । तीनों दृष्टि से अलिङ्ग के वास्तविक अर्थ में फ[र्क] नहीं होता । **अपर**—न विद्यते परः श्रेष्ठः सूक्ष्मो वा यस्मा[त्] जिससे कोई श्रेष्ठ या सूक्ष्म न हो । किंवा 'न हि प्रधानात् किञ्चिदस्ति परं यस्य प्रधानं कार्यं स्यात्' ॥ (गौडपादाचार्य) **सर्वगत**—सर्वव्यापी, सर्वमूर्तसंयोगी या विभु । **एका**—सर्वपुरुषसाधारणा । असंख्य पुरुष भेद होने पर [भी] अभिन्ना । **त्रिगुणा**—सत्त्वरजतमात्मक । ये तीन गुण प्रकृति में साम्यावस्था में और अकार्यावस्था में उपस्थित होते हैं-सत्त्वं रजस्तम इति प्राकृतं तु गुणत्रयम् । एतन्मयी च प्रकृतिः अकार्यावस्थोपलक्षितं गुणसामान्यं प्रकृतिरित्यर्थः ॥ (सांख्यप्रवचनभाष्य) । **बीजधर्मिणी**—बीजस्य धर्मो बीजधर्मः, सोऽ[स्या] अस्तीति बीजधर्मिणी । बीज में जैसे वृक्षोत्पत्ति का धर्म होता [है] वैसे सर्गोत्पत्ति का धर्म जिसमें उपस्थित हो, ऐसी । [इस] सृष्टि को कई बार फल-फूल से लदे हुए वृक्ष की उपमा [दी] जाती है और इस सृष्टिरूप ब्रह्मवृक्ष का वर्णन सांख्यत[न्त्र] के अनुसार करते हैं । तब प्रकृति को बीज ही कहते हैं-अव्यक्तबीजप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान् । महाहङ्कारवि[टप] इन्द्रियान्तरकोटरः ॥ महाभूतविशाखश्च विशेषप्रतिशाखवान् । स[दा]पर्णः सदापुष्पः शुभाशुभफलोदयः ॥ आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्म[वृक्षः] सनातनः ॥ (महाभारत, आश्वलायनपर्व ३५) । **प्रस[व]धर्मिणी**—प्रसवोऽन्याविर्भावहेतुत्वं परिणामो वा तद्रूपो धर्मो सोऽस्या अस्तीति प्रसवधर्मिणी । महदादि तत्त्वों की समस्त चरा[चर] सृष्टि को जन्म देने का धर्म जिसमें उपस्थित हो, ऐसी । **अम[ध्य]स्थधर्मिणी**—अमध्यस्थस्य धर्मो यः सोऽस्या अस्तीति अमध्य[स्थ]धर्मिणी । सुखदुःखादि द्वन्द्वों से विचलित होने का जिसका [धर्म] हो, ऐसी अर्थात् सुख-दुःख को भोगने वाली । अधिक विव[रण] आगे 'मध्यस्थधर्माणः' में देखो । **बहवः**—सांख्यशास्त्रानु[सार] पुरुष अनन्त होते हैं और उनके बहुत्व के लिए निम्न प्रमाण पेश किये जाते हैं—(१) यदि पुरुष एक होता तो सब[का] जन्म एक समय में होना चाहिए, सब की मृत्यु एक स[मय] में होनी चाहिए, एक के विकल होने पर सब विकल हो[ने] चाहिएँ । परन्तु इस प्रकार की घटनाएँ संसार में [नहीं] दिखाई देती हैं, इसलिए प्रत्येक शरीर के पुरुष पृथक् पृ[थक्] होने चाहिएँ । (२) एक धर्म में, एक अधर्म में, एक [ज्ञान] में, एक अज्ञान में, एक वैराग्य में, एक विषय में प्र[वृत्त] होता है । इस तरह प्रत्येक में स्वतन्त्र प्रवृत्ति होती [है], इसलिए प्रत्येक शरीर में स्वतन्त्र पुरुष है । (३) [कुछ] सात्त्विक, कुछ राजस और कुछ तामस होते हैं, तथा [कुछ] देवयोनि में, कुछ मनुष्ययोनि में और कुछ तिर्यक्[योनि] में जन्म लेते हैं । इसलिए प्रत्येक शरीर में पुरुष स्वतन्त्र [है]। सांख्यकारिका में ये तीनों प्रमाण दिये हैं—जन्ममरणकर[णानां] प्रतिनियमात्, अयुगपत् प्रवृत्तेश्च । पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यवि[पर्य]याच्चैव ॥१७॥ **अबीजधर्माणः, अप्रसवधर्माणः**—समस्त स[ं]...

१ उभावप्यपरौ.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति का पर्याय से त्रिगुणों का खेल है। पुरुष त्रिगुणातीत या निर्गुण होते हैं। इसलिए न वे प्रसवधर्मी और न बीज-धर्मी हो सकते हैं। मध्यस्थधर्माणः—सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से मध्यस्थ जैसे विचलित नहीं होता है, उस प्रकार का धर्म जिसमें है ऐसा अर्थात् निर्विकार। बंध-मोक्ष सुख-दुःखादि विकार प्रकृति के हैं। पुरुष इनसे अलिप्त है—तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्। संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥६२॥ पुरुष के मध्यस्थधर्म के सम्बन्ध में चरक में लिखा है—निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्वभूतगुणेन्द्रियैः। चैतन्ये कारणं नित्यो द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः ॥ (सु० १)। द्रष्टा साक्षी, तेन यतिर्यथा परमशान्तः साक्षी सन् जगतः क्रियाः सर्वाः पश्यन्न रागद्वेषादिना युज्यते, तथाऽऽत्माऽपि सुखदुःखाद्युपलभमानोऽपि न रागादिना युज्यते; दृश्यमानरागादिविकारस्तु मनसि प्राकृतबुद्धौ वा सांख्यदर्शनपरिग्रहाद्भवतीति भावः। (चक्रपाणिदत्त)। इस तरह पुरुष अकर्ता होने पर भी व्यवहार में वही कर्ता भोक्ता कहलाता है। इसका समाधान यह है कि जैसे रक्त-पुष्प की सन्निधि से श्वेत आदर्श में रक्तिमा आ जाती है, चुंबकसन्निधि से लोहे में चुंबकत्व आ जाता है, वैसे ही कर्त्री प्रकृति की सन्निधि से पुरुष में भी कर्तृत्व और भोक्तृत्व आरोपित होता है—यथा हि महाराजः स्वयमव्याप्रियमाणोऽपि सैन्येन करणेन योद्धा भवत्याज्ञामात्रेण प्रेरकत्वात्, तथा कूटस्थोऽपि पुरुषश्चक्षुराद्यखिलकरणैर्द्रष्टा, वक्ता, सङ्कल्पयिता चेत्येवमादिर्भवति संयोगाख्यसान्निध्यमात्रेणैव तेषां प्रेरकत्वादयस्कान्तमणिवदिति। अत आत्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम्। निरिच्छत्वादकर्ताऽसौ कर्ता सन्निधिमात्रतः ॥ यथा हि केवलो रक्तः स्फटिको लक्ष्यते जनैः। रञ्जकाद्युपधानेन तद्वत् परमपूरुषः ॥ (सांख्यप्रवचनभाष्य)। सांख्यकारिका में प्रधान और पुरुष का साम्य और वैषम्य निम्न प्रकार से वर्णन किया है—हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम्। सावयवं परतन्त्रं व्यक्तम्, विपरीतमव्यक्तम् ॥१०॥ त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि। व्यक्तं तथा प्रधानम्, तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥११॥ 'तथा च' का अर्थ पूर्व (१०वीं) आर्या में अहेतुमत्, नित्य इत्यादि प्रधान के गुण वर्णन किये हैं वैसा, अर्थात् इससे साम्य प्रदर्शित होता है और 'तद्विपरीत' से वैषम्य प्रदर्शित होता है।

तत्र कारणानुरूपं कार्यमिति कृत्वा सर्व एवैते विशेषाः सत्त्वरजस्तमोमया भवन्ति; तदञ्जनत्वात्तन्मयत्वाच्च तद्गुणा एव पुरुषा भवन्तीत्येके भाषन्ते ॥९॥

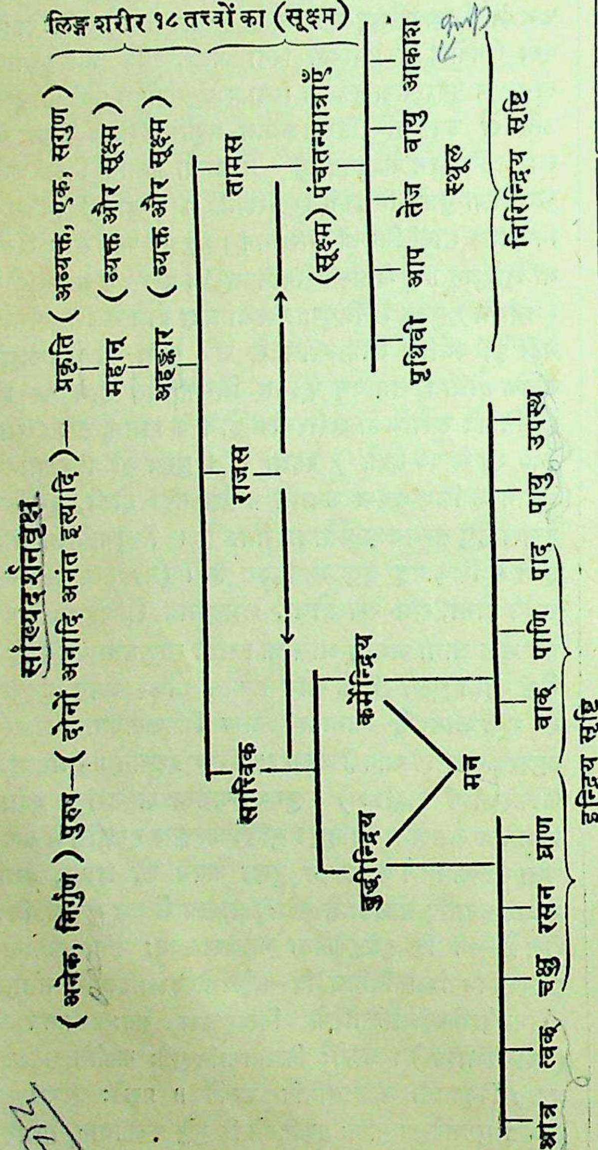
कारणानुरूप कार्य (हुआ करता है), इस (न्याय) के अनुसार ये सम्पूर्ण विशेष त्रिगुणात्मक होते हैं। तदञ्जन और तन्मय होने के कारण पुरुष त्रिगुणात्मक ही होते हैं, ऐसा कई (आचार्य) कहते हैं ॥९॥

वक्तव्य—कारणानुरूपं कार्यम्—सांख्यदर्शन के सत्कार्यवाद का (२ और ७वें सूत्र की टिप्पणी देखो) यह उपसिद्धान्त है। विशेष—इसका सामान्य अर्थ आकाशादि पञ्चमहाभूत है—तन्मात्राण्यविशेषास्तेभ्यो भूतानि पञ्च पञ्चभ्यः। एते स्मृता विशेषाः शान्ता मूढाश्च घोराश्च ॥ (सा० का० ३८)। परन्तु यहाँ पर 'महदादि विशेषभूतपर्यन्त' सब तत्त्व उससे अभिप्रेत हैं। कारण यह है कि, जैसे आकाशादि पञ्चमहाभूत त्रिगुणात्मक हैं, वैसे बुद्धि अहङ्कार और एकादश इन्द्रियाँ भी त्रिगुणात्मक हैं। संक्षेप में, विशेष शब्द यहाँ पर व्यक्त का पर्याय है। तद्गुणा एव पुरुषाः—पुरुष निर्गुण है, इसका उल्लेख पिछले सूत्र में किया है। परन्तु वह भी तद्गुण (प्रकृतिगुणयुक्त अर्थात् त्रिगुणात्मक) हो जाता है, ऐसा कुछ आचार्यों का मत है। इस मत के समर्थनार्थ वे दो कारण बताते हैं। (१) तदञ्जनत्वात्—प्रकृति से लिप्त होने के कारण। अञ्जन का अर्थ है लेप या अपद्रव्य की मिलावट। पुरुष स्वयं त्रिगुणातीत होने पर भी प्रकृति से लिप्त होने के कारण त्रिगुणात्मक हो जाता है। जैसे आदर्श स्वच्छ होते हुए भी लाल फूल की सन्निधि से लाल हो जाता है तथा मुख स्वयं स्वच्छ होते हुए भी मलिन आदर्श के कारण मलिन दिखाई देता है। इसलिए सांख्यसूत्र में लिखा है—न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते ॥७, १९॥ इस सूत्र के प्रवचन में विज्ञानभिक्षु लिखते हैं—यथा स्वभावशुद्धस्य स्फटिकस्य रागयोगो न जपायोगं विना घटते, तथैव नित्यशुद्धादिस्वभावस्य पुरुषस्योपाधिसंयोगं विना दुःखसंयोगो न घटते ॥ इसी दृष्टि से उपाधिविरहित अर्थात् प्रकृतिविरहित पुरुष या आत्मा निरञ्जन कहलाता है—अयमात्मा सन्मात्रो नित्यः शुद्धो बुद्धः सत्यो मुक्तो निरञ्जनो विभुरित्यादि ॥ (श्रुति)। निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥ (श्वेताश्वतरोपनिषत्)। परन्तु केवल संयोग (उपाधि) पुरुष में त्रिगुणात्मकता प्राप्त होने के लिए पर्याप्त नहीं है, क्योंकि तत्त्वाभ्यास से जब पुरुष को केवलज्ञान उत्पन्न होता है तब वह पूर्ववत् त्रिगुणातीत होने पर भी प्रकृति की उपाधि में शरीरनाश होने के समय तक (सा० का० ६४ से ६७ देखो) रहता है। पुरुष को त्रिगुणात्मक बनाने के लिए केवल उपाधि पर्याप्त नहीं होती, इसलिए दूसरा हेतु तन्मयत्व बताया गया है। त्रिगुणात्मता प्राप्त होने के लिए यह हेतु आवश्यक है। (२) तन्मयत्वाच्च—तद्रूप होना, सम रस होना, अभेदभाव से रहना, अपने को भूल जाना अर्थात् आसक्ति इसको तन्मयता कहते हैं। जैसे कामी पुरुष स्त्री के साथ तन्मय होकर अपने पुरुषत्व को भूल जाता है—तन्मयत्वं चास्य विविक्तस्वरूपानभिव्यक्त्या तदुपरक्तस्वरूपत्वं स्त्रीमयो जाल्म इत्यादिवद् द्रष्टव्यम् ॥ (ब्रह्मसूत्र-शांकरभाष्य २।३।१७)। पुरुषतन्मयत्व से उसका बुद्ध्यादिमयत्व समझना चाहिए। बुद्धि, अहङ्कार इत्यादि में तन्मयता उत्पन्न होने के कारण पुरुष अपने को ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता इत्यादि मानता है यद्यपि वास्तव में वह इससे विपरीत है—न हि बुद्धेर्गुणैर्विना केवलस्यात्मनः संसारित्वमस्ति। बुद्ध्युपाधिधर्माध्यासनिमित्तं हि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं संसारित्वमकर्तुरभोक्तुश्चासंसारिणो नित्यमुक्तस्य सतः आत्मनः ॥ (शांकरभाष्य)। प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ प्रकृतेः गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु। पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः । निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ **(भगवद्गीता)। यह बुद्ध्यादिमयत्व पुरुष में प्रतिबिम्ब-रूपेण होता है, वास्तव में नहीं होता**—सा (तदाकारता, तन्मयता) कूटस्थचित्तौ बुद्धेरर्थाकारवत् परिणामो न सम्भवतीत्य-गत्या प्रतिबिम्बस्वरूपतायामेव पर्यवस्यति । अयमेव बुद्धिवृत्तिप्रति-बिम्बो वृत्तिसारूप्यमितरत्रेतियोगसूत्रेण (१.४) उक्तः। सत्त्वेऽ-नुतप्यमाने तदाकारानुरोधात् पुरुषोऽप्यनुतप्यत इव दृश्यते इति योगभाष्ये च तदाकारानुरोधशब्देन विशिष्यैव तापादिदु:खस्य प्रतिबिम्ब उक्तः। अत एव च पुरुषस्य बुद्धिवृत्त्युपरागे स्फटिकं दृष्टान्तं सूत्रकारो वक्ष्यति—कुसुमवच्च मणेरिति। तस्मिंश्च दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तुदृष्टयः। इमास्ताः प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटद्रुमाः॥ अत्र दृष्टि-शब्दो बुद्धिवृत्तिसामान्यपरो युक्तिसाम्यात्। प्रतिबिम्बश्च तत्तदुपा-धिषु बिम्बाकारश्चित्तपरिणाम इति । तस्मात् प्रतिबिम्बरूपेण पुरुषे दुःखसम्बन्धो भोगाख्योऽस्ति ॥ **(सांख्यप्रवचनभाष्य) । इस विवरण का तात्पर्य यह है कि जैसे जल में चन्द्र का**



प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब उस पर जल के चञ्चलत्वादि आरोपित होते हैं और व्यवहार में चन्द्र हिलता है बोला जाता है परन्तु आकाशस्थ चन्द्र इन चञ्चलत्व धर्मों से दूर होता है, वैसे ही प्रकृति के बुद्ध्यादि में का प्रतिबिम्ब पड़ने पर उसके ऊपर प्रकृति के त्रिगुणत्व धर्म आरोपित होते हैं और व्यवहार में पुरुष त्रिगुणात्मक है ऐसा बोला जाता है, परन्तु वास्तव में पुरुष इन धर्मों दूर होता है। इस तन्मयत्व और तदञ्जनत्व के कारण उ हुई त्रिगुणात्मता ये कारण दूर होने पर अर्थात् पुरुष प्र से दूर होने पर दूर हो जाती है, जैसे जपापुष्प आदर्श होने पर आदर्श की लाली दूर हो जाती है—यथा ज्वलद् श्लिष्टं गृहं विच्छिद्य रक्ष्यते । तथा सदोषप्रकृतिविच्छि न शोचति ॥

अब तक सांख्यदर्शन के अनुसार सर्गोत्पत्ति का जो ऊपर वर्णन किया गया है, उसका वृक्ष पहले सुखाव के लिए दिया गया है।

प्रकृति, पुरुष, पंचमहाभूत इत्यादि तत्त्वों के संबं सांख्यदर्शन की जो विचारप्रणाली अब तक वर्णन गई है, वह पूर्णतया आयुर्वेदसंमत नहीं है । इस जिन बातों में आयुर्वेद अपनी विशेषता रखता है मतभेद प्रकट करता है, उन बातों का अब विचार जाता है। प्रथम प्रकृति के संबंध में आयुर्वेद का मत करते हैं—

वैद्यके तु—

स्वभावमीश्वरं कालं यदृच्छां नियतिं तथा । परिणामं च मन्यन्ते प्रकृतिं पृथुदर्शिनः ॥१०॥

आयुर्वेद में तो पृथुदर्शी लोक स्वभाव, ईश्वर, यदृच्छा, नियति और परिणाम को प्रकृति (के समान कारण) मानते हैं ॥१०॥

वक्तव्य—वैद्यक—वैद्यमधिकृत्य कृतो ग्रंथः। चिकि शास्त्र । (१) स्वभाव—तत्तद्द्रव्यप्रतिबद्ध सहज धर्म गुण—स्वभावः स्वस्य तत्तत्पदार्थस्य भावोऽसाधारणकार्य त्वम्, यथाऽग्नेर्दाहकारित्वमपां निम्नदेशगमनादि ॥ (शंकर श्वेताश्वतरोपनिषत् टीकाकार)। तत्र प्रकृतिरुच्यते स्वभाव स पुनराहारौषधद्रव्याणां स्वाभाविको गुर्वादिगुणयोगः । (विमान १) । यह स्वभाव निष्प्रतिक्रिय होता है— निष्प्रतिक्रियः। (चरक, शा० १) । द्विधा भज्येयमप्येयं न तु कस्यचित् । एष मे सहजो दोषः स्वभावो दुरति **(रामायण ६, ३६)** । यावद्देहं स्वभावोऽस्य देहस्य न नि **(योगवासिष्ठ ३, ७६५)** । कः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यम् विचित्रं मृगपक्षिणां च। माधुर्यमिक्षौ कटुता मरीचे, स्व सर्वमिदं प्रवृत्तम् ॥ (२) **ईश्वर—परमात्मा, परमेश्वर संपूर्ण जगत् में व्याप्त है, जिससे यह सृष्टिचक्र जाता है, जिसका न कोई पति है, न परिचाल न उत्पादक है इत्यादि**—देवस्यैषा महिमा तु लोके येनेदं ब्रह्मचक्रम् ॥ न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके न चेशिता तस्य लिङ्गम्। न कारणं करणाधिपो न चास्य कश्चिज्जा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

च्चाधिपः ॥ (श्वेताश्वतरोपनिषद्) । ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ॥ (ईशावास्योपनिषद्) । ईशमेवाहमत्यर्थं न च मामीशते परः । ददामि च सदैश्वर्यमीश्वरस्तेन कीर्तितः ॥ (३) काल—निमेषादि युगपर्यंत भूतभविष्यवर्तमानकाल जो सर्व जगत् का शासक है—कालो निमेषादिपरार्धपर्यंत-प्रत्ययोत्पादको भूतो वर्तमान आगामीति व्यवह्रियमाणो जनैः ॥ (शंकरानन्द) । कालः पचति भूतानि कालः संहरते प्रजाः । कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ना कालतो म्रियते जायते वा ना कालतो व्याहरते च बालः । ना कालतो यौवनमभ्युपैति नाकालतो रोहति बीजमुप्तम् ॥ कालमूलमिदं सर्वं भावाभावौ सुखासुखे ॥ कालेनाभ्यागताः सर्वे कालो हि बलवत्तरः ॥ (महाभारत) । (४) यदृच्छा—बुद्धियुक्त कर्तृत्व के बिना मेघ का बरसना, भूमिकंप होना इत्यादि घटनाओं को अचानक उत्पन्न करने वाली शक्ति । काकतालीयन्यायेन संवादकारिणी काचन शक्तिः । यथर्तुमतीनां योषितां कासांचित् कस्मिंश्चिदृतौ गर्भधारणमित्यादि ॥ (शंकरानन्द) । यदृच्छा कालभार्या ययाऽकस्माद्घनो वर्षति, भूमिः कम्पते, लाभालाभौ भवतः ॥ (नारायण, श्वेताश्वतरोपनिषत् टीकाकार) । यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः । समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥ यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् । सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ (भगवद्गीता) । (५) नियति—पूर्वजन्मार्जित या वर्तमान धर्माधर्म कर्म का फल या अदृष्ट । अथवा—नियतिः सर्वपदार्थेष्वनुगताऽकारवन्नियमनशक्तिः, यथर्तुष्वेव योषितां गर्भधारणमिन्दूदये समुद्रवृद्धिरित्यादि ॥ (शंकरानन्द) । नियतिर्यथाऽग्निरूर्ध्वमेव जलति वायुस्तिर्यगेव पवत इति नियमरूपा ॥ (नारायण) । इस दृष्टि से 'विशेष नियम के अनुसार होने वाले कार्य' को नियति कहते हैं । (६) परिणाम—प्रकृति के गुणविकास का फल या अन्तिम परिवर्तन, पंचमहाभूत । प्रकृतिम्—प्रकरोतीति प्रकृतिः, आदिकारण । किं वा प्रकृतिवत् आदि कारण । पृथुदर्शिनः—मोटी या उदारबुद्धि वाले, दूरदर्शी, संकुचित विचार न रखने वाले । मन्यन्ते—सांख्य जैसे प्रकृति को आदि कारण मानते हैं, वैसे ही आयुर्वेद के पृथुदर्शी ऋषि स्वभावादि छओं को प्रकृति के समान आदि कारण मानते हैं ।

इस संसार में दृष्टि के सामने आने वाले विविध और विलक्षण पदार्थों को तथा विचित्र घटनाओं को देखकर मनुष्यों के दिमाग में इनके कारण के संबंध में अनेक कल्पनाएँ उठती हैं । परंतु साधारण मनुष्य इनके ऊपर न अधिक विचार करता है, न उसके पास अधिक विचार करने के लिए आवश्यक समय और बुद्धिसामर्थ्य होता है। भारतीय ऋषि, जो सदैव तत्त्वचिन्तन में निमग्न रहा करते थे, इस विषय के संबंध में भी अधिक विचार करते थे जिसके फलस्वरूप उनमें प्राचीनकाल से कई मतमतान्तर प्रचलित थे । इन मतमतान्तरों का उल्लेख जैसे यहाँ पर किया है, वैसे श्वेताश्वतरोपनिषत् के प्रारंभ में सृष्टि का कारण क्या है ? इस तरह पूर्व प्रश्न करके किया गया है—किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च संप्रतिष्ठाः । अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥१॥ कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम् । संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥२॥ ये सब मतमतान्तर निम्न प्रकार के हैं। सांख्य या प्रकृतिवादी मानते हैं कि सृष्टि का कारण प्रकृति है; स्वभाववादी या लोकायतिक स्वभाव को कारण मानते हैं; वेदान्ती, योगी और ईश्वरवादी परमेश्वर को कारण मानते हैं; कालवादी काल को कारण मानते हैं; मीमांसक नियति को कारण मानते हैं; और जगन्नित्यत्ववादी या गुणपरिणामवादी नास्तिक पंचमहाभूतों को कारण मानते हैं । इस तरह प्रत्येक पक्ष अपने मत को सत्य, या प्रधान और दूसरे के मत को असत्य, गौण या अपने मत में अन्तर्भूत मानता है । जैसे—सांख्य ईश्वर, काल, स्वभाव इत्यादि को कारण न मानते हुए प्रकृति को ही कारण मानते हैं । गौडपादाचार्य 'प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति' इस कारिका (६१) के भाष्य में लिखते हैं—"केचिदीश्वरं कारणं ब्रुवते—'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः । ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं नरकमेव वा ॥' अपरे स्वभावकारणका ब्रुवते—"केन शुक्लीकृता हंसा मयूराः केन चित्रिताः । स्वभावेनैव" इति । अत्र सांख्याचार्या आहु—'निर्गुणत्वादीश्वरस्य कथं सगुणतः प्रजा जायेरन् ? कथं वा पुरुषान्निर्गुणादेव ? तस्मात् प्रकृतेर्युज्यते । यथा—शुक्लेभ्यस्तन्तुभ्यः शुक्ल एव पटो भवति कृष्णेभ्यः कृष्ण एव' इति । एवं त्रिगुणात् प्रधानात् त्रयो लोकास्त्रिगुणाः समुत्पन्ना इति गम्यते, निर्गुण ईश्वरः, सगुणानां लोकानां तस्मादुत्पत्तिरयुक्तेति । अनेन पुरुषो व्याख्यातः । तथा केषांचित् कालः कारणमिति । उक्तं च—'कालः पचति भूतानि कालः संहरते जगत् । कालः सुप्तेषु जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः ॥' व्यक्ताव्यक्तपुरुषास्त्रयः पदार्थाः, तेन कालोऽन्तर्भूतोऽस्ति, स हि व्यक्तः, सर्वकर्तृत्वात् कालस्यापि प्रधानमेव कारणम्, स्वभावोऽपि अत्रैव लीनः, तस्मात् कालो न कारणं, नापि स्वभाव इति, तस्मात् प्रकृतिरेव कारणम् ॥" वेदान्ती भी इसी तरह स्वभाव, काल इत्यादि को जगत् कारण मानने वालों को मूढ समझते हैं—स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः ॥ (श्वेताश्वतरोपनिषत्) । आयुर्वेदद्रष्टा ऋषि उपर्युक्त सांप्रदायिकों के अनुसार अपनी दृष्टि संकुचित न रखकर सर्वग्राही रखते हैं और विषयानुरोध और औचित्य के अनुसार चिकित्साशास्त्र में इन सब मतमतान्तरों का परामर्श लेते हैं। इसलिए यहाँ पर पृथुदर्शी शब्द का प्रयोग किया गया है—एतत् सर्वानुमतं, सर्ववेदपारिषत्वादायुर्वेदस्य ॥ (डल्हण) । सुश्रुत में तथा आयुर्वेद के चरकादि अन्य ग्रन्थों में इन छओं के उदाहरण मिलते हैं । (१) स्वभाव—अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते । सन्निवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्भवौ । तलेष्वसंभवो यश्च रोम्णामेतत् स्वभावतः ॥ (सुश्रुत शा०) । कालस्य परिणामेन मुक्तं वृन्ताद् यथा फलम् । प्रपद्यते स्वभावेन नान्यथा पतितुं ध्रुवम् ॥ (सुश्रुत, निदान) । स्वभावाल्लघवो मुद्गास्तथा लावकपिञ्जलाः । स्वभावाद्गुरवो माषा वराहमहिषादयः ॥ (चरक, सु०) । (२) ईश्वर—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाठरो भगवानग्निरीश्वरोऽन्नस्य पाचकः । सौक्ष्म्याद्रसानाददानो विवेक्तुं नैव शक्यते ॥ (सुश्रुत) । स हि भगवान् प्रभवश्चाव्ययश्च भूतानां भावाभावकरः विश्वकर्मा विश्वरूपः सर्वगः सर्वतन्त्राणां विधाता भावानामणुः विभुर्विष्णुः क्रान्ता लोकानां वायुरेव भगवानिति ॥ (चरक) । (३) काल—कालो हि नाम भगवान् स्वयंभुरनादिमध्यनिधनोऽत्र रसव्यापत्ती जीवितमरणे च मनुष्याणामायत्ते ॥ (सुश्रुत) । तावेतावर्कवायुसोमाश्च कालस्वभावमार्गपरिगृहीताः कालर्तुरसदोषदेहबलनिवृत्तिप्रत्ययभूताः समुपदिश्यन्ते ॥ (चरक) । देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि कानिचित् । शरदि प्रतिरोहन्ति तथा व्याधिसमुद्भवः ॥ (सुश्रुत, उत्तर ६१) । (४) यदृच्छा—पारुष्ययुक्तश्चिरवृद्धयपाको यदृच्छया पाकमियात् कदाचित् । यदृच्छया चोपगतानि पाकं पाकक्रमेणोपचरेद्विधिज्ञः ॥ (सुश्रुत) । (५) नियति (अदृष्ट)—ब्रह्मस्त्रीसज्जनवधपरस्वहरणादिभिः । कर्मभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य संभवम् ॥ कर्मजा व्याधयः केचिद्दोषजाः सन्ति चापरे । कर्मदोषोद्भवाश्चान्ये, कर्मजास्तेष्वहेतुकाः ॥ नश्यन्ति त्वक्रियाभिस्ते क्रियाभिः कर्मसंक्षये ॥ (सुश्रुत) । निर्दिष्टं दैवशब्देन कर्म यत् पौर्वदेहिकम् । हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपजायते ॥ न हि कर्म महत् किञ्चित् फलं यस्य न भुज्यते । क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः प्रशमं यान्ति तत्क्षयात् ॥ (चरक) । नियम—नियतं दिवसेऽतीते सङ्कुचित्यम्बुजं यथा । ऋतौ व्यतीते नार्यास्तु योनिः संव्रियते तथा ॥ यथा वेलागमे वेलां छादयित्वा महोदधेः । वेगहानौ तदेवाम्भस्तत्रैवान्तर्निलीयते ॥ दोषवेगोदये तद्वदुदीर्येत ज्वरोऽस्य वा । वेगहानौ प्रशाम्येत यथाम्भः सागरे तथा ॥ इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि स्वं स्वं गृह्णाति मानवः । नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः ॥ (सुश्रुत) । पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मलाः । अपस्माराय कुर्वन्ति वेगं किञ्चिदथान्तरम् ॥ (चरक) । (६) परिणाम—ता एवौषध्यः कालपरिणामात् परिणतवीर्या बलवत्यो हेमन्ते भवन्त्यापश्च । बालानामपि वयःपरिणामात् शुक्रप्रादुर्भावो भवति । इह सर्वद्रव्याण्यभ्यवहृतानि सम्यङ् मिथ्याविपक्वानि गुणं दोषं वा जनयन्ति । (सुश्रुत) । जाठरेणाग्निना योगाद्यदेति रसान्तरम् । रसानां परिणामान्ते स विपाक इति स्मृतः ॥ (अष्टांगहृदय) । इन कारणों में परिणाम उपादान कारण और शेष निमित्त कारण होते हैं। संक्षेप में इस विवरण का तात्पर्य यह है कि आयुर्वेद, शरीर में जो अनेक कार्य होते हैं, उनकी उपपत्ति के लिए सांख्यों की प्रकृति के सिवा स्वभावादि अन्यों को भी कारण मानता है।

तन्मयान्येव भूतानि तद्गुणान्येव चादिशेत् ।
तैश्च तल्लक्षणः कृत्स्नो भूतग्रामो व्यजन्यत ॥११॥
तस्योपयोगोऽभिहितश्चिकित्सां प्रति सर्वदा ।
भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते ॥१२॥

यतोऽभिहितं—तत्सम्भवद्रव्यसमूहो भूतादिरुक्तः ॥१३॥

आकाशादि पञ्चमहाभूत प्रकृतिमय तथा प्रकृतिगुणयुक्त जानने चाहिएँ । इन महाभूतों से प्रकृतिलक्षणयुक्त संपूर्ण (स्थावरजंगमात्मक) सृष्टि उत्पन्न हुई है ॥११॥ उस (सम्पूर्ण स्थावरजंगमात्मक सृष्टि) का सदा से ही चिकित्सा के लिए उपयोग कहा गया है क्योंकि चिकि[त्सा]शास्त्र में पंचमहाभूतों से परे विचार (करने का प्रयोजन) नहीं होता है ॥१२॥ इसलिए 'पुरुषसम्भवद्रव्यस[मूह] पञ्चमहाभूतोत्पन्न' कहा गया है ॥१३॥

वक्तव्य—तन्मय—प्रकृतिस्वरूप, जैसे अचेतन, प्रस[व]धर्मी इत्यादि । तद्गुण—त्रिगुणात्मक । पञ्चमहाभूतों त्रिगुण वैषम्यावस्था में होते हैं । इनका संगठन आगे [...] सूत्र में वर्णन किया गया है । तल्लक्षण—पञ्चमहाभूतों लक्षणों से युक्त । महाभूतों के लक्षण—खरद्रवचलो[ष्ण]भूजलानिलतेजसाम् । आकाशस्याप्रतीघातो दृष्टं लिङ्गं यथाक्रम[म्] (चरक० शा० १) । शरीर की दृष्टि से पञ्चमहाभूतों लक्षण—चेष्टा वायुः खमाकाशमूष्माग्निः सलिलं द्रवम् । पृ[थ्वी] चात्र संघातः शरीरं पाञ्चभौतिकम् ॥ इत्येतैः पञ्चभिर्भू[तैर्युक्तं] स्थावरजंगमम् (महाभारत) । तैः—पञ्चीकृतैर्महाभू[तैः] स्थावरजंगमात्मक प्रत्येक द्रव्य पञ्चमहाभूतात्मक है । [...] इतना ही है कि प्रत्येक द्रव्यगत पञ्चमहाभूतों का परि[माण] भिन्न भिन्न होता है, जिससे द्रव्यों में भी भिन्नता आ जा[ती] है । पाँचों महाभूतों के न्यूनाधिक मिश्रण से जो द्रव्या[दि की] निर्वृति होती है, उसको 'पञ्चीकरण' कहते हैं । भूतों [के] न्यूनाधिक प्रमाण के कारण पञ्चीकरण अनन्त प्रकार होता है और द्रव्य भी अनन्त मिलते हैं । पञ्चीकरण [का] विवरण आगे इस अध्याय के २२वें श्लोक के वक्तव्य में [दिया] गया है । व्यजन्यत—विविधो जनितः । चिकित्सां प्रति—दोषधातु वैषम्यरूप विकार को दूर करने के लिए । श[रीर]गत पञ्चमहाभूतात्मक दोषधातुओं का वैषम्य प्राप्त [होने] पर उचित ओषधियों द्वारा उनको साम्यावस्था में स्था[पित] करना इसको चिकित्सा कहते हैं—याभिः क्रियाभिर्जा[यन्ते] शरीरे धातवः समाः । सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भि[षजां] वरम् ॥ प्रवृत्तिर्धातुसाम्यार्था चिकित्सेत्यभिधीयते ॥ (चरक [...] भूतेभ्यो हि परम्—भूतज्ञानात् परम् । प्रत्येक द्रव्य के पञ्च[महा]भूतात्मक सङ्गठन से अधिक । चिकित्सा के लिए अधि[ष्ठान] और उपकरण दोनों की ही जरूरत होती है । पञ्चमहाभू[ता]त्मकशरीरयुक्त पुरुष अधिष्ठान और भूतग्राम उपकरण है [...] तस्योपकरणमन्यत्, तस्मात् पुरुषोऽधिष्ठानम् (प्रथमखण्ड पृ[...] पर सूत्र २० देखो) । इसलिए भूतज्ञान का सम्बन्ध अ[धि]ष्ठान और उपकरण दोनों के साथ होता है । (१) अधि[ष्ठान] की दृष्टि से—शरीरगत दोषधातु अङ्गप्रत्यङ्गादि के पञ्च[महा]भूतात्मक सङ्गठन ज्ञान से अधिक । शरीर में अमुक [...] अमुकभूताधिक्य से, अमुक धातु अमुकभूताधिक्य से [...] है, इस प्रकार के पञ्चमहाभूतात्मक शरीररचनावि[...] से यदि वैद्य भली भाँति परिचित हो तो उनकी सा[म्या]वस्था ओषधियों के उपयोग से स्थापित करने में [...] को सफलता मिल सकती है । इसी दृष्टि से आगे २०वें [...] में 'महाभूतविकारप्रविभागेन' शरीर के अंगप्रत्यंग [...] किये गये हैं । चरकसंहिता में भी शरीर के अङ्गप्रत्यंगों [का] विवरण इसी दृष्टि से (शा० ४।१२) दिया गया है । [...] सूत्र की टीका में चक्रपाणिदत्त महाभूतों के अनुसार [...] प्रत्यंगों का वर्गीकरण करने का उद्देश्य लिखते हैं—पु[...]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूतजन्यत्वेनाभिधानमङ्गानां क्षये वा वृद्धौ वा सत्यां तत् कारण-भूतभूतोपयोगप्रतिषेधाभ्यां वृद्धिक्षयजननशानार्थम्। यदङ्गं यद्भूतप्रभवं तदङ्गं तद्भूतप्रधानेन द्रव्येण वर्धते, क्षीयते च तद्विपरीतेन॥ (२) उपकरण की दृष्टि से—संसार में मिलने वाले द्रव्यों के भूतात्मक संगठन ज्ञान से अधिक। सृष्टि में मिलने वाले प्रत्येक पदार्थ के सङ्गठन से यदि चिकित्सक भली भाँति परिचित हो तो वृद्धियुक्त दोषधातु के ह्रासन के लिए तथा क्षययुक्त दोषधातु के वर्धन के लिए उचित द्रव्यों का उपयोग करके वह दोषधातुओं की साम्यावस्था स्थापन करने में याने चिकित्सा में सफलता प्राप्त कर सकता है। इस सफलता के लिए क्षेत्रज्ञ क्या है? प्रकृति क्या है? महान् क्या है? तन्मात्रा क्या है? इत्यादि गहन तत्त्वों के सम्बन्ध में विचार करने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं होती। इसी दृष्टि से सूत्रस्थान के द्रव्यविशेषविज्ञानीय अध्याय में द्रव्यों के पार्थिवादि भेद तथा उनके गुण-धर्म वर्णन करके (प्रथम खण्ड पृष्ठ २२५) पश्चात् लिखा है—अनेन निदर्शनेन नानौषधिभूतं जगति किञ्चिद्द्रव्यमस्तीति कृत्वा तं तं युक्तिविशेषमर्थं चाभिसमीक्ष्य स्ववीर्यगुणयुक्तानि द्रव्याणि कार्मुकाणि भवन्ति॥ वैसे ही आगे चलकर उसी अध्याय में 'भूतेजोवारिजैर्द्रव्यैः शमं याति समीरणः' इत्यादि द्रव्यसङ्गठन का दोषों के ऊपर होने वाला परिणाम लिखा है। यतोऽभिहितम्—सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय के ३७वें सूत्र में (प्रथम खण्ड पृष्ठ १२ पर)। तत्संभवद्रव्यसमूहो भूतादिः—चिकित्सा का अधिष्ठान पुरुष है और पुरुष सांख्यदर्शनोक्त पचीसवें तत्त्व का नाम है। वह निर्गुण, निर्विकार और अशरीर होने के कारण न उसमें दोषधातु-वैषम्य हो सकता है, न वैद्य उसकी चिकित्सा कर सकता है। इसलिए इस संसार में पुरुष अवतीर्ण होने के लिए जो जो चीजें आवश्यक होती हैं (जैसे—शुक्रशोणित, त्रिदोष, सप्तधातु, हृदयवृक्कादि अङ्ग) वे सब पुरुष शब्द से अभिप्रेत होती हैं। अर्थात् चिकित्सा के लिए वैद्य का सम्बन्ध पुरुषाधिष्ठित इन पञ्चमहाभूतात्मक दोषधातु अङ्ग-प्रत्यंगों के साथ हो आता है, प्रत्यक्ष पुरुष के साथ नहीं आता है। संक्षेप में यदि वैद्य शरीर के तथा द्रव्यों के पञ्चमहाभूतात्मक सङ्गठन से भली भाँति परिचित हो तो पुरुष प्रकृति इत्यादि का गहन विचार न करने पर भी वह चिकित्सा में सफलता प्राप्त कर सकता है, यह अभिप्राय इन श्लोकों से निकलता है।

भौतिकानि चेन्द्रियाण्यायुर्वेदे वर्ण्यन्ते, तथेन्द्रियार्थाः ॥१४॥

भवति चात्र—

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थं तु स्वं स्वं गृह्णाति मानवः।
नियतं तुल्ययोनित्वान्नान्येनान्यमिति स्थितिः ॥१५॥

(इन्द्रियों का भौतिकत्व—) आयुर्वेद में इन्द्रियाँ भौतिक ही वर्णन की जाती हैं, तथा इन्द्रियों के अर्थ (भौतिक वर्णन किये जाते हैं) ॥१४॥ इस (के समर्थन) पर श्लोक है—मनुष्य (प्रत्येक) इन्द्रिय के द्वारा तुल्ययोनि होने के कारण उसके विषय का ही एतान्ततः ग्रहण करता है, अन्य (इन्द्रिय) से अन्य (विषय) का (ग्रहण) नहीं (करता), यही सिद्धान्त है ॥१५॥

वक्तव्य—आयुर्वेदे—इस सूत्र में सांख्यदर्शन से आयुर्वेद का मतभेद प्रदर्शित करने के लिए आयुर्वेद शब्द का उपयोग किया है। यह दूसरा मतभेद है। इन्द्रियाणि—चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन और स्पर्शन। इन्द्रियार्थ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। भौतिकानि—यही मतभेद है। सांख्यदर्शन वृक्ष को देखने से यह भेद स्पष्ट होगा। सांख्यदर्शन के अनुसार वैकारिक अहङ्कार से समस्त इन्द्रियों की उत्पत्ति हुई है। अर्थात् प्रस्तुत बुद्धीन्द्रियों के संबंध में यों कह सकते हैं कि उनकी योनि एक याने वैकारिक अहङ्कार है। तामस अहङ्कार से पाँच तन्मात्राएँ और उनसे पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार इन्द्रियों की और भूतों की उत्पत्ति पृथक् पृथक् होने के कारण इन्द्रियों को सांख्याचार्य भौतिक नहीं मानते। सांख्यसूत्र में इन्द्रियों को भौतिक मानने का स्पष्ट निषेध किया है—आहङ्कारित्वश्रुतेर्न भौतिकानि। (२, २०)। परंतु वैशेषिक, न्याय और वेदान्तदर्शनों में इन्द्रियाँ भौतिक मानी गई हैं—घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः॥ (न्यायदर्शन १, १, १२)। पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि (इन्द्रियकारणानि इति) (१, १, १३)। गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः॥ (१, १, १४)। खं श्रोत्रे, स्पर्शने वायुर्दर्शने तेज उत्कटम्। सलिलं रसने, भूमिर्घ्राणे तज्ज्ञैर्निरूपितम्॥ आयुर्वेद ने इन्द्रियोत्पत्ति के संबंध में सांख्यदर्शन को छोड़कर न्यायादि दर्शनों का आधार ग्रहण किया है। चरक में भी इन्द्रियाँ भौतिक मानी गई हैं—पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि खं वायुर्ज्योतिरापो भूरिति॥ (सू० ८)। इन्द्रियेण इत्यादि—इस श्लोक में इन्द्रियों को भौतिक मानने का तत्त्व (स्थिति, सिद्धान्त) वर्णन किया है। इस तत्त्व का विचार निम्न तीन पहलुओं से कर सकते हैं। (१) सांख्यदर्शनानुसार पाँचों इन्द्रियाँ वैकारिक अहङ्कार से उत्पन्न हुई हैं, अर्थात् इन्द्रियाँ एक स्वरूप की होनी चाहिएँ। यदि यह तत्त्व ठीक हो तो एक इन्द्रिय से पाँचों इन्द्रियार्थों का ग्रहण होना चाहिए, या पाँचों से पाँचों अर्थों का ग्रहण नियमविरहित होना चाहिए, या एकाध इन्द्रिय न होने पर या नष्ट होने पर उसका कार्य अन्यों से होना चाहिए। परंतु इन्द्रियाँ इस प्रकार अर्थ ग्रहण नहीं करतीं, उनमें अर्थ ग्रहण का नियम होता है। इसलिए अनुमान से यह कह सकते हैं कि सब इन्द्रियाँ एककारणोत्पन्न नहीं हैं। अर्थात् पाँच अर्थों के लिए जैसे पाँच इन्द्रियाँ हैं, वैसे ही पाँच इन्द्रियों के लिए पाँच उपादान कारण भी होने चाहिएँ—नानाप्रकृतिनामेषां सतां विषयनियमो नैकप्रकृतिनाम्, सति च विषयनियमे स्वविषयग्रहणलक्षणत्वं भवति॥ (वात्स्यायनभाष्य)। कः पुनरयं नियमः? भूतगुणविशेषग्रहणसाधनत्वम्। न सर्वमिन्द्रियं सर्वभूतगुणविशेषं गृह्णाति, अपि तु यज्जातीयमिन्द्रियं भवति तस्य यो गुणविशेष इतरेतरभूतव्यवच्छेदहेतुर्गन्धादिः स

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तेनैवेन्द्रियेण गृह्यत इत्ययं नियमः। ऐकात्म्ये पुनरयं नियमो न स्यात्। यदि पुनरिन्द्रियाण्येकात्मकान्येककारणानि स्युः कारणस्वभावानुविधानादैकात्म्याद्विषयव्यवस्था न स्यात् सर्वं सर्वार्थमेकं वा सर्वार्थमिति स्यात् ॥ (उद्योतकर वार्त्तिक)। (२) श्रोत्र केवल शब्द को ही ग्रहण कर सकता है। शब्देतर अन्य अर्थों को ग्रहण करने में वह असमर्थ होता है। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के संबंध में अनुभव है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियों का कार्य विषयग्रहणनियमयुक्त होता है। यह कार्य तब हो सकता है, जब प्रत्येक इन्द्रिय की प्रकृति (योनि—उपादान कारण) भिन्न भिन्न हो याने इन्द्रियाँ स्वस्वभिन्न प्रकृति हों। (३) पहले यह बताया जा चुका है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये क्रम से आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी के गुण हैं—शब्दो वैहायसः, स्पर्शो वायवीयः प्रकीर्तितः। रूपमाग्नेयमाप्योऽत्र रसो गन्धस्तु पार्थिवः ॥ शब्द आकाशीय गुण है और उसका ग्रहण केवल श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा होता है। गंध पार्थिव गुण है और उसका ग्रहण केवल घ्राणेन्द्रिय द्वारा होता है। इससे यही अनुमान होता है कि शब्द और श्रोत्र, रूप और चक्षु, रस और जिह्वा, स्पर्श और स्पर्शन तथा गंध और घ्राण ये 'तुल्ययोनि' होते हैं—भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम् ॥ (न्यायदर्शन ३, १, ६०)। इस सूत्र पर भाष्यकार लिखते हैं—दृष्टो हि वाय्वादीनां भूतानां गुणविशेषोऽभिव्यक्तिनियमः। यथा—वायुः स्पर्शव्यञ्जकः, आपो रसव्यञ्जकाः, तेजो रूपव्यञ्जकं, पार्थिवं किञ्चिद्द्रव्यं कस्यचिद्द्रव्यस्य गंधव्यञ्जकम्। अस्ति चायमिन्द्रियाणां भूतगुणविशेषोपलब्धिनियमः, तेन तेन भूतगुणविशेषोपलब्धेर्मन्यामहे—भूतप्रकृतीनीन्द्रियाणि नाऽव्यक्तप्रकृतीनि ॥ वैशेषिक दर्शन में भी लिखा है—भूयस्त्वाद्गन्धवत्त्वाच्च पृथिवी गन्धज्ञाने प्रकृतिः। ८, २, ५ ॥ तथापस्तेजो वायुश्च रसरूपस्पर्शाविशेषात् ॥ ८, २, ६ ॥ श्रीजयनारायण तर्कपञ्चानन भट्टाचार्य कणादसूत्रविवृति में लिखते हैं—घ्राणेन्द्रियं पार्थिवं रूपादिमध्ये गन्धस्यैव व्यञ्जकत्वात् कुङ्कुमगन्धाभिव्यञ्जकघृतादिवत्। रसनेन्द्रियं जलीयं परकीयरूपाद्यव्यञ्जकत्वे सति परकीयरसव्यञ्जकत्वात्सक्तुरसाभिव्यञ्जकोदकवत्। चक्षुरिन्द्रियं तैजसं गन्धाद्यव्यञ्जकत्वे सति रूपव्यञ्जकत्वात् दीपप्रभावत्। त्वगिन्द्रियं वायवीयं रूपाद्यव्यञ्जकत्वे सति स्पर्शव्यञ्जकत्वात्, अङ्गसङ्गि सलिलशैत्यव्यञ्जकव्यजनवत् ॥ चरक में भी लिखा है—तत्रानुमानगम्यानां पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि, खं श्रोत्रे, घ्राणे क्षितिः, आपो रसने, स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपपद्यते; तत्र यद्यदात्मकमिन्द्रियं विशेषात्तत्तदात्मकमेवार्थमनुगृह्णाति, तत्स्वभावाद्विभुत्वाच्च ॥ (सू० ८)। इन बुद्धीन्द्रियों के उपादान कारण महाभूत पञ्चीकृत होते हैं। जैसे—घ्राणेन्द्रिय का उपादान कारण महाभूत केवल पृथिवी न होकर पंचमहाभूतों का मिश्रण है, जिसमें पृथिवीतत्त्व की अधिकता होती है। इस विशेषता को प्रदर्शित करने के लिए ऊपर वैशेषिक सूत्र में 'भूयस्त्वात्' शब्द प्रयोग किया गया है। इस सूत्र के भाष्य में चन्द्रकान्तभट्ट लिखते हैं—अत्रापि खल्वियं पृथिवी पंचात्मिका, तत्रैवं सति सा यथा गन्धवत्त्वाद्गन्धज्ञाने प्रकृतिः एवं रसादिमत्त्वाद्रसज्ञानेऽपि प्रकृतिः स्यादित्यत आह—भूयस्त्वादिति। येषा पृथिवी, भूयांसः खल्व[…] पृथिव्या अंशा अल्पीयांसश्चाबादीनामिति भूयस्त्वाद्गन्धवती पृथि[…]त्युच्यते ॥ चरक में भी लिखा है—एकैकाधिकयुक्तानि खादीन[…]मिन्द्रियाणि तु। पञ्चकर्मानुमेयानि येभ्यो बुद्धिः प्रवर्तते (शा० १, २४)। इस पर चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—एकैकाधिकपदेन पञ्चापि पाञ्चभौतिकानि, परं चक्षुषि तेजोऽधि[…]मित्याद्युक्तं सूचयति ॥

न चायुर्वेदशास्त्रेषूपदिश्यन्ते सर्वगताः क्षेत्र[…] नित्याश्च; असर्वगतेषु च क्षेत्रज्ञेषु नित्यपुरुषख्या[…]कान् हेतूनुदाहरन्ति ॥१६॥

(पुरुष का अणुत्व—) आयुर्वेदशास्त्र में क्षेत्रज्ञ सर्व[…] नहीं कहे जाते हैं, परंतु नित्य (कहे जाते हैं); अ[…] असर्वगत क्षेत्रज्ञों में (ही आयुर्वेद के ऋषि) पुरुष नित्य[…] दर्शक हेतु बतलाते हैं ॥१६॥

वक्तव्य—इस सूत्र में आयुर्वेद का सांख्यद[…] से तीसरा भेद प्रदर्शित किया है। सर्वगत—सर्वव्यापी, वि[…] सर्वमूर्तसंयोगी। च—इससे पूर्वशब्द के अर्थ से कु[…] असंगतता सूचित की जाती है। जैसे—आयुर्वेद में क्षेत्र[…] सांख्यशास्त्रानुसार सर्वगत न होने पर भी उसके अनुस[…] नित्य कहलाते हैं और सर्वगत पुरुष का नित्यत्व जैसे सि[…] किया जाता है, वैसे असर्वगत क्षेत्रज्ञ का भी नित्यत्व सि[…] किया जाता है। सांख्यदर्शन में पुरुष विभु, अनेक औ[…] नित्य माने गये हैं। पुरुष के नित्यत्व के संबंध में योगादि अ[…] दर्शनों का ऐकमत्य है। परंतु अनेकत्व और विभुत्व ये[…] लक्षण परस्पर विरोधी होने के कारण सब दर्शनों का इ[…] संबंध में ऐकमत्य नहीं है। यदि पुरुष विभु माना जाय[…] उसमें उत्क्रान्ति, गति, आगति इत्यादि गमन कार्य नहीं[…] सकते तथा सर्वमूर्तसंयोगी होने के कारण वह अनेक भी न[…] हो सकता, एक ही होना चाहिए। यदि पुरुष विभु औ[…] अनेक हों तो प्रत्येक शरीर में अनेक (सर्व) पुरुष उ[…] स्थित होंगे और प्रत्येक जीव को संसार में जितने जी[…] हैं उनके अनुभव का ज्ञान होगा। इस प्रकार का ज्ञ[…] नहीं होता है, इसलिए पुरुष या तो विभु और ए[…] या अविभु और अनेक होने चाहिएँ। इस विरोध को[…] करने के लिए अन्य दर्शनकार दोनों में से एक गुण को छ[…] देते हैं। वैशेषिक, न्याय और वेदान्त पुरुष को विभु औ[…] एक मानते हैं और उसका अनेकत्व घटाकाश, मठाकाश[…] समान वर्णन किया जाता है—व्यवस्थातो नाना। (वैशेषि[…] दर्शन ३, २, २०)। एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित[…] एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचंद्रवत् ॥ एकस्तथा सर्वभूता[…]रात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ॥ महर्षि सुश्रुत पुरुष[…] अनेकत्व मान्य करते हैं। इसलिए विरोधपरिहारार्थ उस[…] विभुत्व अमान्य करते हैं। चरकाचार्य पुरुष को विभु औ[…] एक मानते हैं—अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः शाश्वतो विभुरव्ययः[…] विभुत्वमत एवास्य यस्मात् सर्वगतो महान् ॥ (शा० १)। आ[…] विभु मानने के कारण समस्त संसार में क्या हो [...] है, इसका ज्ञान तथा प्रत्येक जीव के सुख-दुःख

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुभव प्रत्येक जीव को होना चाहिए, यह आक्षेप उत्पन्न होता है। इसका समाधान यह है कि यद्यपि पुरुष विभु है तथापि उसको इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान की प्राप्ति होती है और ये इन्द्रियाँ प्रत्येक शरीर में स्वतन्त्र होती हैं। अतः एक जीव को दूसरे जीव के सुख-दुःखादि का अनुभव प्राप्त नहीं हो सकता—आत्माज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं तस्य प्रवर्तते। करणानामवैकल्यादयोगाद्वा न वर्तते॥ देही सर्वगतोऽप्यात्मा स्वे स्वे संस्पर्शनेन्द्रिये। सर्वाः सर्वाश्रयस्थास्तु नाऽऽत्माऽतो वेत्ति वेदनाः॥ नित्यानुबंधं मनसा देहकर्मानुपातिना। सर्वयोनिगतं विद्यादेकयोनावपि स्थितम्॥ (शा० १)। सुश्रुत में पुरुष अविभु मानने के कारण इस प्रकार का समाधान करने की आवश्यकता नहीं मालूम हुई। पुरुष का परिमाण—पुरुष के तीन परिमाण हो सकते हैं—मध्यम, विभु और अणु। (१) मध्यम परिमाण—इसका अर्थ यह होता है कि जिस शरीर में पुरुष रहता है, उसको वह पूर्णतया व्यापता है। इसलिए वह शरीर परिमाण भी कहलाता है। बौद्ध आत्मा का परिमाण मध्यम मानते हैं। परन्तु इसमें यह आपत्ति होती है कि यदि पुरुष मनुष्यजन्म से हाथी के जन्म में चला जाय तो वह शरीरव्यापी नहीं होगा और यदि हाथी जन्म से चींटी के जन्म में चला जाय तो उसका समावेश उसके शरीर में नहीं होगा। इसलिए आत्मा का परिमाण मध्यम नहीं माना जा सकता। 'एवं चात्माऽकार्त्स्न्यम्' इस ब्रह्मसूत्र (२, २, ३४) के भाष्य में श्रीशंकराचार्य लिखते हैं—शरीराणां चानवस्थितपरिमाणत्वान्मनुष्यजीवो मनुष्यशरीरपरिमाणो भूत्वा पुनः केनचित् कर्मविपाकेन हस्तिजन्म प्राप्नुवन्न कृत्स्नं हस्तिशरीरं व्याप्नुयात्। पुत्तिकाजन्म च प्राप्नुवन्न कृत्स्नः पुत्तिकाशरीरे संमीयेत। समान एव एकस्मिन्नपि जन्मनि कौमारयौवनस्थाविरेषु दोषः॥ (२) विभु परिमाण—इसका अर्थ सर्वव्यापी, जिसके सिवा कोई सृष्ट पदार्थ नहीं होता। परंतु पुरुष में पूर्वदेहपरित्याग अपरदेहगमन, परलोकगमन इत्यादि गतिवाचक कार्य होते हैं। इसलिए वह विभु नहीं हो सकता। श्रीशंकराचार्य 'उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्' इस ब्रह्मसूत्र (२, ३, १९) के भाष्य में लिखते हैं—उत्क्रान्तिगत्यागतिश्रवणानि तु जीवस्य परिच्छेदं प्रापयन्ति। आसामुत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणात्परिच्छिन्नस्तावज्जीव इति प्राप्नोति। न हि विभोश्चलनमवकल्पत इति॥ सुश्रुत में इसी कारण से (आगे का सूत्र देखो) पुरुष का विभुत्व नहीं माना गया है। (३) जब पुरुष मध्यम और विभु नहीं है, तब अणु होना चाहिए। अणु से अतिसूक्ष्मत्व का बोध होता है—बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥ (श्वेताश्वतरोपनिषत्)। पाँचवें अध्याय का ६२ वाँ श्लोक देखो। यहाँ पर भी असर्वगत से आत्मा का परिमाण उपर्युक्त विवरण के आधार पर अणु ही समझना चाहिए—सति च परिच्छेदे शरीरपरिमाणत्वस्यार्हतपरीक्षायां निरस्तत्वादणुरात्मेति गम्यते। (ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य)।

आयुर्वेदशास्त्रसिद्धान्तेष्वसर्वगताः[१] क्षेत्रज्ञा नित्याश्च, तिर्यग्योनिमानुषदेवेषु संचरन्ति धर्माधर्मनिमित्तं; त एतेऽनुमानग्राह्याः परमसूक्ष्माश्चेतनावन्तः शाश्वता लोहितरेतसोः सन्निपातेष्वभिव्यज्यन्ते, यतोऽभिहितं—पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इति; स एष कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः॥१७॥

आयुर्वेदशास्त्रसिद्धान्त में अणुरूप और नित्य पुरुष धर्माधर्म के कारण तिर्यग्योनि, मनुष्ययोनि और देवयोनि में संचार करते हैं। ये अनुभवग्राह्य, अत्यन्त सूक्ष्म, सचेतन और नित्य पुरुष शुक्रशोणित संयोग में प्रकट होते हैं। इसलिए (पहले) कहा है कि पञ्चमहाभूत और आत्मा के संयोग को ही पुरुष कहते हैं, और यही कर्म पुरुष चिकित्सा का अधिकरण होता है॥१७॥

वक्तव्य—पिछले सूत्र में आत्मा अणु और नित्य वर्णन किया है। इस सूत्र में उसके अणुत्व और नित्यत्व के हेतु बताये गये हैं। आयुर्वेदशास्त्रसिद्धान्तेषु—आयुर्वेदशास्त्र में जो सिद्धान्त ग्रहण किये गये हैं, उनके अनुसार। तिर्यग्योनिमानुषदेवेषु—यहाँ पर जो योनि के तीन प्रकार प्रदर्शित किये हैं, उनमें संपूर्ण भौतिक सृष्टि का समावेश हो जाता है। इनमें पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप (सर्पादि) और स्थावर करके तिर्यग्योनि पाँच तरह की होती है। ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पैत्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस और पैशाच करके देवयोनि आठ तरह की होती है। मनुष्ययोनि केवल एक तरह की होती है—अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति। मानुषकश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः (सा० का० ५३)। सञ्चरन्ति—इस सञ्चरण में तीन प्रकार की गतियाँ आती हैं—(१) उत्क्रान्ति—एक देह का त्याग। (२) गति—परलोकगमन। (३) आगति—दूसरे जन्म में प्रवेश। ये तीनों गतियाँ एक पुरुष के सम्बन्ध में होती हैं, जिससे उसका नित्यत्व सिद्ध होकर विभुत्व नष्ट होता है। एक जन्म से दूसरे में प्रवेश करते समय पुरुष अपने साथ पूर्वजन्म के संस्कारों को ले जाता है, जिनके कारण बालक जन्म होते ही स्तनपान की अभिलाषा करता है, कुछ लोग बुद्धिमान् होते हैं, कुछ मन्दबुद्धि होते हैं, कुछ धार्मिक होते हैं और कुछ लोभी, तामसी इत्यादि होते हैं। न्यायदर्शन में पुरुषनित्यत्व की सिद्धि इन उदाहरणों से ही की गई है—पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः ।३।१।१९॥ प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ।३।१।२२॥ वीतरागजन्मादर्शनात् ।३।१।२५॥ धर्माधर्मनिमित्तम्—शुभ, पुण्य या सात्त्विक कर्मों के द्वारा देवयोनि में; अशुभ पाप या तामस कर्मों के द्वारा तिर्यग्योनि में; और संमिश्र कर्मों के द्वारा मनुष्ययोनि में पुरुष को जन्म मिलता है। तीसरे अध्याय के चौथे सूत्र के वक्तव्य में दैवसंगात् की टिप्पणी भी देखो। धर्म से जिनमें पुण्यकर्मों की अधिकता हो ऐसे कर्म, अधर्म से जिनमें पापकर्मों की अधिकता हो ऐसे कर्म, और धर्माधर्म से जिनमें दोनों प्रकार के कर्मों की प्रायिक तुल्यता हो ऐसे कर्म

१ आयुर्वेदशास्त्रेष्वसर्वगताः.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझने चाहिएँ—यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् । तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ (भगवद्गीता १४।१४) । रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते । तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥ ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः । जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥ देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः । तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥ (मनुस्मृति १२।४०) । अनुमानग्राह्याः—पुरुष अत्यन्त सूक्ष्म अणुप्रमाण होने के कारण प्रत्यक्ष चर्मचक्षुओं से उनका ग्रहण नहीं हो सकता, परन्तु उनके और लक्षणों (आगे का सूत्र देखो) से अप्रत्यक्षतया उनकी उपलब्धि होती है—सौक्ष्म्यादनुपलब्धिर्नाभावात् कार्यतस्तदुपलब्धेः ॥ (सांख्यकारिका ८) । पुरुषोपलब्धि के सम्बन्ध में पाँचवें अध्याय के ६२वें श्लोक में कुछ विवरण किया गया है । अतः उस श्लोक को तथा उसके वक्तव्य को देखो । परमसूक्ष्माः—इस विषय का अधिक विवरण तीसरे अध्याय के चौथे सूत्र के वक्तव्य में किया गया है, उसको देखो । श्वेताश्वतरोपनिषत् में पुरुष सूक्ष्मता का प्रमाण निम्न प्रकार से वर्णित है—बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः ॥ (५।८) । लोहितरेतसोः सन्निपातेषु—शुक्र और शोणित के संयोग में । इसका विवरण तीसरे अध्याय के तीसरे सूत्र के वक्तव्य में किया गया है । शुक्रशोणित सन्निपात से सम्पूर्ण जरायुजन्य प्राणियों का बोध होता है और पुरुष के संचरण में इसकी आवश्यकता भी होती है, क्योंकि कर्मानुसार पुरुष को मनुष्येतर प्राणियों में भी संचार करना पड़ता है । परन्तु यहाँ पर मनुष्य का अर्थ कर सकते हैं । यतोऽभिहितम्—सूत्रस्थान के प्रथमाध्याय के २०वें सूत्र में ।

तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनः सङ्कल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः ॥१८॥

(पुरुष के गुण—) सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, प्राण, अपान, उन्मेष, बुद्धि, मनःसंकल्प, विचारणा, स्मृति, विज्ञान, अध्यवसाय और विषयोपलब्धि ये उस (पुरुष) के गुण हैं ॥१८॥

वक्तव्य—सुखदुःखे—सर्वेषामनुकूलतया वेदनीयं सुखम् । सर्वेषां प्रतिकूलतया वेदनीयं दुःखम् । (तर्कसंग्रह) । बाधनालक्षणं दुःखम् ॥ (न्यायसूत्र १) । इच्छाद्वेष—काम और क्रोध—सुखानुशायी रागः । दुःखानुशायी द्वेषः ॥ (योगसूत्र २) । सुख-दुःख के पीछे पड़ने से ही इच्छा और द्वेष उत्पन्न होते हैं । प्रयत्न—कायिक, वाचिक और मानसिक कर्म करने की प्रवृत्ति । प्रत्यक्ष कार्य इससे अभिप्रेत नहीं है—प्रवृत्ति—वाग्बुद्धिशरीरारम्भः । (न्यायसूत्र १) । प्राण—वायुर्यो वक्त्रसंचारी स प्राणो नाम देहधृक् । श्वास के द्वारा फुफ्फुस के भीतर जाने वाली वायु । संक्षेप में श्वास (Inspiration) । अपान—प्राण के विरुद्ध याने बाहर जाने वाली वायु (Expiration) अपान का अर्थ पाँच वायु में से जो अपानवायु होती है, वह नहीं है । चक्रपाणिदत्त भी 'प्राणापानावुच्छ्वासनिश्वासौ' इसका अर्थ करते हैं । अपान उपयोग इस दृष्टि से हमेशा होता है—प्राणापानौ समौ कृ नासाभ्यान्तरचारिणौ ॥ (भगवद्गीता ५। २७) । उन्मेषनिमेषौ आँखों के पलक बन्द करने और खोलने के कर्म । अर्थ के सम्बन्ध में कुछ मतभेद दिखाई देता है अक्षिपक्ष्मणो येन संयुज्येते तदुन्मेषः । येन च संयुक्तयोः विभागस्तन्निमेषः ॥ (वैशेषिकभाष्य) । अक्षिपक्ष संयोगजनकं कर्म निमेषः । तयोर्विभागजनकं कर्म उन्मेषः (कण सूत्रविवृति) । बुद्धि—ज्ञान—बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ॥ (योगसूत्र १) सर्वव्यवहारहेतुर्बुद्धिर्ज्ञानम् (तर्कसंग्रह) । सांख्यदर्शन का बुद्धितत्त्व यहाँ पर अभि नहीं है । सङ्कल्प—सङ्कल्पात्मक मानसिक कार्य । वस्तु इस प्रकार की है, इस कार्य को इस प्रकार क चाहिए, इस प्रकार के विचार को सङ्कल्प कहते हैं । विचारणा—ऊहापोहात्मक वस्तुविमर्श अर्थात् युक्तायुक्त प्रम के द्वारा परीक्षण करना । स्मृति—इन्द्रियों के द्वारा भूत में जो कुछ भी संस्कार हुए हैं; उनका ज्ञान—अनु विषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥ (योगसूत्र) । अध्यवसा यही काम करना चाहिए, इस प्रकार का निश्चय—कर्तव्यमिति विनिश्चयश्चितिसंनिधानादापन्नचैतन्याया सोऽध्यवसायः ॥ (सांख्यतत्त्वकौमुदी) । विषयोपलब्धि इन्द्रियों के द्वारा इन्द्रियार्थों का ज्ञान होना । गुणा पुरुष के यहाँ पर सोलह गुण बताये गये हैं । ये गुण किसी शरीर में मिलते हैं, तब उस शरीर को स और जब नहीं मिलते हैं, तब मृत कहते हैं । यह स या मृतावस्था पुरुष के अधिष्ठान होने पर या न होने होती है । इसलिए ये गुण पुरुष के कहे जाते हैं इनकी उपस्थिति पर अतिसूक्ष्म अतएव अदृश्य पुरुष पता लगाया जाता है—इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चे धृतिः । बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मनः ॥ य समुपलभ्यन्ते लिङ्गान्येतानि जीवतः । न मृतस्यात्मलि तस्मादाहुर्महर्षयः ॥ शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेत पञ्चभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वगतमुच्यते ॥ (चरक, शा० १) सूत्र में सांख्यमत से आयुर्वेद का चौथा मतभेद व किया है । सांख्यदर्शन में भी पुरुष अनुमानग्राह्य हो और उनकी उपलब्धि के लिए निम्न प्रमाण दिये गये हैं सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययाधिष्ठानात् । पुरुषो भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ॥ (सा० का० १७ परन्तु वे निर्गुण अर्थात् सुखदुःखादि से विरहित माने हैं । उपर्युक्त कारिका में भी 'त्रिगुणादिविपर्ययात्' स्पष्ट है । इसके सिवाय ११वीं कारिका में भी 'त्रिगुणं व्यक्त प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान्' इस तरह पुरुष निर्गु इसका स्पष्ट निर्देश है । इस कारिका पर विज्ञान अपनी कौमुदी में लिखते हैं—त्रयो गुणाः सुखदुःख अस्येति त्रिगुणम् । तदनेन सुखादीनामात्मगुणत्वं परा मपाकृतम् ॥ यहाँ पर पुरुष के जो गुण वर्णन किये हैं, वे वैशेषिकमतानुसार किये गये हैं—इच्छाद्वेषप्रयत्नसुख ज्ञानानि लिङ्गम् ॥ (न्यायसूत्र १) । प्राणापाननिमे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥ (वैशेषिकदर्शन ३, ४)। चरकसंहिता में भी पुरुष के ये ही गुण बताये गये हैं।

सुखस्मरणार्थ यहाँ पर सांख्यदर्शन से आयुर्वेददर्शन के मतभेदों का कोष्टक दिया जाता है—

सांख्यायुर्वेदमतभेदसूचक कोष्टक

मतभेद का स्थान	सांख्य	आयुर्वेद
(१) सृष्टि का कारण	प्रकृति	स्वभावादि छः (श्लोक १०)
(२) इन्द्रियाँ	अभौतिक	भौतिक (सूत्र १४)
(३) पुरुष	विभु, निर्गुण	अणु और सगुण (सूत्र १६–१७)

सात्त्विकास्तु—आनृशंस्यं संविभागरुचिता तितिक्षा सत्यं धर्म आस्तिक्यं ज्ञानं बुद्धिर्मेधा स्मृतिर्धृतिरनभिषङ्गश्च; राजसास्तु—दुःखबहुलताऽटनशीलताऽधृतिरहङ्कार आनृतिकत्वमकारुण्यं दम्भो मानो हर्षः कामः क्रोधश्च; तामसास्तु—विषादित्वं नास्तिक्यमधर्मशीलता बुद्धेर्निरोधोऽज्ञानं दुर्मेधस्त्वमकर्मशीलता निद्रालुत्वं चेति ॥१९॥

(मन के गुण—) अक्रूरता (दयावृत्ति), अपने को जो कुछ भी मिलता है उसमें से दूसरे को दान करने की वृत्ति, क्षमा, सत्य, धर्म, आस्तिक्यबुद्धि, ज्ञान, (व्यवसायात्मक) बुद्धि, (ग्रंथादि) धारण करने की शक्ति, स्मृति, धृति, और अनासक्ति ये सात्त्विक गुण हैं। दुःख की अधिकता, भ्रमण की प्रवृत्ति, अधीरता, अहङ्कार, असत्य बोलने की प्रवृत्ति, क्रूरता, दम्भ (कपटवृत्ति, मान), मान, हर्ष, काम और क्रोध ये राजस गुण हैं। मानसिक उद्विग्नता, नास्तिक्यवृत्ति, अधर्म की ओर प्रवृत्ति, बुद्धि का निरोध, अज्ञान, मूढ़ता, काम न करने की प्रवृत्ति (आलस्य) और निद्रालुता ये तामस गुण होते हैं ॥१९॥

वक्तव्य—इस सूत्र में मन के सात्त्विकादि गुण वर्णन किये हैं। जिसमें आनृशंस्यादि गुण अधिकता में होते हैं वह सात्त्विक, जिसमें दुःखबहुलतादि गुण अधिक होते हैं वह राजस, और जिसमें विषादित्वादि गुण अधिक होते हैं वह तामस कहलाता है। इन गुणों के निरपवाद होने की आवश्यकता नहीं है—यद्गुणं चाभीक्ष्णं पुरुषमनुवर्तते सत्त्वं, तत्सत्त्वमुपदिशन्ति मुनयो गुणबाहुल्यानुशयात्॥ (चरक, सूत्र ८)। अपि गुणान्तरान्वये सत्त्वबाहुल्यात्सत्त्वकार्याणि सत्यशौचादीनि यस्य भवन्ति स सात्त्विक इति व्यपदिश्यते, एवमपरमपि ज्ञेयम्॥ (चक्रपाणिदत्त)। आस्तिक्यम्—धर्म, परलोक, ईश्वर इत्यादि के संबंध में विश्वास करने की प्रवृत्ति। अस्ति मोक्षपरलोकादिकमिति बुद्ध्या चरतीत्यास्तिकः। (डल्हण)। आस्तिक्यम् श्रद्धधानता परमार्थेष्वागमार्थेषु॥ (शंकराचार्य)।

मेधा—धारणाशक्ति। मेधां (ग्रंथादि)ग्रहणेन। (चरक)। धृति—नियमात्मक बुद्धि—धृतिर्हि नियमात्मिका। (चरक)। किंवा धैर्य, मनःस्थैर्य, विषयों से आकर्षित न होने की स्थिति—धृतिमलौल्येन। (चरक)। मान—संसार में अपनी इज्जत हो, इस प्रकार की महत्त्वाकांक्षा। बुद्धेर्निरोधः—विपरीतबुद्धि—अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता। सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥ (गीता १८)।

आन्तरिक्षास्तु—शब्दः शब्देन्द्रियं सर्वच्छिद्रसमूहो विविक्तता च; वायव्यास्तु—स्पर्शः स्पर्शेन्द्रियं सर्वचेष्टासमूहः सर्वशरीरस्पन्दनं लघुता च; तैजसास्तु—रूपं रूपेन्द्रियं वर्णः सन्तापो भ्राजिष्णुता पक्तिरमर्षस्तैक्ष्ण्यं शौर्यं च; आप्यास्तु—रसो रसनेन्द्रियं सर्वद्रवसमूहो गुरुता शैत्यं स्नेहो रेतश्च; पार्थिवास्तु—गन्धो गन्धेन्द्रियं सर्वमूर्तसमूहो गुरुता चेति ॥२०॥

(महाभूतों के गुण—) शब्द, श्रोत्र, शरीरगत अवकाश और विविक्तता ये आकाश के; स्पर्श, त्वचा, संपूर्ण चेष्टाएँ, सर्वशरीरगत स्पंदन और हलकापन ये वायु के; रूप, चक्षु, वर्ण, उष्णता, तेज (शरीरगत) पचनकार्य, क्रोध, तीक्ष्णता (तेज मिजाज) और शौर्य ये तेज के; रस, जिह्वा, (शरीरगत) संपूर्ण द्रवभाग, भारीपन, शीतता, स्निग्धता, और वीर्य ये जल के; और गन्ध, घ्राणेन्द्रिय, (शरीरगत) सर्व ठोस भाग और गुरुता ये पृथिवी के गुण हैं ॥२०॥

वक्तव्य—इस सूत्र में प्राणियों के शरीर में पंचमहाभूतों से जो जो भाव उत्पन्न होते हैं, उनका वर्णन किया गया है। इस वर्णन के उद्देश्य के संबंध में पीछे १३वें सूत्र के वक्तव्य में विवरण किया गया है। ये पञ्चमहाभूत शरीर में खाद्य द्रव्यों द्वारा प्रवेश करके उपर्युक्त भाव उत्पन्न करते हैं—पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमित्यस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे का पृथिवी, का आपः, किं तेजः, को वायुः, किमाकाशम् इत्यस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे तत्र यत्कठिनं सा पृथिवी, यद् द्रवं ता आपः, यदुष्णं तत्तेजः, यः सञ्चरति स वायुः, यत्सुषिरं तदाकाशमित्युच्यते। (गर्भोपनिषत्)। चेष्टा वायुः खमाकाशमूष्माग्निः सलिलं द्रवः। पृथिवी चात्र संघातः शरीरं पाञ्चभौतिकम्॥ (महाभारत, शा० १८४)। सर्वच्छिद्रसमूह—शरीर के भीतर जितने स्रोतस, मार्ग, वाहिनियाँ, छिद्र, अवकाश, आशय (जैसे रक्ताशय, आमाशय) इत्यादि होते हैं वे सब इसमें आते हैं। श्रोत्रं घ्राणं तथास्यं च हृदयं कोष्ठमेव च। आकाशात् प्राणिनामेते शरीरे पञ्च धातवः॥ विविक्तता—एक का दूसरे से पृथक्त्व। यह पृथक्त्व आकाश के बिना नहीं हो सकता और अवकाश आकाश के बिना नहीं हो सकता। इसलिए आकाशीय विकारों में इसका समावेश किया गया है। शरीरस्पन्दन—हृदय का संकोच विकास, धमनियों की फड़कन, शरीर के अंगों का स्फुरण (जैसे आँखों का) तथा अनैच्छिक अन्य गतियाँ जैसे आन्त्र का परिसरण (Peristalsis), गर्भाशय का संकोच इत्यादि। सर्वमूर्तसमूह—शरीर के सब द्रव और

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वायुरूप पदार्थों को छोड़कर सब धातु उपधातु इत्यादि साकार अवयव ।

तत्र सत्त्वबहुलमाकाशं, रजोबहुलो वायुः, सत्त्वरजोबहुलोऽग्निः, सत्त्वतमोबहुला आपः, तमोबहुला पृथिवीति ॥२१॥

(त्रिगुणानुसार भूतसंगठन—) इन पंचमहाभूतों में आकाश सत्त्वप्रधान है, वायु रजःप्रधान है, अग्नि सत्त्वरजःप्रधान है, जल सत्त्वतमःप्रधान है और पृथिवी तमःप्रधान है ॥२१॥

वक्तव्य—इस सूत्र में पंचमहाभूतों का संगठन त्रिगुणों के अनुसार दिया गया है। आकाश प्रकाशक होने से सत्त्वबहुल माना गया है; वायु चल होने से रजोबहुल माना गया है; अग्नि प्रकाशक और चल होने से सत्त्वरजोबहुल माना गया है; पानी स्वच्छ, प्रकाशक और गुरु होने के कारण सत्त्वतमोबहुल माना गया है, और अत्यंत आवरक होने के कारण पृथिवी तमोबहुल मानी गई है। त्रिगुणों के अनुसार पंचमहाभूतों का संगठन देने का उद्देश्य यह है कि चिकित्साशास्त्र में इसकी भी कभी कभी आवश्यकता होती है । जैसे—पृथिव्यम्भस्तमोरूपं रक्तगन्धश्च तन्मयः । तस्माद्रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुवि मानवाः ॥ (सु० मूर्च्छाप्रतिषेध) ।

श्लोकौ चात्र भवतः—

अन्योन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानि निर्दिशेत् ।
स्वे स्वे द्रव्ये तु सर्वेषां व्यक्तं लक्षणमिष्यते ॥२२॥

ये सब (आकाशादि पंचमहाभूत) एक दूसरे में अनुप्रविष्ट समझने चाहिएँ । परंतु इन सब महाभूतों के (खास) प्रकट लक्षण (केवल) अपने अपने द्रव्य में अपेक्षित होते हैं ॥२३॥

वक्तव्य—अन्योन्यानुप्रविष्टानि—अन्योन्यस्यान्योन्यस्मिन् अनुप्रवेशः अन्योन्यानुप्रवेशः, तद्युक्तानि । अनुलोम और प्रतिलोम दोनों प्रकार से पाँचों में पाँचों का प्रवेश होता है। डल्हण की टीका में 'तत्र शब्दगुणमाकाशं मारुते प्रविष्टम्, आकाशमारुतौ तेजसि प्रविष्टौ, आकाशमरुत्तेजांसि तोयद्रव्ये प्रविष्टानि, आकाशमरुत्तेजस्तोयानि पृथिव्यामनुप्रविष्टानि । एवं व्योमानिलानलजलोर्वीणां परस्परमनुप्रवेशकानुप्रवेश्यत्वेनावस्थितानामन्योन्यानुप्रविष्टत्वमुक्तम् ॥' इस प्रकार इसका अर्थ दिया है, परंतु यह ठीक नहीं मालूम होता है क्योंकि इस विवरण से भूतों का अन्योन्यानुप्रवेश न होकर केवल अनुप्रवेश या अनुलोमप्रवेश होता है । जैसे—आकाश में किसी अन्य भूत का प्रवेश ही नहीं है, वायु में केवल आकाश और वायु हैं और ऊपर श्लोक में 'सर्वाण्येतानि' स्पष्टतया लिखा है। डल्हणाचार्य जो अनुप्रवेश वर्णन कर रहे हैं, वह अनुप्रवेश गुणविकास (Evolution) के समय का है, स्थूल भूतों की उत्पत्ति से इसका कोई संबंध नहीं है। स्थूलभूतोत्पत्ति के लिए परस्परानुप्रवेश होना चाहिए। स्वे स्वे द्रव्ये—पंचीकरण के द्वारा भूतों की बनावट इस प्रकार की होती है कि जिस जिस नाम से जो द्रव्य भूत पुकारा जाता है उसमें उस भूत का आधिक्य है और अन्यों की अल्पता होती है । इस अधिकता अल्पता के कारण अधिकतायुक्त भूत के लक्षण प्रकट और न्यूनतायुक्त के लक्षण अप्रकट रहते हैं।

पंचीकरण—इस श्लोक में महाभूतों का पञ्चीकरण में वर्णन किया गया है । समस्त स्थावरजंगमात्मक जिन भूतों से उत्पन्न होती है, वे अमिश्र स्वरूप होकर संमिश्र स्वरूप के होते हैं । इनका मिश्रण पद्धति से होता है। इस पद्धति को पञ्चीकरण कहते पञ्चीकृतमहाभूत में पाँचों के अंश उपस्थित रहते वेदान्त ग्रंथों में पञ्चीकरण के नियम निम्न प्रकार के हैं—द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः । स्वस्वेतरद्विती योजनात् पञ्च पञ्च ते ॥ (पंचदशी) । पृथिव्यादीनि भू प्रत्येकं विभजेद् द्विधा। एकैकं भागमादाय चतुर्धा विभजेत् पु एकैकं भागमेकस्मिन् भूते संवेशयेत् क्रमात् । ततश्चाकाश भागाः पञ्च भवन्ति हि ॥ वाय्वादिभागाश्चत्वारो वाय्वादि मादिशेत् ॥ पञ्चीकरणमेतत्स्यादित्याहुस्तत्त्ववेदिनः ॥ (सु चार्यकृत पञ्चीकरण वार्त्तिक)। इन श्लोकों का तात्पर्य कोष्ठक से दिया जाता है। सुखावबोध के लिए तीन बनाये जाते हैं

(१) कोष्ठक—इसमें प्रत्येक भूत के दो भाग जाते हैं—

आकाश	॥)	॥)
तेज	॥)	॥)
वायु	॥)	॥)
जल	॥)	॥)
पृथिवी	॥)	॥)

(२) कोष्ठक—आधे के फिर चार समान भाग प्रत्येक भूत के पाँच विभाग बनाये जाते हैं—

आकाश	॥)	=)	=)	=)	=)
वायु	॥)	=)	=)	=)	=)
तेज	॥)	=)	=)	=)	=)
जल	॥)	=)	=)	=)	=)
पृथिवी	॥)	=)	=)	=)	=)

(३) कोष्ठक—प्रत्येक भूत के प्रथम अर्धांश के दूसरे अर्धांश के जो चार भाग किये हैं, उनमें से इत का एक एक भाग मिलाया जाता है, जिससे प महाभूत का ठीक सङ्गठन बन जाता है—

पञ्चीकृतभूत	आकाश	वायु	तेज	जल	पृथि
आकाश	॥)	=)	=)	=)	=)
वायु	=)	॥)	=)	=)	=)
तेज	=)	=)	॥)	=)	=)
जल	=)	=)	=)	॥)	=)
पृथिवी	=)	=)	=)	=)	॥)

उपर्युक्त कोष्ठक से यह स्पष्ट होगा कि पञ्चीकृत में उसी भूत का आधा अंश और आधे हिस्से में रूपेण इतरभूत होते हैं। यही कारण है कि अन्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लक्षण अव्यक्त होकर अधिकांश में जो भूत होता है, उसी के लक्षण व्यक्त होते हैं और जिसका भाग अधिक होता है तथा लक्षण प्रकट होते हैं उसी का नाम उस भूत को दिया जाता है। इसी दृष्टि से सूत्रस्थान के ४२वें अध्याय में (प्रथमखण्ड पृष्ठ २२८) लिखा है—परस्परसंसर्गात् परस्परानुग्रहात् परस्परानुप्रवेशाच्च सर्वेषु सर्वेषां सान्निध्यमस्ति उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम्॥ इन पञ्चीकृत महाभूतों के द्वारा ही समस्त स्थावरजंगमात्मक सृष्टि तथा पीछे सूत्र २० में वर्णन किये हुए शारीरिक भाव उत्पन्न होते हैं। पञ्चीकृत-पञ्चमहाभूतानि तत्कार्यं च सर्वविराडित्युच्यते॥ (श्रीशङ्कराचार्य)

सांख्यदर्शन में यद्यपि स्थूल पञ्चमहाभूतों से समस्त निरिन्द्रिय सृष्टि की उत्पत्ति मानी जाती है तथापि ये स्थूल महाभूत कैसे उत्पन्न होते हैं, इसके सम्बन्ध में केवल 'गुणपरिणाम' के अतिरिक्त और कोई अधिक वर्णन नहीं मिलता। स्थूल भूतों की उत्पत्ति का विशेष विवरण वेदान्त दर्शन में मिलता है, जो पञ्चीकरण कहलाता है। पञ्चीकरण के पूर्व वेदान्त में त्रिवृत्करण था, जिसमें केवल तेज, आप और पृथिवी ये तीन भूत थे। आगे चलकर पाँच भूतों की उपपत्ति सर्वसंमत हुई, जिसके कारण त्रिवृत्करण का रूपान्तर पञ्चीकरण में किया गया है। पीछे २०वें सूत्र में जिन महाभूतों से शरीर के विविध भाव बताये गये हैं, वे महाभूत किस प्रकार के होते हैं इसका वर्णन इस श्लोक में किया गया है।

अष्टौ प्रकृतयः प्रोक्ता विकाराः षोडशैव तु।
क्षेत्रज्ञश्च समासेन स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः[1]॥२३॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने सर्वभूतचिन्ताशारीरं नाम प्रथमोऽध्यायः॥१॥

(उपसंहार—) आठ प्रकृति, सोलह विकार और पुरुष ये (इस अध्याय में) अपने और दूसरे के शास्त्र के अनुसार संक्षेप से वर्णन किये गये हैं॥२३॥

वक्तव्य—स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः—स्वतन्त्र शल्यतन्त्र या आयुर्वेदशास्त्र, और परतन्त्र मुख्यतया सांख्यदर्शन उनके अनुसार। इस श्लोक में अध्याय का उपसंहार किया है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में उसमें वर्णन किये हुए विषयों का संक्षेप में निर्देश करने की प्रथा सुश्रुत में नहीं है। चरकसंहिता में प्रत्येक अध्याय के अन्त में उसका उपसंहार करने का नियम है।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्य-दीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां सर्वभूतचिन्ताशारीरं नाम प्रथमोऽध्यायः॥१॥

द्वितीयोऽध्यायः।

अथातः शुक्रशोणितशुद्धिं शारीरं[2] व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः॥१॥

अब इसके पश्चात् शुक्रशोणितशुद्धि नामक अध्याय का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था॥१॥

वक्तव्य—प्रथम अध्याय के १० वें सूत्र में यह बताया गया है कि पुरुष शुक्रशोणित के संयोग में अवतीर्ण होता है। इसके पश्चात् गर्भ की वृद्धि प्रारंभ होती है। इसलिए इस अध्याय में शुक्र और शोणित का विवरण किया जाता है। आत्मा को अवतीर्ण होने के लिए शुक्रशोणित शुद्ध होना आवश्यक है—शुद्धे शुक्रार्तवे सत्त्वः स्वकर्मक्लेशचोदितः। गर्भः सम्पद्यते युक्तिवशादग्निरिवारणौ॥ (अष्टांगहृदय, शा० १)। इसलिए इस अध्याय में शुक्र और आर्तव का विचार उनकी शुद्धि की दृष्टि से किया गया है। शुद्धि—गर्भाधानयोग्यता तथा नीरोगगर्भोत्पादनक्षमता जिस शुक्र और आर्तव में हो, वही शुद्ध कहा जाता है। इस दृष्टि से इस अध्याय में निर्दोष शुक्रशोणित के लक्षण, दोष उत्पन्न होने पर उनका स्वरूप और सदोष को निर्दोष करने की विधि इन बातों का विवरण किया गया है। शुक्र—गर्भोत्पादक शरीर से निकलने वाला स्राव (Semen)। इसी को तेज, रेत, बीज, वीर्य भी कहते हैं—शुक्रं तेजोरेतसी च बीजवीर्येन्द्रियाणि च। (अमरकोश)। शोणित—आर्तवशोणित का यह संक्षेप है—रक्तमेव च स्त्रीणां मासे मासे गर्भकोष्ठमनुप्राप्य त्र्यहं प्रवर्तमानमार्तवमित्याहुः। (अष्टांगसंग्रह, शा० १)। इसी को रज या पुष्प भी कहते हैं। पुरुषों में गर्भोत्पादक एक वस्तु होती है परन्तु स्त्रियों में दो वस्तुएँ होती हैं। एक वस्तु दृश्य होती है और प्रतिमास योनिद्वार से बाहर आती है। इसको आर्तवशोणित या बहिःपुष्प (Menses, Menstruation) कहते हैं। दूसरी वस्तु अदृश्य, अत्यंत सूक्ष्म और शरीर के भीतर ही रहती है। इसको 'अन्तःपुष्प' या संदर्भ के अनुसार केवल आर्तव कहते हैं—द्वादशाब्दे व्यतीते तु यदि पुष्पं बहिर्नहि। अन्तःपुष्पं भवत्येव पनसोदुम्बरादिवत्॥ (वात्स्यायन)। इसको अंग्रेजी में ओवम (Ovum) कहते हैं। इसकी शुद्धाशुद्धता का ज्ञान प्रत्यक्षतया होना कठिन होता है, अप्रत्यक्षतया आर्तवशोणित से हो सकता है। इसलिए यहाँ पर शोणित से बाह्यपुष्प (Menstrual blood) लेना चाहिए। इसका अधिक विवरण चौथे सूत्र के तथा ३८ श्लोक के वक्तव्य में किया गया है, उसे देखो। अब प्रथम शुक्र के दोष बताये जाते हैं—

वातपित्तश्लेष्मशोणितकुणप[1]ग्रन्थिपूतिपूयक्षीण-मूत्रपुरीषरेतसः प्रजोत्पादने न समर्था भवन्ति॥२॥

(शुक्रदोष—) वात, पित्त, कफ, शोणित (इनके वर्ण और लक्षणों से युक्त), शवगन्धी, गाँठदार, दुर्गंधित, पूययुक्त, क्षीण, मूत्र और पुरीष (की गंध से युक्त) शुक्रवान् (पुरुष) सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ होते हैं॥२॥

वक्तव्य—रेतसः—वातादि दोषों से युक्त जिनका शुक्र हो, ऐसे पुरुष। वास्तव में असामर्थ्य पुरुष में न होकर

१ स्वतन्त्रपरतन्त्रतः. २ शुक्रशोणितशुद्धिशारीरं.

१ कुणपगन्धि.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुक्र में होता है, परंतु शुक्रोत्सर्ग का कारण पुरुष होने से असामर्थ्य उसी के ऊपर आरोपित हुआ है। प्रजोत्पादने असमर्था भवन्ति—प्रजोत्पादन का सामर्थ्य वीर्यान्तर्गत बीज या शुक्राणु (Spermatozoa) के ऊपर और असामर्थ्य इनके दोषों के ऊपर निर्भर होता है। इसलिए अष्टांगसंग्रह में यही सुश्रुत का वचन 'अबीजानि' इस पद के साथ दिया गया है—वातपित्तश्लेष्मकुणपग्रन्थिपूयक्षीणमूत्रपुरीषरेतांसि त्वबीजानि भवन्ति॥ (शा० १)। बीज की दृष्टि से शुक्र को फल कह सकते हैं। फल में अंकुरोत्पादन शक्ति का असामर्थ्य बीजाभाव से या बीजाप्राशस्त्य से होता है। शुक्र में भी प्रजोत्पादन का असामर्थ्य बीजाभाव से या बीजाप्राशस्त्य से होता है। जब शुक्र में शुक्राणुओं की अनुपस्थिति होती है, तब उस अवस्था को अशुक्राणुता (Azoospermia) कहते हैं। यह अशुक्राणुता दो प्रकार की हो सकती है। प्रथम प्रकार में वृषणग्रंथि के भीतर शुक्राणुओं की उत्पत्ति नहीं होती और दूसरे प्रकार में शुक्राणु उत्पन्न होते हैं, परन्तु अन्य कारण से उनका नाश हो जाता है। यहाँ पर जो दोष बताये गये हैं, उनके द्वारा प्रायः दूसरे प्रकार की अशुक्राणुता उत्पन्न होती है। पहले प्रकार की अशुक्राणुता षण्ढों में पाई जाती है। आगे श्लोक ४९ देखो। अप्राशस्त्य मुख्यतया कई प्रकार का होता है। पहले प्रकार में शुक्राणु संख्या में कम और कमजोर होते हैं। इसको अल्पशुक्राणुता (Oligozoospermia) कहते हैं। दूसरे प्रकार में वीर्यगत जीवाणु मृत के समान होते हैं। इस अवस्था को नष्टशुक्राणुता (Necrozoospermia) कहते हैं। तीसरे प्रकार में शुक्र में रक्त मिला रहता है। उसको रक्तशुक्रता (Haemospermia) कहते हैं। चौथे प्रकार में शुक्र अल्प राशि में और मुश्किल से निकलता है। उसको अल्पशुक्रता (Oligospermia) कहते हैं। पाँचवें प्रकार में शुक्र का उत्सर्ग होता ही नहीं। उसको क्षय (Aspermia) कहते हैं। इनके सिवाय और भी कुछ दोष हो सकते हैं। चरकसंहिता में शुक्र के निम्न आठ दोष वर्णन किये हैं—फेनिलं तनु रूक्षं च विवर्णं पूति पिच्छिलम्। अन्यधातूपसंसृष्टमवसादि तथाष्टमम्॥ (चिकित्सा ३०)। जैसे अन्तःपुष्प स्त्रियों में अदृश्य होता है, वैसे ही पुरुषों में शुक्रगत बीज अदृश्य होता है। इसलिए जिसमें यह बीज रहता है, उस शुक्र की वर्णवेदना के अनुसार तद्गत बीज की स्थिति का अनुमान किया जाता है। अतः प्रत्येक के वर्णवेदना का अब विवरण करते हैं। आधुनिक काल में शुक्र का अप्राशस्त्य मालूम होने पर सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के द्वारा तद्गत शुक्राणुओं की स्थिति का ज्ञान हो जाता है। जिनमें प्रजोत्पादन का सामर्थ्य नहीं होता, उनको वन्ध्य (Sterile) और उस अवस्था को वन्ध्यता (Sterility) कहते हैं।

तेषु वातवर्णवेदनं वातेन, पित्तवर्णवेदनं पित्तेन, श्लेष्मवर्णवेदनं श्लेष्मणा, शोणितवर्णवेदनं कुणपगन्ध्यनल्पं च रक्तेन, ग्रन्थिभूतं श्लेष्मवाताभ्यां, पूतिपूयनिभं पित्तश्लेष्मभ्यां, क्षीणं प्रागुक्तं पि
मारुताभ्यां, मूत्रपुरीषगन्धि सन्निपातेनेति।
कुणपग्रन्थिपूतिपूयक्षीणरेतसः कृच्छ्रसाध्याः; मू
पुरीषरेतसस्त्वसाध्याः (साध्यमन्यच्च) इति ॥३॥

(शुक्र दोष के कारण—) इनमें वात से (शुक्र) के वर्ण और लक्षणों का, पित्त से पित्त के वर्ण लक्षणों का, कफ से कफ के वर्ण और लक्षणों का, र रक्त के वर्ण और लक्षणों का, शवगन्धी और अल्प, वात से गाँठदार, पित्त और कफ से दुर्गंधित और पूय वातपित्त से पूर्वोक्त क्षीण, सन्निपात से मूत्रपुरीष का ज्ञान होता है। इनमें शवगन्धी, गाँठदार, दुर्गं पूयदार और क्षीणशुक्र (पुरुष) कृच्छ्रसाध्य; मूत्रपु गन्धी शुक्र असाध्य और शेष साध्य होते हैं ॥३॥

वक्तव्य—वातेन—'शुक्रं भवति' इति योगः। प्रकार प्रत्येक के साथ जोड़ना चाहिए। वेदनं या वेदन विद्यतेऽनेनेति वेदना। लक्षण—चिकित्सति भिषक् सर्वाणि वेदना इति॥ (चरक, शा० १)। वातवर्णवेदनम्—रूक्षं फे मरुणमल्पविच्छिन्नं सरुजं चिराच्च निषिच्यते वातेन। (अष्टाङ्गसंग्र पित्तवर्णवेदनम्—सनीलमथवा पीतमत्युष्णं पूतिगन्धि च। लिङ्गं विनिर्याति शुक्रं पित्तेन दूषितम्॥ (चरक, चि० ३ शोणितवर्णवेदनम्—शुक्र में रक्त मिलने से या कामला होने से शुक्र का वर्ण लाल, पीला, हरा इत्यादि हो है। शोणितशुक्रता को हीमोस्पर्मिया (Haemosperm कहते हैं। यह अवस्था अतिमैथुनजन्य शुक्रक्षय में है—तस्य मैथुनमापद्यमानस्य न शुक्रं प्रवर्ततेऽतिमात्रोप रेतस्त्वात्; तथास्य वायुर्व्यायच्छमानशरीरस्यैव धमनीरनुप्र शोणितवाहिनीस्ताभ्यः शोणितं प्रच्यावयति, तच्छुक्रक्षयादस्य शुक्रमार्गेण शोणितं प्रवर्तते वातानुसृतलिङ्गम्॥ (चरक, चि ६)। ग्रन्थिभूत—गाढ़ा या गाँठदार। मूत्रमार्ग से आने वाला शुक्र कई रसों का मिश्रण है। वृषण ग्रंथियों में शुक्राणु उत्पन्न होते हैं। यह रस बहुत होता है और उस कारण से या अन्य कारण से शुक्राणु निश्चल रहते हैं। इस रस में अष्ठीला (Prosta वीर्याशय, कौपर की ग्रंथियाँ और लिटर की ग्रं इनका रस मिलकर शुक्र का सङ्गठन बन जाता है। किसी कारण से ये रस वृषणग्रंथि के रस में नहीं मि तब वीर्य अत्यन्त गाढ़ा होता है और मुश्किल से निकलता है। इसके सिवाय तद्गत शुक्राणु निश्चल भी हैं। अर्थात् गर्भाशय के भीतर प्रवेश करके स्त्रीबी साथ मिलने में वे असमर्थ होते हैं। पूतिपूय—अ शुक्राशय या शुक्रोत्पादक संस्थान के किसी अंग में शोथ होने से पूय के समान शुक्र निकल सकता है अवस्था को पूयशुक्रता (Pyospermia) कहते क्षीणं प्रागुक्तम्—सूत्रस्थान के १५वें अध्याय के १०वें (प्रथमखण्ड पृष्ठ ९०) शुक्रक्षय के लक्षण दिये गये शुक्रक्षये मेढ्रवृषणवेदनाऽशक्तिर्मैथुने चिराद्वा प्रसेकः, प्रसेके रक्तशुक्रदर्शनम्। ऊपर शोणितवर्णवेदन भी देखो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुक्रक्षय स्वाभाविक नहीं है, स्वकृत (Acquired) है। अतिव्यवाय से होता है। शरीर में किसी वस्तु का क्षय दो कारणों से होता है—एक अयोग से और दूसरा अतियोग से। प्रथम कारणजन्य क्षय को अयोगक्षय (Disuase atrophy) और दूसरे कारण से उत्पन्न हुए क्षय को अतियोगक्षय (Atrophy of overstimulation) कहते हैं। शुक्र का क्षय दोनों कारणों से हो सकता है, परन्तु संसार में काम-प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है—लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्ति जन्तोर्नहि तत्र चोदना॥ (भागवत)। अतः शुक्रक्षय व्यवायाभाव की अपेक्षा व्यवायाधिक्य के कारण प्रायः हुआ करता है। अधिक व्यवाय के कारण शुक्रोत्पादक अंगों को अधिक काम करना पड़ता है। कुछ काल तक ये अंग किसी तरह से काम कर लेते हैं, परन्तु अन्त में वे अपना काम करने में असमर्थ होते हैं, जिससे शुक्र की उत्पत्ति कम हो जाती है या बिलकुल ही नहीं होती। मूत्रपुरीषगन्धि—शुक्राशय तथा शुक्रवाहिनियाँ मूत्राशय और मलाशय के बीच में होती हैं। यदि किसी कारण मलाशय का या मूत्राशय का या दोनों का सम्बन्ध हो जाय तो शुक्र में दोनों की गन्ध आ सकती है। मल और मूत्र के सम्बन्ध से शुक्राणु मर जाते हैं। इसके सिवा दोनों का सम्बन्ध आप से आप ठीक भी नहीं होता। इसलिए यह दोष असाध्य भी होता है—वातमूत्रपुरीषाणि क्रमयः शुक्रमेव च। भगन्दरात् प्रस्रवन्ति यस्य तं परिवर्जयेत्॥ (सुश्रुत)। चरकसंहिता में इन शुक्रदोषों का सामान्य निदान दिया है—अतिव्यवायाद् व्यायामादसात्म्यानां च सेवनात्। अकाले वाप्ययोनौ वा मैथुनं न च गच्छतः॥ रूक्षतिक्तकषायातिलवणाम्लोष्णसेवनात्। नारीणामरसज्ञानां गमनाज्जरया तथा॥ चिन्ताशोकाविस्रम्भाच्छस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात्। भयात्क्रोधादभीचाराद् व्याधिभिः कर्षितस्य च॥ वेगाघातात् क्षताच्चापि धातूनां संप्रदूषणात्। दोषाः पृथक् समस्ता वा प्राप्य रेतोवहाः शिराः॥ शुक्रं सन्दूषयन्त्याशु तद्वक्ष्यामि विभागशः। यथा बीजमकालाम्बुकृमिकीटादिदूषितम्। न विरोहति संदुष्टं तथा शुक्रं शरीरिणाम्॥ (चिकित्सा ३०)। मैथुनं न च गच्छतः—अयोगक्षय का यह कारण है। शस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात्—अर्श, अश्मरी और वृषण की शस्त्रक्रिया, क्षारक्रिया और अग्निक्रिया इनमें अतिरिक्त दोषयुक्त कर्म करने से।

आर्तवमपि त्रिभिर्दोषैः शोणितचतुर्थैः पृथग्द्वन्द्वैः समस्तैश्चोपसृष्टमबीजं भवति; तदपि दोषवर्णवेदनादिभिर्विज्ञेयम्। तेषु कुणपग्रन्थिपूतिपूयक्षीणमूत्रपुरीषप्रकाशमसाध्यं साध्यमन्यच्चेति ॥४॥

(आर्तव के दोष—) आर्तव (शोणित) भी (वात, पित्त और कफ इन) पृथक् तीनों दोषों से, चौथे रक्त से, (वातपित्त, वातकफ और कफपित्त के) दो दो दोषों से या त्रिदोष से दूषित हुआ प्रजोत्पादन में अयोग्य होता है। उन्हें भी दोषों के वर्ण और लक्षणों के द्वारा समझना चाहिए। इनमें शवगन्धी, गाँठदार, दुर्गन्धित, क्षीण, और मूत्रपुरीषसम आर्तव असाध्य होता है; अन्य (वात, पित्त और कफ से दूषित आर्तव) साध्य होता है ॥४॥

वक्तव्य—आर्तव—पुरुषों में जैसे शुक्र वैसे स्त्रियों में आर्तव होता है। परन्तु प्रजोत्पादन में पुरुष और स्त्री का कार्य भिन्न होने के कारण शुक्र और आर्तव में भी भिन्नता आ जाती है। प्रजोत्पादन के लिए पुरुष को अपने शुक्र को स्त्री की योनि में फेंकना पड़ता है और यह कार्य समागम से ही प्रायः होता है। प्रायः शब्द इसलिए प्रयुक्त किया गया है कि आधुनिक विज्ञान के युग में वनस्पतियों के समान विना समागम के भी गर्भोत्पादन के (Test tube babies) प्रयोग हो रहा है। इसलिए पुरुष का शुक्र बीजयुक्त होता है। स्त्री को अपना बीज बाहर फेंकना नहीं है, परन्तु अपने बीज को शरीर के भीतर रखकर पुरुष के बीज को शरीर के भीतर ग्रहण करना है। इसलिए स्त्री के आर्तव के दो भाग होते हैं। एक भाग वह होता है, जो गर्भाशय और योनि की सफाई करके योनि को मैथुन के लिए सुखसंवेदनीय, गर्भाशय और योनि को शुक्राणुओं के प्रवास के लिए निष्कंटक और गर्भाशय को गर्भ के अवस्थान के लिए योग्य बनाता है। दूसरा भाग वह है, जो प्रत्यक्ष गर्भोत्पत्ति में भाग लेता है। पहले को आर्तव शोणित या बहिःपुष्प (Menstruation या Menstrual blood) कहते हैं—आर्तवं शोणितं त्वाग्नेयमग्नीषोमीयत्वाद्गर्भस्य। (सुश्रुत, सूत्र १४)। दूसरे भाग के लिए आर्तव, शोणित ये ही शब्द प्रयुक्त होते हैं। उसको अन्तःपुष्प भी कहते हैं। इसलिए संदर्भ के अनुसार आर्तव या शोणित का अर्थ करना चाहिए। जैसे, नीचे के उद्धरणों में आर्तव या शोणित का अर्थ अन्तःपुष्प है। इसी को अंग्रेजी में ओवम (Ovum) कहते हैं—शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः। प्रकृतिर्जायते तेन तस्या मे लक्षणं शृणु॥ (सुश्रुत, शा० ४)। तत् स्त्रीपुरुषयोः संयोगे शुक्रं च्युतं योनिमभिप्रपद्यते संसृज्यते चार्तवेन॥ (सुश्रुत, शा० ३)। यदा चानयोस्तथा युक्ते संसर्गे शुक्रशोणितसंसर्गमन्तर्गर्भाशयगतं जीवोऽवक्रामति॥ (चरक, शा० ३)। तत् संसत्य व्यात्तमुखं याति गर्भाशयं प्रति। तत्र शुक्रवदायातेनार्तवेन युतं भवेत्॥ (भावप्रकाश)। ये दोनों भाग एक दूसरे से बिलकुल भिन्न होते हैं और दोनों एक समय पर भी नहीं होते। आर्तवसम्बन्धी कुछ अधिक विवरण इसी अध्याय के ३८वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। अबीजम्—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि आर्तवशोणित पुरुषशुक्र के समान सबीज नहीं होता। उससे गर्भाशय की भीतरी स्थिति का कुछ पता लग जाता है। यदि आर्तवशोणित स्वाभाविक हो तो गर्भाशय बीजग्रहण योग्य है, ऐसा समझ सकते हैं। यदि दोषयुक्त हो, जैसे कि इस सूत्र में वर्णन किया है, तो गर्भाशय को बीजग्रहण के लिए अयोग्य समझ सकते हैं। इसलिए 'अबीज' से बीजविरहित ऐसा अर्थ न करके 'बीजग्रहण के लिए अयोग्य' ऐसा अर्थ करना चाहिए। ग्रन्थिभूत—आगे १७वें श्लोक के वक्तव्य में आर्तव का सङ्गठन देखो।

गुरुकुल कांगड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अब शुक्रदोषों की चिकित्सा बताते हैं—

भवन्ति चात्र—

तेष्वाद्यान् शुक्रदोषांस्त्रीन् स्नेहस्वेदादिभिर्जयेत् ।
क्रियाविशेषैर्मतिमांस्तथा चोत्तरबस्तिभिः ॥५॥

(वात, पित्त और कफजन्य शुक्रदोष की चिकित्सा—) इनमें से प्रथम तीन शुक्रदोषों को बुद्धिमान् वैद्य स्नेहन स्वेदादि से, विशेष क्रियाओं से तथा उत्तरबस्ति से दूर करे ॥५॥

वक्तव्य—स्नेहनस्वेदादि—स्नेहनस्वेदनयुक्त पञ्चकर्म । क्रियाविशेषैः—विशेषगुणकर और रसायन ओषधियों द्वारा । जैसे—वातान्विते हिताः शुक्रे निरूहाः सानुवासनाः । ब्राह्ममामलकीयं च, पैत्ते शस्तं विरेचनम् ॥ मागधमृतलोहानां त्रिफलाया रसायनम् । कफोत्थितं शुक्रदोषं हन्याद् भल्लातकस्य च ॥ (चरक, चिकित्सा ३०) । अष्टांगसङ्ग्रह में इन शुक्रदोषों की संपूर्ण चिकित्सा निम्न प्रकार से वर्णन की गई है—

वातिके शुक्रदोषे वसुकसैन्धवफलाम्लसिद्धं यवक्षारप्रतीवापं सर्पिष्पानम् । बिल्वविदारिसिद्धं क्षीरयुक्तमास्थापनम् । मधुकभद्रदारुसिद्धं तैलमनुवासनम् । क्षीरकुलीररससिद्धं तैलमुत्तरवस्तिः ॥ पैत्तिके काण्डेक्षुश्वदंष्ट्रागुडूचीसिद्धं मूर्वामधुकप्रतीवापं सर्पिष्पानम् । त्रिवृच्चूर्णः सघृतो विरेकः । पयस्याश्रीपर्णीसिद्धं क्षीरयुक्तमास्थापनम् । मधुकमुद्गपर्णीसिद्धं तैलमनुवासनमुत्तरवस्तिश्च ॥ श्लैष्मिके पाषाणभेदाश्मन्तकामलकक्वाथसिद्धं पिप्पलीमधुकचूर्णप्रतीवापं सर्पिष्पानम् । मदनफलकषायो वमनम् । दन्तीविडङ्गचूर्णस्तैललीढो विरेकः । राजवृक्षमदनफलकषायप्रगाढमास्थापनम् । मधुकपिप्पलीसिद्धं तैलमनुवासनमुत्तरवस्तिश्च ॥ (शारीर १)

पाययेत नरं सर्पिर्भिषक् कुणपरेतसि ।
धातकीपुष्पखदिरदाडिमार्जुनसाधितम् ॥६॥
पाययेदथवा सर्पिः शालसारादिसाधितम् ।

(कुणपदोषचिकित्सा—) कुणपगन्ध शुक्रदोष में धाय के फूल, खदिर, अनार और अर्जुन इनसे सिद्ध घृत वैद्य रोगी को पिलावे ॥६॥ अथवा शालशारादि से सिद्ध घृत पिलावे ।

वक्तव्य—धातक्यादि घृत—डल्हण (धातक्यादेः कल्ककषायाभ्यां साधितम्) और हाराणचन्द्र (अत्र धातक्यादीनि त्रीण्यपि घृतानि क्वाथकल्काभ्यामेव साधयन्ति भिषजोऽनन्तरोक्तपालाशघृतसाहचर्यात्) के अनुसार यह घृत क्वाथ और कल्क दोनों से सिद्ध करना चाहिए । परन्तु वास्तव में यह घृत केवल कल्क से सिद्ध करना उचित है, क्योंकि धातकी गण न होकर पृथक् पृथक् ओषधियाँ हैं । इस संबंध में चक्रपाणिदत्त 'पिप्पल्यादि घृत' (च० चि० ३) की टीका में लिखते हैं—पिप्पल्यादौ घृते पिप्पल्यादीनां विशेषानुक्तेः कषायत्वं कल्कत्वं चैके ब्रुवते, अन्ये तु कल्कमेवेच्छन्ति । यत्र तु कषायत्वं कल्कत्वं वा नोक्तं तत्र क्वाथकल्कावेव कर्तव्यौ । यदुक्तं सुश्रुते—कल्कक्वाथावनिर्देशे गणात्तस्मात् प्रयोजयेत् । इति; मैवं, सुश्रुतोक्तपरिभाषा हीयं गणविषया एव, 'गणात्तस्मात् प्रयोजयेत्' इति वचनात्; न च पिप्पल्यादयोऽमी गणत्वेनोक्ताः, गणोऽपि यत्राधिकरणेन श्रुतस्तत्रैव क्वाथकल्ककरणम् । यदुक्तमन्यत्र—यत्राभिकरणेनोक्तिर्गणस्य स्नेहसंविधौ । तत्रैव कल्कनिर्यूहाविष्येते स्नेहवेदिभिः ॥ तस्मात्कल्कमात्रेणैव पिप्पल्यादिद्रव्यं जलं च चतुर्गुणं देयम् । एवमन्यत्रापि बोद्ध... शालसारादि—शालसारादिगणोक्त द्रव्यों के कल्क ... क्वाथ से । शालसारादिगणोक्त द्रव्यों के लिए प्रथम ... १२० पृष्ठ देखो ।

ओषधियों का प्रमाण—धातक्यादि घृत के लिए ... ४ सेर, जल १६ सेर और कल्क एक सेर लेना चाहि... शालसारादि घृत के लिए शालसारादि का क्वाथ १६ ... (क्वाथ्यद्रव्य ८ सेर, जल ६४ सेर, क्वाथ १६ सेर) ... ४ सेर घृत में उसका घृतपाक बनावे । फिर १ ... कल्क, ४ सेर उपर्युक्त क्वाथपाक का घृत और १६ सेर ... डालकर कल्कपाक करें । मात्रा एक चतुर्थांश से एक तोला...

ग्रन्थिभूते शटीसिद्धं[1] पालाशे वाऽपि भस्मनि ॥७॥

(ग्रंथिदोषचिकित्सा—) गाँठदार वीर्य में ... (कचूर) द्वारा सिद्ध किंवा पलाशभस्म में सिद्ध ... (वैद्य रोगी को पिलावे) ॥७॥

वक्तव्य—पालाशे भस्मनि—पलाशक्षारोदक में ... घृत । रक्तगुल्म की चिकित्सा में पलाशघृत चरक में ... किया है—पलाशक्षारपात्रे द्वे द्वे पात्रे तैलसर्पिषोः । ... टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—क्षारपात्रे इति क्षारोद... दकद्वयम् । और वृन्दमाधव सिद्धियोग में रक्तगुल्मचिकि... में लिखते हैं—पलाशक्षारतोयेन सर्पिः सिद्धं पिबेच्च सा ॥

परूषकवटादिभ्यां पूयप्रख्ये च साधितम् ।

(पूयदोष की चिकित्सा—) पूतिपूय (नामक शुक्र... में परूषकादि और वटादि (गणों की ओषधियों) ... साधित (घृत वैद्य रोगी को पिलावे) ।

वक्तव्य—परूषक वटादि गणों की ओषधि... लिए प्रथम खण्ड २१३ पृष्ठ देखो ।

प्रागुक्तं वक्ष्यते यच्च तत् कार्यं क्षीणरेतसि ॥८॥

(क्षीणवीर्यचिकित्सा—) क्षीणशुक्र में जो (... स्थान के दोषधातुमलक्षयवृद्धिविज्ञानीय अध्याय के ... सूत्र में प्रथमखण्ड के पृष्ठ ९०-९१ पर चिकित्सा) ... बता चुके हैं तथा (चिकित्सास्थान के क्षीणबलीय ... करणचिकित्सित नामक ३६वें अध्याय में) जो बत... उसको करना चाहिए ॥८॥

विट्प्रभे पाययेत् सिद्धं चित्रकोशीरहिङ्गुभिः[2] ॥

(मलमूत्रगन्धी शुक्र की चिकित्सा—) मल (और ... सम शुक्र में चित्रक, उशीर (खस) और हींग से ... घृत (रोगी को) पिलावे ॥९॥

वक्तव्य—मलमूत्रगन्धी शुक्रदोष असाध्य ... गया है । इसलिए उसकी चिकित्सा के संबंध में इन्दु ... संग्रह की टीका में लिखते हैं—मूत्रपुरीषरेतसि ... चिकित्सा, अतिदुष्टे उपेक्षा ।

१ ०तेऽश्मभित्सिद्धं. २ अस्याग्रे 'स्नेहादिश्च क्रम... षट्स्वेतासु विजानता' इति क्वचिदधिकः पाठः.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्निग्धं वान्तं विरिक्तं च निरूढमनुवासितम् ।
योजयेच्छुक्रदोषार्तं सम्यगुत्तरबस्तिना ॥१०॥

(शुक्रदोष की साधारण चिकित्सा--) स्नेहन, वमन, विरेचन, निरूह और अनुवासन से भली भाँति विशोधित किये हुए शुक्रदोषपीडित रोगी को उत्तरबस्ति से संयुक्त करे ॥१०॥

वक्तव्य—इस श्लोक में शुक्रदोषों की साधारण चिकित्सा बतलाई है । उत्तरबस्त्यन्त कर्म रोगी के शरीर को अच्छी तरह विशोधित करते हैं—तस्मात् पुरा शोधनमेव कार्यं बलानुरूपं, न हि वृष्ययोगाः । सिध्यन्ति देहे मलिने प्रयुक्ताः क्लिष्टे यथा वाससि रागयोगाः ॥ (चरक, चिकित्सा २) । अथ स्निग्ध-विशुद्धानां निरूहान् सानुवासनान् । घृततैलरसक्षीरशर्कराक्षौद्रसंयुतान् ॥ योगविद्योजयेत् पूर्वं क्षीरमांसरसाशिनाम् । ततो वाजीकरान् योगान् शुक्रापत्यबलप्रदान् ॥ (अष्टाङ्गसंग्रह, उत्तर ५०)। इस प्रकार पंच कर्मों द्वारा विशोधन करने के पश्चात् दोषानुसार उपर्युक्त श्लोकों में बताये हुए घृत या चरकोक्त निम्न साधारण योगों का प्रयोग करने से दोष दूर होकर शुक्र का बल बढ़ता है—वाजीकरणयोगैस्तैरुपयोगसुखैर्हितैः । रक्तपित्तहरैर्योगैर्योनिव्यापदकैस्तथा ॥ दुष्टं यदा भवेच्छुक्रं तदा तत्समुपाचरेत् । घृतं च जीवनीयं यच्च्यवनप्राश एव च ॥ गिरिजस्य प्रयोगश्च रेतोदोषानपोहति । सर्पिः पयो रसाः शालिर्यवगोधूमषष्टिकाः । प्रशस्ताः शुक्रदोषेषु, बस्तिकर्म विशेषतः ॥ (चिकित्सा ३०) । उत्तरबस्ति—स निरूहादुत्तरमुत्तरेण वा मार्गेण दीयत इत्युत्तरबस्तिः । (अष्टाङ्गसंग्रह, सूत्र २८)। जो निरूहबस्ति के पश्चात् अथवा गुद से उत्तर मार्ग से याने सूत्रमार्ग से दिया जाता है, वह उत्तरबस्ति कहलाता है । स्त्रियों में उत्तरबस्ति अपत्यमार्ग में भी दिया जाता है । उत्तरबस्ति का विवरण चिकित्सास्थान के ३७वें अध्याय में किया गया है ।

स्फटिकाभं द्रवं स्निग्धं मधुरं मधुगन्धि च ।
शुक्रमिच्छन्ति केचित्तु तैलक्षौद्रनिभं तथा ॥११॥

(विशुद्ध शुक्र का स्वरूप—) स्फटिक के समान (श्वेत), स्निग्ध (चिपचिपा), मधुर और मधु की सी गन्ध वाले द्रव (तरल को) (आचार्य साधारणतया विशुद्ध) शुक्र समझते हैं। परंतु कई (आचार्य) तैल और मधु के समान (द्रव) को भी (विशुद्ध शुक्र समझते हैं) ॥११॥

वक्तव्य—उपर्युक्त श्लोकों में दुष्ट शुक्र का स्वरूप वर्णन किया गया था । इस श्लोक में अदुष्ट अर्थात् 'फलवत्' या गर्भाधानयोग्य शुक्र का स्वरूप वर्णन किया गया है । द्रव—शरीर में रस, रक्त, लाला, स्तन्य इत्यादि कई द्रव (Fluid) उत्पन्न होते हैं। उन्हीं में से शुक्र एक द्रव है। अन्य द्रवों से इसका पार्थक्य वर्णन करने के लिए 'स्फटिकाभ' इत्यादि इसका स्वरूप दिया गया है । जो द्रव इस स्वरूप का है, वह शुक्र है । स्निग्ध--स्निग्धता या सान्द्रता युक्त (Viscous)। पानी भी द्रव है परंतु उसमें स्निग्धता नहीं है । इसी स्निग्धता के कारण मैथुन के पश्चात् योनि में उत्सर्गित हुआ शुक्र वहीं पर अवस्थान करता और मैथुनजन्य घर्षण से उत्तप्त हुई योनि की श्लेष्मल कला की शान्ति करके उसी में शोषित होकर स्त्री के शरीर की पुष्टि में सहायता करता है (तीसरे अध्याय के १६वें सूत्र के वक्तव्य में व्यवाय की टिप्पणी देखो) । इस दृष्टि से स्निग्ध का अर्थ शरीरपुष्टिकर, ऐसा भी कर सकते हैं । इसी स्निग्धता के कारण योनि में शुक्र रहने से शुक्र के संपूर्ण शुक्राणु गर्भाशय के भीतर दौड़ में भाग ले सकते हैं और प्रजोत्पत्ति के लिए उनम से सब से बलवान् शुक्राणु मिल जाता है । जब शुक्र में स्निग्धता न होकर वह पानी के समान पतला रहता है, तब अधिकांश योनि के बाहर निकल आता है और उपर्युक्त कार्य भली भाँति नहीं हो सकते । मधुर—पदार्थों की मधुरता 'घ्राणमुख कण्ठौष्ठ जिह्वाप्रह्लादन' से तत्काल ज्ञात होती है । परंतु शुक्र आत्मसदृश (सूत्रस्थान १० अध्याय के चौथे सूत्र का वक्तव्य देखो) याने जिह्वा पर प्रत्यक्ष ग्रहण करने के लिए प्रशस्त पदार्थ नहीं है । अतः ऐसे पदार्थ की मधुरता अनुमान से ही जाननी चाहिए । मधुररस के लक्षणों में 'षट्पदपिपीलिकानामिष्टतमः' यह एक लक्षण चरक और सुश्रुत (सूत्र ४२।१८) में दिया गया है । इस लक्षण से सूत्र और शरीर की मधुरता आयुर्वेद में जानने की पद्धति थी—मूत्रेऽभिधावन्ति पिपीलिकाश्च । षट्पदपिपीलिकाभिश्च शरीरमूत्राभिसरणम् । अल्पर्थरसिकं कायं कालपक्वस्य मक्षिकाः । अपि स्नातानुलिप्तस्य भृशमायान्ति सर्वशः ॥ मक्षिकोपसर्पणेन शरीरमाधुर्यम् ॥ (चरक) । शुक्र के संबंध में भी मधुर शब्द का प्रयोग इसी दृष्टि से समझना चाहिए क्योंकि जब शुक्र जमीन पर गिरता है या किसी वस्त्र पर लगता है तब उस पर चीटियाँ आकर्षित होती हैं। यदि रासायनिक प्रतिक्रिया की दृष्टि से मधुर शब्द का अर्थ करना हो तो इससे 'न अम्ल न क्षारीय' (Neutral) ऐसा अर्थ करना चाहिए। मधुर शब्द का प्रयोग इस अर्थ से क्षारदग्ध की चिकित्सा करते समय किया गया है—अम्लेन सह संयुक्तः सतीक्ष्णलवणो रसः । माधुर्यं भजतेऽत्यर्थं तीक्ष्णभावं विमुञ्चति ॥ (सूत्रस्थान ११।२१) । मधुगन्धि--शुक्र की एक विशेष प्रकार की गन्ध होती है, जिसकी तुलना किसी द्रव्य की गन्ध से पूर्णतया नहीं की जा सकती । मधुगन्धि से, इसलिए, केवल यही समझना चाहिए कि शुक्र की गन्ध अधिक से अधिक मधु के साथ मिली है—मधुनो गन्धस्येव गन्धो यस्य । केचित्—शुक्र का स्फटिकसन्निभ श्वेतवर्ण सर्वमान्य है—श्वेतं स्फटिकसंनिभम् । (चरक) । परंतु स्तन्य के समान शुक्र वृषणग्रन्थ्यादि का स्राव (Secretion) होने के कारण आहार्य पदार्थ शुक्र में विकृति पैदा न करते हुए भी उसके वर्ण में फर्क पैदा कर सकते हैं । इसलिए कई आचार्यों के मतानुसार तैल और मधु के वर्ण का भी शुक्र शुद्ध होता है । अष्टांगसंग्रह में इन मतों का उल्लेख किया है—तत् सौम्यं स्निग्धं गुरु शुक्लं मधुगन्धि मधुरं पिच्छिलं बहु बहलं घृततैलक्षौद्रान्यतमवर्णं च शुक्रं च गर्भाधानयोग्यं भवति । (शा० १) । परंतु फर्क यही बतलाया है कि ये विविध वर्ण के शुक्र गर्भाधानयोग्य होते हुए भी स्फटिक या घृतवर्ण शुक्र की संतान गौरवर्ण, तैलवर्ण शुक्र की संतान कृष्णवर्ण,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मधुवर्ण शुक्र की संतान श्यामवर्ण होती है—तत्र शुक्रे शुद्धे घृतमण्डाभे वा गर्भस्य गौरत्वं, तैलाभे कृष्णत्वं, मध्वाभे श्यामत्वम् । (अष्टांगसंग्रह) । उपर्युक्त श्लोकगत लक्षणों के अतिरिक्त अदुष्ट शुक्र के निम्न तीन लक्षण और होते हैं । सौम्य—सोमगुणभूयिष्ठ अर्थात् कफ के गुणों की अधिकता जिसमें हो, ऐसा । इस गुण का उल्लेख आगे तीसरे अध्याय के दूसरे सूत्र में किया गया है—सौम्यं शुक्रमार्तवमाग्नेयम् । अविदाहि—जिसका उत्सर्ग होते समय या उत्सर्ग होने के पश्चात् विदाह या जलन न होती हो । जलनयुक्त शुक्र का उत्सर्ग प्रायः पित्तदोष से होता है । पीछे सूत्र ३ का वक्तव्य देखो । पिच्छिल—चिपचिपा (Slimmy या Slippery) । इसी पिच्छिलता के कारण शुक्राणु शुक्र में पूर्ति के साथ बड़ी तेजी से गति कर सकते हैं और पिच्छिल शुक्र से लिप्त होने के कारण ही शुक्राणु योनि से गर्भाशय तथा फलवाहिनी (Fallopian tube) में गति करने में बहुत कम रुकावट से समर्थ होते हैं । चरक में शुद्ध शुक्र के लक्षण इस प्रकार वर्णन किये गये हैं—बहलं मधुरं स्निग्धमविस्रं गुरु पिच्छिलम् । शुक्लं बहु च यच्छुक्रं फलवत्तदसंशयम् ॥ (चि० २) ।

अब इसके बाद दूषित आर्तव की चिकित्सा बताई जाती है—

विधिमुत्तरबस्त्यन्तं कुर्यादार्तवशुद्धये ।

(आर्तवशुद्धि की साधारण चिकित्सा—) आर्तवशुद्धि के लिए उत्तरबस्ति पर्यंत विधि करें ।

वक्तव्य—उत्तरबस्त्यन्तम्—उत्तरबस्ति जिसका अन्तिम कार्य है, ऐसी विधि । अर्थात् ऊपर ९ वें श्लोक में शुक्र-दोषहरण के लिए स्नेहन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन और उत्तरबस्ति—इन कर्मों से युक्त जो विधि बतलाई गई है, वह विधि ।

स्त्रीणां स्नेहादियुक्तानां चतसृष्वार्तवार्तिषु ॥१२॥
कुर्यात्कल्कान् पिचूंश्चापि पथ्यान्याचमनानि च ।

(वातादि चतुर्विध आर्तव दोषों की चिकित्सा—) चतुर्विध आर्तव दोषों में स्नेहनादि से युक्त स्त्रियों को कल्क, पिचू और पथ्य आचमन (वैद्य प्रयुक्त) करे ।

वक्तव्य—चतसृषु—वात, पित्त, कफ और रक्त इन चार दोषों से पीड़ित विकारों में । कल्क—यथा दोषहर ओषधियों की लुगदी योनि में धारण करना । पिचू—यथा दोषहर द्रव्यों के क्वाथ में या यथा दोषहर द्रव्य क्वाथसिद्ध तैल में रुई का फोया भिगोकर (Pad) योनि में धारण करना । आचमनम्—योनिप्रक्षालनोदकम् । (डल्हण) । यह एक पारिभाषिक शब्द है, जिससे केवल योनिप्रक्षालन के लिए युक्त धावन (Lotion) का ही बोध होता है । वातादि दोषों से पीड़ित आर्तव की चिकित्सा अष्टांगसंग्रह में निम्न प्रकार से वर्णित है—वातजे पुष्पदोषे भार्ङ्गीमधुकभद्रदारुसिद्धं सर्पिष्पानम् । काश्मर्य-क्षुद्रसहासिद्धं वा क्षीरम् । मधुकसृगालविन्नाकल्कं पयस्सर्पिस्सहितं प्रियङ्गुतिलकल्कं वा योनौ धारयेत् । सरलमुद्गपर्णीकषायः प्रक्षालनम् । पित्तजे काकोलीद्वयविदारीमूलक्वाथमुत्पलपद्मक्वाथं पुष्पकाश्मर्यफलक्वाथं वा सशर्करं पिबेत् । श्वेतचन्दनक्वाथं सक्षौद्रं, धवधातकीकल्कं वा घृतेन वा मधुकमधुरसामृद्वीकाकल्कं श्याकगवाक्षीक्षीरं विरेकः । चन्दनपयस्याकल्कं योनौ धार्यं गैरिकारिष्टकषायः प्रक्षालनम् । श्लैष्मिके कुटजकटुकाश्मन्तक पिबेत् । समाक्षिकं वा क्षीरीवृक्षप्रवालक्वाथमेतेषामेव वा मधुघृताभ्यां लिह्यात् । मदनफलकषायेण वमनम् । तल्लं च योनौ धारयेत् । लोध्रतिन्दुककषायः प्रक्षालनं बस्तमेपमूत्रं (शारीर १) ।

ग्रन्थिभूते पिबेत् पाठां त्र्यूषणं वृक्षकाणि च ॥१३॥

(ग्रंथिभूत आर्तवचिकित्सा—) गाँठदार (दोष) में पाठा, त्रिकटु (सोंठ, मरीच और पीपल) कुड़ा (इनका क्वाथ) पीवे ॥१२-१३॥

दुर्गन्धिपूयसङ्काशे मज्जतुल्ये तथाऽऽर्तवे ।
पिबेद्भद्रश्रियः क्वाथं चन्दनक्वाथमेव च ॥१४॥

(पूयार्तवचिकित्सा—) दुर्गंधित, पूय और मज्जा सदृश आर्तव में भद्रश्रिय या चन्दन का क्वाथ पीवे ॥१४॥

वक्तव्य—भद्रश्री—मलयपर्वतोत्थ श्वेतचन्दन—सारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियाम् । (अमरकोश) । चन्दन इससे भी श्वेत चन्दन का ही ग्रहण करना चाहिए । मलयज श्वेत चन्दन न मिले, तब साधारण श्वेत चन्दन उपयोग करना चाहिए । इसको दर्शाने के लिए शब्द लिखा गया है । गयदासाचार्य चन्दन से गोशीर्ष चन्दन समझते हैं—गयी तु भद्रश्रियं श्वेतचन्दनम्, गोशीर्षाख्यं चन्दनं नतु रक्तचन्दनम्, तस्य हि गन्धापहरणाभावात् ॥ (डल्हणटीका) । गोशीर्ष भी श्वेत चन्दन ही एक प्रकार है । अमरकोषटीकाकार क्षीरस्वामी के अनुसार गोशीषपर्वतोत्पन्न श्वेत चन्दन गोशीर्ष कहलाता है । कषायलेपयोः प्रायो युज्यते रक्तचन्दनम् । इस परि के आधार पर डल्हणाचार्य चन्दन से रक्तचन्दन अधिक हैं, परन्तु यहाँ पर यह अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि जहाँ श्वेत चन्दन का काम है, वहाँ रक्तचन्दन किसी काम नहीं है । इस क्वाथ के सिवा 'त्रिफलाकल्कक्वाथौ धारणाचमने (अष्टांगसंग्रह) इनका भी उपयोग मज्जतुल्ये तथाऽऽर्तवे—आर्तव का यह आखिर का दोष मूत्रपुरीषसंकाश दोष है । क्षीणदोष का विवरण स्थान के १५वें अध्याय में (प्रथम विभाग पृष्ठ पर) किया गया है, इसलिए उसका विवरण यहाँ नहीं किया—क्षीणं प्रागीरितं रक्तं सलक्षणचिकित्सितम् ॥

शुक्रदोषहराणां च यथास्वमवचारणम् ।
योगानां शुद्धिकरणं शेषास्वप्यार्तवार्तिषु ॥१५॥

(आर्तव दोषों की सामान्य चिकित्सा—) शुक्रदोष-हारक योगों का यथाविधि सेवन शेष आर्तव विकारों में भी शुद्धिकारक होता है ॥१५॥

वक्तव्य—शुक्रदोषहराणाम्—शुक्रदोषहरण के

१ दुर्गन्धे पूयसङ्काशे. २ दोषाणां.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऊपर ५-१० श्लोकों में जो योग बताये गये हैं, उनका । पापास्त्र्यार्तवार्तिषु—यह श्लोक १४वें श्लोक के अनुबन्ध में है । इस श्लोक में कुणपगन्धी, पूतिपूय और मूत्रपुरीष-प्रकाश इन दोषों का विवरण किया है । अर्थात् इन तीन दोषों को छोड़कर शेष दोषों में भी याने वात, पित्त, कफ, शोणित, ग्रंथिभूत और क्षीण इन दोषों में । इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि शुक्रदोषहर प्रयोग आर्तवदोषहर भी होते हैं ।

अन्नं(न्नं) शालियवं मद्यं हितं मांसं च पित्तलम् ॥१६॥

(आर्तव दोषों में पथ्याहार—) आहार्य द्रव्यों में शालि, जौ, मद्य और पित्तवर्धक मांस (आर्तव दोषों के लिए) हितकर होता है ॥१६॥

वक्तव्य—अन्न—अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते । सामान्य आहार diet.

शशासृक्प्रतिमं यत्तु यद्वा लाक्षारसोपमम् ।
तदार्तवं प्रशंसन्ति यद्वासो न विरञ्जयेत् ॥१७॥

(प्रशस्त आर्तव का लक्षण—) जो वर्ण में शशक के रक्त के समान अथवा लाक्षारस के समान (होकर) कपड़े को रञ्जित न करे, उस आर्तवशोणित को (आचार्य) प्रशस्त मानते हैं ॥१७॥

वक्तव्य—इस श्लोक में आर्तव की प्रशस्तता का वर्णन किया है । इस प्रशस्तता का विचार निम्न पहलुओं से होता है । (१) वर्ण—यहाँ तथा चरक और अष्टांगसंग्रह में आर्तव-शोणित का वर्ण खरगोश के रक्त के समान, लाक्षारस के समान, वीरबहूटी कीड़े के समान याने संक्षेप में लाल बतलाया गया है—आर्तवं पुनः शशरुधिरलाक्षारसोपमं शुद्धमाहुः । (अष्टांगसंग्रह) । गुञ्जाफलसवर्णं च पद्मालक्तकसंनिभम् । इन्द्रगोपकसंकाशमार्तवं शुद्धमादिशेत् ॥ (चरक) । पाश्चात्य स्त्रीरोग-चिकित्सकों का कथन है कि स्वाभाविक राशि से अधिक जब आर्तवशोणित निकलता है, तब उसका वर्ण लाल होता है—When abundant it may be bright red. *Bland-Sutton and Giles.* अर्थात् अधिक लाली आर्तवशोणित का प्रशस्त वर्ण नहीं कह सकते हैं । उनके अनुसार यह शोणित सिरागत रक्त के समान किञ्चित् कृष्णवर्ण होता है—The latter (Menstrual blood) has all the characteristics of ordinary venous blood. *Bland-Sutton and Giles.* इस वर्ण का स्पष्ट निर्देश आगे तीसरे अध्याय में 'ईषत्कृष्ण' करके किया गया है—मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम् । ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखं नयेत् ॥ भावप्रकाश में भी यही वर्ण लिखा है—ईषद्विवर्णं कृष्णं च वायुर्योनिमुखं नयेत् । इसलिए आर्तवशोणित का प्रशस्त वर्ण लालसुर्ख, जैसा कि यहाँ वर्णन किया है, न समझकर किञ्चित् कालापन लिये लाल समझना चाहिए । (२) राशि—आर्तव-शोणितस्राव की राशि सब तन्दुरुस्त स्त्रियों में और अवस्था में एक सी नहीं होती । अतः उसके लिए एक निश्चित परिमाण नहीं हो सकता, जिसको प्रशस्त कह सकते हैं । जो परिमाण एक स्त्री में प्रशस्त होगा, वही दूसरी में अप्रशस्त अर्थात् अत्यधिक या अत्यल्प हो सकता है । इसलिए, प्रत्येक स्त्री में मासिकस्राव के परिमाण की प्रशस्तता उसके प्रायिक मासिकस्राव के परिमाण का विचार करके करनी चाहिए । What is an ordinary menstrual flow in one woman may constitute menorrhagia in another. आयुर्वेद में इसलिए निश्चित परिमाण न बतलाकर 'नैवातिबहुलात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत्' (चरक) इस प्रकार परिमाण की प्रशस्तता वर्णन की गई है । उपर्युक्त विवरण से इस श्लोकार्धगत 'अति' शब्द का प्रयोग कितना उचित है और किस हेतु से समाविष्ट किया गया होगा, इस विषय पर अधिक विवरण की आवश्यकता नहीं है । अब अल्प और बहु का प्रायिक परिमाण पाश्चात्त्य ग्रंथकार एक छटाँक से तीन या चार छटाँक तक लिखते हैं—The amount of blood lost naturally varies very much within normal limits, but has been estimated at from 2 to 8 ounces. *Ten Teacher's Midwifery.* The total quantity of blood lost at each monthly period varies from 2 to 10 ounces. *Bland-Sutton and Giles.* (३) स्राव की अवधि—स्त्रियों की तन्दुरुस्ती और प्रकृति के अनुसार स्राव के काल में बहुत भिन्नता देखी जाती है । आयुर्वेद में स्राव का प्रायिक काल तीन से सात दिन का बतलाया गया है—रक्तमेव स्त्रीणां मासे मासे गर्भकोष्ठमनुप्राप्य त्र्यहं प्रवर्तमानमार्तवमाहुः । (अष्टांगसंग्रह) । रजः सप्तदिनं यावत् । (हारीत) । मासि मासि रजः स्त्रीणां रसजं स्रवति त्र्यहम् । (अष्टांगहृदय) । रसादेव रजः स्त्रीणां मासि मासि त्र्यहं स्रवेत् । (भावप्रकाश) । दिनत्रयं प्रवृत्तिश्च कुरुते शोणितं स्त्रियाः ॥ पंचरात्रानुबंधि च । (चरक) । पाश्चात्त्य ग्रंथकार भी प्रायः यही काल बतलाते हैं—The flow lasts from three to five days. *Halliburton's Physiology.* The number of days during which the flow persists also varies in different women within normal limits, four to 5 days being the commonest length of time. *Ten Teacher's Midwifery.* कभी कभी बीच में एक आध रोज स्राव रुक जाता है और फिर से दो तीन रोज रहता है । इसलिए ब्लँडसटन स्रावकाल की मर्यादा दो से सात रोज की बतलाते हैं—The flow lasts from two to seven days. मधुकोशकार 'पञ्चरात्रानुबन्धि' इस पर अपनी व्याख्या में लिखते हैं—पञ्चरात्रानुबन्धीति पञ्चरात्रं प्रभूतप्रवृत्त्याऽनुबध्नातीत्यर्थः । अल्पप्रवृत्त्या पञ्चरात्रात् परतोऽप्यनुबध्नाति । उपर्युक्त विवरण से आर्तवस्राव का प्रशस्त काल दो से सात रोज तक होता है । इस काल से अधिक काल तक स्राव का रहना साधारणतया विकार का निदर्शक समझना चाहिए । (४) अनुषङ्गी लक्षण—मलमूत्रादि की प्रवृत्ति के समान आर्तवप्रवृत्ति स्त्रियों के शरीर का स्वाभाविक धर्म है । इसलिए उस समय किसी प्रकार की पीड़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं होनी चाहिए। प्रशस्त आर्तव का यही लक्षण होता है—निष्पिच्छदाहार्ति। (चरक)। परंतु साधारणतया यह देखा गया है कि अधिकसंख्य (६०% से ७०%) स्त्रियों में आर्तव-प्रवृत्ति के समय श्रोणीविभाग में कुछ न कुछ पीड़ा जरूर हुआ करती है। कुछ स्त्रियों में यह पीड़ा शूल के समान असह्य होती है और उसके साथ साथ सिरदर्द, शारीरिक और मानसिक कमजोरी, बेचैनी, स्वभाव में चिड़चिड़ापन इत्यादि लक्षण उत्पन्न होकर मासिक धर्म एक बीमारी बन जाती है। इसी को कृच्छ्रार्तव (Dysmenorrhoea) या उदावर्ता योनि (उत्तरस्थान, ३८ देखो) कहते हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि यद्यपि स्वाभाविक और कृच्छ्र आर्तव में वास्तविक भेद है तथापि व्यवहार में दोनों के बीच में निश्चित मर्यादा करना बहुत कठिन है। इसलिए आर्तव की प्रवृत्ति और स्राव के समय में यदि जरा सी पीड़ा होती हो तो उसको बिलकुल अप्रशस्त मानना जरूरी नहीं है। (५) आर्तवप्रवृत्तिचक्रकाल—आयुर्वेद में इस चक्र का काल एक मास का लिखा है—मासे मासे गर्भकोष्ठमनुप्राप्य। (अष्टांगसंग्रह)। मासान्निष्पिच्छदाहार्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च। नैवातिबहुलात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत्॥ (चरक)। मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम्। (सुश्रुत)। मास या मास का अर्थ चन्द्र है और नक्षत्रों में पूर्णचक्रपरिभ्रमण करने के लिए चन्द्र को जितने दिन लगते हैं, उन दिनों के समूह को 'मास' कहते हैं। यह काल साधारणतया २८ दिनों का या चार सप्ताह का होता है। अर्थात् दो आर्तवों के बीच में २८ दिन का अन्तर आर्तव की प्रशस्तता का लक्षण है। इसी दृष्टि से आर्तव को मासिकधर्म या माहवारी कहते हैं। In human subject menstruation occurs on an ovarage every four weeks. *Halliburton's Physiology*. व्यवहार में भी यह देखा गया है कि अधिकसंख्य (७०%) स्त्रियों में मासिकधर्म का काल २८ दिनों का ही होता है। बाकी स्त्रियों में इससे एक दो दिन कम या अधिक लगते हैं। कुछ स्त्रियों में आठ दस दिन कम या अधिक लगते हैं। इसका कारण यह है कि आर्तवचक्रकाल में स्त्री की तन्दुरुस्ती, प्रकृति और आयु के अनुसार बदल होता है। परन्तु साधारणतया यह कह सकते हैं कि बहुत थोड़े दिनों के पीछे स्राव का होना आर्तव की प्रशस्तता का लक्षण नहीं है। धर्मशास्त्र में स्वस्थ आर्तवचक्र का कम-से-कम काल २१ दिन का दिया है—अष्टादशदिनादूर्ध्वं स्नानप्रभृतिसंख्यया। यद्रजस्तु समुत्पन्नं तत्कालोत्पन्नमुच्यते॥ (६) स्राव का सङ्गठन—मासिकस्राव में रक्त (Blood) होता है। रक्त के सिवा गर्भाशय की श्लैष्मिक त्वचा का स्राव या श्लेष्मा (Mucus) भी होता है। इनके अतिरिक्त गर्भाशय और योनि की शीर्ण हुई सेलें भी होती हैं। श्लेष्मा का स्राव अधिकतर आर्तवस्राव के पूर्व और पश्चात् हुआ करता है। साधारण रक्त और आर्तव रक्त में एक भेद यह होता है कि उसमें साधारण रक्त की अपेक्षा खटिक (Calcium) अधिक परिमाण में होता है। दूसरा भेद यह होता है कि आर्तवरक्त साधारण रक्त की भाँति जमता नहीं है। न जमने का एक कारण श्लेष्म-संयोग है। दूसरे कारण के सम्बन्ध में कुछ मतभेद है। ब्लेअर बेल नामक शास्त्रज्ञ का कथन है कि आर्तवरक्त में फैब्रिन (Fibrin) नामक द्रव्य उपस्थित नहीं होता है, जो रक्त जमने के लिए आवश्यक है—It is said by Blair Bell to contain a much larger proportion of calcium salts than circulating blood, and under normal conditions no fibrin ferment. *Ten Teacher's midwifery*. बेक और हा[illegible] हाउस नामक शास्त्रज्ञों का कथन है कि गर्भाशय में [illegible] जमता है, परंतु गर्भाशयग्रंथियों से फैब्रोलायसीन नामक द्रव्य उत्सर्गित होता है, जो जमे हुए रक्त को फिर से त[रल] बनाता है—While the solution of the clot, [he] believes, is brought about by a fibrolysin cont[ai]ned in the secretion of the uterin glands. *Ib[id.]* उपपत्ति कुछ भी हो, आर्तवरक्त का न जमना उस[की] प्रशस्तता का एक लक्षण है। जब आर्तव में कुछ खरा[बी] होती है, तब आर्तवशोणित जमता है याने छिछड़ेदार गाँठदार बनता है और इसी का निर्देश पीछे ग्रंथि करके सूत्र ४ में किया गया है—Normal menstr[ual] blood does not clot. It is only under abnor[mal] conditions that clots form during menstruati[on]. *Ibid.* (७) यद्वासो न विरञ्जयेत्—जो आर्तवशोणित उ[स] आर्द्र या शुष्क सफेद कपड़े को नीम गरम पानी से [धोने] पर विवर्ण नहीं करता है, वह प्रशस्त होता है। इ[सका] मतलब यह है कि आर्तवशोणित से मलिन वस्त्र [गरम] पानी से धोने पर निर्मल याने बेदाग होना चाहि[ए]। जीवशोणित याने शरीरधारक शोणित (Normal bl[ood]) की यही परीक्षा आयुर्वेद में वर्णन की गई है—उभय[...] जीवरक्तपित्तयोर्ज्ञानार्थं रक्ते शुक्लं पिचु प्लोतं वा क्षिपेत्। तत्[...] वने कोष्णाम्बुक्षालितशुद्धे जीवरक्तम्। (अष्टांगसंग्रह)। शुक्[लं] भावितं वस्त्रमावानं कोष्णवारिणा। प्रक्षालितं विवर्णं स्यात् [...] शुद्धं तु शोणिते॥ (चरक और अष्टांगहृदय)। पाश्[चात्य] शास्त्रज्ञों का भी ऐसा ही मत है—It is almost imposs[ible] to state whether stains have been ca[used] by ordinary or menstrual blood. *Manual [of] Medical jurisprudence by Aitchison Robert[son]*. अर्थात् वस्त्र धोने पर उस पर के रक्त के दाग अच्छी [तरह] न मिटना रक्त की खराबी का लक्षण माना गया है।

तदेवातिप्रसङ्गेन प्रवृत्तमनृतावपि।
असृग्दरं विजानीयादतोऽन्यद्रक्तलक्षणात्॥१८॥

(रक्तप्रदर—) (पूर्वोक्त आर्तव) रक्त लक्षण से भि[न्न] अत्यधिक मात्रा में (और) ऋतुकाल से अतिरिक्त [काल] में प्रवृत्त वही आर्तव इसलिए असृग्दर (वैद्य) [जान]ले॥१८॥

वक्तव्य—अतिप्रसङ्गेन—ऊपर आर्तवशोणितस्राव [...]

१ विजानीयादुक्तं लक्षणलक्षितम्.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चार छटाँक तक जो अधिक से अधिक परिमाण बतलाया है, उससे भी अधिक मात्रा में। अनृतु—अनार्तव काल। ऊपर आर्तवशोणितस्राव का सात रोज तक जो अधिक से अधिक काल बतलाया है, वह ऋतुकाल कहलाता है। उससे अधिक याने सात रोज के पश्चात् का काल अनृतु कहलाता है। यहाँ ऋतुकाल से केवल स्वाभाविक आर्तवदर्शन काल से मतलब है। गर्भधारणा की दृष्टि से 'ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टार्तवः'। (सुश्रुत, शा० ३) इत्यादि जो ऋतुकाल वर्णन किया है, वह यहाँ अभिप्रेत नहीं है। उस ऋतुकाल के सम्बन्ध में वहाँ अधिक विवरण किया जायगा। अनृतावपि—पाँच सात दिन तक जो आर्तवस्राव का स्वाभाविक काल है, उसमें तथा उसके पश्चात् का जो अनार्तवकाल है उसमें भी कुछ दिनों तक प्रवृत्त अर्थात् दीर्घकालानुबन्धी। डल्हणाचार्य का 'अनृतावल्पमप्यदीर्घकालमपि प्रवृत्तमसृग्दरं विजानीयात्' यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि असृग्दर में आर्तवशोणित का प्रमाणाधिक्य एक मुख्य लक्षण है—रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य गर्भाशयगताः सिराः। रजोवहाः समाश्रित्य रक्तमादाय तद्रजः ॥ यस्माद्विवर्धयत्याशु रसभावाद्विमानता। तस्मादसृग्दरं प्राहुरेतत्तन्त्रविशारदाः॥ (चरक, चि० ३०)। प्रमाण से अधिक रक्तस्राव हो और काल अल्प हो, यह दोनों असङ्गत हैं—'प्रदीर्यते इति विस्तारितो भवति' इति प्रदरः। (चक्रपाणिदत्त)। इसलिए 'अनृतावपि' का 'अल्पमप्यदीर्घकालमपि प्रवृत्तम्' अर्थ करके असृग्दर से नष्टार्तव का मतलब निकालना अयुक्तियुक्त है। असृग्दर—इसको रक्तप्रदर या प्रदर कहते हैं—रजः प्रदीर्यते यस्मात् प्रदरस्तेन स स्मृतः। (चरक)। असृग्दर शब्द की व्युत्पत्ति करते हैं—रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य इति रक्तं प्रमाणाधिकं कृत्वा रक्तमादाय तद्रजो यस्माद्विवर्धयति पवनस्तस्मादसृग्रजोमेलकरूपत्वादयं व्याधिरसृग्दर इत्युच्यते। 'असृग्दीर्यते यस्मिन्निति असृग्दर' इत्येषाऽपि निरुक्तिरत्र बोद्धव्या। (चक्रपाणिदत्त, चरकटीका)। असृग्दर का पाश्चात्त्य परिभाषा में विचार—इस श्लोक में असृग्दर के तीन लक्षण वर्णन किये हैं—(१) रजःप्राचुर्य, (२) दीर्घकाल प्रवृत्ति, और (३) स्वाभाविक आर्तव के रक्त से असृग्दर के रक्त की भिन्नता। पाश्चात्त्य परिभाषा में आर्तव रक्त का विशेष विचार नहीं किया जाता है। काल और परिमाण का विचार होता है, और उसके अनुसार दो स्वतन्त्र नाम रक्खे गये हैं। अर्थात् असृग्दर या प्रदर के लिए पाश्चात्त्य परिभाषा में एक नाम नहीं है। जब आर्तवस्राव की प्रवृत्ति अधिक परिमाण में होती है, परन्तु आर्तवकाल स्वाभाविक याने अधिक से अधिक सात रोज तक ही रहता है, उसमें अधिकता नहीं होती। तब उस अवस्था को मेनोरेजिया (Menorrhagia) कहते हैं। जब आर्तवस्राव ऋतुकाल में होकर अनार्तवकाल में भी होता है, तब उस अवस्था को मेट्रोरेजिया (Metrorrhagia) कहते हैं। इस तरह यद्यपि दो अवस्थाओं के लिए दो पृथक् शब्द प्रयुक्त होते हैं, तथापि आयुर्वेद के अनुसार दोनों का विवरण एक साथ ही किया जाता है, क्योंकि दोनों अवस्थाएँ बहुत सम्बन्धित हैं। जो कारण स्राव की अधिकता उत्पन्न करते हैं, वे ही आगे जाकर स्राव के काल में वृद्धि और अनियमितता उत्पन्न करते हैं—Menorrhagia passes insensibly into metrorrhagia. and it is therefore convenient to consider the two conditions together. Many diseases lead at first to menorrhagia and subsequently to metrorrhagia. *Bland-Sutton and Giles.* अन्यद्रक्तलक्षणात्—'शशासृक्प्रतिमं' 'निष्पिच्छदाहार्ति' इत्यादिवाक्यप्रतिपादितात् पूर्वोक्ताद्रक्तलक्षणादन्यदन्यादृक् लक्षणम्। अर्थात् वातादि के लक्षणों से युक्त; जैसे, वातिक—फेनिलं तनु रूक्षं च श्यावं चारुणमेव च। किंशुकोदकसंकाशं सरुजं वाथ नीरुजम्॥ पैत्तिक—सनीलमथवा पीतमत्युष्णमसितं तथा। नितान्तरक्तं स्रवति मुहुर्मुहुरथार्तिमत्॥ श्लैष्मिक—पिच्छिलं पाण्डुवर्णं च गुरु स्निग्धं च शीतलम्। स्रवत्यसृक् श्लेष्मलं च घनं मन्दरुजाकरम्॥ (चरक, चि० ३०)। असृग्दर के हेतु—विरुद्धमद्याध्यशनादजीर्णाद्गर्भप्रपातादतिमैथुनाच्च। यानाध्वशोकादतिकर्षणाच्च भाराभिघाताच्छयनाद्दिवा च॥ (माधवनिदान)। विरुद्धमद्याध्यशनादजीर्णात्—गुरु, विदाही, कटु, परस्पर विरोधी पदार्थों का अति सेवन पहिले सेवन किये हुए आहार का पचन होने के पूर्व दूसरा आहार सेवन करना, विविध मद्यों का अतिसेवन इत्यादि कारणों से वायु कुपित होकर आर्तवातिप्रवृत्ति करती है—यात्यर्थं सेवते नारी लवणाम्लगुरूणि च। कट्वन्यथ विदाहीनि स्निग्धानि पिशितानि च॥ ग्राम्यौदकानि मेद्यानि कृशरां पायसं दधि। शुक्तमस्तु सुरादीनि भजन्त्याः कुपितोऽनिलः॥ (चरक)। पाश्चात्त्य वैद्यक में भी खाद्यमद्य का अतिसेवन इस रोग का कारण माना जाता है—Over indulgence in food and alcoholic drinks. *Bland-Sutton and Giles.* गर्भप्रपात—गर्भस्राव या गर्भपात। परंतु इससे गर्भप्रसूति का भी बोध हो सकता है। गर्भ यदि पूर्णतया गर्भाशय से बाहर चला जाय और भीतर अपरा या अन्य कुछ भी न रहे तो गर्भाशय धीरे धीरे अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त होने लगता है। इस अवस्था को गर्भाशय की स्वसंवृति (Involution of the uteras) कहते हैं। १०वें अध्याय के १५वें सूत्र का वक्तव्य देखो। यदि गर्भ निकल जाने के पश्चात् गर्भाशय में गर्भ का या अपरा का कुछ अंश रह जाय तो उसकी संवृति ठीक प्रकार से न होकर वह कुछ मोटा और पिलपिला रह जाता है और रक्ताधिक्य के कारण उससे रक्तस्राव अधिक होता है। इस अवस्था को अपसंवृति (Subinvolution) कहते हैं। यह अवस्था स्वाभाविक प्रसूति की अपेक्षा गर्भपात के बाद अधिक हुआ करती है। इसलिए गर्भप्रपात इस रोग का जो कारण बतलाया है, वह बिलकुल ठीक है—A portion of placenta or of membranes may remain attached to the uterine wall, both after full time delivery and after abortion. It is most frequent in the latter case. *Bland-Sutton and Giles.* अतिमैथुन—अतिमैथुन से स्त्रियों के जननेन्द्रिय की ओर रक्तप्रवाह अधिकता से होता है, जिससे आर्तवस्राव भी अधिक हो जाता है। यह अवस्था विशेष करके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवाह के पश्चात् शुरू शुरू में जब मैथुन अधिक सेवन किया जाता है तब होती है—The effect of sexual intercourse upon the menstrual flow is difficult to determine, but cases do occur in which excessive menstruation has been cured by abstension and we can not but believe that excess in this direction must, therefore, have been the cause. Such cases occur chiefly in the newly married. There is no doubt that sexual excess, often in the first months of married life, is a reflex cause of uterine congestion and may cause metrorrhagia as well as menorrhagia. *Differential diagnosis by Herbert French.* यानाध्व—सवारी करना, चलना फिरना। जैसे—ऊँट, गधा, घोड़ा, साइकल इत्यादि वाहनों पर सवारी करना, चलना फिरना, प्रवास करना, दौड़ना इत्यादि का अति सेवन। हर्बर्ट फ्रेन्च अपनी पुस्तक में Dancing, Hunting, Gymnastics, Bicycling. असृग्दर के कारण बताते हैं। ये कारण बहुत साधारण नहीं हैं। शोक—यह मानसिक विकार का उपलक्षण है। इससे भीति, काम, क्रोध, चिंता इत्यादि मानसिक उत्तेजनाओं का बोध होता है। 'मनःशरीरसंतापात्' 'क्रोधाचातङ्कदर्शनैः' इत्यादि चरक में प्रदर के कारण वर्णन किये हैं। हर्बर्ट फ्रेंच की उपर्युक्त पुस्तक में Fright, Violent emotion इसके कारण निर्दिष्ट किये हैं। यदि ये मानसिक विकार अल्पकालिक हों तो एक आध बार मासिक स्राव अतिमात्रा में होता है; परंतु यदि स्त्री इन विकारों से सदैव पीड़ित हो तो इन विकारों से शरीर के अन्तःस्रावों (Internal secretions) में अधिकता होकर रक्तभार (Blood-pressure) भी सदा के लिए बढ़ जाता है (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३०६ देखो) और रक्तभाराधिक्य से असृग्दर होता है। अतिकर्षणात्—लङ्घनाद्यतियोगेन क्षीणधातुत्वात्। (मधुकोश)। इससे खाद्य पेय द्रव्यों में योग्य और पर्याप्त द्रव्य न मिलने के कारण उत्पन्न हुए रोगों का समावेश कर सकते हैं; जैसे रक्त की जमने की शक्ति कम होना, स्कर्वी (Scurvy), पर्पूरा (Purpura) इत्यादि। भाराभिघातात्—गर्भाशय के ऊपर बोझ पड़ना या अभिघात होना; जैसे मलावरोध, कमर पर कपड़ा कसके बाँधना या पहनना, नाचना, कूदना या बाहर से कोई आघात होना। इन कारणों के अतिरिक्त निम्न कारण भी असृग्दर उत्पन्न करते हैं। (१) एन्फ्लुएन्जा, आन्त्रिकज्वर, मसूरिका, विषमज्वर, आमवात इत्यादि संक्रामक रोग, यकृदाल्युदर, हृत्कपाटरोग इत्यादि। (२) गर्भाशय के विकार—कैन्सर, सार्कोमा इत्यादि दुष्टार्बुद; अर्श (Polypus), पेश्यर्बुद (Myoma) इत्यादि सौम्यार्बुद; स्थानभ्रष्टता (Displacements); और गर्भाशय का नवीन या पुराना प्रकोप (Endometritis), गर्भाशयगत रक्ताधिक्य (Congestion), गर्भाशय के लचकीले मांसतन्तुओं की शण जैसे कठिन तन्तुओं में परिवृत्ति (Fibrosis Uteri), रक्तगुल्म (Fibroids) इत्यादि।

असृग्दरो भवेत् सर्वः साङ्गमर्दः सवेदनः ॥१९॥
तस्यातिवृत्तौ दौर्बल्यं भ्रमो मूर्च्छा तमस्तृषा।
दाहः प्रलापः पाण्डुत्वं तन्द्रा रोगाश्च वातजाः ॥२०॥

(असृग्दर के शारीरिक लक्षण—) सर्व असृग्दर अंगमर्द और वेदनायुक्त होते हैं ॥१९॥ उनकी अतिप्रवृत्ति होने में कमजोरी, भ्रम (चक्कर आना), मूर्च्छा (कभी बेहोश होना), तम (आँखों के सामने अँधेरा आना), प्यास, दाह (आँखों, हाथ पैरों तथा शरीर में जलन मालूम होना), प्रलाप, पाण्डुत्व (शरीर का रंग फीका पड़ना), तन्द्रा और वातज रोग (उत्पन्न होते हैं) ॥२०॥

वक्तव्य—सर्वः—ऊपर असृग्दर के अनेक हेतु वर्णन किये हैं। प्रत्येक हेतु से उत्पन्न हुए असृग्दर में स्रावकाल, स्रावमात्रा और स्राववर्ण में कुछ न कुछ फर्क हो सकता है; तब भी इन विविध कारणोत्पन्न सम्पूर्ण असृग्दरों में। 'जात्यैकवचनम्' इस दृष्टि से यहाँ एकवचन का प्रयोग किया गया है। अङ्गमर्दः—शरीर के विविध अङ्गों में टूटने की सी पीड़ा होना। सवेदनः—कटि, वङ्क्षण, इत्यादि गर्भाशय समीप अङ्गों में वेदना होना। कटिवङ्क्षणहृत्पार्श्वपृष्ठश्रोणिषु मारुतः। कुरुते वेदनां तीव्राम् (चरक)। तस्य—आर्तवशोणितस्य। दाह—यह रक्तक्षयजन्य है। इसके लक्षण—धातुक्षयोक्तो यो दाहस्तेन मूर्च्छातृड्दिता। क्षामस्वरः क्रियाहीनः स सीदेद् भृशपीडितः॥ यहाँ धातुक्षय से रक्तक्षय का ही विशेष बोध है—धातुक्षयोक्तो रक्तक्षयोक्त (डल्हण)। प्रलाप—विलाप या रंज करना। कमजोरी तथा अन्य लक्षणों से पीड़ित होने के कारण रोगी जरा से परिश्रम करने पर भी आह भरता है। रोगाश्च वातजाः—कम्प, कार्श्य, निद्रानाश, शिरःशूल तथा अन्य स्थान में शूल, अनवस्थितचित्तत्व, स्वभाव का चिड़चिड़ापन, मलावरोध, कर्णनाद इत्यादि।

इस श्लोक में असृग्दर के रक्तस्राव के अतिरिक्त जो लक्षण वर्णन किये हैं। इनमें से कुछ लक्षण गर्भाशय विकारजन्य होते हैं और अधिकांश लक्षण रक्तस्रावाधिक्य जन्य होते हैं। जब रक्तस्राव अधिक होता है, तब शरीर में रक्त की कमी हो जाती है, जिससे शरीर के किसी भी अंग को या धातु को पर्याप्त खाद्य नहीं मिलता। पेशियों में रक्त की कमी होने से बलक्षय होता है। त्वचा में कमी होने से पाण्डुता (Pallor) आ जाती है। आँखों में कमी होने से भ्रम, मूर्च्छा, तमोदर्शन इत्यादि विकार होते हैं। मस्तिष्क तथा नाड़ियों में कमी होने से अनवस्थितचित्तत्व, कम्प, कर्णनाद, निद्रानाश, स्वभाव में फर्क, शिरःशूल तथा अन्य स्थान के शूल इत्यादि लक्षण होते हैं।

तरुण्या हितसेविन्यास्तमल्पोपद्रवं भिषक्।
रक्तपित्तविधानेन यथावत् समुपाचरेत् ॥२१॥

(असृग्दरचिकित्सा)—(आहार विहार इत्यादि हितकर सेवन करने वाली तरुण स्त्री के अल्प उपद्रव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असृग्दर की वैद्य रक्तपित्त की विधि से अनुरूप चिकित्सा करे ॥२१॥

वक्तव्य—तरुणी—इससे बलसत्त्वायुपत्वं और सर्वौपधक्षमत्वं का बोध होता है। यह सुखसाध्यता का एक लक्षण है। हितसेविनी—जिसको पहिले ही से अहितकर आहार-विहार सेवन करने की आदत न हो, तथा जो वैद्यवाक्यानुसार हितकर आहार-विहार सेवन करने में दत्तचित्त हो। रोगी का यह एक प्रशस्त गुण है तथा सुखसाध्यता का लक्षण है। अल्पोपद्रव—इससे उपद्रवों की संख्या, काल और तीव्रता इनमें अल्पता अभिप्रेत है; अर्थात् जिस असृग्दर में उपद्रव थोड़े हों, नये हों और सौम्य हों, ऐसा। यह कृच्छ्रसाध्यता का लक्षण है—गर्भिणी-वृद्धबालानां नात्युपद्रवपीडितम्। (चरक)। इस प्रथम श्लोकार्ध का इसलिए मतलब यह है कि यदि रोगी में सुखसाध्यता या कृच्छ्रसाध्यता के लक्षण उपस्थित हों तो वैद्य उसकी चिकित्सा करे, अन्यथा न करे—तं चाप्यसाध्यं प्रवदन्ति तज्ज्ञा न तत्र कुर्वीत भिषक् चिकित्साम्। (माधव-निदान)। शश्वत्स्रवत्यथास्रावं तृष्णादाहज्वरान्विताम्। क्षीणरक्तां दुर्बलां च तामसाध्यां विवर्जयेत्॥ (चरक)। रक्तपित्तविधानेन—उत्तरस्थान में रक्तपित्त की चिकित्सा जिस प्रकार वर्णन की गई है, उसके अनुसार—विधिश्चासृग्दरेऽप्येष स्त्रीणां कार्यो विजानता। त्रयाणामपि दोषाणां शोणितेऽपि च सर्वशः। लिङ्गान्यालोक्य कर्तव्यं चिकित्सितमनन्तरम्॥ (उत्तर,अ० ४५)। योनीनां वातलाद्यानां यदुक्तमिह भेषजम्। चतुर्णां प्रदराणां च तत्सर्वं कारयेद्भिषक्॥ रक्तातिसारिणां यच्च तथा शोणितपित्तिनाम्। रक्तार्शसां च यत्प्रोक्तं भेषजं तच्च कारयेत्॥ रक्तयोन्यामसृग्वर्णैरनुबन्धं समीक्ष्य च। ततः कुर्याद्यथादोषं रक्तस्थापनमौषधम्॥ (चरक)। असृग्दर की चिकित्सा—(१) साधारण चिकित्सा—मद्य-मांस तथा अन्य उष्ण, कटु, खाद्य द्रव्यों को वर्ज्य करके हितकर आहार सेवन करना, चलना, फिरना, दौड़ना, सवारी करना इत्यादि को छोड़कर शारीरिक तथा शोक, क्रोधादि को छोड़कर मानसिक आराम लेना; मैथुन वर्ज्य करना, मासिक धर्म के पहिले विरेचन से कोष्ठशुद्धि संक्षेप में निदान परिवर्जन। (२) ओषधि-चिकित्सा—इसमें विशेष करके रक्तस्थापक याने रक्तस्राव रोकने वाली (Haemostatic) ओषधियों का उपयोग; जैसे—पुष्यानुग चूर्ण, कुटजाष्टकावलेह, अशोकघृत, अशोकारिष्ट, कामदुघारस, प्रदरारि, प्रदरान्तक, बोलबद्ध इत्यादि ओषधियों का उपयोग करना। पाश्चात्य वैद्यक में गर्भाशयगत रक्तस्थापन के लिए अर्गट (Ergot) का उपयोग विशेषतया किया जाता है। इसके सिवाय स्टिप्टीसिन (Stypticin), हैड्रास्टिस (Hydrastis) का भी उपयोग होता है। शरीर में जब रक्तस्राव के कारण रक्त की कमी हो जाती है, तब लोह, यकृत् (Liver) इत्यादि शोणित-वर्धक (Haematinic) ओषधियों का उपयोग करना चाहिए—यकृद्वा भक्षयेदाजमामं पित्तसमायुतम्। (सु०, रक्तपित्तचिकित्सा)। (३) स्थानिक चिकित्सा—यदि उपर्युक्त दो प्रकार की चिकित्सा से फायदा न हो या स्थानिक विकृति के लक्षण पहिले से ही मालूम होते हों तो गर्भाशय और योनि का परीक्षण करके अर्श, अर्बुद, प्रकोप या जो कुछ भी अन्य विकार हों, उनकी चिकित्सा करनी चाहिए।

दोषैरावृतमार्गत्वादार्तवं नश्यति स्त्रियाः।
तत्र मत्स्यकुलत्थाम्लतिलमाषसुरा हिताः।
पाने मूत्रमुदश्विच्च दधि शुक्तं च भोजने॥२२॥

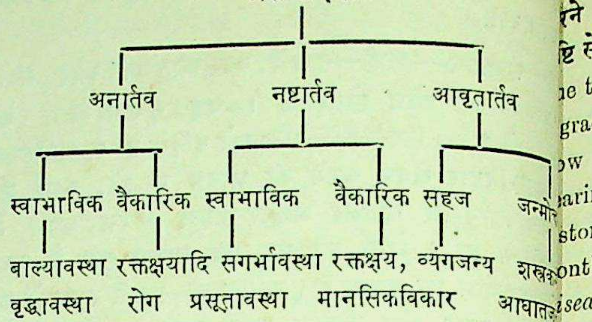
(नष्टार्तव—) दोषों से मार्ग आवृत होने के कारण स्त्रियों का आर्तव नष्ट होता है। उसमें भोजन के और पीने के लिए मछली, कुलथी, काञ्जिक (या अन्य खट्टे पदार्थ), तिल, उड़द, सुरा, गोमूत्र, उदश्वित्, दही और शुक्त (सिरका) हितकर हैं॥२२॥

वक्तव्य—दोषैः—अत्र दोषाः कफो वायुर्वातकफौ च, न तु पित्तं, पित्तवृद्धौ तस्यातिप्रवृत्तिवृद्धयोरुक्तत्वात्, कुलत्थादिवातकफहरद्रव्यावचारणाच्च। (डल्हण)। अर्थात् इस रोग में वातकफवृद्धि और पित्तक्षय होता है। आवृतमार्गत्वात्—गर्भाशय में आर्तव उत्पन्न होने का जो स्वाभाविक मार्ग याने क्रम (Physiological process) है, उसमें दोषों के द्वारा बाधा उत्पन्न होने के कारण। नश्यति—स्त्री में योग्य वय में उत्पन्न हुआ और प्रतिमास होने वाला आर्तव नष्ट होता है अर्थात् उसकी उत्पत्ति रुक जाती है। मूत्र—गोमूत्र—मूत्रे गोमूत्रमादेयं विशेषो यत्र नेरितः। 'अनुक्तव्यक्तिके मूत्रपाठे उभयोरपि मूत्राणि ग्राह्याणि, यत्र तु कण्ठरवेण स्त्रीपुरुषनिर्देशस्तत्र तस्यैवेति निर्णीतवन्तः' । इस प्रकार एकीय मत डल्हण सूत्रविचार की अपनी टीका (सूत्र०, अ० ४५) में लिखते हैं। यहाँ गोमूत्र ग्रहण करने का कारण यह है कि गौ का मूत्र तीक्ष्ण होने के कारण वह वर्धित वातकफ का ह्रास करके पित्त को बढ़ाता है—गोमूत्रं कटु तीक्ष्णोष्णं पित्तलं कफवातजित्। (सुश्रुत)। स्त्रीणां मूत्रं गवां तीक्ष्णं न तु पुंसां विधीयते। पित्तात्मिकाः स्त्रियो यस्मात् सौम्यास्तु पुरुषा मताः॥ उदश्वित्—आधा पानी डालकर बनाया हुआ मट्ठा—उदश्विदर्धवारिकम्। (भावप्रकाश)। आर्तवादर्शन-सम्बन्धी विशेष विचार—आर्तवदर्शन (Menstruation) और आर्तवादर्शन (Amenorrhoea) ये दोनों स्त्रियों के शरीर के स्वाभाविक धर्म हैं। परन्तु जब ये दोनों अपने उचित समय पर नहीं होते, तब वैकारिक हो जाते हैं। यहाँ प्रथम श्लोकार्ध में आर्तवादर्शन का वर्णन किया है। आर्तवादर्शन के तीन मुख्य प्रकार होते हैं। (१) अनार्तव (Primary amenorrhoea)—स्त्रियों में बारह वर्ष की आयु से पचास वर्ष की आयु तक प्रतिमास आर्तवदर्शन होता रहता है—तद्वर्षाद् द्वादशात्काले वर्तमानमसृक् पुनः। जरापक्वशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम्॥ (सुश्रुत)। अर्थात् बारह साल के पूर्व और पचास साल के बाद जो आर्तवादर्शन रहता है, वह स्वाभाविक (Physiological) होता है। कभी कभी आर्तवदर्शन के योग्य काल के कई बरसों के बाद आर्तवदर्शन होता है। इसे कालातीत या विलम्बित (Delayed) अनार्तव कहते हैं। यह अवस्था प्रायः रक्तक्षय,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राजयक्ष्मा तथा अन्य शरीरशोषक रोगों के कारण, या गर्भाशय तथा बीजकोश (Ovary) विलम्ब से परिपक्व होने के कारण उत्पन्न होती है। यदि स्त्री विवाहित हो तो आर्तवदर्शन होने के पूर्व भी गर्भधारणा हो सकती है। गर्भधारणा के लिए आर्तवदर्शन की कोई आवश्यकता नहीं होती, इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए—तद्वदृदृष्टार्तवोऽपि (ऋतुः) अस्तीत्यपरे। (अष्टांगसंग्रह)। (३ अध्याय का ६ सूत्र देखो)। परन्तु थोड़े दिनों में गर्भधारणा के अन्य लक्षण मिलने से उस स्थिति का निर्णय हो जाता है। कभी कभी गर्भाशय तथा बीजकोश दोनों ही सदा के लिए अपरिपक्व रह जाते हैं, जिससे स्त्री में आर्तवदर्शन कदापि नहीं होता। इस अवस्था को स्थायी (Permanant) अनार्तव कहते हैं। विलम्बित और स्थायी प्रकार वैकारिक हैं। (२) नष्टार्तव—इससे पीड़ित स्त्रियों में इसके पूर्व बराबर आर्तवदर्शन होता रहता है। इसको औपद्रविक (Secondary) कहते हैं। सगर्भावस्था और प्रसूतावस्था इसके स्वाभाविक कारण हैं—आर्तवादर्शनमास्यस्रवणमनन्नाभिलाषः—इति गर्भे पर्यागते रूपाणि भवन्ति। (चरक)। परन्तु इन अवस्थाओं में भी कभी कभी रजःस्राव होता है। धर्मशास्त्र में उसको रागज और नैमित्तिक कहते हैं—अर्वाक् प्रसूतेरुत्पन्नं मेदोवृद्ध्याऽङ्गनासु यत्। तद्रागजमिति प्रोक्तं मेदोद्रेकसमुद्भवम्॥ प्रसूतिका तु या नारी स्नानतो विंशतेः परम्। आर्तवी रजसा प्रोक्ता प्राक् तु नैमित्तकं रजः। न तु नैमित्तिकेन स्याद्रजसा स्त्री रजस्वला॥ रक्तक्षय, राजयक्ष्मा, मधुमेह, दुष्टार्बुद, शरीरक्षयकर अन्य विकार, सर्दी लगना, मस्तिष्कार्बुद, चित्तोद्वेग (Melancholia), उन्माद तथा अन्य मानसिक विकार इसके वैकारिक कारण हैं। यहाँ प्रथम श्लोकार्ध में इसी वैकारिक नष्टार्तव का संक्षिप्त वर्णन किया है। वातकफवृद्धि और पित्तक्षय नष्टार्तव का जो कारण बतलाया है, उसका कुछ स्पष्टीकरण उपर्युक्त रक्तक्षयादि कारणों को देखकर हो सकता है। (३) आवृतार्तव—इसमें योग्य वय में आर्तवस्राव प्रारम्भ होता है, परन्तु बाहर आने का मार्ग अवरुद्ध होने के कारण आर्तवशोणित भीतर ही याने आवृत या प्रच्छन्न रहता है। इसलिए इस प्रकार को आवृतार्तव (Cryptomenorrhoea) कहते हैं। यह अवरोध गर्भाशयग्रीवा में छिद्र न होना (Imperforate cervix), योनिमार्गाभाव (Absence of vagina), योनिद्वार के पर्दे में (Hymen) छिद्र न होना इत्यादि सहज व्यंगों के कारण होता है; और सहज व्यंगजन्य आवृतार्तव अधिक देखने में आता है। कभी कभी शस्त्रकर्म या आघात के कारण गर्भाशयमुख या योनिमार्ग बंद हो जाता है; परन्तु ऐसे उदाहरण बहुत ही कम देखने में आते हैं। आवृतार्तव में मासिक धर्म के समय सिरदर्द, श्रोणी में पीड़ा, बेचैनी इत्यादि लक्षण होते हैं, परन्तु योनिद्वार से शोणितस्राव नहीं होता। इसलिए आर्तवादर्शन में आवृतार्तव की संभावना ध्यान में रखकर यदि आवश्यक हो तो रोगी के जननेन्द्रिय का परीक्षण जरूर करना चाहिए। अब सुखावबोध के लिए आर्तवादर्शन का कोष्ठक नीचे दिया जाता है।



चिकित्सा—इस बात का जरूर ध्यान रखना चाहि कि आर्तवादर्शन रोग नहीं है, लक्षण है। इसलिए उस चिकित्सा कारणानुसार करनी चाहिए। स्वाभाविक अना और नष्टार्तव की चिकित्सा करने की कोई आवश्यक नहीं है। वैकारिक अनार्तव, जो गर्भाशयादि की स्था अपरिपक्वता से उत्पन्न होता है, अचिकित्स्य है। वैका नष्टार्तव तथा रक्तक्षयादिजनित अनार्तव कारणानुरूप चिकि करने पर प्रायः साध्य होता है। आवृतार्तव कुछ असा और कुछ शस्त्रसाध्य होते हैं। उनमें ओषधि सेवन से भी फायदा नहीं होता। सर्दी से बचना, गरम क पहरना, पौष्टिक पर्याप्त और हलका आहार सेवन कर स्वच्छ हवा में हलका-सा व्यायाम करना, जल्दी सो और अधिक निद्रा लेना, कोष्ठशुद्धि रखना तथा कार नुसार ओषधि सेवन (जैसे, रक्तक्षय में लोह, संखि कुचला इत्यादि) यह आर्तवादर्शन की संक्षिप्त चिकित्सा

क्षीणं प्रागीरितं रक्तं सलक्षणचिकित्सितम्।
तथाऽप्यत्र विधातव्यं विधानं नष्टरक्तवत्॥२

(क्षीणार्तव—) लक्षण और चिकित्सा के साथ आर्तव पहिले कहा गया है। तो भी क्षीणार्तव में नष्ट के समान विधि (आचरण) करनी चाहिए॥२३॥

वक्तव्य—क्षीणं रक्तम्—क्षीणार्तव। इसको आलि मेनोह्रिआ (Oligomenorrhoea) कहते हैं। प्राक्— धातुमलक्षयवृद्धिविज्ञानीय नामक सूत्रस्थान के १५वें अ में (प्रथमखण्ड पृष्ठ ९१ देखो)। सलक्षणचिकित्सित आर्तवक्षये यथोचितकालादर्शनमल्पता वा योनिवेदना च। संशोधनमाग्नेयानां च द्रव्याणां विधिवदुपयोगः। नष्टरक्त नष्टार्तव के समान। क्षीणार्तव और नष्टार्तव वास्त दो स्वतन्त्र लक्षण नहीं हैं, एक ही लक्षण के तरतमा दो भेद हैं। जिन विकारों से नष्टार्तव उत्पन्न होता उनमें आर्तव पूर्णतया बंद होने के पूर्व कुछ महीनों अल्पराशि में और अनियमित काल में आया करत तथा जिन विकारों से क्षीणार्तव उत्पन्न होता है, विकार अधिक तीव्र और गंभीर होने पर नष्टार्तव कर सकते हैं। यह कथन रक्तक्षयादि शरीरशोषक दौर्बल्यकर विकारों के लिए विशेष लागू है, और वै नष्टार्तव के ये कारण क्षीणार्तव के भी प्रायिक कारण हैं। इसलिए नष्टार्तव के समान क्षीणार्तव की चि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...ने के लिए जो लिखा है, वह कथन रोगसंप्राप्ति की ...ष्टि से ठीक है—The mode of onset of amenorrhoea ...e to anaemia is different; there is a history of gradual diminution in quantity of the menstrual ...ow which becomes very scanty before disap...aring altogether; in addition, there is often ...story of irregularity extending over several ...onths or years. *Bland-Sutton and Giles. ...iseases of women.*

एवमदुष्टशुक्रः शुद्धार्तवा च ॥२४॥

इस प्रकार दोषविरहित शुक्रयुक्त (पुरुष) और शुद्ध ...र्तवयुक्त (स्त्री होती है) ॥२४॥

वक्तव्य—एवम्—ऊपर 'स्फटिकाभं द्रवम्' इत्यादि ...णयुक्त शुक्रवान् पुरुष अदुष्टशुक्र और 'शशासृक्प्रतिमम्' ...त्यादि लक्षणयुक्त आर्तव वाली स्त्री शुद्धार्तवा होती है; ...था यदि दुष्टशुक्र पुरुष और अशुद्धार्तवा स्त्री हो तो ऊपर ...नुसार जो चिकित्सा वर्णन की गई है, उसका अनु...लन करने से वे अदुष्टशुक्र और शुद्धार्तव हो जाते हैं।

ऋतौ प्रथमदिवसात् प्रभृति ब्रह्मचारिणी दिवा-...ञ्जनाश्रुपातस्नानानुलेपनाभ्यङ्गनखच्छेदनप्रधा-...हसनकथनातिशब्दश्रवणावलेखनानिलायासान् ...रहरेत्। किं कारणं? दिवा स्वपन्त्याः स्वापशी-..., अञ्जनादन्धः, रोदनाद्विकृतदृष्टिः, स्नानानुले-...दुःखशीलः, तैलाभ्यङ्गात् कुष्ठी, नखापकर्तनात् ...नखी, प्रधावनाच्चञ्चलः, हसनाच्छ्यावदन्तौष्ठ-...लुजिह्वः, प्रलापी चातिकथनात्, अतिशब्दश्रव-...द्बधिरः, अवलेखनात् खलतिः, मारुतायाससेव-...दुन्मत्तो गर्भो भवतीत्येवमेतान् परिहरेत् ॥२५॥

दर्भसंस्तरशायिनीं करतलशरावपर्णान्यतमभो-...नीं हविष्यं, त्र्यहं च भर्तुः संरक्षेत्। ततः शुद्ध-...तां चतुर्थेऽहन्यहतवासां समलङ्कृतां कृतमङ्गल-...स्तिवाचनां भर्तारं दर्शयेत्। तत् कस्य ...तोः? ॥२६॥

...वं पश्येदृतुस्नाता यादृशं नरमङ्गना। ...दृशं जनयेत् पुत्रं भर्तारं दर्शयेदतः ॥२७॥

(ऋतुमती चर्या—) ऋतुकाल में प्रथम दिन से ही ...चारिणी स्त्री दिन में सोना, (आँखों में) अञ्जन ...ना, (रोकर) आँसू गिराना, स्नान करना, (चन्दनादि ...भी द्रव्यों का शरीर पर) अनुलेपन करना, (तैल का) ...ङ्ग, नखों को काटना, तेजी से दौड़ना, हँसना, (बहुत) ...ना, अतिशब्दों को सुनना, केशप्रसाधन करना, ...के झपाटे की) वायु का सेवन और परिश्रम—इनको ...दे। (उपर्युक्त दिवास्वप्नादि को छोड़ने का) क्या ...ण है? दिन में सोने वाली का गर्भ निद्रालु, अञ्जन से अन्धा, रोने से विकृत दृष्टि का, स्नान और अनुलेपन से दुःखशील (चिड़चिड़े स्वभाव का, तुनुकमिज़ाज), तैल के अभ्यङ्ग से कुष्ठी (त्वचा के रोगों से युक्त), नख काटने से कुनखी, तेजी से दौड़ने से चञ्चल, हँसने से श्यामवर्ण के दाँत, ओष्ठ, तालु और जिह्वा वाला, अति बोलने से बहुत बोलने वाला, अतिशब्द सुनने से बहरा, अवलेखन से गंजा, वायु और परिश्रम के सेवन से उन्मत्त होता है। इसलिए इस प्रकार की क्रियाओं को त्याग दे ॥२५॥ दर्भशयन पर सोने वाली, हथेली मृत्पात्र (मिट्टी की थाली) और पत्तल इनमें से एक पर हविष्य भोजन करने वाली (उस स्त्री) को तीन दिन तक पति से निवारण करे। फिर चौथे दिन शुद्धस्नात, नवीन वस्त्रयुक्त, (आभूषणों से तथा पुष्पों की मालाओं से) समलंकृत, मंगलाचरण और स्वस्तिवाचन किये हुए (उस स्त्री) को पति को दिखावे। यह किस लिए (किया जाता है)? ॥२६॥ ऋतुस्नाता स्त्री जिस प्रकार के पुरुष को प्रथम देखती है, उस प्रकार के अपत्य को जन्म देती है। इसलिए भर्ता को दिखावे ॥२७॥

वक्तव्य—ऋतु—इसका विवरण तीसरे अध्याय के पाँचवें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है, उसको देखो। ब्रह्मचारिणी—आहार-विहार में ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन करने वाली और विशेष करके 'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्' इत्यादि अष्टविध मैथुन से पराङ्मुख। अतिशब्द—अतिशय ऊँचे, कर्कश, भयावने तथा अन्य प्रकार के कर्णकटु शब्द। इससे अधिक समय तक सुनने का भी अर्थ हो सकता है। अवलेखन—कङ्कतिकादिना केशसंमार्जनम्। (डल्हण)। कंघी आदि के द्वारा बालों का प्रसाधन करना। कुनख—रूखा, काला और खुरदरा नख कुनख कहलाता है—अभिघातात् प्रदुष्टो यो नखो रूक्षोऽसितः खरः। भवेत्तं कुनखं विद्यात् कुलीनमिति संज्ञितम् ॥ उन्मत्त—इस शब्द से यहाँ पागलपन (Insanity या Madness) अभिप्रेत नहीं है परन्तु शीघ्रकोपी, उग्र, अविचारी या तेजमिजाज; इतना ही इसका अर्थ परिमित है। गर्भ—उपर्युक्त कर्म ऋतुकाल में करने वाली स्त्री उसी काल में गर्भवती होने पर उससे होने वाली सन्तान अर्थात् कन्या या पुत्र। हविष्यम्—हविषे हितं यत्। अग्नि में आहुति देने योग्य अन्न—हविष्यं श्राद्धहविर्योग्यं व्रीहिशालियवगोधूममुद्गमाषमुन्यन्न-(नीवारकादि)कालशाकमहाशल्कैलाशुण्ठीमरीचहिङ्गुगुडशर्करा-कर्पूरसैन्धवसांभरपनसनालिकेरकदलीबदरगव्यपयोदधिघृतपायसमधु-मांसप्रभृति वेदितव्यम्। हविष्यमित्यनेनैवायोग्यस्य कोद्रवमसूर-चणककुलित्थपुलाकनिष्पावराजमाषकूष्माण्डवृन्ताकबृहतीद्वयोपोदकी-वंशाङ्कुरापिप्पलीवचाशतपुष्पौषधिबिडलवणमाहिषचामरक्षीरदधिघृत-पायसादीनां निवृत्तिः ॥ (विज्ञानेश्वर, याज्ञवल्क्यस्मृति १।२४०)। वाग्भटाचार्य के अनुसार कोष्ठशोधन और कर्षण के लिए क्षीरसिद्ध यवान्न अल्पमात्रा में स्त्री को दिया जाता है, और तीक्ष्णोष्ण अन्न वर्ज्य किया जाता है—क्षैरेयं यावकं स्तोकं कोष्ठशोधनकर्षणम्। पर्णे शरावे हस्ते वा भुञ्जीत ब्रह्मचारिणी ॥ (अष्टांगहृदय, शारीर १)। यावकं पयसा सिद्धमल्पं कर्शनार्थं मश्नीयात्। तीक्ष्णोष्णाम्ललवणानि च वर्जयेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शारीर १)। अल्पमात्रा में भोजन देकर कर्शन करने का उद्देश्य यह मालूम होता है कि गर्भधारणा निश्चिति से हो जाय। माता की कृशता या पुष्टता का संबंध गर्भधारणा के साथ होता है, यह तत्त्व आधुनिक विज्ञान को मान्य हो गया है (३ अध्याय के ५ सूत्र का वक्तव्य देखो), परंतु यह संबंध किस प्रकार से होता है, इसका ठीक ठीक ज्ञान अभी तक नहीं हुआ है। गौ, भैंस इत्यादि जानवरों में मनुष्यों के समान मासिक आर्तवस्राव न होकर गर्भधारणा का समय होता है। इस अवस्था को रताना या गरमाना (Rut, Oestrus) कहते हैं। इस समय में मर्द दिखाने से उनमें गर्भधारणा प्रायः हो जाती है। जब नहीं होती तब फिर से वे गरमाती हैं। उस समय दो तीन दिन खाने पीने को कम देने के पश्चात् यदि मर्द दिखाया जाय तो वे निश्चिति से गर्भधारणा करती हैं, यह अनुभव की बात है। याज्ञवल्क्य-स्मृति में क्षामता या कर्शन पुत्रोत्पादक माना गया है—एवं गच्छन् स्त्रियं क्षामां मघां मूलं च वर्जयेत्। सुस्थ इन्दौ सकृत् पुत्रं लक्षण्यं जनयेत् पुमान् ॥१।८०॥ इस पर विज्ञानेश्वर लिखते हैं—क्षामता च तस्मिन् काले रजस्वलात्वतेनैव भवति। अथ चेन्न भवति तदा कर्तव्या क्षामता पुत्रोत्पत्त्यर्थमल्पाऽस्निग्ध-भोजनादिना। (मिताक्षरा)। उष्ण और तीक्ष्ण अन्न का निषेध इसलिए किया है कि उनसे गर्भाशय में रक्ताधिक्य (Congestion) होकर आर्तवस्राव बढ़ता है। इसके कारण गर्भ का अवस्थान गर्भाशय में नहीं हो सकता। शुद्धस्नाता—शुद्धा जीर्णशोणितापगमेन, अनन्तरं स्नाता। (डल्हण)। स्त्री की शुद्धि स्नान पर नहीं है, आर्तवस्राव बंद होने पर है—नवे तनौ च संजाते विगते जीर्णशोणिते। नारी भवति संशुद्धा पुंसा संसृज्यते तदा ॥ अर्थात् शुद्धि से यहाँ गर्भाशयशुद्धि समझनी चाहिए। आर्तवस्राव बंद होने पर बाह्यदोष को दूर करने के लिए स्नान किया जाता है। अतः शुद्धस्नातां का अर्थ 'जीर्णशोणितापगमेनान्तःशुद्धां स्नानेन बहिःशुद्धां स्त्रीम्' होता है। चतुर्थेऽहनि—चौथे दिन का निर्देश इसलिए किया है कि प्रायः उस दिन स्राव बंद हो जाता है, परंतु चौथे दिन भी रजोयुक्ता होने वाली बहुत सी स्त्रियाँ होती हैं। इसलिए स्मृतिग्रंथों में प्रथम चार दिन समागम के लिए निषिद्ध बतलाये हैं—तासामाद्या चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या। त्रयोदशी च, शेषास्तु प्रशस्ता दशरात्रयः॥ (मनुस्मृति ३।४७)। षोडशर्तु निशाः स्त्रीणां तस्मिन्युग्मासु संविशेत्। ब्रह्मचार्येव पर्वाण्याद्याश्चतस्रस्तु वर्जयेत् ॥ (याज्ञवल्क्य-स्मृति १।७९)। रजस्युपरते साध्वी स्नानेन स्त्री रजस्वला। (मनुस्मृति ५।६६)। साध्वान्नारा न तावत्स्याद्रजो यावत्प्रवर्तते। रजोनिवृत्तौ गम्या स्त्री गृहकर्मणि चैव हि॥ (पाराशरस्मृति)। स्नानं रजस्वलायास्तु चतुर्थेऽहनि शस्यते। गम्या निवृत्ते रजसि नानिवृत्ते, कथंचन ॥ (आपस्तम्बस्मृति)। धर्मशास्त्र के अनुसार रजस्वला स्त्री सहवास के लिए जैसे अयोग्य होती है, वैसे ही गृहकर्म के लिए भी अयोग्य मानी गई है (ऊपर पाराशरस्मृति का वचन और मनु का पाँचवें अध्याय का वचन देखो), मनु के इस वचन पर विज्ञानेश्वर लिखते हैं—रजसि निःसरणादुपरते निवृत्ते रजस्वला स्त्री स्नानेन साध्वी दैवादिकर्मयोग्या भवति। स्पर्शनादिविषये पुनरनुप[रते] रजसि चतुर्थेऽहनि स्नानाच्छुद्धा भवति। तदुक्तं वृद्धमनु[ना] 'चतुर्थेऽहनि संशुद्धा भवति व्यावहारिकी' इति। तथा स्मृत्यन्तरे शुद्धा भर्तुश्चतुर्थेऽह्नि स्नानेन स्त्री रजस्वला। दैवे कर्मणि पि[त्र्ये च] पञ्चमेऽहनि शुद्ध्यति ॥ इसका मतलब यह होता है कि [रज]स्वला स्त्री तीन दिन तक अस्पृश्य भी होती है। धर्म[शास्त्र] के इस आदेश के अनुसार भारतवर्ष में रजस्वला स्त्रि[यों को] सब गृहकर्मों से दूर रखने का रिवाज है। पाश्चात्य दे[शों में] भी प्राचीन काल में इस प्रकार का कुछ रिवाज था। [इस] रिवाज की जड़ खोजने की इच्छा कुछ पाश्चात्य वैज्ञा[निकों] को हुई और अन्वेषण करने पर उनको यह मालूम [हुआ] कि रजस्वला स्त्री के रक्त में रजोविष (Menstrual to[xin]) होता है जो स्वेद, दूध इत्यादि के द्वारा उत्सर्गित होता [है।] यदि रजस्वला स्त्री के हाथ में फूल दिया जाय तो वह [फूल] रजोनिवृत्त स्त्री की हथेली में दिये हुए फूल की [अपेक्षा] जल्दी मुरझाता है। स्त्री के दूध में भी यह विष नि[कलता] है और बच्चे को कुछ तकलीफ देता है। प्रसूति के पश्चा[त् दूध] पिलाने के काल में स्त्रियों में स्वाभाविक नष्टार्तव होता [है।] उसके अनेक कारणों में यह भी एक स्वाभाविक कारण हो[गा]। मार्शल अपनी पुस्तक में लिखते हैं—In suppo[rt of] this contention Macht and Lorbin have rec[ently] obtained evidence of the existence in the [blood] of a menstrual toxin, which exudes in the s[weat] and other secretions and has deleterious eff[ects on] living plant tissues. Thus they state th[at a] flower held in the hand of a menstruating wo[man] will wither more rapidly than otherwise, o[wing] to the action of this toxic substance which i[s not] present excepting at this stage in the cycle. [The] menstrual toxin is believed to affect the mi[lk of] lactating women, children sucking at such [times] being liable to slight digestive disturbances. [Intro]*duction to sexual Physiology*. इससे यह स्पष्ट [है कि] रजस्वला स्त्री को गृहकर्मों से निवृत्त रखने के प्राचीन [रिवाज] में कुछ तथ्य है और आजकल दूसरे की देखादेखी [इस] रिवाज को तोड़ने का जो रिवाज जारी हो रहा है [वह] प्रशंसनीय नहीं है। अहतवासा—नवीन अथवा [धुला हुआ] शुभ्र वस्त्र पहनी हुई—शुक्लमाल्याम्बरा। (अष्टांगसंग्रह)। समलंकृता—सुगन्धी द्रव्य, पुष्प, गहने इत्यादि से विभू[षित]। अलङ्कारः कटकादिः पुष्पादिर्वा। अलङ्क्रियते भूष्यते शरीरमें[न इति] कृत्वा गन्धमाल्यस्यापि अलङ्कारत्वम्। (अरुणदत्त)। पूर्वं [ऋ]तुस्नाता—ऋतुस्नाता स्त्री में कामेच्छा अधिक होने के [कारण] वह पुरुष के साथ समागम करने के लिए बहुत [उत्सुक] होती है। उस समय जिस प्रकार के पुरु[ष को] देखती है, या जिसके रूपगुणादि का चिन्तन [करती] है, उस प्रकार की सन्तान उत्पन्न कर सकती [है], यदि उस चिन्तनातुर अवस्था में पुरुष-समागम [होकर] उसमें गर्भधारण हो जाय। न केवल चिन्तन परंतु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार की संतान चाहती है, उस प्रकार के पुरुष का आहार-विहार सेवन करने के लिए चरक में लिखा है—या या च यथाविधं पुत्रमाशासीत तस्यास्तस्यास्तां तां पुत्राशिषमनुनिशम्य तांस्ताञ्जनपदान् मनसाऽनुपरिक्रामयेत्। ततो या या येषां येषां जनपदानां मनुष्याणामनुरूपं पुत्रमाशासीत सा सा तेषां तेषां जनपदानां मनुष्याणामाहारविहारोपचारपरिच्छदाननुविधत्स्वेति वाच्या स्यात्। (शारीर ८।१४)। अपनी विशेष इच्छानुसार संतान उत्पन्न होने के लिए तदनुरूप चिन्तन नितान्त आवश्यक है। यह चिन्तन तब हो सकता है, जब मन के सामने बुद्धीन्द्रियों द्वारा तदनुरूप सामग्री रक्खी जाय। बुद्धीन्द्रियों में से नेत्र के द्वारा मन पर किये हुए संस्कार का जितना स्थायी परिणाम होता है, उतना दूसरे इन्द्रिय के द्वारा कृत संस्कार का नहीं होता। इसलिए यहाँ दर्शन का ही निर्देश किया गया है। इस प्राधान्य के सिवा दर्शन यहाँ एक उपलक्षण के तौर पर प्रयुक्त हुआ है और उससे स्पर्शन, श्रवण इत्यादि का बोध होता है। ऋतुकाल में स्त्री के शरीर में आर्तव या बीज (Ovum) उत्पन्न होता है और उस समय स्त्री जिस प्रकार के चिन्तन में मग्न रहती है, उस प्रकार का परिणाम उसके बीज पर होकर उसी प्रकार की सन्तान उत्पन्न होती है, यह 'पूर्वं पश्येत्' उस अध्यर्ध श्लोकार्ध का तात्पर्य है। भर्तारं दर्शयेदतः—उपाध्यायो वैद्यो वा इति शेषः। अर्थात् उपाध्याय या वैद्य घर के लोगों को इस प्रकार की सूचना दे कि स्नान होने के पश्चात् स्त्री को सर्वप्रथम पति का दर्शन करावे। पतिव्रता स्त्री के लिए पति परम-दैवत होता है—दुःशीलः कामवृत्तो वा धनैर्वा परिवर्जितः। स्त्रीणामार्यस्वभावानां परमं दैवतं पतिः॥ (रामायण)। पति के अनुसार सन्तान होने में एक प्रकार का औचित्य है, इसलिए पति को उसी का दर्शन प्रथम कराने के लिए लिखा है। किन्तु केवल दर्शन से काम नहीं होता है, दर्शन के समय अनन्य मन होकर जब उसी का चिंतन किया जाता है, तब चिंतनानुरूप सन्तान हो सकती है—भर्तारं पश्येदनन्यमनाः। या हि यादृशमेव पश्यति चिन्तयति वा तादृशं प्रसूत इति। (अष्टांगसंग्रह)। अर्थात् जब पतिसदृश सन्तान की इच्छा हो, तब पतिदर्शन की औपचारिक विधि आवश्यक है—इच्छन्ती भर्तृसदृशं पुत्रं पश्येत् पुरः पतिम्। (अष्टाङ्गहृदय)। पुत्र से यहाँ केवल सन्तान का ही अर्थ होता है—पुत्रशब्दोऽपत्यमात्रोपलक्षणार्थोऽत्र। (अरुणदत्त)। परंतु पति के समान होने में सार्थकता नहीं है, उत्तम पुत्र होने में सार्थकता है, इसलिए चरकसंहिता में पतिदर्शन की विधि का निर्देश नहीं किया है और जिस प्रकार के पुत्र की इच्छा हो, उस प्रकार के रूपचरितादि का चिन्तन करने के लिए लिखा है (ऊपर 'या या च यथाविधं पुत्रमाशासीत' इत्यादि देखो)—पश्येतां यादृशं पुत्रं तद्रूपचरितांश्च तौ। चिन्तयेतां जनपदांस्तदाचारपरिच्छदौ॥ (अष्टांगहृदय)। ऊपर सूत्र पच्चीस में ऋतुकाली स्त्री के विशेष प्रकार के आचारों से विशेष प्रकार के परिणाम बतलाये गये हैं। इनका आपस में कार्यकारण संबंध कहाँ तक सत्य या संभवनीय है, इसका निर्णय करना बहुत कठिन है। अंध, बधिर, विकृतदृष्टि, चञ्चल, उन्मत्त इत्यादि कई प्रकार के बालक जब दिखाई देते हैं तब इन विविध कार्यों के कुछ कारण जरूर होने चाहिएँ। आयुर्वेदानुसार इनकी उपपत्ति निम्न प्रकार की हो सकती है। मनुष्यों का बीज (शुक्राणु या आर्तव) अत्यन्त सूक्ष्म होने पर भी उसमें शरीर के सब अंग-प्रत्यंग व्यवस्थित रूप से प्रतिरूपित होते हैं—मनुष्यबीजं हि प्रत्यंगबीजभागसमुदायात्मकं स्वसदृशप्रत्यंगसमुदायरूपपुरुषजनकम्। (चक्रपाणिदत्त)। इस बीज में शरीर के जिस अंग का भाग उपतप्त होता है, वह गर्भ का भाग विकृत हो जाता है—यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति, तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते, नोपजायते चानुपतापात्। (चरक, शा० ३)। ऋतुकाल में तीव्र कटु शब्दों को अधिक सुनना, रोना इत्यादि से कुपित हुए दोषों के कारण यदि बीजगत कान, आँख इत्यादि के भाग उपतप्त हो जायँ तो संभव है कि उस बीज से उत्पन्न होने वाले बालक में इन अंगों की कुछ विकृति हो सके। अथवा हँसना, रोना, ज्यादा बकबक करना इत्यादि कर्मों के समय स्त्री के मन की या स्थिति या विचारों की बनावट जिस प्रकार की होती है, उसी का परिणाम ऋतुकाल के समय पूर्ण पक्व हुए स्त्री के बीज पर होकर उसी के अनुसार उससे उत्पन्न हुए बच्चे की आकृति, प्रकृति और स्वभाव इत्यादि बनते हैं। माता पिता की मनःस्थिति का परिणाम बालक पर होता है, यह बात सर्वसम्मत है—An impression upon the mother of any kind acts upon the child. *Esoteric Anthropology.* माता की मनःस्थिति का बालक पर परिणाम होने के तीन काल होते हैं। (१) माता के जिस बीज से बालक उत्पन्न होता है, उस बीज के सुपक्व होने का काल अर्थात् ऋतुकाल। इस काल में स्त्री को भावी सन्तान सर्व प्रकार से उत्तम हो, इस दृष्टि से कैसे रहना चाहिए, इसका वर्णन यहाँ किया गया है। (२) गर्भधारणा से गर्भजन्म के समय तक का याने स्त्री का सगर्भावस्था का काल। इस काल के रहन-सहन का विचार ३ अध्याय के १६वें सूत्र में और १०वें अध्याय के दूसरे सूत्र में किया गया है। (३) जन्म के पश्चात् जब तक बालक माता का दूध पीता है, तब तक का काल। इस काल के रहन-सहन का विचार भी १०वें अध्याय के ३२वें सूत्र में किया गया है। इन तीनों कालों में से द्वितीय काल के रहन-सहन का परिणाम प्रथम और तृतीय की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है, इसमें सन्देह नहीं है, परन्तु प्रथम काल की मनःस्थिति का परिणाम जरूर हो सकता है और इसी सम्भवोपपत्ति की दृष्टि से २५वें सूत्र का अर्थ समझना चाहिए। उपर्युक्त कार्यों में से एकआध काम करने पर बालक उस कर्म के लिए बतलाये हुए परिणाम से पीड़ित होना चाहिए, यह कोई आवश्यक नहीं है क्योंकि बालक की आकृति और प्रकृति की बनावट के असंख्य कारण होते हैं, जिनका अभी तक ठीक ठीक ज्ञान नहीं हुआ है।

ततो विधानं पुत्रीयमुपाध्यायः समाचरेत्।
कर्मान्ते च क्रमं ह्येनमारभेत विचक्षणः॥२८॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(पुत्रीयविधि—) पश्चात् उपाध्याय पुत्रीय विधान का संस्कार करे । और (पुत्रीय) कर्म के अन्त में बुद्धिमान् (पति) इस (निम्नलिखित) क्रम को प्रारम्भ करे ॥२८॥

वक्तव्य—ततः—स्त्री का स्नान और पतिदर्शन होने के पश्चात् । स्त्री के साथ दस रोज पुरुष का उत्सादनयुक्त स्नान, शुभ्रवस्त्रपरिधान यह कर्म होना चाहिए—चतुर्थेऽहन्येनामुत्साद्य सशिरस्कं स्नापयित्वा शुक्लानि वासांस्याच्छादयेत् पुरुषं च । (चरक) । पुत्रीयविधानम्—पुत्रकामेष्टि यज्ञ । इसका वर्णन चरक शारीर के ८वें अध्याय में निम्न प्रकार से किया है—तत ऋत्विक् प्रागुत्तरस्यां दिश्यगारस्य प्राक्प्रवणमुदक्प्रवणं वा प्रदेशमभिसमीक्ष्य गोमयोदकाभ्यां स्थण्डिलमुपलिप्य प्रोक्ष्य चोदकेन वेदीमस्मिन् स्थापयेत् । तां पश्चिमेनाहतवस्त्रसंचये श्वेतार्षभे वाऽप्यजिन उपविशेद् ब्राह्मणप्रयुक्तः, राजन्यप्रयुक्तस्तु वैयाघ्रे चर्मण्यानडुहे वा, वैश्यप्रयुक्तस्तु रौरवे बास्ते वा । तत्रोपविष्टः पालाशीभिरैङ्गुदीभिरौदुम्बरीभिर्माधूकीभिर्वा समिद्भिरग्निमुपसमाधाय कुशैः परिस्तीर्य परिधिभिश्च परिधाय लाजैः शुक्लाभिश्च गन्धवतीभिः सुमनोभिरुपकिरेत् । तत्र प्रणीयोदपात्रं पवित्रपूतमुपसंस्कृत्य सर्पिराज्यार्थं यथोक्तवर्णानाजानेयादीन् समन्ततः स्थापयेत् ॥ ततः पुत्रकामा पश्चिमतोऽग्निं दक्षिणतो ब्राह्मणमुपविश्यान्वालभेत सह भर्त्रा यथेष्टं पुत्रमाशासाना। ततस्तस्या आशासानाया ऋत्विक् प्रजापतिमभिनिर्दिश्य योनौ तस्याः कामपरिपूरणार्थं काम्यामिष्टिं निर्वर्तयेद्विष्णुर्योनिं कल्पयत्वित्यनयर्चा। ततश्चैवाज्येन स्थालीपाकमभिघार्य त्रिर्जुहुयाद्यथाम्नायम् । मन्त्रोपमन्त्रितमुदपात्रं तस्यै दद्यात् सर्वोदकार्थान् कुरुष्वेति । ततः समाप्ते कर्मणि पूर्वं दक्षिणपादमभिहरन्ती प्रदक्षिणमग्निमनुपरिक्रामेत् सह भर्त्रा । ततो ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयित्वाऽऽज्यशेषं प्राश्नीयात् पूर्वं पुमान् पश्चात् स्त्री; न चोच्छिष्टमवशेषयेत् ॥ यह पुत्रीय होम केवल त्रैवर्णिकों के लिए है; शूद्रों के लिए केवल नमस्कार होता है—शूद्रा तु नमस्कारमेव कुर्यात् (देवाग्निद्विजगुरुतपस्विसिद्धेभ्यः)। (चरक, शारीर० ८)। यह पुत्रीय विधि केवल पुत्र के लिए नहीं, दुहिता के लिए भी हो सकती है। यहाँ विधान में पुत्रकामा शब्द का जो प्रयोग किया गया है, उससे अपत्य अभिप्रेत है । समाचरेत्—संस्कारमाचरेत् । कर्मान्ते—पुत्रकामेष्टि यज्ञ समाप्त होने पर । विचक्षणः—भर्ता जो गर्भाधान के आहाराचार विहार इत्यादि के सम्बन्ध में काफी परिचित हो ।

ततोऽपराह्णे पुमान् मासं ब्रह्मचारी सर्पिःस्निग्धः सर्पिःक्षीराभ्यां शाल्योदनं भुक्त्वा मासं ब्रह्मचारिणीं तैलस्निग्धां तैलमाषोत्तराहारां नारीमुपेयाद्रात्रौ सामादिभिरभिविश्वास्य; विकल्प्यैवं चतुर्थ्यां षष्ठ्यामष्टम्यां दशम्यां द्वादश्यां चोपेयादिति पुत्रकामः ॥२९॥

एषूत्तरोत्तरं विद्यादायुरारोग्यमेव च ।
प्रजासौभाग्यमैश्वर्यं बलं च दिवसेषु वै ॥३०॥

अतः परं पञ्चम्यां सप्तम्यां नवम्यामेकादश्यां च स्त्रीकामः; त्रयोदशीप्रभृतयो निन्द्याः ॥३१॥

(पुत्रेष्टियज्ञ के पश्चात् कर्म—) फिर (पुत्रेष्टि य दिन) दो पहर में मास तक ब्रह्मचारी, घृतस्निग्ध पुरु और दूध के साथ भात का भोजन करके मास ब्रह्मचारिणी, तैलस्निग्ध, (दो पहर में) तैलमाष आहार सेवन की हुई स्त्री को रात में अनुनय आश्वासन देकर 'पुत्रार्थी (पुरुष) चौथी, छठी, आ दसवीं और बारहवीं (रात) गमन करे' इस नियम को में विचार कर (फिर उससे) सहवास करे ॥२९॥ दिवसों में प्रजा की आयु, आरोग्य, सौंदर्य, ऐश्वर्य और अधिकाधिक समझना चाहिए ॥३०॥ इसके सिवाय पाँ सातवीं, नौवीं और ग्यारहवीं रात्रि में कन्यार्थी (करे); तेरहवीं प्रभृति निंद्य (होती हैं) ॥३१॥

वक्तव्य—मासम्—पुत्रेष्टि कर्म के पूर्व एक महीना इससे यह मालूम होता है कि पुत्रेष्टि कर्म तथा यहाँ किये हुए खाद्यपेयादि नियमों का परिपालन ऋतुमती चर्या के समान स्त्री में गर्भधारणा होने के समय तक मास करने की विधियाँ हैं । ब्रह्मचारी—यहाँ वि दम्पती का ब्रह्मचर्य अभिप्रेत है, अर्थात् ऋतुकाल में दिन छोड़कर बाकी सब दिनों में सहवास करना ब्र कहलाता है—निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु व ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन् ॥ (मनुस्मृति)। निशाः स्त्रीणां तस्मिन्युग्मासु संविशेत् । ब्रह्मचार्येव प श्चतस्रस्तु वर्जयेत् ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति) । युग्मास्विति व समुच्चयार्थम् । अतश्चैकस्मिन्नपि ऋतौ अप्रतिषिद्धासु सर्वासु गच्छेत् । एवं गच्छन्ब्रह्मचार्येव भवति ॥ (विज्ञानेश्वर)। अध्याय के ५ वें सूत्र के वक्तव्य में पुरुष का ब्रह्म देखो । स्त्री के सम्बन्ध में भी ब्रह्मचारिणी का यही करना है । सर्पिःस्निग्धः सर्पिःक्षीराभ्याम्—पुरुष शरी घृत का मर्दन करे और घृतक्षीरप्रधान भोजन सेव क्योंकि 'शुक्रं सौम्यं' होने के कारण शुक्रपोषण के घृतक्षीरादि के समान सौम्य पदार्थ उसको प्रयुक्त चाहिएँ । तैलस्निग्धां तैलमाषोत्तराहाराम्—स्त्री शरीर तैल का मर्दन करे और तैल तथा उड़द जिसमें अ उस प्रकार का भोजन सेवन करे क्योंकि 'आर्तवम होने के कारण उसके पोषण के लिए तैल माषादि के आग्नेय पदार्थ स्त्री के लिए प्रयुक्त करने चाहिएँ । रा रात्रिग्रहणात् दिवसप्रतिषेधः ॥ (विज्ञानेश्वर)। आयुर्वेद मैथुन के लिए पूर्वरात्र विहित होती है और मध्य प्रभात, संध्याकाल, मध्यदिन निषिद्ध होते हैं— पर्वस्वगम्यां च नोपेयात् प्रमदां नरः । गोसर्गे चार्धरात्रे मध्यन्दिनेषु च ॥ (सुश्रुत) । सामादिभिरभिविश्वास्य— साथ मैथुन करने के पूर्व उसको सामादि से उभारना से विश्वास उत्पन्न करना, लज्जा दूर करना इत्यादि कर्म आवश्यक होते हैं । विशेषतः शुरू शुरू में जब पुरुष मिलते हैं, तब सामादि की बड़ी जरूरत होती स्त्री में प्रेम उत्पन्न होने के पूर्व और लज्जा दूर होने उसके साथ मैथुन करना एक प्रकार का बला समझना चाहिए । सामादि में कामोत्तेजक परिहास

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मक बातें करना; गाल, स्तन, चूतड़, गुह्यांग इत्यादि पर हाथ करना या इन स्थानों को गुदगुदाना, चुम्बन करना, आलिङ्गन करना, खुशबूदार तेलों का, पुष्पों का, उबटनों का प्रयोग, ताम्बूल सेवन इत्यादि कायिक और मानसिक अनुनयात्मक कर्मों का समावेश होता है—रत्यर्थं सव्येन ाहुनानुद्धतः परिष्वङ्गः। पूर्वप्रकरणसम्बद्धैः परिहासानुरागैर्वचोभि- नुवृत्तिः। गूढाश्लीलानां च वस्तूनां समस्यया परिभाषणम्। नृत्तम्, अनृत्तं वा गीतं वादित्रम्। कलासु संकथाः। विजने च यथोक्तै- ालिङ्गनादिभिरेनामुद्धर्षयेत्। ततो नीवीविश्लेपादियथोक्तमुपक्र- ेत्। कुसुमसधर्माणो हि योषितः सुकुमारोपक्रमाः। तास्त्वनधिगत- श्वासैः प्रसभमुपक्रम्यमाणाः सम्प्रयोगद्वेषिण्यो भवन्ति। स्मात् साम्नैवोपचरेत्॥ (वात्स्यायनकामसूत्र)। किंवा छान्दोग्योपनिषद में मैथुन के हिङ्कारादि जो वर्णन किये ं, उनके द्वारा स्त्री को आश्वासित करके—उपमन्त्रयते हिंकारः। ज्ञपयते स प्रस्तावः। स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः। ति स्त्रीं सह शेते स प्रतिहारः। कालं गच्छति तन्निधनम्। रं गच्छति तन्निधनम्। एतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम्॥ (छांदोग्यो- निषद् २।१३)। विकल्पयेवम्—पुत्रार्थी अमुक दिनों में हवास करे, कन्यार्थी अमुक दिनों में सहवास करे; इस द्यकोक्त या धर्मशास्त्रोक्त (युग्मासु पुत्रा जायन्ते, स्त्रियोऽ- ग्मासु रात्रिषु। तस्माद्युग्मासु पुत्रार्थी संविशेदार्तवे स्त्रियम्॥ नुस्मृति) नियम का स्मरण रखकर उसके अनुसार पने मन का निश्चय कर। एषु दिवसेषु—दिवस से यहाँ रात्रि भिप्रेत है, अर्थात् इन दिवसों के रात में स्त्री से सहवास रने पर उत्पन्न हुए प्रजा का आयुरारोग्य इत्यादि। तरोत्तर—चौथी रात में सहवास करने पर उत्पन्न हुए त्र के आयुरारोग्यादि से छठी रात में सहवास करने से त्पन्न हुए पुत्र का आयुरारोग्य अधिक होता है, इस तरह धिकाधिक होते होते बारहवीं रात में सहवास से उत्पन्न त्र का आयुरारोग्य सब से अधिक होता है। कन्या के बंध में भी यही नियम होता है। प्रजासौभाग्यम्—प्रजायाः यायाः पुत्रस्य वा सौभाग्यं सौन्दर्यम्। प्रजा का संबंध ायुरारोग्यादि सब के साथ है। अष्टांगसंग्रह में स्पष्ट लिखा —तासूत्तरोत्तरमायुरारोग्यैश्वर्यसौभाग्यबलवर्णेन्द्रियसम्पदपत्यस्य ति॥ अतः परं तूत्तरोत्तरमेवायुरादीनां ह्रासः॥ स्त्रीकामः— या और पुत्र की उत्पत्ति के संबंध में आगे तीसरे अध्याय ५वें सूत्र में विवरण किया गया है। त्रयोदशीप्रभृतयः— हवीं तथा आदि की तीन रात्रियाँ सुश्रुतमतानुसार न्दित हैं। मनु के अनुसार प्रथम चार, ग्यारहवीं और हवीं निंदित हैं—तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या। ोदशी च, शेषास्तु प्रशस्ता दश रात्रयः॥ (मनुस्मृति)। ष्टांगहृदयानुसार प्रथम तीन और ग्यारहवीं निंद्य हैं— िस्तिस्रश्च निन्दिताः। एकादशी च॥ अष्टांगसंग्रह के अनुसार म तीन एकादशी और त्रयोदशी निंद्य हैं—एकादशी- ोदश्योस्तु नपुंसकं स्यात्। याज्ञवल्क्य के अनुसार केवल म चार निंद्य और बाकी दिन अमावास्या, पौर्णिमा, ुर्दशी और अष्टमी को छोड़कर प्रशस्त होते हैं— ण्याद्याश्चतस्रस्तु वर्जयेत्। (याज्ञवल्क्यस्मृति)। इस तरह धर्मशास्त्र और वैद्यक के विविध ग्रंथकारों में कई मतभेद मिलते हैं।

तत्र प्रथमे दिवसे ऋतुमत्यां मैथुनगमनायुष्यं पुंसां भवति, यश्च तत्राधीयते गर्भः स प्रसवमानो विमुच्यते; द्वितीयेऽप्येवं सूतिकागृहे वा; तृतीयेऽप्येवमसंपूर्णाङ्गोऽल्पायुर्वा भवति; चतुर्थे तु संपूर्णाङ्गो दीर्घायुश्च भवति। न च प्रवर्तमाने रक्ते बीजं प्रविष्टं गुणकरं भवति यथा नद्यां प्रतिस्रोतः प्लाविद्रव्यं प्रक्षिप्तं प्रतिनिवर्तते नोर्ध्वं गच्छति तद्वदेव द्रष्टव्यम्। तस्मान्नियमवतीं त्रिरात्रं परिहरेत्। अतः परं मासादुपेयात्॥३२॥

(प्रथम त्रिरात्र में स्त्रीसहवास का फल—) इन निन्द्य रात्रियों में से (तत्र) प्रथम दिवस में ऋतुमती के साथ पुरुषों का मैथुनकर्म आयुष्यनाशक होता है, और उस दिन के मैथुन में जो गर्भ स्थापित होता है, वह (नौ महीने के पश्चात्) प्रसव के समय (प्राणों से) विमुक्त हो जाता है (मर जाता है)। दूसरे दिन में भी इसी प्रकार होता है अथवा सूतिकागृह में (बालक मर जाता है)। तीसरे दिन में भी ऐसा ही होता है, किंवा असंपूर्ण अंगयुक्त या अल्पायु होता है। चतुर्थ दिन में तो सर्वांगसंपूर्ण और दीर्घायु होता है। (नीचे की ओर) बहते हुए आर्तवशोणित में प्रविष्ट हुआ (शुक्रगत) बीज गुणकारक नहीं होता; जैसे नदी में प्रवाह के विरुद्ध फेंका हुआ तैरने वाला (लकड़ी कागज के समान हलका) पदार्थ वापस आता है, ऊपर नहीं जाता वैसे ही (ऋतुमती स्त्री के समागम की घटना में) समझना चाहिए। इसलिए (ऋतुमती के) नियमों का आचरण करने वाली स्त्री को (समागम के लिए) त्रिरात्र वर्ज्य करे। उसके बाद महीना भर (यथोचित रात्रियों में) गमन करे॥३२॥

वक्तव्य—ऋतुमत्यां मैथुनगमनम्—रजस्वला स्त्री के साथ मैथुन करने का निषेध वैद्यक तथा धर्मशास्त्र में किया गया है, यहाँ तक कि चौथे दिन भी यदि रजःस्राव होता हो तो उस दिन सहवास का निषेध किया गया है—रजस्वलां प्राप्तवतो नरस्यानियतात्मनः। दृष्ट्यायुस्तेजसो हानिरधर्मश्च ततो भवेत्॥ (सुश्रुत, चि० २४)। रजस्वलामुपसेवमानस्य प्रकुपिता दोषा मेढ्रमागम्य श्वयथुं जनयन्ति तमुपदंशमित्याचक्षते। (सुश्रुत, निदान)। रजस्वलाभिगमनमलक्ष्मीमुखानाम्। (चरक, सूत्र २५)। दीर्घरोगां चिरोत्सृष्टां तथैव च रजस्वलाम्। ईदृशीं प्रमदां मोहाद्यो गच्छेत् कामहर्षतः। ध्वजभङ्गः प्रवर्तते। (चरक, चिकित्सा ३०)। वाग्भट के अनुसार रजस्वलागमन गुह्यरोगों का एक कारण है—दोषाध्युषितसंकीर्णमलिनानुरजःपथाम्॥ (अष्टांगहृदय, उत्तर ३३)। रजसाभिप्लुतां नारीं नरस्य ह्युपगच्छतः। प्रज्ञा तेजो बलं चक्षुरायुश्चैव प्रहीयते॥ (मनुस्मृति ४।४१)। इन वचनों में रजस्वलागमन से होने वाली आपत्तियों का जो वर्णन मिलता है, वह सोलहों आने वास्तविक न होकर रजस्वलागमन निषेध का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महत्त्वसूचक है। तथापि इससे स्त्रियों में श्वेतप्रदर और पुरुषों में सूत्रप्रसेकशोथ (प्रमेह) उत्पन्न होता है, इसको आधुनिक चिकित्सक भी मानते हैं। आधीयते गर्भः—आर्तव-स्राव के दिनों में समागम करने से गर्भधारणा होती है, इसका स्पष्ट निर्देश इस वचन में है। इस काल में समागम करने का रिवाज संसार भर में कहीं नहीं है। आर्तव-स्राव समागम की दृष्टि से भयसूचक चिह्न (Danger signal) माना जाता है। परन्तु विरही कामातुर बहुत काल के बाद मिलने के समय इस लाल झंडे की परवाह न करके समागम करते हैं—कामातुराणां न भयं न लज्जा। कलकत्ते की एक स्त्री के इस प्रकार के समागम से चार सन्तान हुए थे और वे सब तन्दुरुस्त थे। इसलिए यहाँ पर आगे 'प्रतिस्रोतः प्लावि' द्रव्य का जो दृष्टान्त दिया है, वह ऐकान्तिक नहीं मालूम पड़ता। इसका कारण यह है कि नदीप्रवाह के विरुद्ध फेंका हुआ कागज या लकड़ी का टुकड़ा निर्जीव और गतिहीन होने के कारण ऊपर कदापि नहीं जा सकता, परन्तु आर्तवस्राव के विरुद्ध योनि में उत्सर्गित शुक्र का शुक्राणु सजीव और चञ्चल होने के कारण ऊपर गर्भाशय में जा सकता है। ऐसी अवस्था में आर्तवस्राव के विरुद्ध योनि में प्रविष्ट हुए शुक्र की आमतौर से क्या गति हो सकती है उसको स्पष्ट करना यही प्लाविद्रव्यदृष्टान्त का उद्देश्य मालूम पड़ता है। प्रसवमानो विमुच्यते—प्राणैः इति शेषः। प्रसव होने की स्थिति में, गर्भाशय से योनिद्वार के बाहर आने के पूर्व अर्थात् जन्म के समय बालक मृत (Still born) होता है। द्वितीयेऽप्येवम्—पुरुष की आयु का नाश और बालक का मृतावस्था में जन्म ये दोनों घटनाएँ दूसरे दिन समागम करने से होती हैं। सूतिकागृहे वा—सूतिकागृह में जब तक माता का निवास होता है, तब तक। अर्थात् दस रोज के भीतर अथवा अधिक से अधिक डेढ़ से तीन महीनों तक, क्योंकि इतनी अवधि तक माता सूतिका कहलाती है—एवं साध्य-धमासमुपसंस्कृता क्रमेण विमुक्ताहारविहारयन्त्रणा विगतसूतिकाभिधानास्यात्। पुनरार्तवदर्शनादित्येके। (अष्टांगसंग्रह)। तृतीयेऽप्येवम्—पुरुष की आयु का नाश, मृतावस्था में जन्म ये दोनों, तथा सूतिकागृह में मृत्यु ये तीनों घटनाएँ तीसरे दिन के समागम से होती हैं। असम्पूर्णाङ्गः—जिसके शरीर की यथोचित परवरिश नहीं हुई है ऐसा अर्थात् दुर्बल; किंवा जिसके अङ्ग परिपूर्ण नहीं हुए हैं अर्थात् सहज व्यंग (Congenital malformations) युक्त (प्रथम खण्ड पृष्ठ १५०); किंवा अस्वाभाविक विकृत आकार का (Monsters)। आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सकों का कथन है कि ऋतुकाल में समागम करने से इस प्रकार के विकृताकारी गर्भ उत्पन्न होने की अधिक संभावना होती है। गुणकरम्—(१) गर्भाधानकरम्। क्योंकि शुक्र का मुख्य गुण या कर्म गर्भोत्पत्ति है—गर्भोत्पादश्च धातूनां श्रेष्ठं कर्म क्रमात् स्मृतम्। (अष्टाङ्गहृदय, सूत्र ११)। (२) किंवा सुख देना, कुल विस्तार करना, कुल की कीर्ति बढ़ाना, पिता के तीनों ऋणों से मुक्त होना ये अपत्य के गुण हैं—प्रीतिर्बलं सुखं वृत्तिर्विस्तारो विपुलं कुलम्। यशो लोकाः सुखोदर्कास्तुष्टिः संश्रिताः॥ (चरक, चिकित्सा २)। आगे भी ३५वें का वक्तव्य देखो। ये गुण जिस बीज से हुए बालक में होते हैं, वह बीज गुणकर कहलाता। आर्तवकाल के प्रथम तीन दिनों में बोया हुआ बीज अङ्कुरित नहीं होता, या अङ्कुरित होने पर उत्पन्न बालक अल्पायु होने के कारण पिता के ऋण से मुक्त हो सकता। इसलिए लिखा है—न च गुणकरं भवति। बीज का वर्णन आगे ३५वें श्लोक में किया है—एवं रूपवन्तः सत्त्ववन्तश्चिरायुषः। भवन्त्यृणस्य मोक्तारः पुत्रिणो हिताः॥ मासात्—मासादिति 'ऊर्ध्वम्' इति अर्वाग्गमनं तु गर्भद्वारविघट्टनेन स्थितमपि गर्भं च्यावयेत् (डल्हण)। यदि यही अर्थ लिया जाय तो 'अतः परं पेयात्' इस वाक्य का तात्पर्य इस प्रकार होता है—के प्रथम तीन दिन छोड़कर उसके पश्चात् उचित में गमन करे और इसके पश्चात् स्त्री रजस्वला होने फिर गमन करे। दोनों का तात्पर्य एक ही है, परन्तु संदर्भ से ऊपर अनुवाद में दिया हुआ अर्थ अधिक मालूम होता है। वैद्यक या धर्मशास्त्र के अनुसार सहवास कितनी बार करना चाहिए—कुछ लोगों का है कि ऋतुकाल में पुत्र या कन्या की इच्छा के अनुसार या विषम रात्रि में एक ही बार सहवास करना परन्तु वैद्यक में या धर्मशास्त्र में इस प्रकार का नियम है। कन्या की इच्छा करने वाले के लिए 'पञ्चम्यां नवम्यामेकादश्यांच'; वैसे ही पुत्र की इच्छा करने 'चतुर्थ्यां षष्ठ्यामष्टम्यां दशम्यां द्वादश्यां च' इस तरह बतलाये गये हैं। इन वाक्यों में 'च' का प्रयोग किया है, जिससे इन सम या विषम रात्रियों का समूह होता है। इसके सिवाय आयुर्वेद में ही उत्तम सन्तान यावदिच्छ स्त्रीगमन के लिए वाजीकरण वर्णन किया है—तस्मादपत्यमन्विच्छन् गुणांश्चापत्यसंश्रितान्। वाजीकरण स्यादिच्छन् कामसुखानि च॥ पुमान् यथा जातबलो स्त्रियो व्रजेत्। यथा चापत्यवान् सद्यो भवेत्तदुपदेक्ष्यते॥ इससे यह स्पष्ट है कि महीने में एक बार गमन उत्तम हो सकता है, तथापि आयुर्वेद में अभिप्रेत नहीं। धर्मशास्त्र के अनुसार प्रथम चार रात्रियाँ, ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रि को छोड़कर तथा महीने भर में चतुर्दशी, पौर्णिमा और अमावास्या छोड़कर पूरा महीना सहवास कर सकते हैं—ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा। पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया॥ ताः श्चतस्रस्तु निंदितैकादशी च या। त्रयोदशी च, शेषास्तु दशरात्रयः॥ (मनुस्मृति)। षोडशर्तुनिशाः स्त्रीणां युग्मासु संविशेत्। ब्रह्मचार्येव पर्वाण्याद्याश्चतस्रस्तु यथाकामी भवेद्वापि स्त्रीणां वरमनुस्मरन्॥ (याज्ञवल्क्य) पर्वाण्यमावास्यादीनि वक्ष्यन्ते। तानि वर्जयित्वा भा यस्य स तद्व्रतोऽनृतावप्युपेयात्॥ (कुल्लूकभट्ट)। बहुवचनं समुच्चयार्थम्। अतश्चैकस्मिन्नपि ऋतौ युग्मासु सर्वासु रात्रिषु गच्छेत्। (विज्ञानेश्वर)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तौ च पर्ववर्जम् । ऋतावुपेयात् सर्वत्र वा प्रतिपिद्धवर्जम् । गौतमसूत्र) । इससे धर्मशास्त्रानुसार भी महीने में केवल एक दिन सहवास करना इष्ट नहीं मालूम होता है। इसलिए 'त्रयोदशीप्रभृतयो निन्द्याः' इसका अर्थ तेरहवीं रात्रि के पश्चात् सब रात्रियाँ निंद्य हैं, यह अर्थ भी अयुक्त मालूम पड़ता है।

लब्धगर्भायाश्चैतेष्वहःसु लक्ष्मणावटशुङ्गासहदेवाविश्वदेवानामन्यतमं क्षीरेणाभिषुत्य त्रींश्चतुरो वा बिन्दून् दद्याद्दक्षिणे नासापुटे पुत्रकामायै, न च तान्निष्ठीवेत् ॥३३॥

(पुंसवनविधि—) और इन दिनों में गर्भ प्राप्त हुई, पुत्र की इच्छा रखने वाली स्त्री के दाहिने नथने में लक्ष्मणा, वटशुङ्ग (वट के नवीन अङ्कुर), सहदेवा (पीतबला), विश्वदेवा (श्वेतबला) इनमें से किसी एक को गौ के दूध के साथ कुचलकर (उसके) तीन या चार बूँद (स्त्री स्वयं) प्रदान करे ; उन्हें थूके नहीं ॥३३॥

वक्तव्य—लब्धगर्भायाश्चैतेष्वहःसु—पूर्व तीन चार सूत्रों में स्त्रीसंग के लिए निंद्य तथा प्रशस्त दिनों का विचार करके अन्त में प्रशस्त दिनों में स्त्रीसंग करे, इस प्रकार का विधान है। उसी के सिलसिले में यह शब्द प्रयोग है; और 'च' के प्रयोग से यह बात बिलकुल स्पष्ट होती है। इसलिए 'उपर्युक्त बताये हुए प्रशस्त दिनों में पुरुषसमागम करने पर जिस में गर्भधारणा हुई है, ऐसी स्त्री के' यह इस शब्दप्रयोग का अर्थ है। पुंसवनविधि की कालमर्यादा बतलाने के लिए इनका प्रयोग नहीं है। लक्ष्मणा—चित्रकाकाररक्तालपबिन्दुभिर्लाञ्छितच्छदा। लक्ष्मणा पुत्रजननी वस्तगन्धाकृतिर्भवेत् ॥ अभिषुत्य—गोदुग्ध के साथ कुचलकर उसका कल्क बनावे फिर वस्त्र में लेकर उसको खूब निचोड़कर रस के बूँद नासा में छोड़ दे। पुत्रकामायै—यदि कन्यार्थी हो तो वाम नासापुट में उनके बूँद डाले। न निष्ठीवेत्—नासा में बूँद छोड़ने पर वे गले में आने से कुछ खराश या बेचैनी मालूम होती है। उस समय उनको थूकना न चाहिए, निगलना चाहिए। दद्यात्—बूँद छोड़ने का काम पति या वैद्य या स्त्री या घर के कोई अन्य लोक करें, इसके संबंध में यहाँ कुछ भी लिखा नहीं है। चरक और वाग्भट में इस कर्म के लिए 'स्वयं' शब्द का प्रयोग किया है। इस पर अरुणदत्त लिखते हैं—क्षीरेण कल्कीकृत्य स्वयं स्त्री दक्षिणे नासापुटे पुत्रार्थं सिंचेत् ॥

इस सूत्र में पुंसवन कर्म का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। यह विधि गर्भ को पुरुष बनाने के लिए की जाती है—पुंसवनमिति पुंस्त्वकारकं कर्म। (चक्रपाणिदत्त)। पुमांल्लभ्यते येन तत् पुंसवनम्। शिश्न, भग इत्यादि लिंगदर्शक बाह्यांगों की और वृषण तथा बीजकोष (Ovary) इन लिंगव्यापक अन्तरंगों की उत्पत्ति का सूत्रपात होने के पूर्व यह विधि की जाती है। क्योंकि इन अंगों की उत्पत्ति का सूत्रपात होने के पश्चात् लिंगपरिवर्तन करना कठिन है—तयोः कर्मणा वेदोक्तेन विवर्तनमुपदिश्यते प्राग्व्यक्तीभावात् प्रयुक्तेन सम्यक्। तस्मादापन्नगर्भां स्त्रियमभिसमीक्ष्य प्राग्व्यक्तीभावाद्गर्भस्य पुंसवनमस्यै दद्यात्। (चरक, शा० ८)। प्राग्व्यक्तीभावादिति यावन्न स्त्रीत्वं पुंस्त्वं वा गर्भस्य व्यक्तं भवति तावदेव तद्वक्ष्यमाणं कर्म लिङ्गपरिवृत्तिकरं भवति। (चक्रपाणिदत्त)। लब्धगर्भां चैनां विदित्वा प्राग्व्यक्तीभावाद्गर्भस्य पुष्ये पुंसवनानि प्रयुञ्जीत। (अष्टांगसंग्रह)। गर्भः पुंसवनान्यत्र पूर्वं व्यक्तेः प्रयोजयेत्। (अष्टांगहृदय)। यह अव्यक्तावस्था (Indifferent stage) आधुनिक गर्भविज्ञान (Embyology) के अनुसार अधिक से अधिक छठे सप्ताह तक होती है—

This stage (which belongs to the middle of second month) of formation is often termed the indifferent stage, but it is quite possible to distinguish the sex even now. Nevertheless, although there are sexual differences in small details at this stage, and even earlier, the fundamental arrangement of these simple parts is the same for both sexes at this time, and in this way may be said to be indifferent. *Manual of Embryology by J. E. Trazer.*

आयुर्वेद में अव्यक्त और व्यक्त अवस्था की कालमर्यादा इस प्रकार वर्णन की गई है—व्यक्तिस्तु द्वितीये मासे भवति। यदुक्तम्—'द्वितीये मासे घनः सम्पद्यते इत्यादि। किंवा तृतीये मासे अङ्गप्रत्यङ्गाभिव्यक्तेर्व्यक्तीभावो ज्ञेयः ; द्वितीये तु मासे ग्रन्थ्यादिरूपे गर्भे प्रत्यङ्गव्यक्तीभावो न व्यक्तः। (चक्रपाणिदत्त)। अव्यक्तः प्रथमे मासि सप्ताहात् कलली भवेत्। गर्भः, पुंसवनान्यत्र पूर्वं व्यक्तेः प्रयोजयेत्। (अष्टांगहृदय)। सप्ताहादनन्तरं यावन्मासस्तावदव्यक्ताकृतिः कलली भवेत्। अत्र कललीभूते यावत् स्त्रीपुरुषाद्युत्पत्तिलक्षणा व्यक्तिर्न भवति तावद् व्यक्तेः प्राक् प्रथमे मासि पुंसवनादि प्रयोजयेत्। (अरुणदत्त)। इससे यह स्पष्ट होगा कि आयुर्वेदोक्त अव्यक्तावस्था की कालमर्यादा पाश्चात्य कालमर्यादा के साथ ठीक ठीक मिलती है, और इस अवस्था में पुंसवन की विधि करने के लिए जो लिखा है, वह भी युक्तियुक्त है। पुंसवन दो प्रकार से किया जाता है। (१) नस्य—लक्ष्मणादि का क्षीरयुक्त नस्य यहाँ वर्णन किया गया है। इसके सिवाय निम्न नस्य भी प्रयुक्त होते हैं—तथा पुष्योद्धृतायाः श्वेतबृहत्या मूलकल्कात् रसं नावयेत्। तद्वच्चोत्पलपत्रं कुमुदपत्रं लक्ष्मणामूलं वटशुङ्गानि चाष्टौ च नावयेत्। (अष्टांगसंग्रह)। पुष्येणैव च शालिपिष्टस्य पच्यमानस्योष्माणमुपाघ्राय तस्यैव च पिष्टस्योदकसंसृष्टस्य रसं देहल्यामुपनिधाय दक्षिणे नासापुटे स्वयमासिञ्चेत् पिचुना ॥ (चरक)। (२) पान—इसमें विविध द्रव्यों का दूध दही इत्यादि के साथ सेवन किया जाता है—गोष्ठे जातस्य न्यग्रोधस्य प्रागुत्तराभ्यां शाखाभ्यां शुङ्गेऽनुपहते आदाय द्वाभ्यां धानमाषाभ्यां सम्पदुपेताभ्यां गौरसर्षपाभ्यां वा सह दध्नि प्रक्षिप्य पुष्येण पिबेत्। तथैवापरान् जीवकर्षभकापामार्गसहचरकल्कांश्च युगपदेकैकशो यथेष्टं वाऽप्युपसंस्कृत्य पयसा। कुड्यकीटकं मत्स्यकं वोदकाञ्जलौ प्रक्षिप्य

१ अस्याग्रे 'वामे दुहितृकामायै' इति क्वचिदधिकः पाठः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुष्येण पिबेत्, तथा कनकमयान् राजतानायसांश्च पुरुषकानग्निवर्णानणुप्रमाणान् दध्नि पयस्युदकाञ्जलौ वा प्रक्षिप्य पिबेदनवशेषतः पुष्येण ॥ (चरक, शा० ८) । पुंसवन के नस्यपानादिप्रयोग की अवधि के संबंध में कुछ मतभेद होता है । कई आचार्य कहते हैं कि ऋतुकाल के बारह दिनों में करना चाहिए । कई कहते हैं कि इनमें भी केवल सम दिनों में करना चाहिए । कई कहते हैं कि प्रतिदिन करना चाहिए । कई कहते हैं कि दो महीनों तक बराबर करते रहना चाहिए—द्वादशरात्रमित्यन्ये । तत्रापि युग्मदिनेष्विति केचित् । प्रत्यहमिति अपरे ॥ (अष्टांगसंग्रह) । तेन वक्ष्यमाणं (पुंसवनं) कर्म मासद्वयं यावत् ॥ (चक्रपाणिदत्त) । इन लक्ष्मणादि ओषधियों का नस्यपान ऋतुकाल में गर्भस्थापक और आगे बढ़ने पर स्थितगर्भ में पुंस्त्वजनक होता है—लब्धगर्भायाश्च लक्ष्मणादिनस्यदानं गर्भस्थापनार्थम् । मासत्रयाल्पान्तरे पुत्रापत्यजननार्थं नस्यदानम् ॥ (डल्हण) । पुंसवन की विधि प्रथम बार गर्भधारणा होने पर की जाती है, प्रत्येक बार नहीं की जाती है—पुंसवनाख्य कर्म गर्भचलनात् पूर्वम् । एते च पुंसवनसीमन्तोन्नयने क्षेत्रसंस्कारकर्मत्वात् सकृदेव कार्ये, न प्रतिगर्भम् । यथाह देवलः—सकृच्च संस्कृता नारी सर्वगर्भेषु संस्कृता । यं यं गर्भं प्रसूयेत स सर्वः संस्कृतो भवेत् ॥ (विज्ञानेश्वर याज्ञवल्क्यस्मृति १।१२) । पुंसवन से गर्भ के लिंग का परिवर्तन हो सकता है या नहीं, इस विषय का विवरण तीसरे अध्याय के ५वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है ।

ध्रुवं चतुर्णां सान्निध्याद्गर्भः स्याद्विधिपूर्वकः ।
ऋतुक्षेत्राम्बुबीजानां सामग्र्यादङ्कुरो यथा ॥३४॥

(गर्भोत्पत्ति की सामग्री—) जैसे ऋतु, क्षेत्र, जल और बीज इन चारों के सान्निध्य से अंकुर निश्चिति से (विधिपूर्वक उत्पन्न) होता है, वैसे ही ऋतु, क्षेत्र, जल और बीज इन चारों की सन्निधि से गर्भ निश्चिति से विधिपूर्वक (उत्पन्न) होता है ॥३४॥

वक्तव्य—इस श्लोक में गर्भ तथा अंकुर उत्पन्न होने के लिए जो सामग्री आवश्यक होती है, उसका वर्णन किया है । गर्भोत्पत्ति की घटना समझाने के लिए इस श्लोक में दिया हुआ अंकुर का दृष्टान्त बहुत ही सुन्दर, सृष्टि के सूक्ष्म निरीक्षण का साक्ष्य देने वाला तथा सुप्रजानिर्माण शास्त्र की दृष्टि से उद्बोधक है । इस श्लोक में प्रयुक्त हुआ प्रत्येक शब्द गर्भ तथा अंकुर दोनों के लिए उपयुक्त है, केवल सान्निध्य शब्द गर्भ के लिए और सामग्र्य शब्द अंकुर के लिए हैं, परन्तु ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं । ऋतु—(१) अंकुर की उत्पत्ति के लिए अनुकूल काल । जैसे—शालि के लिए वर्षा की ऋतु, चने के लिए शिशिर ऋतु इत्यादि । ऋतु से यहाँ ऋतूपलक्षित चैत्रादि महीनों का अभिप्राय नहीं है, परन्तु तदुपलक्षित आर्द्रता, शीतता, उष्णता इत्यादि बाह्य परिस्थिति के सम योग का है । यदि ऋतूपलक्षित मास योग्य होने पर शीतादि का अतियोग या मिथ्यायोग हो तो अंकुर अच्छी तरह से उत्पन्न नहीं हो सकता या नष्ट होता है । यदि मासोपलक्षित ऋतु विपरीत होने पर भी शीतादि परिस्थिति योग्य हो तो अंकुर उत्तम प्रकार से उत्पन्न होता है । इसी तत्त्व के आधार पर जहाँ जो चीज नैसर्गिक उत्पन्न होती, वहाँ कृत्रिमतया शीतादि अनुकूल बनाकर उत्पन्न की जाती है । ऋतुचर्या के सम्बन्ध में भी यही तत्त्व वाग्भट ने लिखा है—हेमन्तादिषु कुर्वीत स्वं स्वं चाकालिकेष्वपि । विधिं बलनं यस्माच्छीतादि द्वन्द्वकारितम् । ऋतुचर्यादिशीतोष्णवृष्टि-प्रतिक्रिया ॥ (अष्टांगसंग्रह) । इस पर इन्दु लिखते हैं—यस्मिन्नेव मासे शीतादयस्तस्मिन्नेव सा चर्या सेव्या । शीतादि-प्रतिकारा ऋतुचर्योक्ता न तु मासमात्रमाश्रित्य ॥ (२) गर्भाधान के लिए अनुकूल काल—ऋतुर्नाम शोणितदर्शनोपलक्षितो गर्भधारणयोग्यः स्त्रीणामवस्थाविशेषः ॥ (कुल्लूकभट्ट) । यह सोलह या बारह दिन का होता है । इन दिनों में गर्भधारणा होने की अधिक संभावना होती है । इस कालविधि को गर्भधारण योग्य काल या अंकुर की तुलना में ऋतु कहते हैं । परन्तु अंकुर की दृष्टि से जैसे ऋतूपलक्षित चैत्रादि मासों में योग्यता न होकर ऋतूपलक्षित शीतादि के सम योग पर योग्यता निर्भर होती है, वैसे ही गर्भ की दृष्टि से ऋतूपलक्षित सोलह या बारह दिनों में योग्यता न होकर उन दिनों में स्त्री के शरीर के भीतर जो चीज बनती है, उसके ऊपर योग्यता निर्भर है । यदि वह चीज सोलह दिनों के भीतर बने तो सोलह दिन गर्भधारण के लिए योग्य हो सकते हैं; यदि वह चीज सोलह दिनों के बाहर बने तो सोलह दिन गर्भधारण के लिए योग्य न होकर शेष दिन गर्भधारण के लिए योग्य याने अऋतु भी ऋतु बन जाते हैं, और यदि वह चीज सम्पूर्ण महीने में न बने तो पूरा महीना गर्भधारण के लिए अयोग्य बनेगा । जिस चीज के होने पर गर्भधारणा होती है, वह चीज आर्तव या स्त्रीबीज कहलाती है । इस विवरण से यह स्पष्ट है कि गर्भ के लिए ऋतु से 'स्त्रीबीज' अभिप्रेत है । ऋतु के संबंध में कुछ अधिक विवरण आगे तीसरे अध्याय के छठे सूत्र के वक्तव्य में किया गया है । क्षेत्र—(१) अङ्कुर की उत्पत्ति और उत्तम वृद्धि के लिए जिस प्रकार की भूमि आवश्यक होती है, उस प्रकार की भूमि । (२) गर्भ की उत्पत्ति से वृद्धि जिस स्थान में होती है, वह स्थान अर्थात् गर्भाशय या गर्भशय्या । परन्तु यह अर्थ कुछ संकुचित है । इससे गर्भाशय जिस शरीर का एक हिस्सा होता है वह शरीर याने स्त्री यह अर्थ अधिक योग्य है । आयुर्वेद में स्त्री के लिए क्षेत्र शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है—वाजीकरणमग्र्यं च क्षेत्रं स्त्री या प्रहर्षणी ॥ (चरक, चि०) । इस पर चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—क्षेत्रमिव क्षेत्रम्, तदपत्य-रूपबीजप्ररोहणात् ॥ स्मृतिग्रन्थों में भी स्त्री के लिए क्षेत्र की उपमा दी जाती है—क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् । बीजक्षेत्रसमायोगात् संभवः सर्वदेहिनाम् ॥ (मनुस्मृति ९।३३) । इस पर कुल्लूकभट्ट लिखते हैं—बीजो-त्पत्तिस्थानं क्षेत्रं तत्तुल्या स्त्री मुनिभिः स्मृता ॥ स्वक्षेत्रे संस्कृतायां तु स्वयमुत्पादयेद्धि यम् । तमौरसं विजानीयात्पुत्रं प्रथमकल्पितम् ॥ (मनुस्मृति ९।१६६) । साहित्य में भी क्षेत्र शब्द स्त्री के लिए प्रयुक्त होता है—अपि नाम कुलपतेरियमसवर्ण-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भवा स्यात् ॥ (शाकुन्तल १)। तस्मै हिमाद्रेः प्रयतां तनूजां त्मने रोचयितुं यतस्व । योषित्सु तद्वीर्यनिषेकभूमिः सैव क्षमेत्मभुवोपदिष्टम् ॥ कुमारसंभव ३।१६)। वेदों में भी स्त्री लिए क्षेत्र की उपमा दी गई है—तां पूषन् शिवतमायस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति। या न ऊरू उशती विशश्रयाते स्यामुशन्तः प्रहराम शेपम् ॥ (ऋग्वेद १०।८५।३७)। स शास्त्र और व्यवहारप्रामाण्य के सिवा गर्भ की दृष्टि क्षेत्र का अर्थ स्त्री करने का दूसरा महत्त्व का कारण यह कि गर्भाशय गर्भ के निवास का केवल स्थान है, उसका पण स्त्री के शरीर से होता है । इसके सिवा स्त्री आहार, विहार, विचार इत्यादि का भी परिणाम गर्भ होता है। अम्बु—अंकुर की दृष्टि से केवल जल । उसका पण जिन द्रव्यों से होता है, वे द्रव्य क्षेत्र से मिलते हैं। र्भ की दृष्टि से आहाररस । गर्भ का पोषण गर्भाशय से होकर माता के आहाररस से होता है—मातुस्तु रसयां नाड्यां गर्भनाभिनाडी प्रतिबद्धा । साऽस्य मातुराहाररसमभिवहति । तेनोपस्नेहेनास्याभिवृद्धिर्भवति । इसलिए बु से अप्रत्यक्षतया माता का योग्य आहार भी अभि होता है। बीज—शालि, यव, गोधूम इत्यादि जिनसे कुर उत्पन्न होता है—व्रीहयः शालयो मुद्गास्तिला माषास्तथा ाः। यथाबीजं प्ररोहन्ति लशुनानीक्षवस्तथा ॥ (मनुस्मृति)। र्भ की दृष्टि से शुक्राणु (Spermatozoa) जिससे गर्भरणा होती है। परन्तु यहाँ पर भी जैसे क्षेत्र से स्त्री का ण किया जाता है, वैसे ही बीज से पुरुष का ग्रहण करना हिए—बीजभूतः स्मृतः पुमान् ॥ (मनुस्मृति)। यद्यपि बीजं तथापि तदधिकरणत्वात्पुरुषो बीजमिति व्यपदिश्यते ॥ कुल्लूकभट्ट)। इसका कारण यह है कि बीज की गुणसम्प ा पुरुष के आहार, आचार, विचार, मानसिक विकारों पर र्भर होती है। अब इन चारों का यदि फिर से विचार या जाय तो अंकुर की दृष्टि से ऋतु, क्षेत्र, जल और बीज चारों स्वतन्त्र होते हैं और अंकुरोत्पत्ति के लिए इन चारों सान्निध्य या संनिपात होना आवश्यक होता है। गर्भ की से ऋतु, क्षेत्र और अम्बु एक स्त्री में समाविष्ट होते हैं र बीज पुरुष में अलाहिदा होता है। इसलिए गर्भोत्पत्ति लिए केवल स्त्री और पुरुष दोनों का संयोग काफी है। लिए मनुस्मृति में लिखा है—बीजक्षेत्रसमायोगात् संभवः हिनाम् ॥ सामग्र्य—गुणसंपन्नता, उत्कृष्टता, दोषराहित्य, पघात—प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः तिः॥ (कुमारसंभव)। यह दोषराहित्य जब स्त्री और पुरुष नों में होता है, तब उत्तम प्रजा निर्माण हो सकती है— ष्टं कुत्रचिद्बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित्। उभयं तु समं यत्र सा तिः प्रशस्यते ॥ (मनुस्मृति)। बीज में उत्कृष्टता या गुणता उपस्थित होने के लिए निम्न बातों पर ध्यान देना हिए। (१) स्त्री और पुरुष के कुल—स्त्री और पुरुष दोनों के ों के विद्यमान तथा अविद्यमान मनुष्य स्वस्थ, दीर्घायु स्थिरेन्द्रिय होने चाहिएँ। क्यैन्सर, वातरक्त, हीमोलिआ (Haemophilia), रक्तभाराधिक्य, राजयक्ष्मा, , मधुमेह, वृक्करोग तथा अन्य शारीरिक विकार, अपस्मार, विविध प्रकार से उन्माद, उद्विग्नता, अव्यवस्थितचित्तता, मस्तिष्कदौर्बल्य, कोरिआ (Chorea), पक्षाघात, अपतन्त्रक तथा अन्य मानसिक विकार, कटा होंठ, फटा तालु तथा अन्य शारीरिक व्यङ्ग इन आदियलप्रवृत्त या खानदानी रोगों से अलिप्त होने चाहिएँ। स्त्री और पुरुष के कुल अतुल्यगोत्र होने चाहिएँ। तुल्यगोत्रविवाह (Inbreeding) कुलज दोषप्रवृत्ति को बढ़ाता है। कभी कभी स्त्री और पुरुष विवाह के पूर्व समय स्वस्थ होते हैं; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके शरीर में कोई कुलज रोग नहीं है, जो उनके बीज द्वारा सन्तति में आ सके। कुछ कुलज रोग एक दो पीढ़ी के बाद आ जाते हैं, कुछ कुलज रोग अनुकूलता प्राप्त होने पर उत्पन्न होते हैं और कुछ कुलज रोग स्त्री की पुरुषसन्तति में आते हैं। इन कारणों से यह हो सकता है कि स्त्री और पुरुष दोनों ही स्वस्थ रहते हैं; परन्तु उनके कुल में कुछ विकार हों तो उनकी सन्तति में वे स्वयं पीड़ित न होने पर भी आ सकते हैं । इसलिए वधूवर कितने भी स्वस्थ क्यों न हों, उनके कुल का स्वास्थ्य जरूर देखना चाहिए—Choice of a mate must take into account the principles of heredity. *Ideal Birth by Van De Velde*. इस विषय के संबंध में आयुर्वेद तथा धर्मशास्त्र का मत और विशेष विवरण सूत्र २४।५ के वक्तव्य में (प्रथमखण्ड में १४८।१५० पृष्ठ पर) किया गया है, उसको देखो । (२) स्त्री और पुरुष का स्वास्थ्य—स्त्री और पुरुष दोनों ही स्वस्थ होने चाहिएँ। उनमें उपर्युक्त कुलज विकार न होने चाहिएँ; उनमें नैष्ठुर्य, मात्सर्य, कामान्धता, क्षिप्रकोपता, अनवस्थितचित्तता, उद्विग्नता, अहंकार, समाजविरोधी वर्तन करने की प्रवृत्ति तथा अन्य प्रकार के मानसिक विकार न होने चाहिएँ। भाँग, गाँजा, अफीम, शराब तथा अन्य नशीली चीजों के सेवन की कुटेव न होनो चाहिए। संक्षेप में दोनों ही स्वस्थ, सुन्दर, सुडौल, खुशमिजाज (जनप्रिय) और व्यसनरहित होने चाहिएँ—सुरूपा यौवनस्था या लक्षणैर्या विभूषिता । (चरक)। वयोरूपगुणोपेतां तुल्यशीलां कुलान्विताम्। (चरक)। रूपशीललक्षणसम्पन्नामनूनाविनष्टदन्तौष्ठकर्णनासानखकेशस्तनीं मृदुमरोगप्रकृतिमहीनाधिकाङ्गीं विधिनोद्वहेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह)। ये जो स्त्री के लिए गुण वर्णन किये हैं, उन्हीं गुणों से युक्त पुरुष भी होना चाहिए—तस्मात् कन्यामभिजनोपेतां श्लाघ्याचारे कुले प्रसूतां रूपशीललक्षणसम्पन्नामन्यूनाधिकाविनष्टदन्तनखकर्णकेशाक्षिस्तनीमरोगिप्रकृतिशरीरां तथाविध एव श्रुतवान् शीलयेत्॥ (वात्स्यायन कामसूत्र)। एतैरेव गुणैर्युक्तः, युवा धीमान् जनप्रियः । (याज्ञवल्क्यस्मृति) । जनप्रियः स्मितपूर्वमृद्वभिभाषणादिभिरनुरक्तजनः । (विज्ञानेश्वर) । (३) जननेन्द्रिय का स्वास्थ्य—बीजवाहिनी, गर्भाशय, योनि, शिश्न, वृषण इत्यादि जननेन्द्रिय के प्रत्यंग स्वस्थ और शुद्ध होने चाहिएँ । रक्तप्रदर, श्वेतप्रदर, उपदंश, फिरंग, सोजाक इत्यादि विकारों से प्रजननमार्ग अनुपहत होना चाहिए। जननेन्द्रियाँ पूर्ण परिपक्व होनी चाहिएँ; अपरिपक्व (Under developed) न होनी चाहिएँ। यौवनावस्था में जननेन्द्रियपूर्ण प्रगल्भ न होने को अपरि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पक्वता कहते हैं। अष्टांगहृदय में स्त्रीजननेंद्रिय की शुद्धि के संबंध में लिखा है— शुद्धे गर्भाशये मार्गे रक्ते शुक्रेऽनिले हृदि। वीर्यवन्तं सुतं सूते॥ (शा० १)। गर्भस्याशयो गर्भाशयः। तस्मिन् शुद्धे निर्मले वातादिभिरदुष्टे, तथा मार्गे प्रकृतत्वादपत्यमार्गे वातादिभिरदुष्टे॥ (अरुणदत्त)। **स्त्रीजननेन्द्रिय दुष्ट होने पर उससे विविध स्राव स्रवते हैं। ऐसे अपत्यमार्ग में गिरा हुआ पुरुष का शुक्राणु उसके स्राव से निर्बल या मृत होता है। (४)** स्त्री पुरुषों का प्रथम सन्तानोत्पादक काल**—स्त्री और पुरुष दोनों ही यौवनावस्था में पदार्पण करने के पश्चात् कुछ साल तक अपरिपूर्णवीर्य होते हैं। जब तक वे परिपूर्ण-वीर्य नहीं होते, तब तक उनका बीज भी परिपूर्णवीर्य नहीं होता। स्त्री और पुरुष दोनों का परिपूर्णवीर्य होने का काल भिन्न भिन्न होता है। सुश्रुत और अष्टांगसंग्रह के अनुसार पुरुषों का वय २५ और स्त्रियों का १६ होता है—** पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान्, नारी तु षोडशे। समत्वागतवीर्यौ तौ जानीयात् कुशलो भिषक्॥ **(सुश्रुत प्रथमखण्ड पृष्ठ १९५ देखो)।** तस्यां षोडशवर्षायां पञ्चविंशतिवर्षः पुरुषः पुत्रार्थं प्रयतेत। **(अष्टांगसंग्रह)। उत्तम बीज उत्पन्न होने की आयुर्वेदशास्त्रानुसार यह वयोमर्यादा है। कौटिलीय अर्थ-शास्त्र में पुरुष के लिए यही मर्यादा बतलाई है—** ब्रह्मचर्यमाषोडशाद्वर्षात्। अतो गोदानं दारकर्म च॥ **पाश्चात्य शास्त्रज्ञों के अनुसार (अर्थात् उनके देशों के लिए) पुरुषों में ३० और स्त्रियों में २३ वयोमर्यादा मानी जाती है—**

The most favourable age for procreation for the transmission of mental abilities for the off-spring is, according to Vaerting, the thirtieth year in the men, in the woman, not before the 23rd year. *Ideal birth by Van De Velde.*

यह मर्यादा भारतवर्ष जैसे उष्ण देश के लिए कुछ अधिक है। इसलिए १६ से २० वर्ष स्त्रियों के लिए और २५ से ३० पुरुषों के लिए उचित वयोमर्यादा मालूम होती है। इस वयोमर्यादा के पश्चात् दीर्घकाल तक स्त्री और पुरुष विवाह न करें तो उस अतिपरिपक्व अवस्था में विशेष करके स्त्रियों में, बीज कुछ खराब हो जाता है और उत्पन्न हुई संतति दुर्बल होती है। इससे यह स्पष्ट है कि उत्तम संतति होने के लिए एक विशेष आयुर्मर्यादा आवश्यक है— ऊनषोडश-वर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्। यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥ जातो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः॥ अति-वृद्धायां (Old, particularly old primiparae) दीर्घ-रोगिण्यामन्येन वा विकारेणोपसृष्टायां गर्भाधानं नैव कुर्वीत। पुरुषस्यापि एवंविधस्य त एव दोषाः संभवन्ति॥ **(सुश्रुत)।** Children born before the mother is twenty one are decided by inferior invitality to those of women in the next five years. Similarly late marriage is unfavourable for the women and her offspring. The new born children of the old, particularly excessively old primiparae, are even in the case of robust mothers not exactly strongly developed and resemble the children of too young pri[...] Moreover, the theory that there is a deterio[ration] of the germ in old mother is not to be re[garded] lightly and would have an influence on the [qua]lity of the offspring. *Ideal birth by [Van De] Velde.* (५) स्त्री और पुरुष में अन्तर—**भारतीय वै[द्यक व] धर्मशास्त्र के अनुसार वर की अपेक्षा वधू उमर [में छोटी] होनी चाहिए—**अविप्लुतब्रह्मचर्यो लक्षण्यां स्त्रियमुद्वहेत्। [अनन्य]पूर्विकां कान्तामसपिण्डां यवीयसीम्॥ (याज्ञवल्क्य[स्मृति])। यवीयसीं वयसा प्रमाणतश्च न्यूनाम्॥ (विज्ञानेश्वर)। [पाश्चात्य] **शास्त्रज्ञों का भी मत है कि उत्तम प्रजा उत्पन्न होने [के लिए] स्त्री पुरुष की अपेक्षा उमर में कुछ छोटी हो—**For p[hysio]logical and social, but also for purely bio[logical] reasons, it is to be desired further that the [wife] should be a few year younger than the man, [as she] reaches physical and mental maturity rel[atively] earlier than the man and her sexual capa[cities] die out earlier. *Ideal birth.* **अब दोनों में [...] अन्तर कितना होना चाहिए इसका ठीक प्रमाण [...] कठिन है परन्तु साधारणतया यों कह सकते हैं [कि स्त्री] और पुरुष में यौवनावस्था प्राप्त होने के समय जो [अन्तर] होता है, उससे कम अन्तर न होना चाहिए। यौव[न] का प्रारम्भ स्त्रियों में आर्तवदर्शन से और पुरुषों में [शुक्रो]त्पत्ति से होता है। आर्तवदर्शन स्त्रियों में साधा[रणतः] १२ साल में और शुक्रोत्पत्ति पुरुषों में १६ साल में [...] वधू और वर में कम से कम अन्तर इसलिए चार स[ाल] होना चाहिए; अधिक से अधिक अन्तर नौ साल [जो] सुश्रुत ने दिया है, होना चाहिए। अर्थात् वधू और [वर में] चार साल से कम और नौ साल से अधिक अन्तर न होना चाहिए। वात्स्यायनकामसूत्र में व[धू वर में] कम से कम तीन साल का अन्तर बतलाया है—**[...] प्रभृति न्यूनवयसम्। **टीकाकार यशोधर अपनी जयमङ्ग[ला] में वधूवर का अन्तर चार से आठ देते हैं—**[...] यावत् कनिष्ठा वत्सरैः वरात्। कन्यां परिणयेच्छस्तां नेतरा[...] या:॥ **(६) दो प्रसवों में अन्तर—जल्दी जल्दी [...] उत्पन्न होने से स्त्री के स्वास्थ्य में बिगाड़ हो [...] और ऐसे गिरे स्वास्थ्य में उत्पन्न हुई सन्तान कमज़ोर [होती] है। इसलिए दो गर्भधारणा के बीच में कुछ नियमि[त अन्तर] होना बहुत आवश्यक है। इस विषय पर विचार [करने से] यह कहना पड़ता है कि प्रसव के कारण खराब हुआ [...] स्वास्थ्य जब तक बालक उसका दूध पीता है तब [तक ठीक] नहीं हो सकता क्योंकि स्त्री जो कुछ अन्न सेवन क[रती है] उसके एक अंश से बच्चे का भी पोषण होता है—**[...] मातास्य भोजनं हि चतुर्विधम्। तस्मादन्नाद्रसीभूतं [...] प्रवर्तते। भागः शरीरं पुष्णाति स्तन्यं भागेन वर्धते॥ (...) **इसलिए बालक जिस समय से माता का दूध पी[ना छो]ड़े, उस समय से एक वर्ष भर माता को यथेच्छ खाना पीना मिलने पर उसका स्वास्थ्य पूर्ववत् हो**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

र वह उत्तम बीज उत्पन्न करने में समर्थ होकर दूसरी र उत्तम गर्भ धारण करने योग्य हो जाती है । इसलिए । सन्तानों के बीच में २, ३ साल का अन्तर होना बहुत वश्यक है । आगे १०वें अध्याय के १५वें सूत्र के वक्तव्य 'मैथुन' की टिप्पणी में भी इस विषय का विचार किया या है, उसको देखो । इस तरह उपर्युक्त छः गुणों से युक्त -पुरुषों का बीज उत्कृष्ट और सर्वगुणसम्पन्न होता है र उनके संयोग से उत्तम प्रजा उत्पन्न होती है। अंकुर की ष्टि से बीज का सामर्थ्य कृमिवातादि से अनुपदग्धता में, ल का सामर्थ्य योग्य समय पर मिलने में, क्षेत्र का सामर्थ्य ग्य प्रकार की भूमि और योग्य खाद मिलने में और तु का सामर्थ्य उचित शैत्य या उष्णता में होता है—ा बीजमकालाम्बुकृमिकीटादिदूषितम् । नाविरोहति सन्दुष्टं तथा ं शरीरिणाम् ॥ (चरक, चिकित्सा ३०) । सामर्थ्य में र चारों के संयोग का बोध होता है और सान्निध्य में मर्थ्य का बोध होता है । विधिपूर्वकः—यथाविधि, जाशास्त्र अर्थात् सुप्रजानिर्माणशास्त्र (Eugenics) के नुसार जैसा होना चाहिए, वैसा ।

वं जाता रूपवन्तः सत्त्ववन्तश्चिरायुषः ।
वन्त्यृणस्य मोक्तारः सत्पुत्राः पुत्रिणो हिताः ॥३५॥

ऐसे (यथायोग्य चारों पदार्थों के संयोग से) उत्पन्न ए (बालक) रूपवान् , सत्त्ववान् , दीर्घायु, ऋणमोचन ने वाले, सत्पुत्र और पिता के हितकारी होते हैं ॥३५॥

वक्तव्य—सत्त्ववन्तः—गर्भ में निम्न गुण सत्त्व से पन्न होते हैं—शुद्धसत्त्वजानि शौचमास्तिकत्वं कृतज्ञता दार्यं व्यवसाय: शौर्यं गाम्भीर्यं बुद्धिर्मेधा स्मृति: शुक्लवर्त्मरुचिभक्तिपक्षाभावस्तमोगुणविपर्ययश्च । (अष्टांगसंग्रह) । इन गुणों युक्त । ऋणस्य मोक्तारः—पुत्र के लिए देव, पितृ और ऋषि के तीन ऋण होते हैं । इन ऋणों का परिमार्जन करना का कर्तव्य है । इस कर्तव्य को करने वाले—ब्राह्मणो जायमानस्त्रिभिर्ऋणवाञ्जायते, यज्ञेन देवेभ्य:, प्रजया पितृभ्य:, ह्मचर्येणर्षिभ्य: ॥ अथवा केवल पिता की दृष्टि से विचार या जाय तो विवाह कर सन्तति उत्पन्न करके प्रजातन्तु अविच्छेद रखना—प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सी: । पिता की त्यु होने पर उसको पिण्ड प्रदान, यदि हो सके तो गया जाकर करना—पितुर्ऋणं पिण्डदानात् । एष्टव्या बहव: पुत्रा णवन्तो बहुश्रुता: । तेषां वै समवेतानामपि कश्चिद्गयां व्रजेत् ॥ रामायण) । और पिता के पैसे का भी ऋण हो तो उसको ा—पितरि प्रोषिते प्रेते व्यसनाभिप्लुतेऽपि वा । पुत्रपौत्रैर्ऋणं निह्नवे साक्षिभावितम् ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति) । इन ऋणों शोधन करने वाले । सत्पुत्राः—इस प्रकार ऋणमोचन के पिता की रक्षा नरक से जो करते हैं, वे सत्पुत्र हैं—पुत्रेण जातेन स्वार्थमुत्सृज्य यत्नत: । ऋणात् पिता मोचनीयो नो नरकं व्रजेत् ॥ पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् पितरं त्रायते सुत: । ात् पुत्र इति प्रोक्त: पितॄन् य: पाति सर्वत: ॥ (रामायण) ।

१ महासत्त्वा०.

अतः सब से उत्तम ऋणमोचन का मार्ग उत्तम प्रजा उत्पन्न करना है—प्रजननं वै प्रतिष्ठा । लोके साधु प्रजायास्तन्तुं तन्वान: पितॄणामनृणो भवति । तदेव तस्यानृणं तस्मात् प्रजननं परमं वदन्ति । (तैत्तिरीय आरण्यक) ।

तत्र तेजोधातुः सर्ववर्णानां प्रभवः; स यदा गर्भोत्पत्तावब्धातुप्रायो भवति तदा गर्भं गौरं करोति, पृथिवीधातुप्रायः कृष्णं, पृथिव्याकाशधातुप्रायः कृष्णश्यामं, तोयाकाशधातुप्रायो गौरश्यामम् । यादृग्वर्णमाहारमुपसेवते गर्भिणी तादृग्वर्णप्रसवा भवतीत्येके भाषन्ते ॥३६॥

(गर्भ के गौरकृष्णादि वर्णों की उत्पत्ति—) पंचमहाभूतों में से तेजोधातु सर्व वर्णों का उत्पत्ति हेतु है । जब वह गर्भोत्पत्ति के समय जलधातुप्रधान होती है, तब गर्भ को गौरवर्ण करती है ; (जब) पृथिवीधातुप्रधान (होती है, तब गर्भ को) कृष्णवर्ण (करती है); पृथिव्याकाशधातुप्रधान कृष्णश्याम करती है ; जलाकाशधातुप्रधान गौरश्याम करती है । कई आचार्यों का कथन है कि जिस वर्ण का आहार गर्भिणी सेवन करती है, उस वर्णयुक्त संतति को उत्पन्न करने वाली होती है ॥३६॥

वक्तव्य—सर्ववर्ण—शरीर के स्वाभाविक वर्ण—कृष्णः कृष्णश्यामः श्यामावदातोऽवदातश्चेति प्रकृतिवर्णाः शरीरस्य भवन्ति । (चरक)। ये शरीर के स्वाभाविक वर्ण त्वचागत मेल्यानिन (Melanin) नामक रंगद्रव्य की न्यूनाधिकता के अनुसार हुआ करते हैं । तादृग्वर्णप्रसवा—तादृग्वर्णः प्रसवः अपत्यं यस्याः सा । उसी वर्ण का अपत्य जिसको होता है, ऐसी स्त्री (त्वचा के वर्ण के लिए ४ अध्याय के ३ सूत्र का वक्तव्य देखो) । इस सूत्र में बालकों के शरीर के वर्णों में अन्तर क्यों पड़ता है, इस विषय का कुछ तात्त्विक विवरण किया है । इस विषय का विचार करने पर वर्ण में अन्तर पड़ने के निम्न कारण मालूम होते हैं । (१) कुल, जाति या वंश (Racial)—जैसे, नीग्रो की सन्तान काली होती है, जापानी चीनी की पीली होती है और यूरोपियन की गौरवर्ण होती है । भारतवर्ष में भी कुछ जातियाँ गौरवर्ण, कुछ श्यामवर्ण और कुछ कृष्णवर्ण होती हैं । (२) बीज (Heredatory or Germinal)—गौरवर्ण पुरुष और कृष्णवर्ण स्त्री के सहवास से गौरवर्ण संतति होती है, यह बीजानुगत वर्णभेद का उदाहरण है । (३) आहार—आहार से गर्भ की वृद्धि होती है, त्वचा भी बनती है और त्वचागत रंगद्रव्य भी बनता है । इसलिए माता के आहार का परिणाम गर्भ के अन्यान्य शारीरिक और मानसिक विकास पर जैसे हुआ करता है, वैसे उसके वर्ण पर होना भी युक्तियुक्त है । जातिगत या कुलगत सन्तति में साधारणतया एक प्रकार का शरीरवर्ण उत्पन्न होने के कारणों में उनका जातीय आहार एक कारण जरूर होता है । अंग्रेज, चीनी या जापानी चाहे वे किसी देश में हों अपने जातीय वर्ण के अनुसार सन्तान उत्पन्न करते हैं क्योंकि जहाँ तक हो सके, वे अपने आहार में बदल नहीं करते हैं । (४) देश (Climatic)—देश या प्रांत

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की आबहवा जैसी होती है, वैसी तद्देशीय लोगों की त्वचा की रंगत बदलती है। जैसे, ठंडे मुल्क में होने वालों की तथा उनकी सन्तान की त्वचा गौरवर्ण होती है। काला आदमी जब ठंडे मुल्क में रहता है, तब उसकी तथा उसकी संतान की त्वचा कुछ गौरवर्ण हो जाती है। वैसे ही उष्ण प्रदेश में रहने वालों का वर्ण कुछ कृष्ण होता है और गोरा मनुष्य भी उष्ण प्रदेश में रहने पर कुछ काला हो जाता है। (५) व्यवसाय और रहन-सहन—जिन मनुष्यों को अपना व्यवसाय करने के लिए नंगे बदन से काम करना पड़ता है, या गरीबी के कारण शरीर पर पूरा कपड़ा नहीं मिलता तथा धूप में काम करना पड़ता है, वे मनुष्य तथा उनकी सन्तान कुछ काली हो जाती है। इसके विरुद्ध जो छाया में काम करते हैं, शरीर पर पूरा कपड़ा पहनते हैं, वे मनुष्य तथा उनकी सन्तान कुछ गौरवर्ण होती है। (६) चिन्तन—गर्भाधान के समय में तथा उसके पश्चात् सगर्भावस्था में स्त्री जिस वर्ण के बालक का मन से चिन्तन करती है, उस चिन्तन का प्रभाव बालक के वर्ण पर होता है। इसी तत्त्व के आधार पर सौदागर जिस रंग का बच्चा घोड़ी से चाहते हैं, उसी रंग का घोड़ा घोड़ी के सामने गर्भाधान के समय खड़ा करते हैं और घोड़ी की आँखों में पट्टी बाँध देते हैं। जब दूसरे घोड़े से गर्भाधान हो चुकता है, तब आखों की पट्टी खोल देते हैं। पट्टी खोलने से घोड़ी की नजर सामने वाले घोड़े पर पड़ती है और उसी रंग का बच्चा प्रायः होता है। मनुष्यों में भी इसी प्रकार चिन्तन का प्रभाव बच्चों पर कभी कभी होता है। कृष्णवर्ण स्त्री-पुरुषों की गौरवर्ण संतान और गौरवर्ण स्त्री-पुरुषों की कृष्णवर्ण संतान की उत्पत्ति का समर्थन इसी तत्त्व पर हो सकता है। इस विषय में यूरोपियन की एक आख्यायिका प्रसिद्ध है। एक यूरोपियन दम्पती के यहाँ काले रग की सन्तान हुई। कारण यह साबित हुआ कि गर्भाधान के समय स्त्री की दृष्टि पलंग के सामने टंगे हुए एक हबशी के चित्र पर पड़ी थी। आयुर्वेद में भी लिखा है—इच्छेतां यादृशं पुत्रं तद्रूपचरितांश्च तौ। चिन्तयेतां जनपदांस्तदाचारपरिच्छदौ ॥ (अष्टांगहृदय)। माता के चिन्तन का परिणाम बालक पर कैसे होता है, इस विषय के अधिक विवरण के लिए प्रथम खण्ड का १५१ पृष्ठ देखो। इन कारणों का संक्षिप्त निर्देश अष्टांगसंग्रह में निम्न प्रकार से मिलता है—तत्र शुक्रे शुक्रे घृतमण्डाभे वा गर्भस्य गौरत्वं, तैलाभे कृष्णत्वं, मध्वाभे श्यामत्वम्। तथा क्षीरादिमधुराणामुपयोगान्मातुरुदकविहाराच्च गौरता, तिलान्नविदाहिना कृष्णता, व्यामिश्राणां श्यामता। देशकालानुवृत्तिश्च वर्णभेदः। कषायनित्या श्यावं (जनयति)। (चरक)।

तत्र दृष्टिभागमप्रतिपन्नं तेजो जात्यन्धं करोति, तदेव रक्तानुगतं रक्ताक्षं, पित्तानुगतं पिङ्गाक्षं, श्लेष्मानुगतं शुक्लाक्षं, वातानुगतं विकृताक्षमिति ॥३७॥

(नेत्रवर्ण की उत्पत्ति—) दृष्टिभाग में अप्राप्त धातु (बालक को) जन्मांध करती है। वही रक्ता... (होने पर) रक्ताक्ष, पित्तानुगत (होने पर) पि... (पीली आँखों वाला), श्लेष्मानुगत (होने पर) शु... (और) वातानुगत (होने पर) विकृताक्ष (... है) ॥३७॥

वक्तव्य—इस सूत्र में आँखों की जन्मजात विकृ... वर्णन की हैं। ये विकृतियाँ गर्भावक्रान्ति के समय ... की यथोचित वृद्धि न होने से होती हैं। जात्य... जन्मान्धता नेत्रों की उत्पत्ति न होने से (... Anopthalmos), दृष्टिनाडी, दृष्टिपटल (R... या दृष्टि कें लिए आवश्यक अन्य अंगों की वृद्धि न होने से होती है। यह अन्धता ... या अपूर्ण दोनों प्रकार की हो सकती है। रक्ताक्षं, ... शुक्लाक्षम्—ये तीनों भेद कृष्णमण्डल (Iris) के वर्ण ... किये हुए मालूम पड़ते हैं। कृष्णमण्डल संकोचवि... शील नेत्र का सच्छिद्र पर्दा है, जो प्रकाश की तीव्रता ... के अनुसार सदैव सिकुड़ा और फला करता है। ... की बीच की तह अनैच्छिक मांसतन्तुओं से बनी ... इनके संकोचविकास से पुतली छोटी और बड़ी होती ... इन मांसतन्तुओं के पिछले पृष्ठ पर दोहरी सेलों की ... तह होती है। इनके अगले पृष्ठ पर संयोजक धातु ... सेलों की तह होती है, जिसमें रक्तवाहिनियाँ और ... के अग्र होते हैं और इस तह के अगले पृष्ठ पर भी ... की एक तह होती है। इस तरह इस पर्दे में चार तहें ... हैं, और मांसतन्तुओं की तह छोड़कर शेष तीनों की ... में स्वाभाविक अवस्था में रंग (Pigment) कण ... होते हैं, जिनके कारण आँखें काली काली दिखाई देती ... यही आँखों का प्रकृतिवर्ण है। जब रंग मध्यम होता ... तब आँखें पिङ्गल या धूसर दिखाई देती हैं। जब रंग ... होता है, तब फीकी (शुक्लवर्ण) दिखाई देती हैं ... बहुत ही कम होता है, तब (Albinism) भीतरी ... वाहिनियों के रक्त के कारण गुलाबी या लाल लाल ... देती हैं। इस तरह तेजोधातु से नेत्रगत रंगद्रव्य ... बनने से ये तीन वर्ण के दोष उत्पन्न होते हैं। विकृता... भेंगापन, द्विधादृष्टि, पलक का छोटा बड़ा या टेढ़ा ... इत्यादि नेत्र के आकार में खराबी करने वाले विकार ...

भवन्ति चात्र—

घृतपिण्डो यथैवाग्निमाश्रितः प्रविलीयते।
विसर्पत्यार्तवं नार्यास्तथा पुंसां समागमे ॥

जैसे कि अग्नि के आश्रित होने से घृतपिण्ड ... होकर फैलता है, वैसे ही पुरुषों के समागम से ... आर्तव (पक्व होकर पिण्ड याने कोष से बाहर) ... करता है ॥३८॥

वक्तव्य—ऋतुकाल के प्रारंभिक तीन दिनों ... से बाहर बहने वाला रक्त और उसके पश्चात् शरीर ...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्पन्न होकर और भीतर ही रहकर गर्भधारणा में भाग लेने वाला पदार्थ ये आर्तव शब्द के दो अर्थ होते हैं, इसका उल्लेख इस अध्याय के चौथे सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। यहाँ आर्तव का दूसरा अर्थ अभिप्रेत है और इस अर्थ से आर्तव को स्त्री-बीज कहते हैं और अँग्रेजी में ओह्वा (Ova) कहते हैं। आर्तव क्या है?—जैसे कि पुरुषों में शुक्रोत्पत्ति के लिए दो शुक्रग्रंथियाँ (वृषण) होती हैं, वैसे ही स्त्रियों में गर्भाशय के पार्श्विक बंधनों में स्थित दाहिनी ओर एक और बाईं ओर एक-दो आर्तवग्रन्थियाँ या बीजकोष होते हैं। इनका आकार और परिमाण चिड़िया के अण्डे जैसा होता है। इन बीजकोषों में स्त्री के जन्म के समय १०००० के लगभग अपक्व बीज होते हैं, जो धीरे धीरे पक्व होते जाते हैं। जो बाल्यावस्था में पक्व होते हैं, वे कोष के बाहर नहीं आते, भीतर ही भीतर क्षीण होते हैं। जो बीज युवावस्था में पक्व होते हैं, वे कोष की दीवाल को तोड़कर बाहर आते हैं। प्रायः एक मास में एक बीज पक्व होकर कोष के बाहर निकलता है और इसको बीजविपाक (Ovulation) कहते हैं। बीजविपाक का नियत काल मासिक स्राव के समय से बारह दिनों का माना जाता है। बीजकोष से बाहर आया हुआ विपक्व बीज का व्यास १/१२५–१/१५० इंच के लगभग होता है और नंगी आँखों से यह एक सूक्ष्म बिन्दु जैसा दिखाई देता है। जो बीजकोष के बाहर आता है, वह या तो उदरगुहा में नष्ट होता है, या बीजवाहिनी में प्रवेश करता है जहाँ शुक्राणु से उसका संयोग होकर गर्भ उत्पन्न होता है या गर्भाशय और योनि में से शरीर के बाहर चला जाता है। यह वस्तु अतिसूक्ष्म होने के कारण इसके वास्तविक स्वरूप का वर्णन यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता और गर्भोत्पादक आर्तव का उल्लेख साधारण आर्तवशोणित से ही किया जाता है तथापि वह मलरहित, बीजभूत, सूक्ष्म, आर्तवशोणित का स्राव बन्द होने पर फिर स्त्री के शरीर में उत्पन्न होने वाली और अपने स्थान से प्रसर्पित होकर शुक्र के साथ मिलने वाली, पुरुष के समागम से जिसकी उत्पत्ति जल्दी होती है ऐसी, आर्तवस्राव प्रारम्भ से केवल सोलह दिन के शरीर में रहने वाली वस्तु है, इतना स्वरूपनिदर्शक वर्णन ग्रन्थों में मिलता है। इस वर्णन का आधुनिक शरीरकार्यविज्ञान की दृष्टि से विचार करने पर आयुर्वेदोक्त गर्भजनक आर्तव स्त्रीबीज (Ova) होता है और इसी अर्थ से यहाँ आर्तव शब्द प्रयुक्त हुआ है। डल्हणाचार्य साफ लिखते हैं कि स्त्रीपुरुषसमागम से प्रवर्तित हुआ आर्तव शुक्र के साथ मिलकर गर्भसंभवहेतु होता है—ननु पुराणमार्तवमुपयाद्दिनत्रयं स्रुत्वा स्वयमेव विनिवृत्तं नूतनं स्वल्पं स्त्यानीभूतमिव वर्तितुमक्षमं तत् कथमार्तवसंचारो येन तत्संसृष्टं शुक्रं गर्भजननसमर्थं भवतीत्याशङ्क्याह—घृतेत्यादि। पुंसां समागमे इन्द्रियद्वयसंघर्षजेष्मणा विलीनमार्तवं विसर्पति। तच्च विसर्पितं शुक्रोपगतं गर्भाशयमनुप्राप्तं जीवोपगतं गर्भसंभवहेतुर्भवति। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि गर्भजनक आर्तव प्रवर्तन या आधुनिक परिभाषानुसार बीजविपाक का कार्य जो स्त्रीशरीरगत अनेक स्वाभाविक सहायक कारणों के द्वारा एक नियत समय पर हुआ करता है, स्त्री का पुरुष के साथ समागम होने से नियत समय के पूर्व होता है। अर्थात् स्त्री का पुरुष के साथ समागम बीजविपाक कार्य को उद्दीपित (Provoke) करके बीज को शीघ्रता से कोष के बाहर प्रवर्तित करता है। आधुनिक पाश्चात्त्य शास्त्रज्ञों का भी यही कथन है—

In general, I believe I admit that in the majority of cases the ovum is set free from the Graafian follicle on the twelfth day after the commencement of the last menstruation. While it may perhaps happen more frequently that, if an orgasm in copulation happens to take place, the follicle bursts prematurely. I would regard it as probable that the said boy births came from premature ovulations provoked by coitus which produce ova not yet quite mature. *Ideal birth.*

इस उपमा में घृतपिण्ड बीजकोष के लिए, घृत बीज के लिए और अग्नि मैथुन के लिए प्रयुक्त हुआ है।

कुछ प्राचीन टीकाकार इस श्लोकगत आर्तव से शुक्र समझते हैं—अन्ये तु—घृतकुम्भो यथैवाग्निमाश्रितः प्रविलीयते। विसर्पत्यार्तवं पुंसां तथा स्त्रीणां समागमे—इत्यत्र यथाऽऽर्तवशब्देन शुक्रमुच्यते तथा स्त्रीणां चार्तवमित्यत्रापि आर्तवशब्दः शुक्र एव वर्तते न तु रजसि। (शिवदाससेन)। परन्तु यहाँ पर भी शुक्र शब्द स्त्रीशरीरगत गर्भोत्पादक वस्तु के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। स्त्रीशरीरगत गर्भोत्पादक वस्तु के लिए शुक्र शब्द कभी कभी प्रयुक्त होता है—स्त्रीपुंसयोः सुसंयोगे यदादौ विसृजेत्पुमान्। शुक्रं ततः पुमान् वीरो जायते बलवान् दृढः॥ अथ चेद्वनिता पूर्वं विसृजेद्रक्तसंयुतम्। ततो रूपान्विता कन्या जायते दृढसंहता॥ (दारुवाह, अरुणदत्त की शारीर १–५ की टीका में उद्धृत)। स्त्रियों के शुक्रस्रवण के सम्बन्ध में डल्हणाचार्य इस श्लोक की टीका में निम्न श्लोक उद्धृत करते हैं—योषितोऽपि स्रवन्त्येव शुक्रं पुंसां समागमे। गर्भस्य तत्र किञ्चित्तु करोतीति न चिन्त्यते॥ (वृद्धवाग्भट)। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि जैसे स्त्री के समागम में पुरुष से शुक्र निकलता है, वैसे ही पुरुष के समागम में स्त्री से शुक्र निकलता है परन्तु वह गर्भोत्पादक न होने के कारण उसका विचार करने का कारण नहीं है।

वाग्भटाचार्य के इस श्लोक का विचार करने के पूर्व समागम के समय स्त्री-पुरुषजननेन्द्रिय से जिन चीजों का स्राव होता है, उसके संबंध में आधुनिक शास्त्रज्ञों ने जो कुछ विवरण किया है, उसका ज्ञान आवश्यक है। पुरुष जब मैथुन करने लगता है, तब उसके मूत्रद्वार से स्वच्छ लसदार तरल की कुछ बूँदें निकला करती हैं। यह तरल अष्ठीला (Prostate) और कौपर की ग्रंथियों का स्राव होता है, जो मैथुन की रगड़ को कम करने के लिए रोगन की तरह काम में आता है। इसमें शुक्राणु नहीं होते। थोड़ी देर पीछे मैथुन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अन्त में दूसरा अत्यन्त चिपचिपा और लसदार तरल वेग के साथ आता है। यह तरल शुक्र है, जिसमें शुक्राणु होते हैं। मैथुन के समय स्त्री की योनि से भी कुछ तरल निकलता है। यह तरल योनि की श्लेष्मल त्वचा से तथा योनिद्वारसमीपवर्ती ग्रन्थियों (Bartholian glands) से निकलता है और योनि को तर रखकर शिश्न की रगड़ से उसकी रक्षा करता है। थोड़ी देर पीछे जब मैथुनजन्य आनन्द परमोच्च कोटि तक पहुँचता है, तब पुरुषों के समान स्त्री के गर्भाशय से दूसरा क्षारीय चिपचिपा पदार्थ उत्सर्गित होता है। इस तरल का गर्भोत्पादन से कोई संबंध नहीं है—

The process of erection in women is accomopanied by the pouring out of fluid which copiously bathes all parts of the valva round the entrance to the vagina. This is a bland more or less odourless mucus which under ordinary circumstances slowly and imperceptibly suffuses the parts. There is however a real ejaculation of fluid, which as usually described, comes largely from glands, situated near the mouth of the vagina. *Psychology of sex by Havelock Ellis.*

इस सब विवरण का तात्पर्य यह है कि इस श्लोकगत आर्तव का अर्थ स्त्रीबीज है, जिसके लिए कभी कभी शुक्र शब्द का भी प्रयोग होता है और स्त्रियों में शुक्र का अर्थ स्त्रीबीज या योनिगत स्राव होता है और संदर्भ के अनुसार उनसे उचित अर्थ निकालना चाहिए।

बीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने द्वौ जीवौ कुक्षिमागतौ।
यमावित्यभिधीयेते धर्मेतरपुरःसरौ ॥३९॥

(अनेक गर्भोत्पत्ति हेतु—) अन्तर्वायु के द्वारा बीज विभक्त होने पर गर्भाशय में अवतीर्ण हुए दो पापी जीव यम कहलाते हैं ॥३९॥

वक्तव्य—अन्तर्वायु—पक्वाशयान्तर्गत वायु अर्थात् अपान वायु जिसका संबंध आर्तव, शुक्रगर्भ इत्यादि के साथ होता है। किंवा पञ्चमहाभूतान्तर्गत वायु जिसके द्वारा गर्भ में विभजन का कार्य होता है—तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति। (शारीर ५।२)। बीजे भिन्ने—इसके दो अर्थ हो सकते हैं और उनके अनुसार अनेक गर्भोत्पत्ति होती है। (१) स्त्रीबीज पृथक् पृथक् होने पर। साधारणतया प्रतिमास बीजकोष से केवल एक बीज बाहर निकलता है और जब उसका संयोग शुक्राणु के साथ होता है, तब गर्भ उत्पन्न होता है। कभी कभी वाम और दक्षिण बीजकोष से एक एक या कभी एक ही से दो बीज बाहर आते हैं। इस तरह साधारणतया एक और क्वचित् दो या तीन बीज हर महीने में बाहर आते हैं। स्त्रीसमागम के समय उसर्गित शुक्र में करोड़ों शुक्राणु होते हैं और एक बीज को फलित (Fertilize) करने के लिए केवल एक ही शुक्राणु की आवश्यकता होती है। शास्त्रज्ञों की यह राय है कि ... के समय स्त्री के बीजकोष में ७२००० के लगभग अपक्व ... होते हैं। इनमें से स्त्री की गर्भधारणयोग्य ... केवल ४०० तक बीज पक्व होकर बाहर आते हैं और ... से दस बारह बीज सफल होते हैं। इस प्रकार ... शुक्राणु और अनेक स्त्रीबीज होने पर भी स्त्रियों ... महीनों तक गर्भधारणा नहीं होती या गर्भधारणा ... पर प्रायः एक ही गर्भ का आधान होता है। इसका ... यह है कि बाहर आये हुए बीज कई बार उदरगुहा ... नष्ट हो जाते हैं। जो बीजवाहिनी में आकर शुक्र ... साथ मिलते हैं, वे ही सफल होते हैं। अतः अनेक ... बाहर आने पर भी बीजवाहिनी में आने में असमर्थ ... के कारण बह्वपत्यता (Multiple pregnancy) उत्पन्न ... होती। जब अनेक बीजवाहिनियों में आ सकते हैं, ... घटना उत्पन्न होती है। इस प्रकार दो स्वतन्त्र बीजों ... उत्पन्न हुए यमल द्विबीजात्मक (Binovular) ... स्वतन्त्र बीजों से उत्पन्न हुए त्रिक, चतुष्क अनेक बीज... (Multiovular) कहलाते हैं। प्रतिमास बीज का ... करना, उसको यथामार्ग बीजवाहिनी में ले जाना, ... उत्सर्ग, प्रतिमास आर्तव का उत्सर्ग ये कर्म अपान ... हैं—पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्ययम्। ... शकृन्मूत्रशुक्रगर्भार्त्तवान्यधः ॥ (सुश्रुत, निदान १)। ... बहुबीजात्मक बह्वपत्यता अपानवायु के कारण समझ... हैं। (२) दूसरे प्रकार से भी बह्वपत्यता होती है। ... बीज शुक्रसंयुक्त होने के बाद दो भागों में पूर्णतया ... (Complete division) होने से। इस प्रकार से ... हुए अपत्यों को एकबीजात्मक (Uniovular) कह... इसमें भी दो प्रकार हैं—दो केन्द्रयुक्त बीज से होने ... और एक केन्द्रयुक्त बीज शुक्राणु से संगत होने के ... भागों में पूर्णतया विभक्त (Complete dichotomy ... पर होने वाले। इस प्रकार की बह्वपत्यता पंचमहाभूत... वायु के कारण समझ सकते हैं।

एकबीजात्मक अपत्यों की विशेषताएँ—(१) एक ... साधारणतया दो ही गर्भ हुआ करते हैं, परन्तु क्वचित् ... भी हो सकते हैं—

Triplets may be developed from ... ova or from two ova, one of which ... double nucleus or conceivably from a ... ovum. *Ten Teacher's Midwifery.*

(२) युग्म बालकों में एकबीजात्मक अपत्यों का ... बहुत कम होता है। द्विकेन्द्रात्मक बीज से होने वा... प्रतिशत प्रमाण बारह और एककेन्द्रात्मक बीज ... वालों का ·८ होता है। (३) दोनों अपत्यों का ... होता है और अपरा (Placenta) भी एक ही होती ... (४) इनकी वृद्धि ठीक नहीं होती, कभी कभी वि... होती है और इनका स्वास्थ्य भी अच्छा नहीं होता ... इनमें कालपूर्व प्रसव होने की संभावना भी ... होती है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनेकबीजात्मक अपत्यों की विशेषताएँ—(१) इसमें प्रत्येक गर्भ शुक्रसंयुक्त स्वतन्त्र बीज से उत्पन्न होता है। (२) युग्मों में द्विबीजात्मक अपत्यों का प्रमाण एकबीजात्मक अपत्यों की अपेक्षा छः से आठ गुना अधिक होता है; अर्थात् ९० प्रतिशत युग्म बालक द्विबीजात्मक होते हैं। (३) दोनों का लिङ्ग एक या भिन्न हो सकता है। परन्तु अपरा और गर्भ के आवरण सदैव स्वतन्त्र होते हैं। (४) उनकी वृद्धि ठीक और समान होती है, दोनों का तोल समान होता है और प्रायः स्वास्थ्य भी ठीक होता है। (५) प्रायः योग्य समय पर प्रसव होता है।

बहुपत्यता का प्रमाण—अनेक देशों के प्रसूतिगृहों के इतिवृत्तों का विचार कर हेलिन नामक शास्त्रज्ञ ने यह आनुमानिक नियम बनाया है कि प्रत्येक अस्सी प्रसवों में एक युग्म (Twins) उत्पन्न होता है, प्रत्येक ६४०० प्रसवों में एक त्रिक (Triplet) उत्पन्न होता है, और प्रत्येक ५१२००० प्रसवों में एक चतुष्क (Iwadruplet) उत्पन्न होता है। पंचक (Iuintlet) और षट्क (Sixlet) अपत्य बहुत कम होते हैं इसलिए उनके सम्बन्ध में नियम करना कठिन है—

We may mention as a curiosity, that according to a formula given by Hellin, there is one twin birth in 80 births, one triplet in 80×80 and one quintlet in 80×80×80. *Ideal Birth.*

बहुप्रसव राष्ट्र में युग्मों की संख्या उपर्युक्त प्रमाण से अधिक हुआ करती है—

As a rule, the more fertile a nation the more twin pregnancies will there be. *Ten Teacher's Midwifery.*

इनकी आयुर्मर्यादा—साधारणतया युग्म बालक सजीव प्रसूत होते हैं और साधारण अपत्य के समान आयुर्मर्यादा होती है। त्रिक बालक भी सजीव प्रसूत होते हैं और युग्म के समान जी सकते हैं। चतुष्क, पञ्चक और षट्क बालक सजीव प्रसूत हो सकते हैं, परन्तु प्रायः जीते नहीं। एक नीग्रो स्त्री से छः अपत्य हुए थे। उनमें पाँच पुत्र और एक कन्या थी। उनमें एक बालक दो दिन तक जीवित रहा, चार तीन दिन तक जीवित रहे और एक चार रोज के बाद मर गया।

बहुपत्यता के हेतु—अनेक अपत्य क्यों उत्पन्न होते हैं? इस विषय का संतोषजनक उत्तर आज का विज्ञान नहीं दे सकता। तथापि निम्न कारण सहायता करते हैं। (१) कुलजप्रवृत्ति—बहुपत्यता में कुछ कुलजप्रवृत्ति सिद्ध हुई है। यह कुलजप्रवृत्ति स्त्री में अधिक होती है, क्योंकि आखिर में अनेक अपत्य होने का कार्य स्त्रीबीजगत प्रवृत्ति पर निर्भर होता है परन्तु यह प्रवृत्ति पुरुष के बीज में भी कभी कभी दिखाई देती है, क्योंकि एक घर के कई भाइयों को युग्म हुए हैं और एक पुरुष से अनेक स्त्रियों में भी युग्म हुए हैं। पुरुष के शुक्राणुओं में यह प्रवृत्ति कैसे उत्पन्न होती है, इसका भी संतोषजनक उत्तर देना कठिन है क्योंकि एक समय असंख्य स्त्रीबीजों को सफल करने के लिए पर्याप्त शुक्राणु योनि में प्रविष्ट होते हैं। (२) आयु—इक्कीस से अट्ठाईस साल की आयु में युग्म अधिक होते हैं। अधिक उम्र की स्त्री में प्रथम प्रसव में अधिक होते हैं। (३) प्रसवक्रम—प्रथम प्रसव में युग्म होने की सम्भावना सब से अधिक होती है, दूसरे प्रसव में सब से कम होती है और तीसरे से फिर धीरे धीरे बढ़ने लगती है। जिस नीग्रो स्त्री के छः अपत्यों का ऊपर निर्देश किया गया है, उसको प्रथम बार चार, दूसरी बार तीन, तीसरी बार तीन और चौथी बार छः, इस तरह चार प्रसवों में कुल सोलह अपत्य हुए थे। बहुपत्यता के कारण एक स्त्री के ४४, उसकी एक बहन के ४१ और दूसरी बहन के २९ अपत्य हुए थे।

आयुर्वेद में बहुपत्यता की उपपत्ति—बहुपत्यता के एकबीजात्मक और अनेकबीजात्मक करके दो कारण इस वक्तव्य के प्रारम्भ में आधुनिक पाश्चात्य कल्पना के अनुसार बताये गये हैं। आयुर्वेद में इसके संबंध में निम्न वचन मिलते हैं—भिनत्ति यावद्बहुधा प्रपन्नः शुक्रार्तवं वायुरतिप्रवृद्धः। तावन्त्यपत्यानि यथाविभागं कर्मात्मकान्यस्ववशात् प्रसूते ॥ (चरक, शारीर २)। शुक्रार्तवेऽनिलेन खण्डशो भिन्ने यथाविभागमपत्यानामुत्पत्तिः। (अष्टांगसंग्रह, शारीर २)। मिश्रीभूतं च शुक्रार्तवं स्वविशिष्टहेतुकोऽनिलो यदा खण्डशः करोति तदा बहूनामपत्यानां संभवः। (इन्दु)। शुक्रार्तवे पुनः। वायुना बहुशो भिन्ने यथास्वं बह्वपत्यता। (अष्टांगहृदय, शारीर १)। यदा तु कललं वायुस्तद् द्विधा कुरुते बली। यमौ तदा संभवतः कृष्णात्रेयवचो यथा ॥ (भेडसंहिता, शारीर १)। इन वचनों में 'मिश्रीभूतं शुक्रार्तवं' 'कलल' (तीसरे अध्याय का १८वाँ सूत्र और उसका वक्तव्य देखो) इत्यादि जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनसे यह स्पष्ट होता है कि आर्तव और शुक्र संयुक्त होने के पश्चात् उसमें विभाग होने के कारण बहुपत्यता उत्पन्न होती है, यह आयुर्वेद के सब ग्रंथकारों का मत है। यह मत आधुनिक परिभाषा के अनुसार एकबीजात्मक (Uniovular) अपत्यों के लिए लागू है। इस दृष्टि से 'बीजेऽन्तर्वायुना भिन्ने' इसका स्पष्टीकरण 'अतिवृद्धेनान्तर्वायुना मिश्रीभूते शुक्रार्तवे द्विधा खण्डशो भिन्ने सति' ऐसा होता है। व्यवहार में यद्यपि एकबीजात्मक बहुपत्यता हुआ करती है तथापि उसका प्रमाण बहुत कम होता है और अनेकबीजात्मक बहुपत्यता अधिक हुआ करती है। तिस पर भी आयुर्वेद में अनेकबीजात्मक बहुपत्यता का उल्लेख नहीं है। इसका कारण यह है कि आयुर्वेद के अनुसार पुरुष के शुक्र में और स्त्री के आर्तव में प्रत्येक समय एक ही बीज (उत्पादक अंश) होता है, ऐसी कल्पना होती है। इनके संयोग से एक अपत्य उत्पन्न होता है और जब इनके संयोग के कई विभाग हो जाते हैं तब कई अपत्य उत्पन्न होते हैं। पशुओं की बहुपत्यता के सम्बन्ध में भी आयुर्वेद की यही कल्पना है, जिससे उपर्युक्त कथन की सत्यता स्पष्ट होती है—सूकरसारमेयादिजातिषु त्वनेनैव विधिना सदाऽनेकपत्यता। (अरुणदत्त, अष्टांगहृदय, शा० १)। वायुस्त्वश्ववराहाणां देहेषु बलवान् पुनः। स तत्र कललं भित्त्वा करोति बहुपुत्रताम् ॥ (भेडसंहिता, शा० १)। इसमें संदेह नहीं कि जानवरों में बहुपत्यता मनुष्यों के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समान हुआ करती है, इसलिए मनुष्यों की बह्वपत्यता की आयुवद की कल्पना जैसी एकदेशीय है, वैसी जानवरों की बह्वपत्यता की भी हो जाती है। वास्तव में मनुष्यों में बह्वपत्यता अधिकतर अनेक बीजों से होती है और सूकर सारमेयादि पशुओं में भी ऐसी ही होती है। सूकरसारमेयादि जाति में बह्वपत्यता स्वभाव है। मनुष्य-जाति में, यद्यपि उसको विकृति नहीं कह सकते तथापि यह स्वभाव नहीं है अर्थात् स्वभावविरोधी कार्य होने में कुछ कारण होना चाहिए। आयुर्वेद इसके लिए पूर्वकर्म या पूर्वपाप कारण मानता है—कर्मात्मकान्यस्ववशात् प्रसूते। (चरक)। तीसरें अध्याय का ४५वाँ श्लोक और उसका वक्तव्य देखो।

यमों में न्यूनाधिक वृद्धि का हेतु—जब दो अपत्य एक बीज के विभिन्न होने से होते हैं, तब प्रायः एक अपत्य दूसरे से तोल में अधिक रहता है। इसका कारण यह होता है कि दोनों की अपरा एक होती है और दोनों के रक्तपरिभ्रमण का आपस में संयोग होता है। जब एक का हृदय दूसरे से अधिक प्रबल होता है, तब प्रबल गर्भ का रक्त निर्बल गर्भ के शरीर में प्रवेश करके उसके रक्तप्रवाह में बाधा उत्पन्न करता है। इससे दूसरे गर्भ की ठीक वृद्धि नहीं होती, या उसकी मृत्यु होकर वह शुष्क हो जाता है। इस शुष्क गर्भ को फ़ीटस पेपिरेसिअस (Foetus papyraceous) या फ़ीटस कॉम्प्रेसस (Compressus) कहते हैं—आहारमाप्नोति यदा न गर्भः शोषं समाप्नोति परिस्रुतिं वा। (चरक)। कभी कभी यह आपत्ति दूसरे गर्भ में आकार की विचित्रता उत्पन्न करती है। प्रबल गर्भ से निर्बल गर्भ में रक्त आने के कारण धीरे धीरे निर्बल गर्भ का हृदय बंद हो जाता है, जिससे उस गर्भ के हृदय, ऊर्ध्वशाखाओं और शिर की वृद्धि रुक जाती है परन्तु नाभि के पास दूसरे गर्भ से जो कुछ रक्त आता है, उससे उदर-विभाग और अधोशाखाओं की वृद्धि होती है। इस प्रकार के गर्भ को हृदयहीन (Acardiac monster) कहते हैं। चरकसंहिता में न्यूनाधिक वृद्धि और तदनुषंगिक अन्य परिणामों का कारण पूर्वकर्म लिखा है—कर्मात्मकत्वाद्विषमांशभेदाच्छुक्रासृजं वृद्धिमुपैति कुक्षौ। एकोधिको न्यूनतरो द्वितीय एवं यमेऽप्यभ्यधिको विशेषः॥ आधुनिक विज्ञान भी एक हृदय प्रबल क्यों होता है, इसका उत्तर जब तक ठीक नहीं दे सकता, तब तक पूर्वकर्म मानना ही उचित है।

धर्मेतरपुरःसरौ—माता के गर्भाशय जैसे मलमूत्राशयसमीपवर्ती संकट स्थान में मलमूत्रश्लेष्मादि से संपृक्त स्थिति में, माता से मिलने वाले आहार, प्राणवायु, निद्रा इत्यादि पर निर्भर होकर शरीर की संकुचित अवस्था में नौ दस महीनों तक रहने में जीव को बहुत पीड़ा होती है। ऐसे संकट स्थान में जब दूसरा जीव मेहमान होकर आता है, तब दोनों की भी तकलीफ दुगुनी हो जाती है। तिस पर ये प्रायः प्रसव के समय आड़े या टेढ़े आते हैं, जिससे प्रसव में विलंब होता है और उनको भी तकलीफ होती है। तथा स्वयं आकार में छोटे और दुर्बल होते हैं, जिसके कारण जन्म ठीक होने के पश्चात् भी वे हमेशा बीमार हुआ करते हैं और कभी कभी बाल्यावस्था में ही मर जाते हैं। जब इस तरह यम में अवतीर्ण होते हैं, तब उनको अधिक पीड़ा सहन करनी पड़ती है। यह कार्य पूर्वज... अधर्म के सिवा नहीं हो सकता। पूर्वजन्मकृत धर्मा... कर्म जीव के साथ साथ रहता है और उस धर्मा... अनुसार जीव योग्य शुक्रार्तव में प्रवेश करता... भूतैश्चतुर्भिः सहितः सुसूक्ष्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात्। चत्वारि तु कर्मजानि यान्यात्मलीनानि विशन्ति गर्भम्॥ (च... कर्म धर्माधर्मरूपं यत्रैनं भोगार्थं नयति तदेव देहमयं या... भवति। (चक्रपाणिदत्त)। इसलिए इतनी पीड़ा जिन... को सहन करनी पड़ती है, वे पूर्वजन्म में जरूर अधर्मी होने चाहिएँ। इसलिए लिखा है—धर्मेतरपुरःसरौ।

अब क्लीब के छः प्रकार वर्णन करते हैं—

पित्रोरत्यल्पबीजत्वादासेक्यः पुरुषो भवेत्।
स शुक्रं प्राश्य लभते ध्वजोच्छ्रायमसंशयम्।

(आसेक्य—) माता पिता के निर्बल बीज से ... (नामक) पुरुष (उत्पन्न) होता है। यह शुक्र सेवन से ध्वजोच्छ्राय को पाता है ॥४०॥

वक्तव्य—पित्रोः—माता और पिता। अष्टां... में केवल पिता या केवल माता के क्षीणबलवी... 'आसेक्य' की उत्पत्ति बताई है। जब दोनों अल्प... वाले होते हैं, तब 'वक्रध्वज' नामक षण्ड उत्पन्न होता... यदाऽल्पबीजोऽल्पबलः पुमानुद्वेगः स्त्रीद्वेषयुक्तोऽन्यकामो वा व्यवायप्रतिघातं करोति तद्विधा वा नारी पुंसस्तदाऽऽसेक्य... भवति। यदा पुनरुभावपि भवतः स्त्रीपुंसौ तद्विधौ तदा व... भवति। तस्य नैव ध्वजः स्तभ्यते। चरक में आसेक्य को ... कहा है—मातुर्व्यवायप्रतिघेन वक्री स्याद्बीजदौर्बल्यतया ... शुक्रं प्राश्य—स पुरुषोऽन्यपुरुषान्निजमुखेन व्यवायं कारयि... सिक्तं शुक्रं प्राश्य आस्वाद्य ध्वजोच्छ्रायं लिङ्गोत्थानं ... आसेक्यनामायं षण्डो मुखयोन्यपरपर्यायः॥ (डल्हण)। स्वमन्यभवं वा शुक्रं मुखे आसिच्यास्वादनाद् ध्वजस्य... च्छ्रायं लभते॥ (इन्दु)।

यः पूतियोनौ जायेत स सौगन्धिकसंज्ञितः।
स योनिशेफसोर्गन्धमाघ्राय लभते बलम्।

(सौगन्धिक—) जो दुर्गन्धित योनि में उत्पन्न ह... वह सौगन्धिक नामक (क्लीब) है। यह योनि ... की गंध सूँघने पर (स्त्री के साथ मैथुन करने के ... बल को प्राप्त करता है ॥४१॥

वक्तव्य—अयं सौगन्धिकनामा षण्डो नासायोन्यप... (डल्हण)। स स्वलब्धेन ध्वजगन्धेन योनिगन्धेन वा... बलं लभते। (इन्दु)।

स्वे गुदेऽब्रह्मचर्याद्यः स्त्रीषु पुंवत् प्रवर्तते।
कुम्भीकः स च विज्ञेयः—

(कुम्भीक—) अब्रह्मचर्य के कारण जो पुरुष ... उनकी गुदा में पुरुष की तरह प्रवृत्त होता है, वह ... जानना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वक्तव्य—स्वे गुदे—इसके दो अर्थ किये गये हैं—
(१) यः पुरुषः स्वे गुदे स्वकीयपायौ अब्रह्मचर्यादन्यपुरुषपार्श्वाद् व्यवायं कारयित्वा पश्चात् स्त्रीषु विषये पुमानिव प्रवर्तते पुरुषवद् व्यवायं करोति स कुम्भीकनामा पण्डो ज्ञेयः। (२) अन्ये तु प्रथमं स्त्रीषु विषये तासामेव स्वकीयगुदविवरे पशुवत् पृष्ठभागे शिथिलेन मेहनेन प्रवर्तते। किंनिमित्तमेतदित्याह—अब्रह्मचर्यात् क्लैब्यात् जातशुक्रस्याप्रवृत्तित्वात्। ततश्चानया विप्रकृत्या ध्वजोच्छ्राये जाते स एव स्त्रीषु पुरुषवत् प्रवर्तते। स कुम्भीकनामा नपुंसकः। गुदयोनिरयम् ॥ (डल्हण)। कुम्भीक की उत्पत्ति—रजस्कां यदा नारीं श्लेष्मरेता व्रजेदृतौ। अन्यसक्ता भवेत् प्रीतिर्यते कुम्भिलस्तदा ॥ (काश्यप)। डल्हण के अनुसार चरकोक्त 'वक्री' कुम्भीक है।

ईर्ष्यकं शृणु चापरम् ॥४२॥
दृष्ट्वा व्यवायमन्येषां व्यवाये यः प्रवर्तते।
ईर्ष्यकः स च विज्ञेयः—

(ईर्ष्यक—) और फिर ईर्ष्यक (के लक्षण) को सुन ॥४२॥ जो दूसरों का मैथुन देखकर मैथुन में प्रवृत्त होता है, वह ईर्ष्यक जानना चाहिए।

वक्तव्य—दृग्योनिरयमीर्ष्यकापरपर्यायः। (डल्हण)। ईर्ष्यक की उत्पत्ति—ईर्ष्याभिभूतावपि मन्दहर्षावीर्ष्याह्वयस्यापि वदन्ति हेतुम्। (चरक)।

षण्डकं शृणु पञ्चमम् ॥४३॥
यो भार्यायामृतौ मोहादङ्गनेव प्रवर्तते।
ततः स्त्रीचेष्टिताकारो जायते षण्डसंज्ञितः ॥४४॥

(नरषण्ड—) पाँचवाँ षण्डक सुनो ॥४३॥ जो पुरुष (अपनी) स्त्री में ऋतुकाल में मोहवश स्त्री की तरह प्रवृत्त होता है, तब स्त्री के समान हावभाव करने वाला और आकार वाला षण्ड नामक (पुत्र) उत्पन्न होता है ॥४४॥

वक्तव्य—अङ्गनेव—मैथुन के समय स्त्री नीचे उत्तान और पुरुष ऊपर होना चाहिए—उत्ताना तन्मना योषित्तिष्ठेदङ्गैः सुसंस्थितैः। (अष्टांगहृदय)। पुरुष को स्त्री के नीचे होने का वैद्यक में निषेध किया है—न चासावधस्तिष्ठेत। ...हि स्त्रीचेष्टः पुमान् जायते पुंश्चेष्टा स्त्री। (अष्टांगसंग्रह)। ...नावदुत्तानो भूत्वा व्यवाययति। (डल्हण)। कामशास्त्र में इसका निषेध नहीं है। इस प्रकार के आसन को 'पुरुषायित' कहते हैं और यह आसन पुरुष तब ग्रहण करता है, जब मैथुन के समय वह थक जाता है परन्तु उसकी कामेच्छा शान्त नहीं होती—नायकस्य सन्तताभ्यासात् परिश्रममुपलभ्य ...स्य चानुपशमम्, अनुमता तेन तमधोऽवपात्य पुरुषायितेन ...हाय्यं दद्यात् ॥ (वात्स्यायनकामसूत्र)। स्त्रीचेष्टिताकारः—स पुमान् स्त्र्याकृतिः स्त्रीचेष्टितश्च स्त्रीवदधोभूतः स्वमेढ्रयोर्ध्वे...ऽपरपुरुषाद् वीर्यच्युतिं कारयति। (डल्हण)। स्त्री के समान शरीर का आकार, स्त्री के समान हावभाव करना, वेष करना और पुरुष से प्रेम करना इत्यादि।

ऋतौ पुरुषवद्वाऽपि प्रवर्तेताङ्गना यदि।
तत्र कन्या यदि भवेत् सा भवेन्नरचेष्टिता ॥४५॥

(नारीषण्ड—) अथवा यदि स्त्री भी ऋतु समय में (मोहवश) पुरुष की तरह प्रवृत्त हो, तो यदि कन्या उत्पन्न होगी तो वह पुरुष के समान चेष्टा करने वाली होगी ॥४५॥

वक्तव्य—पुरुषवत्—पुरुष को नीचे करके स्वयं पुरुष के समान ऊपर होकर—पुरुषमधः कृत्वा व्यवायं कुरुते यदि। नरचेष्टिता—स्त्रीरूपाऽपि पुंवत् स्त्रियमारुह्य तयोनौ स्वयोनिघर्षणं करोति। (डल्हण)। पुरुष के समान हावभाव करना, वेष करना और स्त्री से प्रेम करना इत्यादि।

आसेक्यश्च सुगन्धी च कुम्भीकश्चेर्ष्यकस्तथा।
सरेतसस्त्वमी ज्ञेया अशुक्रः षण्ड(ण्ढ)संज्ञितः ॥४६॥

(सशुक्र और अशुक्र षण्ड—) आसेक्य, सौगन्धिक, कुम्भीक तथा ईर्ष्यक ये (चार नपुंसक) सशुक्र जानने चाहिएँ; षण्ड नामक (नपुंसक) शुक्ररहित है ॥४६॥

वक्तव्य—सशुक्र—आसेक्यादि चार पुरुषों में एक विशेष अवस्था में सिर्फ ध्वजोच्छ्राय होता है और उस समय शुक्र भी गिरता है याने ये प्रजोत्पादन में समर्थ हैं। पंचम षण्ढ में प्रायः ध्वजोच्छ्राय नहीं होता तथा शुक्र भी नहीं गिरता; अर्थात् यह प्रजोत्पादन में असमर्थ है। यह बन्ध्य (Sterile) कहलाता है। आसेक्यादि पुरुष एक विशेष प्रकार के नपुंसक (Impotent) हैं। इनका विशेष विचार आगे के श्लोक के वक्तव्य में किया गया है।

अनया विप्रकृत्या तु तेषां शुक्रवहाः सिराः।
हर्षात्स्फुटत्वमायान्ति ध्वजोच्छ्रायस्ततो भवेत् ॥४७॥

(ध्वजोच्छ्राय की उपपत्ति—) इस विप्रकृति के द्वारा हर्ष (उत्पन्न होने) से उनकी शुक्रवह सिराएँ फूल जाती हैं, जिसके कारण ध्वजोच्छ्राय होता है ॥४७॥

वक्तव्य—इस श्लोक में आसेक्यादि नपुंसकों में ध्वजोच्छ्राय की युक्ति वर्णन की है। शुक्रवहसिरा—वृषण और शिश्नगत रक्तवाहिनियाँ। ध्वजोच्छ्राय—शिश्नोत्थापन (Erection of the penis)। ध्वजोच्छ्राय मैथुन के समय की एक प्राकृतिक और आवश्यकीय स्थिति है। ध्वजोच्छ्राय के बिना मैथुन नहीं हो सकता। स्त्रियों में भी मैथुन के समय उनकी भगशिश्निका (Clitoris) का उच्छ्राय होता है; परन्तु स्त्रियाँ निश्चेष्ट होने के कारण उच्छ्राय के बिना भी मैथुन हो सकता है—कर्ता हि पुरुषोऽधिकरणं युवतिः। (कामसूत्र)। अनया विप्रकृत्या—शुक्रप्राशनादि उपर्युक्त विपरीत प्रक्रियाओं के द्वारा। इन प्रक्रियाओं का वैपरीत्य समझने के लिए ध्वजोच्छ्राय में शिश्न में होने वाला परिवर्तन स्वाभाविक तौर से कैसे होता है, इसका ज्ञान बहुत आवश्यक है। ध्वजोच्छ्राय में शिश्नगत परिवर्तन—मैथुन के अतिरिक्त समय में शिश्न शिथिल, छोटा और सिकुड़ा हुआ रहता है। जब पुरुष का मन कामुक होता है, तब शिश्न पहले से बहुत दृढ़, मोटा और लंबा हो जाता है। पुरुष का शिश्न कितना ही मोटा और लम्बा क्यों न हो तथा योनि कितनी ही चौड़ी क्यों न हो, जब तक शिश्न खूब सख्त नहीं होगा, तब तक उसका प्रवेश योनि में नहीं होगा और मैथुन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी असंभव होगा। शिश्नोत्थान ठीक न होना यह नपुंसक (Impotent) का एक लक्षण है। शिश्न की बनावट में मूत्रप्रसेकधरा (Corpora spongiosa) एक और शिश्नपार्श्विका दो (Corpora cavernosa) इस तरह तीन पेशियाँ भाग लेती हैं। स्पंज के समान इन पेशियों में बहुत से अवकाश (Caverns) होते हैं, जो शिथिलावस्था में रिक्त रहते हैं। जब पुरुष का मन मैथुनप्रवण होता है, तब ये अवकाश रक्त से भरकर तन जाते हैं (स्फुटत्वमायान्ति)। रक्त आने का मार्ग खुलने के साथ साथ रक्त लौटने का मार्ग बंद हो जाता है। जैसे, क्यानवस (एक प्रकार का मोटा कपड़ा) की एकमुखी नलिका में पानी भरकर दूसरा मुख कसके बाँधने से उस नली में सख्ती आ जाती है, वैसे ही शिश्न के अवकाश विस्फुटित होकर उनमें रक्त भरकर लौटने का मार्ग बंद होने से शिश्न में सख्ती आ जाती है। यह सख्ती मैथुन समाप्त होने के समय तक याने वीर्य निकलने के समय तक रहती है। उसके पश्चात् रक्त लौट जाता है और शिश्न पहिले के समान शिथिल पड़ जाता है।

शिश्नगत ये परिवर्तन कैसे होते हैं ?—शिश्नगत रक्तपरिभ्रमण का नियन्त्रण मस्तिष्क और कटिविभागगत केन्द्रों के द्वारा होता है। सुंदर स्त्री, स्त्री का कर्णमधुर गान, सुगन्धित फूलों की गंध, ताम्बूल सेवन, स्त्रीशरीर का स्पर्श इन कामोत्तेजक अर्थों का संबंध पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से होने पर उनकी सूचनाएँ इन इन्द्रियों के केन्द्रों में पहुँचती हैं, वहाँ से सोचने के स्थान में जाती हैं। आधुनिक विद्वानों का कथन है कि कामुक विषयों की सूचनाओं का मनन करने का कोई एक स्थान या केन्द्र नहीं है, मस्तिष्क का संपूर्ण बहिस्तर (Cerebral cortex) यह काम करता है—

The higher sexual centres are situated in the brain. Their exact location is not known. It seems that the whole contex is capable of receiving and transmitting sexual stimuli. The human mind is omni-sexual. *Riddle of Sex.*

कामुक सूचनाओं का मन से ग्रहण होने पर बुद्धि से मैथुन करने का निश्चय हुआ हो तो मस्तिष्क से सूचना तारों द्वारा कटिविभागगत सुषुम्ना के जननेन्द्रियसंबंधी केंद्र को जाती है। यहाँ से जननेन्द्रियसंबन्धी रक्तवाहिनियों को जाती है, जिससे जननेन्द्रिय में रक्त पहुँचाने वाली वाहिनियाँ विस्फारित होकर उनमें काफी रक्त भर जाता है और जननेन्द्रिय से रक्त ले जाने वाली वाहिनियाँ संकुचित हो जाती हैं, जिससे आया हुआ रक्त लौट नहीं सकता और शिश्न का उत्थान होता है। कटिविभागगत सुषुम्नाकेन्द्र जननेन्द्रिय से नाड़ियों द्वारा आई हुई सूचना के अनुसार प्रत्यावर्तन क्रिया (Reflex action) के द्वारा जननेन्द्रिय को उत्थित करने में स्वतन्त्र होता है। इस तरह स्पर्शादि कामुक विषयों का इन्द्रियों द्वारा ग्रहण मन को उत्तेजित करने का प्रधान मार्ग है और उत्तेजित मन मैथुनकर्म का प्रधान आश्रय है। इसके साथ साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शब्दस्पर्शादि बाह्य अर्थ प्रत्यक्ष होने की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि मन इन अर्थों को चिन्तन द्वारा मानसप्रत्यक्ष कर ले, तब भी वह उत्तेजित हो सकता है। इस तरह शब्दस्पर्शादि कामुक अर्थों का ज्ञानेन्द्रियों द्वारा या चिन्तन द्वारा प्रत्यक्ष करके उत्तेजित होकर मैथुन करने में समर्थ होना यह मन की प्रकृति है, इससे भिन्न विप्रकृति है। अब एक एक अर्थ का विचार किया जाता है।

(१) रूप—सुंदर, सुडौल, जवान, वस्त्रालंकार से विभूषित या नग्न स्त्री; स्त्री का मुख, केशकलाप, स्तन, नितम्ब, जघन इत्यादि अंग; स्त्री के वस्त्र अलंकार या अन्य पदार्थ; स्त्री की तस्वीरें या मूर्तियाँ तथा अन्य कामोत्तेजक वस्तुओं में से एक या अनेकों के प्रत्यक्ष दर्शन या मानसिक चिन्तन से शिश्नोत्थापन होना प्रकृति है। इसके सिवाय मनुष्यों के या जानवरों के मैथुनिक कर्म चित्र में या प्रत्यक्ष देखने पर शिश्नोत्थापन होना यह भी प्रकृति है। परन्तु उपरिनिर्दिष्ट दृश्यों में से एक दृश्य के प्रत्यक्ष दर्शन के सिवाय अन्य दृश्यों से उत्थापन नहीं होता और केवल उसी दृश्य से होता है, तब वह विप्रकृति हो जाती है। इस प्रकार की विप्रकृति है। दूसरे का व्यवाय देखकर हर्षित होने की विप्रकृति को अँग्रेजी में Scoptophilia, mixoscopia or voyeurism कहते हैं—

Founded on the sense of vision also we find a phenomenon bordering on the abnormal which is by Moll termed Mixoscopy. This means sexual pleasure derived from the spectacle of other persons engaged in natural and perverted sexual acts. *Studies in the Psychology of sex by Havelock Ellis.*

(२) रस—कामोत्तेजक अर्थात् वाजीकरण द्रव्यों के सेवन से काम को और बढ़ाना इसमें कोई खराबी नहीं होती है; परन्तु किसी पदार्थविशेष के सेवन के बिना मैथुन में असामर्थ्य उत्पन्न होना यह विप्रकृति है। अब इस प्रकार की विप्रकृति है, जिसमें मुखमैथुन (Fellatio) और शुक्रप्राशन के सिवा काम, हर्ष और उत्तेजना नहीं होती। शुक्र में वाजीकरण के गुण कुछ ऐसे लोगों में दिखाई देते हैं—

Semen is thus a natural stimulant and physiological aphrodisiac. When held for some time in the mouth, remarked John Hunter, it produces warmth similar to spices which last for some time. The stimulation produced by the injestion of semen would appear to form in some cases a part of the attraction exerted by Fellatio, De sade emphasized this point and in a case recorded by Howard semen appears to have acted as a stimulant for which the

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...ns as irresistible as that for alcohol in dipsomania. *Ibidem.*

(३) गंध—सर्प तथा अन्य जानवरों में घ्राणेन्द्रिय बहुत तीक्ष्ण होती है और इस तीक्ष्णता के कारण वे घ्राणेन्द्रिय का अनेकविध उपयोग कर लेते हैं। मनुष्यों में घ्राणेन्द्रिय उतनी तीक्ष्ण नहीं है और उसकी उपयोगिता बहुत कम है तथापि सुगन्धित तेल, इत्र, पुष्प इत्यादि की गंध से मन प्रसन्न होता है और सम्पूर्ण मस्तिष्कसंस्थान कुछ उत्तेजित हो जाता है। अपने पुराने ग्रन्थों में स्त्री और पुरुष के शरीर की गंध वर्णन करके गंध के अनुसार पद्मिनी, चित्रिणी इत्यादि भेद किये हैं—पद्मिनी पद्मगन्धा स्यान्मधुगन्धा च चित्रिणी। शङ्खिनी क्षारगन्धा स्यात्रिम्बगन्धा च हस्तिनी॥ भवति कमलनेत्रा नासिका क्षुद्ररन्ध्रा अविरलकुचयुग्मा चारुकेशी कृशाङ्गी। मृदुवचनसुशीला गीतवाद्यानुरक्ता सकलतनुसुवेशा पद्मिनी पद्मगन्धा॥ (रतिमंजरी)। यह गन्ध की कल्पना कुछ लोगों को केवल काल्पनिक मालूम होगी, परन्तु आधुनिक विद्वानों का भी कथन है कि स्त्री और पुरुष दोनों में युवावस्था में एक विशेष प्रकार की गन्ध उत्पन्न होती है—

In both sexes, puberty, adolescence, early manhood and womanhood are marked by a gradual developement of the adult odour of skin and excreta, in general harmory with the secondary sexual developements of hair and pigment. *Psychology of Sex.*

अब मैथुन की दृष्टि से गंध का विचार किया जाय तो कहना पड़ता है कि घ्राणेन्द्रिय और जननेन्द्रिय में जरूर कुछ सम्बन्ध है और एक के उत्तेजित हो जाने से दूसरा भी उत्तेजित हो जाता है। जानवरों में प्रायः शरीर की, विशेष कर के जननेन्द्रिय की, गंध को सूँघकर ही मैथुन में प्रवृत्ति और उत्तेजना आती है; क्योंकि उनकी शरीर की गंध और घ्राणेन्द्रिय दोनों ही तीक्ष्ण होती हैं। मनुष्यों में शरीर की गंध तथा घ्राणेन्द्रिय दोनों ही उतनी तीक्ष्ण न होने के कारण मैथुन में शरीर की गन्ध को सूँघकर प्रवृत्त होने की प्रवृत्ति याने प्रकृति नहीं होती। हाँ, मैथुन के समय सुगन्धित तैल, इत्र, पुष्पमाला इत्यादि का उपयोग स्त्री के शरीर पर करने से उनकी गन्धों का कामोत्तेजक प्रभाव जरूर कुछ पड़ता है और मैथुन में कुछ सहायता होती है, परन्तु यह प्रभाव गौण है। कुछ लोगों में गन्ध का, विशेष करके जननेन्द्रिय की गंध का कामोत्तेजक प्रभाव बहुत अधिक दिखाई देता है और ये लोग प्रायः उस गन्ध के सिवाय मैथुन करने में असमर्थ होते हैं, यह विप्रकृति सुगन्धी नपुंसक इसी वर्ग का है—

Olfactory influences play a certain part in various sexually abnormal tendences and practices which do not proceed from an exclusively olfactory fascination. Thus, Cunnilingus and Fellatis active part of their attraction more especially in the individuals from a prediliction for odours of sexual parts. In many cases smell plays no part in attraction. 'I enjoy cunnilingus if. I like the girl very much inspite of the smell.' We may associate this impulse with the prevelence of these practices among sexual inverts in whom olfactory attraction are often specially marked. It is certain also that a great many neurasthenic people and Particularly those who are sexually neurasthenic are particularly by susceptible to olfactory influences. A neurasthenic sensitiveness to odours is frequently accompanied by lack of sexual vigour. *Studies in the Psychology of Sex.*

(३) स्पर्श—यह कामोत्तेजन का बड़ा प्रभावशाली इन्द्रियार्थ है। पुरुष का स्त्री के शरीर से और स्त्री का पुरुष के शरीर से स्पर्श होते ही दोनों के शरीर में बिजली की सी चमक पैदा होकर मन कामप्रवण होता है। कण्डूयन (गुदगुदाना), चुम्बन, आलिङ्गन और प्रत्यक्ष मैथुन स्पर्श के ही विविध प्रकार हैं। यद्यपि शरीर की सम्पूर्ण त्वचा में कामोत्तेजक शक्ति होती है तथापि कुछ स्थान ऐसे हैं कि जहाँ यह शक्ति विशेषरूप से होती है। इनको कामकटिबन्ध (Erogenie yones) कहते हैं। ये कामकटिबंध अधिकतर उन स्थानों में होते हैं, जहाँ बाह्य त्वचा का श्लेष्मल त्वचा से संयोग होता है। जैसे—मुख, योनिमुख, गुद, स्तनाग्र इत्यादि। इनके सिवाय ऊरु, कक्षा आदि अन्य स्थान भी होते हैं। इन कटिबंधों का आपस में या जननेन्द्रिय से संयोग होने पर कामवेग बढ़ता है। इसलिए समागम के समय स्त्री-पुरुष कामवेग को बढ़ाने के लिए इन स्थानों की संयोगपरिवृत्ति (Permutations and Combinations) करते हैं। अर्थात् योनिचुम्बन, स्तनचुम्बन, गुदमैथुन, मुखमैथुन इत्यादि कार्य, जो प्रायः अस्वाभाविक कहलाते हैं, वास्तविक स्वाभाविक हैं। परन्तु यदि इन कर्मों का उपयोग मैथुन के बदले किया जाय, या इनमें से एकाध कर्म के सिवाय अन्य कामुक इन्द्रियार्थों से शिश्नोत्थान न हो तो यह विप्रकृति हो जाती है। कुम्भीक नपुंसक इस विप्रकृति का उदाहरण है, क्योंकि गुदमैथुन के सिवाय उसमें शिश्नोत्थापन नहीं होता। (५) शब्द—कर्णमधुर गान, स्त्री के बोल, कोकिला के शब्द सुनकर तबीयत प्रसन्न होती है और कामवेग बढ़ता है; यह प्रकृति है। परन्तु यदि किसी विशेष शब्द के सिवाय कामवेग बिलकुल ही न बढ़ता हो तो वह विप्रकृति हो जाती है। इस प्रकार का यहाँ कोई उदाहरण नहीं है।

कामुक विप्रकृति—उपर्युक्त आसेक्यादि चतुर्विध पुरुष कामुकविप्रकृति के जो अनेक प्रकार होते हैं, उनमें से एक प्रकार की विप्रकृति के उदाहरण हैं। कामुक विप्रकृति को अँग्रेज़ी में Sexual aberrations या Perversions कहते हैं। आसेक्यादि जिस विप्रकृति के उदाहरण हैं, उसकी विशेषता यह होती है कि एक विशिष्ट अवस्था में सिर्फ मनुष्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मैथुन करने में समर्थ होता है और उसके सिवाय षण्ढ रहता है। इस अवस्था को Fetishism (फेटीशिझम) कहते हैं। यह अवस्था मानसिक दौर्बल्य के कारण होती है—

Although the man be imptotent under what might be termed ordinary or usual circumstances, he is able to perform the sexual act under unusual or special conditions. This condition of affairs is a psychoneurosis, the man being impotent unless there are special and unsual circumstances attending the act, and to this state of affairs the name fetishism is given. *Index of differential diagnosis by Herbert French.*

चरकसंहिता में संस्कारवाही नाम से इसी विप्रकृति का वर्णन किया है—शुक्राशयद्वारविघट्टनेन संस्कारवाहं कुरुतेऽनिलश्च। (शारीर २)। संस्कार का अर्थ अष्टांगसंग्रह में इस प्रकार वर्णन किया है—तत्र संस्कारो वाजीकरावस्तयोऽभ्यवहारश्चेतोहर्षणानि च। विशिष्ट संस्कार के पश्चात् जिसकी शुक्रवह सिराएँ विस्फुट होकर मैथुन में सामर्थ्य आ जाता है, वह संस्कारवाही है—संस्कारेण बस्तिवाजीकरणादिना परं यस्य शुक्रमदुष्टद्वारं सत् प्रवर्तते स संस्कारवाहः। (चक्रपाणिदत्त)। संस्कारेण वाजीकरणादिना स्त्रीगमनाय संवाहयत इत्यर्थः। (इन्दु)। अत्र च संस्कारवाहेन सुश्रुतोक्ता आसेक्यसौगन्धिककुम्भीका अन्तर्भावनीयाः, यत एतेऽपि संस्कारविशेषेणैव शुक्रं त्यजन्ति। (चक्रपाणिदत्त)। इस अवस्था का कारण विकृत वायु है। स्वाभाविक वायु 'सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, हर्षोत्साहयोर्योनिः' है, और विकृत होने पर 'मनो व्यावर्तयति' अर्थात् मनोव्यावर्तन इस अवस्था का कारण सिद्ध होता है। यही कारण आधुनिक परिभाषा में Psycho neurosis करके उपर्युक्त हर्बर्ट फ्रेंच के उद्धरण में दिया है। अतः Fetishism के लिए 'संस्कारवाहिता' शब्द प्रयोग कर सकते हैं।

नरषण्ढ और नारीषण्ढ—ये भी कामुक विप्रकृति के उदाहरण हैं। पुरुषषण्ढ देखने में स्त्री के समान होता है। उसकी मानसिक स्थिति भी स्त्री के समान होती है। स्त्री के समान चेष्टा करने की उसकी इच्छा होती है और स्त्री के समान पुरुष के साथ प्रेम करता है और उसी से मैथुन भी करवाता है। ऊपर ४४-४५वें श्लोक के वक्तव्य में डल्हण की टीका देखो। नारीषण्ढ की इससे विपरीत स्थिति होती है। वह स्त्री होने पर भी सब काम मर्दाना करना चाहती है। शारीरिक कोई भी वैपरीत्य न होकर स्त्री में पुरुष के और पुरुष में स्त्री के गुणधर्म उपस्थित होना इस कामुक वैपरीत्य को नरनारीषण्ढ कहते हैं। पाश्चात्य परिभाषा में इस कामुक विप्रकृति को सेक्सुअल इन्वर्शन (Sexual inversion), होमो सेक्सुआलिटी (Homosexuality) या हर्शफील्ड की परिभाषा में सायको सेक्सुअल हर्माफ्रोडिटिझम (Psycho-sexual hermaphroditism) कहते हैं। इन षण्ढों की शारीरिक और मानसिक स्थिति के सम्बन्ध में ऊपर डल्हण का जो कथन दिया है, वैसा ही कथन 'हेवेलाक एलिस' अपनी पुस्तक में लिखते हैं—

In male inverts there is a frequent tendency to approximate to feminine type and in female inverts to the masculine type. This occurs in physical and psychic respects. Among female inverts there is some approximation to masculine altitude and temparament though it is by no means always conspicuous. *Psychology of sex.*

नरषण्ढ अशुक्र है और अनुमान से नारीषण्ढ अबीज होती है, अर्थात् पुरुष वन्ध्य और नारी वन्ध्या दोनों प्रजोत्पादन में असमर्थ होते हैं। यह कथन भी ठीक होता है। कारण यह है कि इन नरनारीषण्ढों की बाह्य जननेन्द्रियाँ अपक्व या शैशवीय (Infantile) करती हैं—

The sexual organs in both sexea are some over developed, or perhaps more usually, developed, in a slight approximation to the infantile type. Many of these physical and psychic characteristics may be said to indicate degree of infantalism. *Psychology of sex.*

जिस मनुष्य में लैङ्गिक आकर्षण अपने लिङ्ग के की ओर होता है, उसे समलिङ्गी (Homosexual) उस अवस्था को समलिङ्गता (Homosexuality) हैं। जब यह अवस्था सहज या जन्मज होती है, तब लैङ्गिक विपर्यास (Sexual inversion) कहते हेवेलॉक एलिस की इस व्याख्या के अनुसार नरनारी Sexual inversion के उदाहरण हैं। जो समलिङ्गी सहज प्रकृति के नहीं होते, वे अशुक्र नहीं होते। और पुरुष दोनों की ओर आकर्षित होते हैं। द्विलिङ्गी (Bisexuals) कहलाते हैं। इन समलिङ्गी में हस्तमैथुन, गुदमैथुन, मुखमैथुन इत्यादि अनेक विपर्यय मिलते हैं और संस्कारवाहित्व भी हो सकता इसलिए, आसेक्यादि पुरुष समलिङ्गियों के विविध समझ सकते हैं।

कामुक या लैङ्गिक विप्रकृति (Sexual aberration) प्रकार—आधुनिक काल में पाश्चात्य विद्वानों ने विप्रकृति की ओर काफी ध्यान देकर उसके कई निर्णीत किये हैं। उनका विवरण संक्षेप में जाता है—

(अ) कामेच्छा का विपर्यय (अयोग और अति—

(१) कामजड़ता (Sexual frigidity)—इस मनुष्य की कामवासना बहुत कम रहती है या उसका अभाव होता है। (२) कामोत्कटता (Erotic Satyriasis, Nymphomania)—इसमें पुरुष कामवासना से उन्मत्त हो जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(आ) काम का मिथ्यायोग (Parasthesia sexualis)—

(१) लक्ष्यविपर्ययः—

(क) स्वलिङ्गता (Auto-sexuality)—इसमें पुरुष या स्त्री का कामुक आकर्षण अपने शरीर की ओर होता है और हस्तमैथुन, दिवा या रात्रि के स्वप्न, कामुकचिन्तन इत्यादि के द्वारा इसकी शान्ति होती है। उसको अन्य व्यक्ति की आवश्यकता नहीं होती।

(ख) समलिङ्गता (Homosexuality, sexual inversion)—(१) द्विलिङ्गी—इसमें पुरुष और स्त्री दोनों की ओर आकर्षण होता है। (२) इसमें केवल अपने लिङ्ग के व्यक्ति की ओर आकर्षण होता है। (३) मानसिक प्रकृति दूसरे प्रकार के लिङ्ग के व्यक्ति के समान होती है। (४) शारीरिक आकृति दूसरे प्रकार के लिङ्ग के व्यक्ति के समान होती है। नारीषण्ढ और नरषण्ढ इस प्रकार के हैं—

(ग) जानवरों की ओर आकर्षण होना (Bestiality)—कुत्ता, बिल्ली, सूअर, गौ, घोड़ी, बकरी इत्यादि जानवरों का उपयोग किया जाता है। इसको 'तिर्यग्योनिगमन' कहते हैं।

(घ) लौंडेबाजी (Paidophilia)—छोटे छोटे कोमल लड़कों के ऊपर प्रेम करना।

(ङ) मुर्देबाजी (Necrophilia)—मृत शरीर पर प्रेम करना।

(२) हेतुविपर्ययः—

(च) शिश्न और योनि के अतिरिक्त अन्य स्थानों से आनन्द प्राप्त करना (अयोनिगमन), या किसी असाधारण वस्तु या क्रिया से आनन्द प्राप्त करना (Fetichism)। ईर्ष्यकादि चतुर्विध पुरुष इसी वर्ग में आते हैं।

(छ) प्रदर्शनीयता (Exhibitionism)—इसमें मनुष्य अपने गुह्यांग दूसरे को सार्वजनिक स्थानों में दिखाने की प्रवृत्ति होती है।

(ज) इसमें कामुकविपर्यय के अतिरिक्त दूसरे पर नासाच्छेदन, प्रहार करना इत्यादि क्रूरकर्म करने की प्रवृत्ति होती है (Sodism, Masochism); कामक्रूरता।

(झ) काम का विपरीतकालोद्भव (Parodoxia sexualis)—इसमें अकाल में कामवासनाओं का उद्भव होता है। जैसे—स्त्रियों में बारह साल के पूर्व और पुरुषों में सोलह साल के पूर्व कामवासना प्रबल होना। किंवा वृद्धावस्था में काम फिर से प्रबल होना।

इन लैङ्गिक विपर्ययों के उदाहरण उपर्युक्त सुश्रुत के श्लोकों के अतिरिक्त और भी मिलते हैं—कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु। (मेघदूत ५)। नहि जातबलाः सर्वे नराश्चापत्यभागिनः। बृहच्छरीरा बलिनः सन्ति नारीषु दुर्बलाः॥ सन्ति चाल्पवलाः स्त्रीषु बलवन्तो वहुप्रजाः। प्रकृत्या चाबलाः सन्ति सन्ति चामयदुर्बलाः॥ नराश्चटकवत् केचित् व्रजन्ति वहुशः स्त्रियम्। गजवच्च प्रसिञ्चन्ति केचिन्न बहुगामिनः॥ कालयोगवलाः केचित् केचिदभ्यसनध्रुवाः। केचित् प्रयत्नैर्व्यज्यन्ते वृषाः केचित् स्वभावतः॥ (चरक, चिकित्सा २)। नान्ययोनिं नायोनौ व्यवायं गच्छेत्। (चरक)। तिर्यग्योनावयोनौ च प्राप्तशुक्रविधारणम्। दुष्टयोनौ विसर्गं तु बलवानपि वर्जयेत्॥ (सुश्रुत)। तिर्यग्योनिरजादिः। अयोनि मुखमैथुनम्, यथा दाक्षिणात्याः स्त्रियो मुखे मैथुनं कारयन्ति। (डल्हण)। स्त्रीयोगेणैव पुरुषाणामपि अलब्धवृत्तीनां वियोनिषु विजातिषु स्त्रीप्रतिमासु केवलोपमर्दनाच्चाभिप्रायनिवृत्तिर्व्याख्याता। धात्रेयिकां सखीं दासीं वा पुरुषवदलंकृत्याकृतिसंयुक्तैः कन्दमूलफलावयवैरपद्रव्यैर्वाऽऽत्माभिप्रायं निवर्तयेयुः॥ वियोनिषु बालोरुकक्षादिषु, विजातिषु एडीवडवादिषु। स्त्रीप्रतिमासु स्त्रीप्रतिकृतिषु समुत्कीर्णस्त्रीलिङ्गादिषु। कन्दा आलुककदल्यादीनाम्। मूलं तालकेतकीनाम्। फलमलाबुकर्कटीनाम्। (वात्स्यायनकामसूत्रस्य जयमंगलाटीकायाम्, यशोधरः)। स्त्रियमयोनौ गच्छतः पूर्वस्साहसदण्डः, पुरुषमधिमेहतश्च। मैथुने द्वादशपणः तिर्यग्योनिष्वात्मनः। दैवतप्रतिमानां च गमने द्विगुणः स्मृतः। स्त्रीपुंसयोर्मैथुनार्थेनाङ्गविचेष्टायां रहश्शीलसंभाषायां वा चतुर्विंशतिपणः स्त्रिया दण्डः, पुंसो द्विगुणः। केशनीवीदन्तनखावलम्बनेषु पूर्वस्साहसदण्डः। (कौटिलीय अर्थशास्त्र)। इसके सिवाय 'औपरिष्टकम्' और 'प्रहणनयोगा' इत्यादि कामसूत्र के द्वितीय अधिकरणगत प्रकरण भी कामुक विपर्यय के ही हैं। उनके अन्त में वात्स्यायन लिखते हैं—कष्टमनार्यवृत्तमनादृत्यमिति वात्स्यायनः। तथादन्यदपि (प्रस्तराघाहननं) देशसात्म्यात्प्रयुक्तमन्यत्र न प्रयुञ्जीत॥ तदेतत्तु न कार्यं समयविरोधादसभ्यत्वाच्च।

ये लैङ्गिक विपर्यय अत्यन्त प्राचीन काल से अब तक, क्या सभ्य और क्या असभ्य, सभी लोगों में संसार भर में प्रचलित हैं, क्योंकि कामातुर मन क्या करेगा, इसका कोई ठिकाना नहीं—अर्थस्यास्य रहस्यत्वाच्चलत्वान्मनसस्तथा। कः कदा, किं कुतः कुर्यादिति को ज्ञातुमर्हति॥ (वात्स्यायनकामसूत्र)। कामातुराणां न भयं न लज्जा। (सुभाषित)। शास्त्राणां विषयस्तावद्यावन्मदरसा जनाः। प्रवृत्ते रतिचक्रे तु नैव शास्त्रं न च क्रमः॥ (वात्स्यायनकामसूत्र)। लैङ्गिक विपर्यास के कारण—इन लैङ्गिक विपर्यस्तों (Sexual perverts) को धार्मिकदृष्ट्या पातक का डर दिखाया जाता था, सामाजिक दृष्टि से लोग उनको घृणा से देखते थे और राजकीयदृष्ट्या विपर्यस्त काम करने पर उनको दण्ड दिया जाता था और अब भी इन तीन उपायों द्वारा उनकी संभावना होती है। परन्तु ये लोग इन उपायों का प्रयोग होते हुए भी प्राचीनकाल में थे, वर्तमानकाल में हैं, और भविष्यकाल में होंगे। पाश्चात्य देशों में गत अर्धशताब्दी में मानसशास्त्र के साथ साथ कामशास्त्र का भी काफी विचार हुआ है; और कुलजप्रवृत्ति, गर्भावक्रान्ति, शरीरकार्यविज्ञान इत्यादि अनेक शास्त्रों की सहायता से मन के इन कामुक विपर्ययों का विचार करने पर पाश्चात्य शास्त्रज्ञ इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि यद्यपि बाल्य और युवावस्था में खराब संगति के कारण मनुष्यों को खराब आदतें लग सकती हैं, तथापि अधिकसंख्य लोग अपनी आन्तरिक प्रकृति के कारण ही विपर्यस्त होते हैं; अर्थात् उनकी प्रकृति विपरीत होती है। इस विप्रकृति के तीन कारण माने गये हैं—

(१) आदिबलप्रवृत्तिदोष (माता पिता के बीजों का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोष Heredity)—माता पिता के धन के लिए जैसे उनकी प्रजा अधिकारी होती है, वैसे ही उनके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य के लिए भी उनकी प्रजा अधिकारी होती है। यह स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य उनके बीज के द्वारा संतति में प्रविष्ट होता है। कामुक विपर्यास युक्त माता पिता की प्रजा में कामुक विपर्यास उत्पन्न हो सकता है। (२) जन्मबलप्रवृत्ति (Anamolies of developement)—माता के उदर में स्थित गर्भ में माता के आहार-विहार आचार-विचार के कारण या अन्य कारणों से विविध मानसिक और शारीरिक विकार जैसे उत्पन्न होते हैं या उनका सूत्रपात होता है, वैसे ही लैङ्गिक विपर्यास भी उत्पन्न होते हैं या उनका सूत्रपात होता है और जन्म के पश्चात् बाल्यावस्था और युवावस्था में खराब संगति के कारण या ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त संवेदनाओं द्वारा उनकी वृद्धि होती है। (३) अन्तःस्रावी ग्रंथियों (Endocrine glands) के दोष—गर्भ में पुंस्त्व और स्त्रीत्व के लिए योग्य बाह्य और आभ्यन्तरीय जननेन्द्रियाँ उत्पन्न करना, जन्म के पश्चात् योग्य वय में उनकी वृद्धि करना, दाढ़ी मूछें, स्तन-वृद्धि इत्यादि व्यञ्जकविशेषों की वृद्धि करना तथा स्त्री और पुरुष के लिए योग्य मनोवृत्ति को बनाना इत्यादि सब कार्य शरीरगत कुछ विशेष ग्रंथियों के अन्तःस्राव से होते हैं। इन ग्रंथियों में स्त्रीत्व के लिए बीजग्रंथि (Ovary) का स्राव और पुरुषत्व के लिए वृषण का स्राव महत्त्व का है। इनके सिवाय अधिवृक्कग्रंथि (Suprarenal), ग्रीवाग्रंथि (Thyroid), थायमस (Thymus), पोषणकग्रंथि (Pituitary) इत्यादि अनेक ग्रंथियाँ लैङ्गिक कार्य में सहायता करती हैं। गर्भावस्था में तथा जन्म के पश्चात् इनका कार्य विकृत होने से नरनारी-षण्ढता, स्वलिङ्गता, कामजड़ता, कामोन्मत्तता, द्विलिङ्गता इत्यादि अनेक लैङ्गिक विपर्यय उत्पन्न होते हैं। इन ग्रंथियों की विकृति प्रायः आदिबल और जन्मबल के कारण ही हुआ करती है। इसलिए आधुनिक विद्वानों का यह कथन है कि लैङ्गिक विप्रकृतियाँ प्रकृतिप्रभव होती हैं और विप्रकृति और प्रकृति वास्तव में एक ही प्रकृति के तरतमदृष्टि से उत्पन्न हुए भेद हैं—

The elements of pathology are already to be found in the physiological, and pathological processes are still following the laws of physiology. Every normal man in matters of sex, when we examine him carefully enough, is found to show some abnormal elements and the abnormal man is merely manifesting in a dis-ordered or extravagant shape some phase of the normal man. *Psychology of sex.*

लैङ्गिक विपर्ययों की उत्पत्ति के संबंध में पाश्चात्त्य शास्त्रज्ञों के अनुसार ऊपर जो तीन कारण दिये हैं, वे ही तीन कारण आयुर्वेद में भी मिलते हैं। यही बड़ी आश्चर्यजनक और संतोष-जनक बात है। (१) आदिबलप्रवृत्ति दोष—यदा तु स्त्रियाः शोणितगर्भाशयौ दोषाः किञ्चित् प्रदूपयन्ति तदा यो गर्भो भवति तस्य गर्भस्य यस्य यस्य मातृजस्यावयवस्य बीजे बीजांशे प्रकोपमापद्यते तं तमवयवं विकृतिराविशति। एवमेव पुं शुक्राख्ये बीजे बीजं प्रदुष्यति, इत्यादि योजयेद्वन्ध्यं पूति पुरुषाकृतिप्रायं पुरुषं तृणमुखिनं नाम जनयति। (अष्टांगसं इसके सिवाय सुश्रुत में आसेक्यादि षड्विध षण्ढ चरक में द्विरेता, वक्री इत्यादि षण्ढ शुक्रशोणितदो ही वर्णन किये हैं। (२) जन्मबलप्रवृत्ति दोष— कर्माशयकालदोषैर्मातुस्तदाहारविहारदोषैः। कुर्वन्ति दुष्टा हि दोषाः संस्थानवर्णेन्द्रियवैकृतानि ॥ (चरक)। इसमें वैकृत के भीतर लैङ्गिक विपर्यय आ जाते हैं। शुक्रा गतस्य गत्वा करोति वायुः पवनेन्द्रियत्वम्। वाय्वग्निदोषाद् यस्य नाशं गतौ वातिकषण्डकः सः। शुक्राशयद्वारविघट्टनेन वाहं हि करोति वायुः। व्यवायशीला (गर्भिणी) दुर्बै स्त्रैणं वा। अभिध्यात्री परोपतापिनमिर्ष्युं स्त्रैणं वा। क्व दुर्बलमल्पशुक्रमनपत्यं वा। (चरक)। (३) स्त्रीक पुरुषकर भाग दोष—यदा तु अस्याः शोणिते गर्भा भागावयवः स्त्रीकराणां च शरीरबीजभागानामेकदेशः मापद्यते तदा स्त्र्याकृतिभूयिष्ठामस्त्रियं वार्ता नाम जनयति त्वस्य बीजे बीजभागावयवः पुरुषकराणां च शरीरबीजभा देशः प्रदोषमापद्यते तदा पुरुषाकृतिभूयिष्ठमपुरुषं तृणपुलि जनयति। (चरक)। स्त्रीकर शरीर भाग के संबंध में चक्रा लिखते हैं—स्त्रीकराणां शरीरबीजभागानामिति स्त्रीत्वव्यञ्ज पस्थलोमराज्यादिजनकबीजभागानाम्। वैसे ही 'पुरुषकरा पुरुषत्वव्यञ्जकश्मश्रूपस्थलोमराज्यादिजनकबीजभागानाम्' सकते हैं। संक्षेप में स्तन श्मश्रु इत्यादि स्त्रीत्व व्यञ्जक अंगों की उत्पत्ति करने वाले भाग का दोष। शारीरकार्यविज्ञान के अनुसार यह सिद्ध हुआ पुरुषत्व और स्त्रीत्व व्यञ्जक अंगों की उत्पत्ति विशेष अन्तःस्रावी ग्रंथियों के रस से होता है—

The main spring of puberty lies in the hormone, the hormone, so we have learn product of internal secretion by the sex glan testicles in the male and the ovaries in the are the workshops and supply stations of hormone. Now, sexual hormone is no ingredient of puberty. It has existed bef some authorities have reserved for it the able task of sex differentiation in the It decides the issue between male and Secondary sexual characteristics one bein loped. The larynx grows longer. The vo deeper. A crop of hair appears on the fa upperlip of the male. The testicles grow The female breasts swell. The girdle fuller. *The Riddle of the sex.*

चक्रपाणिदत्त के कथन का मेल इस उद्धरण के पर स्त्रीकर और पुरुषकर भाग आधुनिक पाश्चात्य के अनुसार Sexual glands समझ सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्विध पुरुष नपुंसक हैं। उनमें एक विशेष संस्कार से ध्वजोच्छ्राय होता है, अन्यथा उनमें ध्वजोच्छ्राय नहीं होता। इस अवस्था को संस्कारवाहित्व (Fetichism) कहते हैं। नपुंसकत्व (Impotence) का यह एक कारण है। इसके सिवाय और भी कई कारण होते हैं, उनका यहाँ संक्षेप में विचार किया जाता है।

नपुंसकता (Impotence) के कारण—(१) शिश्न और वृषण के विकार—मेढ्रामयात्। (अष्टांगसंग्रह)। वदन्ति शेफसश्छेदात्। (चरक)। जैसे शिश्न का सहजव्यंग, निरुद्धप्रकाश, वृषणक्षय, शिश्न का अभाव, शिश्न का कैन्सर, श्लीपद, जलवृषण (मूत्रजवृद्धि) इत्यादि।

(२) शारीरिक विकार—रसादीनां च संक्षयात्। वातादीनां च वैषम्यात्तथैवानशनाच्छ्रमात्। (चरक)। अतिस्थौल्यात्। (अष्टांगसंग्रह)। जरया, क्षयात्। (चरक)। मधुमेह, वातरक्त, जरा, पिच्युटरी ग्रंथि का कार्य ठीक न होना (Hypopituitrism), अतिस्थौल्य, फिरंग की चौथी अवस्था के मस्तिष्क सुषुम्नागत विकार, एक्स किरण का परिणाम, घातक रक्तक्षय, राजयक्ष्मा, फिरंग और विषमज्वर दौर्बल्य इत्यादि।

(३) मानसिक विकार—चिन्तया, स्त्रीणां चातिनिषेवणात्, स्त्रीणामसेवनात्, स्त्रीदोषदर्शनात्, अरसज्ञत्वात्, शोकचिन्ताभयत्रासात्। (चरक)। अतिहर्षात्, स्त्रीणामकौशलात्, क्रोधतः। (अष्टांगसंग्रह)। मन, मस्तिष्क और मैथुनकर्म के संबंध में पीछे इसी वक्तव्य के प्रारम्भ में जो विवरण किया गया है, उससे मानसिक विकारों का नपुंसकता के साथ कितना घना संबंध है, इसका बोध हो जायगा। जब तक पुरुष का मन मैथुन की ओर नहीं लगेगा, तब तक जननेन्द्रिय में खूब रक्तसंचय नहीं होगा और ध्वजोच्छ्राय भी ठीक नहीं होगा। इसलिए मैथुन के समय 'तन्मय' होना बहुत आवश्यक है—उत्सर्गमैथुनाहारशोधने स्यात्तु तन्मनाः। (सुश्रुत)। उपर्युक्त मानसिक विकारों से पुरुष का मन मैथुन से पराङ्मुख हो जाता है, जिससे ध्वजोच्छ्राय ठीक न होने के कारण मैथुन नहीं हो सकता। इस विषय का कुछ अधिक विवरण सुश्रुत चिकित्सास्थान के २९वें अध्याय में होगा। वंध्यता के भी प्रायः ये ही कारण होते हैं। पीछे २ सूत्र का वक्तव्य तथा इस अध्याय के ३ सूत्र के वक्तव्य में पुरुष की मनःस्थिति की टिप्पणी भी देखो।

आहाराचारचेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ।
स्त्रीपुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः ॥४८॥

(आहाराचारचेष्टा का सन्तति पर परिणाम—) जिस प्रकार के आहार, आचार और चेष्टाओं से युक्त होकर स्त्री और पुरुष समागम करते हैं, उस प्रकार की सन्तान उनसे होती है ॥४८॥

वक्तव्य—पुत्र—कन्या या पुत्र—पुत्रशब्दोऽपत्यमात्रोपलक्षणार्थोऽत्र। (अरुणदत्त)। समुपेयाताम्—इससे केवल समागमकाल अभिप्रेत नहीं है, समागमपूर्वकाल भी इसमें समाविष्ट है। इसको गर्भधारणकाल (Procreation period) कहते हैं। इस काल की अवधि आयुर्वेद के अनुसार अधिक से अधिक एक महीने की समझ सकते हैं—मासं ब्रह्मचारी, मासं ब्रह्मचारिणीम्। (सूत्र २९ देखो)। यह एक महीने का काल स्त्री की दृष्टि से उचित है, क्योंकि एक महीने में केवल एक बीज कोष से पक होकर बाहर निकलता है, जिससे गर्भधारणा हो सकती है। पुरुष की दृष्टि से एक महीने की अवधि कुछ अधिक है, क्योंकि उसके वृषण में प्रतिदिन असंख्य शुक्राणु उत्पन्न होते हैं। परन्तु व्यवहार के लिए अधिक से अधिक एक महीने की अवधि दोनों में भी उचित समझी जा सकती है। पाश्चात्य शास्त्रज्ञ मद्य, अफीम इत्यादि नशीली चीजों का त्याग गर्भाधान के पूर्व एक महीना भर करने को कहते हैं—

Prospective parents who in intentional procreation wish to give life to a child with the best possible predispositions must be advised not to drink alcohol for a long time—at least four weeks. This period is not chosen arbitrarily. It is based at least for the women, on the consideration that a poisened follicle and vitellus developed from it might damage and endanger embryo and pregnancy. This abuse (opium and morphia, etc.) might be discontinued at least for the period (one month) claimed above for preparation for the act of procreation. *Ideal Birth.*

इस एक महीने के काल में स्त्री और पुरुष का जिस प्रकार का आहार होगा, विहार होगा, मानसिक स्वास्थ्य होगा; उसी के अनुसार अपत्य भी स्वस्थ या अस्वस्थ, सबल या निर्बल, आनंदी या दुःखी, चञ्चल या स्थिर हो जायगा। इसलिए जिस प्रकार के अपत्य की इच्छा हो, उस प्रकार के अपत्य के लिए उचित आहार, विहार, आचार, विचार, चिन्तन इत्यादि शारीरिक और मानसिक कर्म स्त्री और पुरुष दोनों को ही एक महीना भर के लगभग करने चाहिएँ—इच्छेतां यादृशं पुत्रं तद्रूपचरितांश्च तौ। चिन्तयेतां जनपदांस्तदाचारपरिच्छदौ ॥ (अष्टांगहृदय)। Ideal Birth में भी लिखा है—

By procreation, we want to transmit our ego and make it go on living in our children and children's children. And therefore because we want to and must give our best we should set a certain time for concentration on the duty in which we prepare body and mind.

पीछे सूत्र २७वें का भी वक्तव्य देखो।

यदा नार्यावुपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथंचन
मुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमनस्थिस्तत्र जायते ॥४९॥

(अनस्थिगर्भोत्पत्तिहेतु—) जब अत्यन्त कामातुर हुई दो स्त्रियाँ समागम करती हैं और किसी तरह से एक दूसरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में शुक्र का उत्सर्ग करती हैं, तब अनस्थि (गर्भ) पैदा होता है ॥४९॥

वक्तव्य—वृषस्यन्ती—वृषभ की इच्छा करने वाली गौ, यह इसका योगार्थ है। स्त्री की दृष्टि से वृष के समान मैथुन कर्म में बलवान् पुरुष के साथ समागम की इच्छा करने वाली अर्थात् अत्यन्त कामातुर—'वृषं पुरुषमात्मार्थमिच्छन्ती' इति वृषस्यन्ती। रावणावरजा तत्र राघवं मदनातुरा। अभिपेदे निदाघार्ता व्यालीव मलयद्रुमम् ॥ कलत्रवानहं बाले कनीयांसं भजस्व मे। इति रामो वृषस्यन्तीं वृषस्कन्धः शशास ताम् ॥ (रघुवंश १२)। शुक्र—स्त्रियों में मैथुन के आनन्द से योनिगर्भाशय से एक प्रकार का चिपचिपा स्राव स्रवता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु यह पुरुषों के समान गर्भजनक शुक्र नहीं है, न इसका गर्भोत्पत्ति से कोई संबंध है; इस बात का स्पष्ट निर्देश आयुर्वेद में किया गया है—योषितोऽपि स्रवन्त्येव शुक्रं पुंसां समागमे। गर्भस्य तन्न किञ्चित्तु करोतीति न चिन्त्यते ॥ (अष्टांगसंग्रह)। इस विषय के संबंध में अरुणदत्त अष्टांगहृदय की टीका में लिखते हैं—तदेवं तरुणीनां कुसुमशराक्रान्तमानसानां तथाविधेन पुरुषसंयोगेन विनाऽपि केवलात् स्मृतिसंस्पर्शदर्शनाचलितप्रस्रुतरेतसां किमिति गर्भो न जायते ?। शुक्रार्तवं हि गर्भकारणम्। तच्च सन्निहितमेवेति केचित्। तान् ब्रूमहे। पुंशुक्राभावात्। पुंशुक्रं हि स्त्रीरेतोरक्तयुक्तं गर्भकारणम्। न च तदत्रास्ति। तदभावाद्गर्भस्याऽनुत्पत्तिः। तथा च संग्रहेऽप्यध्यगीष्ट—। यूरोप में १७वीं शताब्दी तक मैथुन के समय के इस योनिगर्भाशयगत स्राव को स्त्रीशुक्र ही कहते थे और गर्भधारणा के लिए उसे आवश्यक मानते थे—

This mucous ejaculation was in former days regarded as analogous to the seminal ejaculation in men and hence essential to conception. The belief that mucus poured out in women during sexual excitement is femenine semen and therefore essential to conception had many remarkable conjectures and was wide spread until the seventeenth centuary. *Studies in the Psychology of sex.*

आयुर्वेद में इस प्रकार का अज्ञान स्त्रीशुक्र के संबंध में नहीं था, यह उपर्युक्त अरुणदत्त और वाग्भट के वचनों से स्पष्ट है। अनस्थि—अस्थिविरहित, कोमलास्थियुक्त या विकृतास्थियुक्त। 'अ' से अभाव, अल्पता और अप्राशस्त्य तीनों का बोध हो सकता है।

इस श्लोक में नारीषण्ढों (Female Homosexual) का उल्लेख है। नारीषण्ढ स्त्रियों से प्रेम करती है, स्त्रियों से कामुक चेष्टा करती है, वेष आकृति इत्यादि में पुरुषों का अनुकरण करने की इच्छा करती है। जो द्विलिङ्गी नारीषण्ढ (Bisexual) होती है, वह स्त्री से भी प्रेम करती है और किसी पुरुष की पत्नी होकर भी रह सकती है। इस श्लोक का अभिप्राय—(१) स्त्रीशुक्र से गर्भोत्पत्ति का विचार किया जाय तो इस कथन को प्रत्यक्षविरोधी, आयुर्वेदविरोधी और अनार्ष मानकर इस श्लोक को प्रक्षिप्त समझ सकते हैं।

(२) यदि अनस्थि याने कोमलास्थि विकृतास्थि युक्त के विकारों (जैसे—Rickets, Osteogenesis Imper Fragilitas Ossium इत्यादि) की दृष्टि से विचार जाय तो यों कह सकते हैं कि इस प्रकार के कुकर्म इनकी उत्पत्ति का संबंध किया गया होगा, जैसे कि षण्ढ की उत्पत्ति में माता पिता के कुछ विपरीत संबंध लगाया गया है। पूर्वापर संदर्भ से द्वितीय अधिक उचित मालूम पड़ता है।

ऋतुस्नाता तु या नारी स्वप्ने मैथुनमावहेत्।
आर्तवं वायुरादाय कुक्षौ गर्भं करोति हि।
मासि मासि विवर्धेत गर्भिण्या गर्भलक्षणम्।
कललं जायते तस्या वर्जितं पैतृकैर्गुणैः॥

(विकृतगर्भोत्पत्ति—) परन्तु यदि ऋतुस्नाता स्वप्न में मैथुन का अनुभव करे तो वायु आर्तव को गर्भाशय में ले जाकर गर्भ को उत्पन्न करता है ॥५०॥ (इस की) गर्भिणी के गर्भ के लक्षण प्रतिमास बढ़ते जा (परन्तु) उसका (वह गर्भ) पितृगुणविरहित (के) कलल बनता है ॥५१॥

वक्तव्य—स्वप्ने मैथुनमावहेत्—पुरुषसमागम के तथा समागम का चिन्तन करने से जैसे स्त्रियों की गर्भाशय से शुक्रस्राव होता है, वैसे ही स्वप्न में मैथुन दृश्य देखने पर पुरुषों के समान स्त्रियों में भी योनिगर्भाशय से शुक्रस्राव होता है—

Inquiries into the lives of girls reveal ous incidents of orgiastic dreams resulting bably, in secretions from cervix and other such as seen in normal intercourse. *Riddle*

गर्भलक्षण—आर्तव का बंद होना, प्रातर्वमन जो तीसरे अध्याय के १३वें सूत्र में वर्णन किये पैतृकैर्गुणैः—गर्भ में केश, श्मश्रु, नख, अस्थि, सि इत्यादि धातु पिता से उत्पन्न होते हैं; तीसरे अध्याय ४२वाँ सूत्र देखो। इन धातुओं से विरहित गर्भ होता है।

इन श्लोकों के भी पिछले श्लोक के अनुसार दो सकते हैं। (१) स्त्री के आर्तव के साथ स्वप्न में मैथुन अनुभव करने पर उत्पन्न हुए स्त्री के शुक्र का गर्भोत्पादन के लिए पर्याप्त नहीं है, इसका विचार श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। अतएव इन श्लो अनार्ष या प्रक्षिप्त मानना। सुश्रुत के प्राचीन टी जेज्जटाचार्य इन श्लोकों को नहीं पढ़ते हैं—इमौ द्वावपि जेज्जटाचार्येण न पठितौ। (डल्हणटीका)। (२) अस्थि स्नायु इत्यादि से विरहित विकृत गर्भ की के लिए विवाहित स्त्री का स्वप्नमैथुन कारण पूर्वापर संदर्भ से दूसरा अर्थ प्रशस्त है।

कुकर्मों से मनुष्यों को परावृत्त करने के लिए शास्त्र अपने अधिकारानुसार उसका खराब फल है। जैसे—अर्थशास्त्र कुकर्म के लिए दण्ड देता है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रायश्चित्त या दूसरे जन्म में नीच योनि या रोग की उत्पत्ति बतलाता है और वैद्यशास्त्र इसी जन्म में रोगोत्पत्ति या विकृति में रोगोत्पत्ति बतलाता है। जैसे—अनस्थिपाणिपादः ... श्वश्रूगः सखिभार्यगः। (वृद्धगौतम)। स्त्रियमयोनौ गच्छतः पूर्वस्साहससदण्डः, पुरुषमधिमेहतश्च। (कौटिलीय अर्थशास्त्र)। ब्रह्मस्त्रीसज्जनवधपरस्वहरणादिभिः। कर्मभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य संभवम्॥ (सुश्रुत)। इस श्लोक से रक्तगुल्म का भी अर्थ निकाला जाता है, परन्तु निम्न कारणों से यह अर्थ अयथार्थ मालूम पड़ता है—(१) पूर्वापर संदर्भ से ये श्लोक गर्भ की विकृति के सम्बन्ध में लिखे गये हैं। रक्तगुल्मगर्भ की विकृति नहीं है, गर्भाशय की विकृति है, जिसमें गर्भ के समान लक्षण होते हैं—समगर्भलिङ्गः। (२) चरक, सुश्रुत, वागभट तथा आयुर्वेद के अन्य ग्रंथों में रक्तगुल्म के कारणों में स्वप्नमैथुन का उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता है। (३) यदि ग्रंथकार इससे रक्तगुल्म समझता तो उत्तरतन्त्र में जहाँ पर इसका विवरण किया गया है, वहाँ का उल्लेख यहाँ पर कर देता, जैसे कि पानीयक्षार के बारे में किया गया है—तं चेतरक्षारवद्दग्ध्वा परिस्रावयेत्, तस्य विस्तारोऽन्यत्र (उत्तरस्थाने)। (क्षारपाकविधि अध्याय)।

सर्पवृश्चिककूष्माण्डविकृताकृतयश्च ये ।
गर्भास्त्वेते स्त्रियाश्चैव ज्ञेयाः पापकृता भृशम् ॥५२॥
गर्भो वातप्रकोपेण दौहृदे वावमानिते ।
भवेत् कुब्जः कुणिः पङ्गुर्मूको मिन्मिन एव च ॥५३॥
मातापित्रोस्तु नास्तिक्यादशुभैश्च पुराकृतैः ।
वातादीनां च कोपेन गर्भो विकृतिमाप्नुयात् ॥५४॥

(गर्भ की विकृतियाँ और उनके हेतु—) सर्प, वृश्चिक, कूष्माण्ड (इत्यादि के समान) विकृताकारी जो स्त्रियों के गर्भ (होते हैं), वे अकसर पाप कर्मों से (होते हैं, ऐसा) जानना चाहिए ॥५२॥ वातप्रकोप से, अथवा दौहृद की अवमानना करने से गर्भ कुबड़ा, कुणि (जिसका हाथ विकल खराब हो गया है ऐसा), पङ्गु (लँगड़ा या विकृत पैर वाला), मूक (गूँगा), अथवा मिन्मिन (जिसका उच्चारण नासा में होता है ऐसा, सानुनासिक वाक्) होता है ॥५३॥ माता पिता की नास्तिकता से पूर्वजन्मकृत अशुभ कर्मों से और वातादि (दोषों) के प्रकोप से गर्भ विकृति को प्राप्त हुआ करता है ॥५४॥

वक्तव्य—सर्पवृश्चिकादि—इससे सर्प वृश्चिकादि का ग्रहण न करना चाहिए। मनुष्ययोनि में जन्म लेकर जिनका आकार मनुष्य की वास्तविक आकृति से भिन्न होता है, ऐसे विकृताकारी गर्भ इस शब्दप्रयोग से अभिप्रेत हैं। विकृताकृतयः—गर्भ में जो अनेक विकृताकार दिखाई देते हैं वे अंगों की अतिवृद्धि, अवृद्धि और अर्धवृद्धि इन कारणों से होते हैं। ये विकृताकार Anamolies of foetal developments or Congential malformations कहलाते हैं। इसमें कटा होंठ, फटी तालु, टेढा पैर, विकृत हस्त, अंगुलियों का अधिक, कम या संयुक्त होना, उनका अभाव, गुदा या मूत्रद्वार का न होना, सिर का बड़ा होना, मस्तिष्कावरण और सुषुम्नावरण की ग्रंथियाँ (Meningocele) इत्यादि अनेक प्रकार होते हैं। इनमें से विशेष प्रकार की विकृताकारता को Monstrocity या Teratism कहते हैं और विकृतगर्भ को Monsters (राक्षस) कहते हैं। सर्पादि उदाहरण इसी वर्ग के हैं। आधुनिक काल में इनका वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया गया है—

(अ) अयुक्तराक्षस (Single monoters)—इसमें केवल एक ही गर्भ की विकृतियाँ आती हैं। इसके तीन विभाग किये हैं—(१) नाभिजीवी (Omphalosite)—इसमें नाभिनाड़ी द्वारा नाभि के नीचे के अंगों का पोषण होता है, परन्तु हृदय सिर इत्यादि ऊपर के अंगों का पोषण नहीं होता। कभी कभी मृदुपिण्ड के समान यह अनस्थि और निराकारी (Anidians) भी होता है। इस प्रकार के हृदयहीन (Acardiac) गर्भ एकबीजोत्पन्न युग्म गर्भों में कभी कभी उत्पन्न होते (पीछे ३९वें श्लोक का वक्तव्य देखो) हैं। (२) स्वजीवी (Autosite)—इसमें नाभिनाड़ी द्वारा प्रारम्भ में सभी अंगों की वृद्धि होती है, परन्तु आगे जाकर किसी न किसी अंग की वृद्धि रुक जाती है। जैसे—किसी में अधःशाखा या ऊर्ध्वशाखा की वृद्धि ठीक नहीं होती, वह शाखाविकारी (Teratomelians) कहलाता है; किसी में शाखाएँ संयुक्त रहती हैं; किसी में अन्तराधि की दीवाल ठीक नहीं बनती, वह अन्तराधिविकारी कहलाता है; किसी में खोपड़ी या मस्तिष्क की वृद्धि ठीक नहीं होती या बिलकुल नहीं होती, उसे शीर्षविकारी (Terato-encephalians) कहते हैं; किसी में मुख का ऊपर का या नीचे का भाग नहीं मिलता, वह मुखविकारी (Terato-cephalians) कहलाता है। (३) परोपजीवी (Parasite)—इनमें नाभिनाड़ी भी नहीं होती। ये केवल निराकारी कलल होते हैं, जो माता के गर्भाशय की दीवाल पर बँदे की तरह चिपककर उसी से रस ग्रहण किया करते हैं। इसलिए ये परोपजीवी कहलाते हैं।

(आ) संयुक्तराक्षस (Double monsters)—इसमें दो गर्भ आपस में जुड़े रहते हैं। इसके निम्न विभाग किये गये हैं—(१) द्विस्वजीवी (Double autosite)—इसमें दो संपूर्ण गर्भ आपस में जुड़े रहते हैं (Terato pagians)—अथवा नाभि के नीचे का हिस्सा पृथक् होकर ऊपर का जुड़ा रहता (Teradelphian) है; या दोनों के शीर्ष पृथक् होकर शेष अंग जुड़ा रहता (Teratodymes) है। (२) स्वपरजीवी (Auto-parasite)—इसमें परजीवी गर्भ दूसरे गर्भ पर जुड़ा रहता है। जैसे—एक स्वतन्त्र गर्भ के सिर के साथ दूसरे का केवल सिर जुड़ा रहता है, या दूसरे के केवल हाथ पैर जुड़े रहते हैं, या एक के उदर में दूसरा गर्भ मिलता है। दो जुड़े हुए गर्भ प्रायः एकबीजात्मक दो गर्भों का सम्पूर्ण पृथक्त्व न होने के कारण उत्पन्न होते हैं। पीछे ३९वें श्लोक का वक्तव्य देखो।

विकृताकृति गर्भ की उत्पत्ति के कारण—पाश्चात्य वैद्यक में गर्भ की जन्मज विकृति के कोई विशेष हेतु नहीं बतलाये

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। आयुर्वेद में इसके छः कारण बताये गये हैं, जो बहुत युक्तियुक्त मालूम होते हैं और जब तक दूसरे कारण सिद्ध नहीं हुए हैं, तब तक इनको मानना ही उचित है। (१) पापकर्म—माता पिता के पूर्वजन्म के तथा इस जन्म के पापाचरण तथा गर्भ के पूर्वजन्म के पापकर्म। माता पिता के पापाचरण में स्त्रियों का आपस में मैथुनकर्म, स्वप्नमैथुन इत्यादि कर्मों का समावेश कर सकते हैं। (२) बीजदोष—इसमें माता के बीज का तथा पिता के शुक्राणु के दोषों का समावेश होता है। (३) गर्भाशयदोष—फिरंग, सोजाक, गर्भाशयशोथ, प्रदर इत्यादि विकार इसमें आते हैं। (४) माता के आहार-विहार का दोष—इसमें गर्भाधान होने के पश्चात् के आहार-विहार का समावेश होता है। तत्पूर्व के आहार-विहार के दोषों का समावेश नं० २ और ३ में होता है। (५) माता के श्रद्धाविघात का तथा मानसिक विकारों का परिणाम—श्रद्धा-विघात का विवरण सूत्रस्थान के २४वें अध्याय के ५वें सूत्र के वक्तव्य (प्रथमखण्ड पृष्ठ १५०–१५१) में किया गया है। इसी कारण में नास्तिक्य का भी समावेश करना चाहिए, क्योंकि नास्तिक्य मन की ही एक अवस्था है। धर्मशास्त्र और परमार्थ की दृष्टि से 'आस्तिक्यं श्रद्धानता परमार्थेष्वागमार्थेषु' इस प्रकार आस्तिक्य की व्याख्या की गई है। इसकी विरुद्ध अवस्था को नास्तिकता कहते हैं। वैद्यकीय दृष्टि से इसकी व्याख्या निम्न प्रकार कर सकते हैं—'आस्तिक्यं श्रद्धानता ह्यायुर्वेदोपदेशेषु' और इसकी विरुद्ध अवस्था को नास्तिकता कह सकते हैं। जैसे परमार्थ में नास्तिकता होने से दुर्गति प्राप्त होती है, वैसे ही आयुर्वेद में याने वैद्यक में नास्तिकता होने से दुःस्वास्थ्य प्राप्त होता है। एक बार परमार्थ में नास्तिकता होने से दुर्गति प्राप्त होने के बारे में सन्देह उत्पन्न हो सकता है, परन्तु वैद्यक में नास्तिकता होने से दुःस्वास्थ्य प्राप्ति के संबंध में सन्देह करने का कोई कारण नहीं होता, उसका फल तुरन्त मिलता हैं। वैद्यकीय नास्तिकता का स्वरूप निम्न प्रकार का हो सकता है। गर्भाधान के पूर्व बताये हुए नियमों की माता-पिता को क्या आवश्यकता है? मैथुन के समय चित्त शान्त और प्रसन्न रखने की क्या आवश्यकता है? गर्भिणी को आहार-विहार के नियमों की क्या आवश्यकता होती है? इत्यादि। इस नास्तिकता के कारण माता-पिता अपथ्यकर आहार-विहार करते हैं, जिससे वातादि दोष प्रकुपित होकर गर्भ की स्वाभाविक वृद्धि में बाधा होती है और विविध विकार उत्पन्न होते हैं। (५) कालदोष—काल से माता-पिता की आयु, समागमकाल, गर्भधारणकाल तीनों का बोध होता है, और माता-पिता का अतिबाल या अतिवृद्ध होना, दोनों में अनमेल, जल्दी जल्दी गर्भधारणा होना, निषिद्ध समय में मैथुन करना, अशुभ काल पर गर्भाधान होना इत्यादि बातों का समावेश काल के दोषों में होता है। याज्ञवल्क्यस्मृति और चरक में ये ही दोष बतलाये गये हैं—कालकर्मात्मबीजानां दोषैर्मातुस्तथैव च। गर्भस्य वैकृतं दृष्टमङ्ग-हीनादि जन्मतः ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति ३।१६९)। बीजात्म-कर्माशयकालदोषैर्मातुस्तथाहारविहारदोषैः। कुर्वन्ति दोषा विविधानि दुष्टाः संस्थानवर्णेन्द्रियवैकृतानि। वर्षासु काष्ठाश्मघ-नाम्बुवेगास्तरोः सरित्स्रोतसि संस्थितस्य। यथैव कुर्युर्विकृतिं तथैव गर्भस्य कुक्षौ नियतस्य दोषाः ॥ (शारीर २)।

मलाल्पत्वादयोगाच्च वायोः पक्काशयस्य च। वातमूत्रपुरीषाणि न गर्भस्थः करोति हि ॥

(गर्भावस्था में मलादि के अभाव के कारण—) मल के अल्प होने से तथा पक्काशय की वायु के अयोग से गर्भाशयस्थ (बालक) वात, मूत्र और मल (का उत्सर्ग) नहीं करता है ॥५५॥

वक्तव्य—मलाल्पत्वात्—गर्भाशयस्थ बालक के श्रवण और श्वसनसंस्थान के अतिरिक्त सब संस्थान कार्य करते हैं। श्वसन के अकार्यकारित्व का उल्लेख आगे के श्लोक में किया गया है। पचनसंस्थान में जो मल बनता है, वह माता द्वारा सेवन किये हुए आहार का अपाच्य अंश होता है। गर्भस्थ बालक मुख से कुछ भी सेवन नहीं करता, उसका पोषण माता के आहाररस से होता है। इसलिए पचनसंस्थान में आहारजन्य मल का अभाव होता है—अजातस्य स्तन्यपानानुप्रवेशादमलत्वाच्च रसस्य गर्भस्य स्थूलमलासंभवः। (अष्टांग संग्रह)। परन्तु आन्त्र की श्लेष्मल कला की टूटी फूटी सेलें इकट्ठा होकर कुछ मल जम जाता है। पित्त के कारण इसका वर्ण हरा काला सा रहता है। कभी कभी गर्भोदक के सेवन से, जिसमें त्वचा की सेलें और बाल रहते हैं, उसमें त्वचा की सेलें और बाल भी मिलते हैं। इस मल का उत्सर्ग प्रायः जन्म के पश्चात् हुआ करता है। क्वचित् जन्म के पूर्व गर्भाशय में इसका उत्सर्ग होता है। गर्भस्थ शिशु के पक्काशय में मिलने वाला यह मल रंग में अफीम के समान होने के कारण मेकोनिअम (Meconium) कहलाता है। अयोगाच्च वायोः पक्काशयस्य—इसके दो अर्थ होते हैं—(१) वायु—अधो-वात। इसकी उत्पत्ति पक्काशयगत मल के सड़ने से होती है। गर्भस्थ बालक में मलाभाव होने से अधोवायु का भी अभाव होता हैं। इसलिए इस पदसमूह का अर्थ 'पक्काशयगत अधोवायु के असंभव से' ऐसा कर सकते हैं। (२) किंवा पक्काशयवायु से अपानवायु भी ले सकते हैं, जो मल मूत्रादि के उत्सर्ग का काम करता है—पक्काधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्ययम्। समीरणः शकृन्मूत्रं शुक्रं गर्भार्तवान्यधः ॥ मनुष्यशरीर का कार्य सुचारु रूप से चलने के लिए उसमें मस्तिष्कनाडीसंस्थान, श्वसनसंस्थान, पचनसंस्थान, रक्तवहसंस्थान इत्यादि कई संस्थान बनाये गये हैं। इनमें से रक्तवहसंस्थान माता क रक्तवह संस्थान के सहयोग से गर्भ के पोषण का कार्य किया करता है। शेष संस्थान कार्य करने के लिए, वस्तु या विषय न होने के कारण अकार्यकर होते हैं। इस दृष्टि से 'पक्काशयस्य वायोरयोगाच्च' इसका अर्थ 'अपानवायु की अकार्यकारिता से' कर सकते हैं। अपानवायु का कार्य मलमूत्र अपानवायु को नीचे उत्सर्गित करना है। यह अपानवायु अकार्यकर होने के कारण गर्भस्थ शिशु, मलमूत्र और अधोवायु का उत्सर्ग नहीं करता—वातमूत्रं न करोति—गर्भ का रक्तवहसंस्थान कार्य करता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माता से शुद्ध रक्त आता है और गर्भ के शरीर में जो अशुद्ध रक्त बनता है, वह फिर माता के शरीर में जाकर शुद्ध होता है। शरीर में रक्त की शुद्धि त्वचा, फुफ्फुस और वृक्क इन तीन अंगों से होती है। गर्भस्थ शिशु की त्वचा और फुफ्फुस अकार्यकर होते हैं, परन्तु वृक्क में रक्त की कुछ शुद्धि होकर मूत्र बनता है और उसका उत्सर्ग भी गर्भोदक में होता है क्योंकि यह देखा गया है कि पाँचवें सप्ताह से प्रसूति के समय तक गर्भोदक में युरिआ (Urea) की राशि उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है और उसमें गर्भ के सूत्र में मिलने वाले द्रवण भी मिलते हैं—

The gradual increase in the amount of urea present up to its maximum at full time has been taken as an indication that the foetus urinates in utero. Further, the salts found in the amnoitic fluid are very similar to those commonly present in foetal urine. *Ten Teacher's Midwifery.*

इस श्लोक का तात्पर्य इतना ही समझना कि जन्म के पश्चात् जैसे मलमूत्र का उत्सर्ग होता रहता है, उस प्रकार जन्म के पूर्व नहीं होता है।

जरायुणा मुखे च्छन्ने कण्ठे च कफवेष्टिते।
वायोर्मार्गनिरोधाच्च न गर्भस्थः प्ररोदिति ॥५६॥

जरायु के द्वारा मुख ढका हुआ होने के कारण, कफ से कण्ठ लिप्त रहने के कारण और वायु के मार्ग में रुकावट होने के कारण गर्भस्थ शिशु रोता नहीं ॥५६॥

वक्तव्य—जरायु—गर्भ के आवरण (Foetal membranes)। जो बालक जन्म होते ही बड़े जोर से चिल्लाता है, वह जन्म के पूर्व माता की कुक्षि में क्यों नहीं रोता? इसके कारण इस श्लोक में वर्णन किये हैं। कण्ठे च कफवेष्टिते—बालक के मुख और कण्ठ में श्लेष्मा जरूर उपस्थित रहता है। यदि बालक स्वस्थ हो तो वह माता की सुरक्षित और सुखकर कुक्षि से बाहर आने पर जोर से रोता है। यह रुदन श्वासप्रश्वास क्रिया का प्रारम्भ है। कभी कभी श्लेष्मा की राशि अधिक होती है, जिससे बालक को श्वास लेने में तथा रोने में कठिनाई होती है। इसलिए जन्म होते ही बालक का मुख और कण्ठ रुई के फोया से साफ करने के लिए कहा गया है—अथास्य ताल्वोष्ठकण्ठजिह्वाप्रमार्जनमारमेताङ्गुल्या सुपरिलिखितनखया सुप्रक्षालितोपधानकार्पासपिचुमत्या। (चरक)। १०वें अध्याय का ११वाँ सूत्र और उसका वक्तव्य देखो।

निःश्वासोच्छ्वाससङ्क्षोभस्वप्नान् गर्भोऽधिगच्छति।
मातुर्निश्वसितोच्छ्वाससङ्क्षोभस्वप्नसंभवान् ॥५७॥

माता के निश्वास, उच्छ्वास, संक्षोभ तथा स्वप्न से उत्पन्न हुए निश्वास, उच्छ्वास, संक्षोभ और स्वप्नों को गर्भ प्राप्त होता है ॥५७॥

वक्तव्य—इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि जब तक बालक माता के उदर में रहता है, तब तक वह माता के शरीर के एक अंग के समान होता है और माता के प्रत्येक भले या बुरे कर्म का परिणाम जैसे उसके शरीर पर होता है, वैसे ही गर्भ के ऊपर भी होता है। माता जब श्वासोच्छ्वास करती है, तब उसके रक्त की शुद्धि होती है और उसके साथ साथ गर्भ के रक्त की भी शुद्धि होती है। माता जब सोती है, तब उसके शरीर के साथ साथ गर्भ को भी आराम मिलता है। माता जब भोजन करती है, तब उसके शरीर के पोषण के साथ गर्भ का भी पोषण होता है। माता जब संक्षुब्ध होती है, तब उसके शरीर पर जो परिणाम होता है वही परिणाम गर्भ पर भी होता है। संक्षेप में माता के प्रत्येक कर्म के साथ साथ गर्भ भी वही कर्म करता जान पड़ता है। इसलिए लिखा है माता के साँस से साँस लेता है, इत्यादि। परन्तु वास्तव में न गर्भ साँस लेता है, न सोता है, न क्रुद्ध होता है और न भोजन करता है। निःश्वास—बाहर साँस छोड़ना। उच्छ्वास—भीतर साँस लेना। संक्षोभ—मानसिक क्रोधादि विकार। ये सब उपलक्षण हैं। इनसे प्रत्येक शारीरिक और मानसिक क्रियाओं का बोध होता है। तीसरे अध्याय के ३९वें श्लोक का वक्तव्य भी देखो।

सन्निवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्भवौ।
तलेष्वसंभवो यश्च रोम्णामेतत् स्वभावतः ॥५८॥

शरीरों का सन्निवेश, दाँतों का गिरना और पैदा होना, हथेली और तलुवे में बालों का न होना यह स्वभाव से होता है ॥५८॥

वक्तव्य—सन्निवेश—बाह्य और भीतरी रचना। संसार में अनन्त प्रकार के शरीरधारी जीव होते हैं और उनके शरीर का सन्निवेश भिन्न भिन्न होता है, जिससे एक प्रकार का जीव दूसरे प्रकार के जीव से पहचाना जाता है। दन्तानां पतनोद्भवौ—दाँतों का द्विजत्व। एक बार उत्पन्न हुए दाँतों का गिरना और फिर से उत्पन्न होना। तलेषु—हस्तपादतलेषु।

प्रत्येक प्रकार की वनस्पति से उसी प्रकार की वनस्पति की उत्पत्ति, प्रत्येक प्रकार के प्राणी से उसी प्रकार के प्राणी की उत्पत्ति, मनुष्य से मनुष्य की उत्पत्ति, माता के उदर में मासानुमासिक गर्भ की वृद्धि, दस ही महीने में पूर्ण वृद्धि होकर जन्म होना, युवावस्था में पुरुषों में शुक्रोत्पत्ति, स्त्रियों में मासिक रजःप्रवृत्ति, स्तनवृद्धि, पुरुषों में डाढ़ी मूछें उत्पन्न होना, स्त्रियों में न होना, वृद्धावस्था में रजोनिवृत्ति, मृत्यु इस प्रकार के संसार के असंख्य कार्य स्वभावानुसार होते जाते हैं। आधुनिक विज्ञान इन असंख्य कार्यों के लिए कितने ही कारण क्यों न खोज लें; एक अवस्था ऐसी आती है, जिसके लिए कारण देना मुश्किल होता है और अन्त में स्वभाव की ओर अंगुलि निर्देश करना पड़ता है। प्रथमखण्ड के ३६३-३६४ पृष्ठों पर 'कालस्य परिणामेन मुक्तं वृन्ताद् यथा फलम्। प्रपद्यते स्वभावेन नान्यथा पतितुं ध्रुवम्॥ (इसका तथा १०वें अध्याय के १३वें श्लोक का वक्तव्य देखो)। स्वभाव कारणों का कारण है, जिसके अनुसार सृष्टि का प्रत्येक कार्य हो रहा है। इसलिए कुछ लोक 'स्वभाव' को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही सृष्टि का आदि कारण मानते हैं—स्वभावमेके कवयो वदन्ति कालं तथान्ये परिमुह्यमानाः ॥ (श्वेताश्वतरोपनिषद)। स्वभाव को अँग्रेजी में नेचर (Nature) कहते हैं। पाश्चात्य वैज्ञानिक प्रत्येक कार्य का कारण खोजने की कोशिश करते हैं और जहाँ बुद्धि कार्य नहीं कर सकती, वहाँ नेचर पर सौंप देते हैं, याने एक दृष्टि से पाश्चात्य वैज्ञानिक भी स्वभाववादी हैं। अब यहाँ शरीरादि के सन्निवेश के लिए जैसे स्वभाव कारण माना गया है, वैसे ही पाश्चात्य वैज्ञानिक भी मानते हैं—

Ninety percent of our physical and a large percentage of our mental make-up are due to hereditary influences. There are different races, different nationalities and different individuals whom we recognize at the first glance. How is this accomplished ? It is the secret of heredity, the question is—what is heredity ? Heredity is the treasure chest of Nature. Everything is preserved in its repository. *The Riddle of Sex.*

तीसरे अध्याय के ४५वें श्लोक का वक्तव्य भी देखो।

भाविताः पूर्वदेहेषु सततं शास्त्रबुद्धयः।
भवन्ति सत्त्वभूयिष्ठाः पूर्वजातिस्मरा नराः ॥५९॥

(जातिस्मरता के कारण—) पूर्वजन्मों में (ज्ञान विज्ञानादि) भावित, शास्त्रों (के अनुसार आचरण करने) में बुद्धि रखने वाले और सत्त्वभूयिष्ठ नर जातिस्मर होते हैं ॥५९॥

वक्तव्य—भाविताः—जैसे उचित द्रव्यों की भावना देने से ओषधि की गुणवृद्धि होकर वह अधिक कार्यकर होता है, वैसे ही उचित ज्ञानविज्ञानसंपन्न शास्त्रों के अध्ययन और चिन्तन रूप भावनाओं से जिनकी गुणवृद्धि हुई है, अर्थात् सुसंस्कृत। शास्त्रबुद्धि—शास्त्रान्तर्गत नियमों के ऊपर विश्वास रखकर उनके अनुसार वर्तन करने की बुद्धि जिनमें है, ऐसे। पूर्वदेहेषु—इस जन्म के पहले अनेक जन्मों में। एक जन्म में पुरुष को जो कुछ भी अनुभव होता है, उसके संस्कार मृत्यु के बाद लिंगशरीर के साथ जाते हैं और दूसरे जन्म में आविर्भूत होते हैं। उस जन्म के संस्कार प्रथम जन्म के संस्कारों के साथ मृत्यु के बाद तीसरे शरीर में चले जाते हैं। इस तरह जन्म-जन्मान्तर के संस्कार इकट्ठे होते जाते हैं। यद्यपि शरीर बदलता है तथापि आत्मा और मन के द्वारा सब जन्मों के संस्कारों की परम्परा कायम (अविच्छिन्न) रक्खी जाती है—शुभाशुभाभ्यां कर्मभ्यां प्रेरणान्मनसो गतेः। देहाद्देहान्तरं याति क्रमिवच्छाश्वतोऽव्ययः ॥ मनो हि जन्मान्तरसंगतिज्ञम् ॥ (रघुवंश)। रूपाद्धि रूपप्रभवः प्रसिद्धः कर्मात्मकानां मनसो मनस्तः ॥ (चरक शा० २)। मनसो मनस्त इति; पूर्वजन्मन्यव्यवहिते यादृङ् मनः, इह जन्मन्यपि तादृगेव मनो भवति। उक्तं चान्यत्र—जन्म जन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः। तेनैवाभ्यासयोगेन तदेवाभ्यस्यते पुनः ॥ (चक्रपाणिदत्त)। पूर्वजातिस्मराः—पूर्वजन्मवृत्तान्तं स्मरन्ति इति पूर्वजातिस्मराः। पूर्वजन्म का स्मरण जि[न्हें] ऐसे। जातिस्मरता पूर्वजन्म या पुनर्जन्म के सि[द्धान्त के] ऊपर अधिष्ठित होती है। यदि पुनर्जन्म केवल क[ल्पना] सृष्टि हो तो जातिस्मरता का विचार ही करने की [आवश्य]कता नहीं है। इसलिए प्रथम पुनर्जन्म का थोड़ा सा [विचार] किया जायगा। पुनर्जन्म भारतीय तत्त्वज्ञान (Philos[ophy]) का मौलिक सिद्धान्त है। शरीर की मृत्यु के साथ [आत्मा] आत्मा की मृत्यु न होकर वह आत्मा उस देह [के] संस्कारों के साथ दूसरे देह में चला जाता है, यह [पुनर्जन्म] का सूत्र है—वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि [गृह्णाति] नरोऽपराणि। तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि [संयाति] नवानि देही ॥ (भगवद्गीता २।२२)। मृतो नष्ट इ[ति] मन्ये तच्च मृषा ह्यसत्। स देशकालान्तरितो भूत्वा भूत्वाऽनु[भवति] (योगवासिष्ठ ५।७१।६५)। अनुभूय क्षणं जीवो मि[थ्या] मूर्च्छनम्। विस्मृत्य प्राक्तनं भावमन्यं पश्यति सुव्रत ॥ (३१)। आशापाशशताबद्धा वासनाभावधारिणः। काया[त्काय]मुपायान्ति वृक्षाद् वृक्षमिवाण्डजाः ॥ (४।४३।२६)। [इस्लाम] और क्रिश्चियन धर्म में पुनर्जन्म की कल्पना नहीं है। [उनके] अनुसार शरीर के साथ आत्मा का भी नाश होता [है और] वह कयामत के दिन (Dooms day) तक कब्रि[स्तान में] पड़ा रहता है। यह कयामत की कल्पना बेचारी [बुद्धि] को पटने लायक नहीं है। परन्तु जब तक अंधश्रद्धा [के युग] थे, तब तक लोग इस कल्पना पर विश्वास करते थे। [आधु]निक ज्ञानयुक्त विज्ञान के युग में लोक इसकी युक्तायु[क्तता का] विचार करने लगे और इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि [पुनर्जन्म] की कल्पना न केवल युक्तियुक्त है, अपितु आत्मा [की दृष्टि] से आवश्यक घटना है। माता-पिता से अपत्य को [केवल] शरीर मिलता है तथा कुछ कुलसंचारी (Hered[itary]) गुणदोष भी मिलते हैं, परन्तु इससे अपत्य के सम्पूर्ण [शारी]रिक और मानसिक गुणदोषों की उत्पत्ति लगाना [कठिन] होता है। पुनर्जन्म यही एक ऐसी घटना है कि [जिसके] आधार पर कठिन से कठिन प्रश्नों का भी उत्तर दि[या जा] सकता है। ये विचार निम्न पाश्चात्य विद्वानों के उद्ध[रणों में] स्पष्ट रूप से मिलते हैं—

I am, for personal purposes, convinced [of the] persistance of human existance beyond [bodily] death. *Sir OliverLodge.* We conclude, that our death is our birth to a life b[eyond]. *W. Tudor Jones.* Reincarnation teaches [that the] soul enters this life, not as a fresh creation [but] after a long course of previous existances o[n this] earth and else ever. The ancient doctr[ine of] transmigration seems the most rational and consistant with god's wisdom and goo[dness]. *E. D. Walker's Re-incarnation.* It is [a] reasonable conclusion to arrive at that the [body] which parents supply by their own sexual

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...urse are tenanted in the first instance by ...irits from another world attracted to them by ...me form of spiritual sympathy and that ...cordingly the parents of the physical form can ...t strictly speaking be regarded as the origina-...rs of the consciousness which inhabits it. The ...man germplasm is, even when seen under a ...icroscope hardly distinguishable from that of ... animal. Is it to be supposed that it contains ...thin itself the undeveloped powers of a man of ...nious ? Or may we not rather believe that ...e reincarnating ego possessed these powers ...fore his birth into this world as an inheritence ...m his past lives ? The hypothesis is plausi-... because it and it alone, meets the facts of the ...se in innumerable instances. *Problem of Re-...th by Hon. Ralph Shirley.*

पुनर्जन्म का सिद्धान्त अनुमान और युक्ति के आधार ...सिद्ध करना पड़ता है। इसके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं ...बराबर मिलते हैं। यदि ये प्रमाण बहुतायत से मिलते ...पुनर्जन्म की आविष्कृति और उसकी सिद्धि में भारतीय ...ज्ञान की कोई विशेषता नहीं रहती तथा इस्लामी और ...श्चियन धर्म में कयामत की कल्पना नहीं आती। जाति-...स्मरता पूर्वजन्म सिद्ध करने का जिन्दा प्रमाण है। भारत-...के पुराणों में तथा साहित्य-ग्रंथों में जातिस्मरता के कई ...दाहरण मिलते हैं। महाकवि बाण की काव्यमय कादम्बरी ...कथा में जातिस्मरता मिलती है। परन्तु आजकल ...तिक्य के कारण लोक इनको कल्पित समझते हैं। पाश्चात्य ...में जातिस्मरता के सम्बन्ध में भी जब खोज होने लगी, ...उन देशों में प्राचीन काल से आधुनिक काल तक इसके ...उदाहरण मिले। राल्फशर्ले ने अपनी पुनर्जन्म की ...क में जातिस्मरता के कई उदाहरण दिये हैं, जिनमें ...क्साड्रिना सामोना (Alexandrina Samona) और ...िया (Nyria) के उदाहरण बड़े अद्भुत और उद्बोधक ...भारतवर्ष में हाल में मथुरा की शांतादेवी का उदाहरण ...हूर हो गया है। इसका भी उल्लेख उपर्युक्त पुस्तक में ...संक्षेप में, जातिस्मरता पौराणिक या कविकल्पना नहीं ...क सिद्ध घटना है और जातिस्मर मनुष्य जैसे प्राचीन ...में थे, वैसे वर्तमान काल में मिलते हैं और भविष्य में ...मिलेंगे, तथा जैसे भारतवर्ष में मिलते थे और मिलते ...से संसार के अन्य देशों में भी थे और इस समय ...ते हैं।

इस श्लोक में जातिस्मरता उत्पन्न होने के लिए आवश्यक ...का वर्णन किया है। इसमें सत्त्वप्राधान्य विशेष महत्त्व ...ण है, क्योंकि सत्त्व के द्वारा मोक्ष मिलता है, याज्ञ-...वल्क्यस्मृति में जातिस्मरता के ये ही कारण बताये हैं—...र्योपासनं वेदशास्त्रार्थेषु विवेकिता। तत्कर्मणामनुष्ठानं सङ्गः ...गिरः शुभाः ॥ (३।१५६)। नीरजस्तमसा सत्त्वशुद्धि-निःस्पृहता शमः। एतैरुपायैः संशुद्धः सत्त्वयोग्यमृती भवेत् ॥ (३।१५९)। तत्त्वस्मृतेरुपस्थानात्सत्त्वयोगात् परिक्षयात्। कर्मणां सन्निकर्षाच्च सतां योगः प्रवर्तते ॥१६०॥ शरीरसंक्षये यस्य मनः सत्त्वस्थमीश्वरम्। अविप्लुतमतिः सम्यग्जातिसंस्मरतामियात् ॥ ॥१६१॥ जातिस्मरता मोक्ष मिलने का एक साधन माना गया है। इस अन्तिम श्लोक की टीका में विज्ञानेश्वर लिखते हैं—जात्यन्तरानुभूतकृमिकीटादिनानागर्भवासादिसमुद्भूतदुःखस्मरत्वं प्राप्नुयात्। तत्स्मरणेन च जातोद्वेगतस्तद्विच्छेदकारिणि मोक्षे प्रवर्तते। मनुस्मृति में भी जातिस्मरता उत्पन्न होने के कारण और उसके फल ये ही बतलाये हैं—वेदाभ्यासेन सततं शौचेन तपसैव च। अद्रोहेण च भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ॥४।१४८॥ पौर्विकीं संस्मरञ्जातिं ब्रह्मैवाभ्यसते पुनः। ब्रह्माभ्यासेन चाजस्रमनन्तं सुखमश्नुते ॥१४९॥ आज जातिस्मर मनुष्यों के जो थोड़े उदाहरण उपलब्ध हुए हैं, उनके परिशीलन से जातिस्मरता के कारणों का तथा उसके फलों का कुछ भी निर्णय नहीं किया जा सकता। भविष्य में अधिक उदाहरणों का अन्वेषण करने पर कार्यकारण और कार्यफल इनके सम्बन्ध में कुछ निर्णय किया जा सकता है।

अब पूर्वजन्म से उत्तरजन्म का सम्बन्ध बताया जाता है—

कर्मणा चोदितो येन तदाप्नोति पुनर्भवे।
अभ्यस्ताः पूर्वदेहे ये तानेव भजते गुणान् ॥६०॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने शुक्रशोणित-
शुद्धिशारीरं नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

जिस कर्म के कारण (जीव) पुनर्जन्म में प्रेरित होता है, उसी के अनुसार (उस जन्म में सब कुछ) प्राप्त करता है; और पूर्वजन्म में अभ्यास किये हुए जो गुण होते हैं, उन्हीं को (दूसरे जन्म में) धारण करता है ॥६०॥

वक्तव्य—कर्मणा—शुभाशुभ, धर्माधर्म, पापपुण्य, राजस तामस इत्यादि विविध प्रकार के कर्म प्राणी करता है और उन्हीं की प्रेरणा से वह जन्म-जन्मान्तर में फँस जाता है—शुभाशुभाभ्यां कर्मभ्यां प्रेरणान्मनसो गतेः। देहाद्देहान्तरं याति कृमिवच्छाश्वतोऽव्ययः ॥ तत्—तदनुरूपम्। जिस कर्म से जीव प्रेरित होता है, उसी के अनुरूप फल वह दूसरे जन्म में भोगता है। उत्तम कुल में जन्म, अधम कुल में जन्म, श्रीमान् या दरिद्री कुल में जन्म, शरीर व्यङ्ग या स्वास्थ्य ठीक न होना, विविध प्रकार के रोग उत्पन्न होना, नाना प्रकार की योनि में प्रवेश इत्यादि काम पूर्वकर्मानुसार होते हैं—कर्मजा व्याधयः केचित् ॥ ब्रह्मस्त्रीसज्जनवधपरस्वहरणादिभिः। कर्मभिः पापरोगस्य प्राहुः कुष्ठस्य संभवम् ॥ (सुश्रुत)। भवन्ति ये त्वाकृतिबुद्धिभेदा रजस्तमस्तत्र च कर्महेतुः ॥ (चरक, शारीर २)। यथा हि भरतो वर्णैर्वर्णयत्यात्मनस्तनुम्। नानारूपाणि कुर्वाणस्तथात्मा कर्मजास्तनूः ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति ३।१६२)। तथैवात्मा तत्तत्कर्मफलोपभोगार्थं कुब्जवामनादिनानारूपाणि कर्मनिमित्तानि कलेवराण्यादत्ते ॥ (विज्ञानेश्वर)। अभ्यस्ताः—जन्म जन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः। तेनैवाभ्यासयोगेन तदेवाभ्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्यते पुनः ॥ उपनिषद् और गीता के निम्न वचनों में इसी श्लोक का तत्त्व दिया है—अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत ॥ (छांदोग्य ३।१४) । नहि कल्याणकृत्कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति । प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः । शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽपि जायते ॥ (भगवद्गीता ६।४१) । अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् । तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् । यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥ पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ॥४४॥ यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ (गीता ८।६) ।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां शारीरस्थाने शुक्रशोणितशुद्धिर्नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

तृतीयोऽध्यायः ।

अथातो गर्भावक्रान्ति शारीरं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब यहाँ से गर्भावक्रान्ति नामक शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥१॥

वक्तव्य—गर्भावक्रान्ति—अत्र हि शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविकारसंमूर्च्छितं गर्भ इत्युच्यते, तस्यावक्रान्तिः, उपगमनमवतरणमिति यावत् गर्भावक्रान्तिः ॥ **(डल्हण)** । गर्भस्यावक्रान्तिर्मेलक उत्पत्तिरिति यावत् ॥ **(चक्रपाणि)** । गर्भस्यावक्रान्तिरवक्रमणं संप्राप्तिः । यथाऽगर्भो गर्भतां संपद्यत इत्यर्थः । **(अरुणदत्त)** । अत्र गर्भशब्देन मनःसंयोगाच्चेतनेनात्मनाधिष्ठितानां महाभूतानां विकारविशेष उच्यते । तस्यावक्रमणं प्राप्तिः स्वरूपलाभः । **(इन्दु)** । **गर्भावक्रान्ति अध्याय के प्रारम्भ में अष्टांगसंग्रह में इन्दु लिखते हैं—**पुत्रस्य निषेकात् प्रभृति योगक्षेमौ यथा संभवतः, यथा च मातरि तिष्ठति, यथा च न व्यापद्यते, अव्यापन्नं च यथा सुखं सूते इति प्रदर्शनार्थमध्यायारम्भः ॥ **इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि गर्भ का वास्तविक अर्थ शुक्रशोणितसंयोग** (Fertilized ovum **या** embryo) **है, और गर्भावक्रान्ति का अर्थ शुक्रशोणितसंयोगपद्धति** (Process of the fertilization of ovum) **है । तथापि इस अध्याय में, जैसे कि इन्दु ने बताया है, गर्भ की नौ महीने की मासानुमासिक वृद्धि वर्णन की गई है । इसलिए गर्भावक्रान्ति का अर्थ गर्भपरिवृद्धि** (Developement of the foetus) **समझना चाहिए ।**

सौम्यं शुक्रमार्तवमाग्नेयमितरेषामप्यत्र भूतानां सान्निध्यमस्त्यणुना विशेषेण, परस्परोपकारात्परस्परानुग्रहात्परस्परानुप्रवेशाच्च ॥२॥

शुक्र सौम्य और आर्तव आग्नेय है, परन्तु (भूतों का) आपस में उपकार, अनुग्रह और प्रवेश होने के कारण (जल और अग्नि के अतिरिक्त) अन्य भूतों का भी एक विशिष्ट अल्पमात्रा में सान्निध्य होता है ॥२॥

वक्तव्य—सौम्यम्—सोमर [illegible] म्यम् । **सोम से हुआ अर्थात् जलोत्पन्न ।** आग्नेय—अग्नेरिदमाग्नेयम् । **उत्पन्न हुआ अर्थात् तेजोत्पन्न । परन्तु इसी सूत्र में जो सरणि प्रकट की गई है, उसी के अनुसार जलभू[illegible] तेजोभूयिष्ठ ।** अणुना विशेषेण—**अल्प परन्तु अनुपेक्षणी[illegible] में ।** सान्निध्यम्—**उपस्थिति ।** परस्परोपकारात् [illegible] **समस्त सृष्टि पञ्चीकृत महाभूतों से उत्पन्न हुई है, [illegible] पाँचों महाभूत एक दूसरे में अनुप्रविष्ट हैं । परन्[illegible] अनुप्रवेश से एक में पाँचों का सान्निध्य नहीं हो[illegible] क्योंकि तेज और जल जैसे कुछ भूत परस्पर विरोधी [illegible] जो आपस में मिलने पर परस्पर नष्ट हो जाते हैं । [illegible] को दूर करने के लिए परस्परानुग्रह और परस्परो[illegible] शब्द प्रयुक्त किये गये हैं । इसका अभिप्राय यह है [illegible] सत्त्वादि त्रिगुण परस्पर विरोधी होने पर भी [illegible] (सांख्यकारिका १३) उपकारक और अनुग्राहक [illegible] जैसे वातादि त्रिदोष सर्प और उसके विष के समान [illegible]** घोरमहीनिव ॥ **चरक, चि० २६) परस्परोपकारी [illegible] वैसे ही पृथिव्यादि महाभूत परस्पर विरोधी हो[illegible] सृष्ट्युत्पत्ति के काम में परस्परोपकारी होते हैं । [illegible] जैसे चक्रपाणिदत्त ने शङ्का प्रदर्शित की है—[illegible]** भौतिकद्रव्यारम्भेऽपि तयोर्विरोधात्पाञ्चभौतिकं द्रव्यं न स्यात् [illegible] गुणातिरेकाद्वाऽम्लरसो न स्यात् ।—**उसके अनुसार [illegible] उत्पत्ति होना असम्भवनीय हो जाता । इन द्रव्यों [illegible] भूत अधिक होता है, उसके अनुसार नाम दिया [illegible] जो अल्पमात्रा में होते हैं, उनका नाम नहीं दिया [illegible] प्रथम अध्याय के २२वें श्लोक का वक्तव्य तथा प्र[illegible] का पृष्ठ २२८ भी देखो ।**

तत्र स्त्रीपुंसयोः संयोगे तेजः शरीराद्वायु[illegible] यति, ततस्तेजोनिलसन्निपाताच्छुक्रं च्युतं [illegible] भिप्रतिपद्यते संसृज्यते चार्तवेन, ततोऽग्नीषो[illegible] गात् संसृज्यमानो गर्भो गर्भाशयमनुप्रतिपद्य[illegible]

(मैथुनकर्म—) स्त्री और पुरुष के समागम [illegible] वायु शरीर से तेज को प्रकट करती है, फिर तेज [illegible] के सहयोग से क्षरित हुआ शुक्र योनि की ओर चल[illegible] और आर्तव के साथ (वहाँ) मिलता है; तत्पश्चात् [illegible] **रूप) अग्नि और (शुक्ररूप) सोम के संयोग [illegible] हुआ वह गर्भ गर्भाशय में आश्रय करता है ॥३॥**

वक्तव्य—इस सूत्र में 'योनिमभिप्रपद्यते' त[illegible] **कर्म** (Phenomena of coitus) **वर्णन किया है [illegible] भाग में शुक्रार्तव संयोग** (Fertilization of the [illegible] **और उसका गर्भाशयगमन वर्णन किया है । यह [illegible] भावप्रकाश में कुछ अधिक विस्तार से मिलता है, [illegible] यहाँ दिया जाता है—**ऋतौ स्त्रीपुंसयोर्योगे मकरध्[illegible] मेढ्रयोन्यभिसंघर्षाच्छरीरोष्मानिलाहतः ॥ पुंसः सर्वशरी[illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वृयतेऽथ तत्। वायुर्मेहनमार्गेण पातयत्यङ्गनाभगे ॥ तत् संसृत्य व्यात्तमुखं याति गर्भाशयं प्रति। तत्र शुक्रवदायातेनार्तवेन युतं भवेत्॥ (प्रथमखण्ड)।

वायुः—मैथुनकर्म में यद्यपि पाँचों इन्द्रियाँ पाँचों इन्द्रियार्थों पर काम करती हैं तथापि स्पर्श पर त्वगिन्द्रिय अधिक काम करती है, इसलिए मैथुन को स्पर्शसुख कहते हैं—कुरङ्गमातङ्गपतङ्गभृङ्गमीनाः हताः पञ्चभिरेव पञ्च॥ हेवेलाक एलिस का भी यही कथन है—

This abbreviated courtship, by which tumescence is secured or heightened even in the repetition of acts of coitus, which have become familiar, is mainly tactile. *Psychology of Sex.*

त्वचा में वायु की अधिकता होती है—स्पर्शनेऽभ्यधिको वायुः स्पर्शनं च त्वगाश्रितम्॥ (चरक)। इसलिए मेढ्योनि अभिसंघर्ष से तथा स्त्री के शरीर के संस्पर्श से वायु उत्तेजित होती है। आधुनिक शारीरकार्य के अनुसार मस्तिष्कसंस्थान (Nervous system) विशेष करके मस्तिष्क और सुषुम्ना के कामुक केन्द्र उत्तेजित हो जाते हैं। तेजः शरीराद्वायुरुदीरितम्—वायु की उत्तेजना के दो परिणाम होते हैं, एक सार्वदैहिक और दूसरा लैङ्गिक। परन्तु ये दोनों परिणाम एक अवस्था के दो रूप हैं। इस अवस्था को 'तेजोदीरण' कह सकते हैं। तेज के उष्णता, पित्त, अग्नि, शक्ति, स्फूर्ति, द्युति, जोश, फोर इत्यादि कई अर्थ होते हैं। चक्रपाणिदत्त चरक टीका (चिकित्सा ३।२१७) में लिखते हैं—तत्र तेजःशब्दः वातानलस्नेहशक्तिद्युतिषु ग्रीष्मे च वर्तते। परन्तु सब अर्थों में अन्तर्भूत कल्पना एक ही है। यह तेज या उष्णता तभी उत्पन्न हो सकती है, जब आदमी का हृदय बलवान् हो और खून गरम हो। मैथुन के समय स्त्री के स्पर्श से तथा मेढ्योनि अभिसंघर्ष से जब मन और वात उत्तेजित होते हैं, तब हृदय भी उत्तेजित होता है। उसकी गति शीघ्र और जोरदार होती है। समस्त शरीर में खून का दौरान तेजी से चलता है। चेहरा और आँखें लाल हो जाती हैं। रक्त का भार बढ़ता है। शरीर में उष्णता मालूम होने लगती है। त्वचागत रक्तवाहिनियाँ फैल जाती हैं। पसीना आने लगता है। साँस उथली और तेज हो जाती है, संक्षेप में शरीर के रोम-रोम में तेज उदीर्ण हो जाता है। यह अवस्था जैसे सारे शरीर में होती है, वैसे ही शिश्न में होती है और उसी के कारण शिश्न अत्यन्त दृढ़ हो जाता है। इसकी युक्ति द्वितीय अध्याय के ४७वें श्लोक के वक्तव्य में वर्णन की गई है। इस तेजोदीरण की अवस्था को 'ट्युमेसेन्स' (Tumescence) कहते हैं। जब यह अवस्था अत्युच्च कोटि को प्राप्त हो जाती है, तब वात और तेज दोनों के सहयोग से शुक्र बड़े जोर के साथ योनि में फेंका जाता है। इस अवस्था को शुक्रस्खलन कह सकते हैं और अँग्रेजी में डीट्युमेसेन्स (Detumescence) कहते हैं। हेवेलाक एलिस इन अवस्थाओं के वर्णन में तेज (Fire, Flame, Force) शब्द का ही प्रयोग करते हैं—

Tumescence is the piling on of the fuel; detumescence is the leaping out of the devouring flame whence is lighted the torch of life to be handed on from generation to generation. In tumescence the organism is slowly wound up and force accumulated; in the act of detumescence the accumulated force is let go, and by its liberation the sperm bearing instrument is driven home. *Psychology of Sex.*

शुक्रस्खलन के समय कभी कभी हृदय की गति और रक्तभार बेहद बढ़ता है, जिससे दुर्बलहृदय और व्याधित लोगों में मूर्च्छा, प्लीहाभेद, अपस्मार, पक्षाघात, मृत्यु भी हो जाते हैं—व्याधितस्य रुजा प्लीहा मृत्युर्मूर्च्छा च जायते॥ (सुश्रुत, चि० २४)। हेवेलाक एलिस अपनी पुस्तक में लिखते हैं—

Fainting, vomiting have been noted. Epilepsy has not been not infrequently recorded Lesious of various organs, even rupture of the spleen, have sometimes taken place. In men of mature age the arteries have at times been unable to resist the high blood pressure, and cerebral hæmorrhage with paralysis has occured. In elderly men the excitement of intercourse has sometimes caused death. *Psychology of Sex.*

स्त्री में भी पुरुष के समान उपर्युक्त उत्तेजनाएँ उत्पन्न होती हैं—तस्मात् पुरुषवदेव योषितोऽपि रसव्यक्तिर्द्रष्टव्या। (कामसूत्र)। परन्तु पुरुष का कार्य सक्रिय होने से उसमें स्त्री की अपेक्षा उपर्युक्त उत्तेजनाएँ अधिक तीव्र हुआ करती हैं—कर्ता हि पुरुषोऽधिकरणं युवतिः। अन्यथा हि कर्ता क्रियां प्रतिपद्यते, अन्यथा चाधारः॥ (वात्स्यायनकामसूत्र)। योनिमभिप्रपद्यते—योनि से यहाँ गर्भाशय अभिप्रेत है। मैथुन के अन्त में शुक्र चाहे भगद्वार पर गिरे, चाहे अन्तर्भग में गिरे, चाहे गर्भाशय के मुख पर गिरे, उसकी गति सर्वदा योनि की ओर होती है, क्योंकि पाश्चात्य शास्त्रज्ञों का यह कथन है कि उस समय भगद्वार से लेकर योनि तक के अंग में इस प्रकार की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है कि भगद्वार पर गिरा हुआ शुक्र भी भीतर योनि की ओर खींचा जाता है। उस समय गर्भाशय भी नीचे की ओर आता है, चौड़ा और छोटा होता है और उसका मुख प्रसारित (व्यात्तमुख) हो जाता है, जिससे उसके मुख पर गिरा हुआ शुक्र शीघ्र भीतर जा सकता है और अन्तर्भग में गिरे हुए शुक्र के लिए भी उसके भीतर प्रविष्ट होने में सहायता होती है। इसके सिवाय शुक्राणुओं में भी गति करने की शक्ति होती है, जिसकी सहायता से वे गर्भाशय की ओर चल पड़ते हैं। भावप्रकाश में इसका संक्षिप्त वर्णन किया है—तत् संसृत्य व्यात्तमुखं याति गर्भाशयं प्रति।

So far as the evidence goes, it would seem that in women, the uterus becomes shorter broader

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

and softer during the orgasm, at the same time descending lower into the pelvis, with its mouth open intermittently. Owing to the combined activities of the semen and vagina during sexual excitement, it is possible for the semen to reach the uterus even when it has only been effused at the entrance of the vagina. *Psychology of Sex.*

संसृज्यते चार्तवेन—मैथुन के अन्त में जितना शुक्र निकलता है, उसमें बीस करोड़ के लगभग शुक्राणु होते हैं। मनुष्यजाति में गर्भाधान के लिए केवल एक ही शुक्राणु की आवश्यकता होती है, और जब एक शुक्राणु का स्त्री-बीज के साथ संसर्ग हो जाता है, तब उस बीज में कुछ ऐसा परिवर्तन होता है कि फिर उसमें दूसरा शुक्राणु प्रवेश नहीं कर पाता। इसलिए यद्यपि, असंख्य शुक्राणु गर्भाशय की ओर दौड़ मारते होंगे तथापि उनमें जो सब से प्रबल और चपल होता है, वही आर्तव के साथ मिलने में सफल होता है। यदि कर्मवशात् स्त्री के दो बीज हों तो दो शुक्राणुओं से दो गर्भों का आधान होकर युग्म उत्पन्न हो जाता है।

शुक्र और आर्तव का संयोगस्थान—पाश्चात्य शास्त्रज्ञों ने मनुष्येतर प्राणियों में इस विषय का अन्वेषण करके यह सिद्ध किया है कि उनमें शुक्राणु और स्त्रीबीज का संयोग बीजवाहिनी (Fallopian tube) में उसके उदरस्थ मुख के पास होता है और मनुष्यजाति में भी दोनों के संयोग का यही स्थान होता है। अर्थात् यह कथन आनुमानिक है, परन्तु उसमें बहुत कुछ सत्य है। आयुर्वेद में दोनों के संयोग का स्थान गर्भाशय माना गया है। भावमिश्र लिखते हैं—नीचे की ओर से शुक्र ऊपर गर्भाशय में चला जाता है, और ऊपर की ओर से आर्तव (स्त्रीबीज) शुक्र के समान नीचे चला आता है और दोनों का संयोग गर्भाशय में होता है—तत्र (गर्भाशये) शुक्रवदायातेनार्तवेन युतं भवेत्। (भावप्रकाश)। चरक में लिखा है—शुक्रशोणितसंसर्गमन्तर्गर्भाशयगतं जीवोऽवक्रामति। (शारीर ३)। इस पर चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—अन्तरित्यनेन गर्भाशयबाह्यगतं संसर्गमकारणं गर्भस्य निषेधयति। यह आयुर्वेदज्ञों का कथन भी पाश्चात्य शास्त्रज्ञों के अनुसार प्रत्यक्ष न होकर आनुमानिक ही है। इस पर पाश्चात्त्य शास्त्रज्ञ कहते हैं कि यद्यपि दोनों का संयोगस्थान प्रायः बीजवाहिनी में होता है तथापि गर्भाशय में भी दोनों का संयोग होकर गर्भ का आधान हो सकता है—

The meeting of the sex-cells and their conjugation occurs in all probability most frequently in the outer part of the fallopian tube. This statement, can not, of course be expected to rest on direct observation in the human subject, but it is considered probable because the corrosponding situation is known to be the site of fertilization in other animals. On the other hand, the possibility of fertilization in the uterus can not be denied, although it seems very unlikely th[at] the ovum, after its sojourn in the tube, would [be] in a condition fit enough physiologically to ad[mit] of fertilization and developement. *Manual [of] Embryology by Frazer.*

स्त्रीबीज स्वयं गतिहीन होता है, परन्तु कोष से उ[दर]गुहा में आने पर बीजवाहिनी द्वारपरिवर्ती अंचलों (Fi[m]bria) से उत्पन्न हुई लहरों में फँसकर उनकी ओर [खिंच] जाता है, और वाहिनी में घुसता है। वाहिनी भीत[र से] लोमश (Ciliated) होती है। इन लोमों की [दिशा] और गति गर्भाशय की ओर होती है। इसके सि[वा] वाहिनी में भी एक प्रकार की पुरःसारणगति (Peri[sta]ltic wave) होती है। पुरःसारण और लोम इनकी स[हा]यता से बीज धीरे-धीरे गर्भाशय की ओर चला जात[ा है] और यदि उसका संयोग शुक्राणु से न हुआ तो मा[सिक] स्राव के साथ वह भगद्वार से शरीर के बाहर चला [जाता] है। प्रायः शुक्राणु से उसका संयोग बीजवाहिनी के मु[ख के] पास होता है, क्योंकि शुक्राणु गतियुक्त होता है। शुक्राणु की गति के सम्बन्ध में अनेकों के अनेक मत होते हैं, [पर] साधारण मत यह है कि एक इंच का अन्तर तय करने [के] लिए पाँच से दस मिनट का समय लग जाता [है] और गर्भाशयमुख से बीजवाहिनी द्वार तक पहुँचने [के] लिए डेढ़ घंटे का समय काफी हो जाता है। इसका [अर्थ] यह है कि मैथुन के थोड़े घंटे के पश्चात् शुक्राणु बीजवा[हिनी] में पहुँच सकते हैं। उस स्थान में बीज मिलने पर दोनों [का] संयोग होकर गर्भधारणा होती है। यदि न मिला तो शु[क्राणु] उदरगुहा में चला जाता है और वहाँ यदि बीज मिल [गया] तो उदर में भी गर्भधारणा होती है। इस अवस्था को [उदर] गर्भावस्था (Abdominal pregnancy) कहते हैं। [कभी] कभी स्त्रीबीज के पीछे पड़ा हुआ शुक्राणु इधर उधर [बीज] न मिलने पर सीधा बीजकोष पर चला जाता है और [यदि] पक्वबीज वहाँ मिल जाय तो उससे संयुक्त होकर गर्भध[ारण] करता है। इस अवस्था को बीजकोषस्थ गर्भावस्था (O[va]rian pregnancy) कहते हैं। ये दोनों अवस्थाएँ भय[ानक] होती हैं। क्योंकि ये स्थान गर्भवृद्धि के लिए योग्य न [होने] के कारण अकाल में विदीर्ण होकर रक्तस्राव होता है [और] उसी से रोगी की मृत्यु हो जाती है। शुक्राणु और बी[ज का] संयोग—शरीर के प्रत्येक सेल में केन्द्र होता है। उस [केन्द्र] में कुछ रंगद्रव्य होता है, उसे क्रोमाटीन (Chrom[atin]) कहते हैं। सेल विभाजन के समय यह रंगद्रव्य कई [भागों] में विभक्त होता है। इनको रंगसूत्र (Chromoso[mes]) या रंगवस्तु (Chromatin body) कहते हैं। प्रत्येक जा[ति के] प्राणियों में इन रंगसूत्रों की संख्या निश्चित होती है। [मनुष्य] जाति में इनकी संख्या ४८ होती है। स्त्रीबीज पक्व हो[ने के] समय उसमें कई बार विभजन होकर केन्द्रगत रंगसू[त्रों की] संख्या २४ हो जाती है और बाकी केन्द्र का हिस्सा [बीज के] ऊपर क आवरण में (Zona pellucida) मिलकर न[ष्ट]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ता है। शुक्राणु पक्व होने के समय भी इसी प्रकार का विभजन होकर उसके केन्द्र में भी २४ रंगसूत्र रह जाते हैं। यह केन्द्र शुक्राणु के सिर और ग्रीवा में ही रह जाता है, पुच्छ में नहीं होता। इन रंगसूत्रों या क्रोमोसोमों के द्वारा व्यक्ति के गुणदोष सन्तति में आ जाते हैं। प्राचीन परिभाषा के अनुसार इन रंगसूत्रों को बीज का बीजभाग कह सकते हैं, जिसमें व्यक्ति के प्रत्येक अंग-प्रत्यंग का सूक्ष्म चित्र मिलता है—यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति, तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते, नोपजायते चानुपतापात्। (चरक, शारीर ३)। मनुष्यबीजं हि प्रत्यंगबीजभागसमुदायात्मकं स्वसदृशप्रत्यंगसमुदायरूपपुरुषजनकम्। (चक्रपाणिदत्त)। कुछ थोड़े फर्क से आधुनिक विद्वान् भी चक्रपाणिदत्त के अनुसार ही बीजगत शरीररचना के सम्बन्ध लिखते हैं—

Each chromo some contains a certain number of genes. They occur in pairs a set for black eyes, some for fair skin and a number of them for crooked nose. *Riddle of sex.*

आदिबलप्रवृत्त या कुलज (Hereditary) रोगों में शुक्रशोणित में जो दोष होता है, वह इन क्रोमोसोम्स में ही रहता है और इन्हीं के द्वारा संतति में प्रवेश करता है। दोषों के अनुसार व्यक्ति के गुण भी इन्हीं के द्वारा संतति में जाते हैं। प्रथम विभाग में पृष्ठ १४८, १४९ और आगे चौथे सूत्र के वक्तव्य में 'जीव क्या है ?' देखो। इस तरह विभजन के द्वारा पक्व हुए स्त्रीबीज के पास कई शुक्राणु पहुँच सकते हैं, परन्तु केवल एक जो सब से सबल होता है, भीतर प्रवेश कर सकता है। उसका सिर ऊपर के आवरण में से भीतर घुस जाता है और बीज के केन्द्र के साथ मिल जाता है। उसकी पूँछ सिर से अलग होकर बाह्य आवरण में विलीन हो जाती है। इस तरह २४ शुक्राणु के और २४ स्त्रीबीज के क्रोमोसोम संयुक्त होकर पूर्ववत् ४८ क्रोमोसोम का एक केन्द्र बनता है, जिसमें माता के और पिता के सम्पूर्ण गुणदोष आ जाते हैं और यही गर्भ है। संक्षेप में शुक्रशोणितसंसर्ग से दोनों के केन्द्रों का संयोग अभिप्रेत है। क्रोमोसोम की संख्या में कदापि वृद्धि नहीं होती है।

गर्भाशयमनुप्रपद्यते—एवं दोनों का संयोग होने पर गर्भ का प्रारंभिक सेल विभक्त होने लगता है और एक से दो, दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह इस तरह वृद्धि होती है। इस वृद्धि के साथ साथ धीरे धीरे गर्भाशय की ओर मार्ग तय करता है और प्रायः पाँच से दस दिन में गर्भाशय में आश्रय लेता है। हाराणचन्द्र 'अनु' का गर्भाशय के एक विशिष्ट भाग के साथ सम्बन्ध समझते हैं—गर्भाशयमन्वित्यनुर्भागेऽर्थे कर्मप्रवचनीयः। गर्भाशयस्यांशविशेषं तस्यास्तृतीयमावर्तमित्येतत्, वक्ष्यति हि 'तस्यास्तृतीये त्वावर्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता' इति। प्रपद्यते प्राप्नोति ॥ यह कथन भी ठीक है क्योंकि बीजवाहिनी से आया हुआ गर्भ गर्भाशय के ऊपर में याने तृतीय आवर्त में (Fundus of the uterus) चिपक जाता है।

कभी कभी गर्भ बीजवाहिनी में अधिक दिनों तक रहता है। इसके कारण अभी तक ठीक मालूम नहीं हुए हैं। अधिक दिन रहने पर उसमें चिपकने का अंग (Trophoblast) उत्पन्न होता है और वह वहीं चिपककर वर्धित होता है। इस अवस्था को नलिकागर्भावस्था (Tubal Pregnancy) कहते हैं। औदरिक और बीजकोपस्थ गर्भावस्थाओं के अनुसार यह अवस्था भी खतरनाक होती है। गर्भधारणा के लिए अनेक बार मैथुनकर्म की आवश्यकता क्यों ?—मनुष्यों में यह हमेशा देखा जाता है कि स्त्री और पुरुष दोनों प्रजोत्पादनयोग्य होते हुए भी एक बार समागम करके अपने उद्देश्य में सफल नहीं होते। उनको महीने में कई बार और इस प्रकार कई महीनों तक समागम करना पड़ता है, तब जाकर गर्भधारणा होती है। इसके सम्बन्ध में चरकाचार्य लिखते हैं—यथोक्तेन विधिनोपसंस्कृतशरीरयोः स्त्रीपुरुषयोर्मिश्रीभावमापन्नयोः शुक्रं शोणितेन सह संयोगं समेत्याव्यापन्नमव्यापन्नेन योनावनुपहतायामप्रदुष्टे गर्भाशये गर्भमभिनिर्वर्तयत्येकान्तेन। यथा—निर्मले वाससि सुपरिकल्पिते रञ्जनसमुदितगुणमुपनिपातादेव रागमभिनिर्वर्तयति, तद्वत् ॥ (शारीर ८)। योनिप्रदोषान्मनसोऽभितापाच्छुक्रासृगाहारविहारदोषात्। अकालयोगाद्बलसंक्षयाच्च गर्भं चिराद्विन्दति स प्रजाऽपि ॥ (शारीर २) । पुरुषस्यानुपहतरेतसः स्त्रियाश्चाप्रदुष्टयोनिशोणितगर्भाशयाया यदा भवति संसर्गः ऋतुकाले, यदा चानयोस्तथायुक्ते संसर्गे शुक्रशोणितसंसर्गमन्तर्गर्भाशयगतं जीवोऽवक्रामति तदा गर्भोऽभिनिर्वर्तते ॥ (शारीर ३)। इन उद्धरणों के अनुसार उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर यह होता है कि एकान्तेन गर्भधारणा के लिए जो शर्तें आवश्यक होती हैं, वे प्रायः पूरी न होने के कारण अनेक समागम निष्फल होते हैं और जब शर्तें पूरी हो जाती हैं, तब समागम सफल होता है। इसलिए इन शर्तों का विचार कुछ विस्तार के साथ किया जाता है। (१) ऋतुकाल—महीने में कुछ दिन ऐसे होते हैं कि उन दिनों में समागम करने पर गर्भधारणा की संभावना अधिक होती है; उनको ऋतुकाल कहते हैं—स्त्रीणां गर्भधारणयोग्यावस्थोपलक्षितः कालः ऋतुः ॥ (विज्ञानेश्वर)। इसका अधिक विवरण इसी अध्याय के ६ सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। इन दिनों के अतिरिक्त दिनों में किया हुआ समागम प्रायः निष्फल होता है। समागम करने पर भी गर्भधारणाप्रतिबन्धक (Birth Control) जो उपाय होते हैं, उनमें ऋतुकालातिरिक्त दिनों में समागम करना एक उपाय होता है—

Women desirous to avoid pregnancy must beware of the Ides of the pre and early postmenstrual period. *The Riddle of sex.*

अर्थात् ऋतुकाल (Genetic period) और अनृतुकाल (Agenetic period) ये जो दो भेद किये गये हैं, वे ठीक हैं। (२) बीज की अनुपस्थिति—ऋतुकाल में गर्भधारणा होने का मुख्य कारण यह है कि उन दिनों में बीजकोष से बीज बाहर निकलता है। कभी कभी बीज बाहर निकलने पर भी बीजवाहिनी में न आकर उदरगुहा में नष्ट हो जाता है। ऐसी अवस्था में ऋतुकाल में भी गर्भधारणा नहीं हो सकती। (३) योनि गर्भाशय की शुद्धि—योनि गर्भाशय शुद्ध होने

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर उनकी श्लेष्मल त्वचा तथा उनके स्राव शुक्राणुओं के अनुकूल होते हैं। जब इनमें कुछ दोष उत्पन्न होता है, तब इनका स्राव शुक्राणुओं के लिए घातक होता है, जिससे उत्तम शुक्राणु भी योनि में प्रविष्ट होने पर नष्ट या भ्रष्ट हो जाते हैं। इसलिए गर्भाशय और मार्ग की शुद्धि की महत्ता वर्णन की है—Alterations of the secretions from vagina, cervix, uterus and tubes endangers the life of the spermatozoa. *Riddle of Sex.* (४) स्त्री की इच्छा—गर्भधारणा होने के लिए स्त्री के मन में अपत्य होने की प्रबल इच्छा होनी चाहिए। इसलिए आयुर्वेद में स्थान स्थान पर प्रजामिच्छन्ती, पुत्राशिषां कर्म, गुणवत्पुत्रार्थी, पुत्रमिच्छन्ती, इत्यादि अपत्य की आतुरतादर्शक शब्द प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार की आतुरता जब मन में होती है, तब 'तदर्थाभिनिवृत्त-कर कर्म' सफल होता है। वानडे वेल्डे गर्भधारणा को मानसिक स्वास्थ्य (Mental Hygiene of conception) के अन्त में लिखते हैं—

In this sense, I desire of every women that she should experience her longing for a child not only with every fibre of her body but also with every impulse of her soul. *Ideal Birth.*

अपत्य के लिए जब इच्छा करके समागम किया जाता है, तब जरूर अपत्य उत्पन्न होता है। प्रतिदिन स्त्रीपुरुष जो समागम करते हैं, वह अधिकतर मैथुन से केवल आनन्द प्राप्त करने के लिए होता है। स्त्रियों की दृष्टि से अगर विचार किया जाय तो मैथुन सफल होने से स्त्रियाँ बहुत दिनों तक के लिए फँस जाती हैं, बार बार जल्दी फँसने से उनकी जिम्मेदारी बढ़ती है और स्वास्थ्य खराब होता है; इसलिए स्वभावतः उनमें मैथुन की इच्छा कम होती है। ऐसी अवस्था में पुरुष जब खुशी की जबर्दस्ती से उसके साथ समागम करता है, तब उसका मन न मैथुन में होता है, न वह अपत्य की इच्छा करती है। इसलिए गर्भधारणा नहीं होती—विमना गर्भं न धत्ते, विगुणां वा प्रजां जनयति। (चरक, अष्टांगसंग्रह)। अर्थात् तन्मना होने से मैथुन में आनन्द प्राप्त होता है, आनन्द के साथ उसके गर्भाशय से क्षारीय स्राव स्रवता है, जो पुरुष के शुक्राणुओं के लिए फायदेमन्द होता है। इस स्राव के सम्बन्ध में द्वितीय अध्याय के ३८वें श्लोक का वक्तव्य देखो। यदि आनन्द प्राप्त न होने के कारण गर्भाशय से क्षारीय स्राव न निकले तो योनि के स्राव में जो अम्ल होता है, उससे शुक्राणु नष्ट या खराब हो जाते हैं—

The vaginal secretion is slightly acid, when mixed with spermatic fluid and uterine discharge it becomes slightly alkaline—the medium most suitable for preservation of the sperm cells. *Riddle of the Sex.*

मानसिकदृष्ट्या भी तन्मय होकर आनन्द प्राप्त होने से गर्भधारणा होती है और गर्भ भी उत्तम प्रकार का होता है—

I have made mention above of the impor[tance] of the woman's orgasm for the high value of offspring. *Ideal Birth.*

(५) स्त्री की मनःस्थिति—काम, क्रोध, भीति [आदि] विकारों से यदि स्त्री का मन मैथुन के समय तथा [उसके] पूर्व और पश्चात् बिगड़ा हुआ हो तो गर्भ का आधान नहीं हो सकता है, क्योंकि इन विकारों से अन्तःस्रावी ग्रं[थियों] के स्राव (Hormones of the ductless glands) [विकृत] हो जाते हैं, जिससे स्त्रीबीज फलित होने पर भी गर्भ[ाशय] में नहीं टिकता है—त्रस्ताशिता क्षुधिता पिपासिता विमनाः शोकार्ता क्रुद्धा न गर्भं धत्ते विगुणां वा प्रजां जन[यति] (चरक)। इसके उलटे 'सौमनस्यं गर्भधारणानाम्'। (च[रक])

Since the firmness of the settlement of [the] fertilized ovum in the uterine mucous mem[brane] is dependent on the vitellus; further, since [the] nature of this organ with internal secreti[on is] influenced by the frame of the mind, the [psy]chical equilibrium, it seems comprehensible [that] a fertilized ovum in consequence of the d[istur]bances of this kind may be expelled soon [after] its embedding or also at some other later [time]. In the former case, we have a menstrual [period] delayed for a few days. *Ideal Birth.*

(६) स्त्री की कामशान्ति—मैथुन के समय स्त्री और [पुरुष] दोनों को ही सुख होता है, परन्तु दोनों की काम[शान्ति] का तत्त्व भिन्न है। पुरुषों में कामशान्ति कुछ जल्दी [होती] है और उसके लिए शुक्रोत्सर्ग जैसी एक स्वाभाविक [क्रिया] रक्खी गई है। स्त्रियों में इस प्रकार की कोई [क्रिया] नहीं है, जिससे उनकी कामशान्ति आप से आप हो[जाय]। स्त्रियों में कामशान्ति एक मानसिक अवस्था है, [इसके] लिए पुरुष को समागम के प्रारम्भ से कोशिश करनी [पड़ती] है। यदि इस प्रकार का प्रयत्न न किया जाय तो उनकी [कामशान्ति] मुश्किल से होती है और वे असंतुष्ट रह जाती हैं। [इसी] दृष्टि से लिखा है—स्त्रीणामष्टगुणः कामः॥ वात्स्यायन [सूत्र] में भी लिखा है कि प्रारम्भ से चुम्बनादि द्वारा [स्त्री की] कामेच्छा पूरी करने की कोशिश की जावे और जब [स्त्री की] कामेच्छा पूरी होने को आवे, तब पुरुष अपनी पूरी क[रे]। स्त्री की कामेच्छा पूरी न होने से गर्भधारण नहीं [होता]। जातेरभेदाद् दम्पत्योः सदृशं सुखमिष्यते। तस्मात्तथोप[चर्या] यथाग्रे प्राप्नुयाद्रतिम्॥ चिरवेगे नायके स्त्रियोऽनुरज्यन्ते [शीघ्र]वेगस्य भावमनासाद्यावसानेऽभ्यसूयिन्यो भवन्ति। नह्यस[मानयोः] प्राप्तौ गर्भसंभव इति बाभ्रवीयाः॥२।१॥ आधुनिक [विज्ञान] भी इस तत्त्व को मानता है—

The sexual gratification of women is [an essential] part of the act of fecundation, for her s[hare in] that act is not purely passive. Mathew [has] placed stress on this need of sexual plea[sure in] the women in order to ensure fecu[ndation].

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Psychology of sex by H. Ellis. In the female the complete orgasm satisfying the desire is not generally consummated so rapidly as in the male, with whom seminal ejaculation is accomplished in a few minutes or even less. The culminating point in the female orgasm occurs seightly after that of the male, and is said to be marked by the expulsion of mucus through the os uteri. The mucus is then partly withdrawn into the uterus along with the semen, coition sometimes takes place without the orgasm in the female being completed or even without its occuring at all, but this is abnormal and such coitions are apt to be sterile, probably because the orgasm may be an essential factor in bringing about ovulation (or release of the ova). *Sexual Physiology by Marshall.*

गर्भधारणा के लिए कामशान्ति की आवश्यकता इस लिए होती है कि उससे स्त्री के बीजकोष से बीज (आर्तव) स्वतन्त्र होने में सहायता होती है । खरगोश, बिल्ली इत्यादि मनुष्येतर प्राणियों में मैथुन के समय ही बीज कोष से स्वतंत्र होते हैं । मनुष्यों में यद्यपि इस प्रकार की आवश्यकता नहीं होती तथापि मैथुन और कामशान्ति बीजोत्सर्ग में अवश्य सहायता करते हैं । इस विषय का कुछ विवरण दूसरे अध्याय के 'घृतपिण्डो यथैवाग्निमाश्रितः प्रविलीयते' इस (३७वें) श्लोक के वक्तव्य में किया गया है । (७) मैथुन का आसन—गर्भग्रहण के लिए वह आसन उत्तम होता है, जिसमें योनि में उत्सर्गित हुआ शुक्र आसानी से गर्भाशय की ओर जा सके । जिन आसनों में इसके लिए कठिनाई होती है, उन आसनों में मैथुन करने से प्रायः गर्भधारणा नहीं होती, यह अनुभवसिद्ध है । आयुर्वेद में इसलिए, बतलाया है कि गर्भधारणा के लिए अनुकूल आसन स्त्री की उत्तान स्थिति में चित लेटना है । इसी स्थिति में वीर्य निकलने के पश्चात् उसका ग्रहण करने के लिए स्त्री को शिथिल अवस्था में और योनि भीचकर पड़ा रहना और सो जाना चाहिए—उत्ताना तन्मना योषित् तिष्ठेदङ्गैः सुसंस्थितैः ॥ (अष्टांगहृदय) । उत्तानां बीजं गृह्णीयात् । तथा यथास्थानमेव तिष्ठन्ति दोषाः ॥ (अष्टांगसंग्रह) । न च न्युब्जां पार्श्वगतां वा सेवेत ।

If an unsuitable posture be assumed during intercourse, the woman may remain sterile. *Laws of Sexual Philosophy.*

अर्थात् मैथुन में आसन ग्रहण करने से या उत्तान अवस्था में वीर्य निकलने पर एकदम खड़ा हो जाने से तथा तुरत योनि प्रक्षालन करने से सब वीर्य बाहर चला जाता और गर्भधारणा नहीं होती । (८) पुरुष की मनःस्थिति—अत्याशिता, क्षुधिता इत्यादि स्त्री के लिए जो दोष कहे गये हैं, वे पुरुष के लिए भी लागू हैं—पुरुषेऽप्येत एव दोषाः । अर्थात् क्रुद्ध, भीत या अन्य विकारों से युक्त पुरुष स्त्री में गर्भ का आधान नहीं कर सकता । अतः सर्वदोषवर्जितौ स्त्रीपुरुषौ संसृज्येयाताम् ॥ (चरक) । इसका अभिप्राय यह है कि पुरुष कितना ही स्वस्थ क्यों न हो यदि मैथुन के पूर्व तथा मैथुन के समय वह शरीर से और मन से अत्यन्त श्रान्त हुआ हो या क्रोध, शोक, भय आदि से व्याप्त हुआ हो तो उसके शुक्र में कुछ ऐसा दोष उत्पन्न हो जाता है कि वह शुक्र गर्भ का आधान नहीं कर सकता—पुरुषस्येत्यादिना पूर्वं मैथुनात्प्रागनुपगतरेतस्त्वाद्युक्तं, तथायुक्ते चेत्यनेन तु मैथुनसमयेऽपि शुक्रयोन्यादीनामदुष्टिरुच्यते । मैथुनकाले हि ईर्ष्यादिना शुक्रदुष्टिः संभाव्यते ॥ (चक्रपाणिदत्त) । पाश्चात्य पण्डितों का भी कथन है कि पुरुष के शुक्र में शुक्राणुओं की उपस्थिति एक सी नहीं होती । एक ही पुरुष में शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्यावस्था के अनुसार शुक्राणु कभी कम होते हैं, कभी अधिक होते हैं और कभी होते ही नहीं—

After physical or mental exhaustion, strenuous intercourse, or following invalidating disease, the ejaculation may be free from sperm cells. *The Riddle of Sex.*

(९) शिश्नोत्थान ठीक न होना—गर्भधारणा के लिए पुरुष का वीर्य गर्भाशयमुख के ऊपर या आसपास गिरना आवश्यक है । यह कार्य शिश्न का उत्थान अच्छी तरह होने से हो सकता है । शारीरिक या मानसिक थकावट, किसी काम की चिन्ता, क्रोध इत्यादि से शिश्नोत्थान ठीक नहीं होता परन्तु आदत के कारण जब पुरुष समागम करता है, तब वीर्य भगद्वार के आसपास गिर जाता है और शुक्राणु नहीं जा सकते ।

इस तरह से अयोग्यकाल, स्त्रीबीज का अभाव, स्त्री की अनिच्छा, मैथुन के समय कामवेग का अभाव तथा मानसिक वैपरीत्य, योनि का दुष्टस्राव, वीर्य में शुक्राणुओं की अनुपस्थिति, शिश्नोत्थान ठीक न होने से, अयोग्य स्थान में वीर्यक्षरण इत्यादि अनेक कारणों से प्रतिदिन का स्त्री-पुरुषों का संयोग वन्ध्य हो जाता है । यदि उपर्युक्त नियमों के अनुसार संयोग होगा तो 'अवंध्य एव संयोगः स्यादपत्यं च कामतः ॥ (अष्टांगहृदय) ।

क्षेत्रज्ञो वेदयिता स्प्रष्टा घ्राता द्रष्टा श्रोता रसयिता पुरुषः स्रष्टा गन्ता साक्षी धाता वक्ता यः कोऽसावित्येवमादिभिः पर्यायवाचकैर्नामभिरभिधीयते दैवसंगादक्षयोऽव्ययोऽचिन्त्यो भूतात्मना सहान्वक्षं सत्त्वरजस्तमोभिर्दैवासुरैरपरैश्च भावैर्वायुनाऽभिप्रेर्यमाणः, गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते ॥४॥

(जीव पर्याय और उसका गर्भ में अवतरण—) क्षेत्रज्ञ, वेदयिता, स्प्रष्टा, घ्राता, द्रष्टा, श्रोता, रसयिता पुरुष स्रष्टा, गन्ता, साक्षी, धाता, वक्ता इत्यादि पर्यायवाचक नामों से (ऋषियों से) जो पुकारा जाता है वह (क्षेत्रज्ञ स्वयं) अक्षय, अचिन्त्य (और) अव्यय (होते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए भी) दैव के संग से (सूक्ष्म) भूत, सत्त्व रज तम, दैव आसुर या अन्य भाव इनसे युक्त वायु से प्रेरित हुआ गर्भाशय में प्रविष्ट होकर (शुक्र आर्तव का संयोग होते ही) तत्काल (उस संयोग में) अवस्थान करता है ॥४॥

वक्तव्य—पिछले सूत्र में गर्भ की उत्पत्ति का विचार भौतिक दृष्टि से याने आधुनिक विज्ञान (Modern Science) की दृष्टि से किया गया है। भारतीय दर्शनशास्त्र की दृष्टि से शुक्र और आर्तव महाभूतात्मक अतएव अचेतन हैं। उनमें चैतन्य प्राप्त होने के लिए चेतनावान् आत्मा या पुरुष का उनके साथ संयोग होना आवश्यक है। इसलिए गर्भ की व्याख्या में शुक्र, शोणित और आत्मा तीनों का निर्देश निरपवाद किया जाता है—शुक्रशोणितजीवसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति ॥ यथा सतामेव शुक्रशोणितजीवानां प्राक् संयोगाद्गर्भत्वं न भवति, तच्च संयोगाद्भवति ॥ (चरक) । अतः प्रथम गुणवर्णनात्मक आत्मा के पर्याय नाम दिये हैं। क्षेत्रज्ञः—शरीर रूपी क्षेत्र का ज्ञाता—इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते । एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ (भगवद्गीता १३।१) । किंवा शरीर रूप क्षेत्र में बद्ध हुआ आत्मा—आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः संयुक्तः प्राकृतैर्गुणैः । तैरेव तु विनिर्मुक्तः परमात्मेत्युदाहृतः ॥ (महाभारत) । वेदयिता—सुख-दुःखादि का अनुभव करने वाला—पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते । पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ॥ (भगवद्गीता १३।२१) । तत्र जरामरणकृतं दुःखं प्राप्नोति चेतनः पुरुषः ॥ (सांख्यकारिका ५५) । जीवसंज्ञोऽन्तरात्मान्यः सहजः सर्वदेहिनाम् । येन वेदयते सर्वं सुखदुःखं च जन्मसु ॥ (मनुस्मृति १२।१३) । मनसो ज्ञापयिता ॥ (डल्हण) । स्प्रष्टा, घ्राता, द्रष्टा, श्रोता, रसयिता—पञ्चज्ञानेन्द्रियों द्वारा मिलने वाले ज्ञान का ज्ञाता। यद्यपि नेत्र रूप को देखते हैं तथापि रूप का ज्ञान आत्मा को होता है, नेत्र को नहीं—आत्माज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं तस्य प्रवर्तते । (चरक) । किंवा इन्द्रियों के द्वारा कार्य करने वाला याने कर्ता, ज्ञापक—कर्ता हि करणैर्युक्तः कारणं सर्वकर्मणाम् ॥ (चरक) । पुरुषः—पुरि लिङ्गे शेते इति पुरुषः । लिङ्ग शरीर में जो निवास करता है। स्रष्टा—शरीर में चैतन्य उत्पन्न करने वाला—चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्ता निरुच्यते। शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम् ॥ (चरक) । गन्ता—एक देह से दूसरे देह में गमन करने वाला—देहाद्देहान्तरं याति क्रिमिवच्छाश्वतोऽव्ययः ॥ साक्षी—ज्ञानवान् होने के कारण आत्मा साक्षी कहलाता है—ज्ञः साक्षीत्युच्यते नाज्ञः, साक्षी त्वात्मा यतः स्मृतः । (चरक) । किंवा ज्ञानवान् होने के कारण तटस्थ के समान सुखदुःखादि से विचलित न होने वाला—निर्विकारः परस्त्वात्मा, द्रष्टा पश्यति हि क्रियाः ॥ (चरक) । द्रष्टा साक्षी, तेन यतिर्यथा परमशान्तः साक्षी सन् जगतः क्रियाः सर्वाः पश्यन्न रागद्वेषादिना युज्यते, तथाऽऽत्मापि सुख-दुःखाद्युपलभमानोऽपि न रागादिना युज्यते । (चक्रपाणिदत्त) । धाता—पंचमहाभूतात्मक शरीर को धारण करने वाला। वक्ता—बोलने वाला। यह उपलक्षण है, इससे पाँचों कर्मेन्द्रियों का कर्ता आत्मा है, यह अर्थ समझना चाहिए—

एतेन कर्मेन्द्रियाणामपि वचनादानविहरणोत्सर्गादेश्चाप्यमेव... (डल्हण) । दैवसंगात्—प्रारब्ध कर्म का फल भोग... सिवाय जीव का छुटकारा नहीं होता, यह वेदान्तशा... मत है—शरीरारम्भकं कर्म योगिनोऽयोगिनोऽपि च । विना... पभोगेन नैव नश्यत्यसंशयम् ॥ वर्तमानशरीरेण स... देहिनः । इह वाऽमुत्र वाऽस्य ददाति स्वफलं शुक ॥ प्रा... विच्छिन्नं पुनर्देहान्तरेण तु । भुङ्क्ते देही ततो भुङ्क्ते... कः पुमान् ? ॥ (पराशर) । भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा... (वेदान्तसूत्र) । कभी यह फल एक जन्म में... होता है, कभी अनेक जन्म की आवश्यकता होती... अवश्यमनुभोक्तव्यं प्रारब्धस्य फलं जनैः । देहेनैकेन वाऽने... पद्वा क्रमेण वा ॥ (पराशर) । दैव से एक या अने... जन्म के प्रारब्ध कर्म का बोध होता है, जिसके फल... वर्तमान जन्म में भोगने पड़ते हैं—दैवं पुरा यत् कृतमु... दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्म यत् पौर्वदैहिकम् ॥ (चरक) पौर्वदैहिक कर्म के फलरूप संग या बंधन के कारण। उपर्युक्त गुणों से युक्त होने पर भी अपने पूर्वकर्मों के कारण एक शरीर से दूसरे शरीर में गमन करता... क्षेत्रज्ञा नित्याश्च तिर्यग्योनिमानुषदेवेषु संचरन्ति धर्माधर्मनि... (सुश्रुत, शा० १) । पूर्वकर्म की कल्पना आधुनिक प... पण्डित भी मानते हैं—

The individual never being other than he has made himself in the course of his ...tion by the immense series of representatio... has gone through, it follows that every thin... is within his field of consciousness is his... doing, the fruit of his own efforts, his own ...ings and his own joys. Every act, even desire and inclination, has an inevitable re... in one or other of his existences. *Gustave... From the Unconscious to the Conscious.*

अचिन्त्य—जो मन और बुद्धि की चिन्तनशक्ति के... होता है—मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः । (गी... यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥ भूतात्मना... भूतात्मा के साथ । वेदान्त के अनुसार पंचतन्मा... 'देहबीजभूत सूक्ष्म' को भूतात्मा कहते हैं—योऽस्... कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते । यः करोति तु कर्माणि स भूत... बुधैः ॥ (मनुस्मृति) । यः पुनरेष व्यापारान् करोति ... स पृथिव्यादिभूतारब्धत्वाद् भूतात्मैवेति पण्डितैरुच्यते । (... भट्ट) । वेदान्तसूत्र में भी लिखा है—तदन्तरप्रतिपत्तौ... संपरिष्वक्तः (३।१।१) । तदन्तरप्रतिपत्तौ देहान्तरप्रतिपत्तौ... भूतसूक्ष्मैः संपरिष्वक्तो रंहति गच्छतीत्यवगन्तव्यम् ॥ (शांकर... सांख्यशास्त्रानुसार भूतात्मा से 'लिंगशरीर' का बो... है। यह लिंगशरीर अठारह तत्त्वों का बनता है—... सूक्ष्मपर्यन्तम् । (सांख्यकारिका) । महदहङ्कारैका... पञ्चतन्मात्रपर्यन्तम् । एषां समुदायः सूक्ष्मं शरीरम् ॥ (तत्त्वकौमुदी) । चरक में भी लिखा है—भूतैश्चतुर्भि...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऽस्मैर्मनोजवो देहमुपैति देहात् । (शा० २) । इस सूक्ष्म शरीर का आकार व्यवहार के लिए अंगुष्ठमात्र माना जाता है—ततः सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशङ्गतम् । अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष बलाद्यमः ॥ (महाभारत) । अन्वक्षम्—(१) तत्काल, अल्पकाल में । तत्क्षणमेव न क्षणान्तरे । (डल्हण) । इसका प्रबंध गर्भोत्पत्ति के समय भूतग्रहण के साथ निम्न चरक वचनानुसार हो सकता है—तत्र पूर्वं चेतनाधातुः सत्त्वकरणो गुणग्रहणाय प्रवर्तते । यथा—प्रलयात्यये सिसृक्षुर्भूतान्यक्षरभूत आत्मा सत्त्वोपादानः पूर्वतरमाकाशं सृजति, ततः क्रमेण व्यक्ततर-गुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुरः, तथा देहग्रहणेऽपि प्रवर्तमानः पूर्वतरमाकाशमेवोपादत्ते, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुरः । सर्वमपि तु खल्वेतद्गुणोपादानमणुना कालेन भवति ॥ (शा० ४) । (२) हाराणचन्द्र अक्ष से इन्द्रिय समझते हैं—अन्वक्षमित्यनुः सहार्थे कर्मप्रवचनीयः, अक्षैरिन्द्रियैः सहेत्यर्थः ॥ भावः—सांख्यशास्त्रानुसार सत्त्व रज तम इन गुणों के कारण बुद्धि में जो विविध स्थित्यन्तर होते हैं, उनको 'भाव' कहते हैं, और सत्त्वादि के न्यूनाधिक प्रमाण के अनुसार इन भावों की संख्या भी अनेक होती है । ये भाव पुष्प में सुवास या वस्त्र में रंग के समान लिङ्ग शरीर में रहते हैं और इन भावों के अनुसार देव, मनुष्य या पशुयोनि में जीव भ्रमण करता है—संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् । (सांख्यकारिका) । इस कारिका पर वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—धर्माधर्मज्ञानाज्ञानवैराग्या-वैराग्यैश्वर्यानैश्वर्याणि भावाः, तदन्विता बुद्धिः, तदन्वितं च सूक्ष्मं शरीरमिति तदपि भावैरधिवासितम् । यथा सुरभिचम्पक-कुसुमसम्पर्काद्वस्त्रं तदामोदवासितं भवति । तस्माद्भावैरधिवासित-त्वात्संसरति ॥ (सांख्यतत्त्वकौमुदी) । इसके सिवाय कलल-बुद्बुदादि गर्भ के, बाल्ययौवनादि बाल के जो स्थित्यन्तर होते हैं, वे भी 'भाव' ही कहलाते हैं, परन्तु ये शारीरिक हैं। इस तरह शारीरिक और बौद्धिक दो प्रकार के भाव होते हैं—भावाः करणाश्रयिणः कार्याश्रयिणश्च कललाद्याः । (सांख्यकारिका) । यहाँ बौद्धिक भावों से संबंध है, क्योंकि वे नित्य हैं और आत्मा के साथ एक देह से दूसरे देह में जाते हैं, और इन्हीं के कारण उच्च नीच योनि में जीव जन्म लेता है । शारीरिक भाव प्रत्येक जन्म के भिन्न भिन्न होते हैं और मृत्यु के साथ छूट जाते हैं । सत्त्वरजस्तमोभिर्दैवासुरैरपरैश्च भावैः—सत्त्व के कारण धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये चार दैवासुर भाव उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण जीव ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, पित्र्य, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस और पैशाच इस अष्टविध दैवासुर योनि में जन्म लेता है । तम के कारण अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य ये चार तैर्यग्भाव उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण जीव पशु, मृग, पक्षी, सरीसृप और स्थावर इन तैर्यग्योनियों में जन्म लेता है । रजोयुक्त दोनों के मिश्रण से धर्माधर्मादि अष्टविध दैवासुर और पाशव (अपर) भाव उत्पन्न होते हैं, जिनके कारण जीव मनुष्ययोनि में जन्म ग्रहण करता है—बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विरागमैश्वर्यम् । सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ॥ अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति । मानुषश्चैकविधः समासतो भौतिकः सर्गः ॥ ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमो विशालश्च मूलतः सर्गः । मध्ये रजो विशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥ (सांख्यकारिका) । मनुष्य योनि में सत्त्व रज तम तीनों गुण उपस्थित रहते हैं (प्रायः रज का प्राधान्य मनुष्ययोनि में मानते हैं), दैविक भाव होते हैं, पाशविक भाव भी होते हैं और सुख तथा दुःख भी रहता है । यह कार्य धर्माधर्मादि अष्टविध भावों से होता है । अतः अष्टविध भावों को प्रदर्शित करने के लिए 'सत्त्वरजस्तमोभिर्दैवासुरैरपरैश्च' यह शब्द प्रयोग किया गया है ।

सांख्यशास्त्रानुसार जीव इन भावों से अधिवासित होने के कारण बार बार जन्म लेता है, वेदान्तशास्त्रानुसार जीव प्राक्तन कर्मों (दैवसंग) से अधिवासित होने के कारण बार बार जन्म लेता है । अर्थात् 'भाव' और 'कर्म' पर्याय-वाची शब्द हैं । सुश्रुतसंहिता में सांख्य और वेदान्त दोनों का काफी परिचय मिलता है । इसलिए जीव के जन्मग्रहण के कारण बतलाने के लिए दोनों शास्त्रों के शब्द यहाँ (दैवसंग और भाव) प्रयुक्त किये हैं, जैसे कि आजकल के अँग्रेजी लिखे पढ़े पण्डित व्याख्यान या लेख में एक ही कल्पना को प्रकट करने के लिए देशी और अँग्रेजी शब्द प्रयोग में लाते हैं ।

डल्हणाचार्य भाव से 'मन' समझते हैं, और दैवासुरादि भावों का संबंध चौथे अध्याय में सात्त्विक, राजस और तामस काय के जो प्रकार वर्णन किये हैं, उन्हीं के साथ करते हैं—पुनः किंविशिष्टः? दैवासुरैरपरैश्च भावैर्वायुना प्रेर्यमाणः भावः सत्त्वं मन इत्यर्थः, तेन देवादीनां सप्तानां सप्तभिः सात्त्विकैर्भावैः, असुरादीनां षण्णां षड्भिः राजसैर्भावैः, पश्वादीनामपरैश्च त्रिभिस्तामसैर्भावैः । सत्त्वस्य च मनःपर्यायस्य प्रेरकत्वं तन्त्रान्तरे प्रतिपादितम् । तदुक्तं चरके—'अस्ति खलु सत्त्वमुपपादिकं यज्जीवस्पृक् शरीरेणाभिसंबध्नाति' इति । इस तरह यदि भाव से मन समझा जाय तो ये मन के भेद दैवसंग याने पूर्वकर्म के कारण ही होते हैं—मनसो मनस्त इति । पूर्वजन्मव्यवहिते यादृङ्मनः, इह जन्मन्यपि तादृगेव मनो भवति । उक्तं चान्यत्र—'जन्म जन्म यदभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः । तेनैवाभ्यासयोगेन तदेवाभ्यस्यते पुनः ॥' इति । अत्रापि च मनउत्पत्तौ कर्मात्मजानामिति बोध्यम् । तेन कर्मवशादेव मनोभेदो भवति ॥ (चक्रपाणिदत्त, चरक, शारीर २।३६) । वायुना—मैथुन के समय हर्ष से उद्दीपित होकर जो वायु शुक्र को फेंकती है, उसी वायु से प्रेरित हुआ । गर्भाशयमनुप्रविश्यावतिष्ठते—गर्भाशयमनुप्रविश्य लोहितरेतसोः सन्निपातेष्ववतिष्ठते । (प्रथम अध्याय का १७वाँ सूत्र देखो) ।

जीव किसके जरिये गर्भाशय में प्रवेश करता है ?—यद्यपि गर्भोत्पत्ति के लिए आत्मा की आवश्यकता होती है तथापि केवल आत्मा स्वयं शुद्ध, बुद्ध, निष्क्रिय, ज्ञानी होने के कारण उसको जन्म लेने की कोई जरूरत नहीं होती । जब वह वासनाधिष्ठित हो जाता है, तब जन्ममरण के फेर में पड़ता है । यह आत्मा बुद्धि, अहंकार, मन, दश इन्द्रिय और पञ्चतन्मात्र इन तत्त्वों के साथ भ्रमण करता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है—अतीन्द्रियैस्तैरतिसूक्ष्मरूपैरात्मा कदाचिन्न वियुक्तरूपः। न कर्मणा नैव मनोमतिभ्यां न चाप्यहङ्कारविकारदोषैः ॥ (चरक) । इस समूह को 'लिङ्गशरीर' 'अतिवाहिक शरीर' या संक्षेप में 'जीव' कहते हैं । शुक्रशोणित के संयोग में मिलने वाली यही तीसरी चीज है, जिसके सिवाय गर्भ नहीं उत्पन्न होता—यद्यपि शुक्ररजसी कारणे, तथापि यदैवातिवाहिकं सूक्ष्मभूतं रूपशरीरं प्राप्नुतः, तदैव ते शरीरं जनयतः, नान्यदा । यदि शुक्रशोणितमातिवाहिकशरीरनिरपेक्षं गर्भं जनयेत्, तदाऽसत्यपि जीवाधिष्ठाने जनयेत्, न तु जनयति, तस्मादात्मस्थसूक्ष्मभूतादेव बीजरूपाच्छुक्रशोणितयुक्ताद्गर्भजन्मेति । (चक्रपाणिदत्त) । यह जीव अत्यन्त सूक्ष्म है, इसलिए गर्भाशय में प्रवेश करते समय इसका दर्शन नहीं होता—तेजो यथार्करश्मीनां स्फटिकेन तिरस्कृतम् । नेन्धनं दृश्यते गच्छत्सत्त्वो गर्भाशयं तथा ॥ (अष्टांगहृदय) । परन्तु दिव्यदृष्टि से इसका भी दर्शन हो सकता है—कर्मात्मकत्वान्न तु तस्य दृश्यं दिव्यं विना दर्शनमस्ति रूपम् । (चरक) । यह जीव शुक्र के समान हर्षोदीरित वायु से प्रेरित होता है । इसी जीव से भौतिकदृष्ट्या भी अपत्य उत्पन्न होता है। इसी लिए 'आत्मा पुत्रः', 'आत्मजः', 'अङ्गादङ्गात् संभवसि हृदयादभिजायसे । आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदां शतम् ॥' इत्यादि वाक्प्रचार प्रचलित हैं । इससे यह अनुमान कर सकते हैं कि जीव पुरुष के वीर्य में ही अधिष्ठित होकर उसी के साथ गर्भाशय में प्रवेश करता है । चरकसंहिता में पुरुष के वीर्य का वर्णन भी इसी प्रकार मिलता है—तया सह तथाभूतया यदा पुमानव्यापन्नबीजो मिश्रीभावं गच्छति, तदा तस्य हर्षोदीरितः परः शरीरधात्वात्मा शुक्रभूतोऽङ्गादङ्गात् संभवति । स तथा हर्षभूतेनात्मनोदीरितश्चाधिष्ठितश्च बीजरूपो धातुः पुरुषशरीरादभिनिष्पत्त्योचितेन पथा गर्भाशयमनुप्रविश्यार्तवेनाभिसंसर्गमेति । (शारीर ४) । यहाँ 'अधिष्ठितश्च' से 'जीवाधिष्ठितश्च' समझना चाहिए । योगवासिष्ठ (३।५५) में जीव रेत में अधिष्ठित होकर एक देह से दूसरे देह में प्रवेश करता है, यह स्पष्ट लिखा है—तस्मिन् देहे शवीभूते वाते चानिलतां गते । चेतनं वासनायुक्तं स्वात्मतत्त्वेऽवतिष्ठति । 'जीव' इत्युच्यते तस्य नामाणोर्वासनावतः । इतोऽयमहमादिष्टः स्वकर्मफलभोजने । गच्छाम्याशु शुभं स्वर्गमितो नरकमेव च ॥ तत्र चारुफलं भुक्त्वा प्रविश्य हृदयं नृणाम् । रेतसामधितिष्ठन्ति गर्भजातिक्रमोचिते ॥ इससे यह स्पष्ट होगा कि जीव शुक्र में उपस्थित रहता है, शुक्र के साथ पुरुष के शरीर से वायु द्वारा बाहर आता है और शुक्र के साथ गर्भाशय में भी प्रवेश करता है ।

जीव क्या है ?—वेदान्तशास्त्रानुसार जीव की कल्पना बहुत उच्च प्रकार की है, परन्तु इतनी उच्च कल्पना का यहाँ विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है । वैद्यकशास्त्र में जीव से कोई सिद्ध अर्थ निकलता है या नहीं, जो ग्रहण करने पर जीव के अधिकांश कार्यों को भली भाँति प्रदर्शित कर सके, इसी दृष्टि से इसका उत्तर देने का यहाँ प्रयत्न किया गया है और इसी दृष्टि से इस अर्थ की ओर देखना चाहिए । जीव अतिसूक्ष्म, अणुस्वरूप, चर्मचक्षु से अदृश्य परन्तु दिव्यचक्षु से दृश्य, वीर्य में मिलने वाला, वीर्य के साथ व[ायु से] बाहर आने वाला, जिसके होने से गर्भ होता है, न होने से गर्भ नहीं, ऐसा पदार्थ है, संक्षेप में यह वीर्य का बीज है। योग[वासिष्ठ] (३।५५) में जीव को मनुष्य का बीज कहा है—करणस्त्वेवं बीजतां यात्यसौ (जीवः) नरे। तद्बीजं योनि[ं प्राप्य] गर्भो भवति मातरि ॥ आशापाशशताबद्धा वासनाभाव[धारिणः ।] कायात्कायमुपायान्ति वृक्षाद् वृक्षमिवाण्डजाः ॥ इससे यह [सिद्ध होता] है कि वैद्यकशास्त्र में शुक्रगत गर्भोत्पादक बीज को [जीव] कह सकते हैं । अब आधुनिक शारीरकार्य विज्ञा[न के] अनुसार शुक्रगत गर्भोत्पादक अंग को स्पर्मा[टोज़ोआ] (Spermatozoa) कहते हैं । इसी का निर्देश करके पीछे किया गया है । यह शुक्राणु जीव के [समान] अतिसूक्ष्म, अणुस्वरूप, चर्मचक्षु से अदृश्य परन्तु दि[व्यचक्षु] (सूक्ष्मदर्शक यन्त्र Microscope) से दृश्य, वी[र्य में] मिलने वाला, वीर्य के साथ वायु से बाहर आने [वाला,] जिसकी उपस्थिति पर शुक्र की गर्भोत्पादक शक्ति हो[ती है,] जिसकी अनुपस्थिति पर वीर्य की गर्भोत्पादक शक्ति [नहीं] रहती है, ऐसा पदार्थ है । विशेष विवरण के लिए [...] खण्ड में ८९ पृष्ठ देखो । इस तरह दोनों में पूर्ण [साम्य] होता है । अब जीव के वासना, संस्कार, गुणदोष [इत्यादि] आनुषङ्गिक धर्मों का विचार करना है । ये धर्म [जीव के] साथ रहते हैं और जिस देह में जीव अवस्थान करता [है] उस देह में प्रकट होते हैं । पूर्वजन्म, पुनर्जन्म [की] सिद्धि इन धर्मों के ऊपर ही की जाती है । अब शुक्र[ाणु] का इस दृष्टि से विचार किया जाय तो यह सिद्ध [होता है] कि उसके केन्द्र में कुछ रंगसूत्र (Chromosome) हो[ते हैं] जो कुलज शारीरिक और मानसिक गुणदोषों को [अपने] साथ ले जाते हैं, याने ये कुलजप्रवृत्ति (Heredit[y]) [के] वाहक होते हैं । इस कुलजप्रवृत्ति का विवरण पूर्वज[न्म के] संस्कार अर्थात् जीव के आनुषंगिक धर्मों पर ही [किया] जाता है—

The self seeking for rebirth obtains em[bodi]ment in the frame offering the necessary c[ondi]tions. The physical body derived from [the] parents according to the laws of heredi[ty is] appropriated by the conscious self. Radhakrishnan *'Idealistic View of Life'*. [We] appear in the world not as clear slates fo[r the] writing of environment and circumstance, b[ut as] slates already inscribed. For example, we in[herit] talents. "An eye for beauty, a taste for m[usic] which are not common qualities of the sp[ecies] but individual variations. We can not b[elieve] that the rise of the self with a definite natu[re is] simply fortuitous". Therefore, we must suppose a past for the self, in which the in[divi]dual inheritance which it brings with it into [the] world has been built up. *Radhakrishnan's* ...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ents for rebirth summed up by Joad *ccunter attack from the East.*

अर्थात् मनुष्य की बुद्धि, वासना, मन, स्वास्थ्य, रोग इत्यादि शारीरिक और मानसिक विकार जो प्राचीन कल्पना के अनुसार जीव के आनुषंगिक धर्मों पर निर्भर होते हैं आधुनिक कल्पना के अनुसार शुक्राणु क्रोमोसोम पर निर्भर होते हैं। इसलिए वैद्यकशास्त्र में जीव के लिए शुक्राणु समझने से प्रायः सभी बातों का स्पष्टीकरण हो जाता है। इसके साथ साथ यह भेद भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्राचीन कल्पना के अनुसार जीव का संसरण केवल पुरुष के द्वारा होता है, परन्तु आधुनिक कल्पना के अनुसार पुरुष के समान स्त्री में भी बीज (Ova) होता है और उस बीज में भी माता के संस्कारवह क्रोमोसोम होते हैं, और किसी व्यक्ति में जो पूर्व संस्कार दिखाई देते हैं, वे माता पिता के संयुक्त संस्कार से बनते हैं।

तत्र शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, आर्तवबाहुल्यात् स्त्री, साम्यादुभयोर्नपुंसकमिति ॥५॥

(गर्भ में लिङ्गभेद के कारण—) शुक्रार्तव के संयोग में (तत्र) शुक्रबाहुल्य से पुरुष, आर्तवबाहुल्य से स्त्री और दोनों की समता से नपुंसक पैदा होता है ॥५॥

वक्तव्य—इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि शुक्र और आर्तव के संयोग के समय में शुक्र और आर्तव की स्थिति के अनुसार गर्भ का लिङ्ग निश्चित होता है। चरक में भी लिखा है—एवमभिनिर्वर्तमानस्य गर्भस्य स्त्रीपुरुषत्वे हेतुः पूर्वमुक्तः। यथा हि बीजमनुपतप्तं स्वां स्वां प्रकृतिमनुविधीयते व्रीहिर्वा व्रीहित्वं यवो वा यवत्वं तथा स्त्रीपुरुषावपि यथोक्तं हेतुविभागमनुविधीयते। पाश्चात्त्य शास्त्रज्ञों का भी स्त्रीपुरुष की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यही मत है—

The theory, which is supported by an enormous amount of evidence, postulates that sex is definitely determined at fertilization. *Halliburton's Physiology.* The sex of the future embryo is determined at the time of fertilization. *Manual of Embryology by Frazer.*

अब प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों होता है? तीसरे सूत्र के वक्तव्य में यह बताया गया है कि शुक्राणु और स्त्रीबीज में क्रोमोसोम की संख्या ४८ होती है और पक्व होते समय विभजन के कारण इनकी संख्या आधी २४ हो जाती है। अधिक अन्वेषण से यह सिद्ध हुआ है कि इन क्रोमोसोम में कुछ लिंगवाहक (Sex chromosomes) होते हैं। स्त्रीबीज में इनकी संख्या सम या व्यवहार के लिए दो समझ सकते हैं, जिससे विभजन के द्वारा पक्व हुए प्रत्येक स्त्रीबीज में स्त्रीत्ववाहक क्रोमोसोम (X chromosome) आ जाता है। शुक्राणु में पुंस्त्वजनक (Y) क्रोमोसोम एक होता है, जिसका विभाग विभजन के समय नहीं होता। परिणाम यह होता है कि विभजन के पक्व हुए शुक्राणुओं में आधे शुक्राणु पुंस्त्वजनक क्रोमोसोमयुक्त होते हैं और आधे पुंस्त्वविरहित होते हैं। व्यवहार के लिए यों कह सकते हैं कि वीर्य में आधे शुक्राणु बलवान् (Dominant) होते हैं, जो स्त्रीबीज के साथ मिलने पर उत्पन्न होने वाले गर्भ में पुंस्त्व पैदा कर सकते हैं, और आधे निर्बल होते हैं जो स्त्रीबीज के साथ मिलने पर होने वाले गर्भ में पुंस्त्व पैदा नहीं कर सकते, अर्थात् स्त्रीबीज बलवान् होकर गर्भ स्त्री होता है। कुछ वैज्ञानिक शुक्राणुओं में क्रोमोसोम की संख्या ४७ मानते हैं और विभजन के द्वारा पक्व होकर जब ये वीर्य में आते हैं, तब आधे २४ क्रोमोसोमयुक्त और आधे २३ क्रोमोसोमयुक्त होते हैं। २३ क्रोमोसोमयुक्त शुक्राणु निर्बल होते हैं, जो स्त्रीबीज के साथ मिलने पर अपना पुंस्त्व प्रकट कर नहीं सकते। २४ क्रोमोसोमयुक्त शुक्राणु सबल होते हैं, जो स्त्रीबीज के साथ मिलने पर अपना पुंस्त्व प्रकट कर सकते हैं। इस उपपत्ति के अनुसार गर्भ में स्त्रीत्व या पुंस्त्व उत्पन्न होना शुक्राणु के प्रकार के ऊपर निर्भर होता है। अब योनि में च्युत शुक्र में दोनों प्रकार के शुक्राणु समसंख्या में होते हैं और सभी स्त्रीबीज के साथ मिलने के लिए भीतर की ओर दौड़ते हैं। इस घुड़दौड़ में किस प्रकार का शुक्राणु सब से अव्वल भीतर घुसकर स्त्रीबीज के साथ संयुक्त होगा, यह एक दैवयोग (Chance) का सवाल है। इस पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं चल सकता। इसलिए शार्ङ्गधर में लिखा है—आधिक्ये रजसः कन्या, पुत्रः शुक्राधिके भवेत्। नपुंसकं समत्वेन, यथेच्छा पारमेश्वरी॥ अतः परं पारमेश्वरी इच्छा, अदृष्टस्य बलवत्त्वात् जन्मान्तरम्। (गूढार्थदीपिका)। पाश्चात्त्य शास्त्रज्ञ भी स्त्री-पुरुष की उत्पत्ति में दैवयोग ही प्रधान मानते हैं—

Sex is inherited. The germcells transmit sex according to the mendelian laws. (But) it is a matter of chance which sex is favoured by Nature. *Riddle of Sex.*

इस सूत्र में पुत्र या कन्या की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जो उपपत्ति वर्णन की है, वह सर्वमान्य है—रक्तेन कन्यामधिकेन, पुत्रं शुक्रेण (अधिकेन)। (चरक)। पितू रेतोऽतिरेकात् पुरुषो, मातूरेतोऽतिरेकात् स्त्री, उभयोर्बीजतुल्यत्वान्नपुंसको भवति। (गर्भोपनिषद्)। पुमान्पुंसोऽधिके शुक्रे स्त्री भवत्यधिके स्त्रियाः। समेऽपुमान्पुंस्त्रियौ वा क्षीणेऽल्पे च विपर्ययः। (मनुस्मृति)। कार्याणां च कारणानुविधायित्वात्तत्सभागतां प्रतिपद्यते। तत एव च शुक्रस्य बाहुल्यात् पुमानार्तवस्य बाहुल्यात् स्त्री तयोः साम्येन नपुंसकम्। (अष्टांगसंग्रह)। कार्यं हि कारणस्य स्वरूपमनुगच्छति, तथा च तिलेभ्यस्तिला एव जायन्ते न माषाः। अत एव च कारणानुविधायित्वादेव पुंस्कारणस्य शुक्रस्य बाहुल्यात् पुमान् जायते। (इन्दु)। वाग्भट और इन्दु के कथन का यह स्पष्ट अर्थ है कि शुक्र में पुंस्कारक और आर्तव में स्त्रीकारक शक्ति होती है और यह कथन आधुनिक वैज्ञानिकों के (Y Chromosome or X chromosome) के तत्त्व के साथ मिलता है।

शुक्रबाहुल्य—बाहुल्य के कई अर्थ हो सकते हैं। (१) राशि की अधिकता—ननु, शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, इति कस्मादुक्तम्? यत आर्तवस्यैव बाहुल्यमुक्तम्, 'आर्तवं चतुरंजलिप्रमाणं, शुक्रं तु प्रसृतिमात्रम्'—इति, नैवं, यावन्मात्रमार्तवं गर्भाशयावस्थितं मलरहितं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गर्भजननं तावदेवाग्राह्यम्, अथवा स्वमानापेक्षया शुक्रशोणितयोर्बाहुल्य-मल्पत्वं चाभिप्रेतम् । (डल्हण) । (२) कार्यकर शक्ति की अधिकता—कार्यकर शक्ति से यहाँ शुक्र या आर्तव की गर्भ-जनक शक्ति अभिप्रेत नहीं है, पुंस्त्व या स्त्रीत्वकारक शक्ति अभिप्रेत है क्योंकि गर्भधारणा होने के पश्चात् का यह प्रश्न है—अन्ये त्वाचार्या एवं ब्रुवन्ति शुक्रार्तवयोर्न्यूनाधिकसमत्वं वीर्येण भवति । (डल्हण) । शुक्रस्य बाहुल्याद्बहुत्वात्सामर्थ्यलभ्य-त्वाच्च । पुंरेतो हि बलवदल्पं स्त्रीरजोऽभिभूय पुंगर्भस्य कारणतां याति । (अरुणदत्त) । इसी तरह अल्पता से राशि की अल्पता, कार्यकर शक्ति की अल्पता या अभाव इनका बोध होता है—तथाविधस्य कारणस्याऽभावात् । (अरुणदत्त) । इनमें से राशि की अधिकता की अप्रयोजकता स्वयं डल्हण को भी मालूम हुई है और गर्भजनन तथा स्त्रीपुरुष भेदजनन की दृष्टि से भी राशि का कुछ भी महत्त्व नहीं है । इसलिए बाहुल्य से शुक्रबीज की पुंस्त्वकारक शक्ति की अधिकता समझनी चाहिए और अल्पता से पुंस्त्वकारक शक्ति की अल्पता या अभाव समझना चाहिए । इस अर्थ के अनुसार आधुनिक उपपत्ति का विचार करने पर दोनों के तत्त्व में मेल हो जाता है । जब शुक्राणु वाय क्रोमोसोम युक्त होता है याने शुक्रबाहुल्य होता है, तब पुत्र पैदा होता है । जब शुक्राणु वाय क्रोमोसोम विरहित होता है याने शुक्राल्पता और पर्याय से आर्तवाधिक्य होता है, तब कन्या होती है ।

आर्तवबाहुल्य—शुक्रबाहुल्य के समान इससे भी स्त्री-बीज की गर्भ में स्त्रीत्वजनक शक्ति समझनी चाहिए । यह बाहुल्य शुक्राणु में पुंस्त्वजनक शक्ति के अभाव में हो सकता है, इस बात का उल्लेख ऊपर किया गया है । कुछ आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि स्त्रीबीजों में भी स्त्रीत्वजनक और पुंस्त्वजनक दो प्रकार के बीज स्वभाव से ही हुआ करते हैं । यदि स्त्रीत्वजनक (Female determinant) बीज से गर्भ पैदा हो तो कन्या पैदा होगी और यदि पुंस्त्वजनक (Male determinant) बीज से गर्भ पैदा होगा तो पुत्र होगा । मनुष्येतर प्राणियों के बीज की परीक्षा करके उन्होंने यह सिद्ध किया है कि दोनों प्रकार के बीजों के रासायनिक संगठन में फर्क होता है । मनुष्यों में इस प्रकार की परीक्षा असम्भव है, परन्तु उसके साथ साथ यह मालूम हुआ है कि दक्षिण बीजकोष से पैदा होने वाले बीज पुत्रजनक और वाम बीजकोष से पैदा होने वाले बीज कन्याजनक होते हैं, अर्थात् वामकोष के बीज प्रबल और दक्षिणकोष के बीज अल्पबल होते हैं । यदि दैवयोग से वामकोष के बीज से शुक्राणु का संयोग हुआ तो कन्या होगी । पुत्र और कन्या की उत्पत्ति की इस विचारसरणि को ओटोशोनर का मत (Otto Schoner's theory) कहते हैं । कन्या या पुत्र की उत्पत्ति के लिए निम्न प्रकार से इस मत का फायदा उठा सकते हैं । यदि स्त्री प्रसूत होकर पुत्र हुआ हो तो वह दक्षिण बीजकोष के बीज से हुआ है । प्रसूतकाल के पश्चात् जब फिर आर्तवदर्शन होगा, तब उस समय बीज वामकोष से निकलेगा । उसके बाद दक्षिण से, फिर वाम से । इस तरह स्त्रियों का बीज पर्याय से निकला करता है । इस नियम के अनुसार प्रसूति के समय से मासिक की तिथियाँ लिखकर रखने पर प्रत्येक मासिक धर्म का कन्या या पुत्र के साथ है, इसका निर्णय होता है और नुसार स्त्रीपुरुष समागम कर सकते हैं ।

इन मतों के अतिरिक्त और कई मत कन्या और की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्राचीन काल में प्रचलित थे आधुनिक काल में भी वैज्ञानिकों में प्रचलित हैं । संक्षेप में यहाँ उल्लेख किया जाता है ।

शरीरस्वास्थ्य और आहार—शुक्राधिक्य और आर्तवा इत्यादि से कुछ लोग शुक्राधार पुरुष और आर्तवाधार इनकी पुष्टता और कृशता समझते थे, और पुत्रो के लिए पुरुष को पौष्टिक आहार-विहार और स्त्री को आहार-विहार दिया करते थे—स्त्रियाः शुक्रेऽधिके स्त्री पुमान् पुंसोऽधिके भवेत् । तस्माच्छुक्रविवृद्ध्यर्थं वृष्यं लि सेवयेत् ॥ वाजीकरण के संबंध में पुरुषों को अर्थात् से शुक्र को पुष्ट करके पुत्रोत्पादन का भी हेतु वाजीकरणमन्विच्छेत् पुरुषो नित्यमात्मवान् । तदायत्तौ हि प्रीतिश्च यश एव च । पुत्रस्यायतनं ह्येतद् गुणाश्चैते सुताश्र (चरक) । वृष्यप्रयोगजनितः पुत्रो धर्मादीन् पितुः संपा त्यर्थः । (चक्रपाणिदत्त) । ततः पुष्पदर्शने प्रथमदि प्रभृति ब्रह्मचारिणी अल्पं कर्शनार्थमश्नीयात् । (अष्टांगसंग्र एवं गच्छन् स्त्रियं क्षामां मघां मूलं च वर्जयेत् । सुस्थ सकृत्पुत्रं लक्षण्यं जनयेत् पुमान् ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति इसकी टीका में विज्ञानेश्वर लिखते हैं—एवमुक्तेन प्र स्त्रियं गच्छन् क्षामां गच्छेत् । क्षामता च तस्मिन् काले रज व्रतेनैव भवति । अथ चेन्न भवति तदा कर्तव्या क्षामता पुत्रोत मल्पाऽस्निग्धभोजनादिना । (मिताक्षरा) । पुत्रोत्पाद लिए पुरुष का पौष्टिक आहार सहायता करता है या इस विषय में पाश्चात्य वैज्ञानिक निश्चिति से नहीं सकते हैं परंतु गर्भोत्पादन के समय स्त्री की क्ष पुत्रोत्पत्ति में सहायता करती है, यह उनका भी मत

The measures which aim at altering momentary condition are more importan practice. In this case it is thus a questi physical condition shortly before and during sexual union which is to lead to the desired For this purpose, the woman who hopes to birth to a son can have short measure in *Ideal Birth.*

शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य तथा अपत्योत्पाद इच्छा इत्यादि में यदि पुरुष स्त्री से प्रबल हो तो होगा, यदि स्त्री प्रबल हो तो कन्या होगी—

The sex of the child is determined by relative vigour of the parents. The father, maturity, force of will, or superior strength of procreative function may give the masc development, or the mother, from similar ca may give the feminine. *Esoteric Anthrop by Dr. Nicholas.*

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पुरुष का ब्रह्मचर्य—पुत्रोत्पत्ति के लिए जो समागम होता है, उसमें पुरुष को ब्रह्मचर्य पालन का उपदेश होता है—मासं ब्रह्मचारी (पीछे दूसरे अध्याय का २९वाँ सूत्र देखो)। इस ब्रह्मचर्य से अपत्य पुमान् और उत्तम गुणान्वित होता है, इस बात का समर्थन आधुनिक वैज्ञानिक भी करते हैं—

Various considerations make the demand for a certain abstinence before copulation seem well founded. This may be traced not only to the improvement of the ova and spermatozoa but also to the increase in the sexual power of attraction. Thus if the man has been continent during menstruation, or best of all, for a few days longer, and then after very strong sexual exigence undertakes copulation with the desire for a boy, then the probability is certainly greater...for achieving the birth of a boy. *Ideal Birth.*

समागम का काल—आयुर्वेद और धर्मशास्त्र में आर्तवस्राव बंद होने के बाद आठ से बारह दिन गर्भधारणा के लिए योग्य बतलाये गये हैं। उनमें सम दिन पुत्र के लिए और विषम दिन कन्या के लिए (द्वितीय अध्याय का २९वाँ सूत्र देखो) योग्य माने गये हैं (आगे १२वाँ श्लोक देखो)। सीगेल (Siegel) नामक शास्त्रज्ञ ने अपने अनुभव पर यह नियम बनाया है कि पहले नौ दिन में समागम करने पर गर्भधारणा हो जाय तो पुत्र होते हैं, दस से चौदह दिन में गर्भधारणा होने पर पुत्र और कन्या सम संख्या में होते हैं, उसके बाद तेईसवें दिन तक कन्याएँ होती हैं, और अन्तिम दिनों में गर्भधारणा नहीं होती या होने पर पुत्र होता है। यह नियम निरपवाद नहीं है, परन्तु इससे यह जरूर मालूम होता है कि प्रारंभिक दस बारह दिनों में पुत्र होने की संभावना बहुत अधिक होती है। यहाँ सम और विषम रात्रि का जो नियम दिया है, उस पर ज्यादा जोर देने की जरूरत नहीं क्योंकि यदि ब्रह्मचर्य, खाद्यादि बातों पर पुत्रोत्पत्ति की दृष्टि से ध्यान दिया जाय तो विषम दिनों में पुत्र उत्पन्न हो सकता है। 'पुमान् पुंसोऽधिके शुक्रे' इस श्लोक की मनुस्मृति की टीका में कुल्लूकभट्ट लिखते हैं—पुंसो बीजेऽधिकेऽयुग्मास्वपि पुत्रो जायते। स्त्रीबीजेऽधिके युग्मास्वपि दुहितैव। अतो वृष्यहारादिना निजबीजाधिक्यं भार्यायाश्चाहारलाघवादिना बीजाल्पत्वमवगम्यायुग्मास्वपि पुत्रार्थिना गन्तव्यमिति दर्शितम्॥ अब समागमकाल का और कन्या-पुत्र की उत्पत्ति का क्या संबंध है? यद्यपि इस प्रश्न का ठीक ठीक उत्तर देना कठिन है तथापि स्त्रीबीज की पक्वापक्वता के साथ उसका संबंध माना जाता है। स्त्रीबीज आर्तवदर्शन के बाद बारहवें दिन पक्व होकर कोष से बाहर आता है। परंतु मैथुन के कारण वह इस काल के पहिले भी बाहर आ जाता है, इस बात का उल्लेख पीछे 'विसर्पति आर्तवं नार्यास्तथा पुंसा समागमे' (अध्याय २ श्लोक ३८) इस श्लोक के तथा इस अध्याय के तीसरे सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। जो उचित काल के पूर्व मैथुन के कारण बाहर आता है, वह अपक्व (Premature) होता है याने बल में अल्प होता है, जिससे उससे होने वाला गर्भ स्त्री बनता है। जब योग्य काल में बाहर आये हुए याने परिपक्व बीज से गर्भ बनता है, तब बलाधिक्य के कारण कन्या होती है। जब महीने के आखिर के दिनों में समागम होता है तब बीज अतिपक्व (Over-mature) याने दुर्बल होने के कारण पुत्र होता है, या बीज नष्ट होने के कारण गर्भधारणा नहीं होती। अरुणदत्त 'अत एव च शुक्रस्य बाहुल्याज्जायते पुमान्' (शारीर ३।५) इस श्लोक की टीका में पुत्र और कन्या की उत्पत्ति के संबंध में निम्न श्लोक देते हैं—दारुवाहिना तूक्तम्—स्त्रीपुंसयोः सुसंयोगे यथादौ विसृजेत्पुमान्। शुक्रं ततः पुमान् वीरो जायते बलवान् दृढः॥ अथ चेद्वनिता पूर्वं विसृजेद्रक्तसंयुतम्। ततो रूपान्विता कन्या जायते दृढसंहता॥ इस श्लोक का अर्थ यदि सीगेल के मतानुसार निम्न प्रकार से किया जाय तो पुत्र और कन्या की उत्पत्ति की उपपत्ति ठीक समझने में आती है और जिस तत्त्व के स्पष्टीकरण के लिए यह श्लोक दिया गया है, उस तत्त्व का समर्थन होता है। यथा—स्त्रीपुरुष के समागम के समय यदि पुरुष का शुक्र प्रथम उत्सर्गित हो और समागम की उत्तेजना से पश्चात् स्त्री का बीज उत्सर्गित हो तो वह बीज अर्धपक्व अतएव अल्पबल होने के कारण पुत्र उत्पन्न होता है। यदि समागम के समय स्त्रीबीज पहिले उत्सर्गित हुआ हो और पश्चात् शुक्र उत्सर्गित हो तो बीज परिपक्व अतएव प्रबल होने के कारण कन्या उत्पन्न होती है। यदि इस प्रकार से अर्थ न किया जाय तो इस श्लोक का कुछ भी अर्थ नहीं निकलता।

अन्य मार्ग—पहिले यह बताया जा चुका है कि शुक्र में सबल और निर्बल दो प्रकार के शुक्राणु होते हैं। सबल से पुत्र और निर्बल से कन्या उत्पन्न होती है। ये यदि एक दूसरे से पृथक् किये जायँ तो इच्छा के अनुसार पुत्र या कन्या उत्पन्न करने में कोई कठिनाई नहीं होगी। यह पृथक् करने का काम बहुत कठिन है तथापि शास्त्रज्ञों की यह राय है कि पुंस्त्वकारक शुक्राणु दूसरे प्रकार के शुक्राणुओं से अधिक चपल, सबल और कठिनाइयों के साथ सफलता से मुकाबला करने वाले होते हैं। इसलिए भीतर पहुँचने के रास्ते में कठिनाइयाँ होने पर भी यदि गर्भधारणा हो जाय तो अधिकतर पुत्र उत्पन्न होता है। स्त्रियों में प्रथम बार पुत्र अधिक होते हैं। इसका कारण यह बताया जाता है कि उनका अपत्यमार्ग संकट और अक्षुण्ण होने के कारण अधिकतर पुंस्त्वजनक शुक्राणु भीतर पहुँच सकते हैं। शुक्रोत्सर्ग गर्भाशयद्वार के पास करने की अपेक्षा योनिद्वार के पास करने से शुक्राणुओं को अधिक लंबा मार्ग तय करना पड़ता है, जिससे अधिक पुत्र उत्पन्न होने की संभावना होती है। अपत्यमार्ग की क्षारीयप्रतिक्रिया भी उनके मार्ग में अड़चन उत्पन्न करती है। ऋतुकाल के प्रारंभिक दिनों में अधिक पुत्र उत्पन्न होने के जो कारण हैं, उनमें उस समय अपत्यमार्ग की क्षारीय प्रति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्रिया एक कारण माना जाता है। यदि अपत्यमार्ग की क्षारीय प्रतिक्रिया न हो तो मैथुन के समय शिश्नाग्र पर जरा सा सोड़ा बायकार्बोनेट बुरक देने से काम हो जाता है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि आयुर्वेद ने 'शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, आर्तवबाहुल्यात् स्त्री' यह पुत्र-कन्या की उत्पत्ति के संबंध में जो बाहुल्य का नियम बताया है, वह बिल्कुल ठीक है और इसी को आधुनिक परिभाषा में 'लॉ आफ डॉमिनन्स' (Law of dominance) कहते हैं और इसी के आधार पर गर्भ में लिङ्गनिर्णय होता है—

That sex is inherited persuant to the law of dominance and in accordance with the mendelians rules. *Riddle of Sex.*

यह प्राबल्य कैसे होता है तथा कैसे किया जा सकता है, इस विषय का पूर्ण ज्ञान न होने के कारण किसी गर्भिणी स्त्री में पुत्र या कन्या होगी इसका उत्तर नहीं दे सकते, न किसी पुत्रार्थी स्त्री को निश्चित मार्ग बता सकते हैं। वैज्ञानिक केवल पिछले अनुभव और हिसाब किताब के आधार पर संभाव्यता सूचित कर सकते हैं—

While we know something about the mechanism of heredity, we know little indeed of the forces controlling it, so as to be able to make its statutory laws apply in each individual case. What we can do is to consult statistics and find averages. *Riddle of Sex.*

दैविक उपाय—पुत्र या कन्या की उत्पत्ति में मानवी उपायों की इतनी संदिग्धता होने के कारण अत्यन्त प्राचीन काल से पुत्रीयविधि (द्वितीय अध्याय के २८वें श्लोक का वक्तव्य देखो), समागम के समय शुभ नक्षत्रों की उपस्थिति 'ब्रह्मा बृहस्पतिर्विष्णुः सोमः सूर्यस्तथाऽश्विनौ। भगोऽथ मित्रावरुणौ वीरं दधतु मे सुतम्॥' इत्यादि मन्त्रों का पठन आदि अनेक दैवी उपाय प्रयुक्त होते थे। इन उपायों की सहेतुकता विज्ञान से सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिए विज्ञानवादी तथा नास्तिक इन कर्मों पर विश्वास नहीं करते हैं। विश्वास या श्रद्धा मन का एक बड़ा धर्म है, जिससे मनोबल बढ़ता है और संसार में जो चाहे वह चीज उससे मनुष्य प्राप्त कर सकता है—श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः। (गीता)। जिनका इन उपायों पर विश्वास नहीं है, उनके लिए इनसे कुछ भी फायदा नहीं हो सकता परन्तु जिनका विश्वास है, उनके मन को इनसे शान्ति मिलती है और उस शान्ति का परिणाम इच्छितार्थ प्राप्त होने में होता है। इच्छित अपत्य प्राप्त करने के लिए जो दैवी उपाय प्रयुक्त होते हैं, उनके सम्बन्ध में 'वानडे वेल्डे' जैसे सुप्रसिद्ध जर्मन शास्त्रज्ञ के विचार बहुत विशाल और विचारणीय हैं—

I do not presume to judge the numerous theories of this kind (Ancient incantation ceremonies and superstitious rites) in which sometimes, under all kinds of mysterious overgrowths, there-lies hidden a true observation of nature; and I leave to each individual the belief which g[...] him most satisfaction or makes him h[...] Finally, there is much in the world which [...] an effect without exact science being ab[...] compute it in figures or by mechanism. Be[...] it can hardly be maintained that astrology, [...] example, stands on weaker foundations than [...] compensating tendency, etc. *Ideal Birth.*

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि पुत्र या [...] प्राप्त करने के लिए कोई भी एक उपाय प्रर्याप्त नहीं [...] अनेक उपायों का संयोग करना चाहिए, क्योंकि गर्भ का [...] निर्णय भी वास्तविक अनेक कारणों के सहयोग से होता [...] इसलिए निम्न उपायों को अङ्गीकार करने से पुत्र उत्पत्ति की सम्भाव्यता बढ़ती है—

जिस महीने में दक्षिण कोष से बीज का उत्सर्ग [...] उस महीने का निर्णय करके उस महीने के ऋतुकाल [...] प्रारम्भिक नौ दिनों में समागम करो। समागम [...] आठ दस रोज तक ब्रह्मचर्य धारण करो और स्त्री के [...] अल्पाहार से लंघन कराओ। समागम के पूर्व तथा सम[...] के समय पुत्र की इच्छा मन में धारण करो, तथा शुक्र [...] उत्सर्ग गर्भद्वार के पास न करके योनिद्वार के पास [...] यदि योनि में कुछ अम्लता हो तो मैथुन के समय शिश्न [...] जरा सा सोडाबाईकार्ब छिड़को। यह सब कुछ करने पर [...] पुत्रोत्पत्ति का वादा नहीं किया जा सकता, इस बात [...] भी ध्यान रखना चाहिए।

पुंसवनविधि का औचित्य—शुक्र और आर्तव के बल[...] पर गर्भ के आधान के समय उसके लिङ्ग का भी आ[...] होता है, यह आयुर्वेद का मत आज के विज्ञान से भी [...] हुआ है। इसका उल्लेख इस वक्तव्य के प्रारम्भ में [...] गया है। ऐसी अवस्था में जब कि गर्भ के लिङ्ग का [...] हुआ है, लिंगपरिवर्तन का प्रयत्न अस्वाभाविक, अयुक्त [...] अतएव निरर्थक मालूम पड़ता है। यह शङ्का प्राचीन [...] के सामने थी और उसका उत्तर भी आचार्यों ने ऐसा [...] दिया कि जो पुंसवनविधि का औचित्य सिद्ध करके [...] काम के लिए भूत भविष्य वर्तमान काल में मार्गदर्शक [...] जाता है—तत्र यदि प्राक्कृतेन कर्मणा स्त्रीगर्भः कर्तुमाक्षि[...] पुरुषप्रयत्ने सत्यपि पुंगर्भः कर्तुं न शक्यते। तस्मात्पुंसवनमनर्थ[...] त्याशंक्याह। (अरुणदत्त)। इस आशङ्का को सामने [...] वाग्भटाचार्य उत्तर देते हैं—बली पुरुषकारो हि दैव[...] वर्तते। (अष्टांगहृदय)। इसका अभिप्राय यह है कि [...] बलवान् प्रयत्न किया जाय तो दैवदत्त लिङ्ग में भी परि[...] कर सकते हैं। आधुनिक विज्ञान का भी यही मत है [...]

We may not know exactly what sex is; [...] we do know that it is mutable, with the p[...] bility of one sex being changed into another [...] *Psychology of Sex.* In man and all class[...] animals with separate sexes it is true that [...] appears to be fixed......Nevertheless......the

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

possibility of an artificial change of sex which can be effected even in individuals fairly far or already completely developed in the direction of one sex. *Ideal Birth.*

निम्न श्रेणी के प्राणियों में लिङ्गपरिवर्तन के प्रयोगों में आज भी सफलता मिल गई है, और मनुष्यों में यद्यपि आज पूरी सफलता नहीं मिली तथापि भविष्य में, जो बहुत दूर नहीं है, पूरी सफलता मिलने की आशा है। यह परिवर्तन कैसे हो सकता है, इसका विचार अब नपुंसक के विवरण में किया जायगा।

साम्यादुभयोर्नपुंसकम्—नपुंसक के कई अर्थ होते हैं। (१) पंढ या क्लीब—तत्र सम्पूर्णसर्वाङ्गः स भवत्यपुमान् पुमान् ॥ (चरक)। स पुमान् स्त्रीषु पुरुषव्यापारकरणासमर्थत्वात् अपुमान् इति। (चक्रपाणिदत्त)। इसको इम्पोटंट (Impotent) कहते हैं। नपुंसकता के जन्मोत्तर कारणों का विचार पीछे अध्याय के ४७वें श्लोक के वक्तव्य के अन्त में किया गया है। कभी कभी नपुंसकता वृषणों का अभाव, वृषणों की ठीक वृद्धि न होना या उदरगुहा में दोनों की स्थिति इत्यादि सहज कारणों से होती हैं। वातिकपंढ (Anorchism) इस प्रकार का विकार है—वाय्वग्निदोषाद् वृषणौ तु यस्य नाशं गतौ वातिकपण्डकः सः। (चरक)। (२) हिजड़ा (Eunuch, castrate)—जिसके वृषण बचपन में निकाल दिये जाते हैं, जिससे इनका पुरुषत्व नष्ट होता है। कभी कभी यौवन प्राप्त होने के बाद वृषण का अन्तःस्राव नष्ट होता है, इससे नपुंसक राक्षस (Eunuchoid gigantism) उत्पन्न होता है। इन दोनों प्रकारों में पुरुषत्व की कमी होती है, परन्तु उसमें स्त्रीत्व का अंश नहीं होता है। (३) द्विलिङ्गी या स्त्रीपुंसलिङ्गी—जिसमें दोनों के लिङ्ग मिलते हैं, ऐसा व्यक्ति। कुछ टीकाकार नपुंसक से (न पुमान् न स्त्री) जिसमें दोनों के लिङ्ग नहीं मिलते, ऐसे व्यक्ति समझते हैं—यदि तु शुक्रार्तवयोः साम्यं तुल्यत्वं भवति तदा न स्त्री पुमान् भवतेऽपि तु लिङ्गद्वयालिङ्गितः क्लीवः पंढो जायते। (अरुणदत्त)। स्त्रीपुंसलिङ्गीति स्त्रीपुरुषसाधारणनासिकाचक्षुरादिलिङ्गयुक्तः। लिङ्गानि तु स्त्रीपुंसयोरसाधारणान्युपस्थध्वजस्तनश्मश्रुप्रभृतीनि तानि क्लैब्ये न संभवन्ति। असाधारणानि लिङ्गानि वृद्धेन शुक्रेण शोणितेन वा जन्यानि, इह समरक्तशुक्रारब्धेन नास्त्यन्यतरवृद्धिरिति नोपस्थध्वजादिविक्षेपलिङ्गभवनम्। (चक्रपाणिदत्त)। परंतु यह अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि 'कारणानुविधायित्वात् कार्याणां तत्स्वरूपता' इस न्याय से जब शुक्र और आर्तव दोनों के गुण मौजूद हैं, तब उनके लक्षण गर्भ में न मिलना असंभव है। इसके सिवाय जिसमें स्त्री-पुरुष के कुछ भी लक्षण न मिलें और आकृति मनुष्य की हो, ऐसे व्यक्ति मिलते नहीं। जिसमें दोनों के व्यामिश्र लक्षण हों, ऐसा व्यक्ति कभी कभी मिल सकता है और उसको हर्माफ्रोडाइट (Hermaphrodite) और व्यामिश्रलिंगावस्था को हर्माफ्रोडिझम (Hermaphrodism) कहते हैं। नपुंसक से यहाँ व्यामिश्रलिङ्गी व्यक्ति अभिप्रेत है। जिस व्यक्ति में वृषण तथा बीजकोष और दोनों के बाह्यव्यंजन मिलते हैं, उसको यथार्थ (True) नपुंसक कहते हैं। आयुर्वेद के अनुसार शुक्रशोणित के बल की ठीक साम्यावस्था से ऐसी तृतीया प्रकृति उत्पन्न हो सकती है। परंतु संभाव्यता (Probability) की दृष्टि से दोनों की ठीक साम्यावस्था होना बहुत ही कठिन है। इसलिए यथार्थ नपुंसक उत्पन्न होना भी बहुत कठिन है। पाश्चात्य डाक्टरों का कथन है कि संसार के साहित्य में अब तक केवल बारह यथार्थ नपुंसकों का पता मिलता है—

In the world's literature there are on record but twelve true hermaphrodites. *Medical Annual 1935.* Upto 1914, only five cases of unmistakable hermaphroditism have been reported. Since then a few more have been added. Altogether, there are about twelve such cases on record. *Riddle of Sex.*

साम्यावस्था ठीक न होने से एक लिंग की अधिकता और दूसरे लिंग की कुछ कमी हो ऐसे व्यक्ति देखने में अधिक मिलते हैं और इस प्रकार को अयथार्थ (Pseudo, spurious) नपुंसक कहते हैं। लिङ्गाधिकता के अनुसार अयथार्थ नपुंसकता के दो भेद किये जाते हैं। (१) जिसमें वृषण होता है परंतु जिसके बाह्य व्यञ्जनों में दोनों का मिश्रण होता है, उसे अन्ड्रोगैनाइड (Androgynoid) और उस अवस्था को अन्ड्रोगनी (Androgyny) कहते हैं। चरक में तृणपुत्रिका या तृणपूलिका नामक एक सहज पुरुषव्यापत्ति वर्णन की है—यदा त्वस्य बीजे बीजभागावयवः पुरुषकराणां च शरीरबीजभागानामेकदेशः प्रदोषमापद्यते तदा पुरुषाकृतिभूयिष्ठमपुरुषं तृणपुत्रिकं नाम जनयति, तां पुरुषव्यापदमाचक्षते ॥ (शा० ४)। यह व्यापत्ति अन्ड्रोगनी मालूम पड़ती है। (२) जिसमें बीजकोष होता है, जो मुख्यतया स्त्री है, परन्तु जिसमें पुरुष के भी बाह्य व्यंजक मिलते हैं, उसे गैनड्राइड (Gynandroid) और उस अवस्था को गैनन्ड्री (Gynandry) कहते हैं। चरक में रान्ता या वार्ता नामक एक स्त्रीव्यापत्ति वर्णन की है, वह इस प्रकार की मालूम पड़ती है—यदा त्वस्याः शोणिते गर्भाशयबीजभागानामेकदेशः प्रदोषमापद्यते, तदा स्त्र्याकृतिभूयिष्ठामस्त्रियं वार्ता नाम जनयति, तां स्त्रीव्यापदमाचक्षते। (शा० ४)। वार्तातृणपुत्रिकयोर्व्यवायेच्छा परं भवति, न तु व्यवायसामर्थ्यमिति ब्रुवते। (चक्रपाणिदत्त)। इसका कारण यह है कि दोनों के शरीर में लिंगानुसार लैङ्गिक ग्रंथि उपस्थित रहने से 'व्यवायेच्छा परं भवति', परंतु बाह्यजननेन्द्रिय विकृत होने से व्यवायसामर्थ्य नहीं होता। संक्षेप में स्त्री और पुरुष दोनों के लक्षण उपस्थित होने से जिसको न पुरुष न स्त्री (न पुमान् न स्त्री) कह सकते हैं, ऐसा व्यक्ति, यह नपुंसक का अर्थ है।

नपुंसक क्यों होता है?—इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व गर्भ की वृद्धि गर्भाशय में किस प्रकार से होती है, इस विषय का विचार आवश्यक है। शुक्र और शोणित का संयोग होने पर जो जीव उत्पन्न होता है, उसकी वृद्धि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसी क्षण से शुरू होती है, परन्तु छठे सप्ताह तक उसमें न स्त्री के लक्षण मिलते हैं न पुरुष के, याने वह स्त्रीत्व पुरुषत्व विरहित (Neuter) होता है। इस अवस्था को अव्यक्तावस्था कहते हैं, इसका उल्लेख पीछे दूसरे अध्याय के ३३वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। इस अवस्था के पश्चात् जननेन्द्रिय के स्थान में दोनों के लिए साधारण (Wolffian body) नामक एक अंग उत्पन्न होता है। उसके साथ साथ या कुछ पीछे दोनों लिङ्गों की ग्रंथियाँ (सूक्ष्म रूप में वृषण और बीजकोष) भी उत्पन्न होती हैं। फिर धीरे धीरे शुक्र या आर्तव के प्राबल्य के अनुसार 'भूयसाल्पं हि जीयते' इस न्याय से एक ग्रंथि का नाश होकर दूसरी ग्रंथि जोर पकड़ती है और गर्भ स्त्री या पुरुष होता है। संक्षेप में प्रथम उभयसाधारणावस्था और पश्चात् एकसाधारणावस्था होकर स्त्री या पुरुष उत्पन्न होता है। कुछ गर्भवैज्ञानिक उभयसाधारणावस्था मान्य नहीं करते हैं। उनका कथन है कि प्रारम्भ से गर्भ में स्त्री या पुरुष के सूक्ष्म चिह्न उपस्थित रहते हैं—

It must be recognized that there is in this no idea of there being a 'neuter' or general basis on which the characters of men and women are grafted, nor is there any reason for looking on woman as a modified man, or *vice versa*. So far as cellular structure is concerned, the individual must be, from inception, either male or female. *Manual of Embryology by Frazer.*

एकसाधारणावस्था, याने स्त्रीत्व या पुरुषत्व, व्यक्ति में अन्तःस्रावी ग्रंथियों के समूहविशेष से उत्पन्न होती है। वृषणाधिष्ठित अन्तःस्रावी ग्रंथिसमूह जिसमें काम करता है वह पुरुष, और बीजकोषाधिष्ठित अन्तःस्रावी ग्रंथिसमूह जिसमें काम करता है वह स्त्री होती है। अन्तःस्रावी ग्रंथियों में पूर्व पिच्युटरी मुख्यतया तथा थायमस, थायराइड, अधिवृक्क इत्यादि कई ग्रंथियों का लिंगोत्पत्ति में विशेष संबंध आता है। इसका उल्लेख द्वितीय अध्याय में ४७वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। इन ग्रंथियों के अतियोग, अयोग और मिथ्यायोग से गर्भ में शारीरिक, मानसिक और लैङ्गिक वपरीत्य आ जाता है। आहार, विहार, मानसिक स्थिति, जलवायु इत्यादि का भी परिणाम इन ग्रंथियों के ऊपर होता है। इस तरह प्रथम उभयसाधारणावस्था, बीच में उभयसाधारणलिङ्गग्रंथियुक्तावस्था और अन्त में अन्य अन्तःस्रावी ग्रंथियों की सहायता से एक प्रकार की लिङ्ग-ग्रंथि की वृद्धि और अन्य प्रकार की लिङ्गग्रंथि का नाश इस क्रम से गर्भावस्था में पुरुष या स्त्री उत्पन्न होती है। यदि तीसरी अवस्था के प्रारम्भ से ही दोनों प्रकार की लिङ्ग-ग्रंथियों का कार्य बराबर जारी रहे तो यथार्थ नपुंसक उत्पन्न हो सकता है और यदि एक प्रकार की ग्रंथि का कुछ नाश होने के बाद दोनों का कार्य जारी रहे तो अयथार्थ नपुंसक उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार का अस्वाभाविक क्रम क्यों उत्पन्न होता है? इस प्रश्न का उत्तर आज का विज्ञान दे सकता—

We are still in the dark concerning the mechanism of those malformations. We a loss to account for the underlyirg cond which is responsible for the sudden shift fr predestined direction into a series of deve mental adventures. *Riddle of Sex.*

आयुर्वेद के अनुसार बीजों की समबलता, उपतप्त माता के आहारविहारादि के दोष इस अवस्था के होते हैं—बीजात्समांशादुपतप्तबीजात् स्त्रीपुंसलिङ्गी भवति बीजात्मकर्माशयकालदोषैर्मातुस्तथाहारविहारदोषैः ॥ (शा० २)। गर्भ में लिङ्गपरिवर्तन या मनचाहा लिङ्ग कैसे हो सकता है?—उपर्युक्त विवरण से यह होगा कि गर्भ में यद्यपि आधान के समय से शुक्र या के प्राबल्य के अनुसार पुरुष या स्त्री बनने की प्रवृत्ति है तथापि वह दुर्बल होती है; आगे जाकर उसकी पुरुषकर या स्त्रीकर ग्रंथियों द्वारा होकर गर्भ पुरुष बनता है। यदि माता-पिता पुत्र की इच्छा करें तो से ही गर्भ के ऊपर पुरुषकर ग्रंथियों द्वारा करने से पुत्र उत्पन्न हो सकता है। यदि गर्भ स्त्री स्त्रीकर ग्रंथियों का नाश करने से और पुरुषकर ग्रंथि उपयोग करने से लिङ्गपरिवर्तन हो सकता है। यह माता के ऊपर आहार, विहार, विशिष्ट जलवायु, ओष ग्रंथियों के सत्त्व (Hormones) इत्यादि का उपयोग उसके शरीर के परिवर्तन (Metabolism) में घटाबढ़ी से होता है। पुत्र उत्पन्न करने के लिए माता को प्रकार का आहार-विहार, अमुक प्रकार की ज (Climate), अमुक ओषधियाँ, अमुक ग्रंथियों के अमुक मात्रा में प्रदान करना इत्यादि का निश्चित सूत्र तक निर्माण नहीं हुआ है। इस दिशा में प्रयत्न हो और निम्न श्रेणी के प्राणियों में इन उपायों द्वारा स मिल रही है। मनुष्यों के ऊपर मनमाने प्रयोग क कुछ जिम्मेदारी होने के कारण सावधानता से प्रयो रहे हैं और भविष्य में उन प्रयोगों से निश्चित लाभ ह बहुत कुछ आशा की जा सकती है।

लिङ्गपरिवर्तन के सम्बन्ध में कुछ शास्त्रज्ञों का यह है कि उभयसाधारण अवस्था (Bisexual Phas पश्चात् गर्भ में थोड़ी देर के लिए पुरुषावस्था प्राप्त हो जिसमें उसमें वृषणग्रंथि उत्पन्न होती है और यदि पु उत्पन्न होने वाला हो तो यही अवस्था आगे बढ़कर न्द्रिय के पिण्ड (Genital ridge) बढ़कर वहाँ वर्धित होते हैं; यदि स्त्री उत्पन्न होने वाली हो तो स्थान में बीजकोष बनता है, और जननेन्द्रिय के शोषित होकर भग, योनि, गर्भाशयादि अंग वर्धित हैं। इसलिए लिंगपरिवर्तन स्त्री में ही हो सकता है गर्भ को पुरुष बना सकते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Therefore, sex reversal can only occur in the female a deduction with which all experience concurs. *Medical Annual. Page 130, 1935.*

इसका अभिप्राय यह है कि लिंगपरिवर्तन के लिए केवल 'पुंसवनविधि' सम्भवनीय है ।

ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति दृष्टार्तवः, अदृष्टार्तवाऽप्यस्तीत्येके भाषन्ते ॥६॥

(ऋतुकाल की मर्यादा—) जिसमें आर्तवदर्शन होता है, ऐसा ऋतुकाल बारह दिन का होता है। कई (आचार्य) कहते हैं कि आर्तवस्राव न होने वाली भी (ऋतुमती) होती है ॥६॥

वक्तव्य—ऋतु—ऋतुकाल, गर्भधारणा के लिए योग्य काल । गर्भधारणा स्त्री में बीजोत्सर्ग के ऊपर निर्भर होती है, आर्तवस्राव के ऊपर नहीं । ऋतुकाल में बीजकोष से पक्वबीज का उत्सर्ग होता है । इसलिए ऋतुकाल गर्भधारणा के लिए योग्य होता है । ऋतुकाल को ओव्यूलेशन टाइम (Ovulation time) कहते हैं । आयुर्वेद में गर्भोत्पत्ति की तुलना अंकुरोत्पत्ति के साथ (दूसरा अध्याय श्लोक ३४ और उसका वक्तव्य देखो) की जाती है । अंकुरोत्पत्ति के लिए जैसे अनुकूल काल की आवश्यकता होती है, वैसे ही गर्भोत्पत्ति के लिए भी अनुकूल काल की आवश्यकता होती है; और जैसे वह काल ऋतु कहलाता है, वैसे गर्भोत्पत्ति का अनुकूल काल भी ऋतुकाल कहने का रिवाज पड़ गया है— आर्तवदर्शनं च शरदाद्यृतुसाधर्म्यादृतुशब्देनोच्यते । यथा ऋतावुप्तानि बीजानि प्ररोहन्ति, तथाऽऽर्तवदर्शनाख्येऽपि ऋतौ शुक्ररूपं बीजमुप्तमिति ऋतुसाधर्म्यम् । (चक्रपाणिदत्त, शारीर ३)। ऋतुबीजकालमवेक्षेत इत्याहुर्महर्षयः ॥ (काश्यपसंहिता, जातिसूत्रीय शारीराध्याय) । दृष्टार्तवः—दृष्टमार्तवं यस्मिन् । जिसमें आर्तवदर्शन हुआ है, ऐसा । अदृष्टार्तवा—जिसमें मासिक आर्तवस्राव नहीं हुआ है, ऐसी ऋतुमती याने गर्भधारण योग्य स्त्री । द्वादशरात्रम्—बारह दिन । अन्य वैद्यकग्रंथों में तथा स्मृतिग्रंथों में ऋतुकाल की अवधि सोलह दिन की बताई गई है—ऋतुकालं तु षोडशरात्रं यावत्, यदुक्तं हारीते— षोडश दिवसा ऋतुकालः' इति । (चक्रपाणिदत्त, शारीर २)। प्रयोगे उक्तं हारीते—'षोडश दिवसान्यृतुकालः' इति । विदेहेऽप्युक्तम्— ...णामृतुर्भवति षोडशवासराणि' इति । (मधुकोषव्याख्या, प्रदर निदान) । आर्तवस्रावदिवसादृतुः षोडशरात्रयः । गर्भग्रहणयोग्यस्तु स एव समयः स्मृतः ॥ (भावप्रकाश) । ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडश स्मृताः । (मनुस्मृति ३।४६) । षोडशर्तुनिशाः स्त्रीणाम् । (याज्ञवल्क्यस्मृति १।७९) । ये षोडश दिन आर्तवदर्शन-दिन से गिने जाते हैं—स च (ऋतुः) आर्तवदर्शनदिवसादारभ्य षोडशाहोरात्रः । (विज्ञानेश्वर, याज्ञवल्क्य १।७९) । सुश्रुत में ऋतुकाल जो बारह दिनों का बतलाया है, वैसा ही अष्टांगसंग्रह (शारीर १) और अष्टांगहृदय (शारीर १) में बताया गया है । वहाँ पर टीका में इन्दु और अरुणदत्त ऋतुकाल का प्रारम्भ आर्तवदर्शन दिन से गिनने के लिए कहते हैं—मासि मासि भवादार्तवदर्शनादारभ्य द्वादशरात्रम् । (इन्दु) । ऋतुदर्शनात्प्रभृति यावद् द्वादश रात्रयः स्तावदृतुर्योषितः । परन्तु यदि अन्य वैद्यक ग्रंथों के तथा स्मृति ग्रंथों के ऋतुकाल से और आधुनिक मत (आगे का अँग्रेजी वचन देखो) से समन्वय करना हो तो ऋतुकाल का प्रारम्भ ऋतुस्नात दिन से याने चौथे दिन से मानना ही उचित है । डल्हण लिखते हैं—द्वादशमिति षोडशदिनेषु मध्ये आद्यं दिनत्रयमन्तिमं च षोडशं योनिसंकोचदिनं न गणनीयम् । इस डल्हण के मत का यही अर्थ होता है । इसलिए जब ऋतुकाल षोडश दिन हो, तब उसका प्रारम्भ आर्तवदर्शन दिन से और जब द्वादश दिन हो, तब उसका प्रारम्भ चौथे दिन से गिनना चाहिए । काश्यपसंहिता में ऋतुकाल का प्रारम्भ चौथे दिन ही से बताया गया है—रजस्वलायाश्चेत् प्रथमेऽहनि गर्भ आपद्येत तं वातगर्भमाचक्षते विफलं वातपुष्पमिवोद्भिदानाम्, द्वितीयेऽहनि चेत् स्रंसते च्यवते वा; तृतीयेऽहनि सूतिकासने म्रियते; न वा दीर्घायुर्भवति, हीनाङ्गश्च जायते । अत ऊर्ध्वमृतुर्द्वादशाहं ब्राह्मणीनाम्, एकादशाहं क्षत्रियाणां, दशाहं वैश्यानां, नवरात्रमितरासाम् । (जातिसूत्रीय शारीराध्याय) ।

ऋतुकाल की आधुनिक मर्यादा—ऋतुकाल में बीज पक्व होकर कोष के बाहर आता है । जिस दिन वह बाहर आता है, उस दिन के आसपास दो तीन दिनों में समागम करने से गर्भधारणा होने की सम्भावना सब से अधिक होती है । बीजोत्सर्ग का प्रत्यक्ष न होने से उसके निश्चित दिन के सम्बन्ध में पाश्चात्य चिकित्सकों में भी बहुत मतभेद दिखाई देते हैं । परन्तु उनका भी मत आयुर्वेद के मत के साथ बहुत कुछ मिलता है—

This evidence then points to the conclusion that ovulation is most frequent from the sixth to the thirteenth day after the beginning of menstruation. This time would correspond more or less to a post-menstrual oestrous period. Moreover Mall, as a result of a study of thirty six cases of early human embryos, has come to the conclusion that fertile coition is mostlikely to occur between the fourth and thirteenth day after the appearance of the menstrual discharge. *Sexual Physiology by Marshall.*

बीजोत्सर्ग का दिन स्त्री की प्रकृति, शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य, पुरुषसमागम (२ अध्याय का ३८वाँ श्लोक और उसका वक्तव्य देखो) इत्यादि से बदलता रहता है । जिस दिन बीजोत्सर्ग होता है, उस दिन स्त्री के शरीर का तापक्रम कुछ बढ़ता है तथा उदरगुहा में गर्भाशय के पार्श्व में कुछ पीड़ा भी होती है । इन लक्षणों से बीजोत्सर्ग-दिन का पता कभी कभी चल जाता है । इन लक्षणों से यदि अनेक स्त्रियों में अनेक बार बीजोत्सर्ग की मर्यादा निश्चित की जाय तो उसमें कुछ भिन्नता पाई जाती है । इससे यह स्पष्ट होगा कि वैद्यक और धर्मशास्त्र में ऋतुकाल की सोलह दिन की जो मर्यादा बतलाई है, वह किसी एक व्यक्ति की न होकर आधुनिक परिभाषा के अनुसार औसत (Average) मालूम होती है, क्योंकि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाश्चात्य वैज्ञानिकों के अनुसार औसत निकालने पर भी वह सोलह के लगभग ही आ जाती है।

ऋतुकाल के पश्चात् गर्भधारणा की संभावना—यद्यपि ऋतुकाल में समागम करने से गर्भधारणा होने की अधिक से अधिक संभावना होती है, तथापि ऋतुकाल के बाहर भी गर्भधारणा हो सकती है, क्योंकि बीजवाहिनी में बीज कुछ दिनों तक गर्भजननयोग्य अवस्था में रह सकता है, तथा बीजोत्सर्ग का काल भी विलंबित हो सकता है, ऐसी शास्त्रज्ञों की राय है—

I, along with many other gynaecologists, am of opinion on grounds of experience that, generally speaking, sexual intercourse in human beings may lead to conception at any time, because I assume that both the ovum and spermatozoa which have penetrated into the inner female sexual organs have a comparatively long duration of life and ovulation can be delayed as a result of other influences. *Ideal Birth.*

गर्भधारणा के लिए आर्तवदर्शन आवश्यक है ?—साधारणतया यह माना जाता है कि गर्भधारणा आर्तवदर्शन के सिवाय नहीं हो सकती, याने आर्तवदर्शन गर्भधारणा के लिए एक आवश्यक घटना है। एक दृष्टि से यह कल्पना ठीक है, क्योंकि निन्यानवें प्रतिशत स्त्रियों में इसी प्रकार से गर्भधारणा हुआ करती है। परन्तु वास्तव में गर्भधारणा के लिए आर्तवदर्शन कोई आवश्यक घटना नहीं है। यदि स्त्री के शरीर में बीजोत्सर्ग हुआ हो और पुरुषसमागम भी उस समय हुआ हो तो बिना आर्तवदर्शन के गर्भधारणा हो सकती है। इस तरह से कई बार विवाहित स्त्री सयानी होने पर बिना आर्तवदर्शन के गर्भिणी होती है। धर्मशास्त्र में इसका स्पष्ट वचन है—वर्षद्वादशकादूर्ध्वं यदि पुष्पं बहिर्न हि। अन्तःपुष्पं भवत्येव पनसोदुम्बरादिवत्। अतस्तत्र प्रकुर्वीत स्त्रीसंगं बुद्धिमान् नरः॥ (कश्यपवचन)। प्रसूता स्त्री फिर से आर्तवदर्शन होने के पूर्व पुनः गर्भ धारण करती है, और पाण्डुरोगी स्त्री नष्टार्तवा होने पर भी गर्भधारणा कर सकती है—

It must be remembered that pregnancy may occur before patient has menstruated. *Diseases of Women. By Bland-sutton and Giles.* Fertilization of the ovum may occur before menstruation has started, during a period of amenorrhoea and even after the menopause. *Ten Teacher's Midwifery.*

इसी लिए लिखा है—अदृष्टार्तवाप्यस्तीत्येके भाषन्ते। अष्टांगसंग्रह में वाग्भटाचार्य उपर्युक्त सभी मतमतान्तरों का निर्देश करते हैं—ऋतुस्तु दृष्टार्तवो द्वादशरात्रं भवति। षोडशरात्रमित्यन्ये। शुद्धयोनिगर्भाशयार्तवाया मासमपि केचित्। तद्वददृष्टार्तवोऽप्यस्तीत्यपरे। (शा० १)।

आर्तवदर्शन और बीजोत्सर्ग का सम्बन्ध—आर्तवस्राव और बीजोत्सर्ग ये दोनों स्त्रीशरीरान्तर्गत घटनाएँ प्रजो[त्पत्ति के] लिए पर्याय से नियत समय पर हुआ करती हैं; इनका आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। इनमें बीजोत्सर्ग प्रधान और आर्तवस्राव तदनुगामी है। जब कोष से बीज उत्सर्गित होता है, तब उसमें रक्त भरता है और थोड़ी देर के बाद उस स्थान [पर व्रण] बनता है। इस व्रणयुक्त पुट को बीजकिणपुट (Corpus leuteum) कहते हैं। इस किणपुट से एक विशेष [पदार्थ] बनता है, जिसको प्रोजेस्टिन (Progestin) कहते हैं। [यह] पदार्थ रक्त में मिलकर गर्भाशय के अन्तरावरण को [परिवर्तित] करके उसकी वृद्धि करता है। इस पदार्थ के सिवा[य बीज]कोष से ओस्ट्रिन (Oestrin) नामक पदार्थ बनता [है, जो] प्रोजेस्ट्रिन के साथ गर्भाशय के अन्तःस्तर की वृद्धि [में सहा]यता करता है। इस प्रकार के परिवर्धित नवीन [अन्तःस्तर] के सिवाय गर्भसंलग्न नहीं हो सकता है। यदि स[मागम से] गर्भधारणा हुई हो तो वह गर्भ धीरे धीरे बीजवा[हिनी से] गर्भाशय में आता है और उसमें संलग्न होता है। [यदि गर्भ]धारणा नहीं हुई तो बीजकिणपुट का क्षय हो[कर] प्रोजेस्ट्रिन नहीं बनता, जिससे गर्भाशय का वर्धि[त अन्तः]स्तर नष्ट होकर गर्भाशय से अलग होता है और [रक्त के] साथ बाहर निकलता है। यही आर्तवस्राव है। [यह] आर्तवस्राव उसके पूर्वकाल में गर्भधारणा न होने [का और] नवीन गर्भ के लिए गर्भाशय सज्ज करने की पूर्व [तैयारी] का निदर्शक है। आर्तवदर्शन और बीजोत्सर्ग का [स्व]भाव की दृष्टि से यद्यपि सम्बन्ध होता है, तथापि [ये] स्वतन्त्र भी होते हैं; क्योंकि कई बार बिना आ[र्तवदर्शन] के बीजोत्सर्ग होता है और कई बार आर्तवदर्शन [होने पर] भी बीजोत्सर्ग नहीं होता। व्यवहार में कई स्त्रि[याँ देखने] में आती हैं, जिनमें बिना आर्तवदर्शन के गर्भधा[रणा हुआ] करती है। इस तरह आर्तवस्राव और बीजोत्सर्ग [में अव्य]भिचारी सम्बन्ध न होने के कारण कुछ शास्त्र[ज्ञ इन] घटनाओं का कारण एक स्वाभाविक कालचक्र ([Rhythm] Theory) मानते हैं (प्रथम खण्ड ३६४ पृष्ठ भी दे[खिए])।

There is probably a menstruation cycle in the interstitial cells as there is in producing ova. *Halliburton's Physiology.*

आर्तवदर्शन क्यों होता है ?—जब आर्तवदर्शन के [बिना] गर्भधारणा हो सकती है तब प्रतिमास आर्तवस्राव [क्यों होता] है ? इस प्रश्न का ठीक उत्तर देना बहुत कठिन है। जब स्त्रियों में आर्तवस्राव मिलता है, तब उससे [कुछ लाभ] व्यावहारिक दृष्टि से मालूम पड़ते हैं, चाहे उसके [वे] कार्य शरीर में हों या न हों। (१) इसके प्रारम्भ से [यौवना]वस्था के प्रारम्भ का और इसकी निवृत्ति से यौ[वन] की निवृत्ति का ज्ञान सहज में हो जाता है। (२) [प्रति]मासिक धर्म ठीक न होने से साधारणतया स्त्री के [शरीर के] दोष बह जाते हैं और स्त्री का स्वास्थ्य ठीक [रहता है]। रजःप्रसेकान्नारीणां मासि मासि विशुद्धयति। सर्वं शरी[रं] …

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(तन्त्रान्तर, डल्हणटीका)। आधुनिक विद्वानों की भी मासिक धर्म के सम्बन्ध में इस प्रकार की कल्पना है—

Menstruation is nature's washday; the poorest blood in the circulation is thrown out, for menstrual blood possesses none of the vital properties peculiar to that which escapes when haemorrhage occurs. *Laws of Sexual Physiology by Chandra.*

(३) योग्य आयु में रजोदर्शन न होने से स्त्री के स्त्रीत्व की कमी का या उसके स्वास्थ्य की खराबी का ज्ञान हो जाता है। वैसे ही जिसमें रजोदर्शन ठीक समय पर प्रति मास हो रहा है, उसमें समय पर रजोदर्शन न होने से उसके भी स्वास्थ्य की खराबी का अनुमान किया जा सकता है। (४) आर्तवदर्शन से गर्भाधान के लिए तथा गर्भाधान रोकने के लिए योग्यकाल का बोध होता है। (५) आर्तवस्राव से स्त्री के अपत्यमार्ग की स्थिति तथा प्रतिक्रिया शुक्राणुओं के प्रवेश के लिए याने गर्भाधान के लिए अनुकूल होती है। (६) समागम करने के पश्चात् आर्तवदर्शन बन्द होने से गर्भाधान का ज्ञान हो जाता है। साधारण जनता के लिए स्त्री की सगर्भावस्था का ज्ञान होने का यही मुख्य लक्षण होता है। (७) प्रसवकाल निश्चित करने के अनेक साधन (आगे १५वें श्लोक का वक्तव्य देखो) होते हैं। परन्तु इन सब साधनों में रजोदर्शन के आधार पर प्रसवकाल निश्चित करने का मार्ग सब से सहल और सब के लिए सुगम होता है। साधारणतया मनुष्य की गर्भावस्था की अवधि (आगे ३९वाँ सूत्र तथा उसका वक्तव्य देखो) २८० दिनों की होती है। अँग्रेजी पंचाग के अनुसार यह अवधि नौ मास ७ दिन की और भारतवर्ष के चान्द्रवर्ष के अनुसार नौ मास पंद्रह दिन की होती है। नीचे दोनों के अनुसार प्रसवकाल निश्चित करने की सारणियाँ दी जाती हैं।

अँग्रेजी महीनों के अनुसार

आर्तवदर्शन मास और तारीख		प्रसवकाल मास और तारीख
जनवरी	तारीख अ	अक्टूबर ७ + तारीख अ
फरवरी	तारीख आ	नवम्बर ७ + तारीख आ
मार्च	तारीख इ	दिसम्बर ५ + तारीख इ
अप्रैल	तारीख ई	जनवरी ४ + तारीख ई
मई	तारीख उ	फरवरी ४ + तारीख उ
जून	तारीख ऊ	मार्च ७ + तारीख ऊ
जुलाई	तारीख ए	अप्रैल ६ + तारीख ए
अगस्त	तारीख ऐ	मई ७ + तारीख ऐ
सितम्बर	तारीख ओ	जून ७ + तारीख ओ
अक्टूबर	तारीख औ	जुलाई ७ + तारीख औ
नवम्बर	तारीख क	अगस्त ७ + तारीख क
दिसम्बर	तारीख ख	सितम्बर ६ + तारीख ख

मान लीजिए कि गर्भावस्था के पूर्व आर्तवदर्शन २० जनवरी को हुआ था तो प्रसवकाल २७ अक्तूबर के करीब होगा।

संवत् और शालिवाहनशक के अनुसार प्रसवकाल निर्णय करने में एक सरलता यह होती है कि जिस तिथि पर सगर्भावस्था का पूर्वकालीन आर्तवदर्शन होता है, उसी तिथि पर प्रसव का काल आता है। शक का मास अमावास्यान्त और संवत् का पौर्णिमान्त होने के कारण मासों के कृष्णपक्ष के नाम बदल जाते हैं। इसलिए प्रसवतिथिनिर्णय के दोनों के कोष्टक पृथक् पृथक् दिये जाते हैं।

शकानुसार प्रसवतिथिनिर्णय कोष्टक

आर्तवदर्शन का मास और पक्ष		प्रसव का मास और पक्ष	
चैत्र	शुक्लपक्ष	पौष	कृष्णपक्ष
,,	कृष्णपक्ष	माघ	शुक्लपक्ष
वैशाख	शुक्लपक्ष	,,	कृष्णपक्ष
,,	कृष्णपक्ष	फाल्गुन	शुक्लपक्ष
ज्येष्ठ	शुक्लपक्ष	,,	कृष्णपक्ष
,,	कृष्णपक्ष	चैत्र	शुक्लपक्ष
आषाढ़	शुक्लपक्ष	,,	कृष्णपक्ष
,,	कृष्णपक्ष	वैशाख	शुक्लपक्ष
श्रावण	शुक्लपक्ष	,,	कृष्णपक्ष
,,	कृष्णपक्ष	ज्येष्ठ	शुक्लपक्ष
भाद्रपद	शुक्लपक्ष	,,	कृष्णपक्ष
,,	कृष्णपक्ष	आषाढ़	शुक्लपक्ष
आश्विन	शुक्लपक्ष	,,	कृष्णपक्ष
,,	कृष्णपक्ष	श्रावण	शुक्लपक्ष
कार्तिक	शुक्लपक्ष	,,	कृष्णपक्ष
,,	कृष्णपक्ष	भाद्रपद	शुक्लपक्ष
मार्गशीर्ष	शुक्लपक्ष	,,	कृष्णपक्ष
,,	कृष्णपक्ष	आश्विन	शुक्लपक्ष
पौष	शुक्लपक्ष	,,	कृष्णपक्ष
,,	कृष्णपक्ष	कार्तिक	शुक्लपक्ष
माघ	शुक्लपक्ष	,,	कृष्णपक्ष
,,	कृष्णपक्ष	मार्गशीर्ष	शुक्लपक्ष
फाल्गुन	शुक्लपक्ष	,,	कृष्णपक्ष
,,	कृष्णपक्ष	पौष	शुक्लपक्ष

मान लीजिए कि किसी स्त्री को कार्तिक शुक्ल पंचमी को आर्तवदर्शन हुआ, उसके बाद गर्भधारणा के कारण हुआ नहीं तो उसकी प्रसवतिथि श्रावण कृष्ण पंचमी होगी। यदि आर्तवदर्शन का मास अधिक हो या बीच में अधिक मास आ जाय तो प्रसव के महीने में एक महीना कम करना चाहिए। जैसे, ऊपर के उदाहरण में यदि बीच में अधिक मास आ जाय तो श्रावण कृष्ण पंचमी के बदले प्रसवतिथि आषाढ़ कृष्ण पंचमी होगी।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विक्रम संवत् के अनुसार प्रसवतिथिनिर्णय कोष्टक

आर्तवदर्शन का मास और पक्ष		प्रसव का मास और पक्ष	
चैत्र	शुक्लपक्ष	माघ	कृष्णपक्ष
वैशाख	कृष्णपक्ष	,,	शुक्लपक्ष
,,	शुक्लपक्ष	फाल्गुन	कृष्णपक्ष
ज्येष्ठ	कृष्णपक्ष	,,	शुक्लपक्ष
,,	शुक्लपक्ष	चैत्र	कृष्णपक्ष
आषाढ़	कृष्णपक्ष	,,	शुक्लपक्ष
,,	शुक्लपक्ष	वैशाख	कृष्णपक्ष
श्रावण	कृष्णपक्ष	,,	शुक्लपक्ष
,,	शुक्लपक्ष	ज्येष्ठ	कृष्णपक्ष
भाद्रपद	कृष्णपक्ष	,,	शुक्लपक्ष
,,	शुक्लपक्ष	आषाढ़	कृष्णपक्ष
आश्विन	कृष्णपक्ष	,,	शुक्लपक्ष
,,	शुक्लपक्ष	श्रावण	कृष्णपक्ष
कार्त्तिक	कृष्णपक्ष	,,	शुक्लपक्ष
,,	शुक्लपक्ष	भाद्रपद	कृष्णपक्ष
मार्गशीर्ष	कृष्णपक्ष	,,	शुक्लपक्ष
,,	शुक्लपक्ष	आश्विन	कृष्णपक्ष
पौष	कृष्णपक्ष	,,	शुक्लपक्ष
,,	शुक्लपक्ष	कार्त्तिक	कृष्णपक्ष
माघ	कृष्णपक्ष	,,	शुक्लपक्ष
,,	शुक्लपक्ष	मार्गशीर्ष	कृष्णपक्ष
फाल्गुन	कृष्णपक्ष	,,	शुक्लपक्ष
,,	शुक्लपक्ष	पौष	कृष्णपक्ष
चैत्र	कृष्णपक्ष	,,	शुक्लपक्ष

इस सारणी के अनुसार प्रसवतिथिनिर्णय शक की सारणी के अनुसार ही किया जाता है। यदि बीच में अधिक मास हो या अधिक मास के शुक्लपक्ष में आर्तवदर्शन की तिथि हो तो प्रसव के महीने में एक महीना कम करना चाहिए। यदि अधिक मास के कृष्णपक्ष में आर्तवदर्शन की तिथि हो तो इस सारणी के अनुसार ही महीना होता है। उसमें फर्क नहीं होता।

भवन्ति चात्र—

पीनप्रसन्नवदनां प्रक्लिन्नात्ममुखद्विजाम् ।
नरकामां प्रियकथां स्रस्तकुक्ष्यक्षिमूर्धजाम् ॥७॥
स्फुरद्भुजकुचश्रोणिनाभ्यूरुजघनस्फिचम् ।
हर्षौत्सुक्यपरां चापि विद्यादृतुमतीमिति ॥८॥

(ऋतुमती के लक्षण—) जिसका मुख पुष्ट और प्रसन्न हो; जिसका शरीर, मुख तथा दाँत क्लेदयुक्त हों; जो पुरुष की इच्छा करती हो; जो प्रेमकथाओं में दिलचस्पी लेती हो; जिसकी कुक्षि, आँखें और बाल शिथिल हों; जिसकी भुजाएँ, स्तन, श्रोणि, नाभि, ऊरु, गुह्यांग और नितम्ब में स्फुरण होता हो; और जो (समागम के लिए) हर्ष तथा ... से भरी हुई हो, उसे ऋतुमती जानना चाहिए ॥७॥८॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में ऋतुमती के याने गर्भ... योग्य पूर्ण जवान स्त्री के लक्षण वर्णन किये हैं। स्त्री ... प्रथम रजोदर्शन होता है, तब भी वह ऋतुयुक्त है परन्तु उसको ऋतुमती नहीं कह सकते हैं। उस ... उसका शरीर अपरिपूर्णवीर्य, अपरिपक्व अतएव गर्भ... योग्य नहीं होता—तस्मात् अत्यन्तबालायां गर्भाधानं न ... उस समय से उसकी कली खिलने लगती है, उसमें ... आने लगता है और ज्यों ज्यों स्त्रीत्व बढ़ता है त्यों त्यों ... पुष्ट प्रसन्न और लज्जायुक्त होता है, स्तन मोटे और ... होते जाते हैं, नितम्ब की वृद्धि होती है, गुह्यांग पर ... जमने लगते हैं और गर्भाशय की वृद्धि होती है। ... की इस वृद्धि के साथ साथ उसके मन में भी कार्य... वर्तन होता है। वह लज्जायुक्त होती है, पुरुष की ओर ... मन आकर्षित होता है, उसकी संगत सोहबत ... की इच्छा होती है, कामुक बातों में अधिक प्रेम उत्पन्न ... है और शरीर के कामकटिबन्धों (जैसे स्तन, जघन ... स्फुरण उत्पन्न होता है। यह सब कार्य बीजकोष ... सार से होता है। वह द्रव्य रक्त के द्वारा स्त्री के ... शरीर में फैलकर उसको पूर्ण स्त्री तथा गर्भधारण ... हरण करने योग्य बनाता है—नारीणां रजसि चो... शनैः शनैः स्तनगर्भाशययोन्यभिवृद्धिर्भवति । प्रथम ... पृष्ठ ८२ और १९५ देखो। डल्हणाचार्य ये लक्षण ... आर्तव ऋतुमती के मानते हैं—अदृष्टार्तवाया ऋतुमत ... माह—पीनेत्यादि। परन्तु इस तरह मानने की कोई ... नहीं है। ये लक्षण पूर्ण नौजवान स्त्री के हैं, चाहे ... आर्तव दृष्ट हो या अदृष्ट हो। अब ये जो जवानी के ... हैं, वे आर्तवदर्शन के पश्चात् और भी जोर पकड़ ... प्रक्लिन्नात्ममुखद्विजाम्—प्रक्लिन्नः प्रकर्षेण क्लेदमापन्न ... यस्याः, आत्मा देहः। (डल्हण)। कामातुर मन ... णाम शरीर के हर एक पुर्जे पर होता है। ग्रंथियाँ ... होकर उनसे अधिक स्राव होता है, स्वेदग्रंथियों से ... निकलकर समस्त शरीर क्लेदित हो जाता है, लाला ... से लाला स्रवती है, जिससे मुख तथा दाँत लाला ... जाते हैं, मूत्रग्रंथियों (वृक्कों) से मूत्र अधिक बन ... जिससे बार बार मूत्रत्याग करने की जरूरत ... इत्यादि। यहाँ 'प्रक्लिन्नात्ममुखद्विजा' से इसी ... संक्षेप में वर्णन किया है। गीतगोविन्द में काम ... स्वेद उत्पन्न होने का उल्लेख है—स त्वां पश्यति क ... कयत्यानंदति स्विद्यति। नरकामां प्रियकथाम्—आर्तव ... पश्चात् स्त्री में कामवासना बहुत बढ़ती है, जि ... यदि विवाहित हो तो पतिसमागम की इच्छा ... और यदि अविवाहित हो तो पुरुष की इच्छा करती ... पुरुषों के साथ बातचीत करने में या कामुक ... सम्बन्ध में बातचीत करने में आनन्द मानती है—

During or immediately following me... tion, sexual ardour is at its highest peak.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

who may not be easily approchable otherwise or who may be frigid by nature, will warm up under the stimulas of menstruation and exhibit more than habitual interest in sexual matters. They show less resistance and respond more readily to masculine overtures. *Riddle of Sex.*

नरे पुंसि कामोऽभिलाषो यस्यास्ताम्। प्रियकरेण सह कथायां प्रियकथायां वा अभिलाषो यस्यास्तां प्रियकथाकामामित्यर्थः॥ स्फुरभुजकुच इत्यादि—कामेच्छा (Sexual impulse) उत्पन्न होने पर समस्त शरीर में एक प्रकार की उत्तेजना पैदा होती है। उसी का एक परिणाम पसीना आने में होता है, और उसी से स्तनादि स्थानों में स्फुरण होता है। ये कामुक स्थान हैं और स्फुरण क कारण स्त्री इन स्थानों को पुरुष के अंगों के साथ रगड़ना चाहती है। इन स्थानों को मैथुन के समय गुदगुदाने से, मलने से स्त्री को आनन्द आता है और वह जल्दी उभर आती है। भुज से यहाँ बाहु समझने की अपेक्षा भुजकोटर याने बगल कक्षा (Arm-pit) समझना उचित है, क्योंकि कक्षा कामकटिवन्ध है। विशेष विवरण के लिए दूसरे अध्याय के ४७वें श्लोक के वक्तव्य में 'स्पर्श' देखो। हर्षौत्सुक्यपरा—पुरुषसमागम के लिए हर्ष और उत्साह से पूर्ण।

इन श्लोकों में शारीरिक और मानसिक स्थिति के अनुसार ऋतुमती याने गर्भधारण योग्य स्त्री की व्याख्या वर्णन की है। चरक में जननेन्द्रिय की स्थिति के अनुसार ऋतुमती की व्याख्या वर्णन की है—गते पुराणे रजसि नवे चावस्थिते शुद्धस्नातां स्त्रियमव्यापन्नयोनिशोणितगर्भाशयामृतुमतीमाचक्ष्महे॥ (शा० ४)। गर्भधारणा के लिए योनि गर्भाशय के स्वास्थ्य के अतिरिक्त गर्भाशय के अन्तःस्तर की स्वरूप स्थिति की भी आवश्यकता होती है। गर्भ गर्भाशय में विराजमान होने के लिए उसे नये सिंहासन की आवश्यकता होती है, इसलिए गर्भाशय में एक मासिक चक्र यौवन के प्रारम्भ से यौवन के अन्त तक जारी रहता है, जिसके द्वारा प्रतिमास गर्भाशय में गर्भ के लिए नया आसन बनता है। यदि गर्भ का आगमन नहीं हुआ तो वह पुराना आसन नष्ट होकर फिर से नया आसन बनता है, इस तरह गर्भ के आगमन तक यह चक्र जारी रहता है। यदि गर्भ का आगमन हुआ तो नये आसन पर वह स्थित होता है और उसके अवस्थान के समय तक तथा प्रसव के पश्चात् कुछ काल तक यह चक्र बन्द रहता है। पश्चात् फिर से नये गर्भ के लिए जारी होता है। इस चक्र की तीन अवस्थाएँ हैं। (१) आर्तवपूर्व अवस्था—गर्भाधान न होने के कारण इस अवस्था में पुराने अन्तःस्तर का नाश करने की पूर्व तैयारी होती है। इसमें योनि गर्भाशय में रक्ताधिक्य होता है, श्रोणि में भारीपन खिंचावट और गरमी मालूम होती है, रक्ताधिक्य के कारण गर्भाशय के अन्तःस्तर की रक्तवाहिनियाँ फूलती हैं, कुछ फूटती हैं और अन्तःस्तर के नीचे रक्त कई जगह इकट्ठा होता है। इसकी अवधि पाँच दिन की होती है। (२) आर्तव की अवस्था—रक्तभार अधिक बढ़ने से अन्तःस्तर कई जगह टूट जाता है और रक्त के साथ बाहर निकल आता है। यही पुराना रज या आर्तव है। इसकी अवधि ३-५ दिन की होती है। (३) आर्तवोत्तर अवस्था—इस अवस्था में टूटी हुई रक्तवाहिनियाँ जुड़ती हैं, टूटा हुआ अन्तःस्तर फिर से नया बनना शुरू होता है और थोड़ी देर के बाद गर्भाशय में नवीन रक्त और नवीन अन्तःस्तर पूर्णतया बन जाता है, जिसके ऊपर गर्भ संलग्न हो सकता है। इसी आर्तवोत्तर अवस्था (Post-menstrual Period) में गर्भधारणा की अधिक सम्भावना होती है। चरक के ऋतुमती के लक्षण में गर्भाशयान्तर्गत इन परिवर्तनों के अनुसार 'गते पुराणे रजसि नवे चावस्थिते' इस शब्दसमूह का अर्थ करना चाहिए।

नियतं दिवसेऽतीते सङ्कुचत्यम्बुजं यथा।
ऋतौ व्यतीते नार्यास्तु योनिः संव्रियते तथा॥९॥

(ऋतु के पश्चात् गर्भाशय की स्थिति—) जैसे कि दिवस के समाप्त होने पर कमल निश्चिति से सङ्कुचित हो जाता है, वैसे ही ऋतु के समाप्त होने पर स्त्री की योनि (निश्चिति से) सङ्कुचित हो जाती है॥९॥

वक्तव्य—इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि ऋतुकाल में गर्भाशय का मुख विस्तृत होता है, जिससे उस काल में योनि में गिरा हुआ शुक्र भीतर जाकर गर्भधारणा होती है। ऋतुकाल के पश्चात् गर्भाशय-मुख सङ्कुचित हो जाता है, जिससे उस समय योनि में गिरा हुआ शुक्र कठिनता से भीतर जा सकता है और इसलिए प्रायः ऋतुकाल समाप्त होने पर गर्भधारणा नहीं हो सकती—पद्मं संकोचमायाति दिनेऽतीते यथा तथा। ऋतावतीते योनिः सा शुक्रं नातः प्रतीच्छति॥ (अष्टांगहृदय)। आयुर्वेद के अनुसार यह नियम निरपवाद नहीं है, क्योंकि 'शुद्धयोनिगर्भाशयार्तवाया मासमपि केचित्' इस प्रकार मास भर भी गर्भधारणा हो सकती है। अर्थात् गर्भाशय का मुख पूर्णतया बंद नहीं होता। अष्टांगहृदयटीकाकार अरुणदत्त 'मासेनोपचितं रक्तम्' (शा० १।२३) इस श्लोक की टीका में लिखते हैं कि—विवृताविवृतमुखत्वं हि योनेर्गर्भग्रहणाग्रहणहेतुस्तच्च वायोः क्रियावतः कालसहायस्यायतम्। मासेनोपचितं रक्तमृतौ वायुर्योनिमुखान्नुदेत् प्रेरयेत्। तदा योनिमुखं विवृतं संपद्यते। इसका आशय यह होता है कि आर्तवस्राव के दिनों में गर्भाशय का मुख विवृत हो जाता है। पाश्चात्त्य डाक्टरों का भी यही कथन है—

During menstruation there is a slight spontaneous dilatation of the cervical canal, attaining its maximum on the third and fourth days. *Herman quoted in Bland-sutton and Giles. Diseases of Women.*

यह विवृति धीरे धीरे कम होती है और दूसरे आर्तवस्राव के पूर्व गर्भाशय का मार्ग संकोच के कारण संकट हो जाता है। पाश्चात्य डाक्टर भी इस बात को मानते हैं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि महीने के आखिरी दिनों में गर्भाशय का मार्ग शुक्र के लिए कठिनाइयों से भरा रहता है—

In cases where very great obstacles have to be overcome, that is, in conception, near the time of menstruation, *Ideal Birth.*

योनि—गर्भाशय, विशेष करके उसका मुख (आगे पाँचवें अध्याय के ५९वें श्लोक का वक्तव्य देखो)। यहाँ पर कमल का जो दृष्टान्त दिया है, उससे यह अर्थ निकलता है कि आर्तवकाल में गर्भाशय विकसित याने कुछ बड़ा होता है—

During menstruation the organ (Uterus) is enlarged, and more vascular. its surfaces rounder, the external orifice is rounded, etc. *Grey's Anatomy.*

मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम् ।
ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखं नयेत् ॥१०॥

(आर्तवस्वरूप और स्रवणयुक्ति—) दो धमनियों के द्वारा महीना भर में इकट्ठा हुआ किंचित् कृष्णवर्ण और विगन्धवह आर्तव (अपान) वायु (योग्य) समय पर योनिमुख की ओर ले जाती है ॥१०॥

वक्तव्य—आर्तव कैसे उपचित होता है, इसका विवरण पिछले श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। इसके सिवाय आर्तव के प्रशस्त लक्षणों का विचार दूसरे अध्याय के १७वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। काल—योग्य काल। यह काल प्रत्येक स्त्री में और स्वास्थ्य के अनुसार बदलता रहता है। धमनीभ्याम्—गर्भाशय को रक्त की रसीद पहुँचाने वाली दो रक्तवाही धमनियाँ होती हैं। उनको गर्भाशयधमनी (Uterine artery) कहते हैं, इनके द्वारा। इन्हीं का उल्लेख ९वें अध्याय के छठे सूत्र में किया गया है। धमनी से यहाँ बीजवाहिनी (Follopian tubes) अभिप्रेत नहीं है। विगन्धम्—विशिष्टं गन्धं विकृतगन्धं वा। रक्त योनि में थोड़ी देर रहने से कुछ सड़ जाता है, जिससे उसमें एक प्रकार की गन्ध आती है—

The menstrual discharge has also some odour due to slight decomposition, which takes place during its passage through the vagina. *Crossen.*

वायु—आर्तव को बाहर फेंकने का काम अपान वायु का है (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३१९ देखो)। वाग्भटाचार्य का इस श्लोक का पाठान्तर अर्थ की दृष्टि से अधिक प्रशस्त है—मासेनोपचितं रक्तं धमनीभ्यामृतौ पुनः । ईषत्कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखान्नुदेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह)।

तद्वर्षाद् द्वादशात् काले वर्तमानमसृक् पुनः ।
जरापक्वशरीराणां याति पञ्चाशतः क्षयम् ॥११॥

(स्त्रियों का आर्तवकाल—) वह आर्तवशोणित बारह वर्ष (की अवस्था) से प्रारंभ होकर फिर वृद्धावस्था से परिपक्व शरीर वाली स्त्रियों की ५० वर्ष (की अ...) में नष्ट होता है ॥११॥

वक्तव्य—इस श्लोक में स्त्रियों के आर्तवकाल (Menstrual life) की मर्यादा वर्णन की है। रजोदर्शन, रजोनिवृत्ति (Menopause) की यह मर्यादा प्रायिक है। प्रत्येक व्यक्ति में उसके रहनसहन, स्वास्थ्य इत्यादि के अनुसार बदल सकती है—द्वादशादिति प्रायिकमेतत् । ... वार्षिकाणामपि स्त्रीणां रजःप्रवृत्तिदर्शनात् । पंचाशतः क्षयमि... प्येवमेव चिन्त्यम् । (अरुणदत्त)। रजोदर्शन के काल के... का विचार प्रथम खण्ड के ७८वें पृष्ठ पर किया गया... रजोनिवृत्ति के काल की मर्यादा में भी रजोदर्शन के ... अनुसार जाति, जलवायु, रहनसहन, गर्भधारणा इत्यादि के अनुसार फर्क होता है। विधवा स्त्रियों में, पतिसुख न मिलने वाली स्त्रियों में, अधिक परिश्रम करनेवाली स्त्रियों में रजोनिवृत्ति जल्दी होती है। विवाहित, अधिक ... वाली स्त्रियों में, आलसी स्त्रियों में देर से रजोनिवृत्ति होती है। रजोनिवृत्ति पैंतालीस से पचास साल की आयु में होती है, परन्तु कभी तीस साल की आयु में और कभी ५५ साल की आयु तक भी बढ़ सकती है। रजोनिवृत्ति अकस्मात् भी हो सकती है, परन्तु उसके पूर्व कुछ काल मासिक धर्म में गड़बड़ी हो करती है। जैसे कि, दीपज्योति नष्ट होने के पूर्व काल तक न्यूनाधिक हुआ करती है, वैसे ही आर्तव निवृत्त होने के पूर्व कुछ महीनों से कुछ साल तक अधिक राशि में और अनियमित हुआ करता है।

आर्तव निवृत्तिकालिक परिवर्तन—रजोदर्शन के समय जैसे स्त्री में स्तन गर्भाशय वृद्धयादि गर्भधारण के उचित परिवर्तन होते हैं, वैसे ही रजोनिवृत्ति के समय गर्भधारण प्रतिबन्ध के लिए योग्य परिवर्तन होते हैं। ग्रंथियों से बीजोत्सर्ग बन्द हो जाता है। इस अवस्था को क्लैम्याक्ट्रिक (Climacteric) कहते हैं। गर्भाशय, योनि, बीज ग्रंथियाँ सिकुड़ने लगती हैं। इस तरह आभ्यन्तर परिवर्तनों के साथ स्तनों का सिकुड़ना, दाढ़ी, और ... स्थान में कुछ बाल निकल आना, आवाज बदलना, स्थूल या पतला होना, चेहरे की कोमलता नष्ट ... उग्रता पैदा होना इत्यादि बाह्य परिवर्तन होते हैं। इन परिवर्तनों से स्त्री का स्त्रीत्व नष्ट होता है। इन शारीरिक परिवर्तनों के साथ मानसिक परिवर्तन भी होते हैं। बीज कोष का अन्तःस्राव बन्द होने पर थायराइड तथा अन्य ग्रंथियों का अन्तःस्राव अधिक मात्रा में रक्त में आने से जिससे खुशमिजाज स्त्री तेजमिजाज, चिड़चिड़ी हो जाती है। कुछ उद्विग्नचित्त तथा अव्यवस्थित होती हैं और कभी कभी पागल की सी तरह बन जाती हैं। इसके सिवाय चक्कर आना, शरीर में कंप, निद्रानाश ... मालूम होना, मृगी, स्तन उदर इत्यादि अंगों में पीड़ा, दिल में धड़कन, पेट फूलना, मलावरोध, ... अरोचक इत्यादि अनेक लक्षण भी होते हैं। संक्षेप में आर्तव निवृत्ति स्त्री के लिए बड़ा महत्त्व का संक्रमकाल है। कुछ स्त्रियों में, विशेष करके अविवाहित स्त्रियों में,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तकलीफ नहीं होती है, तथा नियमित रूप से चला हुआ मासिक धर्म अकस्मात् बन्द हो जाता है। साधारणतया रजोनिवृत्ति के साथ साथ गर्भधारणशक्ति की भी निवृत्ति होती है, परन्तु कभी कभी उसके पश्चात् भी गर्भधारणा हो सकती है।

युग्मेषु तु पुमान् प्रोक्तो दिवसेष्वन्यथाऽबला।
पुष्पकाले शुचिस्तस्मादपत्यार्थी स्त्रियं व्रजेत् ॥१२॥

(समविषमदिनसमागम का फल—) (ऋतुकाल के) सम दिनों में (समागम करने से) पुत्र (और) विषम दिनों में कन्या (होती है, ये नियम आचार्यों से) वर्णित हैं। इसलिए (ब्रह्मचर्यादि से) शुचि होकर अपत्य की इच्छा करने वाला पुरुष (पुत्र या कन्या की इच्छा के अनुसार) ऋतुकाल (के सम या विषम दिनों) में स्त्री से समागम करे ॥१२॥

वक्तव्य—समविषमदिनसमागम का फल दूसरे अध्याय के २९-३१वें सूत्र में बताया गया है। पुत्र और कन्या की उत्पत्ति के सम्बन्ध का यह मत 'शुक्रबाहुल्यात् पुमान्, आर्तवबाहुल्यात् स्त्री' इस मत के विरुद्ध नहीं है, क्योंकि विदेह का मत है कि सम दिनों में स्त्रीबीज बलवत्तर होने से पुत्र होता है, विषम दिनों में स्त्रीबीज कमजोर होने से कन्या होती है—युग्मेषु तु दिनेष्वासां भवत्यल्पतरं रजः। संयोगं तत्र या गच्छेत् सा पुमांसं प्रसूयते ॥ अयुग्मेषु दिनेष्वासां भवेद्बहुतरं रजः। संयोगं तत्र या गच्छेत् सा तु कन्यां प्रसूयते ॥ पुत्र और कन्या की उत्पत्ति में कुछ पाश्चात्य पण्डित स्त्रीबीज कारण मानते हैं। उसी स्वरूप का विदेह का यही मत है। परन्तु यह नियम नहीं है, क्योंकि आहार-विहार के द्वारा शुक्रप्राबल्य किया जाय तो समागम से पुत्र ही होगा, चाहे वह दिन सम हो या विषम हो। पाँचवें श्लोक के वक्तव्य में 'समागमकाल' भी देखो। पुष्पकाल—ऋतुकाल। भविष्य में होने वाले फल का पूर्वरूप जैसे पुष्प होता है, वैसे ही भविष्य में होने वाले गर्भ का पूर्वरूप आर्तव होता है, इसलिए आर्तव को आलंकारिक भाषा में 'पुष्प' कहते हैं—शुद्धं च रक्तं पुष्पसंज्ञं गर्भाख्यस्य फलस्य भविष्यतोऽभिव्यञ्जकत्वात्। (अरुणदत्त)। अँग्रेजी में भी आर्तव के लिए पुष्प (Flower) कहने का रिवाज है—

Menstruation, called also menses, period, monthly flow and flowers, is known in man and monkeys. Exceptional cases of flowers at the age of seven to eight have been noted. *Riddle of Sex.*

परन्तु जैसे पुष्प और फल का व्यभिचारी सम्बन्ध होता है—अप्येवं तु भवेत्पुष्पं फलेनाननुबन्धि यत्। फलं चापि भवेत् किञ्चिद्यस्य पुष्पं न पूर्वजम् ॥ (चरक), वैसे ही आर्तव और गर्भ का भी व्यभिचारी सम्बन्ध होता है—एवं चापि भवेत् पुष्पं गर्भेणाननुबन्धि यत्। गर्भश्चापि भवेत्तद्वद्यस्य पुष्पं न पूर्वजम् ॥

तत्र सद्योगृहीतगर्भाया लिङ्गानि—श्रमो ग्लानिः पिपासा सक्थिसदनं शुक्रशोणितयोरवबन्धः स्फुरणं च योनेः ॥१३॥

सद्योगृहीतगर्भा स्त्री के लक्षण—श्रम, ग्लानि, तृषा, टाँगों में थकावट, शुक्र और आर्तव का रुक जाना, तथा योनि का स्फुरण ॥१३॥

वक्तव्य—इस सूत्र में जो लक्षण वर्णन किये हैं, उन्हें केवल गर्भिणी स्वयं अनुभव कर सकती है, अर्थात् इनके ज्ञान के लिए वैद्य को गर्भिणी के कथन पर विश्वास करना पड़ता है, वह स्वयं इनकी परीक्षा नहीं कर सकता। इस प्रकार के लक्षणों को आत्मप्रत्यय (Subjective) कहते हैं। सगर्भावस्था का निदान करने के लिए इनके ऊपर प्रथमगर्भा स्त्री स्वयं ज्यादा भरोसा नहीं कर सकती, परन्तु यदि वह इनके ऊपर प्रत्येक बार बारीकी से ध्यान दे तो ये उसको गर्भावस्था की निश्चित सूचना दे सकते हैं। वैद्य के लिए ये लक्षण निरर्थक हैं, परन्तु जब अन्य लक्षणों के साथ मिलते हैं तब समर्थन की दृष्टि से इनका उपयोग होता है। सद्योगृहीतगर्भा—इसकी अवधि निश्चित करना कठिन है, तथापि समागम के बाद दो चार दिन से उसके बाद का मासिक धर्म टलने के समय तक (शोणितयोरवबन्धः) याने कम से कम चार और अधिक से अधिक छः सप्ताह की अवधि 'सद्यः' से समझनी चाहिए। अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय में सुश्रुत के अनुसार गर्भिणीलक्षण के दो विभाग किये हैं—अथ नार्याः सद्योगृहीतगर्भायाश्च लिङ्गं, क्रमेण तु व्यक्तगर्भायाः। इससे यह स्पष्ट है कि प्रथम समूह अव्यक्तगर्भा स्त्री के लक्षणों का है, याने गर्भ के आधान से जब तक गर्भ स्त्री या पुरुष की दृष्टि से अव्यक्त रहता है, तब तक का है। यह अव्यक्त गर्भावस्था छः सप्ताह की होती है। इसका उल्लेख पीछे २ अध्याय के ३३वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है, इसलिए ये लक्षण प्रथम छः सप्ताह तक के समझने चाहिएँ। ये सब लक्षण प्रारम्भिक हैं और अनार्तव के सिवाय बाकी सब अस्थायी स्वरूप के होते हैं। क्वचित् हृदय स्पन्दन आखिर तक होता है।

श्रमो ग्लानिः सक्थिसदनम्—शुक्र और शोणित का संयोग होने पर स्त्री के शरीर में विद्युत्संयोगजन्य स्तब्धता (Shock) के समान कुछ स्तब्धता आ जाती है। इसके सिवाय उस नये जीव की परवरिश के लिए शरीर की कुछ शक्ति खर्च होने लगती है। इसका परिणाम यह होता है कि शुरू शुरू में स्त्री को थकावट मालूम होती है। इस स्थिति को दर्शाने के लिए उपर्युक्त तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इनके सिवाय 'गौरवम्, गरिमा, तन्द्रा, अंगसादः' ये चरक और अष्टांगसंग्रह के शब्द भी इसी थकावट को दर्शाने के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं।

शुक्रशोणितयोरवबंधः—शुक्रं चास्रं च शुक्रास्रे, तयोरवबन्धः अप्रवृत्तिः। शुक्रशोणितयोर्योनेरस्रावोऽथ श्रमोद्भवः। (भावप्रकाश)। शुक्रावबंध—स्त्री के गर्भाशय से जो एक प्रकार का चिपचिपा स्राव होता है, वह स्राव गर्भधारणा होने के कारण बंद हो जाता है। यहाँ तक कि उसकी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अप्रवृत्ति से स्त्री को गर्भाशयमुख में एक प्रकार की खुश्की मालूम होती है । शोणितावबन्ध—मासिक धर्म का बंद होना (Amenorrhoea) । गर्भ का आधान होने पर बीज किणपुट (Corpus luteum) का क्षय नहीं होता, वह धीरे धीरे बढ़ता है । इसलिए आर्तव का स्राव नहीं होता। जिन स्त्रियों में मासिक धर्म नियमपूर्वक होता है, उनमें यह लक्षण विशेष महत्त्व का है । जिनमें मासिक धर्म वैसे ही अनियमित रहता है, तथा जिनमें पाण्डु-रोग, हृद्रोग (Chlorosis), क्षय इत्यादि मासिक धर्म में गड़बड़ी पैदा करने वाले रोग उपस्थित हैं, उन स्त्रियों में इस लक्षण पर विशेष जोर नहीं दे सकते । स्त्री में मासिक धर्म पहले पहल शुरू होने के पश्चात् कुछ मास के लिए स्राव अनियमित रहता है या बंद रहता है । अविवाहित स्त्रियों में समागम के बाद गर्भस्थिति के डर से कभी कभी मासिक धर्म बंद होता है । कुछ स्त्रियों में रजोनिवृत्ति अल्पायु में होती है । शोणितावबन्ध से गर्भस्थिति का निदान करते समय इन सब गूढ़ बातों पर ध्यान देना चाहिए। गर्भस्थिति हो जाने पर भी क्वचित् शोणितस्राव की प्रवृत्ति (२ अध्याय के २२वें श्लोक का वक्तव्य देखो) प्रथम तीन मासों में देखी जाती है । इस विषय के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि गर्भस्थिति होने पर प्रारंभिक महीनों में मासिक धर्म हो सकता है, तथापि प्रायः होता नहीं । कभी कभी जो रक्तस्राव होता है वह मासिक धर्म का रक्तस्राव नहीं होता, क्योंकि वह उसके समय पर नहीं होता, तथा उसकी राशि, अवधि और संगठन मासिक स्राव से भिन्न होती है । इसलिए गर्भधारणा के लक्षण मिलने पर भी यदि गर्भाशय से रक्तस्राव होता हो तो उसको मासिक धर्म न समझकर भावी गर्भपात का पूर्वरूप (१० अध्याय का ६वाँ सूत्र और वक्तव्य देखो) मानना चाहिए और उसी दृष्टि से रोगी की परीक्षा करके गर्भपात टालने की कोशिश करनी चाहिए । स्फुरणं च योनेः—नेत्र, बाहु इत्यादि में जिस प्रकार की अनैच्छिक गति कभी कभी होती है, उसी प्रकार की गति योनि में भी होती है । इस प्रकार की गति को स्फुरण (Throbbing) कहते हैं—स्फूर्तिर्भगे भवेत् । (भावप्रकाश) । जैसे अन्य स्थानों का स्फुरण किसी घटनाविशेष का सूचक होता है—शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य । अथवा भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र ॥ (शाकुन्तल), वैसे ही योनि का स्फुरण गर्भाधान रूप घटना का सूचक होता है । कुछ लोग इससे योनिगत स्पन्दन (Vaginal pulsation) समझते हैं, परन्तु यह अर्थ गलत है । इसका कारण यह है कि स्फुरण वातिक (Nervous) है, जो गर्भाधान के पूर्व या उस समय में हो सकता है, परन्तु योनिगत स्पन्दन योनि में रक्ताधिक्य के कारण होता है । यह अवस्था चौथे महीने में होती है और उसी समय यह स्पन्दन योनि में प्रवेश कराने से प्रतीत होता है । स्फुरण स्वप्रत्यय है, स्पन्दन परप्रत्यय है ।

इन लक्षणों के सिवा चरक और वाग्भट अपने ग्रंथों में निम्न अधिक लक्षण देते हैं ।

हृदयस्पन्दन—दिल में धड़कन (Palpitations) । इस लक्षण का निर्देश अष्टांगहृदय में 'हृदयव्यथा' करके किया गया है । यह लक्षण प्रारम्भ से अन्त तक हो सकता है परन्तु इससे डरने का कारण नहीं होता, क्योंकि यह हृदय के वास्तविक विकार से न होकर प्रारम्भ में हृल्लास वमन पचनसंस्थान की खराबी के कारण, मध्य में हृदय की और उसकी शीघ्रगति के कारण और अन्त में बढ़े गर्भाशय के दबाव के कारण होता है । सगर्भावस्था में गर्भाशय, गर्भ, स्तन इत्यादि अंगों की वृद्धि होती है, इनकी वृद्धि का भार पड़ने के कारण, रक्तभार (Blood pressure) बढ़ने के कारण, रक्त की राशि बढ़ने के कारण हृदय को अधिक काम करना पड़ता है, जिससे उसकी गति तेज होती है तथा उसकी आकारवृद्धि भी हो जाती है । जब हृदय अविकृत होता है तब तो वह गर्भावस्था का अधिक काम को मजे में झेल सकता है, परन्तु जब वह पहले ही विकृत, विशेषतया कपाटों की खराबी (Valvular disease) रहता है तब विकृति न्यूनाधिक्य के अनुसार गर्भावस्था में, प्रसूति के समय में या प्रसूति के पश्चात् जबाब देता है और माता की मृत्यु हो जाती है।

तृप्तिः प्रहर्षः—कामवासना की तृप्ति और मन का संतोष । प्राप्तगर्भापेक्षया रतानभिलाषता शरीरप्रीणनं वा । (इन्दु) गर्भधारणा होने से स्त्रियों की कामवासना स्वभाव से कम हो जाती है—

Sudden waning of the sex urge has been suggested as an early sign of pregnancy. Ri... of Sex.

अर्थात् जो अपत्यार्थी स्त्री है, उसमें ये लक्षण मिलते हैं । जो शरीरसुख चाहती है उसमें न तृप्ति हो सकती न मन प्रसन्न हो सकता है, परन्तु कभी कभी मन खिन्न हो जाता है और वह चिड़चिड़ी, तेजमिजाज बनती है । निष्ठीविका, हृल्लासः, आस्यसंस्रवणम्, अनन्नाभिलाषः, छर्दिः, अरोचकः, अम्लकामिता च विशेषेण । (चरक) । गर्भस्थिति होने पर पचनसंस्थान में उथलपुथल होने से मुँह में पानी भर आना, जी मिचलना, भूख नष्ट होना, मिट्टी खट्टे पदार्थ इत्यादि की इच्छा होना ये लक्षण होते हैं । निष्ठीविका, आस्यसंस्रवण, छर्दि, हृल्लास इनको Morning sickness कहते हैं । यह अवस्था प्रातःकाल उठने पर मालूम होती है । अरोचक, अम्लकामिता—स्वाभाविक खाद्य द्रव्यों के लिए अरुचि और मिट्टी, भस्म, चूना, खट्टे पदार्थ इन अस्वाभाविक पदार्थों के लिए अभिलाषा । इस लक्षण को Pica या Longing कहते हैं । ये सब लक्षण द्वितीय मास में उत्पन्न होते हैं, कभी बहुत जल्दी मिट जाते हैं और कभी दो तीन महीने तक जारी रहते हैं । इसलिए इन लक्षणों का निर्देश व्यक्त-गर्भा के लक्षणों में भी मिलता है । नीचे अँग्रेज ग्रंथकार का जो उद्धरण दिया है, वह उपर्युक्त आयुर्वेद के सूत्र का गोया उलथा मालूम होता है—

There are two sets of symptoms or signs of pregnancy. One is subjective and the other

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

of more tangible character. To the first category belongs a certain feeling of tiredness, dizziness, heart palpitation, nausea and vomitting (morning sickness), a sickening dislike of ordinary foods, and a longing for spices and indigestible ingredients. These symptoms may appear quite early in pregnancy. As a matter of fact, they, may form the first suspicion of having 'been caught.' *Riddle of Sex.*

स्तनयोः कृष्णमुखता रोमराज्युद्गमस्तथा।
अक्षिपक्ष्माणि चाप्यस्याः संमील्यन्ते विशेषतः ॥१४॥
अकामतश्छर्दयति गन्धादुद्विजते शुभात्।
प्रसेकः सदनं चापि गर्भिण्या लिङ्गमुच्यते ॥१५॥

(व्यक्तगर्भा स्त्री के लक्षण—) विशेषतया उसके दोनों स्तनों पर कालापन (आ जाता है), (शरीर पर) रोमराजियों का उद्भव (होता है), आँखों के पलकों का बन्द होना ॥१४॥ बिना कारण वमन, शुभ गन्धों से उद्वेग, मुख में लालास्राव और थकावट ये गर्भिणी के लक्षण होते हैं ॥१५॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में व्यक्तगर्भा स्त्री के अर्थात् दूसरे महीने के अन्त से होने वाले (पीछे १३वें सूत्र के वक्तव्य का प्रारम्भिक भाग देखो) लक्षण वर्णन किये हैं। स्तनयोः कृष्णमुखता—गर्भाधान होने के छठे सप्ताह के बाद स्तनों की ओर अधिक रक्त जाने लगता है। यह रक्ताधिकता सम्पूर्ण गर्भावस्था में तथा प्रसूति के पश्चात् दूध पिलाने के काल में बराबर जारी रहती है—धमन्यः संवृतद्वाराः कन्यानां स्तनसंश्रिताः। तासामेव प्रजातानां गर्भिणीनां च ताः पुनः। स्वभावादेव विवृता जायन्ते ॥ (निदान, अध्याय १०)। इस रक्ताधिक्य का परिणाम स्तनगत दुग्धग्रंथियों और नालियों की वृद्धि में याने पर्याय से स्तनों की पुष्टता में होता है—स्तनौ पीनौ। (अष्टांगहृदय)। तस्माद्गर्भिण्याः पीनोन्नतपयोधरा भवन्ति ॥ (शारीर ४।२३)। प्रसूति के पश्चात् इसी रक्ताधिक्य का परिणाम स्तन्योत्पत्ति में होता है (आगे १०वें अध्याय के १३वें श्लोक का वक्तव्य देखो)। रक्तवृद्धि और पुष्टता क कारण स्तनों में गुदगुदी के समान कुछ खास संवेदना मालूम होती है, तथा स्तनों पर फूली हुई सिराओं का जाल भी दिखाई देता है। तीसरे महीने के आखिर से स्तनों को दबाने से एक गाढ़ा द्रव निकलने लगता है और यही द्रव उत्तरोत्तर अधिकाधिक होता है। इसको स्तन्य कहते हैं—स्तनौ सस्तन्यौ। (अष्टांगहृदय)। इस गाढ़े द्रव को वास्तव में पीयूष (खीस Colostrum) कहते हैं (आगे १०वें अध्याय के १४वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। कार्ष्ण्यम्—तीसरे महीने के प्रारम्भ से चूचुक मोटे होते हैं, उनके चारों ओर का मण्डल (Areola) उभर आता है और कुछ काला पड़ जाता है—स्तनमण्डलयोश्च कार्ष्ण्यम्। (चरक)। स्तनमण्डलकृष्णत्वम्। (काश्यपसंहिता)। चूचुक और मण्डल दोनों मिलकर बन्दर के काले मुँह की तरह स्तनों के मुख के समान दिखाई देते हैं, इसलिए लिखा है—स्तनयोः कृष्णमुखता। इसके सिवा मण्डल में जो नन्हीं नन्हीं ग्रंथियाँ होती हैं, वे (Montgomery's follicles) भी उभर आती हैं। प्रथम गर्भावस्था में मोटी होने पर वे सदा के लिए वैसी ही रहा करती हैं। चूचुकमण्डल का कालापन गर्भवृद्धि के साथ अधिकाधिक हो जाता है तथा उसमें कुछ चमकीलापन भी आ जाता है—दिनेषु गच्छत्सु नितान्तपीवरं तदीयमानीलमुखं स्तनद्वयम्। (रघुवंश ३।८)। पाँचवें और छठे महीने में कभी कभी स्तनमण्डल के बाहर भी कुछ कालापन आ जाता है। यह एक सा नहीं होता; कहीं अधिक कहीं कम होने से छत्तेदार (Mottled or honey combed) दिखाई देता है। इस मण्डल को द्वितीयक (Secondory) और चूचुकमण्डल को प्राथमिक (Primary) कहते हैं।

स्तन और गर्भाशय में गाढ़ा सम्बन्ध है, इसमें संदेह नहीं। गर्भाशय में गर्भ का आधान होने पर स्तनों में उपर्युक्त परिवर्तन प्रारम्भ होते हैं। ये परिवर्तन कैसे होते हैं, इनके सम्बन्ध में निश्चित ज्ञान नहीं है। तथापि यह माना जाता है कि गर्भ की अपरा और बीजकोष के अन्तःस्राव से प्रोजेस्टिन (Progestin) और आस्ट्रिन (Oestrin) नामक (आगे ३९वें सूत्र के वक्तव्य में अपरा के कार्य देखो तथा १०वें अध्याय के १३वें श्लोक का वक्तव्य देखो) पदार्थ बनते हैं, जो रक्त के द्वारा स्तनों में प्राप्त होकर उपर्युक्त परिवर्तन कराते हैं। अष्टांगसंग्रह के निम्न वचन में तथा चौथे अध्याय के २३वें सूत्र में (उसका वक्तव्य देखो) यही सम्बन्ध पर्याय से बताया गया है—जरायुशेषं चोर्ध्वमसृक् प्रतिपद्यते। तस्मात् पीनकपोलपयोधरता कृष्णौष्ठचूचुकत्वं च। ये स्तनगत परिवर्तन गर्भावस्था के निश्चयात्मक लक्षण नहीं हैं, क्योंकि बीजकोष के अर्बुद (Ovarian tumour), रक्तगुल्म (Uterine fibroids) और मिथ्या गर्भावस्था (Pseudocyesis) में भी ये मिलते हैं—स्तनमण्डलकृष्णत्वं रोमराजिः सदोहृदा। गर्भिणीरूपमव्यक्तं भजते सर्वमेव तु ॥ विपाकपाण्डुकार्श्यानि भवन्त्यभ्यधिकानि तु। इत्येवं लक्षणं स्त्रीणां रक्तगुल्मं प्रचक्षते ॥ (काश्यपसंहिता, गुल्मचिकित्सिताध्याय) तथापि इन रोगों में स्तनगत सिराजाल प्रायः नहीं होता। इसलिए कुछ चिकित्सक स्तनगत सिराजाल को अन्य परिवर्तनों की अपेक्षा गर्भावस्था का सूचक मानते हैं। रोमराज्युद्गमः—स्त्रिया नामेरधो रोमराजिः प्रादुर्भवति। (इन्दु)। गर्भावस्था में बालों की वृद्धि होती है, जिससे गुह्यांग के केश अधिक लंबे और कुटिल हो जाते हैं—योनिरोम्णां संलुलनम्। (अष्टांगसंग्रह)। Changes in the skin are seen during pregnancy in several directions. Increased growth of hair. *Ten Teacher's Midwifery.*

अकामतश्छर्दयति इत्यादि—इसके सिवाय 'श्रद्धाप्रणयनमुचावचेषु भावेषु'। ये सब लक्षण दूसरे महीने में शुरू होते हैं और चौथे, पाँचवें महीने तक जारी रहते हैं। इसलिए इनका निर्देश यहाँ किया गया है। ये सब लक्षण गर्भस्थापना के कारण मस्तिष्कसंस्थान में उत्पन्न हुई खलबली के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिणाम हैं । गन्धादुद्विजते शुभात्—यह केवल उपलक्षण है (स्वप्रतिपादकत्वे सति स्वेतरप्रतिपादकत्वम्) । इसलिए रूप, रस, शब्द, स्पर्श इनके सम्बन्ध में भी वैपरीत्य आ जाता है । इसी लक्षण का सामान्य निर्देश चरक और अष्टांगसंग्रह में 'श्रद्धाप्रणयनमुच्चावचेषु भावेषु' करके किया गया है । उच्चावचेषु इति उच्चनीचेषु भक्षणीयत्वेन कृतेषु चाकृतेषु चेत्यर्थः । (चक्रपाणिदत्त) । तेषु तेष्वनुक्तेष्वपि स्वकल्पितेषु नानाविधेषूच्चावचेष्वनियतेषु भावेष्वाहारविहाराद्युपयोगिष्वभिलाष इति । (इन्दु) । इसका अभिप्राय केवल यही है कि गर्भिणी की इन्द्रियार्थ अभिलाषा में कुछ असाधारण वैपरीत्य आ जाता है—

The above symptoms may be associated with disturbances of sense organs, affecting taste, smell and sight. *Riddle of Sex.*

इस विषय का कुछ अधिक विवरण आगे २५वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है ।

इन लक्षणों के अतिरिक्त गर्भस्थिति के और कई लक्षण माता में दिखाई देते हैं । इनका संक्षेप में विवरण यहाँ दिया जाता है ।

गर्भस्पन्दनप्रतीति—इसको फड़काव या क्विकनिंग (Qickening) कहते हैं । इसका अभिप्राय है माता को गर्भ की हलचल का ज्ञान होना । यह लक्षण सर्वप्रथम चौथे महीने के आखिर से पाँचवें महीने के मध्य तक होता है । साधारणतया गर्भस्पन्दन की प्रथमप्रतीति का काल १८वाँ सप्ताह माना जाता है । इसका अर्थ यह नहीं है कि गर्भ में प्रथमस्पन्दन इस समय होता है । स्पन्दन इससे बहुत पहले शुरू होता है—तस्मात्तदा (चतुर्थमासारंभात्) प्रभृति गर्भः स्पन्दते । (चरक) । स्पन्दते चलति । (चक्रपाणिदत्त) । तस्माच्चतुर्थे मासि चलनादावभिप्रायं करोति । (मिताक्षरा) । अर्थात् गर्भ में हलचल चौथे महीने से शुरू होती है, परन्तु उस समय गर्भाशय उदरप्राचीर से स्पर्श न करने के कारण तथा गर्भ के स्पन्दन बहुत हलके होने के कारण माता को उसका ज्ञान नहीं होता । पाश्चात्य पण्डितों का भी यही कथन है कि गर्भस्पन्दन की प्रथमप्रतीति से यह न समझना चाहिए कि उसी समय गर्भ में प्रथम स्पन्दन शुरू होता है—

This means the first time that the mother is able to appreciate foetal movements. This does not mean first foetal movements. *Ten Teacher's Midwifery.*

अनुभवहीन प्रथमप्रसवा स्त्री (Primipara) गर्भस्पन्दन को ठीक नहीं समझ सकती, परन्तु अनेकप्रसवा स्त्री (Multipara) इसको ठीक समझ सकती है । आन्त्र की गति तथा आन्त्रगत वायु से भी गर्भगति के समान संवेदना हो सकती है, इस बात का ध्यान रखना चाहिए । जब आर्तवदर्शन के काल का ठीक स्मरण नहीं होता अथवा जब आर्तवदर्शन के सिवाय गर्भधारणा होती है, जैसे कि प्रायः प्रसूति के बाद हुआ करती है, तब गर्भस्पन्दन प्रतीतिकाल का उपयोग प्रसवकालनिर्णय के लिए किया जाता है । सप्ताह में गर्भस्पन्दन प्रथम प्रतीत हो, उसके सप्ताह के बाद प्रसवकाल होता है, यह नियम है ।

कार्ष्ण्यम्, कालापन (Pigmentation)—स्तनों के का उल्लेख ऊपर किया गया है । स्तनों के अतिरिक्त के अन्य अंगों पर भी कुछ कालापन आ जाता है । पर, आँखों के नीचे, नासापालि के आसपास और कालापन आ जाता है—ओष्ठयोः स्तनमण्डलयोश्च का (चरक) । बगल के आसपास भी कुछ कालापन आता है । पर भगास्थि से नाभि तक, क्वचित् कौड़ीप्रदेश तक काली लकीर (Linea nigra) बनती है । जँघासे में भी कभी कालापन आ जाता है । यह कार्ष्ण्य प्रत्येक एक सा नहीं होता; किसी में कम, किसी में अधिक है । उदर और स्तनों का कालापन प्रसूति के पश्चात् पूर्णतया नष्ट नहीं होता ।

उदरवृद्धि—गर्भाधान होने पर पहिले दो महीने गर्भाशय श्रोणिगुहा में नीचे चला जाता है, जिससे कुछ सपाट या निम्न हो जाता है । गर्भ की अभिवृद्धि होने पर गर्भाशय श्रोणिगुहा में रह नहीं सकता; धीरे ऊपर चढ़ता है, जिससे उदर भी धीरे धीरे ९वें महीने अन्त तक बढ़ता जाता है । दसवें महीने में फिर कुछ हो जाता है ।

उदर पर किक्किसावाप्ति—गर्भाशय के बढ़ने के उदर की त्वचा तनने से उपत्वचा फट जाती है, उदर पर दरारें सी पैदा होती हैं । इन्हें किक्किस कहते गर्भोणोत्पीडिता दोषास्तस्मिन् हृदयमाश्रिताः । कण्डुं कुर्वन्ति गर्भिण्याः किक्किसानि च ॥ (अष्टांगहृदय) । सश्चर्मविदरणम् । (चक्रपाणिदत्त) । ऊरुस्तनोदरे वलि रेखाकारास्तत्काले प्रायो ये जायन्ते ते किक्किससंज्ञाः ॥ (अरुणदत्त उदरप्राचीर अत्यधिक तनने के कारण किक्किस उत्पन्न हैं, इसलिए ये आखिर के तीन महीनों में दिखाई देते गर्भावस्था के सिवाय जलोदर, बीजकोषग्रंथि (Ov cyst) इत्यादि उदरवृद्धिजनक रोगों में भी किक्किस होते हैं । जैसे कि अरुणदत्त ने कहा है उदर के ऊरु और अतिवृद्धि के कारण स्तनों पर भी किक्किस होता है । इसको Stria gravidaram या Lineae darum कहते हैं ।

The stretching of the skin of the breasts times produces stria like those seen on abdomen. *Ten Teacher's Midwifery.*

किक्किस नाभि-भगास्थि रेखा के दोनों ओर समान समकेन्द्र त्रुटित रेखाएँ होती हैं । इनकी संप्राप्ति चक्रपाणिदत्त ने बतलाई है, वैसे ही होती है—

They are produced by the tearing apart the subepidermal elastic fibres. *Gellet's wifery.*

प्रथम गर्भावस्था में जब ये रेखाएँ पहली बार हैं तब गुलाबी या बैंगनी रंग की होती हैं, परन्तु पीछे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[ब]न जाती हैं, और एक बार बनने पर पुनः लुप्त नहीं होतीं। [इ]नके श्वेत वर्ण के कारण यह (Lineae albicantes) श्वेत [रे]खाएँ भी कहलाती हैं। इनकी उपस्थिति भूत गर्भावस्था [क]ा एक लक्षण है। नाभि—जलोदर में नाभि में जो परि[व]र्तन (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३५९ देखो) होते हैं, वे ही परिवर्तन [ग]र्भवृद्धि के कारण नाभि में होते हैं। प्रथम तीन महीने [मे]ं नाभि गहरी होती है, परन्तु उसके बाद वह धीरे धीरे [क्र]म से उथली, सपाट और बाहर की ओर निकली हुई होती [है]। गर्भाशयवृद्धि—गर्भस्थिति का यह एक प्रधान लक्षण है। [ग]र्भ के बिना अन्य किसी भी कारण से गर्भाशय क्रम से [न]हीं बढ़ता। प्रथम तीन महीने में गर्भाशय बढ़ने पर भी [श्र]ोणिगुहा में छिपा रहता है। चौथे महीने के अन्त में उसका [क]िनारा भगास्थि और नाभि के बीच में आता है। पाँचवें महीने [क]े अन्त में नाभि के नीचे दो अंगुल, छठे महीने के अन्त में [न]ाभि के बराबर, सातवें महीने के अन्त में नाभि से तीन अंगुल [ऊ]पर, आठवें महीने के अन्त में नाभि और उरःफलकाग्रपत्र (Ensiform cartilage) के बीच में, नौवें महीने के अन्त [मे]ं उरःफलकाग्रपत्र तक और दसवें महीने में गर्भाशय कुछ [न]ीचे उतर आता है और कुक्षि में कुछ शिथिलता आ [ज]ाती है—शिथिलकुक्षिता। (अष्टांगसंग्रह)। उस समय [ग]र्भाशय का ऊपर का किनारा आठवें महीने के बराबर [ह]ोता है (पाँचवें अध्याय के ५६वें श्लोक का वक्तव्य तथा [द]सवें अध्याय का ५वाँ श्लोक और उसका वक्तव्य देखो)। [ज]ब मासिक धर्म की तारीख याद नहीं होती, तब इस क्रम[व]ृद्धि का उपयोग गर्भस्थिति का काल तथा प्रसवकाल [न]िश्चित करने के लिए किया जाता है। एलिस मेकेडोनल्ड [ने] यह नियम बनाया है कि भगास्थि से गर्भाशय के ऊपर [के] किनारे तक सेन्टीमीटर में जो नाप मिलता है, उसको [स]ाढ़े तीन से भाग देने पर जो फल मिलता है, वह गर्भ[स्थ]िति का मासिक काल बताता है। जैसे, यदि गर्भाशय [भ]गास्थि से १७.५ सेंटीमीटर ऊँचा हो तो गर्भधारणा के [पश्]चात् पूरे पाँच महीने व्यतीत हुए हैं, ऐसा समझना [च]ाहिए। पादशोफ, सिराकुटिलता—गर्भाशयवृद्धि के कारण [श्रो]णिगुहा के भीतरी सिराओं के ऊपर दबाव पड़ता है, जिससे [रक्त]प्रवाह में कुछ बाधा उत्पन्न होती है, सिराओं में रक्त [सं]चित होता है और सिराएँ कुटिल (Vericose) हो जाया [क]रती हैं। यह परिणाम विशेष करके गुदा की सिराओं में [हो]कर अर्श उत्पन्न होता है—गर्भवृद्धिप्रपीडनात्। जायन्तेऽ[र्श]ांसि। (अष्टांगसंग्रह)। सगर्भावस्था में मलावरोध [प्राय]ः होता है, इससे अर्शोत्पत्ति में सहायता होती है। इसके [सि]वाय योनिद्वार और पैरों की सिराएँ भी कभी कुटिल [हो] जाती हैं। गर्भावस्था में गर्भ, गर्भाशय, स्तन इत्यादि [अंग]ों की वृद्धि के लिए माता के शरीर में रक्त की राशि [अ]धिक होती है। परन्तु उस रक्त में लाल कणों की कमी [औ]र जल की अधिकता (जलरक्तता Hydraemia) होती [है] जिससे पैरों पर कुछ सूजन आ जाती है—श्वयथुः पादयो[र्भव]त्। (चरक)। रक्तकणों की कमी के कारण शरीर [में] कुछ पाण्डुता भी आ जाती है—मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना। तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी॥ (रघुवंश ३।२)।

क्षामता—शरीर का कार्श्य (अष्टांगहृदय)। गर्भावस्था के प्रारम्भिक महीनों में वमन, भूख ठीक न लगना, गर्भवृद्धिभार इत्यादि कारणों से माता कुछ कृश हो जाती है। कुछ स्त्रियों में यह कृशता बहुत ही अधिक हो जाती है, परन्तु आगे जाकर यह कृशता दूर होती है और स्त्री पहले से भी अधिक पुष्ट और सुन्दर दिखाई देती है—शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन सालक्ष्यत लोध्रपाण्डुना। तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी॥ क्रमेण निस्तीर्य च दोहदव्यथां प्रचीयमानावयवा रराज सा। पुराणपत्रापगमादनन्तरं लतेव सन्नद्धमनोज्ञपल्लवा॥ (रघुवंश ३)। यह प्रचीयमानावयवता मुख, ग्रीवा, स्तन, उदर, ऊरु, नितम्ब इत्यादि में चरबी का संचय होने से उत्पन्न होती है।

Whilst a certain emaciation not infrequently occurs in the first months, after the middle of pregnancy the figure becomes fuller, the appearance more blooming the conformation of the body stouter and the gait heavier. *Ideal Birth.*

योनि में परिवर्तन—(१) गर्भस्थिति के कारण गर्भाशय के अनुसार योनि में भी रक्तसंचार अधिक हो जाता है तथा गर्भाशय के भार के कारण उसके रक्तसंचार में कुछ बाधा भी उत्पन्न होती है। गर्भाशयभार और अधिक रक्तसंचार के कारण योनि की भीतरी त्वचा बैंगनी रंग की हो जाती है। यह रंगपरिवर्तन तीसरे महीने से शुरू होकर पाँचवें महीने तक अधिक से अधिक होता है और प्रसवकाल तक रहता है। रक्तगुल्म (Fribroids) बीजकोषग्रंथि इत्यादि विकारों में यद्यपि योनि में रंगपरिवर्तन होता है तथापि गर्भस्थिति में सब से अधिक होता है। इसलिए योनि का रंगपरिवर्तन गर्भस्थितिसमर्थक लक्षण माना जाता है। (२) गर्भस्थिति के कारण योनि शिथिल, ढीली, चौड़ी भी होती है—योन्याश्चाटालत्वमिति। (चरक)। चाटालत्वं विवृतत्वम्। (चक्रपाणिदत्त)।

The tissues of the vagina become relaxed, loose and hanging in folds. *Ten Teacher's Midwifery.*

इस विवृति का उपयोग आगे जाकर प्रसूति के लिए होता है। (३) रक्तसंचार अधिक होने के कारण योनि में अंगुलियों को प्रविष्ट करने पर स्पन्दन (Vaginal pulsation) प्रतीत होता है। आयुर्वेद के 'स्फुरणं च योनेः' (चरक) इस लक्षण का यह अर्थ नहीं है। (४) सगर्भावस्था में योनि से स्राव अधिक स्रवता है। यह स्राव योनि की दीवाल और गर्भाशयग्रीवा से आता है। यह श्वेतवर्ण, चिपचिपा, कुछ गाढ़ा और प्रतिक्रिया में अम्ल होता है। इस अम्ल प्रतिक्रिया के कारण अपत्यमार्ग में विकारी जीवाणु नहीं रह सकते। (५) हेगर का चिह्न (Hegar's Sign)—यह चिह्न गर्भस्थिति के छठे सप्ताह से दसवें सप्ताह तक मिलता है, और इस तत्त्व पर निर्भर होता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि गर्भ इस समय में गर्भाशय के ऊपर के हिस्से में रहता है, गर्भाशयशरीर का निचला हिस्सा अत्यन्त मृदु होता है और ग्रीवा कुछ कड़ी होती है। संक्षेप में तीनों अंग स्पर्श में भिन्न घनता के मालूम होते हैं। इस चिह्न को अनुभव करने के लिए एक हाथ की दो अँगुलियाँ योनि के भीतर गर्भाशयग्रीवा के ऊपर रखनी चाहिएँ, और ऊपर से दूसरे हाथ की अँगुलियों द्वारा गर्भाशय और उसका निचला हिस्सा टटोलना चाहिए। इससे ऊपर का हिस्सा गोल और स्थितिस्थापक; नीचे का हिस्सा, जहाँ दोनों हाथों की अँगुलियाँ बिलकुल मिली हुई सी प्रतीत होती हैं, अत्यन्त मृदु; और ग्रीवा का भाग कुछ कठिन मालूम होगा। इन तीन बातों पर हेगर का चिह्न निर्भर होता है; केवल मध्यभाग की अतिमृदुता पर नहीं। गर्भावस्था के प्रारम्भिक काल में उसका निर्णय करने के लिए हेगर का चिह्न एक महत्त्व का साधन है। अब तक वर्णन किये हुए लक्षण गर्भ के कारण माता के शरीर में उत्पन्न हुए परिवर्तनों पर निर्भर होते हैं। ये परिवर्तन अन्य कारणों से हो सकते हैं। इसलिए उपर्युक्त लक्षण गर्भावस्था के सिवाय अन्य अवस्था में भी मिलते हैं। जैसे, पाण्डुरोग, राजयक्ष्मा में अनार्तव; अग्निमांद्य में अरोचक, छर्दि इत्यादि; जलोदर में उदरवृद्धि, पादशोथ, अर्श इत्यादि; रक्तगुल्म में गर्भाशयवृद्धि। कुछ लक्षण गर्भ के अस्तित्व की सिद्धि पर निर्भर होते हैं। इनका विचार आगे ३५वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है।

तदा प्रभृति[1] व्यवायं व्यायाममतितर्पणमतिकर्शनं दिवास्वप्नं रात्रिजागरणं शोकं यानारोहणं[2] भयमुत्कटुकासनं चैकान्ततः स्नेहादिक्रियां शोणितमोक्षणं चाकाले वेगविधारणं च न सेवेत ॥१६॥

(गर्भिणी स्वस्थवृत्त—) तब से (गर्भिणी स्त्री) मैथुन, व्यायाम, अतितर्पण, अतिकर्शन, दिन में सोना, रात को जागना, शोक, यानों पर सवारी करना, भीति, उकडू बैठना इनको कदापि भी; और स्नेहादि क्रिया, रक्तमोक्षण और वेगविधारण इनको अकाल में सेवन न करे ॥१६॥

वक्तव्य—इस सूत्र में गर्भिणी का स्वस्थवृत्त (Hygiene of pregnancy) संक्षेप में वर्णन किया है। तदा प्रभृति—जब उपर्युक्त 'श्रमो ग्लानिः' इत्यादि लक्षणों से स्त्री की सगर्भावस्था का निश्चय हो जाय, तब से। व्यवाय—आयुर्वेद और धर्मशास्त्र का यह एक साधारण नियम है कि आर्तवदर्शन के पश्चात् ऋतुकाल में स्त्रीसमागम करना चाहिए—ऋतुकालाभिगामी स्यात्। (मनु)। अर्थात् यदि किसी कारण से आर्तवदर्शन न हो तो स्त्रीसमागम न करना चाहिए, यह उपर्युक्त नियम से अनुमान होता है। स्त्री में गौण अनार्तव (Secondary amenorrhoea) व्याधि या सगर्भावस्था के कारण होता है। व्याधितावस्था में समागम करने से उसकी व्याधि बढ़ती है, दुर्बलता बढ़ती है, और उसी में यदि गर्भधारणा हो जाय तो माता की व्याधि से गर्भ का नाश और गर्भ के कारण माता की व्याधि की वृद्धि, इस तरह दोनों का नाश होता है। यदि स्वस्थ स्त्री गर्भिणी होने पर उससे समागम किया जाय तो गर्भ को धक्का पहुँचने की बहुत कुछ संभावना होती है, जिससे गर्भस्राव, मूढगर्भता (Mal presentation of the foetus; मूढगर्भ निदान में मैथुन एक कारण है; प्रथमखण्ड पृष्ठ ३६० इत्यादि आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, और इनसे माता का स्वास्थ्य गिर जाता है। इसलिए गर्भिणी और व्याधित स्त्री व्यवाय के लिए निषिद्ध मानी गई है। व्याधिप्रपीडिताम्। गर्भिणीं नोपेयात् प्रमदां नरः। गर्भिण्यां पीडा स्याद् व्याधितायां बलक्षयः। (सुश्रुत)। आम तौर पर गर्भवती स्त्री को भी मैथुन की इच्छा नहीं होती, इसका उल्लेख पीछे १३वें सूत्र के वक्तव्य में 'तृप्ति' के विवरण में किया गया है। इसलिए गर्भिणी स्त्री से समागम कदापि न करना चाहिए—

If the menses do not appear, it is that conception has taken place and the ant mother must then be secred from all ach through the whole period of pregnanc nursing. Every time a husband excites wife the sexual passion, he robs his c some portion of its vitality, and her of s the strength she needs. *Esoteric Anth by Dr. Nicholas.*

परंतु साल डेढ़ साल के लिए ब्रह्मचर्य-पालन लिए कठिन होता है और क्वचित् स्त्री को भी अ मैथुनेच्छा होती है। इसलिए यदि स्त्री को पीड़ा न उसकी इच्छा होने पर कभी कभी सावधानी से मास तक मैथुन कर लिया जाय, ऐसी पाश्चात्य शा राय है—

There is no harm in sexual relations gestation, provided the special condition female partner is respected. Violence an indulgence is a menace to mother and foet some underdeveloped individuals aborti follow intercourse in early pregnancy. *Riddl*

वाग्भटाचार्य सुश्रुत के अनुसार एकान्ततः व्यवा न करके 'अतिव्यवायं त्यजेत्' (अष्टांगहृदय) ऐसा पक्ष बताते हैं; और स्मृति में छः महीनों तक व्यवा से धर्महानि नहीं होती, ऐसा स्पष्ट लिखा है— कामयेन्मर्त्यो गुर्विणीमेव वै स्त्रियम्। आदन्तजननाद्धर्मो न हीयते॥ (अत्रिस्मृति)। गर्भवती स्त्री के साथ व्यवायनिषेध न करने के लिए पाश्चात्य शा एक युक्ति बताते हैं। वह यह है कि योनि में पुरुष का शुक्र वहाँ से हमेशा शोषित होता है और मिलकर स्त्री के शरीर को पुष्ट करने में सहायता गर्भवती अवस्था में यह शोषण और भी अधिक और स्त्री के तथा गर्भ के पोषण में सहायता करता

१ प्रभृत्येव. २ यानावरोहणं.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

If a woman is pregnant a stronger absorption of the substances introduced into the vagina takes place. Since the sperminum, a chemical compound contained in the semen, has a favourable invigorating effect on the organism, the influence of the absorption of semen may be favourable to both mother and child. And this influence must, as a rule, be recognised as desirable. *Ideal Birth.*

इस विवरण का तात्पर्य यह है कि यदि स्त्री का स्वास्थ्य ठीक न हो, उसकी इच्छा न हो, मैथुनकर्म में उसे शारीरिक पीड़ा होती हो तो मैथुन एकान्ततः वर्ज्य करना चाहिए। इसकी विपरीत अवस्था में सावधानी से कभी कभी मैथुन करने में आपत्ति नहीं है। अतिमैथुन और अन्तिम दो महीनों में मैथुन सर्वदा वर्ज्य करना चाहिए। व्यायाम—व्यायाम से यहाँ दौड़ना, नाचना, कूदना, फाँदना, जिसमें शारीरिक हलचल अकस्मात् करनी पड़े ऐसे कर्म, जिसमें थकावट हो, हाँफनी हो, दिल में धड़कन हो, गर्भ में फड़कन उत्पन्न हो, अधिक देर तक खड़े रहने की आवश्यकता हो, ऐसे दारुण अनुचित शारीरिक कर्म अभिप्रेत हैं—दारुणानुचितव्यायामसेविन्याः। (चरक)। समासतः दारुणाश्च चेष्टाः। (अष्टांगसंग्रह)। मामूली घर के काम-काज करना, चलना फिरना, खुली स्वच्छ हवा में टहलना इस प्रकार के हलके शारीरिक परिश्रम स्वास्थ्य के लिए फायदेमन्द होते हैं। इनसे शरीर में स्फूर्ति होती है, पेशियाँ कार्यक्षम होकर प्रसूति में कष्ट नहीं होता। गर्भिणी स्त्री को आलसी होकर रहना ठीक नहीं है। अतितर्पणमतिकर्शनम्—इसका अभिप्राय यह है कि गर्भिणी स्त्री अतिमात्रा में तथा अल्पमात्रा में आहार सेवन न करे। अपने और गर्भ के पोषण के लिए आवश्यक जितना आहार चाहिए, उतना ही सेवन करे—भोजनं हीनमात्रं तु न बलोपचयौजसे। अतिमात्रं पुनः सर्वानाशु दोषान् प्रकोपयेत्॥ (अष्टांगहृदय)। गर्भिणी का आहार-संबंधी विशेष विवरण दसवें अध्याय के दूसरे तीसरे सूत्र का उसके वक्तव्य में किया गया है। शोकं भयम्—इससे शोक, क्रोध, असूया, ईर्ष्या, भय, उद्वेग, त्रास, चित्तसंक्षोभ इत्यादि मानसिक विकार अभिप्रेत हैं। इसका मतलब यह है कि गर्भिणी स्त्री ऐसे कर्म न करे, ऐसी बातें न सुने न कहे, ऐसे दृश्य न देखे कि जिससे उसके चित्त में उपर्युक्त विकार उत्पन्न हो जायँ—दुर्गन्धदुर्दर्शनानि परिहरेत्, उद्वेजनीयाश्च कथाः, क्रोधभयसंकरांश्च भावान् परिहरेत्। (सुश्रुत, शा० १०)। इन मानसिक विकारों का गर्भ के ऊपर प्रत्यक्ष क्या परिणाम होता है, इसका निश्चित उत्तर देना आज भी कठिन है। परंतु आयुर्वेद के अनुसार पाश्चात्त्य पण्डितों का कथन है कि सगर्भावस्था में स्त्री का मन और मस्तिष्क अव्यवस्थित होता है, जिससे क्रोध शोकादि अवस्थाओं का असर उसके शरीर पर जल्दी होकर गर्भ के ऊपर भी होता है; इसलिए इन मानसिक विकारों से गर्भवती स्त्री दूर रहे—

A pregnant woman should be shielded as for as possible from all worry and excitement. *Ten Teacher's Midwifery.* A pregnant woman should never be told tales of horror, and the tales of difficult labour are specially to be avoided. The connection between shock and fear, sudden change in the adrenalin content of the blood is known to us, we further know that a constant exchange of matter between the maternal blood and that of the child takes place. And, therefore, we can very well imagine that in this way the child feels the reaction of what occurs in the mother. *Ideal Birth.*

यानावरोहणम्—जिस यान या वाहन से संक्षोभ (Jolting) उत्पन्न होता है, उस यान या वाहन पर चढ़ना—अतिमात्रसंक्षोभियानयानम्। (अष्टांगसंग्रह)। अतिमात्रसंक्षोभिर्यानैर्यानेन। (चरक)। जैसे, घोड़ा, बैलगाड़ी स्वयं संक्षोभी होते हैं, इसलिए इन पर न बैठना चाहिए, चाहे रास्ता ठीक हो या खराब हो। साइकल, मोटर स्वयं संक्षोभी नहीं हैं और उत्तम पक्की सड़क पर कुछ भी संक्षोभ पैदा नहीं होता, इसलिए इन पर सवारी करने में हरजा नहीं है। परन्तु जब खराब सड़क होती है तब उस पर घोड़े या बैलगाड़ी से भी अधिक क्षोभ उत्पन्न होता है, इसलिए खराब सड़क पर इन पर सवारी नहीं करनी चाहिए। मनुष्यवाहित पालकी या म्याने पर सवारी करने में कभी भी आपत्ति नहीं होती। आखिरी दिनों में यानावरोहण न करना ही प्रशस्त होता है। उत्कटुकासनम्—गुदपार्ष्णिसमायोगः प्राहुरुत्कटुकासनम्। पैर और सक्थि के बल बैठना (अवसक्थिकासन) या उकडू बैठना (Squatting)। इस तरह बैठने से भगपीठ (मूलाधारपीठ, Perinaeum) पर तनाव पड़ता है, जिससे भगद्वार विवृत होता है। इसके साथ साथ उदरप्राचीर पर भी दबाव पड़ता है, जिससे गर्भ के ऊपर दबाव आ जाता है। इससे गर्भपात होने की संभावना होती है। उत्कटुकासन के साथ विषमासन और कठिनासन भी वर्ज्य करने चाहिएँ। उत्कटकविषमकठिनासन। (अष्टांगसंग्रह)। उत्कटविषमस्थानकठिनासनसेविन्याः। (चरक)। एकान्ततः—कदापि भी, सदैव। इसका सम्बन्ध व्यवाय से लेकर उत्कटकासन तक प्रत्येक के साथ है। अर्थात् व्यवायादि विषय गर्भिणी के लिए एकान्ताहितकर होते हैं, इसलिए इनका सेवन कदापि न करना चाहिए। अकाले—इसका सम्बन्ध स्नेहादि क्रिया और शोणितमोक्षण के साथ जरूर है तथा वेगविधारण के साथ भी हो सकता है। कैसे? इसका उत्तर नीचे वेगविधारण में देखो। स्नेहादिकार्य गर्भिणी के लिए निषिद्ध हैं, परन्तु एकान्ततः निषिद्ध नहीं हैं, क्योंकि ये अधिकतर चिकित्सा करने के उपाय हैं, और जब गर्भिणी ऐसे रोगों से पीड़ित हो कि जिनमें इनके सिवाय चिकित्सा में सफलता नहीं मिल सकती, तब मृदुता से और सावधानता से स्नेहादि क्रियाओं का उपयोग करना पड़ता है। इसलिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अकाले का अभिप्राय 'अनात्ययिके काले' 'अविपोपसर्गे काले'। जैसे, स्वेदनिषेध में—गर्भिणीं पुष्पितां सूतां (न स्वेदयेत्) मृदु चाऽत्ययिके गदे। (अष्टांगहृदय)। वमननिषेध में—अवम्या गर्भिणी। ऋते विषगराजीर्णविरुद्धाऽभ्यवहारतः। (अष्टांगहृदय)। विस्रावणनिषेध में—प्रतिषिद्धानामपि च विषोपसर्गे आत्ययिके च सिराव्यधनमप्रतिषिद्धम्। (सुश्रुत)। इत्यादि। स्नेहादिक्रियां शोणितमोक्षणं च—स्नेह, स्वेद, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, शिरोविरेचन, धूमपान और रक्तमोक्षण। स्नेहादि क्रियानिषेध के सम्बन्ध में चरक में विशेष विवरण दिया है—व्याधींश्चास्या मृदुमधुरशिशिरसुखसुकुमारप्रायैरौषधाहारोपचारैरुपचरेत्। न चास्या वमनविरेचनशिरोविरेचनानि प्रयोजयेत्। न रक्तमवसेचयेत्। सर्वकालं च नास्थापनमनुवासनं वा कुर्यादन्यत्रात्ययिकाद्व्याधेः। अष्टमं मासमुपादाय वमनादिसाध्येषु पुनर्विकारेष्वात्ययिकेषु मृदुभिर्वमनादिभिस्तदर्थकारिभिर्वोपचारः स्यात्। पूर्णमिव तैलपात्रमसंक्षोभयताऽन्तर्वत्नी भवत्युपचर्या। (शारीर ८)। आत्ययिक व्याधि के लिए तंत्रान्तर में तीक्ष्ण क्रियाओं का उपयोग करके स्त्री का रक्षण करने के लिए लिखा है—इत्यनात्ययिके व्याधौ, विधिरात्ययिके पुनः। तीक्ष्णैरपि क्रियायोगैः स्त्रियं यत्नेन पालयेत्॥ (अष्टांगसंग्रह)। वेगविधारण—मलमूत्रादि के आवेगों को रोकना। इनके वेगों को कदापि न रोकना चाहिए, अन्यथा विविध रोग उत्पन्न होते हैं—अधश्चोर्ध्वं च भावानां प्रवृत्तानां स्वभावतः। न वेगान् धारयेत् प्राज्ञो वातादीनां जिजीविषुः॥ (सुश्रुत)। यद्यपि आयुर्वेद में इस प्रकार का नियम है, तथापि आयुर्वेद मनुष्यसम्बन्धी शास्त्र होने के कारण, मनुष्य सामाजिक और धार्मिक प्राणी (धर्मो हि तेषामधिको विशेषः A Social and religious animal) है, जो अन्य प्राणियों के समान मलमूत्र का आवेग आते ही उनका उत्सर्ग नहीं कर सकता, इस बात का भी ख्याल रखता है। इसलिए जहाँ वेगविधारण का निषेध होता है, वहाँ ही अमुक सामाजिक और धार्मिक कर्म के काल में वेगोत्सर्ग का निषेध मिलता है—न वेगतोऽन्यकार्यं स्यात्, न वाय्वग्निसलिलसोमार्कद्विजगुरुप्रतिमुखं निष्ठीविकावातवर्चोमूत्राण्युत्सृजेत्, न पन्थानमवमूत्रयेन्न जनवति नान्नकाले, न जपहोमाध्ययनबलिमङ्गलक्रियासु श्लेष्मसिङ्घाणकं मुञ्चेत्। (चरक)। अर्थात् अकाले वेगविधारण का अभिप्राय यह है कि इन कर्मों के समय के अतिरिक्त समय में वेगविधारण न करना चाहिए। इन कर्मों के समय भी यदि किसी काम का वेग उत्पन्न हो जाय तो स्त्री फुरसत निकालकर उसका उत्सर्ग कर ले। इस सूत्र में गर्भिणी के स्वस्थवृत्त का निषेधार्थक वर्णन किया है; विध्यर्थक वर्णन निम्न प्रकार से कर सकते हैं। गर्भधारणा का निश्चय होने पर स्त्री ब्रह्मचर्य से रहे; जिससे शरीर को अधिक आयास न हो, ऐसे हलके काम करे; उचित मात्रा में हलका पौष्टिक आहार सेवन करे; केवल रात को काफी निद्रा सेवन करे; मन शान्त, प्रसन्न और सन्तुष्ट रक्खे; सवारी करना हो तो मृदुयान पर अच्छी सड़क पर करे; रोग उत्पन्न होने पर यदि आवश्यक हो तो वमनविरेचनादि कर्म के लिए मृदु सुकुमार ओषधियों को सेवन करे और जहाँ तक हो सके मलमूत्रादि का वेग आ[ने पर] वही कार्य प्रथम करे। गर्भिणी के स्वस्थवृत्त का कुछ विवरण १०वें अध्याय के २-३ सूत्र में और उसके [...] में किया गया है।

दोषाभिघातैर्गर्भिण्या यो यो भागः प्रपीड्यते। स स भागः शिशोस्तस्य गर्भस्थस्य प्रपीड्यते॥

दोषरूप अभिघातों के कारण गर्भिणी स्त्री का [जो] भाग (अंग) पीड़ित होता है, उस गर्भस्थ बालक का वही भाग पीड़ित हो जाया करता है ॥१७॥

वक्तव्य—इस श्लोक में पूर्वोक्त व्यवायव्याया[मादि के] सेवन न करने का हेतु वर्णन किया है। दोषाभि[घात—] व्यायाम व्यवायादि पूर्वोक्त निषिद्ध आहार-विहा[र और] दोषों के अभिघातों से। जैसे—व्यवायशीला दुर्बल[ं...] स्त्रैणं वा, शोकनित्या भीतमपचितमल्पायुषं वा, अभिध्यात्री [परोप]तापिनमीर्ष्युं स्त्रैणं वा, इत्यादि। (चरक)। किंवा, [...] आहार-विहार के कारण प्रकुपित वातादि दोषों के अ[भिघातों] से—मातुस्तथाहारविहारदोषैः। कुर्वन्ति दोषा विविधानि [...] संस्थानवर्णेन्द्रियवैकृतानि॥ (चरक)। किंवा, आहार[-विहार-] दोष और पतन प्रहारादि अभिघात याने निज और [आगन्तु] कारणों से। यो यो भागः प्रपीड्यते इत्यादि—माता के [जिस] अंग में विकार होता है, गर्भस्थ शिशु के उसी अंग में [विकार] होता है। इस मत का समर्थन करना यद्यपि बहुत [कठिन] है, तथापि माता के शारीरिक और मानसिक दोषों का असर गर्भस्थ शिशु पर होता है, इसमें कोई सन्देह [नहीं] है—माता च गर्भे प्रधानं कारणं, येन आसेकात् प्रभृति [...] पर्यन्तं मातुरेव गुणदोषावनुविदधाति गर्भः। (चक्रपाणिद[त्त])

All the mother takes of food and drink, [medi]cines and poisons from such things as t[obacco] and alcohol, exercises an influence on the [child's] body, then does it not seem, following a [...] logic, that likewise the psychical fare exerci[ses an] influence on the mind of the unborn child[? To] be sure, we can not prove this, but there [are] many things between heaven and earth [which] we can not prove—are they therefore less [true?] *Ideal Birth*.

इसलिए पथ्यकर आहार-विहार का सेवन क[रके] अपना और गर्भस्थ शिशु का स्वास्थ्य बनाये र[खने की] कोशिश करे—तस्मादहितानाहारविहारान् प्रजासम्पदं [इच्छन्ती] स्त्री विशेषेण वर्जयेत्। साध्वाचारा चात्मानमुपचरेद्धिताभ्या[माहार]विहाराभ्यामिति। (चरक)। प्रथमखण्ड पृष्ठ १५१ भी [देखिए।]

तत्र प्रथमे मासि कललं जायते ॥१८॥

(प्रथम मास में गर्भ का स्वरूप—) प्रथम [मास में] (गर्भ) कलल बनता है ॥१८॥

वक्तव्य—शुक्रशोणित का संयोग होने के [बाद से] सर्वांगसंपूर्ण बालक बनने के समय तक मा[...]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तरोत्तर गर्भ में क्या क्या परिवर्तन होते हैं, उसका वर्णन यहाँ से हो रहा है । इस सूत्र में पहले महीने के गर्भ का स्वरूप वर्णन किया है । अन्य ग्रन्थों में प्रथम मास के गर्भ का स्वरूप—स सर्वगुणवान् गर्भत्वमापन्नः प्रथमे मासे संमूर्च्छितः सर्वधातुकलुषी(कलली)कृतः खेटभूतो भवत्यव्यक्तविग्रहः सदसद्भूताङ्गावयवः । (चरक) । अव्यक्तः प्रथमे मासि सप्ताहात् कलली भवेत् । (अष्टांगहृदय) । प्रथमे मासि संक्लेदभूतो धातुविमूर्च्छितः । (याज्ञवल्क्यस्मृति) । ऋतुकाले संप्रयोगादेकरात्रोषितं कललं भवति, सप्तरात्रोषितं बुद्बुदं भवति, अर्धमासाभ्यन्तरे पिण्डो भवति, मासाभ्यन्तरे कठिनो भवति । (गर्भोपनिषद्) ।

गर्भाधान के न्यूनाधिक काल के पश्चात् शस्त्रक्रिया के कारण या गर्भविच्युति के कारण प्राप्त हुए अनेक गर्भों का बाह्य और आभ्यन्तर निरीक्षण करके मासानुमासिक गर्भवृद्धिक्रम पाश्चात्य शास्त्रज्ञों ने निश्चित किया है । भारतीय महर्षियों ने प्रायः इसी प्रकार से और दिव्यदृष्टि से इस विषय का ज्ञान प्राप्त किया होगा । पाश्चात्य देशों में आज तक सब से अल्पकालीन गर्भ निरीक्षण के लिए मिलते हैं, वे ब्राइस और टीचर (Bryce-Teacher's ovum), पीटर (Peter), ग्राफ फॉन स्पी (Graf Von Spee) इत्यादि के हैं । इनका काल पंद्रह से बीस दिनों का माना जाता है । अर्थात् इसके पूर्वकालिक गर्भवृद्धि का जो वर्णन पाश्चात्य ग्रन्थों में मिलता है, वह काल्पनिक होता है । काल्पनिक का अर्थ मनमानी कल्पना के अनुसार बनाया हुआ ऐसा नहीं है, परन्तु अन्य प्राणियों में गर्भ की इसी स्थिति को प्रत्यक्ष करके उसके आधार पर कल्पित (Hypothetical) किया है । संक्षेप में मनुष्य में शुक्रशोणितसंयोग तथा संयोग के पश्चात् पंद्रह बीस रोज तक गर्भ में जो कुछ भी परिवर्तन होते हैं, वे अब तक दृष्टिगम्य नहीं हुए हैं ।

स्त्रीबीज में शुक्राणु (जीवात्मा) का प्रवेश होने के समय से उसमें विशेष परिवर्तन प्रारम्भ होकर उसका अन्तिम परिणाम बालकोत्पत्ति में होता है—बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ (श्वेताश्वतरोपनिषद्) । शुक्र और स्त्रीबीज का संयोग बीजवाहिनी में प्रायः होता है । स्त्रीबीज आकार में सूक्ष्म (१/५ मिलिमीटर के लगभग) गोल और एक सेल का होता है । शुक्राणु से संयुक्त होने पर उसमें विभजन आरम्भ होता है । विभजन के द्वारा मूल एक सेल से दो सेलें बन जाती हैं । फिर दो से चार, चार से आठ, आठ से सोलह, सोलह से बत्तीस इस तरह सेल संख्यावृद्धि का सिलसिला जारी होता है, जिससे एक छोटा सा गोल ठोस सेलसमूह बन जाता है । इसमें बाहरी सेलें आकार में छोटी और भीतरी सेलें बड़ी होती हैं । इस सेलसमूह को कलल या कलन कहते हैं । अँग्रेजी में इस अवस्था को मोन्यूला (Monula) कहते हैं । कलल के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि प्रारम्भिक एक सेल के स्थान में इसमें अनेक सेलें होती हैं, तथापि इसका आकार प्रारम्भिक एक सेल से मोटा नहीं होता, कुछ छोटा ही हो सकता है । इसका अभिप्राय यह है कि कलल वास्तविक वृद्धि की अवस्था नहीं है । वृद्धि पूर्व अवस्था है, जिसमें जीव की वृद्धि के लिए उचित सेलें बनाई जाती हैं । कलल ठीक बनने पर उसमें एक खोखला स्थान बनना शुरू होता है, और धीरे धीरे इस स्थान में तरल इकट्ठा होकर इसके दबाव से बाहरी सेलें भीतरी सेलों से अलग हो जाती हैं । इस अवस्था को बुद्बुद और अँग्रेजी में ब्लास्च्यूला (Blastula) कहते हैं । तरल अधिक इकट्ठा होने से बुद्बुद का आकार वास्तव में बढ़ने लगता है । इसकी बाहरी सेलें अधिकांश स्थान में इकहरी या दोहरी होती हैं, परन्तु एक स्थान में बाकी सब सेलें इकट्ठा रहती हैं । ये अन्तःसेलसमूह (Inner cell mass) कहलाती हैं । बाहरी सेलें गर्भपोषण के काम में आती हैं, इसलिए पोषक सेलें (Trophoblast) कहलाती हैं; और भीतरी सेलें गर्भवृद्धि के काम में आती हैं । इस तरह एक तरफ कलल बनने का काम जारी रहता है और दूसरी तरफ जीव गर्भाशय की ओर मार्ग तय करता है । शास्त्रज्ञों की राय है कि गर्भाशय तक मार्ग तय करने के लिए साधारणतया एक सप्ताह लगता है और इस सप्ताह की अवधि में कलल पूर्णतया बन जाता है—सप्ताहात् कलली भवेत् । इस प्रवास में जीव का पोषण बीजवाहिनीगत स्राव से होता है । कलल की बाहरी सेलों में पाचन और शोषण की शक्ति उत्पन्न होती है, जिससे यह कार्य होता है । गर्भाशय के भीतर पहुँचने पर ये बाह्य सेलें अन्तःस्तर के पृष्ठभाग में अपनी पाचकशक्ति के द्वारा एक छेद बनाती हैं, जिसमें से होकर गर्भ अन्तःस्तर की मोटाई के बीच में सुरक्षित रहता है । जिस छेद में से गर्भ अन्दर जाता है, वह छेद पीछे बन्द हो जाता है । इसके बाद गर्भ का पोषण अच्छी तरह से होने के कारण उसकी वृद्धि तेजी से होती है । पोषण का विचार आगे ३९वें सूत्र में किया गया है ।

इस तरह गर्भाशय के भीतर तेजी से वृद्धि प्रारम्भ होने पर चतुर्थ सप्ताह के अन्त में गर्भ की लंबाई लगभग १/३ इंच होती है । उसका एक सिरा मोटा होता है जहाँ सिर बनता है, दूसरा पुच्छ के समान नोकीला होता है । गर्भ गोलाई में इस तरह मुड़ा रहता है कि दोनों सिरे आपस में मिल जाते हैं । मोटे सिरे में मस्तिष्क, आँखें, कान, नाक इनका सूत्रपात होता है; मुख के स्थान पर दरार दिखाई देती है । मध्यभाग में हृदय और यकृतादि अंगों का सूत्रपात होता है । शाखाओं के स्थान में छोटे छोटे उभार दीख पड़ते हैं । यह गर्भ देखने में मानवी नहीं होता है । इसलिए लिखा है—अव्यक्तविग्रहः सदसद्भूताङ्गावयवः । (चरक) । विद्यमानाविद्यमानाङ्गप्रत्यङ्ग इत्यर्थः । अङ्गानां च बीजरूपतया स्थितत्वेन सत्त्वम्, अव्यक्तभावाच्चासत्त्वम् । (चक्रपाणिदत्त) ।

द्वितीये शीतोष्मानिलैरभिप्रपच्यमानानां महाभूतानां संघातो घनः संजायते; यदि पिण्डः पुमान्, स्त्री चेत् पेशी, नपुंसकं चेदर्बुदमिति ॥१९॥

(द्वितीय मास में गर्भ का स्वरूप—) दूसरे में शीत (कफ), ऊष्मा (पित्त) और वायु से परिपक्व महाभूतों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का संघात (गर्भ) घन हो जाता है। यदि (यह गर्भ आकार में) पिण्ड हो तो पुरुष, पेशी हो तो स्त्री, अर्बुद हो तो नपुंसक ॥१९॥

वक्तव्य—दूसरे महीने के अन्त में गर्भ की लम्बाई डेढ़ इंच के लगभग होती है। उसका सामान्य स्वरूप मनुष्य के समान दीख पड़ता है। नासिका, कान, और पलक ठीक बनते हैं। शाखाएँ लम्बी होती हैं और अँगुलियों का बनना शुरू होता है। नीचे का सिरा, जो पुच्छ के समान दिखाई देता था, प्रायः नष्ट हो जाता है। गर्भ के शरीर की वक्रता कुछ कम हो जाती है, जिससे शिर ऊँचा होता है। आन्त्र का भाग जो नाल में गया था, अब उदर में आता है। नाल में ऐंठन पड़ने लगती है। कुछ तरुणास्थियों में अस्थिभवन का कार्य शुरू होता है। छठे सप्ताह तक गर्भ का स्वरूप स्त्रीत्व या पुरुषत्व से विरहित याने अव्यक्त होता है (दूसरे अध्याय के ३३वें सूत्र का वक्तव्य देखो), परन्तु उसके बाद जननेन्द्रिय के स्थान में स्त्री या पुरुष के लिए उचित परिवर्तन शुरू होते हैं। आयुर्वेद के सभी ग्रंथों में दूसरे महीने के गर्भवृद्धिक्रम में इस विषय का केवल निर्देश मिलता है।

तृतीये हस्तपादशिरसां पञ्च पिण्डका निर्वर्तन्तेऽङ्गप्रत्यङ्गविभागश्च सूक्ष्मो भवति ॥२०॥

(तीसरे महीने में गर्भ का स्वरूप—) तीसरे में दो हाथ, दो पैर और सिर, इनकी पाँच पिंडकाएँ निकल आती हैं और अंग-प्रत्यंग विभाग सूक्ष्म होता है ॥२०॥

वक्तव्य—तीसरे महीने के गर्भ का तन्त्रान्तर में स्वरूप—तृतीये मासि सर्वेन्द्रियाणि सर्वाङ्गावयवाश्च यौगपद्येनाभिनिर्वर्तन्ते। (चरक)। तृतीये पञ्चधा प्ररोहन्ति, तद्यथा सक्थिनी बाहुः शिरश्च। सक्थ्यादिप्ररोहैककालमेव च सर्वमङ्गावयवेन्द्रियाणि युगपत्संभवन्ति, अन्यत्र जन्मोत्तरकालजेभ्यो दन्तादिभ्यः। क्रमेण तु स्फुटीभवन्ति। (अष्टांगसंग्रह)। व्यक्तीभवति मासेऽस्य तृतीये गात्रपञ्चकम्। मूर्धा द्वे सक्थिनी बाहू सर्वसूक्ष्मांगजन्म च। सममेव च मूर्धाद्यैर्ज्ञानं च सुखदुःखयोः। (अष्टांगहृदय)। अंग-प्रत्यंगविभाग—शाखाश्चतस्रो मूर्द्धोरःपृष्ठोदराण्यङ्गानि, चिबुकनासौष्ठश्रवणाङ्गुलिपार्ष्णिप्रभृतीनि प्रत्यङ्गानि। (डल्हण)। सूक्ष्मो भवति—ये सब अङ्ग-प्रत्यंग सूक्ष्म रूप में उत्पन्न होते हैं।

तीसरे महीने के अन्त में गर्भ की लम्बाई ३ इंच के लगभग होती है। धड़ से ग्रीवा द्वारा सिर विभक्त होता है। हाथ पैरों की अँगुलियों पर सूक्ष्म रूप में नख उत्पन्न होते हैं तथा अँगुलियाँ अलग अलग दिखाई देती हैं। शरीर की अनेक अस्थियों में अस्थिविकास केन्द्र उत्पन्न होते हैं। बाह्य जननेन्द्रियाँ स्पष्ट होती हैं, जिससे पुत्र या कन्या के संबंध में कोई सन्देह नहीं रहता। संक्षेप में गर्भ के अंग-प्रत्यङ्गों की वृद्धि यहाँ तक सूक्ष्म होती है कि वह मानवी गर्भ है। इसकी पहचान सहज ही में हो सकती है।

चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्ततरो भवति, गर्भहृदयप्रव्यक्तिभावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति, कस्मात्? तत्स्थानत्वात्; तस्माद्गर्भश्चतुर्थे मास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयां च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते ॥२१॥

(चतुर्थ मास में गर्भ का स्वरूप तथा माता की दौहृदिनी संज्ञा—) चौथे महीने में संपूर्ण अंग-प्रत्यंग विभाग (तीसरे मास की अपेक्षा) अधिक स्पष्ट हो जाता है; गर्भहृदय प्रव्यक्त होने से चेतना धातु भी अभिव्यक्त हो जाता है, क्यों? उसका स्थान होने से; इसलिए गर्भ चौथे महीने में प्रथम शब्द स्पर्शादि) इन्द्रियों के विषयों में (माता के द्वारा) इच्छा करता है। दो हृदययुक्त स्त्री को दौहृदिनी कहते हैं ॥२१॥

वक्तव्य—गर्भहृदयप्रव्यक्तिभाव—गर्भ का हृदय प्रकर्षेण व्यक्त होने के कारण। हृदय से यहाँ हार्ट (Heart) या रक्तसंचालक यन्त्र अभिप्रेत है। आयुर्वेद के अनुसार हृदय में चेतना का अधिवास होता है। इस विषय का विशेष विवरण चौथे अध्याय के 'हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत देहिनाम्' इस ३३वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। सुख-दुःखादि का स्थान जो हृदय वह कार्यक्षम होने के कारण गर्भ में सुख-दुःख की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं। सुख-दुःख के कारण गर्भ माता के उदर में हाथ-पैर हिलाता है तथा हृदय के द्वारा अपनी इच्छाओं का प्रभाव माता के हृदय पर डालता है, क्योंकि ये दोनों आपस में सम्बद्ध होते हैं—तस्य यत्कालमेवेन्द्रियाणि संतिष्ठन्ते तत्कालमेव वेदनानिर्बन्धं प्राप्नोति, तस्मात्तदा प्रभृति गर्भः स्पन्दते, प्रार्थयते जन्मान्तरानुभूतं यत् किञ्चित्। तस्मादिति सुखदुःख... सुखोत्पादनार्थं दुःखपरिहारार्थं च स्पन्दते चलति। ... गर्भहृदयेन समं हृदयद्वयं भवति। (चक्रपाणिदत्त)।

यद्यपि इस महीने में गर्भ चलन-वलन करता है, तथापि उसका ज्ञान न माता को होता है, न उदर पर रखे हुए परीक्षार्थी हाथ को होता है। परन्तु यदि श्रवणयंत्र के द्वारा परीक्षा की जाय तो गर्भचलनस्वन (Stirrage...) सुनाई देता है। गर्भ के माथे पर तथा शरीर के अंगों पर रोम निकलने लगते हैं। लिङ्ग स्पष्ट हो जाता है। ... स्वाभाविक हो जाता है। गर्भ की कुल लम्बाई ६ इंच के लगभग होती है।

दौहृदविमाननात् कुब्जं कुणिं खञ्जं जडं ... विकृताक्षमनक्षं वा नारी सुतं जनयति, तस्मात् ... यद्यदिच्छेत् तत्तस्यै दापयेत्, लब्धदौहृदा हि ... वन्तं चिरायुषं च पुत्रं जनयति ॥२२॥

भवन्ति चात्र—

इन्द्रियार्थांस्तु यान् यान् सा भोक्तुमिच्छति गर्भिणी । गर्भाबाधभयात् तांस्तान् भिषगाहृत्य दापयेत् ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सा प्राप्तदौहृदा पुत्रं जनयेत गुणान्वितम् ।
अलब्धदौहृदा गर्भे लभेतात्मनि वा भयम् ॥२४॥
येषु येष्विन्द्रियार्थेषु दौहृदे वै विमानना ।
प्रजायेत सुतस्यार्तिस्तस्मिंस्तस्मिंस्तथेन्द्रिये ॥२५॥

(दौहृद पूरण का महत्त्व—) दौहृद की उपेक्षा करने से (स्त्री) कुबड़े, लूले, लंगड़े, जड़ (मन्दबुद्धि, जडमति), बौने, खराब आँखों के अथवा अंधे पुत्र को उत्पन्न करती है। इसलिए वह जिस जिस पदार्थ की इच्छा करे, वह पदार्थ उसको प्रदान करे। दौहृद की प्राप्ति होने से (स्त्री) वीर्यवान् और दीर्घायु पुत्र को पैदा करती है ॥२२॥

यहाँ पर श्लोक हैं कि—गर्भिणी स्त्री इन्द्रियों के जिन जिन विषयों का उपभोग करना चाहे, गर्भपीडा के भय से वैद्य उन उन पदार्थों को लाकर उसको दिलवावे ॥२३॥ दौहृद की प्राप्ति होने पर स्त्री गुणवान् पुत्र उत्पन्न करती है। दौहृद की प्राप्ति जिसको न हुई है, ऐसी स्त्री को अपने या गर्भ (के विषय) में (कुछ विकार पैदा हो जाय, ऐसा) भय प्राप्त होता है ॥२४॥ जिन जिन इन्द्रियों के विषयों में दौहृद में उपेक्षा होती है, उन उन (विषयों के) इन्द्रियों में पुत्र में विकार उत्पन्न होता है ॥२५॥

वक्तव्य—दौहृदविमानना—गर्भावस्था में माता के मन में जो विशेष वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, उनको तिरस्कार बुद्धि से देखना अर्थात् उनकी पूर्ति न करना। तस्मिंस्तस्मिंस्तथेन्द्रिये—तस्य तस्येन्द्रियार्थस्य ग्राहके इन्द्रिये। (डल्हण)। जैसे, किसी को देखने की इच्छा माता को हुई हो और उसकी पूर्ति न की जाय तो अपत्य की आँखों में पीड़ा होने की संभावना होती है।

स्त्री के मन में गर्भस्थिति के कारण शब्द स्पर्शादि इन्द्रियार्थों के सम्बन्ध में जो विशेष या अस्वाभाविक वासनाएँ उत्पन्न होती हैं, वे दौहृद कहलाती हैं। दौहृद को अँग्रेजी में लांगिंग्स या पैका (Longings या Pica) कहते हैं। यद्यपि दौहृद का मुख्यकाल चौथा महीना यहाँ बताया गया है, तथापि उसका प्रारम्भ दूसरे महीने से ही होता है। इसलिए दूसरे महीने से पाँचवें महीने के प्रारम्भ तक दौहृदकाल होता है—अन्ये तु पक्षत्रयात् प्रभृत्या-पञ्चमान्मासाद्दौहृदकालमाहुः। (अष्टांगहृदय)। दौहृद को दौर्हृद, दोहद और दोहल भी कहते हैं—सुदक्षिणा दौर्हृद-लक्षणं दधौ। उपेत्य सा दोहददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदा-हृतम्। (रघुवंश)। वृथा वहसि दोहलं ललितकामिसाधारणम्। प्राचीनकाल में भारतवर्ष के अनुसार यूरोप के शास्त्रज्ञ दौहृद को काफी महत्त्व देते थे, परन्तु आधुनिक काल में सगर्भावस्थानिदान के लिए दौहृद को विशेष महत्त्व नहीं देते।

दौहृद और गर्भ का सम्बन्ध—स्त्री गर्भिणी होने पर उसके मस्तिष्कसंस्थान, मन और स्वभाव में फर्क हो जाता है, जिससे अकामतः वमन, उद्विग्नता, चिड़चिड़ापन, शीघ्र-कोपिता, मानसिक दौर्बल्य, इन्द्रियार्थों की स्वाभाविक अभिरुचि में वैपरीत्य, निद्रानाश, स्वप्नदर्शन इत्यादि अनेक लक्षण उत्पन्न होते हैं। ये सब लक्षण गर्भ के कारण ही उत्पन्न होते हैं, इस विषय में आयुर्वेद और पाश्चात्य वैद्यक का ऐकमत्य है। परन्तु आयुर्वेद दौहृदलक्षणों का सम्बन्ध गर्भ के मन के साथ जोड़ता है, और केवल भौतिक शास्त्रों पर विश्वास करने वाला पाश्चात्य वैद्यक इनका सम्बन्ध गर्भजन्य विष, अन्तःस्रावी ग्रंथियों के कार्य की न्यूनाधिकता और मस्तिष्ककार्य की अस्थिरता इनके साथ जोड़ता है। दौहृद का कारण गर्भ का मन हो या गर्भजन्य अन्य पदार्थ हो, इस विषय में आयुर्वेद और पाश्चात्य वैद्यक का ऐकमत्य है कि सगर्भावस्था में स्त्री का मन और मस्तिष्क अस्थिर स्थिति में होता है, जो जरा सी बात पर विगड़ जा सकता है और स्त्री के मन का परिणाम गर्भ पर होता है। इसलिए सगर्भावस्था में स्त्री के मन में जो जो इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, उनकी पूर्ति यदि पथ्यकर हो तो पूर्णतया, यदि अपथ्यकर हो तो पथ्यकर के साथ मिलाकर अल्पतया करके माता को प्रसन्न-चित्त रखना बहुत ही आवश्यक है। यदि इच्छा गर्भोपघात-कर हो तो उसकी पूर्ति न करना ही उचित है, इसका ध्यान रखना उचित है—सा यद्यदिच्छेत्तत्तदस्यै दद्यादन्यत्र गर्भोपघातकरेभ्यो भावेभ्यः। तीव्रायां तु प्रार्थनायां काममहितमप्यस्यै हितेनोपहितं दद्यात् प्रार्थनाविनयनार्थम्। (चरक)। देयमप्य-हितं तस्यै हितोपहितमल्पकम्। (अष्टांगहृदय)। श्रद्धाविघात में जरा सी बात के लिए स्त्री के मन पर बड़ा भारी परिणाम हो सकता है, जो आगे जाकर दोनों को हानि पहुँचा सकता है—प्रार्थनासंधारणाद्धि वायुः प्रकुपितोऽन्तःशरीरमनुचरन् गर्भस्यापद्यमानस्य विनाशं वैरूप्यं वा कुर्यात्। (चरक)। इच्छा-विघातश्च मनःक्षोभकरभयादिवद्वातप्रकोपको भवति। (चक्र-पाणिदत्त)।

The whole organism is in a state of strain, and slight causes suffice to move it either in the direction of abnormal depression and melancholia, or in the direction of excessive exhilaration. The mental condition and surroundings of the pregnant woman are of importance, inasmuch as they largely influence her physical well being and hence that of the foetus. A pregnant woman should, as far as possible, be sheltered from all influences which tend to give rise to excitement, annoyance or depression. *Jellet's Midwifery.*

इसलिए दौहृदोत्पत्ति की आयुर्वेद की उपपत्ति यद्यपि कुछ दूरान्वित मालूम होती है तथापि उसके अनुसार माता की वासनाओं को पूर्ण करके उसको प्रसन्नचित्त रखने में किसी प्रकार का नुकसान नहीं है, बल्कि दोनों को ही फायदा है—

In adhering to this theory. we shall certainly not take a wrong path, but may preserve the

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

mother, and probably the child too, from much trouble and deep affliction, may give it on the other hand, perhaps a big plus for life. In any case, it is also to be borne in mind that the mental peace, the happy confident frame of mind, pleasant diversion may like wise act favourably on the child. *Ideal Birth.*

इस विषय का कुछ विवरण प्रथम विभाग में पृष्ठ १५०, १५१ पर भी किया गया है, उसे देखो।

अब इसके बाद दौहृदविशेषता के अनुसार पुत्रस्वभाव विशेषता के कुछ उदाहरण दिग्दर्शन के लिए दिये जाते हैं—

राजसन्दर्शने यस्या दौहृदं जायते स्त्रियाः।
अर्थवन्तं महाभागं कुमारं सा प्रसूयते ॥२६॥

राजा के दर्शन में जिस स्त्री का दौहृद (मन) होता है, वह द्रव्यवान् और महापुण्यवान् पुत्र को जन्म देती है ॥२६॥

दुकूलपट्टकौशेयभूषणादिषु दौहृदात्।
अलङ्कारैषिणं पुत्रं ललितं सा प्रसूयते ॥२७॥

दुकूलपट्ट (मलमल के समान महीन पतला कपड़ा), कौशेय (रेशमी वस्त्र), अलंकार इत्यादि में (गर्भवती स्त्री का) दौहृद होने से वह अलंकारप्रिय और सुन्दर (रूपवान्) पुत्र को जन्म देती है ॥२७॥

आश्रमे संयतात्मानं धर्मशीलं प्रसूयते।
देवताप्रतिमायां तु प्रसूते पार्षदोपमम् ॥२८॥

आश्रम में (निवास करने का जिसका दौहृद होता है, वह) जितेन्द्रिय और धर्मात्मा पुत्र को जन्म देती है। तथा देवताप्रतिमा में (जिसका दौहृद होता है, वह) पार्षदोपम (पुत्र) को जन्म देती है ॥२८॥

वक्तव्य—आश्रमे—यस्याः आश्रमे तपस्विनामधिष्ठाने श्रद्धा भवेत् सा एवंभूतं जनयेत्। (डल्हण)। श्रीसीतादेवी को मुनियों के आश्रम में निवास करने की इच्छा कुश की गर्भावस्था में हुई थी—प्रजावती दोहदशंसिनी ते तपोवनेषु स्पृहयालुरेव। (रघुवंश)। पार्षदोपमम्—पार्षदेषु सभापुरुषेषु उपमा यस्य स तथा तं सभ्यसमम्। (डल्हण)। सज्जन मनुष्य, जिसका देवदर्शनादि धर्मकर्मों में प्रेम हो, ऐसा। पार्षदा रुद्रानुचराः—'रुद्रैर्बलाढ्यैर्वृषभादिरूढैः स पार्षदैरम्बरमापुपूरे' इति पुराणञ्च। (हाराणचन्द्र)।

दर्शने व्यालजातीनां हिंसाशीलं प्रसूयते ॥२९॥

(सिंह व्याघ्र सर्प इत्यादि) हिंस्र जाति के दर्शन में (दोहद होने से स्त्री) क्रूर पुत्र को जन्म देती है ॥२९॥

गोधामांसाऽशने पुत्रं सुषुप्सुं धारणात्मकम्[1]।
गवां मांसे तु बलिनं सर्वक्लेशसहं तथा ॥३०॥

गोह का मांस खाने में (दोहद होने से) पुत्र निद्रालु और धारणात्मक होता है। गोमांस (खाने) में (दोहद होने से पुत्र) बलवान् तथा सर्व प्रकार के कष्टों को [सहन] करने वाला होता है ॥३०॥

वक्तव्य—धारणात्मक—डल्हण धारणा से ग्रंथ्यादि धारणाशक्ति समझते हैं—धारणात्मकं हृदयवस्तूनाममोचकम्। यह धारणाशक्ति गोधा में कहाँ तक है, यह कहना बहुत कठिन है। परन्तु दूसरी एक [शक्ति] गोधा में होती है, जिससे वह पत्थर, चट्टान, पहाड़ [आदि] को जबरदस्त पकड़ती है। यहाँ तक कि उसके [कमर में] कसी हुई रस्सी की सहायता से मनुष्य ऊपर चढ़ [सकता] है। मराठी भाषा में गोधा को 'घोरपड़' कहते हैं। [मराठा] सैनिक शत्रु के किले पर गोधा की सहायता से चढ़[ते] और अचानक हमला करके किला सर करते थे। [सिंहगढ़] सर करने के समय की नरवीर ताना जी की कथा [इस] संबंध में मशहूर है। जिन्होंने सर्वप्रथम गोधा की धारणाशक्ति का उपयोग किले पर चढ़ने के लिए [किया]। उनके वंशज महाराष्ट्र में 'घोरपड़े' नाम से प्रसिद्ध [हैं]। जंगली लोग, नाडीवैद्य, हकीम गोधा के मांस और [तेल] का प्रयोग कमजोरी में करते हैं और चरक तथा सुश्रुत [में] गोधा बलवर्धक बतलाई है—वातपित्तप्रशमनी बृंहणी बल-वर्धिनी। इससे धारणात्मक का अर्थ बलवान् करना उचित है।

माहिषे दौर्हृदाच्छूरं रक्ताक्षं लोमसंयुतम्[1]।
वाराहमांसात् स्वप्नालुं शूरं संजनयेत् सुतम् ॥[३१]॥

भैंस (के मांस) में दौहृद होने से लाल आँखों [वाला] और लोमयुक्त तथा सूअर के मांस में (दौहृद होने से) निद्रालु और शूर पुत्र को उत्पन्न करती है ॥३१॥

मार्गाद्विक्रान्तजङ्घालं सदा वनचरं सुतम्।
सृमराद्विग्नमनसं नित्यभीतं च तैत्तिरात् ॥३[२]॥

मृगमांस (में दोहद होने) से अत्यन्त तेजी से [दौड़ने] वाला तथा हमेशा जंगल में घूमने वाला; सृमर (के [मांस]) से चञ्चलचित्त और तित्तिर (के मांस में दोहद होने [से]) डरपोक पुत्र को (स्त्री उत्पन्न करती है) ॥३२॥

वक्तव्य—मार्गात्—मृगमांस के अतिरिक्त प्रवास या शिकार खेलना भी मार्ग के अर्थ हो सकते हैं। [इन] अर्थों के अनुसार प्रवास करने में या शिकार खे[लने में] जिसका दोहद हो, उसे। विक्रान्तजङ्घाल—जिसकी टाँगें बलवान् हों, अर्थात् जो अपनी टाँगों के बल पर खू[ब] फिर दौड़ सकता हो।

इन विविध दोहदों के अतिरिक्त और भी कई प्र[कार के] दोहद हो सकते हैं। उनसे अर्थ निकालने के लिए [यह] श्लोक दिया जाता है—

अतोऽनुक्तेषु या नारी समभिध्याति दौर्हृदम्।
शरीराचारशीलैः सा समानं जनयिष्यति ॥[३३]॥

इनसे अतिरिक्त अब तक न बतलाये हुए (वि[षयों]) में (जब) स्त्री दोहद का चिंतन करती है, तब [...]

१ धावनात्मकम्.

१ लोमशं सुतम्.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(हृदय के) शरीर, आचार और शील के समान पुत्र को उत्पन्न करती है ॥३३॥

वक्तव्य—प्राचीन काल के भारतीयों में जिस प्रकार की वृत्ति प्रायः हुआ करती थी, उसके अनुसार ही ऊपर के श्लोकों में दोहद के उदाहरण दिये गये हैं। इस प्रकार की वृत्ति आधुनिक भारतीयों में प्रायः नष्ट हो गई है। इसलिए पर्युक्त प्रकार का दोहद आधुनिक भारतीय स्त्रियों में मिलना असम्भव है।

कर्मणा चोदितं जन्तोर्भवितव्यं पुनर्भवेत्।
यथा तथा दैवयोगाद् दौर्हृदं जनयेद्धृदि ॥३४॥

(विविध दोहदों की उपपत्ति—) जैसे (कि पूर्वनिर्माजित) कर्म से प्रेरित प्राणी का भवितव्य पुनर्जन्म होता है, वैसे ही पूर्वकर्म से (माता के) हृदय (मन) दोहद उत्पन्न होता है ॥३४॥

वक्तव्य—इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि गर्भस्थ जीव का भवितव्य जिस पूर्वकर्म के कारण बनता है, उसी पूर्वकर्म के कारण माता के मन में दोहद उत्पन्न होता है, यानी दोहद का प्रेरक गर्भस्थ जीव का पूर्वकर्म है। भवितव्य—संचित कर्म की प्रेरणा से पुनर्जन्म में या भविष्य में जो कुछ भी निश्चिति से होता है, वह भवितव्य कहलाता है। पूर्वकर्म के अनुसार पुनर्जन्म में जीव का स्वभाव, शील, आहार-विहार में अभिरुचि, शारीरिक और मानसिक संगठन होता है—येषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे। तान्येव प्रतिपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥ (महाभारत)। पूर्वकर्म का फल जीव टाल नहीं सकता—ऐहिकं प्राक्तनं वाऽपि कर्म यदर्चितं स्फुरन्। पौरुषोऽसौ परो यत्नो न कदाचन निष्फलः॥ (योगवासिष्ठ)। प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः। जब जीव के स्वभाव, आहार-विहार में अभिरुचि इत्यादि पूर्वकर्म के कारण उत्पन्न होते हैं और जब माता का दोहद इन्हीं बातों को बतलाता है, तब दोनों का कारण एक ही होना चाहिए। दैवयोगात्—कर्मयोगात्। इस विषय का विवरण पीछे चौथे सूत्र के 'दैवसंगात्' के वक्तव्य में किया गया है। जीव के भवितव्य के संबंध में वेदान्तशास्त्रोक्त कर्मविपाक का जो नियम है, उसे आधुनिक पाश्चात्य पण्डित भी कुछ मानने लगे हैं—

All things, whether visible or invisible are subservient to, and fall within the scope of the infinite and eternal law of causation. All the varying conditions of life as they obtain in the world to day, are the result of this law reacting on human conduct. Man can choose what causes he shall set in operation, but he can not change the nature of effects. He can decide what thoughts he shall think and what deeds he shall do, but he has no power over the result of those thoughts and deeds; these are regulated by the over-ruling law. Man has all power to act, but his power ends with the act-committed. The result of the act can not be altered, annulled or escaped; it is irrevokable. *James Allen. Book of Meditations.*

पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति ॥३५॥

(पाँचवें महीने का गर्भ—) पाँचवें (महीने) में (पहिले की अपेक्षा गर्भ का) मन अधिक प्रबुद्ध हो जाता है ॥३५॥

वक्तव्य—तन्त्रान्तर में पाँचवें महीने का स्वरूप—पञ्चमे मासि गर्भस्य मांसशोणितोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः। (चरक)। पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति मांसशोणितोपचयश्च। (अष्टांगसंग्रह)। पञ्चमे पृष्ठवंशो भवति। (गर्भोपनिषद्)।

पाँचवें महीने में गर्भ की लम्बाई दस इंच होती है। लंबाई में इतनी वृद्धि दूसरे किसी महीने में नहीं होती है। यह लंबाई अधिकतर टांगों में होती है। शिर अब भी शेष शरीर के मुकाबले कुछ बड़ा होता है। आन्त्र में कुछ मल इकट्ठा होने लगता है। यकृत् अच्छी तरह बन जाता है। शरीर पर बाल अधिक लंबे होते हैं। गर्भ का चलन-वलन जोर से होता है। गर्भ का तोल पहले से दुगुना याने आधा सेर होता है। उसके सर्वशरीर पर एक चिकना पदार्थ (Vernix Caseosa) बनने लगता है; उससे गर्भ की त्वचा की रक्षा गर्भोदक से होती है।

पीछे १३-१५ सूत्र में गर्भिणी के जो लक्षण वर्णन किये हैं, वे केवल गर्भ की उपस्थिति पर निर्भर न होने के कारण पूर्णतया विश्वसनीय नहीं होते। इस महीने से गर्भ के कुछ खास लक्षण मिलते हैं, जिनके ऊपर सगर्भावस्था का निर्णय करने के लिए विश्वास किया जा सकता है। ये लक्षण निम्न हैं—गर्भहृत्स्पन्दन, गर्भ के अंगों का ज्ञान और गर्भ की गतियाँ। इनमें से गर्भहृत्स्पन्दन इस महीने में मिलता है। गर्भहृत्स्पन्दन (Foetal heart sounds)—गर्भ का हृदय चौथे महीने में व्यक्त होता है और तभी से उसका संकोच-विकास का कार्य जारी होता है परंतु उसकी आवाज उस समय सुनाई नहीं देती। साधारणतया १८वें सप्ताह से गर्भहृच्छब्द सुनाई देता है। ये शब्द तकिया के नीचे रक्खी हुई घड़ी के शब्द के समान होते हैं। इनकी संख्या प्रति मिनट १२० से १६० तक और औसत १४० होती है, याने माता की हृदयगति से दुगुनी होती है। गर्भहृच्छब्द उदरप्राचीर के साथ कान लगाने से, या एकनलिका अथवा द्विनलिका (Single or binaural) श्रवणयन्त्र से सुनाई देते हैं। कुछ लोगों का यह कथन है कि पुराने ढंग का काठ का बनाया हुआ एकनलिका श्रवणयन्त्र इस काम के लिए बेहतर होता है। कुछ भी हो, श्रवण करते समय यन्त्र को उदरप्राचीर पर न्यूनाधिक दबाकर सुनने की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोशिश करनी चाहिए, क्योंकि कभी कभी हलके दबाव से शब्द अच्छे सुनाई देते हैं, कभी कभी अधिक दबाव से अच्छे सुनाई देते हैं ।

गर्भहृच्छब्द से फायदे—(१) गर्भहृच्छब्द मिलने से स्त्री की सगर्भावस्था का निःसंदिग्धता से निर्णय होता है ।

(२) इसके सुनने से गर्भ की गति (Presentation) का ज्ञान होता है । प्रथम जब कि गर्भोदक काफी होता है, तब गर्भ का हृदय नाभि के नीचे मध्यरेखा में सुनाई देता है । परन्तु आगे जाकर यदि गर्भ की शिरोगति (Vertex) हो तो शब्द नीचे नाभि और जघनकपालपूरोर्ध्वकूट के बीच में सुनाई देता है । यदि जघनगति हो तो नाभि के ऊपर खींची हुई इसी रेखा पर सुनाई देता है ।

(३) गर्भ के आसन (Position) का ज्ञान होता है । गर्भ के अंगविशेष का माता की शरीरमध्यरेखा के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसे गर्भ का आसन कहते हैं । सिर और जघन गति में गर्भ का पृष्ठ आसन का निर्णायक होता है । पृष्ठ आगे और वामपार्श्व में होने से प्रथम आसन (First position), आगे और दक्षिणपार्श्व में होने से द्वितीय आसन, पीछे और दक्षिणपार्श्व में होने से तृतीय आसन और पीछे तथा वामपार्श्व में होने से चतुर्थ आसन होता है । इस प्रकार प्रत्येक गति के चार आसन होते हैं और प्रत्येक आसन में गर्भहृच्छब्द की अत्यधिक तीव्रता एक विशिष्ट स्थान में पाई जाती है, जिसके अनुसार गर्भ का आसन मालूम होता है ।

(४) गर्भ का साधारण स्वास्थ्य और लिङ्ग—कुछ शास्त्रज्ञों का कथन है कि गर्भ के हृदय की गति उसके वृद्धि के व्यस्त प्रमाण में होती है, याने गर्भ की वृद्धि यदि ठीक ठीक हुई हो तो हृदय की गति कुछ कम होती है और यदि वृद्धि ठीक न हुई हो तो गति कुछ अधिक हुआ करती है । वैसे ही पुमान् गर्भ के हृदय की गति स्त्रीगर्भ के हृदय की गति की अपेक्षा कुछ कम होती है । अर्थात् दोनों में फर्क बहुत कम (१३९ पुरुष, १३६ स्त्री) होने से निश्चिति से लिङ्गनिर्णय करना कठिन है, तथापि कुछ सहायता मिल सकती है ।

(५) यमल का निर्णय—माता के उदर में गर्भ एक है या दो हैं, इसका निर्णय करने के जो अनेक उपाय हैं उनमें गर्भहृदय-शब्दश्रवण एक उत्तम उपाय है । यदि एक समय सुनने वाले दो व्यक्तियों को दो भिन्न स्थानों में दो गर्भहृदय सुनाई दें जिनकी गति (प्रति मिनट स्पन्दनसंख्या) माता की हृदयगति से तथा एक दूसरे से भिन्न हो, और यही स्थिति अनेक बार श्रवण करने पर भी मिल जाय तो यमल की उपस्थिति निश्चिति से समझनी चाहिए ।

(६) गर्भ की आपत्तियों का ज्ञान—प्रायः अपनी गतियों के कारण तथा माता की ज्वरयुक्त अवस्था में गर्भ की हृदय की गति तेज हो जाती है, और गर्भाशय संकोच से, (Placenta) और नाल पर दबाव पड़ने से तथा ग… मस्तिष्क पर दबाव पड़ने से हृदयगति मन्द हो जा… यदि हृदयगति १०० से कम और १६० से अधिक … तो गर्भ आपत्ति में है, ऐसा जानना चाहिए । प्रसव के … गर्भहृदयश्रवण एक बहुत उपयोगी कार्य है, और प्रसव में विलंब न हो और गर्भहृदयगति १०० से … तो कृत्रिमरीत्या गर्भ को तुरन्त बाहर निकालने की … करनी चाहिए ।

(७) गर्भमृत्यु का ज्ञान—गर्भहृदय के शब्द सु… पश्चात् अनेक बार प्रयत्न करने पर भी यदि वे न सुनाई दें तो गर्भ की मृत्यु की कल्पना … सकती है—गर्भास्पन्दनभावीनां प्रणाशः श्यावपा… भवत्युच्छ्वासपूतित्वं शूलं चान्तर्मृते शिशौ ॥

गर्भाशय का आकुञ्चन—यह लक्षण इस महीने से … है । उसको 'ब्राक्स्टन हिक्स' का लक्षण कहते हैं । गर्भाशय के ऊपर उदर की दीवाल पर सपाट हथेली से गर्भाशय में आकुञ्चन की प्रतीति होती है । आकु… समय गर्भाशय कुछ कठिन हो जाता है । यह … प्रायः प्रति पाँच मिनट पर होता है, परन्तु कभी … कम कभी अधिक समय पर भी होता है । यह … गर्भाशय के अर्बुद में मिल सकता है, परन्तु साधा… इसकी उपस्थिति गर्भावस्था की सूचक … जाती है ।

षष्ठे बुद्धिः ॥३६॥

छठे महीने में बुद्धि (अधिक प्रव्यक्त होती है) ।

वक्तव्य—तन्त्रान्तर में छठे महीने का स्व… षष्ठे मासि गर्भस्य बलवर्णोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासे… (चरक) । षष्ठे केशरोमनखास्थिस्नाय्वादीन्यभिव्यक्ता… वर्णोपचयश्च । (अष्टांगसंग्रह) । षष्ठे मासे मुखना… श्रोत्राणि भवन्ति (गर्भोपनिषद्) ।

इस महीने में गर्भ की लम्बाई एक फुट के करी… वजन एक सेर के लगभग होता है । त्वचा में सलव… हैं और उसके नीचे चरबी का संचय होने लगता … और पक्ष्म बनने लगते हैं । शिर के बाल और … अपेक्षा अधिक लम्बे होते हैं ।

इस महीने से गर्भस्थ शिशु के करचरणादि … ठीक परिज्ञान हो जाता है । माता के उदर को … से गर्भ के भिन्न भिन्न अंगों का पता चल जाता है । … सिवाय उदर पर हाथ रखने से गर्भ की गतियाँ … होती हैं । यदि गर्भ गतिहीन हो तो उदर पर जरा … देने से गर्भ में गति उत्पन्न होती है । पतली दीवा… स्त्रियों में ये गतियाँ क्वचित् दीख पड़ती हैं ।

अब तक गर्भावस्था के अनेक लक्षण वर्णन किये … गर्भावस्था का निदान करने की दृष्टि से प्रत्येक ल… महत्ता पृथक् पृथक् होती है । इसलिए नीचे उनका … दिया जाता है ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गर्भिणीनिदानसहायक कोष्टक

लक्षण	प्रतीतिकाल	महत्ता
(अ) गर्भहृत्स्पन्दन	अठारहवें सप्ताह के पश्चात्	निश्चितिदर्शक
गर्भ के अंग	अन्तिम चार मास	,,
गर्भ की गतियाँ	अन्तिम तीन या चार मास	,,
(आ) स्तनगत परिवर्तन	दूसरे महीने के पश्चात्	कमनिश्चिति-दर्शक
योनि के रंग में फर्क	,, ,,	,,
आकार का लक्षण	,, ,,	,,
गर्भाशयवृद्धि	,, ,,	,,
गर्भाशय का आकुंचन	चौथे महीने के पश्चात्	,,
(इ) दौहृदलक्षण	दूसरे महीने के पश्चात्	संभवदर्शक
मुख और उदर के वर्ण में फर्क	चौथे महीने के पश्चात्	,,
उदरवृद्धि	,, ,,	,,

सप्तमे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्ततरः ॥३७॥

सातवें में संपूर्ण अंगों और प्रत्यंगों का विभाग और भी अधिक स्पष्ट होता है ॥३७॥

वक्तव्य—तन्त्रान्तर में वर्णन—सप्तमे मासि गर्भः सर्वैर्भावैराप्यायते। (चरक)। सप्तमे सर्वाङ्गसंपूर्णता। (अष्टांगसंग्रह)। सर्वैः सर्वाङ्गसंपूर्णो भावैः पुष्यति सप्तमे। (अष्टांगहृदय)।

इस महीने में गर्भ की लम्बाई १४ इंच और भार १॥ सेर के लगभग होता है। त्वचा के नीचे चरबी अधिक जम जाती है, जिससे उसकी सलवटें कम होती हैं। पक्ष्म अलग हो जाते हैं। आँखों के ऊपर की झिल्ली नष्ट होने लगती है। अण्ड उदरगुहा में से वंक्षणसुरंगा (Inguinal canal) में पहुँचता है। संक्षेप में जीवन के लिए सब अंग-प्रत्यंगों की कम से कम जितनी वृद्धि होनी आवश्यक है, उतनी वृद्धि इस महीने के अन्त में होती है—तेन सर्वेण जन्मजीवनलक्षणेनार्थेनाङ्गैश्च संपूर्णो भवतीत्यवतिष्ठते। (अरुणदत्त)। इसलिए यदि किसी कारण से इस मास के अन्त में बालक का जन्म हो जाय और उसका उचित पालन किया जाय तो वह जीवित रह सकता है। इस दृष्टि से गर्भोपनिषद में इस महीने के गर्भ का वर्णन बहुत ही सूचित किया है—सप्तमे मासे जीवने संयुक्तो भवति। इसका तात्पर्य यह है कि जीव से युक्त हो जाने के कारण जीने योग्य हो जाता है। पाश्चात्य लोगों का भी कथन है कि इस महीने के अन्त में बालक Viable हो जाता है परन्तु अकालप्रसव होने के कारण बालक दीर्घायु तथा उत्तम स्वास्थ्ययुक्त नहीं होता—यथा चाऽस्मिन् (सप्तमे) मासि गर्भो जातो जीवति किन्त्वकालप्रसवत्वान्न तथा दीर्घजीवितत्वादिकं स्यात्। (अरुणदत्त)।

At seven months, every part has increased volume and perfection. This is reconed as the epoch of viability, or the period in which the foetus if expelled from the uterus, is capable of in dependant existance. *Esoteric Anthropology.*

अष्टमेऽस्थिरीभवत्योजः, तत्र जातश्चेन्न जीवेन्निरोजस्त्वान्नैर्ऋतभागत्वाच्च, ततो बलिं मांसौदनमस्मै दापयेत् ॥३८॥

आठवें महीने में (माता और बालक दोनों का) ओज अस्थिर होता है; उस समय यदि जन्म हो जाय तो ओजोराहित्य और नैर्ऋतभागत्व के कारण बालक जीवित नहीं रहता। अतः उस निर्ऋति के लिए मांस और ओदन की बलि देनी चाहिए ॥३८॥

वक्तव्य—ओज—इसका विवरण प्रथम खण्ड के ९४ पृष्ठ पर किया गया है। अस्थिरीभवति—इसका कारण यह है कि इस महीने में गर्भ से माता के शरीर में और माता से गर्भ के शरीर में ओज का निरन्तर आना जाना होता रहता है—अष्टमे मासि गर्भश्च मातृतो गर्भतश्च माता रसहारिणीभिः संवाहिनीभिर्मुहुर्मुहुरोजः परस्परत आददाते गर्भस्यासंपूर्णत्वात्। (चरक)। इसका परिणाम यह होता है कि कभी गर्भ ओजयुक्त होता है और कभी ओजविरहित होता है। न जीवेत्—यदि ओजविरहित हो तो जीवित नहीं रहता; यदि ओजयुक्त हो तो जीवित रह सकता है। आठवें महीने का बालक कदापि जीवित नहीं रह सकता, यह इसका तात्पर्य नहीं है—तत्र मातृशरीरं गते ओजसि यदि गर्भं प्रसूते तदा स जातो विनश्यति; यदा गर्भशरीरं प्राप्ते ओजसि गर्भो निष्क्रामति तदा ओजसः सद्भावाज्जातो जीवति। (इन्दु)। अनेनौजःस्थितिरेव जीवनहेतुरिति दर्शयति। (विज्ञानेश्वर)। अर्थात् आठवें महीने में जन्म लेने पर जीवित रहना या न रहना ओज की उपस्थिति पर निर्भर होता है। नैर्ऋतभागत्वाच्च—आठवें महीने का गर्भ मरने का यह दूसरा कारण है। निर्ऋतिः—राक्षस, भूत या रजनीचर। कुछ लोगों का यह मत है कि आठवें महीने में गर्भ का जन्म होने पर मृत्यु का कारण ओजोराहित्य न होकर निशाचरों की वक्रदृष्टि है। यदि उनको मांसौदन की बलि न दी जाय तो ये गर्भ का नाश करते हैं। अतः इनको गर्भवती स्त्री आठवें महीने में स्नानादियुक्त होकर मांसौदन का बलिदान करे। अप्रत्यक्षतया ये रजनीचर गर्भ के शरीर का नहीं, उसके ओज का ही हरण करते हैं—ओजोशनानां रजनीचराणामाहारहेतोर्न शरीरमिष्टम्। (चरक)। इसलिए गर्भमृत्यु का कारण ओजोराहित्य ही समझना चाहिए। आधुनिक दृष्टि से यों कह सकते हैं कि सातवें तथा आठवें महीने में गर्भ का जन्म होने पर यद्यपि उसके बचने की संभावना हो सकती है तथापि उसमें ओजोराहित्य होने के कारण प्राणशक्ति (Vitality) कम रहती है, जिससे वह किसी न किसी व्याधिरूप आपत्ति से मर

१ अस्थिरं भवति. २ नैर्ऋतभागधेयत्वात्.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है—तस्मात्तदा गर्भस्य जन्म व्यापत्तिमद्भवत्योजसोऽनवस्थितत्वात्। (चरक)।

Children born at this period (eighth month) are less active than those born at full term, but can sometimes be reared if carefully attended. *Jellet's Midwifery.*

आठवें और नौवें महीने के गर्भ का वर्णन आयुर्वेद में इसलिए नहीं किया गया है कि इन दो महीनों में गर्भ में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता । उसके अंग-प्रत्यंग सुपरिपक्व हो जाते हैं।

From this period up to nine months there is mere increase of size and action. *Esoteric Anthropology.*

परन्तु गर्भोपनिषद् में इसका स्पष्ट निर्देश किया गया है—अष्टमे मासे सर्वलक्षणसम्पूर्णो भवति। अथ नवमे मासि सर्वलक्षणज्ञानकरणसम्पूर्णो भवति ॥ एक बात का यहाँ जरूर निर्देश करना चाहिए कि सातवें महीने के अन्त तक अण्ड वङ्क्षणसुरंगा में होता है। आठवें महीने में वह अपने उचित स्थान (वृषण) में आ जाता है।

नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्मिन् जायते, अतोऽन्यथा विकारी भवति ॥३९॥

(प्रसवकाल—) नौवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें में से किसी महीने में (गर्भ का स्वाभाविक) प्रसव होता है। इसके अनन्तर (यदि गर्भ उदर में रहे तो प्रसव) विकारी हो जाता है ॥३९॥

वक्तव्य—इस सूत्र में कालप्रसव और कालातीत प्रसव की मर्यादा बताई गई है। सुश्रुत और वाग्भट के अनुसार यह मर्यादा चार महीने की होती है। चरक के अनुसार केवल दो महीनों की होती है—तस्मिन्नेकदिवसातिक्रान्तेऽपि नवमं मासमुपादाय प्रसवकालमित्याहुरादशमान्मासात् ॥ एतावान् प्रसवकालः, वैकारिकमतः परं कुक्षौ स्थानं गर्भस्य । इस मतभेद को तथा मर्यादा के अन्तर को देखकर यह कहना पड़ता है कि प्राचीन ऋषियों को प्रसव का काल निश्चित मालूम नहीं था, अथवा कालप्रसव का निश्चित समय मालूम करना कठिन है, अथवा कालप्रसव का निश्चित समय, जो सब स्त्रियों में लागू हो, नहीं हो सकता। पाश्चात्य देशों में प्रसूतिशास्त्रज्ञों ने प्रसवकाल निश्चित करने के बारे में बहुत कुछ अन्वेषण किया । प्रसवकाल निश्चित करने के दो उपाय हैं—स्त्रीपुरुषसंयोग से या रजोदर्शन से। डॉ० रीड ने ४० स्त्रियों में पुरुषसंयोग के दिन से प्रसव तक के दिनों की गिनती की, तो उसको २६० से २९४ दिनों तक प्रसवकाल की अवधि में अन्तर मालूम हुआ। दूसरे डॉ० सिम्पसन ने रजोदर्शन दिन से ७८२ स्त्रियों में प्रसवकाल की अवधि निश्चित करने की कोशिश की, तो उसको ३५२ से ३२६ दिनों तक प्रसवकाल की अवधि म फक मालूम हुआ। डॉ० राशींग ने एक ही स्त्री में तीन बार प्रसवकाल की मर्यादा पहली बार २७७ दिनों की, दूसरी बार ३२५ दिनों की और तीसरी बार २८५ दिनों की। इंग्लैंड के हाउस आफ लार्डस में 'गार्डनर पीअरेज' में गर्भावस्था की अधिक से अधिक मर्यादा निश्चित की जरूरत पड़ी। उस समय सारे यूरोप के प्रसिद्ध शास्त्रज्ञ गवाही देने के लिए आये थे। उनमें से कुछ ने अधिक से अधिक मर्यादा बारह महीने की या ३८ की बतलाई। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्रसवकाल निश्चित एक मर्यादा नहीं हो सकती, प्रत्येक स्त्री में कभी कभी प्रत्येक गर्भावस्था में प्रसवकाल की भिन्न भिन्न होती है । इसलिए सुश्रुताचार्य ने कम और अधिक से अधिक प्रसवकाल की जो बतलाई है, वह आधुनिक पाश्चात्य शास्त्रज्ञों की साथ पूर्णतया मिलती है—

Moreover, prolonged gestation is a not uncommon occurance, with parturition a 320th or ever 331st day, and twelve mont gnancies are not unknown. On the other well developed children may be born as ea the 240th day. *Introduction to Sexual Phy by Marshall.*

प्रसवकाल में अनिश्चय क्यों रहता है ?—इस अनि निम्न कारण प्रधान हैं। (१) शुक्र और शोणित के काल निश्चय से मालूम न होना—यह देखा गया पुरुषसंयोग के पश्चात् तीन सप्ताह के लगभग बीजवाहिनी में सजीव रह सकते हैं। अर्थात् के दिन बीज और शुक्राणु का संयोग हो सकता या बीस रोज के बाद हो सकता है । इस समागम के दिन से गिनती करने में अधिक से बीस रोज का फर्क हो सकता है। (२) गर्भधारण पर रजोदर्शन होना—कुछ स्त्रियों में शुक्रशोणित होने के पश्चात् भी एक आध बार रजोदर्शन होता है। रजोदर्शन के दिन से गिनती करने में इस तरह ए महीने का फर्क हो सकता है । (३) आर्तवदर्शनचक्र में फर्क—साधारणतया स्त्रियों में आर्तवदर्शनचक्र का होता है और प्रसव का काल दसवें मासिक धर्म के आता है। इस दृष्टि से प्रसवकाल २८० दिन का या का माना जाता है। परन्तु आर्तवदर्शन के लिए २८ नियम सर्वत्र लागू नहीं होता । कुछ स्त्रियाँ कम और कुछ २८ से अधिक दिनों के बाद रजस्वला हैं। अर्थात् इस चक्र के अनुसार प्रसवकाल न्यूनाधिकता हो सकती है। (४) गर्भ की प्रकृति आत्माधिष्ठित होता है और आत्मा अपने पूर्व पाप अनुसार न्यूनाधिक काल तक माता के उदर में करता है। प्रत्येक आत्माधिष्ठित गर्भ के इस न्यूनाधि का परिज्ञान होना असम्भव है और इसी अज्ञान के भी प्रसवकाल में अनिश्चय उत्पन्न होता है—

It is the organic soul that presides over developement of the foetus, and fixes the

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

r its expulsion. But this intelligent soul is not machine. It has the power, for good reasns, to bring on the process of labour earlier, or ostpone it to a later period. *Esoteric Anthroology.*

इसका अभिप्राय यह है कि सब गर्भ एक काल में परिगल्भ नहीं हो सकते, प्रत्येक के लिए प्रगल्भ (Mature) ने का काल भिन्न होता है। (५) कभी कभी गर्भाधान ने के पूर्व एक आध मास अन्य कारण से आर्तवदर्शन बन्द सकता है अर्थात् इससे गर्भावस्था का काल एक आध हीने से अधिक हो सकता है। (६) गर्भाशय की पेशी की यति ठीक न होने से भी गर्भावस्था के काल में फर्क हो सकता । (७) माता पिता की आयु—चार्लस क्रे नामक शास्त्रज्ञ मत है कि माता पिता की आयु का परिणाम उनके अपत्यों गर्भावस्था के काल पर होता है। माता पिता की आयु धिक होने पर गर्भावस्था की अवधि भी अधिक होती है।) कुलज विशेषता—कुछ खानदान की स्त्रियों में गर्भावस्था काल अधिक होता है। यह विशेषता उन स्त्रियों की याओं के साथ दूसरे खानदान में भी चली जाती है। (९) या जातिविशेषता—कुछ वंशों की या जातियों की स्त्रियों सगर्भावस्था अधिक काल की होती है। (१०) विलंबित व—प्रसव का प्रारम्भ उचित समय पर होने पर भी गर्भाय की कमजोरी या अन्य कारण से प्रत्यक्ष गर्भजन्य में च चार दिन का विलम्ब हो सकता है। इन रणों से प्रसवकाल में अस्थैर्य उत्पन्न होने पर भी छ स्थैर्य भी रहता है। साधारणतया यह देखा गया है अधिकसंख्य स्त्रियों में गर्भावस्था का काल ४० सप्ताह आसपास होता है और असंख्य स्त्रियों की गर्भावस्था औसत निकालने पर वह काल २८० दिनों का होता है। छे इस अध्याय के छठे सूत्र के वक्तव्य के अन्त में प्रसवथि निश्चय करने के जो कोष्ठक दिये हैं, वे इस औसत लगणना के अनुसार दिये गये हैं। औसत गणना की र्यादा किसी विशिष्ट स्त्री में लागू नहीं हो सकती; लिए उन कोष्ठकों के अनुसार जो प्रसवतिथि मिलेगी, ससे कुछ दिन पूर्व या कुछ दिन पश्चात् प्रसव होगा। युर्वेद के अनुसार औसतकाल दस महीने का ही होता सुश्रुत में यद्यपि इस सूत्र में गर्भावस्था की अवधि १२ मास की बतलाई है, तथापि गर्भस्रावप्रतिषेधक सानुमासिक में (शारीर, अध्याय १०) दस महीने के ए ही कर्म बताया है, कम या अधिक महीनों के लिए हीं। आयुर्वेद के अन्य ग्रंथों में भी (अष्टांगहृदय शारीर २, ष्टांगसंग्रह शारीर ४, वृन्दमाधव, स्त्रीरोगाधिकार, चक्रदत्त रोगाधिकार) दस महीने का ही मासानुमासिक बताया ा है। चरक में भी दस महीने का काल अवैकारिक माना ा है—तस्मिन्नेकदिवसातिक्रान्तेऽपि नवमं माससुपादाय वकालमित्याहुरादशमान्मासात् । एतावान् प्रसवकालः । रक, शारीर ४)। वेदों में भी प्रसवकाल दस महीने का माना गया है—धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः। पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे। (अथर्ववेद ५, २५, १०-१३)। यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः। एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पताव जरायु पद्यताम्॥ (अथर्ववेद १।११।६)। इस तरह प्रसवकाल दस महीने का होने पर भी प्रसव के लिए नौवाँ और दसवाँ मास प्रशस्त या अविकारी मानने का रिवाज भारतवर्ष में है। पाश्चात्यों के समान २८० दिन पर ज्यादा जोर भारतीय शास्त्र नहीं देते हैं—नवमे दशमे वापि प्रबलैः सूतिमारुतैः। निःसार्यते बाण इव यन्त्रच्छिद्रेण सज्वरः॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति ३।८३)। प्रसवकाल की अनिश्चिति के अनेक कारण होने पर तथा व्यवहार में प्रसवकाल उतना ही अनिश्चित मिलने पर प्रसवकाल की २८० दिन की एक मर्यादा बताना या मानना अयुक्तियुक्त मालूम होता है। इससे भारतीयों की नौवें और दसवें मास की मर्यादा मानने की पद्धति अधिक व्यावहारिक है। मासगणना के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि पाश्चात्यों के समान भारतीय गर्भाधान के पूर्व आर्तवदर्शन की तिथि से गणना नहीं करते हैं, परन्तु गर्भाधान के पश्चात् होने वाले आर्तवदर्शन (जो गर्भाधान के कारण नहीं हो सका) की तिथि से करते हैं। विकारी भवति—(१) विकार उत्पन्न करने वाला होता है। यह देखा गया है कि कुक्षि में गर्भ अधिक काल तक रहने से उसका आकार और भार बढ़ता है। इसलिए उसके बाहर निकलने में अधिक समय लगता है तथा कष्ट होता है। इस प्रकार की कष्टप्रसूति गर्भ और माता दोनों को ही विकारकारी होती है—वर्षाद्विकारकारी स्यात् कुक्षौ वातेन धारितः। (अष्टांगहृदय)। विकारकारी भवेत्, विकारमवश्यं करोति। (अरुणदत्त)। (२) उचित समय के पश्चात् जो गर्भ माता के उदर में रहता है, वह विकारी (विकारयुक्त) हो जाता है—संवत्सरान्तरं च त्रयोदशादिषु मासेषु अन्तःस्थितो गर्भो विकारित्वं भजते। (इन्दु)।

मातुस्तु खलु रसवहायां नाड्यां गर्भनाभिनाडी प्रतिबद्धा, साऽस्य मातुराहाररसवीर्यमभिवहति। तेनोपस्नेहेनास्याभिवृद्धिर्भवति। असंजाताङ्गप्रत्यङ्गप्रविभाग[1]मानिषेकात् प्रभृति सर्वशरीरावयवानुसारिणीनां रसवहानां तिर्यग्गतानां धमनीनामुपस्नेहो जीवयति ॥४०॥

(गर्भ का पोषण—) माता की रसवहा नाडी में गर्भ की नाभिनाडी बँधी हुई होती है; वह नाभिनाडी माता के आहार रस वीर्य को उसको पहुँचाती है। उस उपस्नेह से गर्भ की अभिवृद्धि होती है। गर्भाधान के समय से अपरिणत अंगप्रत्यंगप्रविभागयुक्त (गर्भ) को सर्वशरीरावयवानुसारी रसवह तिर्यग्गामी धमनियों का उपस्नेह जीवन देता है ॥४०॥

वक्तव्य—इस सूत्र में गर्भाशयस्थ गर्भ का पोषण माता से कैसे होता है, इसका वर्णन किया है। पोषण की दृष्टि से गर्भावस्था के दो काल होते हैं। प्रथम काल अपरा

१ असञ्जाताङ्गप्रत्यङ्गविभागं तु गर्भं निषेकात् प्रभृति.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और नाभिनाडी बनने के पूर्व का याने प्रारम्भिक तीन महीनों का, और दूसरा इनके बनने के पश्चात् का याने अन्तिम सात महीनों का होता है। शुक्रशोणितसंयोग के पश्चात् एक सप्ताह तक गर्भ बीजवाहिनी में ही होता है। वहाँ पर सेलवृद्धि होकर उसके ऊपर पोषक और भक्षक सेलों का एक स्तर (Trophoblast) (पीछे १८वें सूत्र का वक्तव्य देखो) बनता है। इस स्तर की सेलों द्वारा गर्भ बीजवाहिनीगत उपस्वेद या उपस्नेह को ग्रहण करता है। वहाँ पर इन सेलों का भक्षक कार्य नहीं होता। गर्भाशय में प्रवेश करने पर ये सेल गर्भाशय की श्लेष्मल कला का कुछ अंश नष्ट करती हैं, जिसमें से होकर गर्भ भीतर प्रवेश करता है और पश्चात् वह छिद्र बंद हो जाता है। इस अवस्था में गर्भ के चारों ओर श्लेष्मल कला की केशिकाओं से निकला हुआ रक्त तथा रक्तरस भरा रहता है और गर्भ के उपर की पोषक सेलें उसमें से अपने लिए योग्य खाद्य द्रव्य को ग्रहण करती हैं। धीरे धीरे गर्भ के पोषक आवरण के चारों ओर की सेलों से अंकुर या अवयव (Villi) निकलने लगते हैं। इनके कारण गर्भावरण और गर्भाशय की श्लेष्मल कला के बीच में काफी अवकाश (Chorio-Decidual space) उत्पन्न होता है। इस अवकाश में गर्भाशय की रक्तवाहिनियों से रक्त का संचार होता है। इस तरह गर्भ के चारों ओर इस अवकाश में रक्त की छोटी छोटी असंख्य झीलें बन जाती हैं। प्रारम्भ में इन झीलों में केवल केशिकाओं से रक्त आया जाया करता है, परन्तु जब गर्भावरण के अंकुर शाखाप्रशाखायुक्त और लंबे हो जाते हैं, तब स्थान स्थान की धमनिकाओं और सिराओं को भी खाते हैं जिससे इन झीलों में धमनियों से रक्त आता है और सिराओं से चला जाता है। गर्भ के संपूर्ण आवरण के अंकुर इन झीलों में जो रक्त आता है, उससे गर्भ का पोषण करते हैं। यह अवस्था छः सप्ताह तक होती है। इसके बाद वास्तविक अपरा बनने का काम जब शुरू होता है, तब गर्भावरण के समस्त अंकुर सिकुड़ने लगते हैं और अन्त में पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं। केवल जिस स्थान पर अपरा (Placenta) बनती है, उसी स्थान के अंकुर बढ़ते रहते हैं और छः सप्ताह में अपरा पूर्ण बन जाती है। इसके पश्चात् गर्भ का पोषण केवल अपरा के स्थान के अंकुरों से होता है, संपूर्ण शरीर के अंकुरों से नहीं। एवं अधिक से अधिक गर्भाधान से तीन महीनों तक गर्भ का पोषण संपूर्ण आवरण के अंकुरों से होता है। उस समय तक अपरा और नाभिनाडी पूर्णतया बन जाती है। उसके पश्चात् गर्भ का पोषण केवल अपरा में होने वाले आवरणों के अंकुरों से नाभिनाडी के द्वारा होता है।

असंजाताङ्गप्रत्यङ्गप्रविभागम्—यह गर्भ का विशेषण है। यद्यपि अंग-प्रत्यंग से गर्भ के हस्तपादादि अङ्ग-प्रत्यङ्गों का बोध हो सकता है, तथापि पूर्व संदर्भ (Context) के अनुसार अंग-प्रत्यङ्गप्रविभाग से अपरा और नाभिनाडी की पूर्ण रचना समझनी चाहिए। इससे 'अपरा और नाभिनाडी जिसकी पूर्ण नहीं बनी है, ऐसे गर्भ को' यह इसका अर्थ होता है। अष्टांगसंग्रह में स्पष्ट लिखा है—ततो व्यक्तीभवदङ्गप्रत्यङ्ग-स्यास्य नाभ्यां प्रतिबद्धा नाडी, नाड्यामपरा। सर्वशरीरा... सारिणीनां रसवहानां धमनीनाम्—उपर्युक्त विवरण से ... होगा कि अपरा और नाभिनाडी बनने के समय ... के सर्वशरीर के चारों ओर माता की रसवह धमनि... जो रस आता है, उससे उसका पोषण होता है। जब ... बन जाती है, तब केवल अपरानुसारी माता की रसवा... नियों से उसका पोषण होता है। इस सूत्र का तात्पर्य ... में और स्पष्ट शब्दों में निम्न प्रकार से प्रदर्शि... सकते हैं—असंजातपरानाभिनाडीप्रविभागमानिषेकात् सर्वशरीरावयवानुसारिणीनां रसवहानां धमनीनामुपस्नेहो ... संजातापरानाभिनाडीप्रविभागमाप्रसवादपरानुसारिणीनां ... वहानां धमनीनामुपस्नेहो जीवयति ॥ मातुस्तु खलु ... नाड्यां गर्भनाभिनाडी प्रतिबद्धा—गर्भाशय को ... रसीद गर्भाशय और बीजकोष की (Uterine and o... धमनियों से मिलती है। गर्भाधान होने पर ये धमनि... मोटी और विस्तृत हो जाती हैं। इनकी शाखा-प्रशा... निकला हुआ रक्त गर्भ के चारों ओर स्थान-स्थान प... होता है और गर्भावरण के अंकुर उस रक्त में से गर्भ... पोषकरस ग्रहण करते हैं। जब अपरा बन जाती ... केवल अपरा के स्थान की शाखा-प्रशाखाएँ रहती हैं ... शाखाएँ तथा गर्भ के अंकुर सब नष्ट हो जाते हैं। इ... की नाभि से जो नाडी बनती है, वह भी अपरा में ... हो जाती है। इस तरह माता की रसवह नाडी और ... की नाभिनाडी आपस में अपरा के द्वारा मिलती है ... का रक्त दूसरे में सीधा प्रवेश नहीं करता। माता ... गर्भ के रक्त के बीच में रक्तवाहिनियों की पतली दी... गर्भ का बाह्यावरण रहता है। इन दोनों से निर्मि... इतना सूक्ष्म होता है कि रक्त में घुले हुए पदार्थ एक ... दूसरी तरफ उसमें से जा सकते हैं। जब तक गर्भ ... में होता है, तब तक पोषण श्वासप्रश्वास और मलोत्... के द्वारा ही होता है। इसलिए माता के रक्त से पो... और प्राणवायु गर्भ की ओर और गर्भ के रक्त से ... और कार्बन डायोक्साइड माता की ओर इस पर्दे में ... जाते हैं। संक्षेप में पोषण, श्वसन और मलोत्सर्जन ... के तीन कार्य हैं। इन तीन कार्यों के सिवा ... के रक्तगत विष और जीवाणुओं से गर्भ की र... तथा अपने अन्तःस्राव (Internal secre... गर्भवृद्ध्यर्थ गर्भाशय और स्तनों की वृद्धि कराना ... और दो कार्य अपरा के होते हैं (पीछे १५वें ... वक्तव्य देखो)। अपरा की उत्पत्ति और बनावट—ग... समय से गर्भाशय की अन्तःकला मोटी होने लग... चार पाँच महीने के बाद वह दसगुना मोटी हो ... उसका बाहरी भाग अधिक ठोस होता है और भीत... शय की पेशी के साथ लगा हुआ) कुछ शिथिल ... इस रचना के अनुसार अन्तःकला की निबिडस्त... tum Compactum) और बिरलस्तर (Stratum ... sum) करके दो तहें बनती हैं। बीजवाहिनी में ... हुआ गर्भ निबिडस्तर को खाकर बिरलस्तर में प्र...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गर्भ के प्रवेश से अन्तःकला के तीन हिस्से बनते हैं। जो हिस्सा गर्भ और गर्भाशयपेशी के बीच में होता है, वह मूलकला (Decidua Basalis) कहलाता है; जो गर्भ के चारों ओर (मूलकला को छोड़कर) होता है वह पिधानकला (Decidua Capsularis) कहलाता है; और जो शेष गर्भाशय के ऊपर होता है वह पतनकला (Decidua Vera) कहलाता है। गर्भावस्था के प्रारम्भिक छः सप्ताह तक गर्भ के चारों ओर पिधानकला और मूलकला में माता की रसवह धमनियों से जो रस आता है, उसको गर्भ अपने सम्पूर्ण शरीर के आवरण के अंकुरों से चूसकर बढ़ता है। इसके पश्चात् गर्भाशय की अन्तःकला की वृद्धि केवल मूलकला के स्थान पर होती रहती है, गर्भावरण के अंकुर भी वहीं पर वर्धित और शाखा-प्रशाखायुक्त होते हैं। कुछ अंकुर मूलकला में भली भाँति चिपटे रहते हैं और कुछ अंकुर केवल गर्भावरण और मूलकला के बीच में खून से भरी झीलों में निमज्जित रहते हैं। मूलकला के स्थान के अतिरिक्त गर्भावरण में जो अंकुर थे, वे धीरे धीरे सिकुड़ने लगते हैं और तीन महीने के पश्चात् गर्भ मोटा होने के कारण जब पिधानकला पतनकला से मिल जाती है, तब ये पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं और पिधानकला भी नष्ट हो जाती है। प्रारम्भ में गर्भावरण के अंकुरों में वाहिनियाँ नहीं होतीं परन्तु धीरे धीरे वह बनने लगतीं और पूर्ण प्रगल्भ अंकुर में एक छोटी सिरा और धमनी होती है। इनमें बालक का रक्त संचार करता है। माता के और बालक के रक्त में केवल एक पतला परदा होता है। संक्षेप में मूलकला और उसके सामने के गर्भावरण के अंकुरों की वृद्धि से अपरा बनती है। यह वृद्धि मोटाई और गोलाई दोनों दिशा में होती है। अपरा की एक ओर मूलकला होती है, दूसरी ओर गर्भावरण होता है; दोनों के बीच में रक्ताशय होता है, जिसमें माता की गर्भाशय की धमनियों की शाखा-प्रशाखाओं से रक्त आता है और छोटी सिराओं से चला जाता है और जिसमें गर्भावरण के अंकुर सदैव निमज्जित रहकर पोषक द्रव्य का शोषण और त्याज्य द्रव्य का उत्सर्जन करते रहते हैं। पूर्ण प्रगल्भ अपरा का व्यास ८–९ इंच होता है, मध्य में उसकी मोटाई एक इंच के लगभग होती है, परिसर पतला होता है और तोल ४०–६० तोले के लगभग रहता है। अपरा गर्भाशय की तुम्बी (Fundus) में चिपटी रहती है। गर्भ की ओर उसका जो पृष्ठ भाग होता है, वह गर्भ के अन्तरावरण (Amnion) से आच्छादित होने के कारण चिकना और मुलायम होता है और उसमें से नाभिनाडी की धमनियों और सिराओं की शाखा-प्रशाखाएँ दीख पड़ती हैं। गर्भाशय की ओर का भाग निम्नोन्नत और खुरदरा होता है। गर्भाशय में अपरा की मोटाई में छेद करने से गर्भ से गर्भाशय की ओर निम्न स्तर मिलते हैं—(१) गर्भ का अन्तरावरण। (२) बाह्यावरण (Chorian)। (३) बाह्यावरण के अंकुर और उनके बीच का अवकाश, जिसमें माता का रक्त संचार करता है। (४) गर्भाशय की अन्तःकला का हिस्सा। (५) गर्भाशय की पेशी।

नाभिनाडी—नाभिनाडी गर्भ की नाभि से अपरा के मध्य तक होती है। इसकी लम्बाई साधारणतया १८–२० इंच होती है। कभी कभी नाभिनाडी का अभाव होता है, याने नाभि सीधी अपरा से लगी रहती है। यह अवस्था प्रायः नाभिगत आन्त्रवृद्धि (Umbilical hernia) में हुआ करती है। कभी कभी यह बहुत लम्बी होती है। एक बालक में इसकी लम्बाई ६७॥ इंच मिली थी। नाडी की लम्बाई कम होने से बालक के बाहर निकलने में कठिनाई होती है, या बालक बाहर निकलते समय वह टूट जाती है या अपने साथ जबर्दस्ती से अपरा को खींच लेती है। इसमें माता और बालक को खतरा होता है। नाडी अधिक लम्बी होने से गर्भ के शरीर या गले पर उसके आवेष्टन पड़ने का डर रहता है। ये आवेष्टन अधिकतर गले के ऊपर ही होते हैं। गले के ऊपर या हाथ-पैरों के ऊपर नाडी के आवेष्टन से गर्भ की मृत्यु हो सकती है या आवेष्टित अंग की ठीक वृद्धि नहीं होती। यदि ये आवेष्टन तंग न हों तो कोई बुरा परिणाम नहीं होता। आवेष्टन लम्बी नाडी को छोटा बनाने का एक स्वाभाविक तरीका है। अधिक आवेष्टन से नाडी छोटी हो जाती है और छोटी नाडी के सब दुष्परिणाम उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार का आवेष्टन (Coiling) अनेक गर्भों में दिखाई देता है। चर्चिल नामक प्रसवचिकित्सक को १९० प्रसूतियों में से ५२ में नाडी के आवेष्टन मिले। आयुर्वेद में नाडी के कण्ठावेष्टन का उल्लेख मिलता है और यह घटना आपत्तिजनक मानी गई है और उसका कारण माता का उत्तानशयन बतलाया गया है—प्रततोत्तानशायिन्याः पुनर्गर्भस्य नाभ्याश्रया नाडी कण्ठमनुवेष्टयति। (चरक, शा० ८)। आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक में इसका कोई कारण नहीं बतलाया जाता है। नाभिनाडी में दो धमनियाँ, एक सिरा और कुछ लसदार पदार्थ (Whartonian Jelly) होता है, और इन सब के ऊपर अन्तरावरण का गिलाफ चढ़ा रहता है। नाभिनाडी में बाईं से दाईं ओर ऐंठन (Spiral twist) भी होती है। नाभिनाडीगत सिरा अपरा के रक्तावकाशों से शुद्ध रक्त गर्भ की ओर ले जाती है और धमनियाँ गर्भ से अशुद्ध रक्त अपरा की ओर ले जाती हैं।

गर्भस्थ रक्तसंवहन (Foetal circulation)—अष्टांगसंग्रह में गर्भ के रक्तसंवहन का क्रम निम्न प्रकार से वर्णन किया है—निषेकात् प्रभृति गर्भाशयोपस्नेहोपस्वेदौ वर्तनम्। ततो व्यक्तीभवदङ्गप्रत्यङ्गस्यास्य नाभ्यां प्रतिबद्धा नाडी, नाड्यामपरा, तस्यां मातृहृदयम्। ततो मातृहृदयादाहाररसो धमनीभिः स्यन्दमानोऽपरामुपैति। ततः क्रमान्नाभिम्। ततश्च स पुनर्गर्भस्य पक्वाशये स्वकायाग्निना पच्यमानः प्रसादबाहुल्याद्धातवादिपुष्टिकरः संपद्यते॥ अपरा से शुद्ध रक्त नाभिसिरा द्वारा नाभि में से होकर यकृत् में प्रवेश करता है। उसमें से कुछ रक्त सीधा सेतुसिरा (Ductus venosus) से अधरा महासिरा में प्रविष्ट होता है। बाकी रक्तप्रतिहारिणी महासिरा में प्रवेश करके समस्त यकृत् में संचार करके अधरा महासिरा में मिलता है। अधरा महासिरा का रक्त दक्षिणालिन्द में जाकर शुक्तिच्छिद्र (Foramen ovale) द्वारा सीधा वामालिन्द में से वाम-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निलय में आता है और महाधमनी के द्वारा समस्त शरीर में परन्तु विशेष करके मस्तिष्क और सिर में संचार करता है । उत्तरा महासिरा के द्वारा आया हुआ रक्त भी दक्षिणालिन्द में आता है, परन्तु वह अधरा महासिरा के रक्त से संमिश्र न होकर दक्षिणनिलय में जाकर, वहाँ से फुफ्फुसाभिगा धमनी के द्वारा फुफ्फुस में जाकर वामानिलय में फुफ्फुस सिराओं से आता है। यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिए कि रक्त फुफ्फुस में विशोधन के लिए नहीं जाता, फुफ्फुसपोषण के लिए जाता है। अधिक रक्त फुफ्फुसाभिगा धमनी से सेतुधमनी (Ductus arteriosus) द्वारा महाधमनी में प्रविष्ट होकर समस्त शरीर में परिभ्रमण करता है। इस तरह समस्त शरीर में परिभ्रमण करके उत्तरा और अधरा महासिरा द्वारा हृदय में आता है और शरीरगत रक्तपरिभ्रमण जारी रहता है। परन्तु अधोशाखा में आये हुए रक्त का कुछ हिस्सा आभ्यन्तरीय अधिश्रोणिकाधमनियों की दो शाखाओं द्वारा नाभिधमनियों में आकर अपरा में शुद्ध होने के लिए जाता है और शुद्ध हुआ रक्त नाभिसिरा द्वारा फिर गर्भ में प्रवेश करता है। इस तरह गर्भ का रक्तपरिभ्रमण होता है। गर्भस्थ रक्तसंवहन की विशेषताएँ—गर्भावस्था में फुफ्फुस बेकाम होता है, उसका कार्य अपरा करती है। सब से विशुद्ध रक्त यकृत् को मिलता है। गर्भस्थ बालक में यकृत् एक बहुत महत्त्व का अंग है । इसी में माता से जो पोषकरस आता है, उसका परिवर्तन रक्त में होता है। 'स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति' (प्रथमखण्ड पृष्ठ ७७) यह कथन गर्भ के संबंध में पूर्णतया सत्य है। इसके सिवाय जन्मोत्तर क्षीरवर्तनकाल में दूध में लोहे की कमी होने के कारण शरीर को हानि न पहुँचे, इसलिए गर्भस्थ बालक माता के आहाररस से अधिक लोह का ग्रहण करके उसको यकृत् में संचित करता है। इनके कारण गर्भ का यकृत् बहुत बड़ा होता है। जवान मनुष्य में यकृत् का भार शरीर के भार का $\frac{1}{40}$ वाँ अंश होता है । परन्तु गर्भ में वह $\frac{1}{16}$ वाँ अंश होता है। सिर और ऊर्ध्व शाखाओं को कुछ कम शुद्ध रक्त मिलता है और उदरविभाग तथा अधोशाखाओं को सब से अशुद्ध रक्त मिलता है। इसलिए अधोशाखा की धमनियों से दो धमनियाँ रक्त को शुद्ध करने के लिए अपरा की ओर जाती हैं । वही नाभिनाडी की धमनियाँ हैं। इनके सिवाय रक्तपरिभ्रमण मार्ग की कुछ रचनाविशेषताएँ भी होती हैं । (१) सेतुसिरा—इससे नाभिसिरा द्वारा आया हुआ रक्त सीधा अधरा महासिरा में जाता है । (२) सेतुधमनी—इससे दक्षिणनिलय का रक्त सीधा महाधमनी में चला जाता है। (३) शुक्तिच्छिद्र—इससे अधरा महासिरा का आया हुआ रक्त दक्षिणालिन्द से सीधा वामालिन्द में चला जाता है। (४) अधिश्रोणिका धमनियाँ—इससे गर्भ का रक्त शुद्ध होने के लिए अपरा की ओर जाता है । ये ही धमनियाँ नाभि के बाहर आने पर नाभिधमनियाँ कहलाती हैं । गर्भ का जन्म होने के दो से पाँच रोज के भीतर शुक्तिच्छिद्र के सिवाय बाकी मार्ग बंद हो जाते हैं । इस तरह माता का रक्तसंवहन स्वतन्त्र होता है, गर्भ का भी स्वतन्त्र होता है । दोनों के रक्त का [illegible] (संमिश्रण नहीं) अपरा में होता है। वहाँ माता अपने रक्त से अपरा की पतली दीवाल के द्वारा गर्भ को पोषण और प्राणवायु दान करती है और गर्भ के अशुद्ध [illegible] कार्बन डायोक्साईड और मल का प्रतिग्रहण करती [illegible] माता और गर्भ के रक्त का मिश्रण नहीं होता, इसका निर्देश 'उपस्नेह' शब्द से होता है—पूर्णसरःसलिलोपस्नेह[illegible] जाततरुकदम्बकं जीवयति तद्वत् प्राणधारणं करोति [illegible] (डल्हण)। आनिषेकात् प्रभृति—आ समन्ततो भावेन नि[illegible] मानिषेको योनौ शुक्रस्य निषेचनं तत्प्रभृति गर्भाधानं म[illegible] इत्यर्थः। (डल्हण)। तिर्यग्गतानां धमनीनाम्—नौवें [illegible] में वर्णन की हुई धमनियों का।

गर्भस्य खलु संभवतः पूर्वं शिरः संभवतीति शौनकः शिरोमूलत्वात्प्रधानेन्द्रियाणाम्[1], हृदय[illegible] कृतवीर्यो बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात्, नाभि[illegible] पाराशर्यस्ततो हि वर्धते देहो देहिनः, पाणि[illegible] मिति मार्कण्डेयस्तन्मूलत्वाच्चेष्टाया गर्भस्य, [illegible] शरीरमिति सुभूतिर्गौतमस्तन्निबद्धत्वात् सर्वा[illegible] संभवस्य ॥४१॥

प्रधान इंद्रियाँ शिरोमूल होने से शौनक ऋषि [illegible] है कि उत्पन्न होने वाले गर्भ का सब से प्रथम शिर [illegible] होता है। बुद्धि और मन का स्थान होने से हृदय ([illegible] प्रथम उत्पन्न होता है), यह कृतवीर्य का मत है। [illegible] शरीर की वृद्धि नाभि द्वारा होती है अतः नाभि (प्रथम [illegible] होती है), यह पाराशर्य का मत है। गर्भ की चेष्टाओं [illegible] होने से पाणिपाद (प्रथम उत्पन्न होते हैं), यह मा[illegible] का मत है । संपूर्ण गात्रों की उत्पत्ति वहाँ पर [illegible] होने से मध्यशरीर (धड़, अन्तराधि प्रथम उत्पन्न हो[illegible] यह सुभूति गौतम का मत है ॥४१॥

वक्तव्य—इस सूत्र में गर्भावस्था में सब से प्र[illegible] के किस अंग की उत्पत्ति होती है, इसके संबंध में [illegible] काल में जो मतमतान्तर प्रचलित थे, उनका संग्रह कि[illegible] इनके अतिरिक्त चरक में निम्न अधिक मत दिये हैं—[illegible] शयगुदमिति भद्रशौनको मारुताधिष्ठानत्वात्। इन्द्रियाणीति [illegible] वैदेहः तान्यस्य बुद्ध्यधिष्ठानानीति कृत्वा ॥ गर्भ के अंग[illegible] की उत्पत्ति के संबंध में विविध आचार्यों के इस [illegible] मतान्तर को देखकर अंधों के द्वारा हाथी के सं[illegible] प्रदर्शित किये हुए मतमतान्तर की याद आती है [illegible] आचार्यों ने न मानवी गर्भ की उत्पत्ति का अनुक्रम [illegible] करने की कोशिश की, न पिण्डब्रह्माण्ड न्याय[illegible] मनुष्येतर स्थावर जंगमों के गर्भों की या अंकु[illegible] उत्पत्ति कैसी होती है इसका निरीक्षण किया। केवल [illegible] एक अंग के एक एक कार्य को महत्त्व देकर जो जी में [illegible] सो मत प्रदर्शित किया। यहाँ अंधा शब्द का प्रयोग [illegible] प्रदर्शित करने के लिए नहीं किया गया है, वस्तु[illegible]

१ देहेन्द्रियाणाम्.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दर्शनार्थ प्रयुक्त किया है। चरक में मतप्रदर्शन के समय एक आचार्य कहते हैं—परीक्षत्वादचिंत्यमिति मारीचिः कश्यपः। इससे यह स्पष्ट होगा कि आचार्यों के ऊपर अन्धत्व का जो आरोप लगाया गया है, वह ठीक है। संभवतः—'उत्पन्न होने वाले गर्भ का' (विशेषण) अथवा 'प्रायशः, कदाचित्' (अव्यय)। प्रधानेन्द्रियाणाम्—ज्ञानेन्द्रियाणाम्। ततो हि वर्धते देहो देहिनः—नाभि के द्वारा माता का आहाररस गर्भ के शरीर में जाकर उसकी वृद्धि होती है, इसलिए।

तत्तु न सम्यक्, सर्वाण्यङ्गप्रत्यङ्गानि युगपत् संभवन्तीत्याह धन्वन्तरिर्गर्भस्य सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते वंशाङ्कुरवच्चूतफलवच्च; तद्यथा—चूतफले परिपक्वे केशरमांसास्थिमज्जानः पृथक् पृथग् दृश्यन्ते, कालप्रकर्षात्; तान्येव तरुणे नोपलभ्यन्ते, सूक्ष्मत्वात्, तेषां सूक्ष्माणां केशरादीनां कालः प्रव्यक्ततां करोति; एतेनैव वंशाङ्कुरोऽपि व्याख्यातः। एवं गर्भस्य तारुण्ये सर्वेष्वङ्गप्रत्यङ्गेषु सत्स्वपि सौक्ष्म्यादनुपलब्धिः, तान्येव कालप्रकर्षात् प्रव्यक्तानि भवन्ति ॥४२॥

(धन्वन्तरि का मत—) यह ठीक नहीं है, धन्वन्तरि कहते हैं कि सर्व अङ्ग-प्रत्यङ्ग एक साथ उत्पन्न होते हैं; वंशाङ्कुर (बाँस के अङ्कुर) या आम्रफल के समान गर्भ के (तारुण्य में) सूक्ष्म होने से वे उपलब्ध नहीं होते। अर्थात् जैसे परिपक्व आम्रफल में केशर (रेशा), मांस (गूदा), अस्थि (गुठली) और मज्जा (गुठली के बीच की गिरी) कालप्रकर्ष से पृथक् पृथक् दिखाई देते हैं, (परन्तु) वे ही अपक्व में सूक्ष्म होने से दिखाई नहीं देते, (केशरादि) इन सूक्ष्म (अंगों) को काल ही व्यक्त कर देता है। इस (आम्रफल के उदाहरण) से वंशाङ्कुर का भी वर्णन हो जाता है। इसी प्रकार गर्भ की तरुणावस्था में सर्व अङ्ग-प्रत्यङ्गों के होने पर भी सूक्ष्मता के कारण उनकी उपलब्धि नहीं होती, समय पाकर वे ही व्यक्त हो जाते हैं॥४२॥

वक्तव्य—इस सूत्र में महर्षि धन्वन्तरि जी ने गर्भवृद्धि के संबंध में जो अपना मत प्रदर्शित किया है, वह दृष्टिगत इस किसम की घटनाओं के सूक्ष्म निरीक्षण पर अधिष्ठित होने के कारण पूर्वाचार्यों के मत के समान अंध नहीं है। 'मनुष्यबीजं प्रत्यंगबीजभागसमुदायात्मकम्' होने से बीज अंकुरित होने पर प्रत्यंग बीजभाग भी अंकुरित हो जाने चाहिएँ और प्रत्यक्षतया हो भी जाते हैं। परन्तु सूक्ष्मता और स्वरूपभिन्नता के कारण कुछ अंगों की उपलब्धि या पहचान नहीं होती। अथवा जैसे कि ट्रेन (गाड़ी) में बैठे हुए कुछ लोग, जो एञ्जिन के पास होते हैं, अगाड़ी कहे जा सकते हैं और गार्ड के पास होने वाले पिछाड़ी कहे जा सकते हैं, परन्तु वास्तव में न कोई अगाड़ी है न पिछाड़ी है, गाड़ी शुरू होने पर सभी लोग एक साथ गतिमान् होते हैं और स्टेशन पर एक साथ पहुँचते हैं, वैसे ही गर्भवृद्धिरूप गाड़ी में उत्पत्ति की दृष्टि से कुछ अंग आगे और कुछ पीछे कहे जा सकते हैं, परन्तु वास्तव में न कोई आगे है न पीछे है। गर्भवृद्धि की गाड़ी गतिमान् होने पर सभी अंगों की उत्पत्ति का सूत्रपात होता है और गर्भवृद्धि पूर्ण होने पर सभी अंग गर्भावस्था में उनकी जितनी पूर्णता होनी चाहिए, उतने पूर्ण हो जाते हैं। महर्षि चरक कहते हैं—एवमस्येन्द्रियाण्यङ्गावयवाश्च यौगपद्येनाभिनिर्वर्तन्तेऽन्यत्र तेभ्यो भावेभ्यो येऽस्य जातस्योत्तरकालं जायन्ते। तद्यथा—दन्ता व्यञ्जनानि (श्मश्रुस्तनादीनि, चक्रपाणिः) शुक्ररजोव्यक्तिभावस्तथायुक्तानि चापराणि॥ (शारीर, ४)। सर्वाङ्गाभिनिर्वृत्तिर्युगपदिति धन्वन्तरिः। तदुपपन्नं, सर्वाङ्गानां तुल्यकालाभिनिर्वृत्तत्वाद् हृदयादीनाम्, सर्वाङ्गानां ह्यस्य हृदयं मूलमधिष्ठानं च केषांचिद् भावानाम्। न च तस्मात् पूर्वाभिनिर्वृत्तिरेषां, तस्माद् हृदयप्रभृतीनां सर्वाङ्गानां तुल्यकालाभिनिर्वृत्तिः, सर्वे भावा ह्यन्योन्यप्रतिबद्धाः। तस्माद्यथाभूतदर्शनं साधु॥ (शारीर, ६)। पूर्वाचार्यों ने हृदयादि अंगों को प्राधान्य या अधिष्ठान के कारण शरीरवृद्धि का मूल मानने की भूल की। एक अंग दूसरे अंग का अधिष्ठान या विशेष कार्य की दृष्टि से महत्त्व का होने पर शरीरवृद्धि का मूल नहीं हो सकता है—मूलमिव मूलतदुपघातेन सर्वाङ्गोपघातात्। अधिष्ठानमिति आश्रयः। तत्रौजःप्रभृतीनामधिष्ठानं हृदयं भवति, न च तस्मात्पूर्वाभिनिर्वृत्तिरिति न च तथाविधमूलत्वान्नाप्यधिष्ठानत्वाच्च पूर्वाभिनिर्वृत्तिर्भवति। यदि हि मूलं कारणमिति मतं स्यात् तदा कार्येभ्योऽङ्गेभ्यः प्राग् हृदयं स्यादपि, न चेहाङ्गानां हृदयं कारणं किन्तु प्रधानं, प्राधान्यं च तदुपघातेन सर्वोपघातादिति। यश्चाप्याश्रयाश्रयिभावः स चापि सहोत्पन्नत्वादेव हृदयमाश्रयि तदाश्रितौजःप्रभृतीनां भवतीति भावः। तदेवं चेद् हृदयस्य प्रधानस्यापि पूर्वोत्पादो नास्ति तदा शिरःप्रभृतीनामपि पूर्वोत्पादो नास्त्येव॥ (चक्रपाणिदत्त; चरक, शारीर ६)। संक्षेप में पूर्वाचार्यों के मतमतान्तर काल्पनिक हैं और धन्वन्तरि जी का वास्तविक है।

तत्र गर्भस्य पितृजमातृजरसजात्मजसत्त्वजसात्म्यजानि शरीरलक्षणानि व्याख्यास्यामः। गर्भस्य, केशश्मश्रुलोमास्थिनखदन्तसिरास्नायुधमनीरेतःप्रभृतीनि स्थिराणि पितृजानि, मांसशोणितमेदोमज्जहृन्नाभियकृत्प्लीहान्त्रगुदप्रभृतीनि मृदूनि मातृजानि, शरीरोपचयो बलं वर्णः स्थितिर्हानिश्च रसजानि, इन्द्रियाणि ज्ञानं विज्ञानमायुः सुखदुःखादिकं चात्मजानि, सत्त्वजान्युत्तरत्र वक्ष्यामः, वीर्यमारोग्यं बलवर्णौ मेधा च सात्म्यजानि ॥४३॥

अब गर्भोत्पत्ति में गर्भ के मातृज, पितृज, रसज, आत्मज, सत्त्वज और सात्म्यज लक्षणों का व्याख्यान करते हैं। गर्भ के केश, श्मश्रु, रोम, अस्थि, नख, दन्त, सिरा, स्नायु, धमनी, रेत इत्यादि कठिन अवयव पितृज होते हैं। मांस, रक्त, मेद, मज्जा, हृदय, नाभि, यकृत्, प्लीहा, आन्त्र, गुदा इत्यादि मृदु अवयव मातृज होते हैं। शरीर की पुष्टि, बल, वर्ण, स्वास्थ्य (स्थिति), अस्वास्थ्य (हानि) प्रभृति लक्षण रसजन्य होते हैं। इन्द्रियाँ, ज्ञान, विज्ञान, आयुर्मान, सुख, दुःख इत्यादि आत्मज हैं। सत्त्वज लक्षणों

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को आगे कहेंगे। वीर्य, आरोग्य, बल, वर्ण और मेधा सात्म्यज होते हैं ॥४३॥

वक्तव्य—केश—सिर के बाल। लोम—शरीर के बाल—तनूरूहं रोम लोम, कचः केशः शिरोरुहः। (अमरकोष)। स्नायु—शणसूत्र के समान शरीरगत दृढ शुभ्र सूत्रमय धातु (Fibrous tissue)। इसमें संधिबन्धन (Ligaments), कण्डरा (Tendors) इत्यादि अंगों का समावेश होता है। स्थितिर्हानिश्च—शरीरगत दोषधातु मलों की साम्यावस्था को स्थिति कहते हैं; पर्याय से स्थिति स्वास्थ्य का निदर्शक है। हानि इससे विपरीत अवस्था की सूचक याने अस्वास्थ्य की सूचक होती है। ज्ञानं विज्ञानम्—अध्यात्मज्ञान और भौतिक शास्त्रों का ज्ञान—मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः। (अमरकोष)। उत्तरत्र—चतुर्थ अध्याय के अन्त में ८०वें श्लोक से सत्त्व के लक्षणों का विचार किया गया है। मेधा—धीर्धारणावती मेधा। (अमरकोष)। आत्मज—मातृजादि शब्दों में 'ज' उत्पत्ति बोधक होता है। परन्तु आत्मा के बारे में यह अर्थ असम्भव है क्योंकि आत्मा निर्विकार होता है। इसलिए आत्मज से 'आत्मसन्निकर्षजन्य' समझना चाहिए।

इस सूत्र में गर्भोत्पत्ति की सामग्री के साथ उसके प्रत्येक घटक से गर्भशरीर में उत्पन्न होने वाले अंगों और भावों का वर्णन किया है। इस विषय का विशेष विवरण चरक शारीर के तीसरे अध्याय में किया गया है। इसके संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि उपर्युक्त सामग्री में से कोई भी एक या दो द्रव्य गर्भोत्पत्ति करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। सब भाव एक समय में उपस्थित होने से गर्भोत्पत्ति होती है—सर्वेभ्य एभ्यो भावेभ्यः समुदितेभ्यो गर्भोऽभिनिर्वर्तते। इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—समुदितेभ्य इति वचनात् प्रत्येकं मात्रादीनामितरकारणनिरपेक्षाणां गर्भकारणत्वं निषेधयति। इस विषय के अन्त में चरकाचार्य लिखते हैं—एवमयं नानाविधानामेषां गर्भकराणां भावानां समुदायादभिनिर्वर्तते गर्भः, यथा कूटागारं नानाद्रव्यसमुदायात्, यथा वा रथो नानारथाङ्गसमुदायात् ॥ (शारीर ३)। ऐसी अवस्था में इस सूत्र में सामग्री के प्रत्येक घटक के सामने जो भाव निर्दिष्ट किये हैं, उनके संबंध में 'व्यपदेशस्तु भूयसा' इस न्याय से यह समझना चाहिए कि अमुक भावों की उत्पत्ति में अमुक घटक प्रधान है और शेष अप्रधान हैं। अब प्रत्येक के सामने वर्णन किये हुए भावों का विचार किया जाय तो मातृज और पितृज भावों का वर्गीकरण कहाँ तक ठीक है इसके संबंध में कुछ संदेह हो जाता है। इसके संबंध में इतना कथन पर्याप्त है कि यह वर्गीकरण गुणाधार पर किया गया है—मृदूनि मातृजानि, स्थिराणि पितृजानि॥

तत्र यस्या दक्षिणे स्तने प्राक् पयोदर्शनं भवति दक्षिणाक्षिमहत्त्वं च, पूर्वं च दक्षिणं सक्थ्युत्कर्षति बाहुल्याच्च पुन्नामधेयेषु द्रव्येषु दौर्हृदमभिध्यायति स्वप्नेषु चोपलभते पद्मोत्पलकुमुदाम्रातकादीनि पुन्नामान्येव प्रसन्नमुखवर्णा च भवति तां ब्रूयात् पुत्रमियं जनयिष्यतीति, तद्विपर्यये कन्यां, यस्याः पार्श्वद्वयमुन्नतं पुरस्तान्निर्गतमुदरं प्रागभिहित... च तस्या नपुंसकमिति विद्यात्, यस्या मध्ये द्रोणीभूतमुदरं सा युग्मं प्रसूयत इति ॥४४॥

(गर्भ के स्त्रीपुंनपुंसकलक्षण—) उसमें जिसके स्तन में प्रथम दूध दिखाई दे; दक्षिण आँख भा... (चलते समय) जो दाहिने पैर को प्रथम उठाकर ... प्रारम्भ करती है; जिसका दोहद अधिकतर पुं... द्रव्यों में होता है; स्वप्न में जो पद्म, उत्पल, कुमुद, ... तक इत्यादि पुंनामक द्रव्यों को देखती है; जो प्रसन्न... वर्ण होती है उसे कहना चाहिए कि वह पुत्र को ... करेगी। इससे विपरीत हो तो (कहना चाहिए कि ... कन्या को (उत्पन्न करेगी)। जिसके दोनों पार्श्व ऊँ... पेट आगे को (मध्य में) सपाट हो और पूर्वोक्त लक्ष... उसका (गर्भ) नपुंसक समझना चाहिए। जिसका ... बीच में दबा हुआ द्रोणी के आकार का है, वह युग्म ... बच्चों) को जन्म देती है (ऐसा जानना चाहिए) ॥४४॥

वक्तव्य—दक्षिणं सक्थ्युत्कर्षति—तत्र या दक्षिणं पा...मभिसरति। (अष्टांगसंग्रह)। पद्मोत्पलकुमुद—कम... विविध प्रकार (प्रथमखण्ड पृष्ठ ७३ देखो)। वि... इसके विरुद्ध लक्षण होने पर। जैसे दक्षिण के बदले ... पुन्नाम के बदले स्त्रीनाम इत्यादि। मध्ये निम्नम्—ग... में दो बालक होने के कारण दोनों के मध्य का भा... निम्न होता है, परन्तु यह मध्यनिम्नता दृष्टिगम्य न ... स्पर्शलभ्य होती है। द्रोणीभूतम्—पानी भरने के ... लकड़ी या पत्थर का जो बड़ा पात्र बनाया जाता है ... द्रोणी कहलाता है। यहाँ पर द्रोणी से पेट के अधि... होने से अभिप्राय है। यह देखा गया है कि जब ... दो गर्भ होते हैं तब नाभि के पास उदर की परिधि (G... एक गर्भ की अपेक्षा दो से चार इंच तक अधिक हो...

इस सूत्र में गर्भलिङ्गसूचक जो लक्षण वर्णन कि... उनका गर्भलिङ्ग के साथ कार्यकारणभाव की ... (Physiologically) कोई संबंध नहीं है। इसलि... लक्षण प्रत्येक गर्भवती स्त्री में नहीं मिल सकते औ... मिल जायँ तो भी संपूर्ण गर्भावस्था में एक-से नहीं हो... अतः इनके ऊपर अधिक विश्वास नहीं किया जा स... ये लक्षण अधिकतर दौहृद की जाति के हैं, जो प्र... गर्भवती स्त्री में कभी कभी मिल सकते हैं और ... उत्पत्ति का तत्त्व दौहृदोत्पत्ति के समान (पीछे इस ... में २५वें श्लोक का वक्तव्य देखो) हो सकता है। अ... काल में भी गर्भलिङ्गनिर्णय के संबंध में कुछ विचा... गया है, परन्तु अभी तक इसमें विशेष सफलता नहीं ... हुई है। तथापि निम्न तीन नियम, जो गर्भ तथा ... शरीरपरिवर्तन पर निर्भर होते हैं, मार्गदर्शक हो स... (१) स्त्रीगर्भ की अपेक्षा पुरुषगर्भ का भार अधिक हो... यह फर्क प्रथमप्रसवा (Primiparae) स्त्री की अपे... प्रसवा (Multiparae) स्त्री में अधिक होता है। (२... गर्भ की अपेक्षा पुरुषगर्भ के हृदय की गति कुछ क...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। (३) सगर्भावस्था में स्त्री के शरीर से मूत्रद्वारा हार्मोन (Hormone, प्रणालीहीन ग्रंथियों से उत्पन्न होने वाले पदार्थ) अधिक मात्रा में उत्सर्गित होते हैं। उनकी राशि के अनुसार भी स्त्री या पुरुष का निर्णय (Hormonic diagnosis) करने की कोशिश की जाती है।

गर्भ के लिङ्गनिर्णय में जैसी कठिनाई होती है, वैसी कठिनाई युग्मनिर्णय में नहीं होती। युग्म का निदान निम्न प्रकार पद्धतियों से किया जाता है। (१) परिधिमापन—इसका उल्लेख ऊपर द्रोणीभूत की टिप्पणी में किया गया है। (२) स्पर्शन—उदरविभाग पर टटोलने से दो गर्भों के दो सिर, कभी दोनों नीचे की ओर, कभी एक नीचे और एक ऊपर, दो पीठ और शाखाओं की अधिकता प्रतीत होती है तथा दोनों के बीच में प्रणाली रहती है। इसी के उपलक्ष्य में इस सूत्र में 'मध्ये निम्नम्' शब्द प्रयोग किया गया है। (३) श्रवण—चतुर्थ मास के पश्चात् गर्भवती स्त्री के उदर पर कान लगाने से या श्रवणनलिका से गर्भहृदय के स्पन्द सुनाई देते हैं। उदर में दो गर्भ होने से दो हृदय के स्पन्द सुनाई दे सकते हैं। इसलिए यदि दो सुनने वाले माता के उदरविभाग के दो स्वतन्त्र स्थानों पर एक समय में दो स्वतन्त्र हृदयों को सुनकर उनकी स्पंदनसंख्या गिन सकें और यदि प्रत्येक हृदय की गतिसंख्या दूसरे की तथा माता के हृदय की गतिसंख्या से भिन्न हो तो युग्म का निदान हो जाता है। युग्मनिदान का यह मार्ग बहुत विश्वसनीय और सरल है। (४) क्ष-किरण (Radiography)—क्ष-किरणों के द्वारा देखने से या चित्र खींचने से भी युग्मनिदान हो जाता है। जब दोनों गर्भ दो पार्श्वों में होते हैं तब निदान में विशेष कठिनाई नहीं होती, परन्तु जब एक पीछे और दूसरा आगे की ओर होता है, तब निदान में कठिनाई हो जाती है।

भवन्ति चात्र—

देवताब्राह्मणपराः शौचाचारहिते रताः।
महागुणान् प्रसूयन्ते विपरीतास्तु निर्गुणान् ॥४५॥

देवता-ब्राह्मणपरायण, (शास्त्र) शुद्ध और हितकर आचार में रत (माता या माता-पिता) गुणवान् संतान को जन्म देते हैं और विपरीत (आचारयुक्त) गुणहीन (संतान) को (उत्पन्न करते हैं) ॥४४॥

वक्तव्य—शौचाचारहिते रताः—शौचाचारे हिताचारे च रताः। शौचाचार—धर्मशास्त्र में जो आचार बताये गये हैं, उनके अनुसार व्यवहार। हिताचार—आयुर्वेद में जो स्वास्थ्य-कर आचार बताये गये हैं, उनके अनुसार व्यवहार। महागुण और निर्गुण—गुण से यहाँ पर शारीरिक और मानसिक गुणों का बोध होता है। महागुण जीव वह है, जिसके शरीर में कोई व्यंग न हो तथा मन में कोई मानसिक दोष न हो (प्रथमखण्ड पृष्ठ ८ तथा १५० देखो)। इससे विपरीत शरीरव्यंगयुक्त और मानसिक दोषयुक्त निर्गुण होता है।

इस श्लोक में यह बताया है कि जब माता-पिता सदाचार और हिताचार के अनुसार व्यवहार रखते हैं, तब उनके संतान बीजाङ्कुरन्यायेन सब दृष्टि से गुणवान् होते हैं—यथा कर्म तथा लाभ इति शास्त्रनिदर्शनम्। (महाभारत, शान्तिपर्व)। यथा बीजं तथांकुरः। परन्तु यह नियम सन्तानोत्पत्ति के संबंध में निरपवाद नहीं है। संसार में कई बार यह देखा जाता है कि माता-पिता सच्छील, सदाचारी और गुणवान् होते हुए भी उनके सन्तान कभी शारीरिक व्यंगों से युक्त, कभी मानसिक दोषों से युक्त और कभी दोनों से युक्त दिखाई देते हैं। यदि केवल माता-पिता के गुणावगुण के ऊपर सन्तान के गुणावगुण निर्भर होते तो इस तरह का दृश्य कदापि नहीं दिखाई देता। परन्तु इसमें माता-पिता के गुणावगुण के अतिरिक्त और एक कारण होता है, जिसका निर्देश नीचे सार्ध श्लोक में करते हैं—

अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते।
अङ्गप्रत्यङ्गनिर्वृत्तौ ये भवन्ति गुणागुणाः॥
ते ते गर्भस्य विज्ञेया धर्माधर्मनिमित्तजाः॥४६॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने गर्भावक्रान्ति-
शारीरं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

अंग-प्रत्यङ्गों की निष्पत्ति स्वभाव से ही होती है। (परन्तु) अंग-प्रत्यङ्गों की निष्पत्ति में जो गुणावगुण होते हैं, वे गर्भ के (पूर्वजन्म के) धर्माधर्म के कारण समझने चाहिएँ ॥४६॥

वक्तव्य—अंगप्रत्यङ्ग—हाथ-पैर, धड़ और सिर ये छः अंग और इनके भीतरी हृदय यकृत्, प्लीहा इत्यादि अवयव प्रत्यङ्ग होते हैं। इनमें मन, बुद्धि इत्यादि मानसिक गुणों का भी समावेश होता है। निर्वृत्तिः—शुक्रशोणितसंयोग होने के पश्चात् उपर्युक्त शरीरगत संपूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्गों का सूत्रपात होना, यथाकाल और यथोचित उनकी वृद्धि होना और योग्य समय पर प्रत्येक अंग-प्रत्यंग का स्वरूप जैसा होना चाहिए, वैसा बनना इसको निर्वृत्ति कहते हैं। अंग्रेजी में इसको Growth and developement कह सकते हैं। स्वभाव—इसका विवरण पीछे प्रथम अध्याय में हो चुका है। जैसे पानी नीचे की ओर बहता है, अग्निज्वाला ऊपर की ओर उठती है इनको किसी के मार्गदर्शित्व की आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही संयुक्त शुक्रशोणित को विविध अंगों की निष्पत्ति के लिए किसी के मार्गदर्शित्व की आवश्यकता नहीं होती। गुणागुणाः—बनावट और कार्य की दृष्टि से जो अंग जैसा होना चाहिए, वैसा होना उसका गुण; इससे विपरीत अवगुण। जैसे, हृदय में चार कोष्ठ होना, कोष्ठों के कपाटयुक्त द्वार होना, गर्भावस्था में दो अलिन्दों की दीवाल में शुक्तिच्छिद्र (Foramen ovale) का होना, जन्म के पश्चात् दस दिन के भीतर उसका बन्द होना इत्यादि हृदय के गुण हैं। इससे विपरीत, जैसे शुक्तिच्छिद्र का बन्द न होना इत्यादि, अवगुण होते हैं। महास्रोत (Alimentary canal) एक बड़ा अंग जिसमें कई प्रत्यंग होते हैं। महास्रोत का मुख से गुदा तक का मार्ग अनवरुद्ध होना, सब प्रत्यंग यथास्थान होकर उनकी रचना ठीक होना ये महास्रोत के गुण हैं। ओष्ठ खण्डित होना (प्रथम खण्ड पृष्ठ ४०५ देखो) तालु में विदार (Cleft palate),

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुदनलिका का अवरोध (Imperforate anus) इत्यादि उसके अवगुण होते हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि निर्वृत्ति के अवगुणों से यहाँ पर सहज या जातज दोष (Congenital malformations. Developemental errors) अभिप्रेत हैं।

इस श्लोक का संक्षेप में तात्पर्य यह है कि मनुष्य या अन्य प्राणियों की उत्पत्ति और वृद्धि में स्वभाव सर्वदा नियमानुसार काम करता है, नियम के विरुद्ध काम उससे कदापि नहीं होता। आधुनिक काल में जो स्वभाव के अवगुण Freaks of nature कहलाते हैं, वे वास्तव में स्वभाव के नहीं होते हैं, परन्तु जिसमें ये अवगुण दिखाई देते हैं उसके पूर्वजन्म के कर्म के फल होते हैं, चाहे ये अवगुण मनुष्यों में हों या मनुष्येतर प्राणियों में हों, क्योंकि जैसे एक ही आत्मा अपने पूर्वकर्म से उच्च या नीच योनि में प्रवेश करता है, वैसे धर्माधर्म का फल भोगने के लिए अव्यङ्ग या सव्यङ्ग शरीर को पाता है।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्य-दीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां शारीरस्थाने गर्भावक्रान्ति-शारीरं नाम तृतीयोऽध्यायः ॥३॥

चतुर्थोऽध्यायः।

अथातो गर्भव्याकरणं नाम शारीरं व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब इसके बाद गर्भव्याकरण नामक शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥१॥

वक्तव्य—व्याकरणम्—विस्तार करना—व्याक्रियते विस्तरशो व्याख्यायते प्रत्येतव्योऽर्थोऽनेनेति व्याकरणम्। गर्भ-व्याकरण—पिछले अध्याय में गर्भ की उत्पत्ति और वृद्धिक्रम वर्णन किया है। इस अध्याय में गर्भ के अंगों का विस्तार से वर्णन किया गया है, इसलिए यह अध्याय गर्भव्याकरण कहलाता है।

अग्निः सोमो वायुः सत्त्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राणाः ॥२॥

(शरीर के जीवनीय तत्त्व—) पित्त, कफ, वायु, सत्त्व, रज, तम, (नेत्रादि) पाँच (ज्ञान की) इन्द्रियाँ और पुरुष ये प्राण हैं ॥२॥

वक्तव्य—अग्निः—पित्त—अग्निरेव शरीरे पित्तान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति। (चरक)। सोमः—कफ—सोम एव शरीरे श्लेष्मान्तर्गतः कुपिताकुपितः शुभाशुभानि करोति। (चरक)। भूतात्मा—अपने शुभाशुभ कर्म के कारण पंचमहाभूतात्मक शरीर में अवस्थित हुआ पुरुष, अर्थात् कर्मपुरुष—भूते भूते व्यवस्थितः आत्मा भूतात्मा। प्राणाः—जीवयन्तीति प्राणाः, प्राणनात् प्राणाः। पंचभूतात्मक जड शरीर में जीवन या चैतन्यता के लक्षण जिनके कारण उत्पन्न होते हैं, वे तत्त्व प्राण कहलाते हैं। यद्यपि वा[...] पुरुष चैतन्यता का कारण है, तथापि वह स्वयं उन [...] को उत्पन्न नहीं कर सकता, उसको कुछ कारणों की [...]श्यकता होती है—आत्माज्ञः करणैर्योगात् ज्ञानं तस्य प्र[...] करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्तते ॥ नैकः प्रवर्तते कर्तुं [...] नाश्नुते फलम्। संयोगाद्वर्तते सर्वं तमृते नास्ति किञ्चन। ([...] शारीर १)। चैतन्यता के लक्षण (Signs of life) [...] अध्याय के १८वें सूत्र में आत्मा के लिङ्ग करके दिये ग[ये] [...] आधुनिक काल में जीवन के पाँच लक्षण माने ग[ये] [...] (१) उत्तेजनशीलता (Irritability)—बाह्य उत्तेज[...] आघात से उत्तेजित होकर उसके प्रतिकार के लि[...] शरीररक्षा के लिए उचित परिवर्तन करने की [...] (२) सात्म्यीकरण (Assimilation)—खाद्य पेय पदा[र्थों] [...]सेवन करके उनको हजम करना। (३) वर्धन—दि[...] [...]त्रि शरीर की वृद्धि करना। (४) प्रजोत्पादन—[...] [स]मान जीवधारियों को जन्म देना। (५) मलोत्स[र्ग—] शरीरगत त्याज्य पदार्थों का उत्सर्ग करना। ये लक्ष[ण] [...] जीवधारियों के लिए लागू हैं। आयुर्वेदशास्त्र मनु[ष्यों] [के] लिए होने के कारण जीवन के दिये हुए लक्षण मनु[ष्य] [...] का अधिक ख्याल रखके दिये गये हैं। तथापि उन[में] [...] आधुनिक पाँचों का अर्थ निकलता है। यहाँ पर जो [...] प्राण दिये हैं, उनमें त्रिदोष सात्म्यीकरण, मलो[त्सर्ग,] वर्धन इत्यादि के द्वारा, त्रिगुण सुख-दुःखादि के द्वारा [...] में चैतन्य का प्रदर्शन करते हैं। पंचबुद्धीन्द्रियाँ [...] लब्धि के द्वारा वही कार्य करती हैं।

तस्य खल्वेवंप्रवृत्तस्य शुक्रशोणितस्याभि[...] मानस्य क्षीरस्येव सन्तानिकाः सप्त त्वचो भव[न्ति।] तासां प्रथमाऽवभासिनी नाम, या सर्ववर्णा[न्] [...]सयति पञ्चविधां च छायां प्रकाशयति, सा [...] [...]ष्टादशभागप्रमाणा सिध्मपद्मकण्टकाधिष्ठाना; [द्वि]तीया लोहिता नाम, व्रीहिषोडशभागप्रमाणा, [ति]लकालकन्यच्छव्यङ्गाधिष्ठाना; तृतीया श्वेता [...] व्रीहिद्वादशभागप्रमाणा, चर्मदलाजगल्लीम[...] [...]धिष्ठाना; चतुर्थी ताम्रा नाम व्रीहेरष्टभागप्र[माणा] विविधकिलासकुष्ठाधिष्ठाना; पञ्चमी वेदिनी [...] व्रीहिपञ्चभागप्रमाणा, कुष्ठविसर्पाधिष्ठाना; [षष्ठी] रोहिणी नाम, व्रीहिप्रमाणा, ग्रन्थ्यपच्यर्बुद[...] गलगण्डाधिष्ठाना; सप्तमी मांसधरा नाम, [व्री]हिद्वयप्रमाणा, भगन्दरविद्रध्यर्शोऽधिष्ठाना। [...] प्रमाणं निर्दिष्टं तन्मांसलेष्ववकाशेषु, न [...] सूक्ष्माङ्गुल्यादिषु; यतो वक्ष्यत्युदरेषु—व्री[हि][मुखे]नाङ्गुष्ठोदरप्रमाणमवगाढं विध्येदिति ॥३॥

(त्वचा—) इस प्रकार (भूतात्मा से अधि[ष्ठित होकर] पर) प्रवृत्त हुए और पश्चात् त्रिदोषों से पकते हुए [...]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोणित की सात त्वचाएँ बनती हैं, जैसे दूध की मलाई। उनमें प्रथम अवभासिनी नामक (त्वचा) है, जो सब वर्णों को प्रकट करती है और पाँचों प्रकार की छाया को प्रकाशित करती है। वह (त्वचा मोटाई में) व्रीहि (धान्य) के अठारहवें भाग के प्रमाण की है (और) सिध्म तथा पद्मकण्टक का अधिष्ठान होती है। दूसरी लोहिता नामक है, जो व्रीहि के सोलहवें भाग के प्रमाण की और तिलकालक, न्यच्छ और व्यङ्ग की अधिष्ठात्री है। तीसरी श्वेता नामक है, जो व्रीहि के बारहवें भाग के प्रमाण की और चर्मदल, अजगल्ली और मशक की अधिष्ठात्री है। चौथी ताम्रा नामक है, जो व्रीहि के आठवें भाग के प्रमाण की और विविध प्रकार के किलास और कुष्ठों की अधिष्ठात्री है। पाँचवीं वेदिनी नामक है, जो व्रीहि के पाँचवें भाग के प्रमाण की और कुष्ठ तथा विसर्प की अधिष्ठात्री है। छठी रोहिणी नामक है, जो व्रीहि के प्रमाण की है और जो ग्रंथि, अपची, अर्बुद, श्लीपद, गलगण्ड की अधिष्ठात्री है। सातवीं मांसधरा नामक है जो दो व्रीहि के प्रमाण की और भगन्दर, विद्रधि और अर्श की अधिष्ठात्री है। यह जो प्रमाण बताया गया है वह मांसल स्थानों का है; ललाट अंगुल्यादि सूक्ष्म स्थानों का नहीं। इसलिए उदररोग(चिकित्सा) में कहते हैं कि व्रीहिमुख शस्त्र से अँगूठे की चौड़ाई के बराबर वेधन करे ॥३॥

वक्तव्य—एवं प्रवृत्तस्य—शुक्र और शोणित का संयोग होने पर उसमें जब पुरुष प्रवेश करता है, तब आगे गर्भाभिनिवृत्ति की ओर वह प्रवृत्त होता है। इसलिए आत्मा के संयुक्त होने के पश्चात् सर्वाङ्गपरिपूर्ण गर्भ उत्पन्न करने की ओर प्रवृत्त हुए। अभिप्रपच्यमानस्य क्षीरस्येव सन्तानिकाः—अग्नि के द्वारा परिपक्व किये जाते हुए दूध के पृष्ठ भाग पर जैसे मलाई की कई तहें बनती जाती हैं और परिपक्व दूध के ऊपर इन सब तहों से मोटी मलाई बनती है वैसे ही त्रिदोषों के विशेषतया पित्त के द्वारा परिपक्व (वर्धित) होते हुए गर्भ के पृष्ठ भाग पर त्वचा की कई तहें बन जाती हैं और सर्वाङ्गपरिपूर्ण गर्भ के शरीर पर ये सब तहें मिलकर त्वचा बनती है। सप्त त्वचः—सम्पूर्ण शरीर को बाहर से आवृत करने वाला अंग त्वचा है। तस्याः षडङ्गं शरीरमवतत्य तिष्ठन्ति। (चरक)। इस अर्थ से त्वचा को Common integument कहते हैं। यहाँ पर जो सात त्वचाएँ वर्णन की गई हैं, वे सात स्वतन्त्र त्वचाएँ न होकर एक त्वचा के सात स्तर (Layers of skin) हैं। इन स्तरों का क्रम बाहर से भीतर की ओर है, अर्थात् अवभासिनी बाहर की और मांसधरा सब से भीतर की है। चरक और अष्टांगसंग्रह में छः त्वचाएं वर्णित हैं—शरीरे षट् त्वचः। (चरक, शा० ७)। तत्रासृजः पच्यमानस्य क्षीरस्येव सन्तानिकाः षट् त्वचो भवन्ति। (अष्टांगसंग्रह, शा० ५)। इनका भी क्रम बाहर से भीतर की ओर है और इस क्रम के अनुसार सुश्रुतोक्त मांसधरा स्तर को चरकाचार्य त्वचा में समाविष्ट नहीं करते हैं, ऐसा मालूम होता है। यह अनुमान इन्दु की टीका के आधार पर किया गया है—षष्ठी तु प्राणधरा। (अष्टांगसंग्रह)। षष्ठी सर्वासामन्तर्मांसलग्ना, सा प्राणानन्तर-वरुध्याऽवतत्यावतिष्ठति। (इन्दु)। यदि वास्तविक दृष्टि से विचार किया जाय तो त्वचा के छः स्तर होते हैं। इसलिए चरक का कथन ठीक है। सुश्रुत में मांसधरा त्वचा का त्वचा में जो समावेश किया गया है, उसका भी कारण है जिसका विवरण आगे किया गया है। अवभासिनी—यह त्वचा सब से बाहर की है। चरक में यही त्वचा उदकधरा बतलाई है। इसका कारण यह है कि इसके होने से शरीरगत रस तथा लसिका बाहर नहीं जा सकती और इसके छिल जाने से निकलने लगती है—तासां प्रथमा देहम् उदकं बिभर्ति येन बहिरार्द्रत्वाभावः। (इन्दु)। पञ्चविधा छाया—प्रथमखण्ड पृष्ठ १८१ देखो। सिध्म—एक प्रकार का क्षुद्र कुष्ठ। प्रथमखण्ड पृष्ठ ३४३ देखो। पद्मिनी कण्टक—एक क्षुद्र रोग। प्रथमखण्ड पृष्ठ ३९७ देखो। तिलकालकादि—ये क्षुद्र रोग हैं। प्रथमखण्ड पृष्ठ ३९७ देखो। चर्मदल—क्षुद्र कुष्ठ का एक प्रकार। अजगल्लीमशक—क्षुद्ररोग। किलास—सफेद कोढ़। प्रथमखण्ड पृष्ठ ३४४ देखो। कुष्ठ—इससे चौथी त्वचा के अधिष्ठान में त्वग्रोग (Skin diseases) और पाँचवीं त्वचा में कोढ़ (Leprosy) समझना चाहिए। ग्रन्थ्यपची इत्यादि—कुछ ग्रंथियाँ (जैसे, Sebaceous cyst प्रथमखण्ड पृष्ठ ३७७ देखो), कुछ अर्बुद (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३८० देखो) तथा श्लीपद (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३८९ देखो) ये रोग त्वचा में होते हैं, इसमें संदेह नहीं। अपची त्वचा के नीचे स्थित स्तर (Subcutaneous tissue) में होने वाली लसिका ग्रंथियों का रोग है (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३७८ देखो)। गलगण्ड—थायराइड नामक ग्रीवा मध्य स्थित ग्रंथि का यह रोग है। यह ग्रंथि त्वचा से बहुत दूर होती है। त्वचा और इस ग्रंथि के दरमियान पेशियाँ (मांस) आती हैं। अब तक प्रथम छः त्वचाओं में जिन रोगों का उल्लेख किया गया है वे सब रोग, अपची और गलगण्ड को छोड़कर, त्वचा में ही उत्पन्न होते हैं, यह बात आधुनिक पाश्चात्त्य वैद्यक के अनुसार भी सिद्ध है। यदेतत्प्रमाणं निर्दिष्टम्—प्रत्येक त्वचा का तथा सातों त्वचाओं का प्रमाण। सातों त्वचाओं की कुल मोटाई डल्हण के अनुसार ५$\frac{1}{20}$ यव होती है—व्रीहिरत्र यवः, प्रत्येकं व्रीहि-विस्तारस्य विंशतिर्भागाः परिकल्पनीयाः, ते चाष्टादशभागा अव-भासिन्याः प्रमाणम्, एवं वक्ष्यमाणेष्वपि विंशतिभागेषु षोडशप्रभृतयो भागा बोद्धव्याः॥ इस प्रकार से त्वचा की मोटाई वास्तविक मोटाई से बहुत अधिक होती है, इसलिए 'व्रीहेरष्टादश-भागप्रमाणा' इसका अर्थ डल्हण के अनुसार $\frac{18}{20}$ यव ऐसा न करके $\frac{1}{18}$ यव ऐसा किया गया है। इससे सातों स्तरों की मोटाई साढ़े तीन यव (३$\frac{30}{360}$) के लगभग होती है। यह मोटाई सब जगह एक सी नहीं होती। यहाँ पर निर्दिष्ट किया हुआ प्रमाण उच्चतम मर्यादा का है। मांसलेष्ववकाशेषु—इसके दो अर्थ हो सकते हैं। (१) जहाँ त्वचा अधिक मांसल याने स्थूल (Thick) है, ऐसे अवकाशों याने स्थानों में। यह साधारण अर्थ है। (२) मांसधरा त्वचा से आवृत अवकाशों याने रिक्त स्थानों में, जैसे कोष्ठ या उदरगुहा।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह दूसरा अर्थ यहाँ पर अभिप्रेत है, क्योंकि उसी का उदाहरण आगे दिया है। यतो वक्ष्यत्युदरेषु—चिकित्सास्थान के १४वें अध्याय के अन्त में उदरगुहागत जल निकालने के शस्त्रकर्म में। अंगुष्ठोदरप्रमाणमवगाढम्—त्वचा की मोटाई की ऊपर जो उच्चतम मर्यादा निर्दिष्ट की गई है, उसको सिद्ध करने के लिए यह उदाहरण दिया गया है। जल निकालने के लिए जहाँ पर वेध किया जाता है, वह स्थान नाभि के नीचे बाईं ओर चार अंगुल पर होता है—अधो नाभेर्वामतश्चतुरंगुलमपहाय रोमराज्या व्रीहिमुखेन इत्यादि। उस स्थान का जल तक छेद लिया जाय तो बाहर से भीतर की ओर निम्न भाग मुख्यतया मिलते हैं, त्वचा और उदरप्राचीर की पेशियाँ। त्वचा में उपत्वचा (Subcutaneous tissue) का और पेशियों में उदरकला का समावेश कर सकते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि सुश्रुत में उदरगुहा का आगे का आवरण केवल त्वचा से निर्मित माना जाता है—अंगुष्ठोदरप्रमाणमिति, एतेनैतदुक्तं भवति—सप्तानां त्वचां समुदायेनांगुष्ठोदरप्रमाणमस्ति, अंगुष्ठोदरं विंशतितमभागोनषड्यवप्रमाणम् ॥ (डल्हण)। इसका प्रत्यय सद्योव्रणचिकित्सा में मिलता है—त्वचोऽतीत्य सिरादीनि भित्त्वा वा परिहृत्य वा। कोष्ठे प्रतिष्ठितं शल्यं कुर्यादुक्तानुपद्रवान्॥ (चिकित्सा २)। यहाँ पर केवल त्वचा (त्वचः सप्त। डल्हण) पार करने से शल्य कोष्ठ में प्रवेश करता है, यह स्पष्ट लिखा है।

आधुनिक काल में प्रत्यक्षीकृत त्वचा की बनावट—सूक्ष्मदर्शक के द्वारा त्वचा का परीक्षण करने पर उसमें बाहर से भीतर की ओर निम्न स्तर मिलते हैं। (१) शार्ङ्ग या कठिन स्तर (Horny layer)—यह स्तर एपिथेलिअल सेलों की कई तहों से बनता है। इसकी सेलें सब से बाहर होने से पीडन और दबाव के कारण कठिन या सींग के समान होती है। यह अवस्था पैरों के तलुओं में, हथेलियों में, विशेषतया अंगुलियों की जड़ों के पास के घट्टों में सहज ही में दिखाई देती है। इसलिए यह स्तर शार्ङ्ग या कठिन कहलाता है। जहाँ पर अधिक पीडन होता है, वहाँ पर इसकी मोटाई काफी बढ़ती है। (२) स्वच्छ स्तर (Stratum lucidum)—इसमें स्वच्छ सेलें होती हैं। इसकी मोटाई बहुत नहीं होती। (३) कणमय स्तर (Stratum qranulosum)—इसमें कणयुक्त सेलों की दो तीन तहें होती हैं। ये सेलें चपटी और कठिन स्तर तथा माल्पीघिअन स्तर की सेलों के बीच की (संक्रमणावस्थिक Transitional) होती हैं। (४) वर्णमय स्तर (Malpighian layer)—यह स्तर कई सेलों की तहों से बनता है। ऊपर के स्तर इस स्तर की सेलों से बनते हैं। सब से ऊपर के स्तर की सेलों का नाश होने पर उनके स्थान पर नीचे की सेलें चली जाती हैं। नीचे से ऊपर की ओर बढ़ते समय सेलों में इस प्रकार का परिवर्तन होता है कि वे कठिन हो जाया करती हैं। ये चारों स्तर मिलकर बाह्य त्वक् (Epidermis) बनती है। वर्णयुक्त लोगों की त्वचा में वर्णक या रंग द्रव्य होता है, जिसके कारण वे काले या पीले या साँवले दिखाई देते हैं। वर्णक की अधिक राशि माल्पीघिअन स्तर में होती है और उत्तरोत्तर कम होती जाती है परन्तु सब से बाहर के कठिन स्तर में भी रंगद्रव्य है और उसमें रंगद्रव्य की न्यूनाधिकता के कारण का वर्ण गोरा या साँवला या काला दिखाई देता है। द्रव्य के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि उत्पत्ति चौथे स्तर की सेलों में होती है, और वहाँ से के साथ सब से ऊपर के स्तर में चलती हैं। इस स्थान में उनमें कुछ परिवर्तन भी होता है। जिससे ये कठिन हैं तथा उनकी रंगद्रव्य की राशि कम हो जाती है। स्तर में रंगद्रव्य अधिक होने से त्वचा का वर्ण अधिक होगा और कम होने से फीका होगा। परन्तु वर्ण का जो ज्ञान होता है, वह सब से बाहर के स्तर के होता है। बाह्य त्वचा के इन चार स्तरों में रक्तवाहि नहीं होतीं। इनका पोषण लसिका द्वारा होता है। ना के अग्र (Nerve fibrils) वर्णमय स्तर की सेलों के बी फैले हुए रहते हैं। (५) अंकुरमय स्तर (Papillary lay इस स्तर में नन्हे नन्हे अंकुर या कंगूरे (Papillae) हो ये अंकुर तान्तव धातु, रक्तवाहिनियाँ, स्पर्शपिण्ड tile corpuscles) और नाडियों के अग्रों से बनते हैं। लियों और तलुओं में ये अंकुर मोटे, अधिक संख्या एक लकीर में होते हैं। इनके कारण समान्तर मुण्ड जाती हैं। इनके ऊपर ऊपर के स्तर ढले रहते हैं, कारण बाह्य त्वक् में भी मुण्डरें उत्पन्न होती हैं। अं के शंखचक्रादि चिह्न इन्हीं के कारण उत्पन्न होते हैं। कल यह बात सिद्ध हो गई है कि एक मनुष्य के ह दूसरे मनुष्य के हस्ताक्षरों से मिल सकते हैं, परन्तु लियों के छाप नहीं मिल सकते। अतः मनुष्यों की करने में इनसे बड़ी सहायता मिलती है। (६) जालि (Reticular layer)—इस स्तर में जालि के समान फैले रहते हैं। इसमें रोमकूप, स्वेदग्रंथि, तैलग्रं कुछ मांसतन्तु भी होते हैं। ये मांसतन्तु रोम संबंधित होते हैं। इनके सिवाय वृषण, शिश्न और त्वचा में भी मांसतन्तु होते हैं। इस स्तर के नीचे उ होती है और उसी में मेद, रक्तवाहिनियाँ और ल वाहिनियाँ अवस्थित होकर ऊपर के स्तरों को पोषित हैं। अंकुरमय और जालिमय स्तर मिलकर अन्त (Dermis) होती है। इसकी मोटाई ऊपर के चार (बहिस्त्वक्) की अपेक्षा बहुत अधिक होती है।

और अर्वाचीन स्तरों का संबंध—जैसे जब दो लेखक वस्तु का वर्णन करते हैं, तब उस वर्णन में कुछ भिन्न पर भी कुछ समता या साम्य स्थल होना अनिवार्य है। वैसे ही दो लेखकों के द्वारा यहाँ पर वर्णित विवरण में कुछ भिन्नता होने पर भी कुछ समता अनिवार्य है। भिन्नता दृष्टिभिन्नता और साधनभि कारण और एकता वस्तु-ऐक्य के कारण होती है। प्राचीन और अर्वाचीन वर्णन में कहाँ तक भिन्नता है, कहाँ तक एकता है इसका विचार किया जायगा। चरक और वाग्भट के अनुसार त्वचा के छः और सु अनुसार सात स्तर होते हैं। आधुनिक सूक्ष्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुसार त्वचा के छः स्तर होते हैं। इसलिए संख्या की दृष्टि से चरक का मत ग्राह्य समझना चाहिए। सुश्रुत ने जो मांसधरा नामक स्तर वर्णन किया है, वह स्तर चरक और वाग्भट ने नहीं दिया है अर्थात् यही स्तर त्वचा के बाहर का मालूम होता है और उसके निम्न कारण हैं। (१) इसके नाम से यह स्तर मांसमय याने पेशीमय (Muscular) मालूम होता है। (२) जो उदाहरण दिया है, उसका विश्लेषण करने पर यही बात स्पष्ट होती है। (३) मांसधरा त्वचा की मोटाई बहुत अधिक है। इतनी अधिक मोटाई त्वचा के किसी भी स्तर की नहीं हो सकती। (४) इस स्तर में जिन रोगों का अधिष्ठान बताया गया है, वे रोग आयुर्वेद में मांसजन्य बतलाये गये हैं—प्रकुपिता दोषाः०—प्रदूष्य गुदवलीमांसप्ररोहाञ्जनयन्ति। (सुश्रुत, नि० २)। वायुः प्रकुपितो गुदमभितोऽङ्गुले द्वयङ्गुले वा मांसशोणिते प्रदूष्य पिडकां जनयति। (भगन्दरनिदान ४)। ये दोनों रोग यद्यपि मांस में नहीं होते तथापि त्वचा में भी नहीं होते और मांसल स्तर के साथ घनिष्ठ संबंध रखते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। संक्षेप में मांसधरा स्तर त्वचा के बाहर का है और एक विशेष उद्देश्य से (उदरवेधन की दृष्टि से) उसका समावेश सुश्रुत में त्वचा के स्तरों में किया गया है। स्तरों का समन्वय—प्राचीन और अर्वाचीन वर्णन के अनुसार जब स्तरों की संख्या समान हो चुकी है तथा क्रम भी एक है, तब क्रम के अनुसार एक स्तर दूसरे का पर्याय मानने में कोई खास आपत्ति नहीं हो सकती। तथापि यही कार्य प्राचीन स्तरों के लक्षणों की तुलना अर्वाचीन स्तरों के साथ करके किया जाता है। पाँचवीं त्वचा का नाम वेदिनी है। संवेदना का कार्य इस त्वचा से अधिक होने के कारण इसका यह नाम रक्खा गया होगा। आधुनिक खोज के अनुसार स्पर्शपिण्ड तथा नाडियों के अग्र अंकुरमय स्तर में होने के कारण संवेदना का कार्य इसी स्तर से होता है। दग्ध में जब इसके ऊपर के सब स्तर जल जाते हैं और इसको भी कुछ हानि पहुँचती है (तीसरी अवस्था का दग्ध, प्रथमखण्ड पृष्ठ ६९ देखो), तब अत्यन्त तीव्र स्वरूप की वेदना होती है। इस स्तर में होने वाले जो रोग बताये गये हैं, वे भी इसी स्तर में होते हैं। कुष्ठ के संबंध में लिखा है—

In the earliest skin lesions infiltration of the papillery layer of the corium produces erythematous patches, etc. *Tropical medicine by Rogers and Megaw.*

विसर्प के संबंध में लिखा है—microscopic examination of the skin of the affected part shows that the cutis and subcutaneous tissues are swollen, etc. *Taylor's Practice of medicine.*

इससे यह स्पष्ट होगा कि वेदिनी त्वचा को Papillary layer का पर्याय मानने में कोई आपत्ति नहीं है। रोहिणी त्वचा वेदिनी के नीचे होने के कारण उसको Reticular layer समझ सकते हैं। इसमें रक्त की अधिकता के कारण (गूढाः समस्थिताः स्निग्धा रोहिण्यः शुद्धशोणितम्) तथा त्वचा छिल जाने पर या जल जाने पर इसी स्तर से रोहित या रोपित होने के कारण इसका रोहिणी नाम सार्थ है। इसी स्तर में उपत्वचा (Subcutaneous tissue) का भी समावेश करना चाहिए। चौथा स्तर ताम्रा का है। इसमें श्वेतकुष्ठ का अधिष्ठान बताया गया है। श्वेतकुष्ठ तब होता है, जब त्वचागत रंगद्रव्य की उत्पत्ति बंद हो जाती है (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३४४ देखो)। इस रंग का मुख्य स्थान वर्णमय स्तर है। इसलिए ताम्रा स्तर Malpighian layer का पर्याय माना जा सकता है। प्रथम त्वचा अवभासिनी नामक है। इसी से मनुष्य के वर्ण का ज्ञान होता है। यद्यपि रंगद्रव्य सब से अधिक माल्पीघिअन स्तर में होता है तथापि तद्गत रंगद्रव्य का प्रत्यक्ष उसके ऊपर के स्तर अपारदर्शक होने के कारण नहीं हो सकता। सब से बाहर की त्वचा में रंगद्रव्य की जो कुछ भी राशि होती है, उसी से मनुष्य के वर्ण का ज्ञान होता है। इसके सिवाय उदकधरण का उसका जो धर्म वर्णन किया है, वह भी उसकी कठिनता के कारण स्पष्ट होता है। इसलिए अवभासिनी से Horney layer समझना चाहिए। बाकी स्तर बाकी के पर्याय समझने चाहिएँ; जैसे—लोहिता Stratum lucidum का, और श्वेता Stratum granulosum का। अब भिन्नता जो मालूम होती है, वह प्रत्येक स्तर की मोटाई में है। वास्तव में अवभासिनी की मोटाई नीचे के तीनों स्तरों की संयुक्त मोटाई से अधिक होनी चाहिए, परन्तु यहाँ पर वह सब से कम बतलाई है। मोटाई का यह प्रश्न अगर छोड़ दिया जाय तो त्वचा की प्राचीन सूक्ष्म रचना आधुनिक प्रत्यक्ष सूक्ष्म रचना के साथ बहुत कुछ मिलती जुलती है।

त्वचा के प्राचीन और अर्वाचीन स्तरों का तुलनात्मक कोष्टक

१ अवभासिनी	Horney layer	बाह्य त्वचा Epidermis
२ लोहिता	Stratum lucidum	
३ श्वेता	Stratum granulosum	
४ ताम्रा	Malpighian layer	
५ वेदिनी	Papillary layer	अन्तस्त्वचा Dermis
६ रोहिणी	Reticular layer	
७ मांसधरा	Subcutaneous tissue and muscles.	

कविराज गणनाथ सेन जी त्वचा के स्तरों के संबंध में प्रत्यक्षशारीर में दो स्थानों में दो मत प्रदर्शित करते हैं—प्राञ्चस्तु सूक्ष्मदृष्ट्या क्षीरस्यैव सन्तानिकाः सप्त षड्वा त्वचो मन्यन्ते। तासु प्रथमा अवभासिनी नाम, तस्या बाह्यत्वग्भागेनाऽभेदः। अपरासान्तु अन्तस्त्वग्भागेऽनुप्रवेशः॥ (प्रत्यक्षशारीरप्रस्तावना)। इसका मतलब यह है कि प्राचीन अवभासिनी स्तर में आधुनिक चार स्तर समाविष्ट होते हैं और शेष पाँच प्राचीन स्तर आधुनिक शेष दो स्तरों में समाविष्ट होते हैं। फिर प्रत्यक्षशारीर के तीसरे विभाग के इन्द्रिय वर्णन में लिखते हैं—प्राचां मतेन तु अन्तस्त्वचः (स्वक्शय्यासहिताया:) पंचधा षोढा वा विभागः। तत्र सुश्रुतमते या लोहिता नाम (चरकमतेऽसृग्धरा), सैव अंकुरिणीति सुवचम्। या तु सुश्रुतस्य पंचमी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वेदिनी नाम सैव चरकस्य षष्ठी (यस्यां छिन्नायां ताम्यति, अध इव तमः प्रविशति), वाग्भटस्य च प्राणधरा। सेयं जालिन्या, त्वक्शय्याया वा, अभिन्ना प्रतिभाति, नाडीप्रतानानां स्पर्शाण्डिकादिसहितानां तत्रैव बाहुल्यदर्शनात्। या तु सुश्रुतस्य मांसधरा, साऽपि त्वक्शय्यांश एव, रोममूलल्नानामन्यविधानां वा मांसतन्तूनां तत्र सद्भावात्। अपरासां प्राचीनविभागोक्तानां त्वचां दृष्टसामञ्जस्येन व्याख्यानन्तु दुःशकमेव, चरकसुश्रुतादिषु तत्स्वरूपवर्णनाभावात्॥ इसका अभिप्राय यह है कि सुश्रुत की लोहिता त्वचा, जो चरक की असृग्धरा त्वचा के बराबर है, आधुनिक अंकुरमय स्तर (Papillary layer) की प्रतिनिधि है और सुश्रुत की वेदिनी जालिमय (Reticular) स्तर की प्रतिनिधि है। बाकी स्तरों का वर्णन सूक्ष्म न होने के कारण ठीक निश्चित नहीं किया जा सकता। इस तरह संपूर्ण शरीर को ढाँकने वाली बाह्य त्वचा का वर्णन करके अब शरीरान्तर्गत विविध अंगों को ढाँकने वाली या उनको एक दूसरे से पृथक् करने वाली आभ्यन्तरीय त्वचाओं (कलाओं) का वर्णन करते हैं—

कलाः खल्वपि सप्त संभवन्ति धात्वाशयान्तरमर्यादाः ॥४॥

भवतश्चात्र—

यथा हि सारः काष्ठेषु छिद्यमानेषु दृश्यते।
तथा धातुर्हि मांसेषु छिद्यमानेषु दृश्यते ॥५॥
स्नायुभिश्च प्रतिच्छन्नान् सन्ततांश्च जरायुणा।
श्लेष्मणा वेष्टितांश्चापि कलाभागांस्तु तान् विदुः ॥६॥

(कलासंख्या और स्वरूप—) धातुओं के अवस्थान प्रदेशों के दरमियान मर्यादाभूत कलाएँ भी सात ही होती हैं ॥४॥ जैसे काष्ठ को छिलने से सार भाग दिखाई देता है, वैसे ही मांस (आवश्यक पदार्थ) को छिलकर निकालने से धातु दिखाई देती है ॥५॥ (आचार्य) इन कलाभागों को स्नायु (तन्तुओं) से प्रतिछित, जरायु (सदृश आवरण) से व्याप्त और श्लेष्मा से निर्मित समझते हैं ॥६॥

वक्तव्य—चौथे सूत्र में कलाओं की संख्या और व्याख्या वर्णन की है। पाँचवें श्लोक में कलाओं की विशेषतया रक्तधरा कला की अन्तर्निगूढता बतलाई है। छठे श्लोक में कलाओं का स्वरूप वर्णन किया गया है। खलु—यह अव्यय निश्चयार्थ या नियमार्थ प्रयुक्त हुआ है। इसके प्रयोग से यह अर्थ निकलता है कि त्वचाओं की संख्या सात है इसलिए कलाओं की संख्या सात नहीं बतलाई गई है, परन्तु वास्तव में ही उनकी संख्या सात है, न इससे कम है न अधिक है। कलाओं के नाम देखकर उनमें मूत्रधरा कला नहीं है, मज्जाधरा कला नहीं है इत्यादि शङ्का उत्पन्न हो सकती है। इसके निराकरण के लिए 'खलु' शब्द प्रयुक्त हुआ है। धात्वाशयान्तरमर्यादाः—दधतीति धातवो रसरक्तमांसादयः, कफपित्तपुरीषाण्यपि प्राकृतानि स्वकर्मणा दधतीति तेषामाशया अवस्थानप्रदेशा धात्वाशयाः, तेषामन्तरेषु सीमाभूता इत्यर्थः॥ (डल्हण)। अष्टांगसंग्रहटीकाकार धातु और आशय पृथक् पृथक् मानते हैं—धातूनां रक्तादीनां आशया यानि स्रोतांसि तेषां द्वयोर्धात्वाशययोर्मध्ये इत्यादि॥ (इन्दु)। इस तरह यद्यपि अर्थ करने में भिन्नता मालूम होती है तथापि कला की व्याख्या में विशेष फर्क नहीं होता। दोनों का मतलब यह है कि शरीर के धातुओं में या आशयों में पृथक्त्व या विभाग करने वाला शरीरस्थ एक उपांग है। तथा धातुर्हि मांसेषु—यहाँ पर धातु से रक्तधातु का बोध होता है—वृक्षात् प्रहतात् क्षीरिणः क्षीरमावहेत्। मांसादेवं क्षतात् क्षिप्रं रक्तं संप्रसिच्यते॥ तथापि उससे सब धातु अभिप्रेत हैं। मांस—यद्यपि मांस का बोध होता है तथापि वह काष्ठ का प्रतिनिधि होने से उससे आवरण का अर्थ अभिप्रेत है यानि पर्याय से कला के लिए प्रयुक्त हुआ है। संक्षेप में इसका तात्पर्य यह है कि जैसे वृक्ष का सार याने धारक पदार्थ देखने के लिए ऊपर का काष्ठ या आवरण निकालना पड़ता है और निकालने के बाद उसका दर्शन होता है वैसे ही शरीर के धारक पोषक पदार्थों को देखने के लिए ऊपर का आवरण निकालना पड़ता है और निकालने के बाद उनका दर्शन होता है। अर्थात् शरीर के सभी धातुओं के ऊपर आवरण होता है और यही आवरण कला कहलाता है। स्नायुभिश्च इत्यादि—इस श्लोक में प्रतिच्छन्न, सन्तत, वेष्टित ये जो तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं, वे पृथक् होने पर भी एक ही अर्थ प्रदर्शित करते हैं और वह है निर्मित। कलारूप जो आवरण हैं वे स्नायुओं से, जरायुसदृश आवरण से या श्लेष्मा से निर्मित हैं याने स्नायु, जरायु और श्लेष्मा ये कला के उपादान कारण हैं। परन्तु यह कोई आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक कला में तीनों उपस्थित हों। कोई श्लेष्मा से, कोई स्नायुओं से, कोई जरायु से और कोई इनके मिश्रण से निर्मित होती है। आधुनिक परिभाषा के अनुसार स्नायुप्रतिच्छन्न को Fi[brous], जरायुसंतत को Serous और श्लेष्मा से वेष्टित को Mucous कह सकते हैं। संक्षेप में शरीर में जो कलाएँ होती हैं, उनका स्वरूप स्नायवीय, जरायुज और श्लेष्मल होता है। विदुः—आचार्या इत्यध्याहार्यम्।

अब इसके बाद सात कलाओं के नाम तथा कर्म बतलाये जाते हैं—

तासां प्रथमा मांसधरा नाम; यस्यां सिरास्नायुधमनीस्रोतसां प्रताना भवन्ति ॥७॥

भवति चात्र—

यथा बिसमृणालानि विवर्धन्ते समन्ततः।
भूमौ पङ्कोदकस्थानि तथा मांसे सिरादयः ॥८॥

(मांसधरा कला—) इन कलाओं में प्रथमा मांसधरा नामक कला है, जिस मांसधरा के मांस में सिरा...

१ भवन्ति. २ भवन्ति चात्र. ३ अस्याग्रे—'धात्वाशयान्तरेऽन्नस्य यः क्लेदस्त्वधितिष्ठति। देहोष्मणा विपक्वस्तु सा कलेत्यभिधीयते' इति क्वचिदधिकः पाठः.

१ मांसगतानां.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धमनी स्रोतसों की शाखा-प्रशाखाएँ होती हैं ॥७॥ यहाँ पर श्लोक है—जैसे, कीचड़ युक्त जल में स्थित कमलनाल के तन्तु भूमि में (अधिष्ठान करके कीचड़ में) चारों ओर फैलते हैं, वैसे ही (मांसधरा कला का आधार करके तद्गत) मांस में सिरादि फैलते हैं ॥८॥

वक्तव्य—यस्यां मांसे—यस्यां कलायामधिष्ठिते मांसे सिरादीनां प्रताना विस्तारा भवन्ति । (डल्हण)। भूमौ—भूम्यामिवाधिष्ठाय । (इन्दु)। यथा इत्यादि—सातवें सूत्र का अर्थ बिसमृणाल के दृष्टान्त से स्पष्ट किया गया है—यहाँ पर बिसमृणाल सिरा प्रतानों के लिए, पङ्कोदक मांस के लिए और भूमि मांसधरा कला के लिए हैं। तथा मांसे सिरादयः—इसका अर्थ 'यस्यां मांसे' के समान है। डल्हणाचार्य लिखते हैं—तथा प्रथमकलायां मांसस्थाः सिरादयो भवन्ति। इसका अर्थ 'मांसस्थ सिरादि मांसधरा में फैलते हैं' ऐसा हो सकता है। परन्तु यह अर्थ पूर्व अर्थ का विरोधी है। (हाराणचंद्र)। 'यस्यां मांसे' के स्थान में 'यस्यां मांसगतानाम्' ऐसा पाठ देते हैं। इस पाठ का अर्थ यह होता है कि सिरादि के प्रतान मांसधरा कला में होते हैं। परन्तु कला अल्प होने से तथा 'यथा हि सारः काष्ठेषु' इस दृष्टान्त से सिरादि का विस्तार कला की अपेक्षा तदधिष्ठित मांस में होना उचित मालूम पड़ता है और प्रत्यक्षतया भी स्थिति वैसी ही है, इसलिए यह अर्थ ठीक नहीं है।

द्वितीया रक्तधरा नाम मांसस्याभ्यन्तरतः, तस्यां शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्प्लीह्नोश्च भवति ॥९॥

भवति चात्र—

वृक्षाद्यथाभिप्रहतात् क्षीरिणः क्षीरमावहेत् ।
मांसादेवं क्षतात् क्षिप्रं शोणितं संप्रसिच्यते ॥१०॥

(रक्तधरा कला—) दूसरी रक्तधरा नामक है, वह मांस के भीतर होती है; उसमें विशेषतया सिराओं में, और यकृत् तथा प्लीहा में रक्त होता है ॥९॥ यहाँ पर श्लोक है—जैसे, दूधवाले वृक्ष को प्रहार करने से दूध निकलता है, वैसे ही (मांस पर) क्षत करने से मांस से तुरन्त रक्त निकलता है ॥१०॥

वक्तव्य—मांसस्याभ्यन्तरतः—मांस में जो रक्त रहता है वह मांसधरा कला में रहता है। शरीर में रक्त का परिभ्रमण बंद नालियों में से होता है। ये नालियाँ तीन प्रकार की हैं—१ धमनी (Artery), २ सिरा (Vein), और ३ स्रोतस केशिका (Capillary)। मांस तक रक्त धमनी द्वारा आता है, मांस से रक्त सिरा द्वारा चला जाता है और मांस के तन्तु तन्तुओं में रक्त केशिकाओं द्वारा फैलता है। अर्थात् मांस के भीतर जो रक्त होता है, उसका आधार केशिकाएँ होती हैं। विशेषतश्च इत्यादि—विशेष स्थानों में सिरा, यकृत् और प्लीहा तीनों का उल्लेख किया है—विशेषतश्च सिराप्लीहयकृत्सु। (अष्टांगसंग्रह)। सिरा से यहाँ पर रक्तवह नालियाँ याने धमनी और सिरा अभिप्रेत है। यकृत्प्लीह्नोश्च—इन दो अंगों का विशेष उल्लेख करने का एक कारण रक्तोत्पत्ति के साथ उनका संबंध (प्रथमखण्ड पृष्ठ ७७ देखो) है। इसका विचार आगे कला के अर्थ के संबंध में किया जायगा। दूसरा कारण यह है कि शरीर के अन्य अंगों की अपेक्षा इन अंगों में रक्त की अधिक राशि रहती है, याने ये अंग रक्त के भाण्डार होते हैं—

The spleen acts as a store house of blood. The power of acting as a store house of blood is probably shared by a number of abdominal organs, *e.g.* The intestine and liver. *Halliburton's Physiology.*

इन अंगों में रक्त केवल केशिकाओं में नहीं, बड़े बड़े शोणितावकाशों (Sinusoias) में रहता है। क्षीरिणः—क्षीरी वृक्ष वे हैं जिनके ऊपर आघात या क्षत करने से दूध के समान सफेद रस बहने लगता है; जैसे—गूलर, वट इत्यादि। प्रत्येक वृक्ष के ऊपर क्षत करने से उससे रस निकलता है, परन्तु वह पानी के समान होने से उसकी ओर जल्दी ध्यान आकर्षित नहीं होता। क्षीरी वृक्ष पर जरा सा क्षत करने से उससे सफेद रस बहने लगता है, जिससे उसकी ओर अधिक ध्यान आकर्षित होता है और इसलिए क्षीरी वृक्ष का दृष्टान्त दिया है। क्षतात्—रक्तधरा कला में क्षत करने से या होने से, रक्तधरा कला विदीर्ण होने से।

तृतीया मेदोधरा नाम; मेदो हि सर्वभूतानामुदरस्थमण्वस्थिषु च, महत्सु च मज्जा भवति ॥११॥

भवति चात्र—

स्थूलास्थिषु विशेषेण मज्जा त्वभ्यन्तराश्रितः ।
अथेतरेषु सर्वेषु सरक्तं मेद उच्यते ।
शुद्धमांसस्य यः स्नेहः सा वसा परिकीर्तिता ॥१२॥

(मेदोधरा कला—) तीसरी मेदोधरा नामक कला है; मेद सब प्राणियों के उदर में तथा छोटी हड्डियों में होता है; और बड़ी हड्डियों में मज्जा होती है ॥११॥ यहाँ पर श्लोक है—विशेष करके बड़ी हड्डियों के मध्य का आश्रय करके मज्जा होती है और इतर (छोटी) सब हड्डियों में (जो मेद होता है, वह) सरक्त मेद कहलाता है। शुद्ध मांस का जो स्नेह होता है, वह वसा कहलाता है ॥१२॥

वक्तव्य—उदरस्थम्—मनुष्यशरीर में चरबी का न्यूनाधिक संचय हमेशा रहता है। जब मनुष्य स्थूल होने लगता है, तब यही संचय अधिक होता है। यद्यपि स्थूल मनुष्य के प्रत्येक अंग में चरबी अधिक इकट्ठा होती है, तथापि उसकी अधिक राशि उदर, चूतड़ और स्तनप्रदेश में होती है—मेदोमांसातिवृद्धत्वाच्चलस्फिगुदरस्तनः । अयथोपचयोत्साहो नरोऽतिस्थूल उच्यते ॥ (चरक, सू०)। सर्व शरीर में यह संचय अधिकतर त्वचा के नीचे की धातु

१ स्रवति. २ क्षीरमास्रवेद्. ३ प्रतिरिच्यते.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(Subcutaneous tissue) में होता है। उदर में इस स्थान के अतिरिक्त उदरगुहा में उदरावरण के (Peritoneum) एक हिस्से में भी चरबी इकट्ठा होती है। यह हिस्सा वपा (चरबी) का वहन करने के कारण वपावहन (Omentum) कहलाता है—पञ्चदश कोष्ठाङ्गानि—क्षुद्रान्त्रं च स्थूलान्त्रं च, वपावहनं चेति। (चरक, शा० ७)। वपावहनं मेदःस्थानं तैलवर्तिका। (चक्रपाणिदत्त)। इस तरह उदर में चरबी का सब से अधिक संचय होने के कारण उदर का उल्लेख यहाँ किया गया है। मेद, मज्जा और वसा—बारहवें श्लोक में इनका आपस में भेद प्रदर्शित किया है। मनुष्यशरीर में स्नेह (चरबी) मज्जा में (Bone marrow), त्वचा के नीचे, मांस में और उदर के भीतर वपावहन में उपस्थित रहता है। मज्जा के दो भेद होते हैं—एक पीत मज्जा और दूसरी रक्त मज्जा। आयुर्वेद में शरीरगत स्नेह (चरबी) के लिए मज्जा, वसा, मेद और रक्तमेद इस तरह चार शब्द प्रयुक्त होते हैं। बड़ी हड्डियों में मज्जा होती है, यह मज्जा पीली होती है, इसलिए मज्जा को Yellow marrow कहना चाहिए। छोटी हड्डियों में लाल मज्जा होती है, इसलिए सरक्त मेद से Red marrow समझना चाहिए। शुद्ध मांस अर्थात् केवल मांस का जो स्नेह है वह वसा है, इसलिए वसा से Fat content of the flesh समझना चाहिए। अब मेद जो रहा है, उससे वपावहन और त्वचा के नीचे की चरबी समझ सकते हैं। रासायनिक दृष्टि से विचार किया जाय तो मेद और वसा शुद्ध चरबी के रूप में होते हैं, पीली मज्जा में चरबी का प्रमाण बहुत होता है और सरक्त मेद या लाल मज्जा में चरबी बहुत कम होती है। आयुर्वेद में चतुर्विध स्नेह होता है—सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहोऽभ्युक्तश्चतुर्विधः। इसमें मेद का उल्लेख नहीं है, अतः उसका समावेश वसा में किया जाता है। यहाँ पर उदरस्थ मेद के साथ छोटी हड्डियों के भीतर के मेद का जो संबंध जोड़ दिया है वह वस्तुतः ठीक नहीं है। उदर का मेद शुद्ध चरबी है और छोटी हड्डियों की रक्तमज्जा में चरबी अस्यल्प होती है और उसमें रक्त के लाल कण जिनसे उत्पन्न होते हैं वे सेल (Erythroblasts) होते हैं, और इन्हीं के कारण उसमें रक्तिमा आ जाती है। श्लोक में इसके लिए सरक्त मेद जो नाम दिया है वह एक दृष्टि से ठीक है।

चतुर्थी श्लेष्मधरा नाम; सर्वसन्धिषु प्राणभृतां भवति ॥१३॥

भवति चात्र—

स्नेहाभ्यक्ते यथा ह्यक्षे चक्रं साधु प्रवर्तते।
सन्धयः साधु वर्तन्ते संश्लिष्टाः श्लेष्मणा तथा ॥१४॥

(श्लेष्मधरा कला—) चौथी श्लेष्मधरा नामक कला है, जो प्राणियों के सब जोड़ों में होती है ॥१३॥ यहाँ पर श्लोक है—जैसे, अक्ष के ऊपर तैल लगने से पहिया अच्छी तरह चलता है, वैसे ही (श्लेष्मधरा कला से निकले हुए) श्लेष्मा से लिप्त संधियाँ अच्छी तरह (मुड़ने का) काम करती हैं।

वक्तव्य—साधु प्रवर्तते—अक्ष पर तैल लगाने से में आवाज कम होती है, अक्ष और चाक में घर्षण कम है, अक्ष कम घिसता है, अधिक काल तक याने पूर्ण आयु तक काम देता है और गाड़ी खींचने में कम लगता है तथा गाड़ी अधिक तेजी से चलती है। वर्तते—श्लेष्मधरा कला से निकला हुआ श्लेष्मा जो भीतरी अंगों पर लिप्त होने से जोड़ों में गति के आवाज नहीं होती, घर्षण नहीं होता, उष्णता नहीं होती, अंग कम घिसते हैं, अधिक काल तक काम देते उनको मोड़ने में कम कष्ट होता है और प्राणी चल फिर सकता है या हरकत कर सकता है। सर्वसं शरीर में दो प्रकार की संधियाँ होती हैं—स्थि चेष्टावान्—संधयस्तु द्विविधाश्चेष्टावन्तः स्थिराश्च। (सु जो स्थिर हैं, उनमें गति नहीं होती। इसलिए सर्व से सर्वचेष्टावान् संधियों को ग्रहण करना चाहिए।

चेष्टावान् संधियों को खोलने से उनके ऊपर एक (Capsule) मिलता है, जिसके भीतरी पृष्ठभाग पतली चमकदार झिल्ली (Synovial membrane) रहती है। इस झिल्ली से एक चिपचिपा सा तरल vial fluid) निकलता है, जो जोड़ में काम करने वाले उपांगों को तर रखता है और वही काम देता है, जो में या चक्र में रोगन देता है।

पञ्चमी पुरीषधरा नाम; याऽन्तःकोष्ठे मल विभजते पक्वाशयस्था ॥१५॥

भवति चात्र—

यकृत्समन्तात् कोष्ठं च तथाऽन्त्राणि समाश्रिता उण्डुकस्थं विभजते मलं मलधरा कला

(मलधरा कला—) पाँचवीं पुरीषधरा नामक जो कोष्ठ के अन्दर पक्वाशय में स्थित हुई मल करती है ॥१५॥ यहाँ पर श्लोक है—यकृत् और अंगों) के समीपवर्ती आँतों में समाश्रित हुई मल उण्डुकस्थित मल को (जल से) विभक्त करती है।

वक्तव्य—अन्त्राणि—इससे स्थूल और क्षुद्र का ही बोध हो सकता है तथापि मलविभजन केवल स्थूलान्त्र में होने के कारण 'अन्त्राणि' से का ग्रहण करना चाहिए। उण्डुकस्थं विभजते मलम्— सेवन किये हुए अन्न का पाचन तथा सात्म्यभाग क्षुद्रान्त्र में होता है। जब तक सात्म्यभाग और एकत्र रहता है, तब तक उस द्रव को मल नहीं कहते हैं। क्षुद्रान्त्र के अन्त तक सात्म्यभाग का प्रायः शोषित होता है और स्थूलान्त्र में केवल मल और दो ही भाग आते हैं। ऐसी अवस्था में स्थूलान्त्र केवल मलस्थित जल को शोषित करने का होता है स्थूलान्त्र के प्रारम्भ से गुद तक मल उचित समय जाय तो ८० प्रतिशत जल का शोषण हो जाता मलावरोध के कारण अधिक देर तक मल आँत में तो इससे अधिक पानी का शोषण होकर मल कड़ा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और उसकी गाँठें बनती हैं। संक्षेप में उण्डुक में पहुँचे मल का विभाग जल से किया जाता है और यह कार्य स्थूलान्त्र के अन्तरावरण से होता है। उण्डुक—पाँचवें अध्याय के छठे सूत्र का वक्तव्य देखो।

षष्ठी पित्तधरा नाम, या चतुर्विधमन्नपानमुपभुक्तमामाशयात् प्रच्युतं पक्वाशयोपस्थितं धारयति ॥१७॥

भवति चात्र—

अशितं खादितं पीतं लीढं कोष्ठगतं नृणाम्।
तज्जीर्यति यथाकालं शोषितं पित्ततेजसा ॥१८॥

(पित्तधरा कला—) छठी पित्तधरा नामक कला है, जो आमाशय से निकलकर पक्वाशय की ओर जाने के लिए आये हुए उपभुक्त चारों प्रकार के अन्नपान को धारण करती है ॥१७॥ यहाँ पर श्लोक है—मनुष्यों के आँतों में पहुँचा हुआ अशित, खादित, पीत और लीढ (चारों प्रकार का उपभुक्त) अन्न उचित काल में पित्त के तेज (क्रिया) से जीर्ण हो जाता है (तथा) शोषित (भी हो जाता है) ॥१८॥

वक्तव्य—चतुर्विधम्—अशित, खादित, पीत और लीढ। पीत—दूध, पानक इत्यादि पीने के पदार्थ। लीढ—कुछ गाढ़े पदार्थ जिनके लिए चाटने की आवश्यकता होती है। यथा—श्रीखण्ड, रबड़ी, अनेक प्रकार के पाक और अवलेह। अशित—पूरी, भात इत्यादि पदार्थ जिनके लिए कुछ चर्वण की आवश्यकता होती है। खादित—लड्डू, मोदक तथा अन्य कठिन पदार्थ जिनके लिए अधिक चर्वण की आवश्यकता होती है। कोष्ठ—इसमें वक्षगुहा और उदरगुहा में होने वाले सभी अंगों का समावेश होता है—स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥ (सुश्रुत, चि०)। यद्यपि कोष्ठ की व्याप्ति इतनी अधिक है तथापि उसके प्रयोग के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि वह प्रायः एक अंग के लिए प्रयुक्त होता है और उस अंग का निश्चय संदर्भ के अनुसार कर लेना चाहिए। यहाँ पर कोष्ठ से क्षुद्रान्त्र अभिप्रेत है। तज्जीर्यति इत्यादि—तच्चतुर्विधमन्नं पित्ततेजसा यथाकालं जीर्यति शोषितं च भवति। जीर्यति—पाचक रसों के कार्य से सेवन किये हुए पदार्थों का अनेक अणुयौगिकों में विश्लेषण होने की क्रिया को जरण या पचन (Digestion) कहते हैं। पित्ततेजसा—पाचक रसों की क्रिया से। पित्त अग्नि रूप होने के कारण तेज शब्द का प्रयोग किया गया है। शोषित—जब अन्न छोटे छोटे यौगिकों में विश्लेषित होता है, तब उसका शोषण (Absorption) आन्त्र की दीवाल के श्लेष्मल स्तर से होता है। यथाकालम्—उचित काल में। साधारणतया सेवन किया हुआ अन्न पाचित और शोषित होकर मल के रूप में स्थूलान्त्र में साढ़े चार घंटे के बाद आता है। अर्थात् पाचन और शोषण के लिए साढ़े चार घंटे का औसत काल होता है। आयुर्वेद में पाचन और शोषण का काल ३–६ घंटे का बताया है—याममध्ये न भोक्तव्यं यामयुग्मं न लंघयेत्। याममध्ये रसोत्पत्तिर्यामयुग्माद्बलक्षयः ॥ (योगरत्नाकर)। पित्तधरा कला का वर्णन अष्टांगसंग्रह में बहुत स्पष्टतया किया है—षष्ठी पित्तधरा नाम पक्वामाशयमध्यस्था। सा ह्यन्तरग्नेरधिष्ठानतयाऽऽमाशयात् पक्वाशयोन्मुखमन्नं बलेन विधार्य पित्ततेजसा शोषयति पचति पक्वं च विमुञ्चति। दोषाधिष्ठिता तु दौर्बल्यादाममेव। ततोऽस्यान्नस्य ग्रहणात् पुनर्ग्रहणीसंज्ञा। बलं च तस्याः पित्तमेवाग्न्यभिधानमतः साऽग्निनोपस्तब्धोपबृंहितैकयोगक्षेमा शरीरं वर्तयति ॥ (शा० ५)। इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि पित्तधरा कला की मर्यादा आमाशय से पक्वाशय तक होती है। इसके पश्चात् मलधरा कला की मर्यादा प्रारंभ होती है। कुछ लोग मलधरा कला की व्याप्ति स्थूलान्त्र और क्षुद्रान्त्र दोनों में समझते हैं परन्तु यह मत ठीक नहीं है। दोनों का क्षेत्र और कार्य भिन्न है और एक का क्षेत्र समाप्त होने के बाद दूसरे का क्षेत्र प्रारम्भ होता है।

सप्तमी शुक्रधरा नाम; या सर्वप्राणिनां सर्वशरीरव्यापिनी ॥१९॥

भवन्ति चात्र—

यथा पयसि सर्पिस्तु गूढश्चेक्षुरसे यथा[1]।
शरीरेषु तथा शुक्रं नृणां विद्याद्भिषग्वरः ॥२०॥
द्व्यङ्गुले दक्षिणे पार्श्वे बस्तिद्वारस्य चाप्यधः।
मूत्रस्रोतःपथाच्छुक्रं पुरुषस्य प्रवर्तते ॥२१॥
कृत्स्नदेहाश्रितं शुक्रं प्रसन्नमनसस्तथा।
स्त्रीषु व्यायच्छतश्चापि हर्षात्तत् संप्रवर्तते ॥२२॥

(शुक्रधरा कला—) सातवीं शुक्रधरा नामक कला है जो सब प्राणियों के सर्व शरीर भर व्याप्त रहती है ॥१९॥ यहाँ पर श्लोक है—वैद्य को जानना चाहिए कि जैसे (संपूर्ण) दूध में घी और ऊख के रस में गुड़ (व्याप्त) होता है, वैसे ही मनुष्यों के शरीरों में शुक्र (व्याप्त) रहता है ॥२०॥ बस्ति (मूत्राशय) द्वार के नीचे दो अंगुल दक्षिण (और वाम) पार्श्व में (स्थित शुक्रधरा कला में संचित) पुरुष का शुक्र मूत्रमार्ग के रास्ते से (बाहर) निकलता है ॥२१॥ प्रसन्नमन तथा स्त्रीसंग करने वाले (पुरुष) का सर्वशरीरव्यापी शुक्र (स्त्रीसंगजन्य) हर्ष के कारण (शुक्रधरा कला से) फेंका जाता है ॥२२॥

वक्तव्य—प्रथम श्लोक में शुक्र का सर्वशरीरव्यापित्व दृष्टान्तों के साथ वर्णन किया गया है इसलिए कि १९वें सूत्र में वर्णित शुक्रधरा कला का सर्वशरीरव्यापित्व सहज ही सिद्ध हो जाय। परंतु व्यावहारिक दृष्टि से इसकी अनुपयोगिता को देखकर दूसरे श्लोक में उसका वास्तविक स्थान तथा तत्स्थान से शुक्र का बाहर निकलने का मार्ग बताया गया है, और तीसरे श्लोक में शुक्रधरा कला से शुक्र बाहर आने के कारण बताये गये हैं। सर्वशरीरव्यापिनी—शुक्र के सर्वशरीरव्यापित्व के संबंध में प्रथम

१ गुडश्चेक्षौ रसो.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खण्ड के ९०-९१वें पृष्ठ पर विस्तृत विवरण किया गया है, उसको देखो। दक्षिणे पार्श्वे—शुक्र इकट्ठा होने का स्थान केवल एक दक्षिणपार्श्व में नहीं है, वामपार्श्व में भी है। इसलिए महामहोपाध्याय गणनाथ सेन जी प्रत्यक्षशारीर में (पृष्ठ ७४ प्रस्तावना) 'द्व्यङ्गुले दक्षिणे वामे' ऐसा पाठ सूचित करते हैं और वह ठीक है। मूत्राशय के पिछले भाग के दोनों पार्श्वों में दो थैलियाँ और दो प्रणालियाँ होती हैं। थैली की भीतर की ओर प्रणाली होती है। थैली को शुक्राशय (Vesiculoe seminalis) और प्रणाली को शुक्रप्रणाली (Vasdeferens) कहते हैं। शुक्रप्रणाली का अन्त शुक्राशय के नीचे वाले नोकीले सिरे में होता है। जहाँ पर शुक्राशय और शुक्रप्रणाली मिलती हैं, वहीं से एक नली का प्रारम्भ होता है। इस नली को शुक्रस्रोत (Ejaculatory duct) कहते हैं। यह स्रोत प्रत्येक पार्श्व में एक स्वतन्त्र होता है। मूत्रस्रोतःपथात्—मूत्रस्रोत (Urethra) एव पथः, तस्मात्। दोनों पार्श्वों के शुक्रस्रोत अष्ठीलाग्रंथि (Prostate) के भीतर घुसकर तद्गत मूत्रस्रोत (Prostatic portion of the urethra) में खुलते हैं। वहाँ से आगे मूत्र का और शुक्र का एक ही मार्ग होता है। हर्षात्तत् संप्रवर्तते—शुक्रप्रवर्तन के कारणों का तथा युक्ति का विचार प्रथमखण्ड के ३७५ पृष्ठ पर किया गया है।

कलावाद—अब तक कलाओं का सर्वसाधारण विवरण किया गया है। अब कला वास्तव में क्या है? उससे शरीरगत किस वस्तु का बोध होता है इसका विचार कर्तव्य है। संस्कृत में कला के कई अर्थ होते हैं—कला स्यान्मूलरैवृद्धौ शिल्पादावंशमात्रके। षोडशांशे च चन्द्रस्य कलनाकालमानयोः॥ (मेदिनीकोष)। ये अर्थ वैद्यक में अप्रस्तुत हैं। आयुर्वेद में कला के मुख्य तीन अर्थ होते हैं, जिनका उल्लेख डल्हणाचार्य 'पुरुषः षोडशकलः' (उत्तरतन्त्र, अ० ६६) इस श्लोक की टीका में करते हैं—अत्रैके कलाशब्देन पञ्चभूतानि एकादशेन्द्रियाणीति षोडशविकारा इति व्याचक्षते, परमेतन्नायुर्वेदे प्रमाणीकृतम्। अन्ये तु कलाशब्दमङ्गप्रत्यङ्गेष्वामनन्ति—शिरोग्रीवापाणिपादपार्श्वपृष्ठोदरांसीत्यष्टाङ्गानि, चिबुकनासौष्ठवङ्क्षणाङ्गुष्ठाङ्गुलिपार्ष्णिगुल्फाः प्रत्यङ्गानि। स्वतन्त्रपरतन्त्राभिप्रायानुवर्तिभिराचार्यैः कलाशब्दो गुणवाची पठितः। ते च सर्वभूतचिन्ताशारीरोक्तसुखदुःखेच्छोद्वेगप्रयत्नादीन् षोडशगुणानाचक्षते। चतुष्पादं षोडशकलं भेषजं चरकाचार्येणोक्तम्; तत्र षोडशकलं षोडशगुणमिति व्याख्यानयन्ति॥ इनमें से विकार का विचार करने का कारण नहीं है क्योंकि ये विकार शरीर के नहीं हैं, प्रकृति के हैं और आयुर्वेद के जिस विभाग में कला शब्द का प्रयोग हुआ है उस विभाग का शारीरिक विकारों से भी कोई संबंध नहीं है। इसलिए कला का अर्थ विकार नहीं हो सकता है। कला का दूसरा अर्थ अंग-प्रत्यङ्ग है। शरीरसंख्याव्याकरण नामक पाँचवें अध्याय में कला का उल्लेख निम्न प्रकार से किया गया है—'अतः परं प्रत्यङ्गानि वक्ष्यन्ते—मस्तकोदर०—' 'तस्य पुनः संख्यानं—त्वचः कला धातवो मला दोषा यकृत्प्लीहानौ फुफ्फुस०—' 'त्वचः सप्त, कलाः सप्त, आशयाः सप्त०—चेति समासः'। 'विस्तारोऽत ऊर्ध्वं—त्वचोऽभिहिताः कला धातवो मला०—वृक्कौ च'॥ जिस परम्परा में यहाँ कलाओं का उल्लेख किया गया है, उस परम्परा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यकृत्, प्लीहा, हृदय इत्यादि शरीरगत अवयवों के समान कला भी शरीरगत एक अवयव है जो शवविच्छेद करने के पश्चात् अन्य अंगों के समान प्रत्यक्ष किया जा सकता है और उसकी संख्या भी निश्चित की जा सकती है। कलाओं की मोटाई (Dimentions) के संबंध में निम्न सूत्र मिलते हैं—स्वल्पत्वात् कलासंज्ञः। (अष्टांगसंग्रह शारीर ५)। स्वल्पत्वात्कलासंज्ञः। (इन्दु)। अनेन कलानामस्तित्वं साधितं भवेत्। (डल्हणटीका)। सौक्ष्म्यान्मांसान्तर्गता न सहसा चक्षुर्विषयीभवति। (हाराणचन्द्र टीका)। इन सूत्रों के आधार पर पं० गंगाधर शास्त्री अपने 'आयुर्वेदीय शारीर' में लिखते हैं—

It is therefore obvious that the Kalas must be exceedingly minute and invisible to the naked eye, as are the various cells in the human body. *Charak* also has clearly stated 'शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेन अपरिसंख्येया भवन्ति, अतिबहुत्वात्, अतिसौक्ष्म्यात्, अतीन्द्रियत्वाच्च'। (चरक, शा०)

इसका अभिप्राय यह है कि शरीर की सेलों के समान कलाएँ भी सूक्ष्म, अव्यक्त, परमाणु स्वरूप होती हैं, जिसे कि चरकाचार्य 'शरीरावयवास्तु' वचन से कहते हैं। चरक के जिस वचन के आधार पर शास्त्री जी कलाओं का सूक्ष्मत्व और अतीन्द्रियत्व सिद्ध करना चाहते हैं वह वचन कलाओं की सूक्ष्मता और अतीन्द्रियता निम्न कारणों से सिद्ध करने में व्यर्थ मालूम होता है। (१) संपूर्ण चरक में कलाओं का निर्देश कहीं भी नहीं मिलता, अर्थात् जिस अध्याय में यह वचन दिया गया है, उस अध्याय में कलाओं का उल्लेख नहीं है यह कहने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए यह वचन कलाओं की दृष्टि से अप्रस्तुत और गैरलागू है। (२) चरक के जिस अध्याय में यह वचन मिलता है, वह अध्याय (शरीरसंख्याशारीर) सुश्रुत के शरीरसंख्याव्याकरण शारीर के टक्कर का है। इसलिए यदि उसमें सुश्रुत के क्रमानुसार त्वचा के नीचे कलाओं का समावेश है ऐसा मान भी लिया जाय तब इस वचन से कलाओं का सूक्ष्मत्व सिद्ध न होकर उनका स्थूलत्व सिद्ध होता है, क्योंकि इस वचन के पूर्व निम्न वचन मिलता है—इति शरीरावयवसंख्या यथास्थूलभेदेनावयवानां निर्दिष्टा। इन दोनों वचनों का समन्वय करने से यह अर्थ होता है कि 'अब तक शरीरावयवों की जो संख्या बतलाई गई है, वह उनके स्थूल रूप के आधार पर बतलाई है। यदि उनके परमाणुओं का विचार किया जाय तो ये अवयव अपरिसंख्येय होते हैं'। यदि ये वचन कलाओं के लिए लागू करने हों तो उनका अर्थ निम्न प्रकार से हो सकता है—'कलाओं की जो सात संख्या बतलाई है वह उनके स्थूल स्वरूप के आधार पर है, यदि उनके परमाणुओं (सेलों) का विचार किया जाय तो कलाएँ अपरिसंख्येय हो जायँगी, क्योंकि कलाओं के परमाणु अतिसूक्ष्म, अतीन्द्रिय और अतिबहु होते

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) कलाओं की संख्या नियमित रूप से सात होती है—कलाः खल्वपि सप्त संभवन्ति । इस संख्या से यह स्पष्ट होता है कि कला इन्द्रियग्राह्य अवयव है और उसकी परिगणना निश्चिति से हो सकती है। इन सब बातों का विचार करने पर यह कहना पड़ता है कि कला शरीरगत एक स्थूल अवयव है और शास्त्रीजी का कथन कला के संबंध में अयथार्थ है, परन्तु कलाओं के परमाणुओं (सेलों) के संबंध में ठीक मालूम पड़ता है। अब कलाओं के संबंध में जो चार सूत्र ऊपर दिये हैं, उनका विचार किया जायगा। संस्कृत में अल्प और स्वल्प ये दोनों शब्द परमाणुस्वरूप सूक्ष्म पदार्थों के लिए प्रयुक्त न होकर स्थूल पदार्थों का थोड़ा परिमाण बताने के लिए प्रयुक्त होते हैं—स्तोकाल्पक्षुल्लकाः। (अमरकोष)। कलाओं के लिए स्वल्प या अल्प शब्द सापेक्ष दृष्टि से प्रयुक्त हुआ है। अन्य अवयवों के मुकाबले में कला पतली और छोटी होने से वह अल्प या स्वल्प कहलाती है। तीसरे सूत्र में डल्हणाचार्य कला के लिए अव्यक्त शब्द का प्रयोग करते हैं। यह शब्दप्रयोग 'यथा हि सारः काष्ठेषु' इस श्लोक की टीका में निम्न प्रकार से मिलता है—तासामन्तःस्थितत्वेनाप्रत्यक्षाणामस्तित्वं प्रत्युपमानं प्रमाणं निर्दिशन्नाह—भवत इत्यादि। एतेन कलासाधितपृथग्धातूपलम्भकार्येणाव्यक्तमेव कलानामस्तित्वं साधितं भवेत् ॥ इससे यह स्पष्ट होगा कि कला की अव्यक्तता वह अन्तर्निगूढ होने के कारण है, सूक्ष्मता के कारण नहीं है। जीवितावस्था में कला की अन्तर्निगूढता के कारण उसकी अव्यक्तता उसके कार्य के द्वारा व्यक्त की जाती है, यही डल्हणाचार्य के वचन का फलितार्थ है। इसमें कला की सूक्ष्मता का किंचित् भी संबंध नहीं है। हाराणचन्द्र का वचन मांसधरा कला के संबंध में है, साधारण नहीं है। इसके सिवाय उस वचन का अर्थ यह नहीं होता कि वह कदापि चक्षुर्विषयी नहीं होती। यदि विचार करके उसकी खोज की जाय, उसके लिए प्रयत्न किया जाय तो वह चक्षुर्विषयी हो सकती है। इस तरह कलाओं की सूक्ष्मता और अतीन्द्रियता सिद्ध करने के लिए शास्त्रीजी ने जो जो प्रमाण पेश किये हैं वे सब सूक्ष्मता को सिद्ध न करके कलाओं की स्थूलता सिद्ध करते हैं। स्वरूप और आकार—इसका सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिस अध्याय में और जिस क्रम में कलाओं का विचार हुआ है, उसके ऊपर ध्यान देना परमावश्यक है। इसके सुखावबोध के लिए प्रासाद का दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे किसी प्रासाद का वर्णन करते समय उसके प्राकार का वर्णन प्रथम होता है, पश्चात् उसके अन्तःप्राचीरों (Partition walls) का वर्णन होता है, पश्चात् उन प्राचीरों से बने हुए सभागृह, स्नानगृह, शयनगृह, भाण्डारगृह इत्यादि विविध गृहों का वर्णन होता है, वैसे ही शरीरव्याकरण और शरीरसंख्याव्याकरण इन अध्यायों में शरीर रूप प्रासाद का वर्णन किया है, जिसमें प्राकार के स्थान में प्रथम त्वचा का, अन्तःप्राचीरों के स्थान में कलाओं का और पश्चात् अन्तर्गृहों के स्थान में विविध आशयों और अवयवों का वर्णन किया गया है। इस दृष्टान्त को सामने रखकर यदि 'धात्वाशयान्तरमर्यादा' इस शब्द प्रयोग के ऊपर ध्यान दिया जाय तो उसका अर्थ समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी। संक्षेप में, कला त्वचा के समान आवरण करने वाला शरीर का अवयव है, परन्तु त्वचा बाहर होती है, कला भीतर अतएव अव्यक्त होती है; त्वचा मोटी और विस्तृत (सर्वशरीरव्यापी) होती है, कला तनु और स्वल्प (एकाध अंग को व्यापने वाली) होती है। आधुनिक पाश्चात्त्य परिभाषा के अनुसार कला Membrane, Fascia. Septum के स्वरूप की होती है। यदि उसकी रचना का विचार किया जाय तो वह स्नायवीय (Fibrous membrane), जरायुसम (Serous membrane) और श्लेष्मल (Mucous membrane) हो सकती है—स्नायुभिश्च प्रतिच्छन्नान् संततांश्च जरायुणा । श्लेष्मणावेष्टितांश्चापि कलाभागांस्तु तान् विदुः ॥ इस अर्थ से सातों कलाओं का भाषान्तर निम्न प्रकार से होता है—

१ मांसधरा कला—Deep fascia, Intermuscular septa.

२ रक्तधरा कला—Endothelial lining of the blood vessels and sinuses in the liver and spleen.

३ मेदोधरा कला—Omentum, Deep fascia.

४ श्लेष्मधरा कला—Synovial membrane.

५ पुरीषधरा कला—Mucous membrane of the colon and rectum.

६ पित्तधरा कला—Mucous membrane of the small intestine.

७ शुक्रधरा कला—Mucous membrane of the vasiculae seminalis, vas deferentia, etc.

गुण, सगुण या निर्गुण—कला का एक अर्थ गुण (Quality) भी है और डॉ० ग० द० आपटे कला का अर्थ गुण करते हैं—

This biologically active quality of one Dhatu or Ashaya giving birth to one of another sort, is termed by the ancients as Kala. In ordinary language it means a quality. *Some Anatomical Concepts.*

इस दृष्टि से 'धात्वाशयान्तरमर्यादा' इसका अर्थ (अन्यो धातुर्धात्वन्तरम्, अन्य आशय आशयान्तरम्, तस्य मर्यादा)—'एक धातु से दूसरा धातु और एक आशय से दूसरा आशय उत्पन्न होने का गुण' किया जाता है। परन्तु गुण किसी आधार के सिवा नहीं मिल सकते हैं—अवयवावयविनोः, गुणगुणिनोः, कर्मकर्मवतोः, सामान्यसामान्यवतोः सहैवावस्थानम्। नह्यवयवादीन् विरह्य्यावयव्यादय उपलभ्यन्ते। (चक्रपाणिदत्त)। इस समवायसंबंध से गुणगुणिनोरभेदाभाव माना जाता है। यदि कला का अर्थ गुण करना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो तो उपर्युक्त तत्त्वों के अनुसार कला से एक धातु से अन्य धातु उत्पन्न करने का गुण जिसमें हो ऐसा शरीरगत अवयव का बोध होता है। संक्षेप में कला सगुण है या निर्गुण इतना ही प्रश्न सामने आता है। निर्गुण में केवल धारण (Merely holding) करने का बोध होता है और सगुण में धारण के अतिरिक्त कला के जो कोई विशेष कार्य होते हैं, उनका बोध होता है। ऊपर कलाओं के जो अंग्रेजी पर्याय नाम दिये हैं, ये महामहोपाध्याय गणनाथ सेन संमत हैं। आपके मतानुसार कला निर्गुण याने केवल रक्तमांसादि-धारक होती है—कला नाम धातुक्लेदविशेषः, धातूष्मणा विपक्वः, ततश्च नासौ धातुर्नापि धातुनिर्मापकः, क्लेदस्य तदयोग्यत्वात्। कला नाम श्लेष्मस्नाय्वपराच्छन्नो शारीरवस्तुविशेषः रक्तादिधातु-धारणमात्रार्थः। तच्च धातुनिर्माणकर्मणि अकिञ्चित्करम्॥ (संज्ञापंचकविमर्शः)। इस मत के समर्थनार्थ दो आधार दिये गये हैं—स तु क्लेदो धातुसारशेषो न पूर्वधातूनां नाप्युत्तरधातूनां प्राप्नोति। (इन्दु)। ननु रसानन्तरं रक्तं, ततो मांसं, तत्कथं प्रागेव मांसधरा पठिता ततो रक्तधरेति ? उच्यते—पोषणे क्रमोऽयं न तु धारणे, अतएव यस्यामित्याधारत्वेन कला निर्दिष्टा। (डल्हण)। प्रथम इन्दु के वचन का तात्पर्य यह है कि कला स्वयं पूर्वधातु या उत्तरधातु में परिवर्तित नहीं होती। डल्हण के वचन का तात्पर्य यह है कि धातुक्रम के अनुसार कलाओं का क्रम इसलिए नहीं मिलता है कि कला स्वयं धातुपोषण में भाग नहीं लेती, धारण में लेती है। यह कथन बिलकुल सत्य है, परन्तु कला स्वयं ज्यों की त्यों रहकर दूसरी किसी चीज़ को या विशेष काम को नहीं करती, यह अर्थ उपर्युक्त दोनों वचनों से नहीं निकलता है। कलाओं में विशेष गुण (धारण के सिवा) होते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है और यदि उपर्युक्त अंग्रेजी पर्याय ठीक हों तो यही बात माननी पड़ेगी। इसके लिए कुछ उदाहरण लिये जाते हैं। शुक्रधरा कला—इसमें शुक्राशय, शुक्रवह स्रोतस और शुक्रप्रणालियों की झिल्ली समाविष्ट है। इसके संबंध में आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान बताता है कि वह कला शुक्र के तरल भाग को उत्पन्न करती है—

The semen ejaculated through the penis is the secretory product of the testes, epididymis, vesiculae seminalis, and other accessory glands. *Marshall's Introduction to Sexual Physiology.* The vas a efferentia and epididymis are lined by columnar cells, some of which are ciliated, while others are devoid of cilia, and probably possess secretory functions. *Halliburton's Physiology.* श्लेष्मधरा कला—इसके संबंध में भी ऐसा ही मत है—It (synovial membrane) is composed of a thin, delicate connective tissue, with branched tissue corpuscles. Its secretion is thick, viscid, and glairy, like the white of an egg and hence termed synovia *Grey's Anatomy.*

कविराजजी इसमें यह भेद बताते हैं कि यह श्लेष्मधरा कला का न होकर तद्गत ग्रंथियों का होता न च शंक्यम् स्रवतीति कथनात् श्लेष्मोत्पादकत्वं कलाया... कलावृतेभ्यो ग्रंथिभ्य एव संधिषु तादृशश्लेष्मणः सं... निर्देशस्तूपचारात्। परन्तु इस तरह का सूक्ष्म... करने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि वे ग्रंथियाँ भी... मेम्ब्रेन की होती हैं। उपर्युक्त ग्रे के वचन में उनका... स्वतन्त्र उल्लेख नहीं किया गया है। इसके सिवाय... मेम्ब्रेन को सायनोवियल कहना, फिर भी उसमें... विया उत्पन्न करने की शक्ति का इन्कार करना... विचित्र संबंध मालूम होता है। पित्तधरा कला—... क्षुद्रान्त्र का अन्तरावरण लिया जाता है। आधुनिक... कहते हैं कि इसमें अग्न्याशय और यकृत् के पाचक र... उत्तेजित और धारण करने की, पाचित अन्न के सार... को शोषित करने की तथा आन्त्ररस (Succus ente... नामक पाचक रस (जिसको पित्त कह सकते हैं)... करने की शक्ति होती है। आन्त्ररस उत्पन्न करने की... के संबंध में भी श्लेष्मधरा कला के समान आक्षे... जा सकता है कि यह रस आन्त्र की विशेष ग्रं... (Crypts of Lieberkuhn) उत्पन्न होता है। इसके... में भी यही उत्तर दिया जा सकता है कि ये ग्रंथियाँ... की ही होती हैं तथा दोनों का अन्तरावरण एक प्र... सेलों से बनता है—

Contained within or belonging to the m... membrane are the following structures—c... folds, villi, intestinal glands, etc. *Grey's An...* इसमें बिलांगिंग शब्द महत्त्व का है। आ... की रचना और ग्रथियों की रचना—Abs... membrane, supporting a single layer of e... lial cells, which throughout the intesti... columnar in character. Their (Glands)... are thin, consisting of a basement me... lined by columnar epithelium. *Grey's An...*

इससे यह स्पष्ट होगा कि आन्त्ररस का... आन्त्रिक कला से होता है, इसको मानने में कोई... आपत्ति नहीं कर सकता है। रक्तधरा कला—रक्तधरा... में यकृत् और प्लीहा का विशेष उल्लेख किया... आयुर्वेद में रक्तोत्पत्ति का संबंध यकृत् और प्लीहा... माना जाता है—स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्र... मुपैति। विशेष विवरण के लिए प्रथम खण्ड पृष्ठ ७... इसलिए रक्तधरा कला में यकृत्प्लीहा का निर्देश... समय रक्तधरा कला का कुछ संबंध रक्तोत्पत्ति... सूचित करने का ग्रंथकार का उद्देश्य होना असं... बात नहीं है। आधुनिक सूक्ष्म शारीर से यह सि... है कि यकृत् और प्लीहा की केशिकाओं और शो... काशों का आस्तरण (जो रक्तधरा कला में समा... विशेष प्रकार की सेलों से बनता है जो रेटिक्यूलो... लिअल सेलें (Reticulo-endothelial cells) कहला...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Others (R. E. cells) are sessile, for example the stellate cells of Kupffer, which constitute an imperfect lining for the hepatic capillaries. Other sessile components of the reticulo-endothelial system are the endothelium of the lumph sinuses and splenic sinuses, etc. *Halliburton's Physiology.*

इन सेलों के जो अनेक कार्य हैं, उनमें रक्तोत्पत्ति एक कार्य है। गर्भावस्था में तथा जन्म के पश्चात् कुछ काल तक यकृत् और प्लीहागत सेलें यह काम करती हैं। पश्चात् रक्तोत्पत्ति का कार्य रक्तमज्जा में चला जाता है।

In the foetus the liver and spleen take part in blood formation, but in the adult it is confined to the redbone marrow. *Halliburton's Physiology.*

मलधरा कला—मलधरा कला मलधारण के कार्य के अतिरिक्त जलशोषण का और वृक्कों के द्वारा अनुत्सृष्ट्य लवणों के उत्सर्जन का कार्य करती है—

The functions of the large intestine are mechanical, absorptive and excretory. The mechanical functions of the large intestine comprise the storage of faeces, and their evacuation at due intervals. The large intestine absorbs chiefly water. *Halliburton's Physiology.*

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि कलाएँ केवल गुण (Quality) नहीं हैं, धातूत्पादक सूक्ष्म सेल (Formative elements पं० गंगाधरशास्त्री जोशी) नहीं हैं, केवल धातुओं के आधार (Mechanical supporters) नहीं हैं, परंतु विशेषगुणयुक्त आवरण (Membranes with special functions) हैं।

गृहीतगर्भाणामार्तववहानां स्रोतसां वर्त्मान्यवरुध्यन्ते गर्भेण, तस्माद्गृहीतगर्भाणामार्तवं न दृश्यते; ततस्तदधः प्रतिहतमूर्ध्वमागतमपरं चोपचीयमानमपरेत्यभिधीयते; शेषं चोर्ध्वतरमागतं पयोधरावभिप्रतिपद्यते, तस्माद् गर्भिण्यः पीनोन्नतपयोधरा भवन्ति ॥२३॥

गर्भवती स्त्रियों के आर्तववह स्रोतसों के मार्ग गर्भ के द्वारा बंद हो जाते हैं। इसलिए (गर्भाधान के बाद) गर्भवती स्त्रियों में आर्तव (स्राव) नहीं दिखाई देता है। वह नीचे की ओर बंद हुआ (इसलिए लौटकर) ऊपर की ओर आया हुआ और उत्तर काल में परिवर्धित हुआ वही आर्तव अपरा कहलाता है। शेष आर्तव और भी ऊपर आकर स्तनों में प्राप्त हो जाता है। इसलिए गर्भिणी के स्तन मोटे और उन्नत हो जाते हैं ॥२३॥

वक्तव्य—इस सूत्र में गर्भिणी का अनार्तव, अपरा उत्पत्ति और स्तनों की पीनोन्नतता; इनकी उपपत्ति बतलाई गई है। इसके संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए यह उपपत्ति लौकिक परिभाषा में बताई गई है, तथा बताने की पद्धति बड़ी रोचक और सूचक है। वर्त्मान्यवरुध्यन्ते गर्भेण—गर्भाधान होने पर आर्तवस्राव आप से आप कैसे बंद होता है, इसका ठीक उत्तर देना आज भी बहुत कठिन है। परन्तु एक बात निश्चित है कि गर्भ ही के कारण आर्तवस्राव बंद होता है। आर्तवस्राव का घनिष्ठ संबंध बीजकोष (Ovary) के साथ होता है। इस बीजकोष में दो रासायनिक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। एक का नाम है ओस्ट्रिन (Oestrin) और दूसरे का है प्रोजेस्टिन (Progestin)। ओस्ट्रिन बीजकोष की आन्तरिक (Interstitial) सेलों से बनता है और इसके प्रभाव से गर्भाशय की श्लेष्मल कला का नाश होकर आर्तव का स्राव होता है। दूसरा पदार्थ प्रोजेस्टिन पक्व बीज बाहर पड़ने के बाद उसके स्थान में जो पीतपिण्ड (Corpus luteum) बनता है, उसमें निर्माण होता है। यह द्रव्य गर्भाशय की श्लेष्मल कला को गर्भग्रहण योग्य बनाता है तथा स्तनों को भी परिपुष्ट करता है। जब गर्भग्रहण योग्य गर्भाशय में गर्भ नहीं आता, तब ओस्ट्रिन अपना नाशक कार्य करके आर्तवस्राव उत्पन्न करता है। उसका नाशक कार्य समाप्त होने पर प्रोजेस्टिन अपना रचनात्मक कार्य करता है। इस तरह ये दोनों द्रव्य परस्परविरोधी होने पर भी प्रति मास नियत परन्तु भिन्न समय पर कार्य करके शोणितोत्पत्ति का चक्र जारी रखते हैं। शोणितोत्पत्ति के चक्र में गर्भाशय के भीतर चार अवस्थाएँ होती हैं। प्रथमावस्था प्रोजेस्टिन के कारण होती है। इसमें गर्भाशय की श्लेष्मल कला काफी मोटी होती है, तद्गत रक्तवाहिनियाँ तथा ग्रंथियाँ बढ़ती हैं। संक्षेप में, गर्भ के आगमन और ग्रहण की सब तैयारी होती है। जब गर्भ नहीं बनता है, तब ओस्ट्रिन के परिणाम से रक्तवाहिनियाँ, ग्रंथियाँ और कला स्थान स्थान पर विदीर्ण होकर ये सब मिलकर नीचे की ओर निकलते हैं और यही आर्तव शोणित होता है। यह दूसरी अवस्था है। जब पुरुष के साथ सहवास करने के पश्चात् शुक्राणु का स्त्रीबीज से संयोग होकर वह सफल (Fertilized) होता है और उसके ग्रहण के लिए बनाई हुई श्लेष्मल कला पर वह चिपट जाता है, तब प्रोजेस्टिन का कार्य प्रतिमास की तरह बंद न होकर जारी रहता है और ओस्ट्रिन कार्य प्रतिमास की तरह न होकर बंद रहता है। इसका परिणाम यह होता है कि गर्भाशय की जिस श्लेष्मल कला और रक्तवाहिनियों से आर्तवशोणित बनता है वह गर्भ उसके ऊपर चिपट जाने से नहीं बनता। संक्षेप में गर्भ अपनी उपस्थिति से और श्लेष्मल कला की मोटाई के कारण आर्तव का मार्ग बंद करता है, इसमें कोई संदेह नहीं (९वें अध्याय के २२वें सूत्र का वक्तव्य भी देखो)। इसके संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि गर्भ आर्तवशोणित को बनने के पश्चात् नहीं रोकता, परन्तु आर्तव बनने ही नहीं देता। इसलिए लिखा है—तस्मात् गृहीतगर्भाणामार्तवं न दृश्यते। तस्मात् के पश्चात् अष्टांगसंग्रह में 'ततः परम्' लिखा है। यह

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शब्दप्रयोग यद्यपि आवश्यक नहीं है तथापि कल्पना को अधिक स्पष्ट कर देता है। गर्भ का आधान होने पर केवल उस मास के लिए नहीं, जब तक गर्भ गर्भाशय में होता है तब तक आर्तव का दर्शन नहीं होता और होना भी नहीं चाहिए। इसलिए इन्दु अपनी टीका में लिखते हैं—यत्तु कदाचिद् दृश्यते तद्वैकृतम्। गर्भधारणा होने के पश्चात् जो शोणितस्राव होता है वह गर्भपात, बीजवाहिनी में गर्भ-धारणा, अपरा का गर्भाशय से अलग होना इत्यादि वैकारिक कारणों से होता है; अवैकारिक शोणितस्राव कदापि नहीं होता। यदि किसी स्त्री में गर्भधारणा के पश्चात् प्रतिमास शोणितदर्शन होता हो तो वह उसमें दूसरे गर्भाशय की उपस्थिति का सूचक (Double uterus) समझना चाहिए। संक्षेप में इन्दु ने जो लिखा है, वह ठीक है—

Rarely will one be deceived who regards a woman menstruating regularly, with all the characters of menstruation; while trusting the contrary opinion, he is exposed to frequent errors. *Stoltz quoted in Jellet's Midwifery.*

अध: प्रतिहतमूर्ध्वमागतम्—स्वस्थानस्थितम्। प्रतिमास की तरह आर्तव उत्पन्न होने पर स्वस्थान में आने के लिए उसमें किस प्रकार की गतियाँ उत्पन्न होतीं इसका यह शब्द चित्र है, वास्तविक गति का वर्णन नहीं है। अपरम्—भविष्यकाल में, उत्तरकाल में। हाराणचन्द्र इसका अर्थ दूसरा महीना करते हैं—अपरमर्वाचीनं द्वितीयमासिकञ्चेत्येतत्। गर्भाधान के समय से तीसरे महीने के अन्त तक अपरा की उपचीय-मानावस्था होती है और पश्चात् वह पूर्ण उपचित होता है। इसलिए 'अपरम्' से भविष्यकाल मानना अधिक उचित है। अपरा—जरायु या अपरा। गर्भ का कोष जिसमें गर्भ गर्भाशय में रहता है। इस कोष के दो भाग होते हैं। एक भाग बहुत पतला और विस्तृत होता है, जो चारों ओर से गर्भ को आवृत करता है। यह गर्भावरण (Foetal membranes) कहलाता है। दूसरा भाग इस आवरण के बाहर उसके एक हिस्से में चिपटा हुआ होता है। यह आकार में दीर्घ गोल, व्यास में ६–७ इंच, बीच में एक इंच स्थूल और परिसर में पतला, वजन में एक से डेढ़ पौण्ड (दो से तीन पाव) होता है। आवरण की तरफ का इसका पृष्ठभाग चिकना और गर्भाशय की तरफ का पृष्ठभाग खुरदरा होता है। इसको प्लेसन्टा (Placenta) कहते हैं। इसके मध्य में गर्भनाडी लगी रहती है। अपरा से वास्तव में दोनों (Placenta and membranes) का बोध होता है—अथापराऽपतन्त्यानाहाध्मानौ कुरुते। (सुश्रुत)। तस्यास्तु खलु अपरायाः प्रपतनार्थे कर्मणि क्रियमाणे। (चरक)। अथ प्रसूताया न चेदपरा पतति ततः। (वाग्भट)। परन्तु कभी कभी अपरा शब्द केवल प्लेसन्टा के लिए भी प्रयुक्त होता है—नाभ्यां ह्यस्य नाडी प्रसक्ता, नाड्यां चापरा, अपरा चास्य मातुः प्रसक्ता हृदये, मातृहृदयं ह्यस्य तामपरामभिसंप्लवते सिराभिः संस्पदमानाभिः। (चरक)। अपरा गर्भस्य नाभिनाडी-प्रतिबद्धा 'अमरा' इति लोके ख्याता। (चक्रपाणि)। जरायु शब्द भी अपरा के समान दोनों के लिए प्रयुक्त है, परन्तु अधिकतर उससे केवल आवरणों का बोध है—जरायुणा मुखे च्छन्ने। (सुश्रुत)। गर्भवेष्टनं जरायु। (उदयन)। अतः निश्चित परिभाषा की दृ अपरा Placenta के लिए और जरायु Membran लिए प्रयुक्त करना उचित है।

अपरा की यहाँ पर जो निरुक्ति बतलाई गई है, यह मालूम होता है कि अपरा शोणित से उत्पन्न हुई यह कथन कुछ अंश तक सत्य है। यदि अपरा का छेद जाय तो उसमें दो भाग दिखाई देते हैं। गर्भाशय तरफ जो भाग होता है वह गर्भाशयज अपरा (Placenta uterina) और गर्भ की तरफ जो होता है वह गर्भज अ (Placenta foetalis) कहलाता है। गर्भज भाग में क और उनके अंकुर (Villi) आते हैं और गर्भाशयज भा श्लेष्मल कला का हिस्सा (Decidua basalis) और र तावकाश, जिनमें माता का रक्त रहता है, होते हैं। भाग गर्भ से और गर्भाशयज भाग शोणित से बनत यदि गर्भावस्था के प्रारम्भ का विचार किया जाय तो कथन अधिक सत्य होता है क्योंकि उस समय गर्भा भाग अधिक होता है—

During the constructive stage the u undergoes growth, glandular development hyperaemia. The changes in a general way described as being very similar to t which occur at the commencement of p nancy. *Marshall's Introduction to Se Physiology.*

शेषम्—जरायुशेषम्। (अष्टांगसंग्रह)। अपरा की उप के लिए आवश्यक शोणित व्यय होने पर बचा हु हाराणचन्द्र 'शेष' से तीसरे महीने के बाद का आर्त शेषं तृतीयादिमासिकम्। वास्तव में आर्तव का और स्त का कोई संबंध नहीं है। जो द्रव्य (प्रोजेस्टिन) ग को गर्भग्रहण योग्य बनाता है तथा गर्भाधान हो गर्भाशय में उसके पोषण के लिए आवश्यक परि करने में सहायता करता है, वही द्रव्य गर्भजन्म के उसके पोषण के लिए स्तनों की भी वृद्धि करता है। स्तनों का कार्य जन्म के पश्चात् होने से उस द्रव्य का कार्य गर्भाशय पर होता है और पश्चात् स्तनों पर होता अपरा की पूर्णवृद्धि तीसरे महीने के अन्त तक हो जा और स्तनगत परिवर्तन तीसरे महीने से प्रारंभ होते हैं प्रसवकाल तक जारी रहते हैं। इनका विवरण अध्याय के १४वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। इ शेष का अर्थ अपरा की उपचिति होने के पश्चात् का ऐसा समझना चाहिए।

गर्भस्य यकृत्प्लीहानौ शोणितजौ, शोणित प्रभवः फुप्फुसः, शोणितकिट्टप्रभव उण्डुक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

असृजः श्लेष्मणश्चापि यः प्रसादः परो मतः ।
तं पच्यमानं पित्तेन वायुश्चाप्यनुधावति ॥२५॥
ततोऽस्यान्त्राणि जायन्ते गुदं बस्तिश्च देहिनः ।
उदरे पच्यमानानामाध्मानाद्रुक्मसारवत् ॥२६॥
कफशोणितमांसानां सारो जिह्वा प्रजायते ।
यथार्थमूष्मणा युक्तो वायुः स्रोतांसि दारयेत् ॥२७॥
अनुप्रविश्य पिशितं पेशीर्विभजते तथा ।
मेदसः स्नेहमादाय सिरास्नायुत्वमाप्नुयात् ॥२८॥
सिराणां तु मृदुः पाकः स्नायूनां च ततः खरः ।
आशय्याभ्यासयोगेन करोत्याशयसंभवम् ॥२९॥

रक्तमेदःप्रसादाद्वृक्कौ; मांसासृक्कफमेदःप्रसादा-षणौ; शोणितकफप्रसादजं हृदयं, यथाश्रया हि मन्यः प्राणवहाः; तस्याधो वामतः प्लीहा फुप्फु-श्च, दक्षिणतो यकृत् क्लोम च; तद्धृदयं विशेषेण तनास्थानम्, अतस्तस्मिंस्तमसाऽऽवृते सर्वप्राणिनः पन्ति ॥३०॥

भवति चात्र—

पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम् ।
जाग्रतस्तद्विकसति स्वपतश्च निमीलति ॥३१॥

गर्भ के यकृत् और प्लीहा रक्त से, फुफ्फुस रक्त के फेन और उण्डुक रक्त के मल से बनते हैं ॥२४॥ रक्त और फ का जो सारतम भाग होता है, पित्त के द्वारा पकते मय उसमें वायु भी आ जाती है ॥२५॥ तब उससे आन्त्र, , बस्ति की उत्पत्ति होती है । (अग्नि पर रखकर) कने से (उत्पन्न होने वाले) सोने के सार भाग के मान उदर में (पित्त और वात के द्वारा) पकाये जाते ॥२६॥ कफ, रक्त और मांस का सार भाग जिह्वा उत्पन्न ती है। पित्त से युक्त वायु प्रयोजन के अनुसार स्रोतों को दीर्ण करती है (उत्पन्न करती है) ॥२७॥ उसी तरह पित्तयुक्त वायु) मांस में प्रवेश करके उसे पेशियों में भक्त करती है । और मेद का स्नेह भाग पृथक् करके मांस को) सिरा और स्नायुओं में परिवर्तित करती है ८॥ (सिरा और स्नायु में फर्क इतना ही है कि उत्पत्ति समय) सिराओं का पाक मृदु होता है और स्नायुओं का होता है। (वैसे ही वायु मांस में) अवस्थान करके बार बार परिश्रम करके आशयों की उत्पत्ति करता है ॥ रक्त और मेद के प्रसाद से दोनों वृक्क; मांस, रक्त, कफ मेद इनके प्रसाद से वृषण (उत्पन्न होते हैं); रक्त कफ के प्रसाद से हृदय (बनता है), जिसके आश्रय प्राणवहा धमनियाँ होती हैं; हृदय के नीचे बाईं ओर और फुफ्फुस, (नीचे) दाहिनी ओर यकृत् क्लोम (और फुफ्फुस) होता है । यह हृदय विशेष करके चैतन्य स्थान है । इसलिए इसके तम द्वारा आच्छादित होने पर संपूर्ण प्राणी सो जाते हैं ॥३०॥ यहाँ पर श्लोक है—अधोमुखकमल (कलिका) के समान हृदय (आकार में) होता है; जागरूक (मनुष्य या प्राणी) का हृदय विकसित रहता है और निद्रित (प्राणी या मनुष्य) का संकुचित हो जाता है ॥३१॥

वक्तव्य—फुफ्फुसः—फेफड़ा (Lungs) । आयुर्वेद में फुफ्फुस का उल्लेख एक वचन में होता है । वास्तव में फेफड़े दो होते हैं—एक दाईं ओर और एक बाईं ओर। परंतु ये दोनों फेफड़े कण्ठनलिका की शाखाओं से आपस में इतने निगडित होते हैं कि दोनों एक कहे जा सकते हैं । आयुर्वेद में फुफ्फुस का वर्णन बहुत संक्षेप में मिलता है—हृदयनाडिकालग्नः फुफ्फुसः । (डल्हण)। उदानवायोराधारः फुफ्फुसः प्रोच्यते बुधैः । (शार्ङ्गधर)। उदानवायोः कण्ठस्थित-वायोराधारः । (शार्ङ्गधरदीपिका) । इस वर्णन से भी यह निश्चय हो सकता है कि फुफ्फुस वही अंग है, जो पाश्चात्य परिभाषा में लंग्ज कहलाता है । चरक में 'द्वौ श्लेष्मभुवौ' (शा० ७) करके दो अंग उरोविभाग में वर्णन किये हैं। इसकी टिप्पणी में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—श्लेष्मभुवौ कण्ठस्य पार्श्वयोर्व्यवस्थितौ कठिनौ भागौ । इसमें कठिन शब्द फुफ्फुस के वर्णन के साथ नहीं मिलता। परंतु इस शब्द के ऊपर अधिक जोर देने का कारण नहीं है । शरीर के जो छप्पन प्रत्यंग वर्णन किये हैं, उनमें जिस सिलसिले में इनका उल्लेख आया है, उससे 'श्लेष्मभुवौ' फुफ्फुस के लिए प्रयुक्त हुए हैं, ऐसा मालूम पड़ता है । फुफ्फुस शंक्वाकार होता है, जिसका नीचे का भाग मोटा और अधिक चौड़ा और ऊपर का भाग पतला और नोकीला होता है । यह ऊपर का भाग शिखर (Apex) कहलाता है और गरदन की ओर अक्षकास्थि के पीछे रहता है। नीचे का भाग उदरगुहा की ओर महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm) के ऊपर स्थित होता है। फुफ्फुस ऊपर से चिकने और चमकीले होते हैं और उन पर कुछ चित्तियाँ पड़ी रहती हैं । ये बहुत मृदु और स्थितिस्थापक होते हैं, जिसके कारण स्पर्श करने और दबाने पर ये मुलायम और स्पंज के समान मालूम होते हैं। काटने पर उनमें स्पंज की भाँति असंख्य छिद्र दिखाई देते हैं। ये सब छिद्र वायु से भरे रहने के कारण फुफ्फुस जल से हलके होते हैं और पानी में तैरते हैं। गर्भावस्था में फुफ्फुस का रंग गहरा लाल, बालकों में गुलाबी और प्रौढ मनुष्यों में स्लेट का सा नीलापन लिये भूरा सा होता है। काटने पर इससे झागदार लाल तरल निकलता है । यहाँ पर फुफ्फुस की उत्पत्ति के संबंध में जो कल्पना की गई है वह शवविच्छेद करके फुफ्फुस के उपर्युक्त लक्षणों का अभ्यास करके की गई है, ऐसा मालूम पड़ता है। इन फुफ्फुसों में श्वास द्वारा प्राणवायु (वातावरण की अधिक आक्सिजन याने विष्णुपदामृत युक्त वायु) प्रवेश करती है और वहाँ पर रक्त की शुद्धि करके अधिक कार्बन डायोक्साइड युक्त वायु में परिवर्तित होती है। यही वायु प्रश्वास के साथ

१ तत्रास्य मध्यमानस्य ध्मायमानस्य रुक्मवत्। जिह्वा संजायते यया वेदयते रसान्. २ तस्य वामतः.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कण्ठ-नासिका से बाहर आती है और इसी की सहायता से मनुष्य स्वरयन्त्र के द्वारा बोलना, गाना इत्यादि ध्वनि के कार्य करता है—वायुर्यो वक्त्रसंचारी स प्राणो नाम देहधृक् । उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः । तेन भाषितगीतादिविशेषोऽभिप्रवर्तते । (सुश्रुत) । तत्र प्राणः कण्ठोरश्चरः । उदान उरस्यवस्थितः कण्ठनासिकानाभिचरो वाक्प्रवृत्तिः । (अष्टांगसंग्रह) । नाभिचर शब्द का अभिप्राय यह नहीं है कि वायु नाभिप्रदेश में भी संचार करता है, परन्तु श्वास-प्रश्वास के समय नाभि के आसपास का भाग भी हिलता है, इसलिए वायु नाभिचर या नाभिस्थ कहलाता है । जिसमें नाभि की गति अधिक होती है, वह नाभिवक्षचर (Abdomino-thoracic) श्वसन कहलाता है और जिसमें नाभि की गति कम और वक्ष की अधिक होती है वह वक्षनाभिचर (Thoracico-abdominal) श्वसन कहलाता है । प्रथम प्रकार स्वाभाविक तौर से लिंगनिरपेक्ष बालकों में और प्रौढ पुरुषों में तथा दूसरा प्रकार प्रौढ स्त्रियों में मिलता है । प्राणवायु शरीर को जीवन देने का भी कार्य करता है—प्राणांश्चाप्यवलम्बते (सुश्रुत) । नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम् । कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम् ॥ पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः । प्रीणयन् देहमखिलं जीवयञ्जठरानलम् ॥ (शार्ङ्गधर) । उपर्युक्त विवरण से यह बात साफ होगी कि आयुर्वेद में, यद्यपि स्पष्ट शब्दों में नहीं तथापि अस्पष्ट रीति से, फुफ्फुस का संबंध श्वास-प्रश्वास तथा रक्तशुद्धि के साथ (९ अध्याय में प्राणवह स्रोतस् देखो) जोड़ दिया गया है । प्राणवायु से अनेक वस्तुएँ (दृश्य या अदृश्य, व्यक्त या अव्यक्त) उपलक्षित हो सकती हैं, परन्तु उनमें 'आक्सीजन (Oxygen) या तद्युक्त वायु' यह एक वस्तु है, इसमें संदेह नहीं । वैसे ही उदान वायु से अनेक वस्तुएँ उपलक्षित हो सकती हैं, परन्तु उनमें फुफ्फुसगत परिवर्तित (अधिक कार्बन डायोक्साइड CO_2 युक्त) वायु एक वस्तु है, इसमें भी कोई संदेह नहीं और इसी दृष्टि से फुफ्फुस उदान वायु का आधार माना गया है—उदान वायोराधारः फुफ्फुसः प्रोच्यते बुधैः । (शार्ङ्गधर) । वृक्कौ—कुक्षिगोलकौ । (डल्हण) । वृक्क सदैव द्विवचन में प्रयुक्त होता है और गोलाकार कोष्ठस्थ अंग है । इसके सिवाय शरीर की दृष्टि से (Anatomically) वृक्कों का अधिक वर्णन आयुर्वेद में नहीं मिलता । परन्तु इतना भी वर्णन शारीरदृष्ट्या इसका निश्चय करने के लिए पर्याप्त है । आज कल जिसको गुर्दा या मूत्रपिण्ड (Kidney) कहते हैं, वही वृक्क है । वृक्क शरीर में दो होते हैं—एक दाहिना और दूसरा बायाँ । ये उदर में पिछली दीवार से लगे हुए रीढ़ की दाहिनी और बाईं ओर रहते हैं । वृक्क का आकार लोबिये के बीज के समान होता है । उसकी लम्बाई ४ इंच, चौड़ाई २॥ इंच, और मोटाई १ इंच होती है । ये लम्बाई में रीढ़ के दोनों तरफ रहते हैं । रीढ़ की ओर का किनारा लोबिये के काले तिल वाले किनारे की भाँति बीच में दबा हुआ होता है और दूसरा किनारा बाहर की ओर गोल होता है । वृक्क में असंख्य पतली पतली और लम्बी नालियाँ होती हैं । इन नालियों का एक सिरा गुच्छेदार होता है और दूसरा सिरा अन्य नालियों के साथ मि[...] है । इस तरह बड़ी बड़ी नालियों की बनावट होती [...] ये बड़ी नालियाँ अलिन्द (Pelvis) में इकट्ठा होती [...] वहाँ से मूत्रप्रणाली निकलकर उसी तरफ बस्ति [...] कोने में मिलती है । इसी प्रकार दूसरे वृक्क से भी [...] प्रणाली बनकर बस्ति में मिलती है । वृक्कों में महा[...] से दो शाखाएँ आती हैं, जो उनके भीतर अत्यंत [...] प्रशाखाओं में विभक्त होती हैं । इनका अन्तिम [...] मूत्रनलिका के गुच्छेदार सिरे में मिलता है । वहाँ से [...] छोटी सिराएँ उत्पन्न होती हैं, जो आपस में मिलकर [...] बनती हैं । अन्त में सब सिराओं से एक बड़ी [...] बनती है, जो अधरा महासिरा में मिल जाती है । धम[...] द्वारा वृक्कों में आई हुई कुछ अशुद्धियाँ (यूरिआ, [...] अम्ल, फास्फेट) तथा जल छनकर नालियों में चली [...] हैं और रक्त शुद्ध होकर सिरा द्वारा वापस चला जाता [...] वृक्कों का कार्य—वृक्कों में मूत्रोत्पत्ति होती है । [...] नालियों से जो मूत्र बनता है, वह वृक्कालिन्द में [...] होकर मूत्रप्रणालियों (Aureters) द्वारा बस्ति में [...] है । आयुर्वेद में वृक्कों का संबंध मूत्रोत्पत्ति के सा[थ] [...] स्थान को छोड़कर और कहीं भी नहीं बतलाया गया [...] जिस स्थान में दोनों का कुछ अस्पष्ट संबंध दिखाई दे[...] वह स्थान अष्टांगसंग्रह में निम्न प्रकार से मिलता [...] सप्ताशयाः क्रमादसृक्कफामपित्तपक्ववायुमूत्राधाराः । ते[...] प्रतिबद्धानि कोष्ठाङ्गानि हृदययकृत्प्लीहफुफ्फुसोण्डुकवृक्कान्[...] (शा० ५) । विशेष विवरण के लिए ग्रन्थकर्ता[...] 'आयुर्वेद में मूत्रोत्पत्ति की कल्पना' नामक अंग्रेजी पु[स्तक] देखो । वृषण—शिश्न के दोनों तरफ नीचे लटकने [...] पिण्ड (Testicle or testes) वृषण कहलाते हैं । [...] ग्रंथियों में भी वृक्क के समान छोटी छोटी पतली [...] होती हैं । इनकी संख्या ८००–९०० के लगभग हो[ती] [...] ये नालियाँ बहुत मुड़ी हुई होती हैं । कई नालियाँ [...] में मिलकर २०–२५ बड़ी नालियाँ बनती हैं, जो [...] बाहर निकलती हैं । इन्हीं नालियों से अधिवृ[षणिका] (Epydydimis) का सिरा बनता है । वहाँ पर इन [...] के संयोग से एक बड़ी नाली बन जाती है, जो शुक्र[...] कहलाती है । यह प्रणाली बहुत मोड़ खाकर और गं[...] मारकर अण्ड के पिछले किनारे के नीचे भाग तक [...] है । इसी से अधिवृषणिका का शरीर और नीचे [...] बनता है । यही शुक्रप्रणाली और मोटी होकर तथा [...] को मुड़कर अधिवृषणिका के पार्श्व से लगी हुई [...] चढ़ती है और वृषणरज्जु के साथ उदर में प्रविष्ट [...] शुक्राशय के नीचे के भाग में उसके साथ मिल[...] वृषणग्रंथि के भीतरी असंख्य नालियों में वीर्य का [...] अवयव शुक्राणु (Spermatozoa) बनते हैं और [...] आकर अधिवृषणिका की नालियों में इकट्ठा हो[ते] [...] आयुर्वेद में वृषण के इस कार्य का स्पष्ट परिचय मिल[ता] [...] चरक के स्रोतोविमान में लिखा है—शुक्रवहानां [...] वृषणौ मूलम् । (विमान ५) । वीर्यवाहिशिराधारौ [...]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शुक्रवाही। (शार्ङ्गधर)। यहाँ पर शुक्रवह स्रोतस् या वीर्यवाही शिरा से Tubuli seminiferi अभिप्रेत हैं। वृक्क और वृषण दोनों नालीदार ग्रंथियाँ हैं और दोनों का ही कार्य अत्यंत सूक्ष्म है, जो सूक्ष्मदर्शक के सिवा नहीं समझा जा सकता। ऐसी अवस्था में वृषणों के कार्य का स्पष्ट परिचय मिलता है और वृक्कों के कार्य का नहीं मिलता, इसका कारण क्या है ? इसका कारण स्थानभिन्नता मालूम होता है। वृक्क उदरगुहा के भीतर होने के कारण उसके विकार के या अपघात के परिणाम देखने का अवसर नहीं मिलता था, जिसके सबब से उसके संबंध में केवल कल्पना के सिवा ज्ञान प्राप्त करने का और कोई उपाय नहीं था। वृषण शरीर के बाहर का और दृश्य अंग होने के कारण उसके विकारों का तथा अपघातों का परिणाम देखने का अवसर प्राप्त होता था और उनको देखकर वृषणों के कार्य का ज्ञान प्राप्त हो गया था। क्लैब्य के जो अनेक कारण बताये गये हैं उनमें शस्त्र, क्षार, अग्नि और वृषण का टूट जाना इत्यादि कारण मिलते हैं। शस्त्र, क्षार और अग्नि का संबंध वृषण के साथ समझना चाहिए, शरीर के अन्य अंगों पर नहीं—शुक्रवाहीनि दुष्यन्ति शस्त्रक्षाराग्निभिस्तथा। (चरक, विमान ५)। चिन्ताशोकादविस्रम्भाच्छस्त्रक्षाराग्निविभ्रमात्। भयात् पृथक् समस्ता वा प्राप्य रेतोवहाः सिराः। शुक्रं संदूषयन्त्याशु। ...केचित् क्लैब्ये त्वसाध्ये द्वे ध्वजभङ्गक्षयोद्भवे। वदन्ति शोफसंछेदाद् वृषणोत्पाटनेन च। (चरक, चि० ३०)। हृदय—शरीर का वह अवयव जो अपने संकोच-विकास से रक्त को सदैव गतिमान् रखता है। संक्षेप में हृदय रक्तपरिचालक यन्त्र (Pump) है। इसको अंग्रेजी में हार्ट (Heart) कहते हैं और यह शब्द हृत् या हार्दिम इन संस्कृत शब्दों से निकला हुआ मालूम पड़ता है। यह अनैच्छिक मांस से निर्मित अंग है। अनैच्छिक कहने का कारण यह है कि उसके संकोच विकास पर मनुष्यों की इच्छा का पूर्ण अधिकार नहीं है। मानसिक क्रोधादि अवस्थाओं का कुछ असर होता है। यह अंग वक्ष के वामपार्श्व में अवस्थित है। इसकी दाहिनी ओर दाहिना और बाईं ओर बायाँ फुफ्फुस रहता है। उसके सामने उरःफलक और बाईं ओर दूसरी, तीसरी, चौथी और पाँचवीं पसलियाँ होती हैं। उसके पीछे अन्ननलिका और बृहद्धमनी और इनके पीछे रीढ़ होती है। नीचे महाप्राचीरा पेशी होती है, जिस पर हृदय आश्रय लेता है और महाप्राचीरा के नीचे उदरगुहा में हृदय की बाईं ओर प्लीहा और दाहिनी ओर यकृत् होता है। इसके ऊपर से समस्त शरीर को रक्त पहुँचाने वाली बृहद्धमनी निकलती है। इसके सिवा फुफ्फुस को जाने वाली और उससे आने वाली रक्तवाहिनियाँ उत्तरा और अधरा महासिरा भी निकलती हैं। संक्षेप में, समस्त शरीर को प्राण देने वाली वाहिनियाँ हृदय से संबंधित रहती हैं। हृदय के संकोच विकास से इन वाहिनियों के द्वारा संपूर्ण शरीर को रक्त की रसीद पहुँचती है और शरीर के परमाणु (Cells) सजीव (चैतन्ययुक्त) रक्खे जाते हैं। हृदय का यही संबंध और कार्य इस सूत्र में संक्षेप में वर्णित हुआ है। धमन्यः प्राणवहाः—शरीर की धातुओं का धारणपोषण तब होता है, जब उनको प्राणवायुयुक्त रक्त (Oxygenated blood) मिलता है। प्राणवायुयुक्त रक्त हृदय से निकलने वाली रक्तवाहिनियों में से बहता है। इस प्रकार की वाहिनी को धमनी (Artery) कहते हैं—ध्मानाद्धमन्यः। (चरक, सू० ३०)। धमनी कहने का कारण तद्गत स्पन्दन है। चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—ध्मानात् पूरणाद्धाडेन रसादिनेत्यर्थः। इसका अभिप्राय यह है कि धमनियों में जो स्पन्दन होता है, वह बार बार रस या रक्त के पूरण से होता है। स्पन्दन एक प्रकार की गति है और गति वायु के सिवा नहीं हो सकती, यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक स्पन्दन के समय वायु धमनी में रक्त के साथ जाता है, यह भी एक धमनीस्पन्दन के संबंध में आयुर्वेद का मत है। परंतु यह वायु Air न होकर 'तन्त्र-यन्त्र-धर' है, जो शरीर में अव्याहत संचार करके शरीर को स्वस्थ रखता है—अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतौ स्थितः। वायुः स्यात् सोऽधिकं जीवेद्वीतरोगः समाः शतम्॥ (चरक)। आर्टरी शब्द का मूल अर्थ वायु(Air)वाहिनी है क्योंकि प्राचीन ग्रीक लोग आर्टरी को वातपूर्ण समझते हैं। आधुनिक काल में 'हृदय से निकलने वाली रक्तवाहिनी' यह इसका अर्थ निश्चित किया गया है। आयुर्वेद में भी धमनी शब्द प्रायः इसी अर्थ से (आगे नौवें अध्याय को देखो) प्रयुक्त होता है और इसी लिए यहाँ पर लिखा है—हृदाश्रयाः। सिराएँ (Veins) और धमनियाँ दोनों ही हृदय के साथ संबंध रखती हैं, परन्तु दोनों का हृदय के साथ संबंध भिन्न प्रकार का है। धमनियों की दृष्टि से हृदय आश्रय है। आश्रय वह कहलाता है जो धारण, पोषण या रक्षण द्वारा आश्रितों का कार्य चलाता है—विनाश्रया न शोभन्ते पण्डिता वनिता लताः। हृदय ओज का स्थान होने से धमनी ओजोवह होती है—तेन मूलेन महता महामूला मता दश। ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः॥ (चरक)। प्राण का स्थान हृदय होने से धमनियाँ प्राणवह भी कहलाती हैं—धमन्यः प्राणवहाः। रस का स्थान होने से धमनियाँ रसवाहिनी भी होती हैं—तस्य (रसस्य) च हृदयं स्थानम्, स हृदयाच्चतुर्विंशतिं धमनीरनुप्रविश्य। (सुश्रुत)। हृदय संकोच-विकास का स्थान होने के कारण संकोच-विकास का भी ग्रहण धमनियों से होता है—करस्याङ्गुष्ठमूले या धमनी जीवसाक्षिणी। (शार्ङ्गधर)। संक्षेप में ओज, प्राण, रस, स्पन्द इत्यादि सब बातों के लिए धमनियाँ हृदय की आश्रित होती हैं। सिराएँ हृदय-संबंधित होने पर भी उससे किसी चीज का ग्रहण नहीं करतीं, परन्तु हृदय को ही रक्त की रसीद पहुँचाती हैं—हृदो रसः निःसरति तत एव च सर्वतः। सिराभिर्हृदयं चैति तस्माद् हृत्प्रभवाः सिराः॥ (भेलसंहिता)। अर्थात् हृदय रक्त के लिए सिराश्रयी होता है, सिराएँ हृदयाश्रयी नहीं होती हैं। इसलिए यहाँ पर 'हृदाश्रय' शब्दप्रयोग से जो रक्तवाहिनी प्रदर्शित की गई है, वह आधुनिक परिभाषा के अनुसार आर्टरी है। तस्याधो वामत इत्यादि—इस सूत्र में हृदयसमीप-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्ती अंगों का उसके साथ स्थानिक संबंध बतलाया गया है। इसमें फुफ्फुस केवल एक तरफ लिखा है, परन्तु वास्तव में वह दोनों तरफ है। इस प्रमाद को दूर करने के लिए गणनाथसेन प्रत्यक्षशारीर की प्रस्तावना में निम्न पाठ सूचित करते हैं—यत्तु 'हृदयस्याधो प्लीहा फुफ्फुसश्च, दक्षिणतो यकृत् क्लोम च' इति सौश्रुतः पाठस्तत्र प्रमाद एव दरीदृश्यते। 'हृदयस्याधो वामतः प्लीहा, दक्षिणतो यकृत्, उभयतः क्लोम फुफ्फुसौ च' इति तु साधीयान् पाठः, अन्यथा न केनापि कथमपि शक्यं समाधातुम् ॥ अष्टांगहृदय के शारीरस्थान के तीसरे अध्याय के दसवें श्लोक की टीका में अरुणदत्त निम्न श्लोक हृदय के संबंध में लिखते हैं—कफरक्तप्रसादात् स्याद् हृदयं स्थानमोजसः। तस्य दक्षिणतः क्लोमयकृत्फुफ्फुसमास्थितम् ॥ इस श्लोक के अनुसार दक्षिणपार्श्व में भी फुफ्फुस होना चाहिए और यदि इसके अनुसार प्राचीन पाठ निम्न प्रकार से परिवर्तित किया जाय—तस्याधो वामतः प्लीहा फुफ्फुसश्च, दक्षिणतो यकृत् क्लोम फुफ्फुसश्च—तो प्राचीन आधार के अनुसार पाठ होकर वह प्रत्यक्ष विरोधी भी नहीं होता। यह प्रमाद लेखक के शारीर अज्ञान का परिणाम है। उसने वामपार्श्व में फुफ्फुस लिखा, फिर फुफ्फुस के वास्तविक स्वरूप का ठीक ज्ञान न होने के कारण दक्षिणपार्श्व में फुफ्फुस लिखने की उसे आवश्यकता नहीं मालूम हुई और वही पाठ आगे चलकर रूढ हो गया। परंतु उपर्युक्त श्लोक में प्राचीन वास्तविक पाठ मिलता है, उसी के अनुसार पाठशुद्धि करना उचित है। उदर और वक्ष दोनों मिलकर कोष्ठ होता है। दोनों के बीच में महाप्राचीरा पेशी स्थित है, जो उदरगुहा को वक्षगुहा से पृथक् करती है। हृदय और फुफ्फुस वक्षगुहा में हैं और महाप्राचीरा पर उनका नीचे का पृष्ठभाग स्थित होता है। यकृत् और प्लीहा उदरगुहा में स्थित हैं और उनका ऊपर का पृष्ठभाग महाप्राचीरा के साथ लगा हुआ है। क्लोम—इसके अर्थ के संबंध में बहुत मतभिन्नता पाई जाती है। कुछ लोग इसको अग्न्याशय (Pancreas), कुछ कण्ठनाडी (Trachae) और कुछ पित्ताशय (Gall bladder) समझते हैं। प्रत्येक अर्थ के लिए कुछ न कुछ साधक प्रमाण मिलते हैं। एक मत से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता। परंतु निम्न कारणों से क्लोम का अर्थ पित्ताशय करना अधिक उचित मालूम होता है। (१) इसकी उत्पत्ति रक्त के किट्ट से मानी गई है—यस्तु शोणितजः किट्टस्तस्मात्क्लोम च जायते ॥ (२) यकृत् का और क्लोम का उल्लेख साथ साथ होता है—क्लोम च यकृच्च। विद्रधि के लक्षणों में भी दोनों की समानता बताई गई है—श्वासो यकृति तृष्णा च पिपासा क्लोमजेऽधिका ॥ (३) इसका स्थान यकृत् के नीचे बताया गया है—क्लोम कालखण्डा(यकृता)दधस्तात् स्थितं दक्षिणपार्श्वस्थं तिलकमिति प्रसिद्धम् ॥ (डल्हण)। तिलं तु शोणितकिट्टप्रभवं दक्षिणाश्रितं यकृत्समीपे क्लोमसंज्ञकं भवति॥ (आढमल्ल, शार्ङ्गधरदीपिका)। (४) क्लोम हमेशा दक्षिणपार्श्व में बतलाया गया है। अधस्तु दक्षिणे भागे हृदयात् क्लोम तिष्ठति ॥ कण्ठनाडी मध्य में होती है और अग्न्याशय मध्य में होकर दोनों पार्श्वों में फैलता है।

(५) क्लोम के लिए तिलक शब्द भी पर्याय से प्रयुक्त है। यदि यकृत का नीचे का पृष्ठभाग देखा जाय तो पि[illegible] की आकृति काले तिल के समान यकृत् पर प्रतीत होती[illegible] तिल से छोटापन, तिलाकार और कालापन इन बातों[illegible] बोध होता है—

The gall-bladder is a conical or pears[illegible] (तिलाकृति) Musculo-membranous sag, lod[illegible] a fossa on the under surface of the right lo[illegible] the liver. *Grey's Anatomy.*

इसका गोलाकार भी अरुणदत्त ने अपनी टीका में [illegible] किया है—समानवायोः प्रध्मानाद्रक्ताद्देहोष्मपाचितात्। [illegible] दुच्छूनसंज्ञस्तु जायते क्लोमसंज्ञकः ॥ (६) क्लोम एक पे[illegible] बताया गया है कि जो उदराध्मान होने पर हृदय, [illegible] प्लीहा, फुफ्फुस इनके साथ अपना स्थान कुछ बदल[illegible] है—यदा सोऽन्तर्मृतो गर्भो शूनो बस्तिरिवाततः। तेना[illegible] नार्यास्तु कुक्षिरानह्यते भृशम् ॥ उत्क्षिप्यन्त इवाङ्गानि मू[illegible] भिद्यते। क्लोम प्लीहा यकृच्चैव फुफ्फुसं हृदयं तथा। गर्भेण[illegible] ह्येतदूर्ध्वं प्रक्रामति स्त्रियाः॥ (डल्हणटीका, मूढगर्भनिदा[illegible]) तद्धृदयं विशेषेण चेतनास्थानम्—जिसकी उत्पत्ति [illegible] गई, जिससे प्राणवह धमनियाँ निकलती हैं, जिसके [illegible] तरफ फुफ्फुस होता है, दाहिनी ओर नीचे यकृत् और[illegible] होता है और बाईं ओर नीचे प्लीहा होती है वही [illegible] अन्य चेतनास्थानों की अपेक्षा अधिक महत्त्व का [illegible] स्थान है। शरीर को जिससे चैतन्य प्राप्त होता है, [illegible] स्थान किंवा जिससे चैतन्य (Life) का ज्ञान प्राप्त हो[illegible] ऐसा स्थान चेतनास्थान कहा जा सकता है। हृद[illegible] का स्थान है, प्राण का स्थान है और चैतन्य का भी [illegible] है—हृदि प्राणः। प्राणाश्रयस्यौजसोऽष्टौ बिंदवो हृदया[illegible] तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः। (चरक) [illegible] हृदय से समस्त शरीर के समस्त धातुओं को, अंग[illegible] को प्राणयुक्त, ओजयुक्त, चैतन्ययुक्त जीवरक्त मिल[illegible] अतः इसी के कारण संपूर्ण शरीर भी चैतन्ययुक्त हो[illegible] है। हृदय का एकाध संकोच बन्द होने से याने हृद[illegible] दो सेकण्ड काम न करने से आँखों के सामने चित[illegible] आती हैं, चक्कर आता है, पैरों में कमजोरी आ ज[illegible] मृत्यु का डर मालूम होता है, संक्षेप में शरीर से प्रा[illegible] जा रहे हैं ऐसा अनुभव होता है और जब हृदय [illegible] लिए बंद (Heart-failure) होता है तब मस्तिष्कादि [illegible] महत्त्व के अंग कार्यक्षम और प्राकृत होने पर भी [illegible] चैतन्य नष्ट होता है और कितनी कोशिश क्यों न की [illegible] जान वापस नहीं आती है। इन सब बातों का [illegible] करके आयुर्वेदज्ञ चिकित्सक हृदय को प्राणादि का [illegible] (आश्रय) मानने लगे और अन्य अंगों की अपेक्षा [illegible] अधिक महत्त्व देने लगे—तस्योपघातान्मूर्च्छायं भेदा[illegible] मृच्छति। यद्धि तत् स्पर्शविज्ञानं धारि तत्तत्र सं[illegible] तत् परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः। हृदयं महदर्थश्च [illegible] चिकित्सकैः ॥ (चरक, सू० ३०)। यदि चैतन्य के [illegible] की दृष्टि से (Signs of life or vital functions)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाय तब भी हृदय ही सबसे महत्त्व का होता है। अवस्था में इस बात की जाँच करने का कारण नहीं होता, परन्तु रोगी की मृत्यु होने पर या मृतसम जन्म लिए हुए बालक में चैतन्यके संबंध में जाँच करके मृत्यु का निर्णय करने के कई प्रसंग आते हैं। चैतन्याभाव का पता शरीर ठंडा पड़ने से—नित्योष्मणां शीतीभावः। (चरक)। श्वास प्रश्वास का कार्य बंद होजाने से, आँखों की स्थिति से—तस्य चेचक्षुषी प्रकृतिहीने, विकृतियुक्ते स्यातां तदा परासुरिति विद्यात्। (चरक)। सर्वसाधारण शरीर के रूप से तथा हृदय और धमनियों के स्पन्दाभाव से—सततं स्पन्दमानानां शरीरदेशानामस्पन्दनं, तस्य चेन्मन्ये परिमृश्यमाने मन्ये गलपार्श्वगते धमन्यौ। (चक्रपाणि)। Carotid arteries) न स्पन्देयातां परासुरिति विद्यात्। (चरक, इन्द्रिय ३)। मालूम होजाता है। इन सब लक्षणों में चैतन्याभाव की दृष्टि से सबसे अधिक विश्वासयोग्य लक्षण हृदय और धमनियों का अस्पन्दन है। हृदय का स्पन्दन या अस्पन्दन स्पर्शन से, श्रवण से और आधुनिक काल में क्ष किरणों से (Fluorescent screen) मालूम होता है। ये पद्धतियाँ उत्तरोत्तर अधिक विश्वासयोग्य होती हैं। कई बार यह देखा गया है कि श्रवण द्वारा हृत्स्पन्दन सुनने में न आने के कारण मृत्यु का प्रमाणपत्र प्राप्त हुए नवजात बालक तथा रोगी कुछ घंटों के बाद फिर से जिन्दे होगये हैं। श्रवणयन्त्र से न सुनने पर भी भीतर हृदय का स्पन्दन अखंडित रहने के कारण इस प्रकार की विचित्र घटनाएँ कभी कभी हुआ करती हैं। कभी कभी पानी में डूबने से या अन्य आकस्मिक घटना से जब मनुष्य की मृत्यु होजाती है तब हृदय के भीतर अड्रेन्यालिन (Adrenalin) का इन्जेक्शन करने से मनुष्य कई बार बच जाता है। यदि हृदय के स्पन्दन का खुद विचार किया जाय तो आधुनिक खोज से यह मालूम हुआ है कि हृदय में स्पन्दन की उत्पत्ति आपसे आप होती है, केवल इसका नियन्त्रण नाड़ियों के द्वारा होता है। तत् (हृदयं) संकोचं विकासं च स्वतः कुर्यात् ततः पुनः। (उमामहेश्वर संवादे नाडीज्ञानम्)—

The property of rhythmical contraction resides in muscular tissue itself, though during life it is normally controlled and regulated by its nerves. This is expressed by saying that cardiac rhythm is myogenic not neurogenic. *Halliburton's Physiology.*

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि आयुर्वेद में हृदय चैतन्य स्थान माना गया है वह बिलकुल ठीक है। चैतन्य स्थान के संबंध का कुछ अधिक विवरण आगे ३३वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है उसको भी देखो। हृदय शरीर के कोन—इस श्लोकार्ध में हृदय का स्वरूप संक्षेप में वर्णन किया गया है। तन्त्रान्तरों में हृदय का स्वरूप निम्न प्रकार से वर्णन किया है—कफरक्तप्रसादात्स्याद्धृदयं स्थानमाश्रितं... मांसपेशीचयोरक्तपद्माकारमधोमुखम्॥ (अरुणदत्त उद्धृत श्लोक)। प्रसन्नाभ्यां कफासृग्भ्यां हृदयं पंकजाऽऽकृति। सुषिरं स्यादधोवक्त्रं यकृत्क्रोडान्तरस्थितम्॥ (टोडरानन्द)। कमलमुकुलाकारमधोमुखम्। (डल्हण)। इस वर्णन के अनुसार हृदय अधोमुख रक्तकमल-कलिका के समान नीचे की ओर नोकीला और ऊपर मोटा मांसपेशी से निर्मित एक पोला अंग होता है। यह वर्णन बहुत सुन्दर है। समीपवर्ति अंगों से इसका संबंध ऊपर वर्णन किया है। अब भीतरी कोष्ठों का कुछ वर्णन दिया जायगा। हृदय के भीतर एक खड़ी दीवाल होती है जिससे उसके दक्षिण और वाम करके दो विभाग होते हैं। इन विभागों का आपस में कोई संबंध नहीं होता। फिर प्रत्येक विभाग आड़ी दीवाल से दो भागों में विभक्त होता है। इस दीवाल में कीवाड़ होते हैं जिनके द्वारा ऊपर का विभाग नीचे के विभाग से संबंध रखता है। परंतु ये कीवाड़ (कपाट valves) इस प्रकार लगे रहते हैं कि ऊपर के विभाग से आया हुआ रक्त नीचे के विभाग में जा सकता है, परंतु नीचे के विभाग का रक्त ऊपर के विभाग में नहीं जा सकता। ऊपर के विभाग को अलिन्द (Auricle) और नीचे के विभाग को निलय (Ventricle) कहते हैं। इस प्रकार दक्षिण अलिन्द और निलय तथा वाम अलिन्द और निलय करके हृदय के चार कोष्ठ होते हैं। दक्षिण के विभागों के बीच में जो किवाड़ होता है वह त्रिपत्रक (Tricuspid) और वाम विभागों के बीच में जो होता है वह द्विपत्रक (Bicuspid or mitral) कपाट कहलाता है। दक्षिणालिन्द में अधरा और ऊर्ध्वा महासिराओं के द्वारा समस्त शरीर का अशुद्ध रक्त आता है। वहाँ से रक्त त्रिपत्रक कपाट के द्वारा दक्षिण निलय में जाता है। वहाँ से फुफ्फुसी या धमनी द्वारा, जिसकी दो फुफ्फुसों के लिए दो शाखाएँ होती हैं, रक्त फुफ्फुस में जाता है। फुफ्फुसी या धमनीद्वार के ऊपर तीन अर्धचंद्राकार कपाट होते हैं जिससे रक्त लौट नहीं सकता। फुफ्फुस में शुद्ध हुआ रक्त प्रत्येक फुफ्फुस से दो सिराओं द्वारा वाम अलिन्द में जाकर वहाँ से द्विपत्रक कपाट में से होकर वाम निलय में जाता है। फिर वहाँ से बृहत् धमनी में जाकर समस्त शरीर में फैलता है और शरीर का पोषण करता है। बृहत् धमनीद्वार के ऊपर भी तीन अर्धचन्द्राकार कपाट (Semilunar valves) होते हैं जिससे रक्त लौटकर वामनिलय में नहीं आ सकता। रक्त का शरीर में परिभ्रमण हृदय के संकोच विकास से होता है। प्रथम दोनों अलिन्द संकुचित होते हैं जिससे तद्गत रक्त दोनों निलयों में चला जाता है। पश्चात् दोनों निलय संकुचित होते हैं जिससे तद्गत रक्त फुफ्फुस में और शरीर में चला जाता है। संकोच के पश्चात् प्रत्येक में विकास या विस्फार होता है जिस समय ये भाग रक्त से भर जाते हैं। वाम निलय की दीवाल सबसे अधिक मोटी होती है क्योंकि उसको संकोच से रक्त समस्त शरीर में फेंकने का कार्य करना पड़ता है। हृदय की संकोच विकास की गति आयु के अनुसार बदलती रहती है। इसके सिवाय गति बदलने के और भी कारण होते हैं जिनका विचार आगे की टिप्पणी में किया गया है। जितना शरीर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोटा होता है उतनी गति अधिक होती है। नीचे वयानुसार गति बतलाई गई है।

जन्म के पूर्व	प्रति मिनट	१५०
जन्म के पश्चात् तुरन्त	,,	१४०—१२०
प्रथम वर्ष में	,,	१३०—११५
द्वितीय वर्ष में	,,	११५—१००
सातवें वर्ष में	,,	९०—८५
चौदहवें वर्ष में	,,	८५—८०
जवानी में	,,	८०—७०
वृद्धावस्था में	,,	७०—६०

नाडीज्ञानतरंगिणी में नाडी की गति प्रायः इसी क्रम से वर्णित है। सुखस्मरणार्थ नीचे श्लोक दिये जाते हैं। एक मिनट में ढाई पल होते हैं, इसलिए श्लोक में वर्णित संख्या को ढाईगुना करने से प्रति मिनट संख्या मिल जाती है। शिशोर्हि जन्मकालतः पलावधि प्रकम्पते। धरारसेषुवारकं (५६) निरन्तरं शिशुप्रिये ॥ पलादारभ्यवर्षान्तं पलैकेन च नाडिका। नेत्रेषुकृत्व (५२) श्वलति मत्तकुञ्जरगामिनी ॥ अब्दादब्दद्वयं नाडी पलैकेनप्रवेपते। वेदाब्दिवारं (४४) लोलाक्षिचलत्कुण्डलशालिनी ॥ वर्षद्वयात्त्रिवर्षान्तं पलैकेन च तन्तुकी। खवेदकृत्व (४०) श्वलति पीनोत्तुंगपयोधरे ॥ त्रिवर्षात्सप्तवर्षान्तं षट्त्रिंशद्वारकं प्रिये। कम्पते च पलैकेन जीविताज्ञा प्रियं वदे ॥ सप्तमान्मनुवर्षान्तं वेदाग्निवार-कंधरा। ततश्च त्रिंशद्वर्षान्तं द्वात्रिंशद्वारमेवही ॥ त्रिंशदब्दात्समारभ्य खशराब्दान्तमेव च। खग्निवारान् (३०) विशालाक्षि जीवितज्ञा प्रकम्पते ॥ शतार्धवर्षादारभ्याशीतिवर्षान्तमेवच। चतुर्विंशति वारान्वै कम्पते धमनी प्रिये ॥ दाहिने और बायें निलय की समाई १।–१॥ छटाँक रक्त के लगभग होती है, इसलिए इतना रक्त प्रत्येक संकोच के समय बाहर फेंका जाता है। इस हिसाब से प्रति मिनट निलय ४–६ सेर रक्त बाहर फेंकते हैं। जाग्रत इत्यादि—इस श्लोकार्ध में हृदय में जाग्रतावस्था में और निद्रितावस्था में क्या फर्क होता है उसका संक्षिप्त स्वरूप वर्णन किया है। हृदय प्राण, ओज, रस इनका स्थान है जो इनको अपनी गति से शरीर के संपूर्ण धातुओं को देकर उनका धारण और पोषण करता है। ये सब वस्तुएँ रक्त के द्वारा संपूर्ण धातुओं को मिलती हैं। शरीर के अंग प्रत्यंग तथा धातुएँ जब काम करती हैं तब उनको अधिक रक्त की आवश्यकता होती है। दिन प्रायः काम करने के लिए परमेश्वर रूप भगवान् सूर्यनारायण ने बनाया है और रात्रि आराम पर्याय से निद्रा लेने के लिए बनाई है। प्रायः कहने का कारण यह है कि कुछ लोग अपनी प्रकृति से और कुछ लाचार होकर रात्रिंचर बनते हैं और दिन में आराम निद्रा सेवन करते हैं—अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुष-दैविके। रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः ॥ (मनु १)। दिन में मनुष्य कितना ही आलसी क्यों न हो कुछ न कुछ किये बग़ैर नहीं रह सकता—नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवशःकर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ नहिदेह-भृताशक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ॥ (भगवद्गीता)। चलना, फिरना, बैठना, खड़े होना, खाना, पीना, विचार करना इत्यादि कार्य ऐसे हैं कि जिनके सुस्त से सुस्त मनुष्य का भी गुजर नहीं हो सकता। उद्योगी, परिश्रमी, शौक़ीन लोग अपनी इच्छा से गरीब लाचार होकर बहुत अधिक काम करते हैं। काम के लिए उसकी न्यूनाधिकता के अनुसार न्यू... रक्त की आवश्यकता होती है। यह सब रक्त हृ... संकोच विकास से मिलता है। दिन में कार्य करने... हृदय को एक स्वाभाविक कठिनाई का सामना करना... है। मनुष्य दिन में प्रायः बैठता या खड़ा होता है। शरीर का आधा हिस्सा हृदय के नीचे और आधा उसके ऊपर होता है। अर्थात् रक्त-संचालन में गुरुत्वाकर्षण (Gravity) के विरुद्ध काम करना पड़... रात के समय कायिक वाचिक मानसिक सब ऐच्छिक... बंद होते हैं जिसके कारण हृदय को शरीर के विविध... को कम से कम रक्त पहुँचाने का काम करना पड़... इसके सिवाय शरीर का ऊपर का तथा नीचे का... हृदय की लेवल (Leval) के बराबर होने के कारण गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध भी काम नहीं करना पड़... संक्षेप में, हृदय को रात में अधिक से अधिक आराम... दिन में अधिक कष्ट होता है। हृदय के कार्य के ऊ... बातों का असर होता है—वय, लिङ्ग, प्रकृति (Temp...ent), वातावरण का भार (Pressure) तथा ... (Temperature), आसन (Posture), अन्नसेवन, ... और काल, जैसे पूर्वाह्न, अपराह्न, मध्यरात्रि ... सुश्रुत के वचन का तात्पर्य यह है कि अहोरात्र में ... और रात होते हैं उनके रात में हृदय संकुचित और ... विकसित होता है। इस दृष्टि से यदि उपर्युक्त ... विचार किया जाय तो वय लिङ्ग और वायुभार ... दिनरात में नहीं बदलते, बाकी सब बदलते हैं। परिणाम यह होता है कि हृदय को रात की अपेक्षा ... कई गुना अधिक काम करना पड़ता है, याने ... अधिक रक्त बाहर फेंकना पड़ता है। आधुनिक खोज... मालूम हुआ है कि दिन में आराम के समय हृ... मिनिट में ४–६ लिटर (पौने पाँच से साढ़े छः सेर) बाहर फेंकता है और अत्यंत कड़े परिश्रम के स... लिटर (३३ सेर) से अधिक रक्त बाहर फेंक स... इसका मतलब यह हुआ कि कड़े परिश्रम के समय ... काम ६–८ गुना अधिक होता है, और यदि रात ... का विचार किया जाय तो दसगुना तक बढ़ स... यह कार्य हृदय की गति बढ़ने से या प्रत्येक समय ... फेंकने की राशि के बढ़ने से हो सकता है। रक्त ... तब बढ़ सकती है जब हृदय की समाई (धारणा... बढ़ जायगी। यदि हृदय की गति काम के अनुसार ... तो उसकी समाई बढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं ... यदि हृदय की समाई काम के अनुसार बढ़ेगी तो ... गति बढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं होगी। परंतु ... में यह देखा जाता है कि काम के अनुसार हृदय ... नहीं बढ़ती। जैसे, जब पाँच या छः गुना काम ...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस समय हृदय की गति ३५० या ४५० नहीं होती, उससे बहुत कम होती है। साधारणतया हृदय की गति ड्योढ़ी या दुगुनी और क्वचित् तिगुनी होती है, इससे अधिक नहीं होती। इसका अभिप्राय यह है कि हृदय अधिक काम की पूर्ति अंशतः गति बढ़ाकर और अंशतः समाई बढ़ाकर करता है। जब समाई बढ़ती है तब आकार बढ़ना भी क्रमप्राप्त है और समाई कम होने पर आकार कम होना भी वैसा ही क्रमप्राप्त है। इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि रात में काम अत्यल्प होने के कारण हृदय की गति तथा समाई बहुत कम होती है जिससे उसका आकार भी छोटा याने संकुचित रहता है। दिन में काम अधिक होने के कारण उसकी गति तथा समाई बढ़ जाती है, जिससे उसका आकार भी बढ़ जाता है, याने विकसित होता है। हृदय के संकोच विकास का मतलब उसके आकार से है, गति से नहीं है यह ध्यान में रखना चाहिए। काम के समय हृदय का आकार बढ़ता (विकसित होता) है और काम समाप्त होने पर वह घट जाता है। हृदय के स्वाभाविक संकोच (Systole) और विकास (Diastole) से इस संकोच विकास (Contraction and dilation) का कोई संबंध नहीं है—

It is probable that dilation of the heart occurs normally during muscular exercise, the effect of this being to increase the output of blood at each beat. It is however, quite certain from X-ray evidence that immediately after exercise the heart normally contracts down so as to become slightly smaller than its resting size. *Taylor's Practice of Medicine.*

हृदय के ऊपर एक आवरण है जो हृदावरण (Pericardium) कहलाता है। इस आवरण की दो तहें होती हैं। एक तह हृदय के ऊपर लगी रहती है। इस तह में लचकीले तन्तु रहते हैं। दूसरी तह प्रथम तह से स्वतन्त्र होती है। इस तह में स्नायुसम तन्तु होते हैं जो तनाव पड़ने पर भी नहीं बढ़ते हैं। इस आवरण के जो अनेक कार्य होते हैं उनमें एक कार्य यह होता है कि परिश्रम के समय हृदय को अति विकसित (Over distended) होने से रोकना—

It has been shown by Biljoma, however, that the pericardium plays an important part in limiting the size of the heart and in preventing it from being overdistended in exercise. *Halliburton's Physiology.*

आयुर्वेद के अनुसार हृदय सदैव कमलकलिका के समान रहता है, कदापि भी कमलपुष्पवत् खिलता नहीं है। फर्क इतना ही होता है कि दिन में उसका आकार कुछ बढ़ता है और रात में कुछ कम होता है और इसी अर्थ से विकास और संकोच ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

चौबीसवें सूत्र से तीसवें सूत्र के पूर्वार्ध तक गर्भ शरीर के विविध अंग कैसे उत्पन्न होते हैं इसका संक्षिप्त विवरण किया है। यह विवरण कुछ अनुमानिक और कुछ तात्त्विक है। यह ध्यान में रखकर उसकी ओर देखना चाहिए। अनुमानिक इसलिए है कि, रक्तसार, मृदुपाक, खरपाक, क्षीरस्य सन्तानिका इत्यादि दैनिक भिन्न भिन्न पदार्थ उत्पन्न होने की घटनाओं को देखकर उस प्रकार की घटनाएँ शरीर में भी होती होंगी, इस प्रकार का अनुमान इस विवरण में है। तात्त्विक इसलिए है कि, पंचमहाभूतों से विविध पदार्थ उत्पन्न होने की जो एक विशेष उपपत्ति है उस उपपत्ति का भी इसमें आधार है। यह उपपत्ति पाँचवें अध्याय में निम्न प्रकार से वर्णित है— तं चेतनावस्थितं वायुर्विभजति, तेज एवं पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृथिवी संहन्ति, आकाशं विवर्धयति। द्रव्योत्पत्ति के संबंध में यही उपपत्ति चरक में वर्णित है—रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा। निवृत्तौच विशेषेच प्रत्ययाः खादयस्त्रयः॥ (सू. १)। गर्भवृद्धि की दृष्टि से पाँच भौतिक उपपत्ति का विवरण इस प्रकार का होता है। गर्भ का प्रारम्भ संयुक्त शुक्रशोणित से होता है और माता के रस से प्रारम्भ में जो केवल एक अत्यंत सूक्ष्म बिन्दु (Cell) था वही अनेक प्रकार के छोटे बड़े अंगप्रत्यंगयुक्त बालक बन जाता है—वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः सचानंत्याय कल्पते॥ (श्वेताश्वतरोपनिषत्)। इस गर्भावक्रान्ति के मुख्य तीन अंग होते हैं—वृद्धि, विविधता और विभक्ति। वृद्धि में आकार की और संख्या की बढ़ोतरी का समावेश होता है। इसी वृद्धि के कारण मांस संघात उत्पन्न होता है। यह कार्य वायु और आकाश से होता है। विविधता में विविध धातुओं और उपधातुओं की तथा त्वचा कला इत्यादि उपाङ्गों की उत्पत्ति का समावेश होता है। संक्षेप में रूपान्तर प्राप्ति इससे अभिप्रेत होती है। यह कार्य पित्त या तेज के प्रभाव से होता है। एक वस्तु से विविध वस्तुओं की उत्पत्ति पाकभेद होती है, जैसे आँच-भेद से भूमिगत तेल से वेसिलीन, पेट्रोल, केरोसीन इत्यादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं—सिराणांच मृदुः पाकः स्नायुनां च ततः खरः। विभक्ति में आकार-भेद, एक दूसरे से पृथक्त्व, आशय, धमनी सिरा स्रोतस तथा अन्य नालीदार अवयवों की उत्पत्ति का समावेश होता है। यह कार्य वायु से होता है। गर्भावक्रान्ति के तीनों अंग प्रारंभ से अन्त तक साथ साथ होते रहते हैं जिसके परिणामस्वरूप में नौ महीने के पश्चात् सर्वांग परिपूर्ण बालक बन जाता है। अब शरीर के विविध अंगों, उपांगों और धातुओं का विशेष आकार, विशेष स्थान में अवस्थिति तथा विशेष कार्य यह कैसे पैदा होते हैं ? इसका कारण आयुर्वेद स्वभाव बताता है—अंगप्रत्यंगनिर्वृत्तिः स्वभावादेव जायते। सन्निवेशः शरीराणां दन्तानां पतनोद्भवौ। तलेष्वसंभवो यश्च रोम्णामेतत् स्वभावतः॥ (सुश्रुत)। संक्षेप में माता का रस और शुक्रशोणित इन चीजों से, तेजवायु और आकाश इनकी सहायता से, स्वभाव के अनुसार गर्भ की वृद्धि होती है यह आयुर्वैदिक गर्भविज्ञान का सूत्र है।

आधुनिक काल में मनुष्येतर प्राणियों के भिन्न-भिन्न कालीन गर्भों का तथा मनुष्यों के विभिन्न कालीन उपलब्ध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए गर्भों का सूक्ष्मदर्शक की सहायता से परीक्षण करके इस विषय का ज्ञान प्राप्त किया गया है। आधुनिक कालिक गर्भ विज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाणभूत, अत्यंत विस्तृत और अत्यन्त सूक्ष्म है। इसमें भी वृद्धि, विविधता और विभक्ति ये जो तीन अंग ऊपर वर्णन किये हैं उनका विवरण आता है, परन्तु उनके कारणों का विचार नहीं आता है। इस विषय का कुछ विवरण तीसरे अध्याय के १८वें सूत्र से गर्भ के मासानुमासिक में किया गया है। इससे अधिक विवरण करने की कोई आवश्यकता नहीं है। आधुनिक काल में गर्भविज्ञान एक स्वतन्त्र और विस्तृत शास्त्र बन गया है।

निद्रां तु वैष्णवीं पाप्मानमुपदिशन्ति, सा स्वभावत एव सर्वप्राणिनोऽभिस्पृशति। तत्र यदा संज्ञावहानि स्रोतांसि तमोभूयिष्ठः श्लेष्मा प्रतिपद्यते तदा तामसी नाम निद्रा भवत्यनवबोधिनी, सा प्रलयकाले; तमोभूयिष्ठानामहःसु निशासु च भवति, रजोभूयिष्ठानामनिमित्तं, सत्त्वभूयिष्ठानामर्धरात्रे, क्षीणश्लेष्मणामनिलबहुलानां मनःशरीराभितापवतां च नैव, सा वैकारिकी भवति ॥३२॥

(निद्रा के प्रकार—) वैष्णवी (होती हुई भी) निद्रा को (आचार्य) तामसी कहते हैं। यह निद्रा स्वभाव से ही संपूर्ण प्राणियों को (रात में) अपने वश में लाती है। जब (हृदयस्थित) संज्ञावह स्रोतों में तमोभूयिष्ठ कफ पहुँच जाता है तब बोध (संज्ञा) का नाश करने वाली तामसी नामक निद्रा होती है, वह (शरीर का) लय होने के समय होती है। तमःप्रधान (लोगों) को दिन और रात (दोनों समय निद्रा) होती है। रजःप्रधान (लोगों) को नियम विरहित (निद्रा होती है), सत्त्वप्रधान (लोगों) को आधी रात के समय (होती है) और क्षीणकफ वातभूयिष्ठ शारीरिक तथा मानसिक रोगों से पीड़ितों को (ठीक) नहीं होती है, वह वैकारिकी निद्रा है ॥३२॥

वक्तव्य—तु—विरोध दर्शनार्थ इसका प्रयोग किया है। निद्रा विष्णु की माया होने के कारण वैष्णवी कहलाती है। विष्णु जैसे सृष्टि का धारक पोषक होता है वैसे निद्रा भी शरीर की धारक पोषक होती है—आहारशयनब्रह्मचर्यैर्युक्त्या प्रयोजितैः। शरीरं धार्यते नित्यमागारमिवधारणैः॥ निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम्। वृषता क्लीवता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च॥ (अष्टांगहृदय)। निद्रा विष्णु की माया और शरीर की धारण करने वाली होने पर भी पाप्मा कहलाती है। पाप्मा—पापी। निद्रा तम से उत्पन्न हुई है और तम निद्रा, प्रमाद, पाप इत्यादि का मूल है, इसलिए निद्रा पाप्मा कहलाती है—तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्। प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत॥ (भगवद्गीता १४)। लोकादिसर्गप्रभवा तमोमूलातमोमयी। यहाँ पर पाप्मा शब्द निद्रा का उत्पत्तिबोधक और गुण... अतएव उसका विशेषण है। इसका अभिप्राय यह है... निद्रा कितनी ही शरीरधारक क्यों न हो वह पाप्मा... होती है। इसका कारण डल्हणाचार्य 'कृत्स्नशुभ... निरोधात्' बतलाते हैं। चरक और अष्टांगसंग्रह में नि... कारण के अनुसार सात प्रकार वर्णन किये... उसमें तमोभव निद्रा पाप्मा कहलाती है—तमोभवा... स्यमूलम्। (चरक)। स्वभावतः—इसमें 'रात्रौ' अध्याहृत समझना चाहिये। रात में तमःप्रधानता के कारण स्वभाव से ही निद्रा आती है—बाहु... रात्रौ निद्रा प्रायेण जायते। (अष्टांगसंग्रह)। रात्रिः... भूतानाम्। (मनु)। रात में जो निद्रा आती है वही... और अष्टांगसंग्रह में काल स्वभाव प्रभवा बतलायी है... उसी से प्राणियों का धारण होता है—कालस्वभावप्रभ... या तां भूतधात्रीं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः। (चरक)। जैसे... तमोगुण समझा जाता है, वैसे ही अँधेरा भी समझा... है। रात में स्वाभाविक अँधेरा होने से नींद भी आ... अँधेरा नींद की एक स्वाभाविक अनुकूल स्थिति होती... जब नींद नहीं आती तब रोशनी कम करने से नि... में सहायता होती है। संज्ञावहानि स्रोतांसि—चरक... सुश्रुत में स्रोतों के जो विविध प्रकार वर्णन किये हैं... संज्ञावह स्रोतों का उल्लेख नहीं है। परन्तु संज्ञाव... नाडी या धमनी ये शब्द ग्रंथों में कई बार आते... यदातु रक्तवाहीनि रससंज्ञावहानि च। पृथक्पृथक् सम... स्रोतांसि कुपिता मलाः॥ (चरक, सूत्र २५)। संज्ञा... नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः। तमोऽभ्युपैति सहसा सुख... व्यपोहकृत्॥ (सुश्रुत, उत्तर ४६)। संज्ञावहेषु स्रोतःसु... व्याप्तेषु मानवः। रजस्तमःपरीतेषु मूढो भ्रातेन चेतसा॥ (सु... उ. ६१)। डल्हणाचार्य सुश्रुत के इन वचनों की टी... संज्ञावह स्रोतसों का अर्थ स्पष्ट नहीं करते हैं। चक्रपा... चरक (इन्द्रियस्थान अध्याय ५) की टीका में इसका... निम्न प्रकार से करते हैं—संज्ञावहानीति संज्ञाहेतुमनो... मनोवहानि स्रोतांसि यद्यपि पृथङ्नोक्तानि तथापि 'मनसः... मेवेदं शरीरमयनभूतं' इत्यभिधानात् सर्वशरीरस्रोतांसि... विशेषेण तु हृदयाश्रितत्वान्मनसस्तदाश्रिता दश धमन्यो म... अभिधीयन्ते॥ इसका मतलब हुआ हृदयस्थित सं... धमनियाँ—Blood vessels of the heart car... sensation. आधुनिक परिभाषा के अनुसार सं... स्रोतसों को Blood-vessels of the brain कह सक... तामसी—यद्यपि तमोमूलक होने के कारण निद्रा... होती है, तथापि यहाँ पर निद्रा की एक विशेष... (प्रकार) का यह नाम है। अनवबोधिनी—जिसमें ए... संज्ञानाश या बेहोशी होने पर फिरसे संज्ञाप्राप्ति नहीं... है। प्रलयकाले—सर्ग के प्रारंभ में जब प्रजापति... प्रारम्भ होता है तब प्रथम अध्याय के तीसरे सूत्र में... हुए उत्पत्तिक्रम के अनुसार अव्यक्त से संपूर्ण व्यक्त... की सृष्टि होती है और कल्प के अन्त में जब प्रजापति... रात्रि प्रारंभ होकर वह निद्रा सेवन करने लगते...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्पत्तिक्रम के विरुद्धक्रम से संपूर्ण व्यक्त ब्रह्माण्ड अव्यक्त में लीन होजाता है, अर्थात् उसका पूर्णनाश होजाता है। कल्प के अन्त में ब्रह्माण्ड के नाश के लिए प्रलय शब्द प्रयुक्त होता है—यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत्। यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥ (मनु. १, ५२)। अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे । रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके (भगवद्गीता. ८,१८)। भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते । रात्र्यागमेऽवशःपार्थ प्रभवत्यहरागमे (१९)। पिण्डब्रह्माण्डन्याय के अनुसार शरीर के भी व्यक्तभाव जब अव्यक्त में लीन होते हैं तब उसका भी नाश होता है, इसलिए मनुष्य शरीर की दृष्टि से प्रलय का अर्थ मृत्यु होता है—यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्। तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ (भगवद्गीता १४,१४)। अनिमित्तम्—निद्रा का कोई कारण उपस्थित न होने पर भी रजोभूयिष्ठ लोगों को निद्रा आती है। निद्रा का कारण दूर होने के लिए एक विशिष्टकाल की आवश्यकता होती है। जिसको निर्निमित्त निद्रा आती है उसकी निद्रा विशिष्टकाल तक रहने की भी कोई आवश्यकता नहीं होती। अर्थात् अनैमित्तिक निद्रा किसी समय में दिन में या रात में आती है और अल्पकाल तक रहती है। संक्षेप में अनिमित्त से नियम विरहित समझना चाहिए। अर्धरात्रे—मध्यरात्रि के दो प्रहर। रात के नौ बजे से सुबह के तीन बजे तक। निद्रा के लिए यही उत्तम काल होता है और धर्मशास्त्र में भी यही काल बताया है—प्रदोषपश्चिमौयामौ वेदाभ्यासेन तौ नयेत्। प्रहरद्वयं शयानो हि ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ (दक्षस्मृति)। नैव—इसमें मुख्यतया निद्रा का अभाव आता है। साधारणतया शारीरिक और मानसिक विकारों से पीड़ित होने पर निद्रा कम होती है, परंतु जब उनमें कफ की क्षीणता और वायु की अधिकता होती है तब निद्रा और भी कम होजाती है। क्योंकि वायु निद्रा-नाश का प्रधान कारण है—एत एव च विज्ञेया निद्रानाशस्य हेतवः । कार्यकालो विकारश्च प्रकृतिर्वायुरेव च ॥ (चरक. सूत्र २१)। विकारग्रहणेनैव वाते प्राप्ते पुनर्वातग्रहणं विशेषेण वायोर्निद्रापहारकत्वप्रतिपादनार्थम्। (चक्रपाणिदत्त)। नैव से जैसे अभाव का बोध होता है वैसे अल्पता का और अप्राशस्त्य का भी बोध होता है, क्योंकि प्रत्येक शारीरिक और मानसिक विकार में निद्रा का पूरा अभाव न होकर उसकी अल्पता और अप्रशस्ति जरूर होती है।

इस सूत्र में निद्रा के तीन प्रकार बताये गये हैं—तामसी, स्वाभाविक और वैकारिक। चरक और वाग्भट में निद्रा के सात प्रकार वर्णित हैं—तमोभवाश्लेष्मसमुद्भवा च मनःशरीरश्रमसंभवा च। आगन्तुकी व्याध्यनुवर्तिनी च रात्रिस्वभावप्रभवा च निद्रा ॥ परंतु ये प्रकार आखिर में स्वाभाविक, वैकारिक और तामस इन तीनों में ही समाविष्ट किये गये हैं—रात्रिस्वभावप्रभवा मता या तां भूतधात्रीं प्रभवन्ति तज्ज्ञाः । तमोभवामाहुरघस्य मूलं शेषं पुनर्व्याधिषु निर्दिशन्ति ॥ (चरक. सू. २१)। (१) तामसी निद्रा—इसका वर्णन 'तत्र यदा' से 'प्रलय काले' तक है। वास्तव में यह निद्रा न होकर मृत्युपूर्वकालीन गंभीर संज्ञानाश की स्थिति है। यदि इसकी संप्राप्ति, लक्षण और काल का विचार किया जाय तो यह स्थिति चरकोक्त संन्यास के साथ मिलती है—यदा तु रक्तवाहीनि रससंज्ञावहानि च। पृथक् पृथक् समस्ता वा स्रोतांसि कुपिता मलाः ॥ मलिनाहारशीलस्य रजोमोहावृतात्मनः । प्रतिहत्यावतिष्ठन्ते जायन्ते व्याधयस्तदा ॥ मदमूर्च्छाय संन्यासास्तेषां विद्याद्विचक्षणः ॥ यथोत्तरं बलाधिक्यं हेतुलिङ्गोपशान्तिषु ॥ वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिप्यातिबला मलाः । संन्यस्यन्त्यबलं जन्तुं प्राणायतनसंश्रिताः ॥ स ना संन्याससंन्यस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः। प्राणैर्वियुज्यते शीघ्रं मुक्त्वा सद्यः फलाः क्रियाः ॥ (चरक. सूत्र २४)। चरक और वाग्भट में जो तमोभवा निद्रा है उसके लक्षण वहाँ पर वर्णित नहीं हैं, इसलिए तमोभवा निद्रा के संबंध में उनकी क्या कल्पना थी इसके समझने का कोई साधन नहीं है। परंतु सुश्रुतोक्त तामसी निद्रा चरकोक्त संन्यास के साथ मिलती है इसमें कोई संदेह नहीं है। पाश्चात्य परिभाषा में कोमा (Coma) की जो व्याख्या मिलती है उसको देखकर तामसी निद्रा को कोमा कह सकते हैं—

Coma is a state of unnatural, heavy, deep and prolonged sleep, often accompanied by slow stertorous or irregular breathing and frequently ending in death. *Index of differential Diagnosis by Herbert French.*

इस व्याख्या में अनवबोधन, मृत्यु की संभवनीयता और निद्रा का एक प्रकार ये सुश्रुतोक्त तीनों लक्षण आते हैं यह चिन्त्य है। (२) स्वाभाविक निद्रा—इसका वर्णन 'तमोभूयिष्ठानां' से 'अर्धरात्रे' तक किया गया है। यहाँ पर त्रिगुणात्मक प्रकृति के अनुसार निद्रा के समय में जो जो फर्क होता है वह बताया गया है। सत्त्वभूयिष्ठ मनुष्यों के लिए निद्रा का जो काल बतलाया गया है वही वास्तविक काल है। निद्रा का काल वय, व्यवसाय, अभ्यास और प्रकृति के अनुसार बदलता है। बचपन में एक महीने के बालक के लिए २१ घंटे तक, छः महीने के लिए १८ घंटे तक, एक साल के लिए १५ घंटे तक, चार साल के लिए १२ घंटे तक और बारह साल के लिए १० घंटे तक नींद की आवश्यकता होती है। इसके बाद जवानी में नींद का काल पुरुषों के लिए सात और स्त्रियों के लिए आठ घंटे का होता है। वृद्धावस्था में निद्रा इससे भी कम हो जाती है। शारीरिक और मानसिक अधिक परिश्रम करने वालों के लिए अधिक और कम करने वालों के लिए कम निद्रा की आवश्यकता होती है। अभ्यास (Habit) से मनुष्य निद्रा का काल बहुत कम या बहुत अधिक कर सकता है—आहारो मैथुनं निद्रा सेव्यमानं तु वर्धते। कफ प्रकृति मनुष्य को अधिक, वात प्रकृति को कम और पित्त प्रकृति को मध्यम निद्रा की आवश्यकता होती है—अल्पपित्तबलजीवितनिद्राः । वातिकाः । आर्यो निद्रालुर्दीर्घसूत्रः कृतज्ञः । श्लेष्मलः । (अष्टांगहृदय)। वय के अनुसार निद्रा के काल में जो फर्क ऊपर बताया गया है वह प्रकृति भेद के अनुसार होता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसा आयुर्वेद का मत है क्योंकि बचपन में श्लेष्मा, जवानी में पित्त और बुढ़ापे में वात की अधिकता होती है—बाले विवर्धते श्लेष्मा, मध्यमे पित्तमेव च। भूयिष्ठं वर्धते वायुर्वृद्धे तद्वीक्ष्य योजयेत्॥ (सुश्रुत)। वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात्। (अष्टांगहृदय) वैकारिकी निद्रा—यह निद्रा अनिद्रा के बराबर है। इसको अँग्रेजी में इन्सोम्निया (Insomnia) कहते हैं। इसमें अपने वय व्यवसाय, अभ्यास प्रकृति इत्यादि के अनुसार उचित काल तक नींद न आने से पूर्ण अनिद्रा तक सब दोषों का समावेश होता है। इसके कारणों का विचार आगे ४१वें श्लोक में किया गया है।

भवन्तिचात्र—

हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत ! देहिनाम्।
तमोभिभूते तस्मिंस्तु निद्रा विशति देहिनम्॥३३॥
निद्राहेतुस्तमः सत्त्वं, बोधने हेतुरुच्यते।
स्वभाव एव वा हेतुर्गरीयान् परिकीर्त्यते॥३४॥

(निद्रा का स्थान और हेतु—) यहाँ पर श्लोक हैं। हे सुश्रुत ! प्राणियों के (शरीर में) चेतना का स्थान हृदय (पहिले ही) कहा गया है। उसके तम द्वारा अभिभूत होने पर निद्रा प्राणी में प्रवेश करती है॥३३॥ निद्रा का कारण तम और (निद्रा से) प्रबोधित होने का कारण सत्त्व कहा जाता है। अथवा स्वभाव ही (निद्रा का) अधिक महत्त्व का कारण कहा जा (सक)ता है॥३४॥

वक्तव्य—भवन्तिचात्र—भवतिचात्र, भवतश्चात्र और भवन्तिचात्र इस प्रकार के शब्द प्रयोग गद्य के पश्चात् आने वाले एक, दो या अनेक श्लोकों के पूर्व चरक, सुश्रुत और अष्टांगसंग्रह में दिखाई देते हैं। इन प्रयोगों के संबंध में भिन्न भिन्न ग्रंथकारों के भिन्न भिन्न मत हैं। (१) चरकाचार्य स्वयं कहते हैं कि गद्योक्त जो अर्थ फिर से श्लोकों द्वारा दिया जाता है वह पूर्वोक्तार्थ स्पष्टीकरणार्थ और सुखग्रहणार्थ दिया जाता है—गद्योक्तो यः पुनः श्लोकैरर्थः समनुगीयते। तद्व्यक्तिव्यवसायार्थं द्विरुक्तं तन्न गर्ह्यते॥ (निदान. १)। (२) चक्रपाणिदत्त इसी श्लोक की टीका में लिखते हैं—तद्व्यक्ति व्यवसार्थमित्यत्र तद्व्यक्तिर्गद्योक्तार्थस्य व्यक्तिः प्रसन्नतेति यावत्, व्यवसायोऽध्यवसायो ग्रहणमित्यर्थः, यस्मात् पूर्वोक्तार्थस्पष्टीकरणार्थं पुनःश्लोकेनाभिधानं, तस्मात् प्रयोजनान्तरयुक्तत्वान्न पुनरुक्ति दोष इति भावः। गद्योक्तापेक्षया श्लोकाभिधानं सुखग्रहणं भवतीति लोकप्रसिद्धमेव। **अन्यस्थान में भी चक्रपाणिदत्त लिखते हैं**—भवन्ति चात्रेति, तन्त्रकारस्य समयोऽयं, यत्पूर्वव्याख्यातार्थ संग्रहार्थं यदा श्लोकेन वक्तुमारभते तदा 'भवति चात्र' इति करोति॥ (चरक, सूत्र, ५)। (३) **डल्हणाचार्य सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय के** 'शारीराणां विकाराणामेषवर्गश्चतुर्विधः' **इस श्लोक की टीका में लिखते हैं**—इदानीं गद्य विस्तरेण प्रतिपादितमर्थं श्लोकैः प्रकटीकुर्वन्नाह—भवन्ति चात्र श्लोका इत्यादि। यद्यपि सुश्रुते भवन्ति चात्रेति विनाऽपि श्लोका भवन्ति, तथाऽपि अत्र मन्दमतीनां गद्यपद्यभेदकथनाय भवन्ति चात्र श्लोका इति कृतं, अन्ये तु वेदादिधर्मसंवादार्थमिति वदन्ति॥ (४) **इन्दु अष्टांगसंग्रह सूत्रस्थान के चौथे अध्याय के** 'हेमन्ते शिशिरे चाग्र्यं विसर्गादानयोर्बलम्'। **इस श्लोक की टीका में लिखते हैं**—भवति चात्रेति पद्यारम्भे तन्त्र रीतिः॥ इन वचनों ... अभिप्राय यही होता है कि प्रायः गद्य के पश्चात् ... प्रारंभ करते समय ग्रंथकार इसका प्रयोग किया करते ... श्लोकों में प्रायः गद्योक्त अर्थ संक्षेप में दिया जाता है ... उसका स्मरण सुख से होजाय। कुछ लोगों का म... कि इससे अन्य ग्रंथकारों के आधार वचन दिये जाते ... यहाँ पर जो दो श्लोक दिये हैं ये गद्य के पश्चात् ... और उनमें गद्योक्त अर्थ ही संक्षेप में दिया गया है। अ... ये श्लोक अन्य किसी ग्रंथ से उद्धृत किये गये हैं या ... पुष्ट्यर्थ अन्य किसी ग्रन्थ का मत प्रदर्शित करने के ... बनवाये गये हैं ऐसा मानने की कोई आवश्यकता नहीं ... अगर थोड़ी देर के लिए ये श्लोक अन्य प्राचीन ग्रं... उद्धृत किये गये हैं ऐसा मान लिया जाय तो भी ... अभिप्राय पूर्वोक्त गद्यार्थ से विसंवादी नहीं है। ... चेतनास्थानं' इस श्लोक में हृदय का अर्थ करने की ... भवति चात्र इसका इतना ऊपापोह किया गया है। ... चेतनास्थानम्—यह वही हृदय है जो रक्त और ... प्रसाद से उत्पन्न हुआ है, प्राणवह धमनियाँ ... संबंधित हैं, जिसके दोनों ओर फुफ्फुस और नीचे ... और यकृत है और विशेष करके चेतनास्थान माना ग... संक्षेप में यह रक्त परिचालक, सुपिर, मांसपे... अधोमुख कमलकलिकाकार यन्त्र है जिसको अँग्रेजी ... (Heart) कहते हैं। परंतु महामहोपाध्याय ... गणनाथ सेन इस श्लोकगत हृदय को मस्तिष्क (B... और जिस गद्यगत अर्थ के स्पष्टीकरणार्थ तथा सुखस्म... यह श्लोक दिया गया है उस गद्य (सूत्र ३०) गत हृ... हार्ट समझते हैं। प्रत्यक्ष शारीर के तीसरे विभाग में ... पृष्ठ पर 'तत्र च साङ्गोपाङ्गमस्तिष्कं सहस्रपद्मदलसादृश्यात् ... रमिति सर्वज्ञानप्रयत्नाकरं मन्यन्ते योगिनः।' इस प्रकार ... का वर्णन करके पाद टिप्पणी में लिखते हैं—यत्तु ... 'बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य' इत्यादि विरुद्धप्रायं वच... तन् मस्तिष्कमूलस्थिताऽज्ञाचक्रांशभूतब्रह्महृदयाभिप्रायेण। ... हि षट् चक्रनिरूपणे मस्तिष्कमूलस्थमाज्ञाचक्रमुपक्रम्य '... न्तराले निवसति च मनः सूक्ष्मरूपं प्रसिद्धम्' इति स्पष्ट... न च मनो विरहिता बुद्धिरस्ति। श्रुतिश्च—"य एषोऽ... आकाशस्तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः" इति (**तैत्तिरीय उप... षष्ठ अनु**)। यच्चसुश्रुतोद्धृतं 'हृदयञ्चेतनास्थानमित्यादि' ... वचनं, तदपि एतदभिप्रायिकमेव, 'जाग्रतस्तद्विकसति' ... निर्देशादिति दिक्। न च मांसमयमेव हृद्यन्त्रं तदितिवाच्यं ... न कथमपि तादृशलक्षणाभिधेयं भवितुमर्हति, असंभवात्' ... **प्रत्यक्ष शारीर की प्रस्तावना में लिखते हैं**—यत्तु 'हृद... वामतः प्लीहा फुफ्फुसश्च दक्षिणतो यकृत् क्लोम च' इति ... पाठः, तत्र लिपिकर प्रमाद एव दरीदृश्यते। 'हृदयस्याधो ... प्लीहा, दक्षिणतो यकृत्, उभयतः क्लोमफुफ्फुसौ च' इति ... यान् पाठः। अन्यथा न केनापि कथमपि शक्यं समा... **परंतु इस प्रकार हृदय का अर्थ गद्य में हार्ट (दिल) ... उसी गद्य के अनुवाद के लिए बनाये गये श्लोक ... (मस्तिष्क) समझना न युक्तियुक्त है, न क्षम्य है, न ... है और न आवश्यक है, परंतु सर्वथैव दोषावह है।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का अर्थ या तो मस्तिष्क होगा या दिल होगा, दो अर्थ कदापि भी नहीं हो सकते हैं। परंतु निम्न कारणों से आयुर्वेद में निरपवाद हृदय से हार्ट ही समझना चाहिये। (१) आयुर्वेद में हृदय सर्वदा एक वचन में आता है—तस्य पुनः संख्यानं—त्वचः कला धातवो मला दोषा यकृत्प्लीहानौ फुफ्फुस उण्डुको हृदयमाशया। (सुश्रुत)। इसका अभिप्राय यह है कि शरीर में हृदय केवल एक है। (२) शरीर के जो चार शाखाएँ, सिर और मध्य करके छः अंग होते हैं उनमें से मध्य में (कोष्ठ में) हृदय होता है—पञ्चदश कोष्ठाङ्गानि; तद्यथा—नाभिश्च हृदयं च क्लोम च यकृच्च प्लीहा च इत्यादि। (चरक शा० ७)। स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते। (सुश्रुत, चि० २)। पञ्चदश-कोष्ठाङ्गानि, तद्यथा—नाभिश्च हृदयं च क्लोम च यकृच्च प्लीहा च इत्यादि। (भेलसंहिता, शा. अ. ७)। तेषु सप्तसु प्रतिबद्धानि कोष्ठाङ्गानि हृदययकृत्प्लीहफुफ्फुसोण्डुकवृक्कान्त्रादीनि। (अष्टांग-संग्रह, शा० ५)। नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्। कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्॥ (शार्ङ्गधर)। नाभिः प्लीहा यकृत् क्लोम हृद्वृक्कौ गुदवस्तयः। क्षुद्रान्त्रमथ च स्थूलमामपक्वाशयौ वचा॥ (कोष्ठांगानि। काश्यप संहिता)। (३) रक्तकमलकलिका के समान अधोमुख और अन्तःसुषिर मांसपेशीमय हृदय का स्वरूप वर्णन किया गया है। यह स्वरूप ब्रेन की अपेक्षा हार्ट के स्वरूप के साथ पूर्णतया मिल जाता है। (४) कोष्ठस्थ अन्य उपाङ्गों के साथ उसका जो संबंध वर्णन किया है और जिसके पाठ में गणनाथ सेन जी ने उपर्युक्त परिवर्तन सूचित किया है उस संबंध से भी हृदय से हार्ट का ही बोध होता है, मस्तिष्क का नहीं। (५) मर्मों में हृदय के अतिरिक्त सिर तथा सिरगत अन्य मर्मों का उल्लेख मिलता है जिससे यह स्पष्ट होता है कि हृदय सिर में नहीं है—दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिता। शङ्खौ मर्मत्रयं। (हृदयबस्ति शिरांसि। चक्रपाणिदत्त)। कण्ठोरक्तं शुक्रौजसी गुदम्॥ (चरक, सूत्र, २९)। तत्र शाखाश्रितेभ्यो मर्मभ्यः स्कन्धाश्रितानि गरीयांसि, शाखानां तदाश्रितत्वात्; स्कन्धाश्रितेभ्योऽपिहृद्बस्तिशिरांसि। (चरक, सिद्धि ९)। शृङ्गाटकाधिपतिः शङ्खौकण्ठशिरोगुदम्। हृदयंबस्ति नाभी च घ्नन्ति सद्योहतानि तु। (सुश्रुत शा० ६)। सप्तोत्तरं मर्मशतं यदुक्तं शरीरसंख्यामधिकृत्य तेषु। मर्माणि बस्ति हृदयं शिरश्च प्रधानभूतान्यृषयो वदन्ति॥ चेतनास्थानम्—इस शब्द प्रयोग के कारण हृदय का अर्थ मस्तिष्क किया गया है। चेतना स्थान का साधारण अर्थ पीछे ३०वें सूत्र के 'विशेषेणचेतनास्थानं' इस पद की टिप्पणी में किया गया है। इसके विशेष अर्थ का विवरण यहाँ पर किया जाता है। पंचमहाभूतात्मक शरीर अचेतन होता है। पुरुष या आत्मा के कारण उसमें चेतना उत्पन्न होती है। आत्मा चेतना का समवायिकारण होता है, इसलिए चेतना शब्द से आत्मा का अर्थ होता है। उसका जो स्थान वह चेतना स्थान—चेतनाशब्देनात्मा गृह्यते चेतनासमवायिकारणत्वात्, तस्य स्थानं चेतनास्थानम्। इसका अभिप्राय यह हुआ कि आत्मा का निवास स्थान हृदय है। यह केवल कल्पना नहीं है, उपनिषदों में आत्मा का स्थान हृदय ही बताया गया है और हृदय में निवास करने के कारण हृदय का एक अर्थ आत्मा भी होता है—अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्यजन्तोर्निहितो गुहायाम्। (कठोपनिषत् १, २)। अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। (२, ६)। हृदिह्येष आत्मा। (प्रश्नोपनिषत् ३, ६)। मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय। (मुण्डकोपनिषत् २)। स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः॥ (तैत्तिरीयोपनिषत् १, ६)। एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वासर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षा ज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः। (छांदोग्योपनिषद् ४, १४)। स वा एष आत्मा हृदितस्यैतदेव निरुक्तं हृदयमिति तस्माद्धृदयम् (छांदोग्योपनिषद् ८, ३)। ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता में भी आत्मा का स्थान हृदय ही दिया है—अवस्थिति वैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि। (ब्रह्मसूत्र २-३-२४)। ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति। (भगवद्गीता १८-६७)। स्मृति में भी हृदय आत्मा का स्थान दिया है—अनन्यविषयं कृत्वा मनोबुद्धिस्मृतीन्द्रियम्। ध्येयआत्मा स्थितो योऽसौ हृदये दीपवत्प्रभुः॥ (याज्ञवल्क्य ३-१११)। जिस हृदय में आत्मा रहता है उसका स्वरूप भगवान् श्रीशंकराचार्य 'हृदिह्येष आत्मा' इस प्रश्नोपनिषद् के वचन की टीका में लिखते हैं—हृदिह्येष पुण्डरीकाकार मांसपिण्डपरिच्छिन्ने हृदयावकाश एष आत्माऽऽत्मना संयुक्तो लिङ्गात्मा। (छांदोग्योपनिषद् के ८, ६-७) के भाष्य में श्री शंकराचार्य लिखते हैं—हृदयस्य पुण्डरीकाकारस्य ब्रह्मोपासनस्थानस्य संबन्धिनो नाड्यो हृदयमांसपिण्डात् सर्वतो विनिसृताः। बृहदारण्यकोपनिषत् २-१-१९ के भाष्य में आचार्य लिखते हैं—हृदयं नाम मांसपिण्डस्तस्मान्मांसपिण्डात् पुण्डरीकाकारात्। इन वचनों से यह सिद्ध होगा कि योगियों का हृदय भले ही सिर में (मस्तिष्क में) हो, वेदान्तशास्त्र के अनुसार आयुर्वेद का हृदय, जैसे कि यहाँ पर वर्णन हुआ है पुण्डरीकाकार और मांसपिण्डमय होता है। अर्थात् आत्मा कोष्ठस्थ हृदय में होता है। आत्मा का अधिष्ठान हृदय में होने के कारण आत्मा के लक्षण याने चैतन्य के लक्षण—इच्छा द्वेषः सुखंदुःखं-प्रयत्नश्चेतना धृतिः। बुद्धिःस्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मनः। (चरक. शा. १)।—भी हृदय के ऊपर ही आरोपित होते हैं। यही कारण है कि आयुर्वेद में कोष्ठस्थ हृदय मन बुद्धि अहङ्कार का अर्थात् चैतन्य का स्थान माना जाता है—अर्थे दशमहामूलाः समासक्ता महाफलाः। महच्चार्थश्च हृदयं पर्यायैरुच्यतेबुधैः॥ षडङ्गमङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपञ्चकम्। आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदिसंश्रितम्॥ प्रतिष्ठार्थं हि भावानामेषां हृदयमिष्यते। गोपानसीनामागारकर्णिकेवार्थचिन्तकैः॥ तस्योपघातान्मूर्च्छायं भेदान्मरणमृच्छति। यद्धि तत् स्पर्शविज्ञानं धारि तत्तत्र संश्रितम्॥ तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः। हृदयं महदर्थश्च तस्मादुक्तं चिकित्सकैः (चरक, सूत्र ३०)। दोषाः प्रकुपिता हृदयमुपसृत्य मनोवहानि स्रोतांस्यावृत्य जनयन्त्युन्मादम्। (चरक, उन्माद निदान)। दोषाः प्रकुपिता रजस्तमोभ्यामुपहतचेतसामन्तरात्मनः श्रेष्ठमायतनं हृदयमुपसृत्योपरि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिष्ठन्ते । **(चरक, अपस्मार निदान)** । रसधात्वादिमार्गाणां सत्त्वबुद्धीन्द्रियात्मनाम् । प्रधानस्यौजसश्चैव हृदयं स्थानमुच्यते ॥ अति पीतेन मद्येन विहतेनौजसा च तत् । हृदयं याति विकृतिं तत्रस्था ये च धातवः ॥ **(चरक, मदात्यक चिकित्सित)** । तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य । स्रोतांसि दुष्यन्ति हि तद्वहानि प्रमोहयन्त्याशुनरस्यचेतः ॥ **(चरक, उन्माद चिकित्सित)** । धमनीभिः श्रिता दोषा हृदयं पीडयन्ति हि । संपीड्यमानो व्यथते मूढो भ्रांतेन चेतसा ॥ **(चरक, अपस्मार चिकित्सित)** । तत्र हृदये दश धमन्यः प्राणापानौ मनोबुद्धिश्चेतना महाभूतानि च नाभ्यामपरा इव प्रतिष्ठितानि । **(चरक, त्रिमर्मीयासिद्धि)** । स्तनयोर्मध्यमधिष्ठायोरस्यामाशयद्वारं सत्त्वरजस्तमसामधिष्ठानं हृदयं नाम, तत्रापि सद्य एव मरणम् । **(सुश्रुत, मर्मशरीर)** । द्वारमाशयस्य च । सत्त्वादिधाम हृदयं स्तनोरः कोष्ठमध्यगम् । **(अष्टाङ्गहृदय, शा. ४)** । तच्चसत्त्वादीनां सत्त्वरजस्तमसां तथा विज्ञानस्येन्द्रियाणां चार्थपंचकस्य तथाऽऽत्मनश्चेतसो धाम स्थानम् । **(अरुणदत्त)** । देहिनां हृदयं देहे सुखदुःखप्रकाशकम् । तत्संकोचं विकासं च स्वतः कुर्यात् पुनः पुनः ॥ **(उमामहेश्वर संवादे नाडीज्ञानम्)** । हृदयं चेतनास्थानं तज्ज्ञात् सुखदुःखयोः । तत्संकोचविकासाभ्यां जीवितज्ञा प्रकंपते ॥ **(नाडीज्ञानतरंगिणी)** । **गर्भवृद्धि के समय गर्भ के किस अंग की प्रथम उत्पत्ति होती है इस विषय के वादविवाद के समय प्रत्येक ऋषि शरीर के प्रत्येक अंग के विशिष्ट गुणों को सामने रखकर उसी की प्रथम उत्पत्ति बतलाते थे । इस गुणप्रदर्शन में हृदय बुद्धि मन और चेतना का स्थान ही बताया गया है**—हृदय (पूर्वमभिनिर्वर्तते) मिति काङ्कायनो वाल्हीकभिषक्, चेतनाधिष्ठानत्वात् । **(चरक, शा. ६)** । हृदय (पूर्वं संभवति) मिति कृतवीर्यो बुद्धेर्मनसश्च स्थानत्वात् । **(सुश्रुत, शा. ३)** । **गर्भ की मासानुमासिक वृद्धि में चौथे महीने में हृदय की प्रगल्भता बताई गई है और उसी से माता में दौहृद उत्पन्न होता है, क्योंकि हृदय इच्छा सुखदुःखादि का स्थान होने के कारण गर्भ में पूर्वकर्मानुसार कुछ इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं जो माता के द्वारा प्रकट होती हैं और वही दौहृद होता है**—चतुर्थे ... गर्भहृदयप्रव्यक्तिभावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तोभवति, कस्मात् ? तत्स्थानत्वात्, तस्माद्गर्भश्चतुर्थे मास्यभिप्रायमिद्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयां च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते । **(सुश्रुत, शा. ३)** । द्विहृदयस्यभावाद् द्वैहृदय्यं; मातृहृदयं गर्भहृदयेन संबद्धं हृदयद्वयं भवति । **(चक्रपाणिदत्त)** । **गर्भ के हृदय का और माता के हृदय का संबंध जिस प्रकार वर्णन किया गया है उससे हृदय का अर्थ मस्तिष्क न होकर हार्ट (heart) ही होता है** । आगमोऽपि । हृदयं मनसःस्थानमोजसश्चितिस्य च । मांसपेशीचयोरक्तपद्माकारमधोमुखम् ॥ योगिनो यत्र पश्यन्ति सम्यग्ज्योतिःसमाहिताः । रसोयः स्वच्छतां यातः स तत्रैवावतिष्ठते । ततोव्यानेन विक्षिप्तः कृत्स्नं देहं प्रपद्यते ॥ **(अरुणदत्त, अष्टांगहृदय सूत्र, १२)** । **और भी कई वचन मिल सकते हैं, परन्तु इतने वचन हृदय का मन बुद्धि इत्यादि से साहचर्य सिद्ध करने के लिये पर्याप्त हैं । अब तक हृदय का विचार किया गया । इसके बाद शिर और मस्तिष्क का विचार किया जाता है । 'सर्वेषु गात्रेषु शिरःप्रधानम्' इस व्यावहारिक उक्ति के अनुसार आयुर्वेद में शिर एक ... अंग माना जाता है, परंतु यह प्राधान्य शिर इन्द्रियों ... अधिष्ठान होने के कारण दिया गया है, मस्तिष्क का ... समझ कर नहीं । यह ध्यान में रखना चाहिये**—प्राणाः ... भृतां यत्र श्रिताः सर्वेन्द्रियाणि च । यदुत्तमाङ्गमङ्गानां शि... भिधीयते ॥ **(चरक, सूत्र १७)** । शिरः पूर्वमभिनिर्वर्तते ... विति कुमार शिरा भारद्वाजः पश्यति, सर्वेन्द्रियाणां तद... मितिकृत्वा । **(चरक, शा. ६)** । शिरसि इन्द्रियाणि ... प्राणवहानि च स्रोतांसि सूर्यमिव गर्भस्तयः संश्रितानि । (... **सिद्धि ९)** । गर्भस्य खलु संभवतः पूर्वं शिरः संभवति ... शौनकः, शिरोमूलत्वात्प्रधानेन्द्रियाणाम् । **(सुश्रुत, शा. ...)** सर्वेन्द्रियाणि येनास्मिन् प्राणा येन च संस्थिताः । तेनतस्योत्त... रक्षायामादृतो भवेत् ॥ **(अष्टांगसंग्रह, उत्तरस्थान २९)** । **यदि मस्तिष्क या मस्तुलुंग** (Brain) **का विचार किया ... तो इसका उल्लेख बहुत कम होता है और जहाँ पर हो... वहाँ पर आधुनिक शारीर कार्य विज्ञान** (Physiology ...) **अनुसार जितने महत्व के साथ उसका उल्लेख होना ... वैसा नहीं होता**—मस्तिष्कस्यार्धाञ्जलिः । **(चरक, शा. ...)** मस्तिष्कं शिरस्थो मज्जा । मस्तिष्कः शिरोगत स्नेहः ॥ (... **णिदत्त)** । अत्यवाक्शिरसो नस्यं मस्तुलुङ्गेऽवतिष्ठते । (चर... मस्तुलुङ्गाद्विना भिन्ने कपाले मधुसर्पिषी । दत्वा ततो निद... सप्ताहं च पिबेद् घृतम् ॥ **(सुश्रुत, चि. ३)** । शिरसोऽङ्गु... बालवर्तिं प्रवेशयेत् । बालवर्त्यामदत्तायां मस्तुलुङ्गं व्रणात् ... हन्यादेनं ततोवायुस्तस्मादेवमुपाचरेत् । **(सुश्रुत, चि. ...)** मस्तुलुङ्गमिति शिरसो बलाधानं स्त्यानघृताकारं मस्तुलुङ्ग... **(डल्हण)** । मेदोहि तस्यामुदरेऽण्वस्थिषु च सरक्तं भवति ... च शिरसि कपालप्रतिच्छन्नं मस्तिष्काख्यं मस्तुलुङ्गाख्यं ... **(अष्टांगसंग्रह, शा. ५)** । मस्तुलुङ्गस्रुतौखादेन्मस्तिष्क... जीवजान् । **(अष्टांगसंग्रह, उत्तर ३१)** । मस्तुलुङ्गस्... वायुस्तात्वस्थिनामयेत् । **(सुश्रुत, शा. १०)** । मस्तुलुङ्गो ... घृताकारा मस्तकमज्जा । **(डल्हण)** । **मस्तुलुङ्ग संबंधी ... वचनों को देखकर एक बात साफ होगी कि ... स्वरूप का तथा कार्यों का विवरण कहीं नहीं वर्णित है, ... मस्तुलुङ्ग कपालास्थियों के भीतर का स्नेह है इतना ही ... निकलता है ।**

अब महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन हृद... हार्ट समझने की दृष्टि से जो तीन विरोध बतलाते हैं ... संक्षेप में फिर से विचार किया जाता है । प्रथम विरो... है कि हृदय बुद्धि का स्थान कहा गया है इसलिए व... हार्ट न होकर ब्रेन (Brain) होना चाहिए । इसका उत्त... कि आयुर्वेद हार्ट में ही बुद्धि का स्थान मानता है—हृ... कृतवीर्यो बुद्धेर्मनसश्चस्थानत्वात् । **(सुश्रुत)** । **यहाँ प... का उल्लेख करने के बाद हृदय का उल्लेख आया है, ... यह हृदय ब्रह्म हृदय नहीं हो सकता । दूसरा विरोध ... विकास का है । इसका उत्तर यह है कि निद्रितावस्... संकोच और जाग्रतावस्था में विकास हार्ट का भी ह... और इसकी सत्यता आधुनिक खोज से (३१वें ... वक्तव्य देखो) भी सिद्ध होती है । तीसरा विरोध**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि मांसमय अंग में इस प्रकार के गुण असंभव हैं। इसका उत्तर यह है कि आत्मा जिस हृदय में रहता है वह मांसमय पिण्ड है, इसकी साक्षी श्रीशंकराचार्य देते हैं, इसलिए इसमें कोई असंभवनीयता नहीं है। संक्षेप में आधुनिक कल्पना के अनुसार यद्यपि बुद्धि और मन का स्थान हृदय मानने में दोष होता है, तथापि आयुर्वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार कोई दोष नहीं है। जिस स्थान में हृदय की मर्यादा नहीं बताई गई है ऐसे स्थान में आधुनिक कल्पना के अनुसार हृदय से मस्तिष्क समझ सकते हैं, परंतु जहाँ पर हृदय की मर्यादा निश्चित है (जैसे–सत्वादिधाम हृदयं स्तनोरः कोष्ठमध्यगम्) वहाँ पर उससे मस्तिष्क नहीं समझ सकते। अतः आयुर्वेद में हृदय से हमेशा हार्ट समझना ही उचित है।

मन का स्थान—हृदय में मन का स्थान होता है इसकी सिद्धता ऊपर चरक सुश्रुतादि के जो वचन प्रमाण दिये हैं उनसे हो चुकी है। परंतु भेलसंहिता में मन का स्थान शिर बताया है—शिरस्ताल्वन्तर्गतं सर्वेन्द्रियपरं मनः। तत्रस्थं तद्धि विषयानिन्द्रियाणां रसादिकान्॥ समीपस्थान् विजानाति त्रीन् भावांश्च नियच्छति। तन्मनः प्रभवश्चापि सर्वेन्द्रियमयं बलम्॥ कारणं सर्वबुद्धीनां चित्तं हृदयसंस्थितम्। क्रियाणाञ्चेतरासां च चित्तं सर्वस्य कारणम्॥ (भेलसंहिता, उन्मादचिकित्सित) परंतु यह स्थान चरकादि के विरुद्ध नहीं है। चरक में सिर सर्व इन्द्रियों का अधिष्ठान माना गया है, मन एक इन्द्रिय है और विशेष करके बुद्धीन्द्रिय है—षडिन्द्रियप्रसादनः। (चरक)। मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानिकर्षति। (भगवद्गीता)। मन अणु, एक और सर्व शरीरचर है जो जहाँ पर जरूरत होती है वहाँ पर खट से पहुँच कर इन्द्रियार्थों के ग्रहण करने में सहायता करता है—ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः। (न्यायदर्शन ३–२–५९)। न युगपदनेकक्रियोपलब्धेः ॥६०॥ अलातचक्रदर्शनवत्तदुपलब्धिराशुसंचारात् ॥६१॥ यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु ॥६३॥ मनः पुरः सराणि चेन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति। (चरक सूत्र ८)। वदतीन्द्रियाणां पुनः सत्त्वादीनां केवलं चेतनावच्छरीरमयनभूतमधिष्ठानभूतं च॥ (चरक, विमान ५)। इसका अभिप्राय यह है कि केशनखादि संज्ञाहीन शरीर के उपांगों को छोड़कर मन संपूर्ण शरीर में संचार करके संज्ञा या ज्ञान प्राप्त करता है। शरीर में ज्ञान प्राप्ति का सबसे बड़ा साधन शिर है क्योंकि वहाँ पर सब इन्द्रियाँ उपस्थित रहती हैं, इसलिए मन भी वहाँ पर अधिक उपस्थित रहता है इसमें कोई संदेह नहीं और इसी दृष्टि से मन का स्थान शिर बताया गया है। संक्षेप में मन का मूलस्थान हृदय, उसका काम करने का मुख्य स्थान (Office head quarter's) शिर और उसका हलका संपूर्ण शरीर होता है। हृदय में रहकर मन अपना काम नहीं कर सकता। वह वहाँ से मनोवह स्रोतसों के द्वारा समस्त शरीर में तथा शिर में जाकर हृदयस्थ आत्मा को इन्द्रियार्थों का ज्ञान कराता है। जब पुरुष इन्द्रियार्थों के ज्ञान से परावृत्त होना चाहता है तब मन को हृदय में रोकने की आवश्यकता होती है—सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च। मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥ ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्॥ (भगवद्गीता ८–१३)। इस विस्तृत विवरण का तात्पर्य यह है कि हृदय में आत्मा का निवास होने के कारण आयुर्वेद हृदय को ही मन और बुद्धि का स्थान मानता है और हृदय से निकले हुए संज्ञावह, चेतनावह या मनोवह स्रोतसों के द्वारा समस्त शरीर को चैतन्य प्राप्त होता है तथा दोषों के द्वारा हृदय तथा संज्ञावह स्रोतसों की दुष्टि होने से संज्ञा के मन के तथा चेतना के विकार उत्पन्न होते हैं। यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो सब जगह मूल का अर्थ सुसंगतिक होता है, एक ही शब्द के दो अर्थ करने की आवश्यकता नहीं होती। आधुनिक कल्पना के साथ मिलने वाली तथा भारतीय अन्य शास्त्रसंमत वक्षस्थ और शिरस्थ दो हृदय मानने की कल्पना आयुर्वेदसंमत नहीं है। आयुर्वेद में केवल वक्षस्थ एक हृदय होता है और वही बुद्धि और मन का अधिष्ठान माना गया है। दो हृदयों का प्रतितन्त्र सिद्धान्त आयुर्वेदसंमत मानने से अनवस्था प्रसंग उत्पन्न होते हैं। इसका एक उदाहरण यहीं पर देखने के लिए मिला है। दूसरा उदाहरण चरक के अर्थेदशमहामूलीय अध्याय के कुछ श्लोकों में मिलता है। धमनी का अर्थ आर्टरी (Artery) होता है। इसको सिद्ध करने के लिए गणनाथ सेन जी 'तेन मूलेन महता महामूला मता दश। ओजोवहा शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः॥' इत्यादि श्लोक उद्धृत करते हैं (संज्ञापंचकविमर्श पृष्ठ ५५)। परंतु यह अर्थ तब ठीक हो सकता है जब 'मूल' का अर्थ हार्ट हो। अर्थात् यहाँ पर आप 'मूल' का अर्थ हार्ट मानने के लिए तैयार हुए हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। जहाँ पर आप 'बुद्धेर्निवास' पढ़कर हृदय को ब्रेन समझने के लिए तैयार हुए, वहाँ पर 'षडङ्ग मङ्गं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थपंचकम्। आत्मा च सगुणश्चेतश्चिन्त्यं च हृदि संश्रितम्॥' इतना स्पष्ट वर्णन पढ़कर भी आप हृदय को हार्ट मानने के लिए कैसे तैयार हुए हैं यह समझ में नहीं आता है। अनवस्था प्रसंग के तीसरे उदाहरण के लिए सातवें अध्याय के ३९वें श्लोक का वक्तव्य देखो।

निद्राहेतुः—इस श्लोक में नींद कैसी आती है और कैसी खुलती है इसकी उपपत्ति बतलायी है। यह उपपत्ति दर्शन शास्त्रानुसार है। इसको ध्यान में रखना चाहिए। समस्त संसार त्रिगुणात्मक प्रकृति का खेल है और पुरुष भी त्रिगुणों में फँस जाने के कारण पंचमहाभूतात्मक शरीर के पिंजरे में बद्ध हुए हैं—सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः। निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥ (भगवद्गीता १४–५)। इसी कारण से कुछ आचार्य निर्गुण पुरुष को भी त्रिगुणात्मक मानते हैं। प्रथम अध्याय का ९वाँ सूत्र देखो। इस प्रकार त्रिगुणात्मक पुरुष के निवास करने के कारण हृदय त्रिगुणों का भी स्थान माना गया है—सत्त्वादिधाम हृदयं स्तनोरः कोष्ठमध्यगम्॥ (अष्टांगहृदय, शा० ४)। ये गुण हमेशा आपस में मिले हुए रहते हैं। सत्त्व का परिणाम प्रकाश, निर्मलता,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनालस्य और तम का आलस्य निद्रा होता है—तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् । तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् । प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ (भगवद्गीता १४) । जब हृदय तम से आवृत होता है तब नींद आती है और जब तम कम होकर सत्त्व प्रबल होता है तब नींद खुल जाती है । इस तरह परस्पर विरोधी गुणों के क्रमिक प्रभाव से नींद और जागरण की अवस्था उत्पन्न होती है । लौकिक दृष्टि से यदि सत्त्व और तम की ओर देखा जाय तो तम से अँधेरा और समलता और सत्त्व से प्रकाश और निर्मलता का बोध होता है । प्रकाश को इन्द्रियार्थों की उपस्थिति का उपलक्षण समझ सकते हैं । अँधेरा इन्द्रियार्थों का अभाव समझ सकते हैं । जब अँधेरा, प्रशान्त गृह इत्यादि उपस्थित होते हैं तब नींद आती है और जब प्रकाश, शोरगुल इत्यादि उपस्थित होते हैं तब नींद खुलती है । संक्षेप में तम से बाह्य उत्तेजक पदार्थों (अर्थों) की अनुपस्थिति और सत्त्व से उनकी उपस्थिति समझ सकते हैं ।

इस दार्शनिक उपपत्ति के सिवा आयुर्वेद में निद्रा की और दो उपपत्तियाँ मिलती हैं । एक के अनुसार संज्ञावह स्रोतसों का कफ से अवरुद्ध होना निद्रा का कारण होता है । दूसरे के अनुसार इन्द्रियों की तथा मन की इन्द्रियार्थों से उपरति निद्रा का कारण होती है । यह उपरति ऐच्छिक या अनैच्छिक दोनों प्रकार की हो सकती है । परंतु प्रायः उपरति थकावट के कारण, अतएव अनैच्छिक होती है, इसलिए उसी का निर्देश किया गया है । यदि कोई मनुष्य अपने इच्छाबल से जब चाहे तब उपरति की अवस्था उत्पन्न कर सके तो उसको उसी समय नींद आ जाती है । नेपोलियन बोनापार्ट रणाङ्गण पर जरा-सी फुरसत मिलने पर उतनी ही नींद लेता था । आयुर्वेद में इस तरह नींद के चार कारण माने गये हैं—(१) तम (२) कफ (३) तम और कफ, तथा (४) उपरति—श्लेष्मावृतेषु स्रोतस्सु श्रमादुपरतेषु च । इन्द्रियेषु स्वकर्मभ्यो निद्राविशति देहिनम् ॥ (अष्टांगसंग्रह, सूत्र ९) । यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः । विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः ॥ (चरक, सूत्र २१) । निद्रा श्लेष्मतमोभवा ॥ (सुश्रुत) । योगशास्त्र में निद्रा उपरति की ही स्थिति मानी गई है—अभावप्रत्ययालंबनावृत्तिर्निद्रा ॥ (योगसूत्र १-१०) ।

स्वभाव एव वा हेतुः—प्राणियों को निद्रा प्रतिदिन रात को एक विशिष्ट समय पर आती है तथा विशिष्ट समय पर चली जाती है । निद्रा के समय तम का प्राबल्य होता हो और बोधन के समय सत्त्व का प्राबल्य होता हो, परंतु नियत समय पर इनका अस्तोदय क्यों होता है ? यह प्रश्न प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के सामने खड़ा हो सकता है और आयुर्वेद के ऋषियों के भी सामने खड़ा हो गया था और उसी के उत्तर में ऋषियों ने बताया कि तम और सत्त्व निद्रा और बोधन के भले ही कारण हों, परंतु इनसे बढ़कर कारण शरीर का स्वभाव है जो नियत समय पर तम के द्वारा नींद और सत्त्व के द्वारा प्रबोधन उत्पन्न करता है । आधुनिक काल में नींद के संबंध में अन्वेषण करके वैज्ञानिक इसी ... का मत प्रदर्शित करते हैं—Natural sleep is the nor... manifestation of one stage in the rhyth... activity of nerve cells. *Halliburton's Physio...* स्वभाव दुरतिक्रम होता है वैसी निद्रा भी दुरतिक्रम ... है, चाहे मनुष्य उसको टालने की कितनी भी ... क्यों न करे । अमेरिका के क्लीटमन (Kleitman) ... उसके साथियों ने निद्रा न लेने से शरीर पर क्या प... होता है उसकी जाँच २-५ दिन तक निद्रा न लेक... तब उनको यह मालूम हुआ कि शरीर के तापक्रम, रक्त, रक्तभार, पचन, भूख इत्यादि बातों में कोई भी ... खराबी नहीं होती है । अगर यह बात सत्य है और ... कोई संदेह नहीं तो कौन बुद्धिमान् मनुष्य अपनी ... जिन्दगी नींद में खराब करेगा ? रात में आधी आयु ... में नष्ट होती है, यह बात प्राचीन काल से लोगों ... में खटकती है—आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धं ... (भर्तृहरि) । तब भी आधुनिक वैज्ञानिक क्लीटमन का ... आधार मिलने पर निद्रा को पूर्णतया छोड़कर अपनी ... आयु का सदुपयोग करने का विचार मनुष्य कार्य... परिणत नहीं कर सकते । इसका कारण अन्न-सेवन ... जैसे शरीर का एक स्वभाव है वैसे ही निद्रा-सेवन ... स्वभाव है और अन्न-सेवन से जैसी शरीर की पुष्टि ... है वैसी निद्रा से भी शरीर की पुष्टि होती है—... यथाऽऽहारस्तथा स्वप्नः सुखो मतः । स्वप्नाहारसमुत्थे च स्थौ... विशेषतः ॥ निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम् । क्लीवता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च ॥ (चरक, सूत्र० २१) ... सिवा मनुष्य जितने दिन गुजरान कर सकता है उत... दिन के लगभग (३-४ सप्ताह) मनुष्य निद्रा ले... करके भी गुजरान कर सकता है, परंतु वह उसके ... नहीं सकता—Man can exist without slee... about the same time that he can do w... food, viz, three to four weeks but he canno... without it. *System of clinical medicine by ...* इन सब बातों का विचार करके सूत्रस्थान के प्रथम ... में निद्रा का समावेश स्वाभाविक व्याधियों में कि... है—स्वाभाविकास्तु क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रभृतयः ॥

निद्रा की प्रक्रिया के संबंध में आधुनिक खोज... स्वभाव से होती है, परंतु किस प्रकार से होती है ... ज्ञान, बहुत कुछ खोज करने पर भी, अखल है ... गुहा (Third ventricle) के तल के धूसर भाग ... कंदाधरीय भाग (Hyp othalamus) में निद्रा ... रखने वाला कुछ अंश होता है जिसमें खराबी होने ... तथा तंद्रा बढ़ती है । प्रत्यक्ष निद्रा उत्पन्न होने की ... निम्न मत पाश्चात्य वैद्यक में प्रचलित हैं । (१) होवेल ... अमेरिकन शास्त्रज्ञ का मत है कि मस्तिष्क में रक्त ... और अन्य अंगों में रक्त की अधिकता होने से निद्रा ... होती है । भोजन के पश्चात् पचनसंस्थान में रक्त ... होकर मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से ही ...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनालस्य और तम का आलस्य निद्रा होता है—तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् । तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् । प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ (भगवद्गीता १४) । जब हृदय तम से आवृत होता है तब नींद आती है और जब तम कम होकर सत्त्व प्रबल होता है तब नींद खुल जाती है । इस तरह परस्पर विरोधी गुणों के क्रमिक प्रभाव से नींद और जागरण की अवस्था उत्पन्न होती है । लौकिक दृष्टि से यदि सत्त्व और तम की ओर देखा जाय तो तम से अँधेरा और समलता और सत्त्व से प्रकाश और निर्मलता का बोध होता है । प्रकाश को इन्द्रियार्थों की उपस्थिति का उपलक्षण समझ सकते हैं । अँधेरा इन्द्रियार्थों का अभाव समझ सकते हैं । जब अँधेरा, प्रशान्त गृह इत्यादि उपस्थित होते हैं तब नींद आती है और जब प्रकाश, शोरगुल इत्यादि उपस्थित होते हैं तब नींद खुलती है । संक्षेप में तम से बाह्य उत्तेजक पदार्थों (अर्थों) की अनुपस्थिति और सत्त्व से उनकी उपस्थिति समझ सकते हैं ।

इस दार्शनिक उपपत्ति के सिवा आयुर्वेद में निद्रा की और दो उपपत्तियाँ मिलती हैं । एक के अनुसार संज्ञावह स्रोतसों का कफ से अवरुद्ध होना निद्रा का कारण होता है । दूसरे के अनुसार इन्द्रियों की तथा मन की इन्द्रियार्थों से उपरति निद्रा का कारण होती है । यह उपरति ऐच्छिक या अनैच्छिक दोनों प्रकार की हो सकती है । परंतु प्रायः उपरति थकावट के कारण, अतएव अनैच्छिक होती है, इसलिए उसी का निर्देश किया गया है । यदि कोई मनुष्य अपने इच्छाबल से जब चाहे तब उपरति की अवस्था उत्पन्न कर सके तो उसको उसी समय नींद आ जाती है । नेपोलियन बोनापार्ट रणाङ्गण पर जरा-सी फुरसत मिलने पर उतनी ही नींद लेता था । आयुर्वेद में इस तरह नींद के चार कारण माने गये हैं—(१) तम (२) कफ (३) तम और कफ, तथा (४) उपरति—श्लेष्मावृतेषु स्रोतस्सु श्रमादुपरतेषु च । इन्द्रियेषु स्वकर्मभ्यो निद्राविशति देहिनम् ॥ (अष्टांगसंग्रह, सूत्र ९) । यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः । विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः ॥ (चरक, सूत्र २१) । निद्रा श्लेष्मतमोभवा ॥ (सुश्रुत) । योगशास्त्र में निद्रा उपरति की ही स्थिति मानी गई है—अभावप्रत्ययालंबनावृत्तिर्निद्रा ॥ (योगसूत्र १–१०) ।

स्वभाव एव वा हेतुः—प्राणियों को निद्रा प्रतिदिन रात को एक विशिष्ट समय पर आती है तथा विशिष्ट समय पर चली जाती है । निद्रा के समय तम का प्राबल्य होता हो और बोधन के समय सत्त्व का प्राबल्य होता हो, परंतु नियत समय पर इनका अस्तोदय क्यों होता है ? यह प्रश्न प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के सामने खड़ा हो सकता है और आयुर्वेद के ऋषियों के भी सामने खड़ा हो गया था और उसी के उत्तर में ऋषियों ने बताया कि तम और सत्त्व निद्रा और बोधन के भले ही कारण हों, परंतु इनसे बढ़कर कारण शरीर का स्वभाव है जो नियत समय पर तम के द्वारा नींद और सत्त्व के द्वारा प्रबोधन उत्पन्न करता है । आधुनिक काल में नींद के संबंध में अन्वेषण करके वैज्ञानिक इसी का मत प्रदर्शित करते हैं—Natural sleep is the nor[mal] manifestation of one stage in the rhyth[mic] activity of nerve cells. *Halliburton's Physi[ology]*. स्वभाव दुरतिक्रम होता है वैसी निद्रा भी दुरतिक्रम है, चाहे मनुष्य उसको टालने की कितनी भी कोशिश क्यों न करे । अमेरिका के क्लीटमन (Kleitman) उसके साथियों ने निद्रा न लेने से शरीर पर क्या परि[णाम] होता है उसकी जाँच २–५ दिन तक निद्रा न लेकर तब उनको यह मालूम हुआ कि शरीर के तापक्रम, रक्त, रक्तभार, पचन, भूख इत्यादि बातों में कोई भी खराबी नहीं होती है । अगर यह बात सत्य है और कोई संदेह नहीं तो कौन बुद्धिमान् मनुष्य अपनी जिन्दगी नींद में खराब करेगा ? रात में आधी आयु में नष्ट होती है, यह बात प्राचीन काल से लोगों के मे खटकती है—आयुर्वर्षशतं नृणां परिमितं रात्रौ तदर्धं (भर्तृहरि) । तब भी आधुनिक वैज्ञानिक क्लीटमन का आधार मिलने पर निद्रा को पूर्णतया छोड़कर अपनी आयु का सदुपयोग करने का विचार मनुष्य कार्य में परिणत नहीं कर सकते । इसका कारण अन्न-सेवन जैसे शरीर का एक स्वभाव है वैसे ही निद्रा-सेवन स्वभाव है और अन्न-सेवन से जैसी शरीर की पुष्टि है वैसी निद्रा से भी शरीर की पुष्टि होती है—यथाऽऽहारस्तथा स्वप्नः सुखो मतः । स्वप्नाहारसमुत्थे च सौख्ये विशेषतः ॥ निद्रायत्तं सुखं दुःखं पुष्टिः कार्श्यं बलाबलम् । क्लीवता ज्ञानमज्ञानं जीवितं न च ॥ (चरक, सूत्र० २१) । सिवा मनुष्य जितने दिन गुजरान कर सकता है उत[ने] दिन के लगभग (३–४ सप्ताह) मनुष्य निद्रा से[वन न] करके भी गुजरान कर सकता है, परंतु वह उसके बि[ना] नहीं सकता—Man can exist without sleep about the same time that he can do w[ithout] food, viz, three to four weeks but he cannot without it. *System of clinical medicine by* इन सब बातों का विचार करके सूत्रस्थान के प्रथम में निद्रा का समावेश स्वाभाविक व्याधियों में कि[या] है—स्वाभाविकास्तु क्षुत्पिपासाजरामृत्युनिद्राप्रभृतयः ॥

निद्रा की प्रक्रिया के संबंध में आधुनिक खोज स्वभाव से होती है, परंतु किस प्रकार से होती है ज्ञान, बहुत कुछ खोज करने पर भी, अत्यल्प है गुहा (Third ventricle) के तल के धूसर भाग कंदाधरीय भाग (Hyp othalamus) में निद्रा रखने वाला कुछ अंश होता है जिसमें खराबी होने से तथा तंद्रा बढ़ती है । प्रत्यक्ष निद्रा उत्पन्न होने की निम्न मत पाश्चात्य वैद्यक में प्रचलित हैं । (१) होवेल अमेरिकन शास्त्रज्ञ का मत है कि मस्तिष्क में रक्त और अन्य अंगों में रक्त की अधिकता होने से निद्रा होती है । भोजन के पश्चात् पचनसंस्थान में रक्त होकर मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से ही

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्य को कुछ तन्द्रा या निद्रा मालूम होती है। जाड़ों के दिनों में रात को ओढ़ने के लिए काफी गरम कपड़ा न होने से निद्रा नहीं आती, क्योंकि त्वचा की रक्तवाहिनियाँ सिकुड़ने से मस्तिष्क में रक्ताधिक्य हो जाता है। प्रतिदिन रात को त्वचागत रक्तवाहिनियाँ विस्तृत होती हैं जिससे मस्तिष्क में रक्त की कमी होकर नींद आती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह अवस्था नींद में होती है, परंतु इससे नींद आती है या नींद के कारण मस्तिष्क में रक्त कम होता है यह प्रश्न फिर भी हल नहीं होता। (२) कुछ शास्त्रज्ञों का यह मत है कि जाग्रतावस्था में शरीर में ऐसे रासायनिक द्रव्य उत्पन्न होते हैं जो उचित मात्रा में संचित होकर मस्तिष्क पर निद्रा का प्रभाव डालते हैं। वैसे ही निद्रितावस्था में ऐसे द्रव्य उत्पन्न होते हैं जो निद्रा खोलने का कार्य करते हैं। (३) कुछ तज्ज्ञों का कथन है कि जाग्रतावस्था में मस्तिष्कगत नाड़ीकन्दों (Neurons) के अक्षतन्तु (Dendrites) आपस में भली भाँति मिले रहते हैं जिससे आपस में संवहन होता है जिसका परिणाम संज्ञा है। निद्रितावस्था में ये अक्षतन्तु सिकुड़कर गाँठदार होते हैं जिससे इनका आपस में संबंध टूट जाता है और एक से दूसरे में संवहन नहीं होता। इसका परिणाम संज्ञानाश में होता है। जो इस उपपत्ति के पक्ष में है। उनका कथन है कि सिकुड़न के कारण निद्रा उत्पन्न होती है। कुछ लोगों का कथन है कि निद्रा के कारण सिकुड़न होती है। (४) पावलोव (Pavlov) नामक सुप्रसिद्ध रशिअन वैज्ञानिक का मत है कि निद्रा सांकेतिक निवारण (Conditional inhibition) का परिणाम है। प्राणियों के शरीर में कई सहज प्रत्यावर्तन क्रियाएँ (Inborn reflexes) होती हैं। अन्नदर्शन से लालास्राव उन्हीं में से एक क्रिया है। यदि किसी कुत्ते को नियत समय पर घंटिकावादन के साथ अन्न दिया जाय तो कुत्ता घंटिकावादन रूप संकेत का संबंध अन्न के साथ जोड़ देता है जिससे कुछ दिनों के पश्चात् खाली घंटिकावादन होने पर उसे लालास्राव होने लगता है। यह कार्य जन्मोत्तर होता है और संकेत के अनुसार होता है इसलिए सांकेतिक प्रत्यावर्तन कहलाता है। यदि कुत्ते को कोई दूसरी सूचना बताई जाय जिससे वह अन्न न आने का संकेत समझ सके और उस संकेत का उपयोग अन्न आने के संकेत के पश्चात् किया जाय तो कुछ काल तक लालास्रावरूप प्रत्यावर्तन क्रिया का निवारण (Inhibition) होता है। यह निवारण का कार्य भी संकेत के अनुसार होता है इसलिए इसको सांकेतिक निवारण कहते हैं। प्रत्यावर्तन तथा निवारण ये दोनों भी कार्य मस्तिष्क के धूसरवस्तु में होते हैं। प्रत्येक कार्य का स्थान भिन्न भिन्न होता है। एक स्थान में निवारण का कार्य प्रारंभ होने पर वह अन्य स्थानों पर भी अरीभवन (Irradiation) के द्वारा फैलता है। पावलोव का अभिप्राय है कि रात्रि के समय, बिस्तरा इत्यादि निद्रानुकूल संकेतों का निवारक परिणाम मस्तिष्क के ऊपर होकर प्राणी को आप से आप नींद आ जाती है।

ये सब मतमतान्तर एक दृष्टि से ठीक हैं, परंतु इनसे निद्रा के कारणों का और प्रक्रिया का पूर्ण ज्ञान नहीं होता। कुछ भी हो, निद्रा एक शरीर का स्वाभाविक धर्म है और उससे शरीर के हर एक पुर्जे को अधिक से अधिक आराम मिलता है ये आयुर्वेद के सिद्धान्त आधुनिक खोज से भी अविचलित रहे हैं। इसमें कोई संदेह नहीं—देहं विश्रमते यस्मात्तस्मान्निद्रा प्रकीर्तिता। देहवृत्तौ यथाऽऽहारस्तथा निद्रा समासतः॥ (आत्रेयसंहिता)।

पूर्वदेहानुभूतांस्तु भूतात्मा स्वपतः प्रभुः।
रजोयुक्तेन मनसा गृह्णात्यर्थान् शुभाशुभान् ॥३५॥

सोये हुए (मनुष्य) का स्वामी जीवात्मा पूर्वकाल में देह से अनुभव किये हुए शुभाशुभ विषयों का ग्रहण रजोयुक्त मन के द्वारा करता है ॥३५॥

वक्तव्य—इस श्लोक में स्वप्न की उपपत्ति वर्णन की गई है। पूर्वदेहानुभूत—पूर्वजन्म के देह से अनुभव किये हुए तथा इस जन्म में स्वप्नदर्शनकाल के पूर्व इसी देह से अनुभव किये हुए—पूर्वदेहानुभूतांस्त्वित्यादि। एतच्चोपलक्षणम्, अतोऽनेनापि देहेनानुभूतान्॥ (डल्हण)। ये सब अनुभव पंच ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्षीकृत और मन से कल्पित या प्रार्थित इस प्रकार के होते हैं। स्वप्न में जो अनुभव आते हैं वे स्मृति के रूप में आते हैं—अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः। (योगसूत्र १–११)। पंच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा जो विषय प्रत्यक्षीकृत होते हैं उनको अनुभूत कह सकते हैं, परंतु जो मन से कल्पित या प्रार्थित होते हैं वे विषय वासना के रूप से रहते हैं और उसी की अनुभूति स्वप्न में होती है। बहुतेरे स्वप्न वासनाबद्धता के कारण उत्पन्न होते हैं, चाहे वह वासनाएँ इस जन्म की हों चाहे पूर्वजन्म की हों—जीवो यद्वासनाबद्धस्तदेवान्तः प्रपश्यति॥ (योगवासिष्ठ ४–१७–२६)। स्वपतः—स्वपतः शरीरस्येत्यर्थः॥ भूतात्मा—पंचमहाभूतात्मक शरीर में बद्ध हुआ आत्मा जो क्षेत्रज्ञ कहलाता है। रजोयुक्तेन मनसा—ऊपर निद्रा की उपपत्ति बतलाई गई है। उसमें निद्रा का कारण तम बतलाया गया है। मन जब तमोयुक्त होता है तब उसमें अकार्यकरत्व आ जाता है। सृष्टि के प्रारंभ में सब तम से आवृत था। तमावृत होने के कारण समस्त सृष्टि प्रसुप्त याने अकार्यकर थी—आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः। (मनु १–५)। प्रसुप्तमिव सर्वतः। स्वकार्याक्षममित्यर्थः॥ (कुल्लूकभट्ट)। रज प्रवर्तक होने के कारण जब मन उसके साथ मिलता है तब वह कार्यक्षम होता है और नाना प्रकार के स्वप्न मनुष्य देखता है। यही अर्थ दूसरी परिभाषा में अगर कहना हो तो यों कह सकते हैं कि जब मन इन्द्रियों के साथ प्रसुप्त याने अकार्यकर होता है तब स्वप्न नहीं होते, परंतु जब केवल इन्द्रियाँ प्रसुप्त होती हैं और मन नहीं होता तब स्वप्न होते हैं—सर्वेन्द्रियव्युपरतौ मनोऽनुपरतं यदा। विषयेभ्यस्तदा स्वप्नं नानारूपं प्रपश्यति॥ (अष्टांगसंग्रहसूत्र ९)। स्वप्न की इस उपपत्ति से यह स्पष्ट होगा कि स्वप्न विरहित निद्रा से जितना आराम शरीर को

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिल सकता है उतना स्वप्नयुक्त निद्रा से नहीं मिल सकता। भगवान् शंकराचार्य भी स्वप्न की उपपत्ति इसी प्रकार की बताते हैं—इन्द्रियाणामुपरमे मनोऽनुपरतं यदि सेवते विषयानेव तद्विद्यात् स्वप्नदर्शनम् ॥

करणानां तु वैकल्ये[1] तमसाऽभिप्रवर्धिते ।
अस्वपन्नपि भूतात्मा प्रसुप्त इव चोच्यते ॥३६॥

तम द्वारा इन्द्रियों की विकलता बढ़ने पर न सोता हुआ भी जीवात्मा सोता हुआ सा कहा जाता है ॥३६॥

वक्तव्य—आत्मा स्वयं निर्विकार होने के कारण उसके ऊपर न तम का प्रभाव पड़ता है तथा न उसमें निद्रा की विकृति उत्पन्न हो सकती है। परन्तु व्यवहार में आत्मा सोता है इस प्रकार की परिभाषा व्यवहृत होती है। यह परिभाषा एक दृष्टि से ठीक है यह कहने का इस श्लोक का उद्देश्य है। आत्मा जब शरीर में बद्ध होता है तब उसका ज्ञान तथा बोध इन्द्रियों के ऊपर निर्भर होता है। जब इन्द्रियाँ नहीं होतीं तब आत्मा को ज्ञान नहीं होता, जब इन्द्रियाँ विकृत होती हैं तब आत्मा को ठीक ज्ञान नहीं होता। वैसे ही जब इन्द्रियाँ तम द्वारा आवृत होती हैं तब आत्मा प्रसुप्त हो जाता है—आत्माज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं तस्य प्रवर्तते। करणानामवैमल्यादयोगाद्वा न वर्तते ॥ पश्यतोऽपि यथाऽऽदर्शे संक्लिष्टे नास्ति दर्शनम्। तत्वं जले वा कलुषे चेतस्युपहते तथा ॥ (चरक. शा. १) करणम्—मन और इन्द्रियाँ—करणानि मनोबुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणि च। (चरक. शा. १)।

सर्वर्तुषु दिवास्वापः प्रतिषिद्धोऽन्यत्र ग्रीष्मात्, प्रतिषिद्धेष्वपि तु बालवृद्धस्त्रीकर्शितक्षतक्षीणमद्यनित्ययानवाहनाध्वकर्मपरिश्रान्तानामभुक्तवतां मेदःस्वेदकफरसरक्तक्षीणानामजीर्णिनां च मुहूर्तं दिवास्वपनमप्रतिषिद्धम्[2] । रात्रावपि जागरितवतां जागरितकालादर्धमिष्यते दिवास्वपनम् । विकृतिर्हि दिवास्वप्नो नाम; तत्र स्वपतामधर्मः सर्वदोषप्रकोपश्च, तत्प्रकोपाच्च कासश्वासप्रतिश्याय शिरोगौरवाङ्गमर्दारोचकज्वराग्निदौर्बल्यानि[3] भवन्ति; रात्रावपि जागरितवतां वातपित्तनिमित्तास्त एवोपद्रवा भवन्ति ॥३७॥

(**दिवास्वप्न और रात्रिजागरण**)—ग्रीष्म ऋतु के अतिरिक्त सब ऋतुओं में दिन में सोना (वैद्यक शास्त्रानुसार) निषिद्ध है। परन्तु निषिद्ध ऋतुओं में भी बाल, वृद्ध, स्त्रीसंग के कारण थके हुए, क्षतयुक्त, दुर्बल, मद्य नित्य सेवन करनेवाले, गाड़ी में बैठने से, (घोड़ा हाथी इत्यादि पर) सवारी करने से, प्रवास करने से, काम करने से थके हुए, भोजन न किये हुए, मेद, स्वेद, कफ, रस और रक्त जिनमें क्षीण हो गया हो और अपचन से पीड़ित इनको दिन में एक मुहूर्त भर नींद निषिद्ध नहीं है। रात में भी जो (कारणवश) जागे रहे उनके लिए प्रजागरकाल से आधा काल दिन में सोना उचित होता है। दिन में सोना विकृति है, दिन में सोने से अधर्म और सर्व दोषों का प्रकोप होता है। दोषों के प्रकोप से खाँसी, श्वास, सर्दी, सर में भारीपन, शरीर में पीड़ा, अरोचक, ज्वर और अग्नि की मन्दता (ये विकार) होते हैं; रात को भी जागरण करनेवालों को वात और पित्त के कारण उन्हीं के समान उपद्रव (उत्पन्न) होते हैं ॥३७॥

वक्तव्य—ग्रीष्मादन्यत्र—गर्मियों के दिनों में शरीर परिश्रम करने पर अधिक थकावट होती है, दिन बड़े और रात छोटी होती हैं जिससे दिन भर के परिश्रम के लिए जितना विश्राम रात में निद्रा के रूप में मिलना चाहिए उतना नहीं मिलता। इसलिए दिन में निद्रा सेवन की विधि बताई गई है—ग्रीष्मेत्वादानरूक्षाणां वर्धमाने च मारुते। रात्रीणां चातिसंक्षेपाद्दिवास्वप्नः प्रशस्यते (चरक सू० २१)। स्त्रीकर्शित—स्त्रियाँ और कर्शित—स्त्रियाँ दुर्बल अथवा स्त्री संग से कर्शित इस तरह इसके दो अर्थ हो सकते हैं। स्त्रियों के लिए दोपहर की निद्रा इसलिए विहित है कि घर की स्त्रियाँ रात को सबके पीछे सोती और सबसे पहले उठती हैं, तथा उनको शारीरिक परिश्रम भी बहुत करना पड़ता है जिसके कारण रात में मिलने वाली निद्रा उनके लिए पर्याप्त नहीं होती। क्षतक्षीण—क्षत याने व्रणयुक्त तथा क्षीण याने धातुक्षय-युक्त—क्षया एव हि ते ज्ञेयाः प्रत्येकं धातुसंक्षयात् ॥ (सु. उत्तर ४१)। किं वा क्षत क्षीण नामक जो उरःक्षत रोग होता है उससे पीड़ित। ये अर्थभेद चरक के श्लोक के आधार पर किये गये हैं—गीताध्ययनमद्य... भाराध्वकर्शिताः। अजीर्णिनः क्षताः क्षीणा वृद्धाबालास्तथा... (सूत्र, २१)। यानवाहन—यान और वाहन का वास्तविक अर्थ एक है, परंतु चूँकि ये दो शब्द पृथक् पृथक् प्रयुक्त हैं इसलिए इनका पार्थक्य निम्न प्रकार से कर सकते... यान से गाड़ी और वाहन से स्वयं चलने वाले... जिनके ऊपर सवारी की जाती है—समझ सकते... अँग्रेजी में भी आजकल (Ride or Drive) ये दो... ऐसे ही भिन्नार्थ में प्रयुक्त होते हैं। इसलिए यान... (Drive) और वाहन से (Ride) समझना चाहिए। परिश्रान्त—इसका संबंध यान, वाहन, अध्व, कर्म प्रत्येक शब्दों के साथ है। अभुक्तवताम्—जिनके लिए निद्रा विहित है उनको भी भोजन के उपरान्त नींद उचित नहीं है—भोजनात्प्रागदिवास्वापः पापाणमपि... भोजनान्ते दिवास्वापाद्वातपित्तकफोद्भवः ॥ (योगरत्नाकर) भुक्त्वा स्वप्नं न सेवेत सुस्थोऽप्यसुखितो भवेत् ॥ (हारीतसंहिता) इससे पचन में खराबी हो जाती है। यह नियम दिवानिद्रा तथा रात्रिनिद्रा दोनों के लिए लागू है। इसलिए रात्रि के प्रथम प्रहर में भोजन करके दूसरे प्रहर...

१ 'वैगुण्ये'. २ 'स्वपनमप्रतिषिद्धं'. ३ 'गौरवज्वराग्निदौर्बल्यानि'.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नींद लेने का आदेश किया है—रात्रौ तु भोजनं कुर्यात् प्रथम प्रहरान्तरे ॥ (योगरत्नाकर)। यहाँ पर इस तरह भोजनोत्तर दिवानिद्रा का निषेध किया है और अन्य कई स्थानों में भोजनोत्तर दिवाशयन की विधि बताई है—भुक्त्वा राजवदासीत यावदन्नक्लमो गतः । ततः पादशतं गत्वा वामपार्श्वेन संविशेत् ॥ (सुश्रुत सूत्र ४६)। भुक्त्वोपविशतस्तन्द्रा शयानस्य तु पुष्टता। आयुश्चङ्क्रममाणस्य मृत्युर्धावति धावतः ॥ (योगरत्नाकर)। भोजन के पश्चात् आराम करने की बहुत आवश्यकता होती है, इसमें कोई संदेह नहीं है। क्योंकि उस समय शरीरगत रक्त की राशि पचन संस्थान की ओर अधिक आकर मस्तिष्क तथा त्वचा की ओर कम होती है। उस समय रक्तवह संस्थान के ऊपर अधिक भार न पड़ना चाहिए। भोजनोत्तर आराम, चहलकदमी करने से, बैठने से या शयन से हो सकता है। शयन से अधिक आराम मिलता है, इसलिए भोजनोत्तर शयन या संवेश की विधि बताई गई है। इस शयन से निद्रा का बोध नहीं ले सकते क्योंकि निद्रा भोजनोत्तर निषिद्ध है। इसलिए शयन से उस आसन का बोध लेना चाहिए जिसमें आराम हो तथा दिवानिद्रा के दोष न हों। इस प्रकार के आसन को आसीन प्रचलायित कहते हैं—अरूक्षमनभिष्यन्दि त्वासीन प्रचलायितम् ॥ (चरक सूत्र २१)। इसका अभिप्राय है बैठे बैठे या लेटे लेटे करवट बदलते रहना। प्रतिदिन भोजन के पश्चात् आराम करने का यही आसन है और यही शरीर की पुष्टि करता है—आसीनप्रचलस्वप्नो नरभिष्यन्दि बृंहणः ॥ (खरनाद)। मुहूर्त—अड़तालीस मिनिट—त्रिंशन्मुहूर्तमहोरात्रम् ॥ (सुश्रुत)। रात्रावपि—(कदाच रात को कारणवश जागना पड़े तो जितने घंटे जागरण होजाय उससे आधे घंटे दूसरे दिन निद्रा लेनी चाहिए। परंतु यह निद्रा भी भोजन के पूर्व लेना जरूरी है—असात्म्याज्जागरादर्धं प्रातः स्वप्यादभुक्तवान् ॥ (अष्टांगहृदय, सूत्र ७)। जागरितकालात्—यह जागरित काल प्रकृतिसापेक्ष और अभ्याससापेक्ष होता है। एक मनुष्य प्रकृति और अभ्यास के कारण स्वल्पनिद्र और दूसरा बहुनिद्र होता है। ये दो मनुष्य जब रात को ग्यारह बजे तक जागरित रहेंगे तब स्वल्पनिद्र को दूसरे दिन, दिन में सोने की आवश्यकता नहीं होगी और बहुनिद्र को होगी। इससे यह स्पष्ट होगा कि जागरित काल घड़ी के ऊपर न होकर प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन कितनी निद्रा लेता है उस (सात्म्यनिद्रा) के ऊपर होगा। सात्म्यनिद्रा का काल आधुनिक वैज्ञानिकों के अनुसार आयुर्वेद में ६–९ घंटे का माना जाता है। जिसका सात्म्यनिद्राकाल नौ घंटा है उसको अगर रात को दो घंटा जागरण हुआ तो उसको दूसरे दिन भोजन के पूर्व एक घंटा निद्रासेवन करना चाहिए—अतोऽस्माद्धेतोः कालानतिक्रमेण यस्य स्वपतो यामद्वयं त्रयं वा निशि निद्रां भजेत् । असात्म्याज्जागरादर्धेन स्वप्न इष्यते । असात्म्यग्रहणेनैतद् द्योतयति । न [illegible]स्य रात्रावसुप्तस्य जागरणकालादर्धेन दिवास्वप्न इष्यते, किं [illegible] यो यावन्तं कालमुचितं स्वपिति तस्मात्कालाद्यावन्तं कालं जागृयात् तावतोऽर्धेनासौ स्वप्यात् । केचिद्धि स्वल्पनिद्राः स्वभावतो भवन्ति ॥ (अरुणदत्त, अष्टांगहृदय सूत्र ७–६५)। विकृतिर्हि दिवास्वप्नोनाम—यहाँ पर विकृति शब्द शारीरिक विकार के लिए नहीं प्रयुक्त हुआ है। पहले बताया जा चुका है कि भगवान् सूर्यनारायण के द्वारा दिवस के दिन और रात्रि करके दो विभाग हुए हैं जिनमें दिन कर्म के लिए और रात्रि निद्रा या आराम के लिए होती है। यदि संसार के पशु पक्षियों की ओर देखा जाय तो वे दिन होते ही अपना काम प्रारंभ करते हैं और रात होते ही अपना काम छोड़कर आराम करते हैं। अर्थात् दिन में कर्म और रात में निद्रा, यह प्रकृति (Nature) है, और दिन में निद्रा और रात्रि में प्रजागर विकृति (Against nature) है। सर्वदोषप्रकोपणम्—सर्वदोष से यद्यपि तीनों दोषों का बोध होता है, तथापि कफ और पित्त का प्रकोप अधिक समझना चाहिए। दिवास्वाप स्निग्ध होता है और रात्रिजागरण रूक्ष होता है—रात्रौ जागरणं रूक्षं स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा ॥ (चरक, सूत्र २१)। इसलिए दिवानिद्रा से कफ का प्रकोप सबसे अधिक और पित्त का उससे कम, वात का नहीं के बराबर होता है। रात्रि का जागरण रूक्ष होने से उससे वात का प्रकोप सबसे अधिक और पित्त का उससे कम, कफ का नहीं के बराबर होता है। दिवानिद्रा के दोष प्रकोप के संबंध में अष्टांगसंग्रह में लिखा है—ग्रीष्मे वायुचयादानरौक्ष्यराज्यल्पभावतः । दिवास्वप्नोहितोऽन्यस्मिन्कफपित्तकरो हि सः ॥ (सूत्र ७)। रात्रिजागरण का परिणाम वातपित्त प्रकोप में होता है इसका निर्देश यहीं पर सूत्र में किया गया है। त एवोपद्रवा—दिवास्वप्न से जो विकार ऊपर बताये गये हैं वे ही विकार रात्रि जागरण से नहीं हो सकते क्योंकि दोष-प्रकोप-भिन्नता है। अतः 'त एव श्वासकासादय एव' यह डल्हण का अर्थ अनुचित मालूम होता है। अष्टांगहृदय के अनुसार रात्रि प्रजागरण से निम्न रोग होते हैं—निद्रानाशादङ्गमर्दशिरोगौरवजृम्भिकाः । जाड्यं ग्लानि भ्रमापक्तितन्द्रारोगाश्चवातजाः। (सूत्र ७)। इसमें श्वासकास प्रतिश्याय ये रोग नहीं है। इसके आधार पर त एव का अर्थ उन्हीं के समान (तेषामिव) करना चाहिए।

भवन्ति चात्र—

तस्मान्न जागृयाद्रात्रौ दिवास्वप्नं च वर्जयेत् ।
ज्ञात्वा दोषकरावेतौ बुधः स्वप्नं मितं चरेत् ॥३८॥
अरोगः सुमना ह्येवं बलवर्णान्वितो वृषः ।
नातिस्थूलकृशः श्रीमान् नरो जीवेत् समाः शतम् ॥३९॥

यहाँ पर श्लोक हैं। इसलिए रात को जागरण न करे तथा दिन में निद्रा न सेवन करे। बुद्धिमान् (पुरुष) इन दोनों को दोषजनक समझकर (रात में ही) उचित मात्रा में नींद को सेवन करे ॥ ३८ ॥ इस प्रकार (रात्रि में उचित निद्रा सेवन करने) से मनुष्य नीरोग, प्रसन्नचित्त वृष के समान बल और वर्ण से युक्त, न बहुत मोटा न बहुत पतला, (एवं गुणविशिष्टशरीर) संपत्तियुक्त होकर सौ बरस तक जीता है ॥३९॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वक्तव्य—मितम्—अपनी आवश्यकता के अनुसार उचित दो से तीन पहर। वृषः—इसका अर्थ शुक्रल या स्त्रीरमणशीलयुक्त किया गया है; परन्तु यहाँ पर यह अर्थ उचित नहीं मालूम होता। वृष का अर्थ साँड के समान बलवान् मनुष्य भी होता है, जैसे—व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः। (रघुवंश १), और यही अर्थ यहाँ पर अधिक युक्त है। इस दृष्टि से 'वृष इव बलवर्णान्वितः' ऐसा अन्वय करना चाहिए।

निद्रा सात्म्यीकृता यैस्तु रात्रौ च यदि वा दिवा।
(दिवारात्रौ च ये नित्यं स्वप्नजागरणोचिताः।)
न तेषां स्वपतां दोषो जाग्रतां वाऽपि जायते ॥४०॥

दिन में अथवा रात में निद्रा को जिन्होंने सात्म्य कर रक्खा है तथा जो दिवास्वप्न और रात्रिजागरण के हमेशा के आदी हो गये हैं उनको (दिन में) सोने से अथवा (रात को) जागने से कोई विकार उत्पन्न नहीं होता ॥४०॥

वक्तव्य—यदि वा—यहाँ पर यदि का कोई अर्थ नहीं है। यदि वा मिलकर 'अथवा' अर्थ होता है—निन्दंतु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु। (भर्तृहरि)। रात्रौ च यदि वा दिवा—दिन में रात में जब जी चाहे तब तथा जब आवश्यकता पड़े तब, संक्षेप में वक्त बेवक्त। प्रथम श्लोकार्ध के अनुसार जो लोग होते हैं उनका निद्रा का कोई नियत समय नहीं होता। अनुक्रम से बदलने वाली आठ आठ घंटे की काम करने की पारी जिनकी होती है वे लोग इस वर्ग में आते हैं। दूसरे श्लोकार्ध के अनुसार जो लोग होते हैं उनको हमेशा रात में काम करना पड़ता है। स्वप्नजागरणोचिताः—स्वप्नजागरणाभ्यस्ताः। अभ्यास के कारण जो सात्म्य होता है वह ओकसात्म्य कहलाता है—उपशेते यदौचित्यादोकःसात्म्यं तदुच्यते। (चरक, सूत्र ६)। औचित्यादभ्यासादित्यर्थः। अपथ्यमपि हि निरंतराभ्यासाद्विषमिवाशीविषस्य नोपघातकं भवतीति भावः। (चक्रपाणिदत्तटीका)। सात्म्यीकृत अकालशयन ओकसात्म्य का उदाहरण है और अभ्यास से विकृति की प्रकृति (Nature) हो जाती है। अँग्रेज़ी में भी कहते हैं—Habit is second nature.

निद्रानाशोऽनिलात् पित्तान्मनस्तापात् क्षयादपि।
संभवत्यभिघाताच्च प्रत्यनीकैः प्रशाम्यति ॥४१॥

(निद्रानाश के कारण)—निद्रा का नाश वात से, पित्त से, मानसिक अभिताप से, क्षय से और अभिघात से होता है। विरुद्धचिकित्सा करने से वह शान्त होता है ॥४१॥

वक्तव्य—इस श्लोक में निद्रानाश के सामान्य कारण तथा उसकी सामान्य चिकित्सा बतलाई है। वातात्—वातवृद्धि या वातिक विकार के कारण। सब वातिक रोगों से निद्रानाश नहीं होता। वातिक विकार का एक मुख्य लक्षण जो वेदना या शूल, वह जिन विकारों में होता है, वे सब विकार निद्रानाश उत्पन्न करते हैं। जैसे, पादशूल, पिण्डिकोद्वेष्टन (Cramps), गृध्रसी (गृध्रसीशब्देन गृध्रसीशूलं गृह्यते। चक्रपाणिदत्त। Sciatica), गुदार्ति, शेफस्तम्भ (Cordec), उदावर्त (Flatulence in the st... or intestine), वक्षतोद, कर्णशूल, अक्षिशूल, ... ललाटभेद, शिरोरुक्, आक्षेपक (Convulsions) (चरक, सूत्र २०), तूनी, प्रतितूनी, मूत्रकृच्छ्र, ... पुरीषकृच्छ्र इत्यादि वातिक विकार। इनके सिवा ... परिभाषा के अनुसार मस्तिष्क के रोग, जैसे— ... मस्तिष्कविकृति, मस्तिष्कशोथ इत्यादि विकार। ... ज्वर, ओष, प्लोष, दाह, अन्तर्दाह (Inflamations) ... पित्त विकारों से। मनस्तापात्—चिन्ता, क्रोध, ... विचारप्रवणता, उन्माद, पागलपन, दुःख इत्यादि ... (Psychical) कारणों से। क्षयात्—शरीर के क्षय ... दौर्बल्य से अथवा राजयक्ष्मा से। अभिघातात्—नख, ... पतन, दहन इत्यादि से तथा नाना प्रकार के शस्त्रों ... से चोट, घाव, भग्न इत्यादि के कारण। अभिघात ... में आगन्तु कारण समझना चाहिए। अभिघात से ... आने का मुख्य कारण वेदना या पीड़ा ही होती है। ... में निद्रानाश के निम्न कारण दिये हैं—कायस्य ... विरेकश्छर्दनं भयम्। चिन्ता क्रोधस्तथा धूमो व्यायामो ... णम्॥ उपवासोऽसुखा शय्या सत्त्वौदार्यं तमोजयः। निद्रा... हितं वारयन्ति समुत्थितम्॥ एत एव च विज्ञेया निद्रा... हेतवः। कार्यकालो विकारश्च प्रकृतिर्वायुरेव च॥ (सूत्र ... इसके अनुसार अतीसार, प्रवाहिका, जुकाम, बहुत ... आना, आघात, जिसमें बहुत रक्तस्राव हुआ हो, ... शारीरिक परिश्रम, भूख, बिस्तरा ठीक मृदु न होना, ... जिसमें हो ऐसे सब विकार (विकारो व्याधिः शूलादि ... निद्रानाश के कारण होते हैं। प्रत्यनीकैः—कारण ... चिकित्सा करने से। अर्थात् वेदनाहर, मनःशान्तिकर ... रोगनिवारक उपायों से।

निद्रानाशेऽभ्यङ्गयोगो मूर्ध्नि तैलनिषेवणम्
गात्रस्योद्वर्तनं चैव हितं संवाहनानि च
शालिगोधूमपिष्टान्नभक्ष्यैरैक्षवसंस्कृतैः
भोजनं मधुरं स्निग्धं क्षीरमांसरसादिभिः
रसैर्विलेशयानां च विष्किराणां तथैव च
द्राक्षासितेक्षुद्रव्याणामुपयोगो भवेन्निशि
शयनासनयानानि मनोज्ञानि मृदूनि च
निद्रानाशे तु कुर्वीत तथाऽन्यान्यपि बुद्धिमान्

(निद्रानाश की चिकित्सा—) निद्रानाश में ... पर) अभ्यंग का उपयोग, सिर पर तैल लगाना, ... उबटन मलना और मालिश करना हितकर है ॥४२॥ ... शर्करा इत्यादि) ईख के पदार्थों द्वारा संस्कृत चावल ... के पिष्टान्न के भक्ष्य पदार्थों का मधुर तथा दूध ... रसादि से स्निग्ध भोजन (हितकर होता है) ॥ ... ही बिल में रहने वाले और बखेर कर खाने वाले ... के मांसरसों से (स्निग्ध भोजन भी हितकर होता ... रात को द्राक्षा, खाँड तथा ऊख के अन्य द्रव्यों का ... (हितकर) होता है ॥४४॥ निद्रानाश में बुद्धिमान् ...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बिछौना, आसन (खटिया, तख्त, पलंग इत्यादि तथा कहीं जाना हो तो पालकी आदि) यान तथा अन्य (वस्त्र प्रावरणादि) को भी मन को सुख देने वाले और मृदु करे ॥४५॥

वक्तव्य—अभ्यंगयोग इत्यादि—इसमें सिर से पैर तक तेल का अभ्यंग और मालिश का उपाय बताया गया है। मूर्ध्नि तैलनिषेवणम्—इन्द्रियाणि प्रसीदन्ति सुत्वग्भवति चाननम् । निद्रालाभः सुखं च स्यान्मूर्ध्नि तैलनिषेवणात् ॥ (चरक, सूत्र ५)। अभ्यङ्ग योग, उद्वर्तन इत्यादि निद्रानाश में वायु-प्रकोप प्रधान होता है और अभ्यङ्ग तथा उद्वर्तन वातशामक होते हैं जिससे निद्रानाश का कारण दूर होकर नींद आती है। इसके सिवाय मर्दन से त्वचा तथा शाखाओं की रक्तवाहिनियाँ विस्फारित होकर इन अंगों में रक्त की राशि अधिक होकर मस्तिष्क में कम हो जाती है। इससे भी निद्रा में सहायता होती है—स्पर्शनेऽभ्यधिको वायुः स्पर्शनं च त्वगाश्रितम् । त्वच्यश्च परमोऽभ्यङ्गस्तस्मात्तं शीलयेन्नरः ॥ (चरक, सूत्र ५)। उद्वर्तनं वातहरं कफमेदोविलापनम् । स्थिरीकरणमङ्गानां त्वक्प्रसादकरं परम् । सिरामुखविविक्तत्वं त्वक्स्थस्याग्नेश्च तेजनम् ॥ (सुश्रुत, चि० २४)। मनोज्ञ—मनोनुकूल। अन्यान्यपि—इससे प्रावरण, निद्रागृह इत्यादि बातों का बोध लेना चाहिए। वस्त्र प्रावरण गर्मियों के दिनों में हलके और जाड़े के दिनों में गरम और मोटे होने चाहिएँ। गर्मियों में कमरा हवादार और जाड़े में निवात और गरम हो तथा कमरे में प्रकाश न हो, आसपास शोरगुल न हो। संक्षेप में निद्रा के समय सब विषय मनोनुकूल हों, इन्द्रियों को किसी प्रकार की तकलीफ न हो इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न करनी चाहिए—प्रवाते सुरभौ देशे सुखां शय्यां यथोचिते। मनोनुकूला विषयानिर्वृतिः कृतकृत्यता । निद्रा संतोषतृप्तस्य स्वं कालं नातिवर्तते ॥ (अष्टांगसंग्रह, सूत्र ९)। वाग्भटाचार्य के इन श्लोकों में शयनासनादि बाह्य कारणों का जैसे विचार किया गया है, वैसे मानसिक कारणों का भी विचार 'निर्वृति, कृतकृत्यता और संतोषतृप्ति' इनसे किया गया है। प्रत्येक व्यक्ति का अपने देश, धर्म, समाज, स्वामी, कुटुम्ब इत्यादि के प्रति कुछ कर्तव्य होता है और प्रतिदिन प्रत्येक व्यक्ति को इस कर्तव्य का पालन करना पड़ता है। यदि प्रतिदिन रात को सोने के समय मनुष्य अपने को इस बात का विश्वास दे सके कि उसने आज के कर्तव्य का पालन यथाशक्ति और यथामति किया है तो एक प्रकार की कृतकृत्यता होती है। और भी कई कार्यों को पूर्ण करने से कृतकृत्यता होती है। इस कृतकृत्यता के कारण मन निर्वृत और संतोषतृप्त होता है और नींद आती है। संक्षेप में नींद आने के लिए शरीर स्वस्थ, बाह्य परिस्थिति प्रशान्त और मन संतोषतृप्त होना चाहिए और इनमें से किसी बात की कमी हो तो उसको दूर करने की कोशिश करनी चाहिए।

निद्रातियोगे वमनं हितं संशोधनानि च ।
लङ्घनं रक्तमोक्षश्च मनोव्याकुलनानि च ॥४६॥

१ वमेन्निद्रातियोगे तु कुर्यात् ।

(अतिनिद्रा की चिकित्सा—) निद्रा की अधिकता में वमन, (विरेचन, बस्ति, शिरोविरेचन ये) संशोधन, लङ्घन, रक्तमोक्षण तथा मन की शान्ति नष्ट करने वाले उपाय हितकर होते हैं ॥४६॥

कफमेदोविषार्तानां रात्रौ जागरणं हितम् ।
दिवास्वप्नश्च तृट्शूलहिक्काजीर्णातिसारिणाम् ॥४७॥

(रात्रिजागरण और दिवास्वप्न के लिए योग्य—) कफ, मेद और विष इनसे पीड़ितों के लिए रात्रिजागरण और तृषा, शूल, हिक्का, अजीर्ण और अतीसार से पीड़ितों के लिए दिवास्वप्न हितकर होता है ॥४७॥

इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः ।
निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥४८॥

(तन्द्रा—) इन्द्रियों के (शब्दस्पर्शादि) अर्थों का ग्रहण न होना, (शरीर में) भारीपन, जँभाई लेना, थकावट और निद्रा से पीड़ित हुए के समान चेष्टा ये जिसके होते हैं उसको तन्द्रा है ऐसा समझना चाहिए ॥४८॥

वक्तव्य—इन्द्रियार्थेषु—इन्द्रियार्थाः शब्दादयः, तेषामसंप्राप्तिरग्रहणम्। (डल्हण)। इससे संज्ञानाश का बोध होता है। ईहा—चेष्टा या कर्म। तन्द्रा—यह वैकारिक संज्ञानाश की अवस्था है। निद्रा से इसका भेद निम्न प्रकार से होता है—परं निद्रायां प्रबोधितस्य क्लमाभावः, तन्द्रायां तु प्रबोधितोऽपि क्लाम्यति, अत एवात्र क्लमग्रहणम्। (डल्हण)। अष्टांगसंग्रह में तन्द्रा का स्वरूप निम्न प्रकार से वर्णित है—कफोऽल्पो वायुनोद्धूतो धमनीः संनिरुध्य तु । कुर्यात् संज्ञापहां तन्द्रां दारुणां मोहकारिणीम् ॥ उन्मीलिते विनिर्भुग्ने परिवर्तिततारके । भवतस्तत्र नयने स्रुते लुलितपक्ष्मणी । अर्धत्रिरात्रात्सा साध्या न सा साध्या ततः परम् ॥ (सूत्र ९)। इससे तन्द्रा के निम्न लक्षण मालूम होते हैं। रोगी क्लान्त और बेहोश रहता है, जगाने की कोशिश करने पर कुछ सचेत होता है परंतु फिर से बेहोश होता है तथा रोगी दारुणावस्था में होता है और मर भी जाता है। इन लक्षणों का विचार करने पर तन्द्रा को अँग्रेजी के stupor या Lethargy का पर्याय समझना चाहिए। It is a condition of deeper sleep from which the pnetait can be aroused, distinguishing it from coma, from which the patient can not be aroused. *Symptom Diagnosis by Barton and Yater.* तन्द्रा का यह विशेष अर्थ है जो संदर्भ के अनुसार करना चाहिए। तन्द्रा का सामान्य अर्थ निद्रार्तता, सुस्ती, आलस (Drowsiness, Sleepiness) होता है।

इससे यह स्पष्ट होगा कि तन्द्रा संन्यास या तामसी निद्रा का हलका स्वरूप है और उन्हीं विकारों में मिलता है जिनमें संन्यास पैदा होता है। संन्यास निम्न विकारों म मिलता है—आन्त्रिक ज्वर, आमवातजज्वर, काल्मेहज्वर (Black water fever), घातक विषमज्वर, न्युमोनिया,

१ यस्यैते ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मसूरिका इत्यादि सान्निपातिक ज्वरों के अन्त में, सर्व प्रकार के मस्तिष्कावरणशोथ (meningitis), तन्द्रिक मस्तिष्क-शोथ (Encephalitis lethargica), मस्तिष्क का अर्बुद या विद्रधि, मूत्रविषमयता (Uraemia), मधुमेह की अन्तिमावस्था, घातक पाण्डुरोग (Pernicious anaemia), मस्तिष्काघात, सिर पर आघात, मस्तिष्क में रक्तस्राव या रक्त का जम जाना (Embolism), पक्षाघात, लू लगना (Heat stroke), अत्यधिक रक्तस्राव इत्यादि ।

पीत्वैकमनिलोच्छ्वासमुद्वेष्टन् विवृताननः ।
यं मुञ्चति सनेत्रास्रं स जृम्भ इति संज्ञितः ॥४९॥

(जृम्भा—) उद्वेष्टन के साथ मुख फैलाया हुआ (मनुष्य) वायु के एक उच्छ्वास को लेकर आँखों से पानी के साथ जो (निश्वास) बाहर फेंकता है वह जृम्भा कहलाता है ॥४९॥

वक्तव्य—इस श्लोक में जँभाई के कर्म का शब्द चित्र वर्णन किया है । जँभाई श्वासप्रश्वास का एक विशिष्ट स्वरूप है जो रक्त में कार्बन डायोक्साइड (Co_2) की अधिकता होने से बारबार आया करता है । रक्त की खराबी दूर करने के लिए इसमें उच्छ्वास के समय वायु की अधिक राशि ग्रहण की जाती है । संक्षेप में जृम्भा स्वाभाविक अनैच्छिक (Involuntary) और गंभीर प्रश्वसन का एक प्रकार है जिसमें साँस मुख द्वारा ग्रहण की जाती है । एक—यह संख्यावाचक विशेषण इयत्तादर्शन के लिए प्रयुक्त न होकर असाधारणता दर्शन के लिए प्रयुक्त हुआ है । इसका अभिप्राय यह है कि साधारण श्वास प्रश्वास के समय जिस तरह से और जितनी लंबी साँस ली जाती है उससे भिन्न तरह की और अधिक लंबी साँस जँभाई में ली जाती है । उद्वेष्टन्—यहाँ पर जँभाई के जितने लक्षण दिये हैं उनमें यह लक्षण सबसे महत्त्व का है । मनुष्य मुख खोलकर और आँखों से पानी के साथ लंबी साँस ले सकता है परन्तु वह कर्म जँभाई नहीं कहा जा सकता । जब उसमें उद्वेष्टन होगा तब वह जँभाई होगी । हाराणचन्द्र उद्वेष्टन का अर्थ 'पृष्ठतः शिरो व्याक्षिपन्' ऐसा करते हैं, परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं मालूम होता । आयुर्वेद में उद्वेष्टन का अर्थ इस प्रकार कहीं नहीं होता । साधारणतया उद्वेष्टन शब्द पीड़ा या ऐंठन या ऐंठनजन्य पीड़ा (Cramps) इस अर्थ से प्रयुक्त होता है—उद्वेष्टनं मूलविषैः प्रलापो मोह एव च । जृम्भाङ्गोद्वेष्टन-श्वासा ज्ञेया पत्रविषेण तु ॥ (सुश्रुत, कल्प २) । तत्र दर्वीकर-विषेण हिक्कावायोरूर्ध्वगमनं शूलोद्वेष्टनं तास्ताश्ववातवेदना भवन्ति । (कल्प ४) । हृत्पीडोर्ध्वानिलः स्तम्भः सिरायामोऽस्थिपर्वरुक् । घूर्णनोद्वेष्टनं गात्र श्यावता वातिके विषे ॥ (चरक चि. २३) । पादयोः सुप्तता, पिण्डिकयोरुद्वेष्टनं, जानुनोः केवलानां च संधीनां विश्लेषणं; इति वातज्वरस्य लिङ्गानि स्युः ॥ (ज्वर निदान) । उद्वेष्टन पेशियों की सख्त सिकुड़न (Contraction) से होता है । यह सिकुड़न अनैच्छिक (Involuntary) होती है । उसके ऊपर मनुष्य की इच्छा का कुछ भी अधिकार या असर नहीं होता । यहाँ पर भी उद्वेष्टन का यही अर्थ है । शरीर में सिराज (Venous) रक्त अधिक होने पर उसकी शुद्धि के लिए जँभाई आती है । उसके आने न... ऊपर मनुष्य अपना अधिकार नहीं चला सकता है । ... के समय नीचे का जबड़ा अधिक से अधिक खुलता है ... तक कि कभी कभी हनुसंधि विश्लेष (Dislocation ... lower jaw) होजाता है । यह कार्य नीचे का जबड़ा ... वाली पेशी की सख्त सिकुड़न से होता है । अर्थात् ... प्रकार का उद्वेष्टन है, और इसी दृष्टि से यहाँ पर ... प्रयुक्त हुआ है । शार्ङ्गधर में इसलिए 'विदीर्ण वदन' ... प्रयुक्त किया गया है—चैतन्यशिथिलत्वाद्यः पीत्वैकश्वास... विदीर्णवदनःश्वासं जृम्भा सा कथ्यते बुधैः ॥ मुख कितना ... कितना न खोले इसके ऊपर मनुष्य का कोई अधि... चल सकता और वह इतना अधिक खुलता है कि ... बुरा मालूम होता है । इसलिए आयुर्वेद में समाज में ... मुख रखकर जँभाई लेना निषिद्ध माना गया है—... मुखः कुर्यात्क्षुतिहास्य विजृम्भणम् ॥ (अष्टांगहृदय, सू... संक्षेप में 'नीचे का जबड़ा खोलने वाली पेशी की ... और अत्यधिक सिकुड़न से जिसका मुख खुला ... यह 'उद्वेष्टन् विवृत्ताननः' का अर्थ है ।

योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः ।
क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रबाधकः ।

(क्लम—) साँस की कठिनाई (Dyspnea) ... बिना परिश्रम के (शरीर में जो थकावट (Feel... tiredness) बढ़ती है और जो इन्द्रियों से (शब्द ... विषयों के ग्रहण में कठिनाई उत्पन्न करती है वह (... की अवस्था) क्लम (Asthenia) समझना चाहिए ॥...

सुखस्पर्शप्रसङ्गित्वं दुःखद्वेषणलोलता ।
शक्तस्य चाप्यनुत्साहः कर्मस्वालस्यमुच्यते ।

(आलस्य—) बलवान् मनुष्य की सुख में ... दुःख में द्वेष और भीति तथा काम करने में ... इसको आलस्य कहते हैं ॥५१॥

वक्तव्य—सुखस्पर्शप्रसंगित्वं—सुख, अनुकूल ... स्पर्श, इन्द्रियार्थों का उपलक्षण जिससे स्पर्श के सा... रूप रस और गन्ध इन अर्थों का भी ग्रहण हो... प्रसंगित्वमासक्तिः । मृदुशयन, मुलायम मलमल ... सुगंधित द्रव्य, रुचिकर मधुर भोज्य पदार्थ, श्रु... गान, नयनमनोहर वस्तुओं को देखना इत्यादि ... संवेदना उत्पन्न करने वाले पदार्थों के संबंध में ... दुःखद्वेषणलोलता—प्रतिकूल वेदना उत्पन्न करने ... विषयों के संबंध में द्वेष तथा डर । शक्तस्य—इसका ... केवल अनुत्साह से न होकर सुखस्पर्श प्रसंगि... दुःखद्वेषणलोलता इनके साथ भी है । शक्त का ... स्वस्थ या नीरोग मनुष्य । अनुत्साह—काम ... मन न लगना । हौसले के साथ काम न करना । ... आदमी भी काम करता है, क्योंकि काम किये बि... का नहीं चल सकता । परंतु उस काम में उसका ... होता और वह जहाँ तक हो सके उसे अधूरा करता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने की टालमटोल करता है । कर्मसु—कर्तव्य कर्मों में। स्वास्थ्य, धर्म, समाज, कुटुंब इनके प्रति मनुष्य का जो कर्तव्य होता है उन कर्तव्यकर्मों में अनुत्साह । जिसमें उसकी आसक्ति होती है, उसमें अनुत्साह नहीं होता। आलस्य—यह कोई वैकारिक अवस्था नहीं है । प्रकृति का परिणाम है।

उत्क्लिश्याऽन्नं न निर्गच्छेत् प्रसेकष्ठीवनेरितम्।
हृदयं पीड्यते चास्य तमुत्क्लेशं विनिर्दिशेत् ॥५२॥

(उत्क्लेश—) अन्न (आमाशय में) उपतप्त होकर बाहर न निकले, प्रसेक (मुख में पानी भरना) और ष्ठीवन (पानी को थूकने की प्रवृत्ति) को प्रेरित करे तथा हृदय (प्रदेश) पीड़ित हो जावे उसे उत्क्लेश कहते हैं ॥५२॥

वक्तव्य—उत्क्लेश—इसको Heart burn कहते हैं। पचनसंस्थान की विकृति का यह एक लक्षण है । इसमें आमाशय में हैड्रोक्लोरिक अम्ल की अधिकता होती है या उसकी कमी होने पर ल्याक्टिक ब्यूट्रिक इत्यादि सेन्द्रिय अम्लों की उत्पत्ति होती है। ये अम्ल हृदय प्रदेश में उत्क्लेश करते हैं, हृदय में कुछ भी खराबी नहीं होती । आमाशय हृदय के समीप है । उसका ऊपर का द्वार हार्दिक द्वार (Cardiac orifice) कहलाता है। आमाशय के अम्ल इस द्वार को खोलकर कुछ ऊपर आ जाते हैं। इससे हृदय में पीड़ा मालूम होती है, वास्तव में नहीं होती । यह हृदयोत्क्लेश अम्लपित्त, आमाशय का व्रण, आमाशय विस्तार (Dilatation), आमाशय का जीर्णशोथ इन विकारों में तथा अपचन अजीर्ण (Dyspepsia) में उत्पन्न होता है।

वक्त्रे मधुरता तन्द्रा हृदयोद्वेष्टनं भ्रमः।
न चान्नमभिकाङ्क्षेत ग्लानिं तस्य विनिर्दिशेत् ॥५३॥

(ग्लानि—) मुँह का स्वाद मीठा, तन्द्रा, हृदय में पीड़ा, भ्रम (चक्कर आना) और अन्न सेवन में अनिच्छा (ये लक्षण जिसमें हों) उसमें ग्लानि (है, ऐसा) समझना चाहिए ॥५३॥

वक्तव्य—इस श्लोक में तीव्र अपचन (Acute dyspepsia or gastritis) के लक्षण वर्णन किये हैं। यह विकृति प्रायः अध्यशन या अत्यशन से उत्पन्न होती है। हृदयोद्वेष्टन—यह वही हृदयोत्क्लेश है जो पीछे के श्लोक में वर्णित है । ग्लानि—Depression या Languor एक प्रकार की कमजोरी।

आर्द्रचर्मावनद्धं (वा)(हि) यो गात्रमभिमन्यते।
तथा गुरु शिरोऽत्यर्थं गौरवं तद्विनिर्दिशेत् ॥५४॥

(गौरव—) कोई (मनुष्य जब अपने) शरीर को गीले चमड़े से लिप्त सा और सिर को अत्यन्त भारी समझता है (तब) वह गौरव जानना चाहिए ॥५४॥

मूर्च्छा पित्ततमःप्राया, रजःपित्तानिलाद्भ्रमः।
तमोवातकफात्तन्द्रा, निद्रा श्लेष्मतमोभवा ॥५५॥

(मूर्च्छादि की संप्राप्ति—) मूर्च्छा पित्त और तम प्रधान होती है; भ्रम, रज, पित्त और वात से होता है; तन्द्रा तम और कफ से होती है और निद्रा कफ और तम से होती है ॥५५॥

वक्तव्य—इस श्लोक में मूर्च्छा, तन्द्रा, भ्रम और निद्रा इनकी संप्राप्ति वर्णन की है । मूर्च्छा—इसकी चरकोक्त संप्राप्ति पीछे ३२वें सूत्र के वक्तव्य के अन्त में तामसी निद्रा की टिप्पणी में दी गई है । मूर्च्छा और संन्यास दोनों में भी संज्ञानाश होता है तथा दोनों की संप्राप्ति में बहुत कुछ समता होती है, इसलिए चरक में दोनों का विचार एक साथ किया गया है । संन्यास का विचार पीछे तामसी निद्रा में तथा तन्द्रा में किया गया है । मूर्च्छा को Syncope या Fainting fit कहते हैं। मूर्च्छा एकाएक आती है थोड़ी देर के लिए रहती है और प्रायः आप से आप ठीक हो जाती है—दोषेषु मदमूर्च्छायाः कृतवेगेषु देहिनाम्। स्वयमेवोपशाम्यन्ति, संन्यासो नौषधैर्विना॥ (चरक, सू० २४)। मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से मूर्च्छा आती है। डरपोक और वातिक (Nervous) प्रकृति के जवान स्त्री-पुरुषों में भीति, दुःख, क्रोध, विरह, आनंद, भयानक दृश्य, शस्त्रकर्म इत्यादि मानसिक उत्तेजनाओं से तथा अत्यंत गरम और जनसंकुल स्थान में रहने से मूर्च्छा उत्पन्न (६ अध्याय के २४वें सूत्र का वक्तव्य भी देखो) होती है। इसके सिवाय अतिपरिश्रम, रोगनिवृत्तिकालीन दौर्बल्य, अनशन, मर्मों पर आघात (जैसे वृषण), आघात के कारण अत्यधिक रक्तस्राव, शरीर के भीतरी अंगों में (Internal) रक्तस्राव, विविध प्रकार के शूल (जैसे वृक्कशूल, पित्ताश्मरी शूल, हृच्छूल इत्यादि), विविध प्रकार के रक्तक्षय या पाण्डुरोग, एकाएक उठकर बैठना या खड़े होना, उदरगुहागत भार कम होना (जैसे जलोदर में जल निकालने के बाद या प्रसूति के बाद होता है) और हृदय के विकार ये भी मूर्च्छा के कारण होते हैं । मस्तिष्क में रक्त की कमी निम्न तीन प्रकार से होती है । (१) रक्तस्राव आभ्यन्तरीय या बाह्य । (२) वाहिनीनियन्त्रणघात (Vasomotar paralysis)— शरीर में स्वतन्त्र नाडीमण्डल द्वारा रक्तवाहिनियों का नियन्त्रण इस प्रकार से होता है कि जहाँ पर अधिक रक्त की आवश्यकता होती है वहाँ की रक्तवाहिनियाँ विस्फारित होकर अन्य स्थानों की संकुचित होती हैं । जैसे, भोजन के पश्चात् पचनसंस्थान में अधिक रक्त की आवश्यकता होती है तब उदर में रक्तवाहिनियाँ विस्फारित होकर त्वचा तथा मस्तिष्क की संकुचित होती हैं जिससे सर्दी और सुस्ती मालूम होती है । जब इस नियन्त्रणसंस्थान का घात, दौर्बल्य या अस्थैर्य हो जाता है तब आवश्यकतानुसार शरीर में रक्त का विभजन नहीं होता और रक्त शरीर में कहीं पर इकट्ठा होता है। मूर्च्छा प्रायः इस प्रकार की विकृति से होती है । (३) हृदय की कमजोरी—हृदय अपनी विकृति से या अन्य कारण से कमजोर होने पर मस्तिष्क में रक्तविक्षेप करने में असमर्थ होता है। इससे भी मूर्च्छा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आ जाती है । रक्तक्षयी, रोगनिवृत्त, हृद्रोगी, उपवासी, थके हुए इनमें उठने या खड़े होने पर जो मूर्च्छा आती है वह इस प्रकार से आती है। मानसिक क्रोधादि विकारों से तथा विविध भयंकर या घृणाजनक दृश्य देखने पर जो मूर्च्छा आती है, वह दूसरे प्रकार से आती है। इससे मृत्यु का डर नहीं होता। जो मूर्च्छा हृदय की विकृति से आती है, उससे मृत्यु होने का डर रहता है । भ्रमः—चक्रवद्भ्रमतो गात्रं भूमौ पतति सर्वदा। भ्रमरोग इति ज्ञेयो रजःपित्तानिलात्मकः ॥ (माधवनिदान)। भ्रम को Vertigo (वर्टीगो) कहते हैं। यह विकार हमेशा कान के कान्तारक (Labyrinth) की या श्रुतिनाडी की तुम्बिकाभिगा शाखा (Vestibular nerve) की विकृति से या अनुमस्तिष्क (Cerebellum) की विकृति से होता है।

गर्भस्य खलु रसनिमित्ता मारुताध्माननिमित्ता च परिवृद्धिर्भवति ॥५६॥

भवन्ति चात्र—

तस्यान्तरेण नाभेस्तु ज्योतिःस्थानं ध्रुवं स्मृतम् ।
तदाधमति वातस्तु देहस्तेनास्य वर्धते ॥५७॥
ऊष्मणा सहितश्चापि दारयत्यस्य मारुतः ।
ऊर्ध्वं तिर्यगधस्ताच्च स्रोतांस्यपि यथा तथा ॥५८॥

(गर्भवृद्धि के कारण—) सच पूछिए तो गर्भ की परिवृद्धि (माता के आहार) रस के कारण तथा वायु के आध्मान के कारण होती है ॥५६॥ यहाँ पर श्लोक हैं— गर्भ की नाभि के भीतर (उदरगुहा में) अग्नि का स्थान निश्चय से होता है । वायु (उस स्थान की) अग्नि को प्रध्मापन से प्रदीप्त करती है, जिससे शरीर परिवर्धित होता है ॥५७॥ (उस ज्योतिःस्थान की) अग्नि से संयुक्त हुई वायु (गर्भ के मांसल पिण्ड में प्रधमापन से) जैसी जैसी ऊपर, नीचे तथा तिर्यक् दिशा में स्रोतसों को विदारण (करके उत्पन्न) करती है, वैसे वैसे (उस गर्भ की वृद्धि होती है) ॥५८॥

वक्तव्य—प्रथम सूत्र में गर्भवृद्धि के दो कारण बताये हैं । इनमें माता का आहाररस गर्भवृद्धिरूप इमारत का मसाला है। जैसे, माता का शरीर उसके आहार पर परिवर्धित होता है वैसे ही उसके शरीर पर बाँदे की तरह लगा हुआ गर्भ उसी के आहाररस पर परिवर्धित होता है। इसलिए रस गर्भशरीर का उपादान कारण है । वायु और उसके साथ पित्त या तेज ये उस आहाररस से गर्भशरीर में विविध अंग, विविध धातु उत्पन्न करते हैं, इसलिए ये निमित्त कारण हैं। अन्तरेण-नाभेस्तु—उदरत्वचा के मध्य में जो निम्नमध्य भाग होता है और जहाँ पर गर्भ की नाल लगी रहती है वह स्थान नाभि (Umbilicus) है, उसके मध्य में । इसका मतलब यह नहीं है कि नाभि का जो एक या दो वर्ग इंच क्षेत्र होता है, उसमें ज्योतिःस्थान होता है । नाभि केवल नाड़ी के लिए प्रवेशद्वार है। नाभि के पीछे उदरगुहा में जहाँ पर यकृत्, प्लीहा, हृदय, आमाशय इत्यादि पित्त के स्थान हैं वहाँ पर। ज्योतिःस्थान—अग्नि या तेज अर्थात् पित्त स्थान। शरीर में उष्णता रूप जो शक्ति होती है, उसे या ज्योति कहते हैं । इसका स्थान नाभि और हृदय मध्य में होता है—ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्व संश्रयाः । (अष्टांगहृदय) । तदाधमति इत्यादि— ज्योतिःस्थान के पित्त को प्रज्वलित करती है। पित्त के आहाररस का पचन होकर उसका परिवर्तन शरीर विविध धातुओं में होकर गर्भ का पिण्ड बनता है। पित्त या अग्नि स्वयं पङ्गु है, वायु की सहायता के बिना कुछ नहीं कर सकता—समीरणो नोदयिता भवेति व्यापिकेन हुताशनस्य । (कुमारसंभव ३)। पित्तं पङ्गु कफः पङ्गवो मलधातवः । वायुना यत्र नीयंते तत्र वर्षन्ति मेघवत् (शार्ङ्गधर) । स्रोतांसि—शरीरगत धातुओं की स्रोतसों के बिना नहीं हो सकती है । कुछ आचार्य, को स्रोतसों का समुदाय मानते हैं—सर्वे हि भावा नान्तरेण स्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते । अपि चैके स्रोतसामेव समुदयं मिच्छन्ति ॥ (चरक, विमान ५)। अर्थात् समस्त शरीर स्रोतसों की उत्पत्ति गर्भवृद्धि के लिए बहुत आवश्यक ये स्रोतस वायु पित्त के साथ मिलकर गर्भ के मांसपिण्ड में प्रधमन के द्वारा उत्पन्न करती है । जैसे उष्णता से हुए कांचपिण्ड में वायु के प्रधमन से नालियाँ इत्यादि उत्पन्न होते हैं, वैसे ही पित्त के द्वारा पाचित गर्भपिण्ड में वायु के प्रधमन से ऊपर, नीचे, इधर स्रोतस बन जाते हैं । यथा तथा—गर्भवृद्धि की यदि इस शब्द-समूह का विचार किया जाय और विचार यहाँ पर संदर्भ के अनुसार अधिक प्रशस्त इसका अर्थ निम्न प्रकार से होता है—अग्नियुक्त वायु शरीर में इधर उधर जैसी जैसी स्रोतसों का करती जाती है वैसी वैसी गर्भ की अधिकाधिक होती है। यदि स्रोतसों की उत्पत्ति की दृष्टि से किया जाय तो इसका अर्थ निम्न प्रकार का होता है— युक्त वायु गर्भ शरीर में इधर उधर प्रधमन के द्वारा विदार उत्पन्न करती है, वैसे छोटे मोटे स्रोतस उत्पन्न हैं। रसनिमित्ता मारुताध्माननिमित्ता—गर्भ की वृद्धि नाडी के द्वारा होती है—मातुस्तु खलु रसवहायां नाड्यां नाभिनाडी प्रतिबद्धा, साऽस्य मातुराहाररसवीर्यमभिवहति तेनोपस्नेहेनास्याभिवृद्धिर्भवति । यदि नाभिनाडी की रचना की दृष्टि से उपर्युक्त वचन का अर्थ करना हो तो रसनिमित्ता से सिरा (Vein) और मारुताध्माननिमित्ता से धमनी ये दोनों नाभिनाड़ी में होते हैं, यह स्पष्ट होता संक्षेप में नाभिनाड़ी में सिरा और धमनी होते हैं।

दृष्टिश्च रोमकूपाश्च न वर्धन्ते कदाचन[1]
ध्रुवाण्येतानि मर्त्यानामिति धन्वन्तरेर्मतम्

१ कथंचन ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरीरे क्षीयमाणेऽपि वर्धेते द्वाविमौ सदा।
स्वभावं प्रकृतिं कृत्वा नखकेशाविति स्थितिः ॥६०॥

दृष्टि और रोमकूप कभी भी वृद्धि को प्राप्त नहीं होते। मनुष्यों के ये अंग अचल होते हैं, ऐसा धन्वन्तरि का मत है ॥५९॥ शरीर के क्षीण होते हुए भी नख और केश ये दोनों स्वभाव को कारण करके सदा बढ़ते ही रहते हैं, ऐसी (वास्तविक) स्थिति है ॥६०॥

वक्तव्य—दृष्टि—इसके तीन अर्थ हो सकते हैं। (१) दृग्गोचर क्षेत्र (Sight), (२) दृष्टिमण्डल (Pupil)—कृष्णात्सप्तममिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टिविशारदाः ॥ (३) दृष्टिवितान (Retina) जिसके ऊपर प्रकाशकिरण पड़ने से बाह्य वस्तु का ज्ञान होता है। रोमकूपाः—Hairfollicles। न वर्धन्ते—जन्म के पश्चात् शरीर की वृद्धि होते हुए भी इनकी वृद्धि नहीं होती। ये अंग मोटाई में जन्मकालीन रहते हैं। जन्म के समय बालक की लम्बाई १५–२० इंच के लगभग होती है, जो जवानी में ४–५ गुना हो जाती है। वज़न ६ पौण्ड के करीब होता है, जो पच्चीस गुना अधिक हो जाता है। यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो दृष्टि और रोमकूप ध्रुव निश्चल मालूम होते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। स्वभावं प्रकृतिं कृत्वा—स्वभावं कारणं कृत्वा। शरीर का क्षय होने पर भी शरीरगत नखों और केशों की वृद्धि होना यह एक आश्चर्य-जनक बात मालूम होती है। अर्थात् इसका कारण स्वभाव के सिवा और कोई नहीं हो सकता।

सप्त प्रकृतयो भवन्ति—दोषैः पृथक्, द्विशः, समस्तैश्च ॥६१॥ सप्त प्रकृतयो भवन्ति

शुक्रशोणितसंयोगे यो भवेद्दोष उत्कटः।
प्रकृतिर्जायते तेन तस्या मे लक्षणं शृणु ॥६२॥

(प्रकृति—) सात प्रकृतियाँ होती हैं—पृथक् पृथक् दोषों से (तीन), दो दोषों से (तीन) और सब दोषों से (एक) ॥६१॥ शुक्र और शोणित के संयोग में जो दोष प्रबल होता है, उसी से (पुरुष की) प्रकृति उत्पन्न होती है। मुझसे उसके लक्षण सुनो ॥६२॥

वक्तव्य—दोषैः पृथक्—वातप्रकृति, पित्तप्रकृति और कफप्रकृति। द्विशः—वातपित्तप्रकृति, वातकफप्रकृति और पित्तकफप्रकृति। समस्तैः—वातपित्तकफप्रकृति। त्रिदोषज प्रकृति में तीनों दोष समप्रबल होते हैं, इसलिए उसको समप्रकृति कहते हैं। और प्रकार की प्रकृतियों में एक या दो दोषों का प्राबल्य होता है इसलिए त्रिदोषज प्रकृति स्वस्थ, और एक या दो दोषज प्रकृति अस्वस्थ होती है—समपित्तानिलकफाः केचिद्गर्भादिमानवाः। दृश्यन्ते वातलाः केचित् पित्तलाः श्लेष्मलास्तथा॥ तेषामनातुराः पूर्वे, वातलाद्याः सदातुराः। दोषानुशयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते ॥ (चरक, सूत्र ७)। दोषज प्रकृति के मनुष्य यद्यपि देखने में स्वस्थ होते हैं, परन्तु उनको अपने स्वास्थ्य रक्षण के लिए परहेज़ रखना पड़ता है—एतेषां वातलादीनां मुख्यं स्वास्थ्यं नास्ति, किं तर्हि उपचारस्वस्था एते इति दर्शयति। (चक्रपाणिदत्त)। इन दोषज प्रकृतियों में कफप्रकृति श्रेष्ठ, पित्तप्रकृति मध्यम, वातप्रकृति कनिष्ठ और द्विदोषज प्रकृतियाँ निंद्य होती हैं—तैश्च तिस्रः प्रकृतयो हीनमध्योत्तमाः पृथक्। समधातुः समस्तासु श्रेष्ठा निंद्या द्विदोषजाः॥ (अष्टांगहृदय, सूत्र १)

अब यहाँ पर सुश्रुताचार्य प्रकृति के सात भेद बताते हैं। इनमें से समप्रकृति के संबंध में कुछ आचार्यों का कथन है कि उस प्रकार की प्रकृति असंभवनीय है क्योंकि मनुष्य का आहार हमेशा विषम होता है और आहार विषम होने के कारण शरीरगत त्रिदोष भी विषम हो जाते हैं—तत्र केचिदाहुः—न समवातपित्तश्लेष्माणो जन्तवः सन्ति, विषमाहारोपयोगित्वान्मनुष्याणाम्; तस्माच्च वातप्रकृतयः केचित्, केचित् पित्तप्रकृतयः, केचित् पुनः श्लेष्मप्रकृतयो भवन्तीति ॥ (चरक, विमान ६)। विषमाहारोपयोगित्वादिति नायं पुरुषस्थुलाधारधृतमिवाहारमुपयुंक्ते, तेनावश्यमत्र वातादिष्वन्यतमोऽपि दोषो विकृतो भवतीति भावः॥ (चक्रपाणिदत्तटीका)। इस पर आत्रेयजी का कथन है कि, मनुष्य स्वस्थ होते हैं और स्वास्थ्य त्रिदोषसाम्य के सिवा नहीं हो सकता। इसलिए समप्रकृति होती है; परंतु प्रकृति के जो अन्य भेद बतलाये गये हैं उनके लिए प्रकृति शब्द का प्रयोग करना उचित नहीं है क्योंकि दोषाधिक्य होने के कारण वह विकृति है। अतः वातप्रकृति कहने की अपेक्षा वातल, पित्तल इत्यादि कहना उचित है—तच्चानुपपन्नं कस्मात्कारणात्? समवातपित्तश्लेष्माणं ह्यरोगमिच्छन्ति भिषजः। यतः प्रकृतिश्चारोग्यम्, आरोग्यार्था च भेषजप्रवृत्तिः सा चेष्टारूपा, तस्मात् सन्ति समवातपित्तश्लेष्माणः। न खलु सन्ति वातप्रकृतयः, श्लेष्मप्रकृतयः पित्तप्रकृतयो वा। तस्य तस्य किल दोषस्याधिक्यात्, सा सा दोषप्रकृतिरुच्यते मनुष्याणाम्, न च विकृतेषु दोषेषु प्रकृतिस्थत्वमुपपद्यते, तस्मान्नैताः प्रकृतयः सन्ति; सन्ति तु खलु वातलाः पित्तलाः श्लेष्मलाश्च, अप्रकृतिस्थास्तु ते ज्ञेयाः। ते त्वनातुरास्तन्त्रान्तरीयाणां भिषजाम्॥ (चरक, विमान ६)। शुक्रशोणितसंयोगे—प्रकृति की उत्पत्ति का यह एक कारण है। पुरुष का शुक्र और स्त्री का शोणित, जिनके संयोग से गर्भ उत्पन्न होता है, वात-पित्त-कफ-युक्त होते हैं। प्रत्येक में दोषों की कुछ न्यूनाधिकता हो सकती है। जब दोनों का संयोग (Fusion) होता है तब दोनों के भीतरी त्रिदोषों का भी संयोग होकर वात वात में, पित्त पित्त में, और कफ कफ में मिलकर गर्भ का त्रिदोष बनता है। इस त्रिदोष में संयोगवश तीनों की जब समता होगी तब समप्रकृति बनेगी और गर्भ की वृद्धि तथा प्रकृति भी यथोचित और स्वस्थ रहेगी। परंतु इस प्रकार समता होना बहुत कठिन काम है, प्रायः कोई न कोई दोष प्रबल हो जाता है और उसी के अनुसार वातल, पित्तल इत्यादि प्रकृतियाँ बन जाती हैं। जब दो दोषों की प्रबलता होती है, तब द्विदोषज प्रकृतियाँ बनती हैं। उत्कट—यह उत्कटता संयोग के पश्चात् उत्पन्न होने वाली है। माता में या पिता में एक आध दोष की उत्कटता होने से बालक में उसकी उत्कटता होना आवश्यक नहीं है। यदि पिता में वात की उत्कटता है और माता में उसकी क्षीणता है तब बालक में न वात की उत्कटता मिलेगी, न क्षीणता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलेगी परंतु समता होगी। यदि माता में और पिता में वात की उत्कटता हो तो बालक में वात की उत्कटता माता पिता से भी अधिक होगी। संक्षेप में, गर्भ-प्रकृति में दोष की जो उत्कटता होती है वह पिता माता के शुक्रशोणित-गत त्रिदोषों के पृथक् पृथक् परिमाण के जोड़ का परिणाम होता है। पाश्चात्य वैद्यक में माता पिता से प्राप्त रोगों के संबंध में इसी प्रकार की कल्पना होती है—The tendency to disease in one parent may either be neutralised by opposing characters in the other parent, or it may be reinforced if identical peculiarities exist on both sides. *Manual of Pathology by Green.* प्रकृति—त्रिदोषसाम्य (Normality) यह जो प्रकृति का अर्थ (साम्यं प्रकृतिरुच्यते) है वह यहाँ पर अभिप्रेत नहीं है। प्रकृतिः शरीरस्वरूपम्। (अरुणदत्त)। प्रकृतिमिति स्वभावम्। (चक्रपाणिदत्त)। स्वभाव या शरीर-स्वरूप यह अर्थ यहाँ पर अभिप्रेत है। स्वभाव आदिबल-प्रवृत्त (Hereditary) होता है। प्रकृति के लिए अँग्रेजी में Nature, character या Temperament कहते हैं। आयुर्वेद के अनुसार अँग्रेजी में भी नेचर के Nervous (वातिक), Lymphatic (श्लेष्मल) और Sanguine (पित्तल) करके विभाग किये जाते हैं। यहाँ पर प्रकृति की उत्पत्ति का एक कारण दिया है। चरक और अष्टांग-हृदय में और भी कारण दिये हैं जिनका विचार आगे ७७–७९वें श्लोकों के वक्तव्य में किया जायगा।

तत्र यः प्रजागरूकः शीतद्वेषी दुर्भगः स्तेनो मत्सर्यनार्यो गान्धर्वचित्तः स्फुटितकरचरणोऽल्परूक्षश्मश्रुनखकेशः क्रोधी दन्तनखखादी च भवति ॥६३॥

अधृतिरदृढसौहृदः कृतघ्नः
कृशपरुषो धमनीततः प्रलापी।
द्रुतगतिरटनोऽनवस्थितात्मा
वियति च गच्छति संभ्रमेण सुप्तः ॥६४॥
अव्यवस्थितमतिश्चलदृष्टि-
र्मन्दरत्नधनसंचयमित्रः।
किंचिदेव विलपत्यनिबद्धं
मारुतप्रकृतिरेष मनुष्यः ॥६५॥
वातिकाश्चाजगोमायुशशाखूष्ट्रशुनां तथा।
गृध्रकाकखरादीनामनूकैः कीर्तिता नराः ॥६६॥

(वातप्रकृति के लक्षण—) इन प्रकृतियों में जो प्रजागरूक, शीत का द्वेष करने वाला, कुरूप, चोर, (दूसरे का) मत्सर करने वाला, असभ्य (अशिष्ट, गँवार), संगीतप्रेमी, जिसके हाथ पैर फटे रहते हों ऐसा, जिसकी दाढ़ी (मूँछें) नख और केस अत्यन्त रूक्ष हों ऐसा, तेजमिजाज़, (क्रोध से या नींद में) दाँतों को कटकटाने वाला तथा नाखूनों को दाँतों से खाने वाला होता है ॥६३॥ धैर्यरहित, जिसकी मैत्री दृढ़ (टिकाऊ और गाढ़ी) न हो ऐसा, कृतघ्न, कृश (पतले शरीर का), रूक्ष शरीर का, जिसका शरीर (उभरी हुई) सिराओं से भरा हो ऐसा, बातूनी (बकवादी), तेज़ी से चलने वाला, (हमेशा) भटकने वाला, चञ्चलचित्त और सोने पर नींद ठीक न आने के कारण जो आकाश में संचार करने के स्वप्न देखता है ॥६४॥ अस्थिरबुद्धि, चञ्चलदृष्टि, जिसके पास जरजवाहिर अल्प हों तथा जिसके मित्र थोड़े हों, जो असंबद्ध ही कुछ बकता हो वह मनुष्य वातप्रकृति होता है ॥६५॥ वातिक मनुष्य बकरी, गीदड़, खरगोश, चूहा, ऊँट, कुत्ता तथा गीध, कौआ, गधा इत्यादि के स्वभाव के (समान स्वभाव में) कहे जाते हैं ॥६६॥

वक्तव्य—प्रजागरूकः—जिसको नींद बहुत कम आती हो या जो नींद में भी बड़ा सावधान होता हो। दुर्भगः—अमनोरमाकारः। (डल्हण)। शीतद्वेषी—वायु स्वयं शीत होने के कारण वातिक मनुष्य शीत से डरता है तथा उसको सहन नहीं कर सकता—शैत्यात् शीतासहिष्णवः (चरक, विमान ८)। गांधर्वचित्तः—गंधर्वों की कला संगीत, उसमें दिलचस्पी लेने वाला। धमनीततः—सिरासंततगात्रः। धमनी शब्द यहाँ पर सिरा (Vein) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आगे ९वें अध्याय के दूसरे सूत्र का वक्तव्य देखो। अव्यवस्थितमतिः—सारासार विचार करके पक्का विनिश्चय करना यह बुद्धि का कार्य होता है। इस प्रकार का विनिश्चयात्मक काम करने में जिसकी बुद्धि असमर्थ है ऐसा मनुष्य। अनूकैः—अनूकं स्वभावः स्वररूपचेष्टानुकरणं (अरुणदत्त)। वातिक मनुष्य के स्वभाव में अजादि प्राणियों के स्वभावों का संमिश्रण मिलता है, यह अन्तिम श्लोक का अभिप्राय है। इन लक्षणों के सिवाय अष्टांगहृदय में निम्न लक्षण अधिक मिलते हैं—नास्तिक, अधिक भोजन करने वाले, मधुराम्लपटूष्णसात्म्यकांक्षी। नेत्राणि चैषां ... धूसराणि वृत्तान्यचारूणि मृतोपमानि। उन्मीलितानीव भवन्ति सुप्ते॥ चरक में निम्न लक्षण अधिक मिलते हैं—रौक्ष्याद्वातलाः रूक्षापचिताल्पशरीराः प्रततरूक्षक्षामसन्नसक्तजर्जरस्वराः, ... त्वाच्छीघ्रसमारम्भक्षोभविकाराः शीघ्रत्रासरागविरागाः श्रुतग्राहिणोऽल्पस्मृतयश्च, प्रायेणाल्पबलाश्चाल्पायुषश्चाल्पापत्याश्चाल्पसाधनाश्चाल्पधनाश्च भवन्ति॥ (विमान, अ० ८)।

स्वेदनो दुर्गन्धः पीतशिथिलाङ्गस्ताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलो दुर्भगो वलिपलितखालित्यजुष्टो बहुभुगुष्णद्वेषी क्षिप्रकोपप्रसादो मध्यमबलो मध्यमायुश्च भवति ॥६७॥

मेधावी निपुणमतिर्विगृह्य वक्ता
तेजस्वी समितिषु दुर्निवारवीर्यः।
सुप्तः सन् कनकपलाशकर्णिकारान्
संपश्येदपि च हुताशविद्युदुल्काः।
न भयात् प्रणमेदनतेष्वमृदुः
प्रणतेष्वपि सान्त्वनदानरुचिः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भवतीह सदा व्यथितास्यगतिः
स भवेदिह पित्तकृतप्रकृतिः ॥६९॥
भुजङ्गोलूकगन्धर्वयक्षमार्जारवानरैः।
व्याघ्रर्क्षनकुलानूकैः पैत्तिकास्तु नराः स्मृताः ॥७०॥

(पित्तप्रकृति के लक्षण—) जिसे बहुत पसीना आता हो; जिसके शरीर से दुर्गंध आती हो; जिसका शरीर पीला और शिथिल हो; जिसके नख, नेत्र, तालु, जीभ, होंठ, हथेलियाँ और तलुवे ताम्रवर्ण हों; कुरूप, शरीर पर झुर्रियाँ हों; बाल सफेद हों और गिर जाते हों; बहुत खाने वाला; गरमी से द्वेष करने वाला; जो जल्दी ही क्रुद्ध और शान्त हो जाता हो; मध्यम बल का और मध्यम आयु वाला (मनुष्य पित्त प्रकृति का) होता है ॥६७॥ उत्तम धारणाशक्ति का, कुशाग्रबुद्धि का, प्रतिवादी का पक्ष तोड़कर बोलने वाला, तेजस्वी, संग्राम में दुर्दमन वीर्य का (पित्त प्रकृति का मनुष्य), सोने पर सुवर्ण, पलाश, कर्णिकार, अग्नि, बिजली, उल्कापात को देखता है ॥६८॥ भय दिखाने से दबता नहीं, नम्र न होने वालों के लिए कठोर वृत्ति का, नम्र होने वालों के लिए सान्त्वना देने की इच्छा करने वाला, जो हमेशा (फोड़े, फुन्सियाँ, मुखपाक इत्यादि के कारण) पीड़ितमुख होता है वह संसार में पित्तप्रकृति का होता है ॥६९॥ पैत्तिक मनुष्य (स्वभाव में) सर्प, उल्लू, गन्धर्व, यक्ष, बिल्ली, बन्दर, शेर, रीछ और नेवला के स्वभाव के समान होते हैं ॥७०॥

वक्तव्य—बहुभुक्—पित्ताधिक्य के कारण अधिक खाने वाला—तैक्ष्ण्यात् तीक्ष्णाग्नयः प्रभूताशनपानाः। (चरक)। उष्णद्वेषी—उष्ण सहन न करने वाला—औष्ण्यात् पित्तला भवन्त्युष्णासहाः। (चरक)। दुर्गन्धः—विस्रत्वात् प्रभूतकक्षास्यशिरःशरीरगन्धाः। (चरक)। मेधावी—मेधा—धारणाशक्ति से युक्त—मेधाधारणेन परीक्षेत (चरक)। विगृह्य वक्ता—विगृह्य संभाषापद्धति के अनुसार सभा-समितियों में भाषण करने वाला। विगृह्यसंभाषक अपने पक्ष का स्थापन और मण्डन तथा प्रतिपक्ष का दूषण और खण्डन, छल, जाति, निग्रह स्थान इन उपायों के द्वारा इस प्रकार करता है कि प्रतिवादी हार जाता है। निग्रह के कुछ उपाय—श्रुतहीनं महता सूत्रपाठेनाभिभवेत्, विज्ञानहीनं पुनः कष्टशब्देन वाक्येन, वाक्यधारणाहीनमाविद्धदीर्घसूत्रसंकुलैर्वाक्यदण्डकैः, प्रतिभाहीनं पुनर्वचनेनैकविधेनानेकार्थवाचिना, वचनशक्तिहीनमर्धोक्तस्य वाक्यस्याक्षेपेण, अविशारदमपत्रपणेन, कोपनमायासनेन, भीरुं वित्रासनेन, अनवहितं नियमनेनेति। एवमेतैरुपायैः परमभिभवेच्छीघ्रम् ॥ (चरक, विमान ८)। व्यथितास्यः—औष्ण्यादुष्णमुखाः प्रभूतविप्लुव्यङ्गतिलपिडकाः। (चरक)। समितिपु—समिति का अर्थ यहाँ पर सभा नहीं है, यह अर्थ ऊपर विगृह्य वक्ता में आ गया है। यहाँ समिति से युद्ध संग्राम अर्थ लेना चाहिए—अथ समरे, संगे, सभायां समितिः। (अमरकोश)। दुर्निवारवीर्यः—आरब्ध कार्य की दुष्करता देखकर भी उससे बाज़ न आना वीर्य का अर्थ है—वीर्यमारब्धदुष्करकार्येष्वव्यावृत्तिर्मनसः। (चक्रदत्त टीका, चरक, विमान ४।८)। समर में शत्रु का अधिक बल देखने पर या युद्ध प्रारंभ होने के पश्चात अपनी हार होने का समय आने पर धीरज न छोड़कर लड़ने वाला, तथा प्रसंग आने पर मर मिटने के लिए तैयार होने वाला। इन लक्षणों के सिवा अष्टांगहृदय में पित्त प्रकृति के निम्न लक्षण मिलते हैं—दयितमाल्यविलेपनमण्डनः सुचरितः शुचिराश्रितवत्सलः ॥ नारीणामनभिमतोऽल्पशुक्रकामः। धर्मद्वेषी। तनूनि पिंगानि चलानि चैषां तन्वल्पपक्ष्माणि हिमप्रियाणि। क्रोधेन मद्येन रवेश्च भासा रागं व्रजन्त्याशु विलोचनानि ॥

दूर्वेन्दीवरनिस्त्रिंशार्द्रारिष्टकशरकाण्डानामन्यतमवर्णः सुभगः प्रियदर्शनो मधुरप्रियः कृतज्ञो धृतिमान् सहिष्णुरलोलुपो बलवांश्चिरग्राही दृढवैरश्च भवति ॥७१॥

शुक्लाक्षः स्थिरकुटिलालि(ति)नीलकेशो
लक्ष्मीवान् जलदमृदङ्गसिंहघोषः।
सुप्तः सन् सकमलहंसचक्रवाकान्
संपश्येदपि च जलाशयान् मनोज्ञान् ॥७२॥
रक्तान्तनेत्रः सुविभक्तगात्रः
स्निग्धच्छविः सत्त्वगुणोपपन्नः।
क्लेशक्षमो मानयिता गुरूणां
ज्ञेयो बलासप्रकृतिर्मनुष्यः ॥७३॥
दृढशास्त्रमतिः स्थिरमित्रधनः
परिगण्य चिरात् प्रददाति बहु।
परिनिश्चितवाक्यपदः सततं
गुरुमानकरश्च भवेत्स सदा ॥७४॥
ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणैः सिंहाश्वगजगोवृषैः।
तार्क्ष्यहंससमानूकाः श्लेष्मप्रकृतयो नराः ॥७५॥

(श्लेष्मप्रकृति के गुण—) दूर्वा, नील कमल, तरवार, कोमल नीम की पत्ती, सरकण्डा इनमें से किसी एक के वर्ण का; सुडौल; प्रियदर्शन; मधुर पदार्थों को पसंद करने वाला; कृतज्ञ; धीर; सहन करने वाला; लालच से रहित; बलवान् और वैर को अधिक काल तक पकड़ने वाला होता है ॥७१॥ सफेद नेत्रों का; स्थिर घुंघुरीले बहुत और काले केश वाला; धनसंपन्न; मेघ, मृदङ्ग और सिंह के (समान गंभीर) ध्वनि वाला (श्लेष्मप्रकृति का मनुष्य) सोने पर कमल हंस चक्रवाक युक्त सुंदर सरोवरों को (स्वप्न में) देखता है ॥७२॥ नेत्रों के प्रान्त भागों में लाली होने वाला, (व्यायाम के कारण यथाप्रमाण शरीर की वृद्धि होने से) सुडौल शरीर का, स्निग्धकान्ति वाला, सत्त्वगुणयुक्त, क्लेश सहन करने वाला, (माता पिता गुरु तथा अन्य वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध) आदरणीय मनुष्यों का मान करने वाला मनुष्य कफप्रकृति का जानना चाहिए ॥७३॥ वह (कफप्रकृति का मनुष्य) शास्त्रों में दृढ विश्वास करने वाला, मित्र और धन को स्थिर रखने वाला, बहुत देर तक सोच विचार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करके बहुत दान देने वाला, हमेशा निश्चित बात कहने वाला तथा गुरुओं का सम्मान करने वाला होता है ॥७४॥

कफप्रकृति के मनुष्य ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, वरुण, सिंह, घोड़ा, हाथी, गौ, बैल, गरुड़ और हंस इनके समान स्वभाव में होते हैं ॥७५॥

वक्तव्य—निस्त्रिंश—तलवार। यह शस्त्र का उपलक्षण है। जिसके वर्ण में शस्त्र का तेज हो, ऐसा। कृतज्ञः—कृतं जानातीति कृतज्ञः। चिरग्राही दृढवैरश्च—ये दोनों मिलाकर अर्थ करना चाहिए—प्रच्छन्नं वहति दृढं चिरं च वैरम्। (अष्टांगहृदय)। One who can forgive but cannot forget. अतिनीलकेशः—अतिनील का विशेषण न समझकर केश का स्वतन्त्र विशेषण माना जाय—घननीलकेशः। जिसके केश संख्या में बहुत और नीलापन लिये काले हों। अष्टांगहृदय में श्लेष्मप्रकृति के निम्न लक्षण अधिक मिलते हैं—बह्वोजोरतिरसशुक्रपुत्रभृत्यः। धर्मात्मा वदति न निष्ठुरं च जातु। समदद्विरेन्द्रतुल्ययातः। स्मृतिमानभियोगवान् विनीतो न च बाल्येऽप्यतिरोदनः। तिक्तं कषायं कटुकोष्णरूक्षमल्पं स भुङ्क्ते बलवांस्तथापि। दीर्घदर्शी। श्राद्धो गंभीरः स्थूललक्षः क्षमावानार्यो निद्रालुर्दीर्घसूत्रः। (शारीर ३)। आयुष्मन्तश्च भवन्ति। (चरक)।

द्वयोर्वा तिसृणां वाऽपि प्रकृतीनां तु लक्षणैः।
ज्ञात्वा संसर्गजा वैद्यः प्रकृतीरभिनिर्दिशेत् ॥७६॥

(मिश्रप्रकृति—) दो या तीनों प्रकृतियों के लक्षणों से (युक्त) प्रकृतियों को मालूम करके वैद्य (उन्हें) संसर्गज (मिश्र) निर्दिष्ट करे ॥७६॥

प्रकोपो वाऽन्यभावो वा क्षयो वा नोपजायते।
प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः ॥७७॥

(प्रकृति की निश्चलता—) प्रकृतियों का प्रकोप, अन्यथाभाव या क्षय स्वभाव से नहीं होता, परन्तु आयुष्य समाप्त होने वाले की प्रकृति का होता है ॥७७॥

वक्तव्य—प्रकोप—तरतमभेद से वृद्धि। जैसे, अगर किसी की प्रकृति साधारण वातिक हो तो तीव्र वातिक होना। अन्यथाभाव—विषमप्रकृति का परिवर्तन समप्रकृति में, वातप्रकृति का पित्त या कफप्रकृति में, एकदोषज प्रकृति का द्विदोषज प्रकृति में, इस प्रकार प्रकृत्यन्तर होना। क्षय—तरतमभेद से कम होना। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि गर्भारंभ के समय त्रिदोषों के जिस साँचे में गर्भ की प्रकृति ढल जाती है, वही साँचा जन्म से मृत्यु के समय तक बना रहता है, उसमें कुछ भी फर्क नहीं होता और जब प्रकृति में फर्क होता है, तब वह अरिष्ट मरणसूचक चिह्न माना जाता है—शरीरशीलयोर्यस्य प्रकृतेर्विकृतिर्भवेत्। तत्त्वरिष्टं समासेन व्यासतस्तु निबोध मे ॥ (सुश्रुत, सूत्र० ३०)। आरोग्यं हीयते यस्य प्रकृतिः परिहीयते। सहसा सहसा तस्य मृत्युर्हरति जीवितम् ॥ (चरक, इन्द्रिय ६)। प्रकृतिः स्वभावः सुशीलत्वादिरूपः, किं वा जन्मप्रतिबद्धा श्लेष्मप्रकृत्यादिरूपा ॥ (चक्रपाणिदत्त)। अर्थात् [...] मनुष्य की जो प्रकृति होती है, वह जन्म से मृत्यु [...] एक-सी रहती है, उसमें परिवर्तन नहीं होता—सम[...] वातप्रकृतिर्न भवति, वातप्रकृतिः पित्तप्रकृतिर्न भवति समप्र[...] (चक्रपाणि, चरक, सूत्र ७–४०)। अब प्रश्न यह उ[...] कि जिनके आधार पर मनुष्यों की प्रकृति बनती है [...] त्रिदोष तथा जिनके आधार पर मनुष्यों का स्वास्थ्य [...] अस्वास्थ्य निर्भर होता है वे त्रिदोष, एक है या भिन्न [...] इसका उत्तर यह है कि प्रकृतिदर्शक और स्वास्थ्य[...] त्रिदोष स्वरूप की दृष्टि से यद्यपि एक हैं तथापि निम्न [...] से शरीर में इन दो अवस्थाओं को दर्शाने वाले [...] स्वतन्त्र होते हैं। (१) प्रकृतिगत त्रिदोष माता-पि[...] मनुष्य में आते हैं, अर्थात् ये त्रिदोष आदिवंश[...] (Hereditary) होते हैं। स्वास्थ्यदर्शक त्रिदोष [...] के पश्चात् सेवन किये हुए आहार-विहार से उत्पन्न हो[...] अर्थात् ये त्रिदोष जन्मोत्तर होते हैं। (२) प्रकृ[...] वातादि दोष गर्भारंभ से मृत्यु के समय तक स्थिर रह[...] इनके स्वभाव में कोई भेद नहीं होता, जिसके कारण [...] भी जीवनभर एक-सी रहती है। स्वास्थ्यदर्शक [...] दोष आहार-विहार, दिनमान और अक्षमान के [...] हमेशा बदलते रहते हैं—वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्[...] दिगाः क्रमात्। (अष्टांगहृदय, सू० १) एवमहोरात्र[...] मिव शीतोष्णवर्षलक्षणं दोषोपचयप्रकोपोपशमैर्जानीयात् ॥ (सु[...] सू० ६)। (३) स्वास्थ्यदर्शक दोषों की क्षयवृद्धि हो[...] उत्पन्न होते हैं। परंतु इनकी क्षयवृद्धि का परिणाम [...] गत दोषों पर नहीं दिखाई देता। जैसे, वात का क्षय [...] वातल प्रकृति के शरीर में होने पर उसमें वात[...] लक्षण दिखाई देते हैं, परंतु उसकी वातल प्रकृति [...] प्रकृति नहीं होती। (४) जब किसी की प्रकृति [...] दोष का आधिक्य होता है, तब उसका स्वास्थ्य कुछ [...] रहता है—वातलाद्याः सदातुराः। और इनको [...] स्वास्थ्य ठीक रखने के लिए जीवनभर उस दोष [...] से आहार-विहार रखकर रहना पड़ता है। परंतु जब [...] विहार के हीनमिथ्यातियोग से शरीरगत एका[...] वर्धित होकर रोग उत्पन्न होता है, तब उसके [...] आहारविहारौषधियों का उचित उपयोग कुछ का[...] करने से धातुसाम्य अर्थात् आरोग्य प्राप्त हो जाता [...] पश्चात् उस आहारविहारौषधि सेवन की आ[...] नहीं होती। (५) प्रकृतिगत वातादि दोष शरीर के [...] कारण नहीं होते, परंतु स्वास्थ्यजनक त्रिदोष [...] उपादान कारण होते हैं। चक्रपाणि चरक की टीका [...] सब बातों का समारोप निम्न प्रकार से करते हैं—[...] शायिता उल्बणवातादिभाविताऽव्यभिचारिणीति याव[...] प्रकृतिर्देहस्वास्थ्यमिति यावत्। एतेनैतेषां वातला[...] स्वास्थ्यं नास्ति, किन्तर्हि उपचारस्वस्था एत इति दर्श[...] गर्भादीत्यनेन शुक्रशोणितजीवानां संसर्गे यथाभूता [...] समा विकृता वा तथाभूतैव प्रकृतिर्भवति, सा च प्रकृ[...] मनुवर्ततेरिष्टं विना। तत्र यदा समप्रकृतेर्वातप्रकृतेर्वा[...]

१ वाऽन्यथाभावः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकारो भवति तदा वातस्य प्रकृतिभूतस्याधिक्यं भवत्येव, यदा च प्रकृतेः पित्तविकारो भवति, तदा वातप्रकृतेरन्यथाभावः पित्त-विर्भवति, यदा तु समप्रकृतेरन्यतरदोषक्षयो भवति प्राकृतस्व-निलक्षणस्तदासौ प्रकृतिक्षयो भवति। यदुक्तं दोपक्षयलक्षणे—नः प्राकृताद्धानिर्वृद्धिर्वाऽपि विरोधिनाम्। इति। अत्रोच्यते—गोत्पत्तौ न प्रकृतिभूतस्य वृद्धिः, किन्तर्हि हेत्वरजनि-मानरोगोत्पत्तौ न प्रकृतिभूतस्य वृद्धिः, विकारकारित्वम्। प्रकृतिभूतस्तु दोपस्तत्रोपदर्शको वातादेस्तत्र विकारकारित्वम्। यदुक्तम्—कालदूष्यप्रकृतिर्दोपतुल्यो हि संततम्। निष्प्रत्य-नीकः कुरुते तस्माज्ज्ञेयः सुदुःसहः॥ इति। वातप्रकृतेस्तु पित्त-कोपोत्पत्तौ वातः प्रकृतिभूतस्तथैव करचरणस्फुटनादिकं कुर्वन्नास्ते, तस्यागन्तुना पित्तविकारेण किञ्चित् क्रियते, वातादीनां तु स्वभावाल्क्षयः प्राकृतकर्महानिलक्षणो न शुक्रशोणितसंसर्गकालजस्य प्रकृतिभूतस्य दोपस्य बीजभूतस्य क्षयमावहतीति न प्रकृतिभूतदोष-क्षयः। यदि वा, प्रकृतेः प्रकोपान्यथाभावक्षया न भवन्तीति प्रकृति-र्नित्या भूमः। तेन समप्रकृतिर्वातप्रकृतिर्न भवति, वातप्रकृतिः समप्रकृतिर्न भवति समप्रकृतिर्वा; विकारावस्था तु हीनाधिकवात-लक्षणा भवतीत्यर्थः॥ (चरक, सूत्र० ७।४०)।

विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते।
तद्वत्प्रकृतयो मर्त्यं शक्नुवन्ति न बाधितुम्॥७८॥

विष से उत्पन्न हुआ कीड़ा जैसे (अपने शरीरगत) विष से बाधायुक्त नहीं होता, वैसे ही (शरीरगत) प्रकृतियाँ मनुष्य को बाधाएँ नहीं पहुँचा सकतीं॥७८॥

वक्तव्य—विषजातः—विषकृमिजातः। विषैले कृमि उत्पन्न हुआ अर्थात् विषैला कीड़ा—विषेणैव विषकृमेः। (अष्टांगहृदय, सूत्र १)। कुछ लोग अश्ववैद्यक के निम्न आधार पर—सर्वान् प्राणभृतो हन्ति नूनं कायगतं विषम्। विषेष्वपि समुत्पन्ना दृश्यन्ते कृमयो यथा। तथाच विषमो दोषः प्रकृतिं नातिबाधते॥ विषजात का अर्थ 'विषमय द्रव्य उत्पन्न हुआ' (Bred in a poisonous medium) किया करते हैं, परंतु यह अर्थ अनुचित है। विपद्यते—आपत्तियुक्त या शारीरिक मानसिक पीड़ायुक्त होना। इससे मृत्यु का अर्थ अभिप्रेत नहीं है। न बाधितुम्—महर्षि सुश्रुत के अनुसार दोषोत्कटता होने पर भी सातों प्रकृतियाँ (विकृतियाँ नहीं) होती हैं। इसलिए इस पदसमूह का अर्थ 'कुछ भी पीड़ाएँ नहीं कर सकतीं' ऐसा किया जाता है। परंतु चरकाचार्य समत्रिदोष प्रकृति के सिवा अन्य को आतुर समझते हैं—वातलाद्याः सदातुराः। दोषानु-शयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते॥ (चरक, सूत्र ७)। इस वचन के आधार पर इस पदसमूह का अर्थ 'किंचित् या ईषत् (ज़रा-सी) पीड़ा देते हैं' ऐसा अर्थ किया जा सकता है और डल्हणाचार्य भी अपनी टीका में ऐसा ही अर्थ करते हैं—वातादिहेतुजाः प्राणिकाया वातादिजेन स्फुटितकरचरणा-दिना दोषेण स्वेददौर्गन्ध्यादिना च किञ्चिदेव बाध्यन्ते॥ इस श्लोक का यह अर्थ, प्रकृतिगत दोषों की उत्कटता का जन्म के पश्चात् स्वास्थ्य पर क्या परिणाम होता है, इस दृष्टि से किया गया है। इस श्लोक का और एक अर्थ, गर्भारंभ पर प्रकृतिगत दोषोत्कटता का क्या परिणाम होता है, इस दृष्टि से किया जा सकता है और वही अर्थ वाग्भटाचार्य, अरुण-दत्त, इन्दु, चक्रपाणिदत्त अपने ग्रंथ में करते हैं। उसका अभिप्राय यह है। 'विकारो धातुवैषम्यं साम्यं प्रकृतिरुच्यते' यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है, और इसी के अनुसार केवल सम-त्रिदोष शुक्रशोणित संयोग गर्भ में परिणत हो सकता है। और दोषोत्कट संयोग वैकारिक होने के कारण गर्भ में परिणत नहीं हो सकता। परन्तु यहाँ पर जो सात प्रकार की प्रकृतियाँ वर्णन की गई हैं, उनमें छः प्रकृतियों में दोषोत्कटता होती है। इसका अर्थ यह है कि शुक्र-शोणित संयोग में दोषोत्कटता होने पर भी उसका वैकारिक परिणाम गर्भ पर बहुत कम होता है। आयुर्वेदसिद्धान्तविरोधी यह कार्य कैसे होता है, इसको समझाने के लिए विषकृमि का दृष्टान्त इस श्लोक में दिया गया है। इस दृष्टान्त के अनुसार भी दोषोत्कटता में गर्भोत्पत्ति के संबंध में निम्न दो मत मिलते हैं। (१) इसका अभिप्राय यह है कि सर्प, वृश्चिकादि विषमय प्राणियों के बीज में विषांश होने पर भी उनकी उत्पत्ति में कोई विकृति नहीं उत्पन्न होती, वैसे ही माता-पिता के शुक्र-शोणित संयोग में उनकी प्रकृति से आये हुए दोषों की उत्कटता से गर्भ की वृद्धि पर कुछ भी घातक परिणाम नहीं होता, केवल दोषाधिक्य के अनुसार गर्भ की प्रकृति बनती है, क्योंकि 'यस्य यस्य ह्यंगावयवस्य बीजे बीजभाग उप-तप्तो भवति, तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते'। (चरक, शा० ३)। यह भी आयुर्वेद का एक सिद्धान्त है—गयी तु अन्यथैवाशङ्क्य समादधाति। यथा—ननु, स्वभावतः शुद्धं बीजं कर्मणा वा समाधातुं गर्भं निष्पादयति, अनिलादिदोषदुष्टं तु गर्भजननाय न समर्थमिति शुक्रशोणितशुद्धावुक्तम्, तत्कथमुत्कटेन दोषेण प्रकृतिरिति? उच्यते—न हि सर्वमेव बीजं दूषितं किं तर्हि बीजावयवो दूषितः, न च अवयवगतदोषेण गर्भप्रतिबन्धो जात्यन्ध-मूकादेर्गर्भस्य दर्शनात्, तस्माद्य एवांशो बीजस्य दुष्टो भवति तत्कार्यस्यैव गर्भावयवस्य विकृतिरभावो वा भवति; यथा दृष्टया-रम्भके बीजभागे दुष्टे जात्यंधो गर्भो भवति न तु गर्भ एव न भवति, तथा दोपाख्ये बीजभागे दुष्टे तत्कार्यस्यैव गर्भशरीरभागस्य सम-धातोरपेक्षया विकृतिः स्फुटितकरचरणादिलक्षणा भवति न तु गर्भव्याघातः। तदुक्तम्—'शुद्धं स्वभावकर्मभ्यां वाताद्यैर्दुष्टमंशतः। दुष्टं बीजार्थकृद्बीजं तत्र प्रकृतिरुत्तरम्॥' इति। (सुश्रुत, डल्हण टीका, शा० ४–६३)। (२) इसका अभिप्राय यह है कि दोषोत्कटता गर्भजन्म के समय से याने सहज होने के कारण घातक नहीं होती, जैसे विषकृमि का विष सहज होने के कारण उसको घातक नहीं होता है—न च वाच्यं प्रकृतिभूतानां वातादीनां दूषणात्मकानां कथं न शरीरबाधकत्वम्, सहजातत्वेन तथाविधविनाशविकाराकर्तृत्वात्। तदुक्तं सुश्रुते—विषजातो यथा कीटो न विषेण विपद्यते। तद्वत् प्रकृतिभिर्देहस्तज्जात-त्वान्न बाध्यते॥ इति। (चक्रपाणि, चरक, सूत्र ७–४०)। इन दो मतों के सिवा और दो मत मिलते हैं जिनका संबंध इस श्लोक के दृष्टान्त के साथ नहीं है, परन्तु जो दोषोत्कटता होने पर भी गर्भोत्पत्ति का समर्थन करते हैं। (१) डल्हण का मत है कि दोषोत्कटता प्राकृत और वैकृत करके दो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकार की होती है। प्रकृति की उत्पत्ति में प्राकृत उत्कटता होती है इसलिए गर्भ का घात नहीं होता—द्विविधा ह्युत्कटा वातादयः प्राकृता वैकृताश्च, तत्र प्राकृताः सप्तविधायाः प्रकृतेर्हेतुभूताः शरीरैकजन्मानः, वैकृताश्च गर्भव्याघातकाः। (शा० ४।६३)। वाग्भटाचार्य भी अष्टांगसंग्रह (शा० ८) में अन्य आचार्यों का यही मत उद्धृत करते हैं। (२) चक्रपाणिदत्त लिखते हैं कि उत्कटता हीन मध्योत्तम करके तीन प्रकार की होती है। प्रकृति के समय जो उत्कटता होती है वह हीन होने के कारण गर्भ का घातक नहीं होती—वातादिप्रकोपाणामेव हीनमध्योत्तमानां नानाशक्तित्वात्; प्रबला वातादयो विनाशयन्ति, हीनास्तु विकृतिमात्रं जनयन्ति। (चरक, सू० ७-४०)।

प्रकृतिमिह नराणां भौतिकीं केचिदाहुः
पवनदहनतोयैः कीर्तितास्तास्तु तिस्रः।
स्थिरविपुलशरीरः पार्थिवश्च क्षमावान्
शुचिरथ चिरजीवी नाभसः खैर्महद्भिः ॥७९॥

(पाँच भौतिक प्रकृतियाँ—) कई आचार्य आयुर्वेद में मनुष्यों की प्रकृति को भौतिक (भी) कहते हैं। वायु, अग्नि और जल से तीन (प्रकृतियाँ होती हैं), परन्तु वे (ऊपर वात, पित्त और कफ प्रकृति में) वर्णित हो चुकी हैं। (शेष जो दो प्रकृतियाँ उस पर वर्णित नहीं हुई हैं उनमें से) पार्थिव (प्रकृति का मनुष्य) मज़बूत और बड़े शरीर का तथा क्षमाशील होता है और नाभस (प्रकृति का मनुष्य) पवित्र (आचरण का), दीर्घायु (और मुखनासादि) बड़े छिद्रों का होता है ॥७९॥

वक्तव्य—भौतिकी—आकाशादि पंच महाभूतों की उत्कटता के अनुसार पार्थिव, नाभस, आप्य इत्यादि प्रकार की। यहाँ पर केवल पाँच प्रकार वर्णन किये हैं, परन्तु दोषों के अनुसार इनकी संमिश्र प्रकृतियाँ हो सकती हैं—अन्ये तु सा चैकशो द्विशस्त्रिशश्चतुर्भिर्वा भूतैः प्रस्तर्यमाणा बहुधा संजायते इति वदन्ति—'एकैकेन वदन्ति पंच, दश तु द्वाभ्यां, त्रिभिस्तावतीर्भूतैः पञ्च चतुर्भिरेव भिषजस्त्वेकां समस्तैरपि। एकत्रिंशतमत्र भूमिसलिलस्वाहाप्रियस्पर्शनाकाशैश्च प्रकृतीर्गुणैरपि पुनः प्राहुः स्म सप्ताऽपरा' इति। (डल्हण)।

त्रिदोष और पंच महाभूतों के अनुसार प्रकृतियों का विवरण करके अब त्रिगुणों के अनुसार प्रकृतियों का विवरण किया जाता है। त्रिगुणों में सत्त्व उत्तम, रजस् मध्यम और तम हीन होता है—तत्र शुद्धम् (सत्त्वम्) अदोषमाख्यातं कल्याणांशत्वात्। राजसं सदोषमाख्यातं रोषांशत्वात्। तामसमपि सदोषमाख्यातं मोहांशत्वात् ॥ (चरक, शा० ४)। त्रिगुणों के अनुसार भी प्रकृति के अनेक भेद होते हैं। पीछे प्रथम अध्याय के १९वें सूत्र में त्रिगुणों के जो धर्म बताये गये हैं वे ही धर्म तद्गुणविशिष्टप्रकृति में मिलते हैं और उनके संसर्ग से मिश्रगुण प्रकृतियाँ बन जाती हैं। इसलिए यहाँ पर उनका वर्णन नहीं किया गया है। यहाँ पर केवल सात्त्विकादि प्रकृति के कुछ विशेष प्रकार (Types) वर्णन किये जा रहे हैं—तेषां तु त्रयाणामपि सत्त्वानामेकैकस्य भेदाग्रमपरिसङ्ख्येयं तरतमयोगाच्छरीरयोनिविशेषेभ्यश्चान्योन्यानुविधानत्वाच्च। तस्मात् कतिचित् सत्त्वभेदाननूकाभिनिर्देशेन निदर्शनार्थमनुव्याख्यास्यामः। (चरक, शा० ४)। अब सात्त्विक प्रकृति का सात प्रकार वर्णन करते हैं।

शौचमास्तिक्यमभ्यासो वेदेषु गुरुपूजनम्।
प्रियातिथित्वमिज्या च ब्रह्मकायस्य लक्षणम् ॥८०॥

(ब्रह्मकाय के लक्षण—) पवित्रता, आस्तिकबुद्धि, वेदों का अभ्यास करना, गुरुजनों का पूजन, अतिथियों का सत्कार करना और यज्ञ करना ये ब्रह्मकाय के लक्षण हैं ॥८०॥

माहात्म्यं शौर्यमाज्ञा च सततं शास्त्रबुद्धिता।
भृत्यानां भरणं चापि माहेन्द्रं कायलक्षणम् ॥८१॥

(माहेन्द्रकाय के लक्षण—) बड़प्पन, शूरता, आज्ञा (करने का स्वभाव), हमेशा शास्त्रानुसार आचरण करने की बुद्धि, नौकरों का पालनपोषण (करने का शील) माहेन्द्रकाय के लक्षण हैं ॥८१॥

शीतसेवा सहिष्णुत्वं पैङ्गल्यं हरिकेशता।
प्रियवादित्वमित्येतद्वारुणं कायलक्षणम् ॥८२॥

(वारुणकाय के लक्षण—) ठंडे पदार्थों के सेवन में प्रेम, सहन करने की शक्ति, नेत्रों का भूरापन, केश कपिल वर्ण होना और मधुरभाषण करने का स्वभाव ये वारुणकाय के लक्षण हैं ॥८२॥

मध्यस्थता सहिष्णुत्वमर्थस्यागमसंचयौ।
महाप्रसवशक्तित्वं कौबेरं कायलक्षणम् ॥८३॥

(कौबेरकाय के लक्षण—) मध्यस्थता (हर एक बात में पक्षविरहित (Impartial) होकर बोलना या काम करना, किं वा—हर एक बात में मध्यम मार्ग (golden mean) अवलम्बन करने का स्वभाव, किं वा—जहाँ पर आवश्यक हो वहाँ पर मध्यस्थ (arbitrator) का काम करने का स्वभाव, किं वा—सुखदुःखादि द्वन्द्वों से दूर (indifferent) रहने का स्वभाव), सहिष्णुता, धनोपार्जन और संचय (करने का स्वभाव), महाप्रसवशक्तिसंपन्नता (किसी काम के पड़ने पर उसमें सफलता प्राप्त किये बगैर न छोड़ना, किं वा—अधिक प्रजोत्पत्ति की शक्ति होना) ये कौबेरकाय के लक्षण हैं ॥८३॥

गन्धमाल्यप्रियत्वं च नृत्यवादित्रकामिता।
विहारशीलता चैव गान्धर्वं कायलक्षणम् ॥८४॥

(गान्धर्वकाय के लक्षण—) सुगन्धी पुष्पमाला (सुगन्धी तेल, इत्र इत्यादि) का शौक, नाच, गाना बजाना इत्यादि में प्रवीणता और भ्रमणशीलता ये गान्धर्व काय के लक्षण हैं ॥८४॥

प्राप्तकारी दृढोत्थानो निर्भयः स्मृतिमान् शुचिः।
रागमोहमदद्वेषैर्वर्जितो याम्यसत्त्ववान्[१]॥

१ रागमोहभयद्वेषैर्वर्जितो यमसत्त्ववान्।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(याम्यकाय के लक्षण—) युक्त कार्य करने वाला, अश्रान्त उत्साह का (of indefatigable energy), निर्भय, (उत्तम) स्मरणशक्ति का, स्वच्छ रहने वाला, राग, मोह, मद, द्वेष इनसे विमुक्त (मनुष्य) याम्यसत्त्व का होता है ॥८५॥

जपव्रतब्रह्मचर्यहोमाध्ययनसेविनम्।
ज्ञानविज्ञानसंपन्नमृषिसत्त्वं नरं विदुः ॥८६॥

(ऋषिकाय के लक्षण—) जप, व्रत, ब्रह्मचर्य, होम (अग्निहोत्र), अध्ययन (स्वाध्याय) सेवन करने वाले और आत्मज्ञान और विज्ञान से संपन्न मनुष्य को ऋषिसत्त्व जानते हैं ॥८६॥

सप्तैते सात्त्विकाः काया, राजसांस्तु निबोध मे ॥८७॥

ये (ब्रह्मकाय से लेकर ऋषिकाय तक) सात काय सात्त्विक होते हैं। अब राजसकाय मुझसे समझ लो ॥८७॥

वक्तव्य—सात्त्विक—इन सातों में शुद्धता और कल्यांश होने के कारण ये सात्त्विक कहलाते हैं। इनमें ब्राह्मकाय सर्वश्रेष्ठ है—इत्येवं शुद्धस्य सत्त्वस्य सप्तविधं भेदांशं विद्यात् कल्याणांशत्वात्; तत्संयोगात्तु ब्राह्ममत्यन्तशुद्धं व्यवस्येत् ॥ (चरक)

ऐश्वर्यवन्तं रौद्रं च शूरं चण्डमसूयकम्।
एकाशिनं चौदरिकमासुरं सत्त्वमीदृशम् ॥८८॥

(आसुरकाय के लक्षण—) ऐश्वर्ययुक्त, भयङ्कर, शूर, कोपी, असूयक, अकेला खाने वाला, और औदरिक इस प्रकार के सत्त्व को आसुर जानना चाहिए ॥८८॥

वक्तव्य—असूयक—दूसरे का उत्कर्ष सहन न करने का जिसका स्वभाव हो ऐसा; किं वा—दूसरे के गुणों पर भी दोषारोप करने वाला—असूया दोषारोपो गुणेष्वपि। (अमरकोश)। एकाशी—औरों को न देकर अकेला खाने वाला। औदरिक—जिसके मन में खाने के सिवा और कोई विषय होता ही नहीं, अर्थात् पेटू या घस्मर—सर्वत्रौदरिकस्याभ्यवहार्यमेव विषयः। (विक्रमोर्वशीय ३)।

तीक्ष्णमायासिनं भीरुं चण्डं मायान्वितं तथा।
विहाराचारचपलं सर्पसत्त्वं विदुर्नरम् ॥८९॥

(सर्पकाय के लक्षण—) तीक्ष्ण (घातक), परिश्रमी, (अक्रुद्धावस्था में) डरपोक, क्रोधी, कपटी, विहार और आचार में चपल मनुष्य को सर्पसत्त्व जानते हैं ॥८९॥

वक्तव्य—भीरु—अक्रुद्धावस्था में डरपोक और क्रुद्धावस्था में शूर—क्रुद्धशूरमक्रुद्धभीरुम्। (चरक)। अक्रुद्धावस्था में सर्प की भीरुता और क्रुद्धावस्था में शूरता सुप्रसिद्ध है—व्याघ्रे च महदालस्यं सर्पे चैव महद्भयम्। पिशुने चैव दारिद्र्यं तेन जीवन्ति जन्तवः॥ (सुभाषित)। ज्वलति चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृतः पन्नगः फणां कुरुते। प्रायः स्वमहिमानं क्रोधात्प्रतिपद्यते जन्तुः ॥ (शाकुन्तल)। विहाराचारचपलम्—इसके बदले 'विहाराहारचपलम्' ऐसा भी पाठभेद है। यह पाठभेद अच्छा है। सर्प के बारे में आचार का कोई संबंध नहीं होता। आहार का संबंध जरूर होता है। साँप घूमने फिरने में तथा खाने में बड़ा तेज होता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। चरक में भी सार्पकाय के वर्णन में 'विहाराहारपर' ऐसा शब्द-प्रयोग मिलता है।

प्रवृद्धकामसेवी[1] चाप्यजस्राहार एव च।
अमर्षणोऽनवस्थायी शाकुनं कायलक्षणम् ॥९०॥

(शाकुनकायलक्षण—) अत्यन्त मैथुनपरायण, निरन्तर खाने वाला, असहिष्णु, चंचल चित्त वाला ये पक्षिकाय के लक्षण हैं ॥९०॥

वक्तव्य—कामपरायणता, उदरपरायणता और असहिष्णुता इन गुणों का पता चिड़ियों या कबूतरों के ऊपर ध्यान देने से झट से लग जाता है। भर्तृहरि लिखते हैं—सिंहो बली द्विरदशूकरमांसभोजी संवत्सरेण रतिमेति किलैकवारम्। पारावतः खरशिलाकणमात्रभोजी कामी भवत्यनुदिनं वद कोऽत्र हेतुः॥ यहाँ पर पारावतशब्द व्यापकदृष्टि से पक्षिजाति के लिए ही प्रयुक्त हुआ है।

एकान्तग्राहिता रौद्रमसूया धर्मबाह्यता।
भृशमात्मस्तवश्चापि[2] राक्षसं कायलक्षणम् ॥९१॥

(राक्षसकाय के लक्षण—) एकान्तग्राहिता, भीषणता, असूया, अधर्माचरण, अत्यन्त आत्मश्लाघा ये राक्षसकाय के लक्षण हैं ॥९१॥

वक्तव्य—एकान्तग्राहिता—शत्रु अकेला होने पर उस पर आक्रमण करके पकड़ने का स्वभाव, किंवा किसी विषय का पूर्ण विचार न करके अपने मत को पकड़कर रहने का स्वभाव। असूया—परोत्कर्ष असहिष्णुता, किंवा परगुण असहिष्णुता—असूया तु दोषारोपो गुणेष्वपि। (अमरकोश)।

उच्छिष्टाहारता तैक्ष्ण्यं साहसप्रियता तथा।
स्त्रीलोलुपत्वं नैर्लज्ज्यं पैशाचं कायलक्षणम् ॥९२॥

(पैशाचकाय के लक्षण—) उच्छिष्टाहार सेवन (का स्वभाव), क्रोध, साहस करने का शौक, स्त्रीलंपटता, निर्लज्जता ये पैशाचकाय के लक्षण हैं ॥९२॥

वक्तव्य—साहसप्रियता—चौर्य, हत्या इत्यादि पातक कर्म करने का शौक।

असंविभागमलसं दुःखशीलमसूयकम्।
लोलुपं चाप्यदातारं प्रेतसत्त्वं विदुर्नरम् ॥९३॥

(प्रेतसत्त्व के लक्षण—) विभाग न करने वाला, आलसी, दुःख करने वाला, असूया करने वाला, लोभी, दान न करने वाला, (ऐसे) मनुष्य को प्रेतसत्त्व समझते हैं ॥९३॥

वक्तव्य—असंविभाग—जो अपनी कोई चीज दूसरे को देने के लिए तैयार नहीं होता है, ऐसा। प्रेत—पिशाच जाति की एक योनि।

षडेते राजसाः कायाः, तामसांस्तु निबोध मे ॥९४॥

ये (आसुर से प्रेतकाय तक) राजस काय हैं। अब तामसकाय मुझसे श्रवण करो ॥९४॥

[1] अबद्धकामसेवी। [2] भृशमात्रं तमश्चापि।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुर्मेधस्त्वं मन्दता च स्वप्ने मैथुननित्यता ।
निराकरिष्णुता चैव विज्ञेयाः पाशवा गुणाः ॥९५॥

(पशुकाय के लक्षण—) बुद्धिहीनता, (बुद्धि की) मन्दता (किंवा कुटिलता), नींद में नित्य कामुक स्वप्न-दर्शन और निराकरिष्णुता ये पाशवी (काय के) गुण हैं ॥९६॥

वक्तव्य—निराकरिष्णुता—दूसरे के रास्ते में विघ्न उत्पन्न करने की प्रवृत्ति, किंवा दूसरे की चीज छीन लेने की प्रवृत्ति, किंवा स्मृतिहीनता ।

अनवस्थिततता मौर्ख्यं भीरुत्वं सलिलार्थिता ।
परस्पराभिमर्दश्च मत्स्यसत्त्वस्य लक्षणम् ॥९६॥

(मत्स्यसत्त्व के लक्षण—) चञ्चलता, मूर्खता, भीरुता, जल से प्रेम, आपस में लड़ना-झगड़ना ये मत्स्यसत्त्व के लक्षण हैं ॥९६॥

एकस्थानरतिर्नित्यमाहारे केवले रतः ।
वानस्पत्यो नरः सत्त्वधर्मकामार्थवर्जितः ॥९७॥

(वानस्पत्यकाय के लक्षण—) एक स्थान में रहने की इच्छा करने वाला; नित्य खाने पीने में लगा हुआ; सत्त्व, धर्म, काम और अर्थ इनसे विरहित मनुष्य वानस्पत्य होता है ॥९७॥

वक्तव्य—सत्त्वधर्मकामार्थवर्जितः—सत्त्वगुण से मोक्ष मिलता है—ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः । (गीता) । इसलिए सत्त्व शब्द मोक्षपर समझना उचित है । सत्त्वादिवर्जित का अभिप्राय यह है कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ये जो मनुष्यों के चार पुरुषार्थ होते हैं इनको प्राप्त करने की आकांक्षा जिसमें न हो, ऐसा मनुष्य ।

इत्येते त्रिविधाः कायाः प्रोक्ता वै तामसास्तथा ।
कायानां प्रकृतीर्ज्ञात्वा त्वनुरूपां क्रियां चरेत् ॥९८॥

इस तरह ये तीन प्रकार के तामसकाय भी वर्णन किये हैं । (रोगियों में उपर्युक्त) कायों की प्रकृति को (लक्षणों को) देखकर उसके अनुसार (वैद्य) चिकित्सा करे ॥९८॥

महाप्रकृतयस्त्वेता रजःसत्त्वतमःकृताः ।
प्रोक्ता लक्षणतः सम्यग्भिषक् ताश्च विभावयेत् ॥९९॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने गर्भव्याकरणं शारीरं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥

सत्त्व, रज और तमोगुण से बनी हुई ये महाप्रकृतियाँ लक्षणों के साथ भली भाँति वर्णन की गई हैं । (चिकित्सा के समय) वैद्य इन (प्रकृतियों) का सूक्ष्मता से विचार (करके चिकित्सा) करे ॥९९॥

इति भास्करशर्मणा गोविंदात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्य-दीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां शारीरस्थाने गर्भव्याकरणं नाम चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥४॥

पञ्चमोऽध्यायः ।

अथातः शरीरसंख्याव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब इसके बाद शरीरसंख्याव्याकरण नामक का विवरण करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्त किया था ॥१॥

वक्तव्य—शरीरसंख्याव्याकरण—शरीर के संपूर्ण प्रत्यंगों की संख्या का विवरण या विस्तार जिसमें गया है, वह अध्याय । प्रथम चार और अन्तिम पाँच शारीरस्थान के अध्याय होने के कारण यद्यपि शारी कहलाते हैं तथापि आधुनिक परिभाषा में जिसको विज्ञान या अनाटोमी (Anatomy) कहते हैं उसका वि चतुर्थ अध्याय के प्रारंभिक भाग को छोड़कर और कि अध्याय में नहीं किया गया है । अनाटोमी का यौगि विच्छेदन, और रूढार्थ है शवविच्छेदन से प्राप्त हुआ के अंग-प्रत्यंगों का ज्ञान । इस अध्याय में शवविच्छे (Dissection) का महत्त्व वर्णन करके उसके आधा प्राप्त हुआ शरीर के अंग-प्रत्यंगों का विवरण मिल इसलिए शरीरसंख्याव्याकरण का अँग्रेजी उलथा Ana of the body कर सकते हैं । इस अध्याय में वर्णन कि हुआ मर्त्यशरीर का ज्ञान अत्यन्त संक्षिप्त और एक अपर्याप्त है, इसमें कोई संदेह नहीं । इसका एक कारण है कि आयुर्वेदज्ञ ऋषि उस समय के ज्ञानविज्ञान की के अनुसार शरीर के तत्त्व, आत्मा, मन इत्यादि अ विषयों को शारीरविज्ञान में अधिक महत्त्व देते थे । संहिता के शारीरस्थान के प्रारंभिक छः अध्यायों में विषयों का विवरण किया गया है । सुश्रुतसंहिता के की स्थिति अनाटोमी की दृष्टि से चरक से बहुत है । इसलिए सुश्रुत शारीर में श्रेष्ठ (शारीरे सुश्रुतः माना गया है । दूसरा कारण यह है कि प्राचीन ग्रंथ सूत्ररूप में लिखने की पद्धति थी और अधि गुरु से प्राप्त किया जाता था । भारतवर्ष में जब शव दन की प्रथा जारी थी, तब आयुर्वेद के विद्यार्थि शारीर का ज्ञान इस ग्रंथ को पढ़कर प्राप्त हुए शारी की अपेक्षा बहुत अधिक और अच्छा था । शवविच्छे परंपरा नष्ट होने पर शारीरज्ञान भी कम हुआ तथा शारीरज्ञानाभाव के कारण कई दोष भी प्रविष्ट हो इसलिए इन ग्रंथों के आधार पर प्राचीन काल के शारी की इयत्ता निश्चित करना उचित नहीं है ।

शुक्रशोणितं गर्भाशयस्थमात्मप्रकृतिविक मूर्च्छितं 'गर्भ' इत्युच्यते । तं चेतनावस्थितं व भजति, तेज एनं पचति, आपः क्लेदयन्ति, पृ संहन्ति, आकाशं विवर्धयति; एवं विवर्धि यदा हस्तपादजिह्वाघ्राणकर्णनितम्बादिभि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्तदा 'शरीरम्' इति संज्ञां लभते। तच्च षडङ्गं—शाखाश्चतस्रो, मध्यं पञ्चमं, षष्ठं शिर इति ॥२॥

(गर्भ और शरीर—) गर्भाशय में स्थित, आत्मा, प्रकृति और विकारों से युक्त शुक्र और शोणित 'गर्भ' कहलाता है। चेतनायुक्त उस गर्भ में वायु विभजन पैदा करती है, तेज पाचन करता है, जल क्लिन्नता पैदा करता है, पृथिवी कठिनता करती है और आकाश आकारवृद्धि करता है। इस प्रकार परिवर्धित हुआ वह गर्भ जब हाथ, पाँव, जिह्वा, कान, नितम्ब इत्यादि अंगों से युक्त होता है तब 'शरीर' संज्ञा प्राप्त करता है। वह शरीर षडंग होता है। जैसे—चार शाखाएँ, पाँचवाँ धड़ और छठा शिर ॥२॥

वक्तव्य—आत्मप्रकृतिविकारसंमूर्च्छितम्—पुरुष, अष्ट प्रकृतियाँ और षोडश विकार इनसे अभिव्याप्त। वायुर्विभजति इत्यादि—बालाग्रदशसहस्रांशसम सूक्ष्म जीव शरीर में कैसे परिवर्धित होता है, इसकी प्रक्रिया इस सूत्र में वर्णन की गई है। इसकी टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—तं वायुर्विभजति दोषधातुमलाङ्गप्रत्यङ्गविभागेन, तेज एनं पचति रूपाद्रूपान्तरेणावस्थानं प्रापयति, आपः क्लेदयन्ति, विभाग-परिणामकारिणोरनिलानलयोः शोषणेऽप्यार्द्रतां जनयन्ति, पृथिवी संहन्ति, अद्भिः क्लिन्नमपि कठिनं मूर्तिमत् करोति, आकाशं विवर्धयति अनिलानलविदारितस्रोतसामाध्मापनेनोर्ध्वमधस्तिर्यग्विवर्धितमव-काशदानेन विवर्धयति ॥ आधुनिक परिभाषा के अनुसार इस प्रक्रिया का वर्णन निम्न प्रकार से कर सकते हैं—संयुक्त शुक्रशोणित प्रारम्भ में केवल एक सेल होती है। इस सेल से विभजन के (Segmentation) द्वारा अनन्त सेलों का मनुष्यशरीर बनता है। इन सेलों से पोषक स्तर (Trophoblast), बाह्यस्तर (Ectoderm), मध्यस्तर (Mesoderm), अन्तःस्तर (Entoderm) ये स्तर उत्पन्न होते हैं। यह विभजन का कार्य वायु के द्वारा होता है। पश्चात् इन तीन स्तरों से शरीर के विविध प्रत्यंग और धातु बनते हैं। यह कार्य तेज करता है। इनमें जल का संचय लसिका की उत्पत्ति और आर्द्रता जल के द्वारा उत्पन्न होती है। उत्पन्न होने वाले विविध धातुओं और प्रत्यंगों में कठिनता या मूर्तता पृथिवी के द्वारा होती है और आशय, स्रोत, वाहिनियाँ इत्यादि शरीर के भीतर जो अवकाश या रिक्त स्थान होते हैं वे आकाश के कारण होते हैं। हस्तपाद इत्यादि—इसका अभिप्राय यह है कि जब गर्भ में इन विविध अंगों की उत्पत्ति होकर उसको मनुष्य का आकार प्राप्त होता है, तब। शिर—ग्रीवा के साथ शिर। गर्भ और शरीर—गर्भाधान से प्रसूति के समय तक गर्भाशय में जो जीव होता है, उसके लिए वृद्धि के अनुसार ये दो नाम दिये गये हैं। गर्भ तब तक कहना चाहिए, जब तक उसमें मनुष्य का आकार प्राप्त न हुआ हो। इसकी मर्यादा तीन महीने की होती है—तृतीये हस्तपादशिरसां पञ्च पिण्डका निर्वर्तन्तेऽङ्गप्रत्यङ्गविभागश्च सूक्ष्मो भवति। (सुश्रुत, शा० ३)। इसका अभिप्राय यह है कि तीन महीने तक गर्भाशयस्थ जीव को 'गर्भ' कहना चाहिए और चौथे महीने से उसको 'शरीर' कहना चाहिए। व्यवहार में इस परिभाषा का उपयोग बहुत कम होता है। प्रायः सभी अवस्थाओं के लिए गर्भशब्द का ही प्रयोग होता है। अँग्रेज़ी में भी इस प्रकार एम्ब्रिओ (Embryo) और फीटस (Foetus) करके दो शब्द प्रचलित हैं, जिनमें एम्ब्रिओ तीन महीने तक और फीटस चौथे महीने से पश्चात् प्रयुक्त होता है—The term foetus is usually applied to the embryo after it has acquired something of its final shape, that is, at about the third month. *Introduction to sexual physiology by Marshall.* जिस लक्षण के ऊपर एम्ब्रिओ फीटस कहलाता है, उसी लक्षण के आधार पर आयुर्वेद में गर्भ शरीर कहलाता है, यह चिन्त्य है। इसलिए गर्भ का पर्याय एम्ब्रिओ और शरीर का पर्याय फीटस समझना उचित है।

अतः परं प्रत्यङ्गानि वक्ष्यन्ते—मस्तकोदरपृष्ठनाभिललाटनासाचिबुकबस्तिग्रीवा इत्येता एकैकाः। कर्णनेत्रभ्रूशङ्खांसगण्डकक्षस्तनवृषणपार्श्वस्फिग्जानुबाहूरुप्रभृतयो द्वे द्वे, विंशतिरङ्गुलयः, स्रोतांसि वक्ष्यमाणानि, एष प्रत्यङ्गविभाग उक्तः ॥३॥

(प्रत्यङ्गविभाग—) इसके पश्चात् प्रत्यङ्ग कहे जाते हैं—सिर, उदर, पीठ, नाभि, माथा, ठोड़ी, मूत्राशय, ग्रीवा ये एक एक; कान, आँख, भौंह, कनपटी, कन्धा, गाल, काँख, स्तन, वृषण, पार्श्व, नितम्ब, घुटना, बाहु, जाँघ इत्यादि दो दो; बीस अंगुलियाँ; आगे कहे जाने वाले स्रोतस यह प्रत्यङ्गों का विभाग कहा गया है ॥३॥

वक्तव्य—प्रत्यङ्ग—दूसरे सूत्र में शरीर के छः बड़े विभाग या अंग बताये गये थे। इस सूत्र में उन अंगों के छोटे छोटे अवयव बताये जा रहे हैं। इसलिए ये छोटे अवयव प्रत्यंग कहलाते हैं—अवयवमवयवं प्रति योऽवयवस्तत्प्रत्यङ्गमुच्यते। (अरुणदत्त, अष्टांगहृदय, शारीर ३)। ये सब प्रत्यङ्ग शरीर बाह्यभागस्थ विभाग हैं, इसको ध्यान में रखना चाहिए। इनसे अभ्यन्तरीय अङ्गों का बोध नहीं होता है। अँग्रेज़ी में इस प्रकार के प्रत्यङ्ग Surface regions कहलाते हैं। मस्तक—सिर का उच्च मण्डलाकार भाग, जो टोप या पगड़ी से ढक जाता है Roof of the head। उदर—पेट (Stomach) के सामने का पृष्ठभाग Gastric region। नाभि—नाभि के आसपास का कुछ विभाग Umbilical region। ललाट—आँखों के ऊपर का केश-मर्यादा तक का केशविरहित भाग (Forehead) जहाँ पर प्रत्येक व्यक्ति का भविष्य लिखा रहता है, ऐसी कल्पना है—लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः॥ (हितोपदेश)। बस्ति—बस्तिप्रदेश Umbilical region। स्तन—स्तन-प्रदेश Mammary region। पार्श्व—पार्श्वप्रदेश Lateral regions। स्फिग्—नितम्बप्रदेश Gluteal region। स्रोतांसि वक्ष्यमाणानि—स्रोतस का अर्थ नौवें अध्यायोक्त प्राणोदकान्न-वाही स्रोतस किया जाता है। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। यहाँ पर प्रत्यङ्गों में केवल शरीर के बाह्य भाग पर स्थित

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्यङ्गों का ही उल्लेख है, भीतरी प्रत्यङ्गों का नहीं। इसलिए ये वक्ष्यमाण स्रोतस इस प्रकार के ही होने चाहिएँ। इस अध्याय में आगे नौवें सूत्र में श्रवण नयनादि बहिर्मुख स्रोतस वर्णन किये हैं। ये स्रोतस यहाँ पर अभिप्रेत हैं। स्रोतस का अर्थ द्वार या छिद्र भी होता है—स्रोतांसि खानि छिद्राणि। (राजनिघण्टुः)। इसके अनुसार 'स्रोतांसि वक्ष्यमाणानि' का अर्थ 'आगे इसी अध्याय के नौवें सूत्र में कहे जाने वाले शरीर के श्रवणनयनादि नवद्वार' ऐसा करना चाहिए।

तस्य पुनः संख्येयानि—त्वचः कला धातवो मला दोषा यकृत्प्लीहानौ फुप्फुस उण्डुको हृदयमाशया अन्त्राणि वृक्कौ स्रोतांसि कण्डरा जालानि कूर्चा रज्जवः सेवन्यः सङ्घाताः सीमन्ता अस्थीनि सन्धयः स्नायवः पेश्यो मर्माणि सिरा धमन्यो योगवहानि स्रोतांसि च ॥४॥

फिर उस (प्रत्यङ्गविभाग) के गणनीय (अवयव ये हैं) त्वचाएँ, कलाएँ, धातु, मल, दोष, यकृत्, प्लीहा, फुप्फुस, उण्डुक, हृदय, आशय, अन्त्र, वृक्क, स्रोतस, कण्डरा, जाल, कूर्चा, रज्जु, सेवनी, संघात, सीमन्त, अस्थियाँ, सन्धियाँ, स्नायु, पेशियाँ, मर्म, सिराएँ, धमनियाँ और योगवह स्रोतस ॥४॥

वक्तव्य—पिछले सूत्र में शरीर के पृष्ठभाग के विविध विभाग बतलाये गये हैं। इस सूत्र में इन विभागों के पीछे शरीर के भीतर जो अवयव मिलते हैं, उनकी गणना कर रहे हैं। पिछले सूत्र में वर्णित प्रत्यङ्गों को बाहर से देख सकते हैं, परन्तु इन सूत्रगत अवयवों को देखने के लिए शवच्छेदन की आवश्यकता होती है। तस्य—प्रत्यङ्गविभागस्य। संख्येय—गणना करने योग्य अर्थात् नामनिर्देश करने योग्य या महत्त्व के योग्य। इनके अतिरिक्त शरीर में और भी अवयव हो सकते हैं। स्रोतस्—इस सूत्र में स्रोतस दो बार आये हैं। प्रथम स्रोतस शब्द श्रवणनयनादि बहिर्मुख स्रोतसों के लिए और दूसरा योगवाही स्रोतस शब्द नौवें अध्यायोक्त प्राणोदकवाही स्रोतसों के लिए है। योगवहानि—योगान द्रव्यान् वहन्ति इति योगवहानि। योग का अर्थ यहाँ पर द्रव्य है—योगोऽपूर्वार्थसंप्राप्तौ संगतिध्यानयुक्तिषु। वपुःस्थैर्ये प्रयोगे च विष्कम्भादिषु भेषजे। विश्रब्धघातके द्रव्योपायसन्नहनेष्वपि॥ (मेदिनी)। रसरक्तादि धातुरूप द्रव्यों का वहन स्रोतस करते हैं, इसलिए योगवह कहलाते हैं—स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन। (चरक, विमान ५)। पं० हरिप्रपन्नजी योगवाही स्रोतसों का अँग्रेज़ी पर्याय Autonomic (Sympathetic) nervous system देते हैं। आगे के सूत्र में इन स्रोतसों की संख्या बाईस बतलाई है। उससे तथा संदर्भ से ये धमनी व्याकरण अध्याय में वर्णित स्रोतस हैं, इसमें संदेह नहीं है। वहाँ पर जो प्राणवहादि स्रोतस वर्णन किये हैं उनका स्वतन्त्र नाडीसंस्थान (Autonomic Nervous system) से कोई संबंध नहीं है तथा उन स्रोतसों के जो अँग्रेज़ी पर्याय रसयोगसागर में दिये हैं, उनमें भी कोई नाडीसंस्थान का पर्याय नहीं मिलता। इसलिए योगवह स्रोतसों से स्वतन्त्र नाडीसंस्थान समझना अयुक्तियुक्त मालूम होता है।

त्वचः सप्त, कलाः सप्त, आशयाः सप्त, धातवः सप्त, सप्त सिराशतानि, पञ्च पेशीशतानि, नव स्नायुशतानि, त्रीण्यस्थिशतानि, द्वे दशोत्तरे सन्धिशते, सप्तोत्तरं मर्मशतं, चतुर्विंशतिर्धमन्यः, त्रयो दोषाः, त्रयो मलाः, नव स्रोतांसि, (षोडश कण्डराः, षोडश जालानि, षट् कूर्चाः, चतस्रो रज्जवः, सप्त सेवन्यः, चतुर्दश सङ्घाताः, चतुर्दश सीमन्ताः, द्वाविंशतिर्योगवहानि स्रोतांसि, द्विकान्यन्त्राणि चेति समासः ॥५॥

(आभ्यन्तरीय अवयवों की संख्या—) त्वचाएँ सात, कलाएँ सात, आशय सात, धातु सात, सिराएँ सात सौ, पेशियाँ पाँच सौ, स्नायु नौ सौ, अस्थियाँ तीन सौ, संधियाँ दो सौ दस, मर्म एक सौ सात, धमनियाँ चौबीस, दोष तीन, मल तीन, स्रोतस् नौ, (कण्डराएँ सोलह, जालक सोलह, कूर्चस् छः, रज्जु चार, सेवनी सात, संघात चौदह, सीमन्त चौदह, योगवह स्रोतस बाईस और आँतें दो) इस प्रकार संक्षिप्त गणना है ॥५॥

वक्तव्य—पिछले सूत्र में गणना करने योग्य अवयवों के नाम देकर इस सूत्र में उनकी संख्या बताई गई है। द्विकान्त्राणि—स्थूल (Large) और क्षुद्र (Small) आन्त्र (Intestine)। आयुर्वेद में आन्त्र शब्द एकवचन और अनेक वचन में आता है। दो प्रकार का आन्त्र मालूम होने पर भी द्विवचन में प्रयुक्त नहीं होता है। अनेक वचन में जब आन्त्र का प्रयोग होता है, तब प्रायः दोनों प्रकार की आँतें उससे अभिप्रेत होती हैं, और जब एकवचन होता है तब क्षुद्रान्त्र या स्थूलान्त्र या आन्त्र का एक भाग (A portion) अभिप्रेत होता है। जैसे—अभिन्नं निष्क्रान्तं प्रवेश्यं नान्यथा भवेत्। (सुश्रुत, चि० २)।

विस्तारोऽत ऊर्ध्वं—त्वचोऽभिहिताः कलाः धातवो मला दोषा यकृत्प्लीहानौ फुप्फुस उण्डुको हृदयं वृक्कौ च ॥६॥

अब इसके पश्चात् (उन त्वचादि अवयवों का विस्तार(पूर्वक वर्णन किया जाता है—) त्वचा, कला, धातु, मल, दोष, यकृत्, प्लीहा, फुप्फुस, उण्डुक, हृदय और वृक्क इनका वर्णन हो चुका है ॥६॥

वक्तव्य—दोष, धातु और मल इनका विवरण सूत्रस्थान के १४, १५ और २१वें अध्याय में तथा वायु का विवरण निदान के प्रथम अध्याय में किया गया है। अवयवों का विवरण पिछले अध्याय में किया गया है, जिनका विवरण बहुत संक्षेप से हुआ है और टिप्पणी में विस्तार नहीं किया गया है, उनका विवरण यहाँ पर किया जाता है। यकृत्प्लीहानौ—आयुर्वेद में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो अवयवों का घनिष्ठ संबंध माना गया है और एक दृष्टि से यह ठीक भी है। इसलिए ये दोनों अवयव एक साथ द्विवचन में (जैसे, यहाँ पर हैं) या साथ साथ (जैसे, यकृच्च प्लीहा च चरक, शा० ७ । किंवा नाभियकृत्प्लीहान्त्रगुदप्रभृतीनि मातृजानि । सुश्रुत, शा० ३।) निर्दिष्ट किये जाते हैं। यकृत्—शरीर भर में यह सब से बड़ी ग्रंथि है। इसका औसत भार पौने दो सेर के लगभग होता है। शरीर भार के साथ इसका प्रमाण १ : : ४० होता है। गर्भावस्था में तथा नवजात बालक में यह ग्रंथि सापेक्षतया बहुत बड़ी होती है, जिससे शरीरभार के साथ इसका प्रमाण १ : : २० होता है। इसका रंग कुछ लालपन और भूरापन लिये काला (Dark reddish brown) होता है। इसके भार और रंग के कारण यकृत् 'कालखण्ड' कहलाता है। यकृत् उदरगुहा के ऊपर के भाग में महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm) के नीचे पसलियों की आड़ में रहता है। इसका अधिकांश दाहिनी ओर और कौड़ी प्रदेश में रहता है। शेष भाग दाईं ओर आमाशयिक प्रदेश में उसके सामने रहता है। यकृत् के ऊपर, परन्तु महाप्राचीरा पेशी से विभक्त, दाहिना फुफ्फुस और हृदय रहता है। स्वस्थावस्था में सब का सब यकृत् पसलियों की आड़ में रहता है। विकारों के कारण जब उसका आकार बढ़ता है, तब वह पसलियों के नीचे उतर आता है और स्पर्शलभ्य (Palpable) होता है। यकृत् के पाँच पृष्ठ (Surface) होते हैं। दाहिना, पार्श्विक, ऊपर का, पीछे का और सामने का। ये पृष्ठ कुछ उभरे हुए होते हैं तथा महाप्राचीरा पेशी से संबद्ध रहते हैं। नीचे का पृष्ठ उत्खात (Uneuen) और निम्नमध्य होता है। इसमें पाँच खात (गढहे Fossae) होते हैं। एक में पित्ताशय (Gall-bladder) होता है, एक में यकृत् का गोल बन्धन (Round ligament) होता है, एक में अधरा महासिरा होती है, एक में गर्भावस्था की नाभिनाड़ी का सूखा भाग (Ligamentum venosum) रहता है और एक में, जो यकृत् द्वार (Porta hepatis) कहलाता है, यकृत् की धमनी, सिरा, नाड़ियाँ (Nerves) और पित्तवाहिनी रहती हैं। यकृत् का यह पृष्ठ आमाशय, वृक्क, अधिवृक्क और ग्रहणी इन अंगों के साथ संबंधित रहता है। अतः उनके दबाव से यकृत् के इस पृष्ठभाग पर उनके निशान मिलते हैं। यकृत् में चार पिण्ड (Lobes) होते हैं। इनमें दक्षिणपिण्ड सब से मोटा, वाम पिण्ड उससे छोटा और दूसरे दो पिण्ड अत्यन्त छोटे होते हैं। यकृत् के कार्य—यकृत् शरीर का एक बहुत महत्त्व का अवयव है। इसके द्वारा शरीर में अनेक कार्य होते हैं, जिनमें निम्न महत्त्व के हैं। (१) रक्तोत्पत्ति—गर्भावस्था में यकृत् रक्तोत्पत्ति के लिए महत्त्व का अवयव होता है और इसी कारण से गर्भावस्था में उसका सापेक्ष तोल जन्मोत्तर काल की अपेक्षा दुगुना अधिक होता है। जन्म के पश्चात् यद्यपि रक्तोत्पत्ति में यकृत् साधारण स्थिति में भाग नहीं लेता तथापि आवश्यकता पड़ने पर वह कार्य भी यकृत् करता है। इसके सिवाय यह भी सिद्ध हुआ है कि जन्मोत्तर काल में उसमें रक्तोत्पत्ति के लिए आवश्यक एक पदार्थ संचित होता है। इसलिए सब प्रकार के रक्तक्षयों में, विशेष करके घातक (Pernicious) रक्तक्षय में, यकृत् सेवन फ़ायदेमन्द होता है। आयुर्वेद में यकृत् रक्तोत्पत्ति का स्थान माना गया है—स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति। (सूत्र १४)। तस्यां (मांसधरा कला) शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्प्लीह्नोश्च भवति। (शा० ४)। और उसी आधार पर उसका उपयोग रक्तपित्त में किया गया है—यकृद्वा भक्षयेदाजमामं पित्तसमायुतम्। (सुश्रुत, उत्तर ४५)। (२) जीवनीय द्रव्यसंचय—यकृत् में जीवनीय द्रव्यों (Vitamines) का भी संचय होता है। काड, हेलिबट मछलियों के यकृत् में इनकी राशि बहुत होती है जिसके कारण उनके यकृत् के तेलों में ये द्रव्य अधिक मात्रा में मिलते हैं। अन्य द्रव्यों की अपेक्षा 'ए' द्रव्य यकृत् में अधिक होता है। रतौंधी के जो अनेक कारण हैं, उनमें 'ए' जीवनीय द्रव्याभाव एक महत्त्व का कारण है। इस रोग में 'ए' द्रव्ययुक्त पदार्थ देने से आराम होता है। यह एक आश्चर्य की तथा संतोष की बात है कि आयुर्वेद में रतौंधी की चिकित्सा में यकृत् सेवन का उपदेश किया गया है—तथा यकृच्छागभवं हुताशने विपाच्य सम्यङ्मगधासमन्वितम्। प्रयोजितं पूर्ववदाश्वसंशयं जयेत् क्षपांध्यं सकृदञ्जनान्नृणाम्॥ प्लीहायकृच्चाप्युपभक्षिते उभे प्रकल्प्य शूल्ये घृततैलसंयुते। ते सार्पस्नेहसमायुतेऽञ्जनं नक्तान्ध्यमाश्वेव हतः प्रयोजिते॥ (सुश्रुत, उत्तर १७)। खादेच्च प्लीहयकृती माहिषे तैलसर्पिषा। (अष्टांगहृदय, उत्तर १४)। (३) पित्तोत्पत्ति—यकृत् में सततपित्त की उत्पत्ति रक्तगत द्रव्यों से होती रहती है। यह पित्त पाचकरस है, जो स्निग्ध पदार्थों के पाचन में अधिक उपयोगी होता है। (४) निर्विषीकरण (Detoxifying function)—आन्त्र से जो कुछ भी विषैले पदार्थ शरीर में शोषित होते हैं, वे यकृत् के द्वारा निर्विष किये जाते हैं। (५) रक्त का भाण्डार—यकृत् में रक्त की बहुत राशि हमेशा संचित रहती है और आवश्यकता पड़ने पर उसका उपयोग किया जाता है। आगे आशयों में भी देखो। (६) ग्लैकोजन का संचय और उत्पादन करना—शरीर को शक्ति पिष्टमय (Carbohydrates) पदार्थों से मिलती है। ये पदार्थ शरीर में ग्लैकोजन के रूप में संचित होते हैं और संचय तथा उत्पादन का कार्य यकृत् के द्वारा होता है। (७) प्रोटीन और स्निग्ध पदार्थों के पाचन, सात्म्यीकरण और उत्सर्जन इन कार्यों में भी यकृत् का बड़ा भारी भाग होता है। (८) कुछ तज्ज्ञों की यह राय है कि यकृत् अन्तःस्रावी ग्रंथि (Endocrine gland) भी है, जो अपने अन्तःस्राव (Internal secretion) से अन्य ग्रंथियों को अपने काम में सहायता करती है। इनके सिवा और भी कुछ कार्य यकृत् करता है। प्लीहा—यह अवयव उदरगुहा के बायें भाग के ऊपर के हिस्से में रीढ़ के पास आमाशय के पीछे और पसलियों की आड़ में रहता है। स्वस्थावस्था में यह अवयव स्पर्शलभ्य नहीं होता। इसके ऊपर महाप्राचीरा पेशी से विभक्त बायाँ फुफ्फुस होता है। इसका रंग बैंगनी होता है। इसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भार तीन छटाँक के लगभग होता है। इसकी लम्बाई ४–५ इंच होती है। इसके दो पृष्ठ होते हैं। एक पृष्ठ महाप्राचीरा के साथ संबंधित होता है, जो चिकना और उभरा हुआ रहता है। दूसरा आमाशय, वृक्क, स्थूलान्त्र के साथ संबंधित होता है, जिस पर इन अंगों के खात बनते हैं। वय और स्वास्थ्य या अस्वास्थ्य के अनुसार प्लीहा के परिमाण में बहुत फर्क मालूम होता है। नवजात बालक में प्लीहा के भार का उसके शरीर के भार से प्रमाण १ : : ३५० होता है। युवावस्था में भी सापेक्ष प्रमाण करीब करीब इतना ही रहता है। वृद्धावस्था में इसका भार शरीरक्षय के प्रमाण से अधिक कम होता है, जिससे उसका और शरीरभार का प्रमाण १ : : ७०० हो जाता है। भोजनपचन के समय इसका परिमाण बढ़ता है और भोजन का पचाव समाप्त होने पर यह अपने पूर्व परिमाण पर आ जाता है। पर्याप्त मात्रा में भोजन मिलने वालों की अपेक्षा अपर्याप्त मात्रा में भोजन मिलने वालों अर्थात् गरीबों की प्लीहा परिमाण में छोटी होती है। प्लीहा के कार्य—(१) रक्तोत्पत्ति—गर्भावस्था में यकृत् के साथ प्लीहा भी रक्तोत्पत्ति का काम करती है। पश्चात् साधारण अवस्था में प्लीहा से रक्तोत्पत्ति का कार्य नहीं होता, परन्तु तीव्रावस्था में यह कार्य भी प्लीहा कर सकती है। आयुर्वेद में यकृत् और प्लीहा, इसलिए, रंजक पित्त के स्थान माने गये हैं। (२) रक्तसंचय—प्लीहा में संकोच और विकास काफी और तुरन्त होता है और विकास के समय उसमें काफी रक्त का संचय होता है। विशेष विवरण आगे आशयों में भी होगा। (३) लाल कणों का नाश—जो लाल कण अपना काम करके दुर्बल हो गये हैं, उनका नाश करने का कार्य प्लीहा करती है। प्लीहा में प्रविष्ट हुए रक्त के लाल कणों में जो दुर्बल होते हैं वे वहाँ पर नष्ट होते हैं और केवल सबल कण बाहर आते हैं। संक्षेप में प्लीहा बैंक का काम करती है, जहाँ पर गये हुए रुपयों की ठीक जाँच होकर नकली रुपये तोड़ दिये जाते हैं और केवल असली रुपये बाहर आते हैं। (४) श्वेतकणों की उत्पत्ति—प्लीहा में श्वेतकणों की उत्पत्ति विशेष करके लिम्फोसाइट कणों की उत्पत्ति होती है। उण्डुक—आयुर्वेद में इसका वर्णन संक्षेप में निम्न प्रकार का मिलता है—हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते। उण्डुकस्थं विभजते मलं मलधरा कला ॥ (**सुश्रुत**)। उण्डुकः पोट्टलक इति लोके। चरके च पुरीषाधारशब्देनोण्डुकः प्रतिपादितः। (**डल्हण, सुश्रुत, शा० ४–१७**)। उण्डुको मलाधारः। (**इन्दु**)। इससे उण्डुक के स्वरूप का निर्णय करके आधुनिक परिभाषा में उसका पर्याय देना कठिन है। तथापि निम्न प्रमाणों पर उण्डुक को सीकम (Caecum) कह सकते हैं। (१) उण्डुक का स्वरूप पोटली के समान होता है। सीकम का अर्थ भी वही है और उसका स्वरूप भी वैसा ही है—The caecum, the commencement of the large intestine, is the large blind pouch situated below the colic valve. *Grey's Anatomy*. (२) मलधरा कला में उण्डुक का स्वतन्त्र उल्लेख किया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि मलविभजन का कार्य सम्पूर्ण पक्वाशय में होता है तथापि उण्डुक में विशेष होता है। आधुनिक खोज से भी यही सिद्ध हुआ है कि मलस्थित जल तथा अन्य पोषक द्रव्य का शोषण अधिकतर उण्डुक में ही हुआ करता है—During its passage along the large intestine these are absorbed and most absorption appears to occur in the caecum. *Halliburton's physiology*. उण्डुक एक थैली जैसा होता है। उसका बंद मुख अधिक चौड़ा होता है। उसके तंग तथा खुले मुख से एक छोटी पतली नली लगी रहती है। इसको उण्डुकपुच्छ या आन्त्रपुच्छ (Appendix) कहते हैं। इसी में कभी कभी शोथ या विद्रधि (Appendicitis) उत्पन्न हो जाती है। सीकम के साथ आरोही बृहदन्त्र (Ascending colon) लगा रहता है। हाराणचन्द्र उण्डुक का वर्णन निम्न प्रकार से करते हैं— उण्डुकस्तु स्थूलक्षुद्रान्त्रयोरायन्तसीमासन्निविष्टो मलोद्गमप्रतिबन्धनाऽनुलोमसन्निविष्टेन कपाटद्वितयेनानुविद्धः पार्श्वद्वितयेकद्वारा ... षडङ्गुलिमितयाऽनुभूतक्रियया नाड्या समेतः पुरीषविभाजको ... यन्त्रभेदः ॥ चरकसंहिता में उण्डुक शब्द नहीं मिलता।

आशयास्तु—वाताशयः, पित्ताशयः, श्लेष्माशयः, रक्ताशयः, आमाशयः, पक्वाशयो, मूत्राशयः, स्त्रीणां गर्भाशयोऽष्टम इति ॥७॥

(**आशय—**) आशय तो वाताशय, पित्ताशय, श्लेष्माशय, रक्ताशय, आमाशय, पक्वाशय, मूत्राशय और स्त्रियों का आठवाँ गर्भाशय हैं ॥७॥

वक्तव्य—आशयास्तु—इसका अभिप्राय यह है कि शरीर पारिभाषिक संज्ञाओं में आशय शब्दसामान्य ... है, वे ये सात शब्द हैं। इन आशयों की न आपस में भिन्नता की आवश्यकता है, न पूर्वोक्त अवयवों से भिन्न होने की आवश्यकता है। ऊपर चौथे सूत्र में जो संख्येय अवयव निर्दिष्ट किये हैं वे इस दृष्टि से नहीं दिये हैं कि एक बार निर्दिष्ट किया गया अवयव फिर दूसरी बार निर्दिष्ट न हो पावे। वहाँ पर शरीरस्थ अवयवों का वर्गीकरण ... सामान्य, शब्दसामान्य और स्वरूपसामान्य के आधार पर किया गया है। जिस अवयव में कार्यभिन्नता, स्वरूपभिन्नता और शब्दभिन्नता होती है, वह अवयव अनेक वर्णों में ... जाता है। जैसे, मर्मत्व के आधार पर किये हुए वर्ग में ... शरीर के सभी अवयव आ जाते हैं, जो पहले बताये चुके हैं। इसलिए वर्णन में पुनरुक्तिदोष मानना ... नहीं है। आशय—अधिष्ठान। वाताशय—शरीर में ... दो स्थानों में हो सकता है—फुफ्फुस—उदानवायु ... फुफ्फुसः प्रोच्यते बुधैः। (**शार्ङ्गधर**)। किंवा पक्वाशय— पक्वाशयो विशेषेण वातस्थानम्। (**चरक, सूत्र २०**)। ... से कोलन (Colon) समझना चाहिए। वायु का ... ऊपर उठने का होने के कारण वह पक्वाशय के ... (Transverse) विभाग में अधिक मिलता है। पित्ताशय ... ग्रन्थप्रामाण्य के अनुसार पित्ताशय आमाशय ... समझना चाहिए—तत्राप्यामाशयो विशेषेण पित्त...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(चरक)। यदि आधुनिक दृष्टियुक्त अर्थ से देखा जाय तो पित्ताशय से पित्ताशय (Gall bladder) युक्त यकृत् और अन्याशय (Pancreas) समझना चाहिए, क्योंकि पाचक पित्त जो अन्य प्रकारों से श्रेष्ठ माना गया है वह इन दो ग्रंथियों का उद्रेक होता है। श्लेष्माशय—श्लेष्मा का मुख्य स्थान उर माना गया है—तत्राप्युरोविशेषेण श्लेष्मस्थानम्। (चरक)। श्लेष्माशयः स्यादुरसि । (शार्ङ्गधर)। उर से उरःस्थित फुफ्फुस समझना उचित है। आयुर्वेद में कभी कभी उर शब्द फुफ्फुस के लिए भी प्रयुक्त होता है। रक्ताशय—इससे निम्न अवयव समझ सकते हैं। (१) यकृत् और प्लीहा आयुर्वेद में रक्त का स्थान माना गया है—शोणितस्य स्थानं यकृत्प्लीहानौ । (सुश्रुत, सूत्र २१)। आधुनिक दृष्टि से यदि देखा जाय तब भी यकृत् प्लीहा शरीरगत रक्त के भांडार (Blood depot या Reservoir) माने गये हैं—The reservoir function of the spleen plays a considerable role. As a result of various influences such as psychic disturbances, inhalation of carbon monoxide, haemorrhage, exercise etc, it is capable of contracting sufficiently to increase the circulating volume by 10 to 12 percent. Spleen can modify both the volume and quality of blood in a mechanical way. Bancroft has designated this as the reservoir function of the spleen. Contraction of the spleen to one half its normal size not only increases the total blood volume considerably but also augments red cell counts by 250,000 per c. mm. *Physiology in Health and Disease by Carl. j. Wiggers.* यकृत् के संबंध में भी ऐसी ही स्थिति (पीछे यकृत् का ८५वाँ कार्य देखो) होती है । संक्षेप में शरीर के भीतर यकृत् और प्लीहा के अतिरिक्त और कोई ऐसे अवयव नहीं हैं जहाँ पर रक्त संचित रहता है और जो आवश्यक समय पर शरीर को रक्त दे सकते हैं । इसलिए रक्ताशय से यकृत् प्लीहा समझना अधिक उचित है। (२) रस और रक्त का अभेद मानने से हृदय भी रक्ताशय माना जा सकता है—आहारस्य यः सारः स रस इत्युच्यते। तस्य च हृदयं स्थानम्॥ (सुश्रुत, सूत्र १४)। आशय में उस द्रव्य का अवस्थान कुछ काल तक होना ज़रूरी है। हृदय में रक्त क्षण-भर भी ठहरता नहीं है। इसलिए हृदय को रक्ताशय मानना उचित प्रतीत नहीं होता। (३) हाराणचन्द्र रक्ताशय से त्वचादि अवयव मानते हैं—'शोणितस्य स्थानं यकृत्प्लीहानौ' इति स्थितेऽपि रक्ताशयशब्देनेह त्वगादय एवाभिप्रेयन्ते पारिशेष्याद् 'रक्तस्याद्यः क्रमात् परे' इति तन्त्रान्तरीयाच्च। परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है। महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन प्रत्यक्षशारीर की प्रस्तावना (पृष्ठ ७०) में इन आशयों के संबंध में पुनरुक्तिदोष बताते हैं तथा रक्ताशय से हृदय मानते हैं—आशयपदार्थाऽज्ञानादन्याकुलीभावश्च प्रतिसंस्कर्तृकृतः प्रसङ्गाद् यथा, 'तस्य पुनः संख्यानम्' इत्याद्युपक्रम्य तत्रैव 'आशयास्तु—वाताशय... इति' पुनरुक्तौ । इह हि हृदयफुफ्फुसान्त्रादिभ्यः पृथङ् न सन्ति रक्ताशयश्लेष्माशयपक्वाशयाद्या आशयाः क्वचिदपि लभ्यमानवैद्यके, प्रत्यक्षदर्शने वेति नूनमर्थाऽज्ञानमूलोऽयं पृथङ्निर्देशः। यदि ऊपर बताये हुए दृष्टिकोण से आशयों की ओर देखा जाय तो पुनरुक्ति होने पर भी उसका दोष दूर होता है। यकृत् और प्लीहा के संबंध में ऊपर जो लभ्यमान वैद्यक ग्रंथों के उद्धरण दिये गये हैं, उनसे शरीर में हृदय के अतिरिक्त रक्त का आशय होता है यह भी सिद्ध है । इसलिए रक्ताशय से यकृत् प्लीहा मानने में न स्वतन्त्र विरोध है, न परतन्त्र विरोध है, न प्रत्यक्ष विरोध होता है । शार्ङ्गधर के आशय वर्णन की टीका में आढमल्ल स्पष्ट लिखते हैं—जीवरक्ताशय इति—जीवतुल्यं रक्तम्, तस्य आशयस्थानं तच्च प्लीहा इति प्रसिद्धं हृदयस्य वामभागाश्रितं भवति । आमाशय—आमानामन्नानामाशयः। जठर (Stomach) जहाँ पर सेवन किया हुआ अपक्व अन्न रहता है। आमाशय की ऊपर और नीचे की मर्यादाएँ इस प्रकार वर्णित हैं—नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय उदाहृतः॥ आमाशय की नीचे की मर्यादा नाभि से भी नीचे उसके स्थायी विस्तार (Dilatation) में होती है। पक्वाशय—जहाँ पर अन्न का पचन होता है, वह महास्रोत का भाग अर्थात् आन्त्र (Intestines)। इसमें स्थूल और क्षुद्र दोनों का समावेश होता है । पक्वाशय से साधारणतया स्थूलान्त्र का बोध होता है तथापि कई वार संदर्भ के अनुसार उससे दोनों आन्त्र अभिप्रेत होते हैं । यथा—परंतु पच्यमानस्य विदग्धस्याम्लभावतः। आशयाच्च्यवमानस्य पित्तमच्छमुदीर्यते ॥ पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना। परिपिण्डितपक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः। (चरक, चिकित्सा १५)। मूत्राशय—इसको बस्ति भी कहते हैं (Urinary bladder)। इसका विवरण निदान स्थान के तीसरे अध्याय में (प्रथम विभाग पृष्ठ ३३६–३३७ देखो) तथा छठे अध्याय के ३३वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। स्त्रीणाम्—स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा कुछ आशय अधिक होते हैं । यहाँ पर तथा अष्टांगहृदय और संग्रह में केवल गर्भाशय का उल्लेख है, परंतु शार्ङ्गधर में और दो स्तन्याशय बतलाये गये हैं—पुरुषेभ्योऽधिकाश्चान्ये नारीणामाशयास्त्रयः । धरागर्भाशयः प्रोक्तः स्तनौ स्तन्याशयौ मतौ॥ शार्ङ्गधर का यह कथन भी ठीक है । स्तन पुरुष और स्त्री दोनों में होने के कारण उनका उल्लेख सुश्रुत में नहीं किया होगा। परंतु पुरुषों में स्तन होने पर भी वे स्तन्याशय नहीं हो सकते केवल स्त्रियों के स्तनों में स्तन्याशय में परिवर्तित होने की शक्ति होती है। पुरुषों के स्तन आखिर तक बाल्यावस्था में (Rudimentary) ही रहते हैं । स्त्रियों के स्तन यौवन में पदार्पण करने के समय बढ़ते हैं । जब स्त्री गर्भवती होती है, तब स्तन और भी बढ़ जाते हैं। यह वृद्धि दुग्धग्रंथियों और स्रोतसों के बढ़ने से होती है और इसी अवस्था में ये स्तन्याशय कहे जाते हैं। स्तन्याशय छाती पर दोनों तरफ दो होते हैं । ये छाती की पेशियों पर होते हैं। आकार में ये कुछ अर्धगोलाकार होते हैं। ये दूसरी पसली से छठी पसली तक और उरःफलक के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किनारे से कक्षामध्य रेखा तक फैले रहते हैं। इनके मध्य में एक उभार होता है, जो चूचुक या स्तनवृन्त (Nipple) कहलाता है। इसमें दुग्धस्रोतों के कई छिद्र होते हैं (आगे नौवें सूत्र में देखो), जिनमें से चूसने पर दूध बाहर निकलता है। चूचुक के चारों ओर गहरे रंग का एक घेरा होता है, जो स्तनमण्डल (Areola) कहलाता है। गर्भाशय और स्तन्याशयों का बड़ा भारी संबंध होता है। इसलिए गर्भ का आधान होने पर उनके आकार और स्वरूप में फर्क होने लगता है। इसका विवरण तीसरे अध्याय के १५वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। शिशु को दूध पिलाने के समय में स्तन्याशय काफी बड़े हो जाते हैं। प्रजोत्पादन बंद होने पर ये कुछ सिकुड़ जाते हैं। स्तनों में दुग्धोत्पत्ति की प्रक्रिया का विचार स्तनरोगनिदान (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३७४, ३७५) में तथा आगे १०वें अध्याय के १३वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। गर्भाशय—शरीर का वह अवयव, जिसमें गर्भ आश्रय करता है (Uterus)। इसके स्वरूप का वर्णन इसी अध्याय के अन्त में किया गया है। यहाँ पर केवल उसके स्थान का कुछ विवरण किया जाता है। गर्भाशय श्रोणिगुहागत अवयव है। कुमारी में इसकी लम्बाई तीन इंच, चौड़ाई दो इंच और मोटाई एक इंच के लगभग होती है। प्रजाता स्त्रियों में इसका आकार कुछ बड़ा हो जाता है। इसका नीचे का भाग योनि से जुड़ा रहता है, जिसमें एक छिद्र होता है और उसी से आर्तव प्रत्येक महीने में बाहर आता है। यह छिद्र गर्भाशयमुख (Os-uteri) में होता है और इसी का उल्लेख आगे नौवें सूत्र में 'रक्तवह' स्रोत करके किया गया है। इसके दोनों तरफ दो चौड़े बंधन (Broad ligaments) होते हैं, जिनमें बीजकोष (Ovary) और ऊपर बीजवाहिनियाँ (Fallopian tube) होती हैं। गर्भाशय के सामने मूत्राशय और पीछे पक्वाशय का अन्तिम हिस्सा उत्तरगुद या मलाशय होता है। इसका विचार आगे ५९वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है।

सार्धत्रिव्यामान्यन्त्राणि पुंसां, स्त्रीणामर्धव्यामहीनानि ॥८॥

(आन्त्र की लम्बाई—) पुरुषों की आँतें साढ़े तीन व्याम और स्त्रियों की आधा व्याम कम (लम्बी) होती हैं ॥८॥

वक्तव्य—व्याम—व्यामः बाह्वोः सकरयोस्ततयोस्तिर्यगन्तरम् ॥ (अमरकोश)। दोनों हाथ दोनों कन्धों की रेखा में शरीर से दूर फैलाने पर जो अन्तर होता है, वह। यदि सूत्रस्थान के ३५वें अध्याय में (प्रथम खण्ड पृष्ठ १९४) बताये हुए प्रमाण पुरुष (Standard) के अनुसार व्याम की लम्बाई अँगुलियों में देखी जाय तो वह १३० अँगुलियाँ होती हैं। आधुनिक नाप के अनुसार यह लम्बाई ७ फुट के करीब होती है। इससे पुरुष में आँतें २४॥ फुट लंबी और स्त्रियों में २१ फुट लम्बी होंगी। आधुनिक काल में आन्त्र की लम्बाई का प्रमाण निम्न प्रकार का दिया गया है।

क्षुद्रान्त्र की औसत लम्बाई साढ़े बाईस होती है। इ... अधिक से अधिक लम्बाई बत्तीस फुट और कम से ... साढ़े पन्द्रह फुट होती है। स्थूलान्त्र की लम्बाई पाँच ... होती है। इसमें बहुत फर्क नहीं होता है। ट्रीवज् ना... शास्त्रज्ञ ने सौ शवों की आँतों का नाप करके यह ... निकाली है। उसका कथन है कि जवानी प्राप्त होने ... पश्चात् मनुष्य की आँत की लम्बाई उसका आयाम, ... और आयु के निरपेक्ष होती है। स्त्रियों के आन्त्रायाम ... संबंध में आधुनिक शल्यविदों का वचन प्राचीनों के ... है। ट्रीवज् का कथन है कि स्त्रियों में छोटी आँत पुरुषों ... अपेक्षा एक फुट अधिक लम्बी होती है। अर्थात् सम्पूर्ण ... पुरुष की अपेक्षा कदापि कम नहीं होगी, परंतु ... होगी। यह भूल कैसे हुई? इसके दो कारण हो सकते ... (१) प्रत्यक्ष प्रमाण—एक स्त्री की आँत एक पुरुष की ... की अपेक्षा कम हो सकती है। यदि संयोगवश ... ही स्त्री-पुरुष की आँत देखी गई होगी तो यह ... सकती है। (२) अनुमान प्रमाण—स्त्रियों के शरीर के ... मस्तिष्कादि सभी अंग पुरुषशरीरगत अंगों की अपेक्षा ... भारादि में कम होते हैं; यह प्रत्यक्ष है। अतः ... आँत भी पुरुष की अपेक्षा लम्बाई में कम होगी, इस ... के आधार पर यह वचन लिखा होगा।

श्रवणनयनवदनघ्राणगुदमेढ्राणि नव स्रोत... नराणां बहिर्मुखानि, एतान्येव स्त्रीणामपराणि... त्रीणि द्वे स्तनयोरधस्ताद्रक्तवहं च ॥९॥

(शरीर के द्वार—) (दो) कान, (दो) आँखें, ... (दो) नाक, गुद और शिश्न ये पुरुषों के बहिर्मुख नौ ... होते हैं। ये ही स्त्रियों के भी (होते हैं परंतु उनमें) ... भी तीन होते हैं, दो स्तनों में और एक नीचे आर्तवव...

वक्तव्य—घ्राण—दो नासापुट या नासाद्वार। ... गुदद्वार (Anus)। मेढ्र—पौरुषदर्शक शिश्नवाचक ... यह शब्द नहीं है। इससे मूत्रद्वार अभिप्रेत है, क्योंकि ... स्रोतस स्त्रियों में भी बतलाया गया है। पुरुषों में इ... से शुक्र बाहर आता है, इसलिए शुक्रवह स्रोतस का ... उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं रही। द्वे स्तनयोः— ... में जो चूचुक होते हैं, उनमें दुग्धस्रोतों के द्वार ... उनका उल्लेख यहाँ किया गया है। आर्तववह— ... गर्भाशयमुख से बाहर आता है। इसलिए आर्तववह ... से गर्भाशयद्वार (Externatos) समझना चाहिए। ... में आर्तववहन और मूत्रवहन स्वतन्त्र मार्गों से हो... इसलिए आर्तववह स्रोतस का स्वतन्त्र उल्लेख क... आवश्यकता रही। स्रोतस—यह शब्द यहाँ पर नाली ... न होकर मुख, द्वार या छिद्रवाचक है। शरीर ... त्वचा में जो स्वाभाविक बड़े द्वार होते हैं, वे ... अभिप्रेत हैं। बहिर्मुखानि—यदि यहाँ पर द्वार ... प्रयोग होता तो बहिर्मुख शब्द का प्रयोग करने ... आवश्यकता नहीं रहती। शरीर में और भी अनेक ... स्रोतस होते हैं, जिनका स्वरूप नालीदार और जो ...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तर्गत होते हैं। उन स्रोतसों से (९ अध्याय का ...वाँ सूत्र देखो) पार्थक्य करने के लिए बहिर्मुख शब्द का प्रयोग किया है। नव—पुरुषों के शरीर में नौ और स्त्रियों के शरीर में बारह द्वार होते हैं। संसार में आधी स्त्रियाँ और आधे पुरुष होते हैं। यह सब कुछ होते हुए भी साहित्यनिर्माण पुरुषों के हाथों में होने के कारण मनुष्य-शरीर नवद्वारयुक्त वर्णन करने की प्रथा पड़ गई है—सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी। नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥ (भगवद्गीता ५-१३)। मनो नवद्वारनिषिद्धवृत्ति हृदि व्यवस्थाप्य समाधिवश्यम्। यमक्षरं क्षेत्रविदो विदुस्तमात्मानमात्मन्यवलोकयन्तम्॥ (कुमारसंभव ३-५०)। आगे ...वें सूत्र के वक्तव्य में 'पुरुष' की टिप्पणी देखो।

षोडश कण्डराः—तासां चतस्रः पादयोः, तावत्यो हस्तग्रीवापृष्ठेषु; तत्र हस्तपादगतानां कण्डराणां नखाः (अग्र)प्ररोहाः, ग्रीवाहृदयनिबन्धिनीनामधोभागगतानां मेढ्रं, श्रोणिपृष्ठनिबन्धिनीनामधोभागगतानां बिम्बं, मूर्धोरुवक्षोंऽसपिण्डादीनां च॥१०॥

(कण्डरा और उनके प्ररोह—) सोलह कण्डराएँ हैं। इनमें से चार पैरों में और उतनी ही हाथ, ग्रीवा और पीठ में। हाथों और पैरों में स्थित कण्डराओं के प्ररोह नख होते हैं। ग्रीवा और हृदय को बाँधने वाली कण्डराओं के नीचे की ओर गये हुए प्रांत का प्ररोह मेढ़ है। श्रोणी और पृष्ठ को बाँधने वाली कण्डराओं के नीचे की ओर गये हुए प्रांत का प्ररोह बिम्ब है। (इन कण्डराओं के ऊपर गये हुए प्रांत के प्ररोह) मस्तक, ऊरु, वक्ष और अंसपिण्ड हैं॥१०॥

वक्तव्य—कण्डरा—महत्यः स्नायवः प्रोक्ताः कण्डरास्तास्तु षोडश। (भावप्रकाश)। (Tendons)। षोडश—एक एक पैर में दो, एक एक हाथ में दो, पीठ में चार और ग्रीवा में चार। प्ररोह—अग्रप्ररोह, अन्तिम भाग जिससे वे चिपट जाते हैं। नखाः प्ररोहाः—नखों का प्रांत, जिसमें ये संश्लिष्ट (Insert) होते हैं। संक्षेप में इसका तात्पर्य यह है कि हाथों और पैरों के कण्डराओं का नीचे का निवेश (Insertion) नखों के पास होता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि इन कण्डराओं के अन्तिम भाग से नख उत्पन्न होते हैं। मेढ्रम्—शिश्नवाचक यह शब्द नहीं है, जननेन्द्रियवाचक है, जिसका अर्थ है प्रदेश (Pubic region); ग्रीवादि स्थानों की कण्डराओं का निवेश गुह्य प्रदेश में होता है। बिम्बम्—श्रोणिबिम्बम्। इसी को श्रोणिचक्र (Pelvis) भी कहते हैं। हाराणचन्द्र 'बिम्बं' के बदले बिम्बः, ऐसा पाठ लेकर इसका अर्थ सच्छिद्र त्रिकास्थि करते हैं। श्रोणी और पीठ की कण्डराओं का निवेश श्रोणिचक्र में होता है। मूर्धोरुवक्षोंऽसपिण्डादि—इस अन्तिम वाक्य का अर्थ ठीक से नहीं निकलता है। हाराणचन्द्र इसका पाठ निम्न प्रकार से लेते हैं—ऊरुवक्षोऽक्षपिण्डादिगतानां च मूर्धा। यह पाठभेद अनुचित मालूम होता है। इसलिए कि इस सूत्र में हाथ, पैर, ग्रीवा और पीठ इनकी कण्डराओं का वर्णन हो रहा है, छाती और नेत्रपिण्ड इनकी कण्डराओं का नहीं हो रहा है। डल्हणाचार्यसंमत पाठ (वही ऊपर दिया है) और उन्हीं का दूरान्वय करके किया हुआ अर्थ कुछ ठीक मालूम होता है और उन्हीं के अनुसार ऊपर अनुवाद किया है। डल्हणाचार्य लिखते हैं—मूर्धोरुवक्षोंऽसपिण्डादीनां चेति पूर्ववाक्यात् बिम्बमनुवर्तते, तेन मस्तकस्य यद् बिम्बं मण्डलं तद्ग्रीवाश्रितानां प्रागुक्तानामेव चतसृणामुपरि गतानां कण्डराणामग्रप्ररोहः। तथा पादगतानां चतसृणामुपरिगतानामूरुमण्डलमग्रप्ररोहः। तथा पृष्ठगतानां चतसृणां कण्डराणामुपरिगतानां वक्षोमण्डलम्। आदिशब्दगृहीतस्य स्तनस्य च मण्डलमग्रप्ररोहः। हस्तगतानां चतसृणामुपरिगतानामंसपिण्डौ बाहुशिरोऽग्रप्ररोह इति। इसका तात्पर्य यह है कि ग्रीवाश्रित कण्डराओं का उपरिगत प्ररोह मस्तक है। हाथों की कण्डराओं का उपरिगत प्ररोह बाहुशिर है। पैरों की कण्डराओं का उपरिगत प्ररोह ऊरुमण्डल (श्रोणिमण्डल) है। पृष्ठाश्रित कण्डराओं का उपरिगत प्ररोह वक्षमण्डल है। उपरिगत प्ररोह से उद्गम (Origin) समझ सकते हैं।

मांससिरास्नाय्वस्थिजालानि प्रत्येकं चत्वारि चत्वारि, तानि मणिबन्धगुल्फसंश्रितानि परस्परनिबद्धानि परस्परसंश्लिष्टानि परस्परगवाक्षितानि चेति, यैर्गवाक्षितमिदं शरीरम्॥११॥

(जाल—) मांस, सिराएँ, स्नायु और अस्थियाँ इनके प्रत्येक के जाल चार चार हैं। ये मणिबन्ध और गुल्फ (टखना) में आश्रित हैं और परस्पर बँधे हुए, परस्पर जुड़े हुए और परस्पर गवाक्षित हैं। इन्हीं से यह (समस्त) शरीर गवाक्षित हुआ है॥११॥

वक्तव्य—मणिबंध—मणिर्बध्यतेऽत्र मणिबंधः। जहाँ पर मणि या घड़ी या चूड़ी या वलय पहना जाता है, वह भाग। कलाई, पहुँचा wrist, अनभिलुलितज्याघाताङ्कं मुहुर्मणिबंधनात् कनकवलयं स्रस्तं स्रस्तं मया प्रतिसार्यते॥ (शाकुन्तल ३)। परस्परगवाक्षितानि—ये मांस, सिराएँ, स्नायु और अस्थियाँ आपस में इस तरह अनुप्रविष्ट होती हैं कि जहाँ पर इनका संयोग होता है, वह स्थान छिद्रित हो जाता है। गवाक्षितमिदं शरीरम्—इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि दो मणिबंध और दो टखने जालों के स्थान बताये गये हैं तथापि संपूर्ण शरीर जाल के समान होता है क्योंकि सिरा स्नाय्वादि अंग आपस में हमेशा इस तरह अनुप्रविष्ट होते हैं कि वह स्थान जालीदार हो जाता है।

षट् कूर्चाः, ते हस्तपादग्रीवामेढ्रेषु; हस्तयोर्द्वौ, पादयोर्द्वौ, ग्रीवामेढ्रयोरेकैकः॥१२॥

(कूर्चा—) छः कूर्च हैं। ये हाथ, पैर, ग्रीवा और मेढ़ में हैं; हाथ में दो, पाँव में दो, ग्रीवा में एक और मेढ़ में एक॥१२॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वक्तव्य—कूर्चा—पेशी, स्नायु, धमनी या सिरा इनका सन्निपात जो कूँचे (Brush) के समान दिखाई देता है। कूर्चा नाम स्नायुधमनीसन्निपातास्तेष्वेकैकाः स्नायुसन्निपाताः पञ्चसु ग्रीवाकक्षावङ्क्षणभागेष्वेकश्च धमनीसन्निपातो मेढ्रे दृश्यत इत्युच्यते षडिति। (हाराणचंद्र)।

महत्यो मांसरज्जवश्चतस्त्रः—पृष्ठवंशमुभयतः पेशीनिबन्धनार्थं द्वे बाह्ये, आभ्यन्तरे च द्वे ॥१३॥

(मांसरज्जु—) बड़ी मांसरज्जुएँ चार हैं—पृष्ठवंश के दोनों ओर पेशियों को बाँधने के लिए दो भीतर और दो बाहर ॥१३॥

वक्तव्य—मांसरज्जु—रज्जुसम जिनमें तन्तुओं की रचना हो, वे मांसरज्जु हैं। इस प्रकार के मांसरज्जु पृष्ठवंश के दोनों तरफ Longissimus, spinalis और Ilio-costalis इन पेशियों की रचना में दिखाई देते हैं।

सप्त सेवन्यः[1]; शिरसि विभक्ताः पञ्च, जिह्वा-शेफसोरेकैका; ताः परिहर्तव्याः शस्त्रेण ॥१४॥

(सेवनी—) सात सीवन हैं; सिर में पाँच अलग अलग और जिह्वा तथा शिश्न (के निचले भाग) में एक एक; (शस्त्रकर्म के समय) शस्त्र से उनको बचाना चाहिए ॥१४॥

वक्तव्य—सीवन—सिलाई के द्वारा मिलाये हुए भाग के समान जो रचना होती है, वह सीवन कहलाती है। सीवन त्वचा, श्लेष्मल त्वचा और अस्थियाँ इनमें मिलती हैं। शिश्न की सेवनी त्वचा की, जिह्वा की श्लेष्मल त्वचा की और सिर की अस्थियों की है। अंग्रेज़ी में त्वचा तथा श्लेष्मल त्वचा की सेवनी को र्‍याफी या रिज (Raphe or Ridge) कहते हैं; और अस्थियों की सीवन को सूचर (Suture) कहते हैं। जिह्वासेवनी—यह सेवनी जिह्वा के अधस्तल पर उसके अग्र से मूल तक होती है। यह सेवनी फ्रेन्यूलम लिंग्वी (Frenulum lingvœ) कहलाती है। शेफससेवनी—वास्तव में यह सेवनी शिश्न पर नहीं होती। इसका प्रारंभ शिश्न के नीचे उसके मूल से होता है और वृषणकोष पर से होकर गुदद्वार तक चली जाती है। फिर गुदद्वार के उस पार से वह अनुत्रिक (Coccyx) के अग्र तक पहुँचकर वहाँ पर समाप्त होती है। गुदद्वार तक का पूर्वभाग वृषण सीवनी (Raphe of the Scrotum) और पीछे का भाग गुदानुत्रिक सेवनी (Ano-coccygeal raphe) कहलाता है। सिरःसीवनी—ये सीवन कपालास्थियों के संयोग पर होती हैं। यदि संपूर्ण कपालास्थियों के संयोगों का विचार किया जाय तो सीवनों की संख्या बहुत अधिक होगी। यहाँ पर केवल पाँच संख्या बताई है। इससे यह मालूम होता है कि करोटी (Skull) हाथ में लेने पर उसके ऊपर के भाग (Roof) पर जो सीवनें साफ साफ दिखाई देती है, वही यहाँ पर निर्दिष्ट हैं। ये सीवनें पाँच ही होती हैं। (१) गूढसीवनी (Frontal या Metopic Suture)—यह सीवनी पुरःकपाल के मध्य में बचपन में मिलती और आगे चलकर नष्ट होती है, पर कभी कभी यह जिन्दगी भर कायम रहती है। (२) पुरःसीवनी (Coronal suture)—यह सीवनी पुरःकपाल और पार्श्वकपालों के बीच में होती है। (३) पश्चिम सीवनी (Lamboid suture)—यह सेवनी पश्चिम कपाल और पार्श्वकपालों के बीच में होती है। (४) मध्यसीवनी (Sagittal suture)—यह सीवनी दो पार्श्वकपालों के बीच में सिर के मध्य में गूढसीवनी की रेखा में होती है। (५) पार्श्वसीवनी (Temporal या squamosal suture)—यह सेवनी पुरः, पार्श्व और पश्चिम कपालों के नीचे अस्थियों के संयोग स्थान पर होती है। अस्थियों की सीवनी को सीमन्त भी कहते हैं। आगे १९वें सूत्र में देखो। सिर के सीमन्त या सीवनी बाहर से नहीं दिखाई देती। सीमन्तः सीवन्यश्च बहिस्त्वचः शिरसि न दृश्यन्ते। (इन्दु)।

चतुर्दशास्थ्नां संघाताः; तेषां त्रयो गुल्फजानुवङ्क्षणेषु, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ, त्रिकशिरसोरेकैकः ॥१५॥

(संघात—) हड्डियों के संघ चौदह हैं। इनमें टखना, जानु और वङ्क्षण में तीन; इससे दूसरे पैर और (दोनों हाथों) का भी व्याख्यान हो गया। त्रिक में एक और शिर पर एक ॥१५॥

वक्तव्य—संघात—प्रायः दो से अधिक अस्थियों के संमेलन को संघात कहते हैं। गुल्फ—इसमें गुल्फ तथा उसकी समीपवर्ती हड्डियाँ आती हैं। इसमें हड्डियाँ पैर की कमान (Tarsal) की और २ जंघा की, इस प्रकार ९ हड्डियाँ होती हैं। जानु—इसमें जंघा की ऊरु की एक और जानुकपाल एक, इस प्रकार हड्डियाँ होती हैं। वंक्षण—इसमें ऊरु की एक और श्रोणिफलक की तीन, इस तरह चार हड्डियाँ होती हैं। मणिबन्ध—इसमें पहुँचे की आठ (Carpal bones) और अग्रबाहु की दो, इस प्रकार दस हड्डियाँ होती हैं। कूर्पर—इसमें अग्रबाहु की दो और बाहु की एक, इस प्रकार हड्डियाँ होती हैं। कक्षा—इसमें सिर्फ दो होती हैं। त्रिक (Sacrum)—यह अस्थि पृष्ठवंश के नीचे होती है। यह अस्थि पाँच मोहरों के आपस में जुड़ जाने से बनती है, अर्थात् त्रिक में पाँच हड्डियाँ होती हैं। शिर—इसमें हड्डियाँ होती हैं। आगे ३३वें श्लोक का वक्तव्य देखो।

चतुर्दशैव सीमन्ताः; ते चास्थिसङ्घातवद्गणनीयाः, यतस्तैर्युक्ता अस्थिसङ्घाताः; ये ह्युक्ताः सीमन्तास्तु खल्वष्टादशैकेषाम् ॥१६॥

(सीमन्त—) सीमन्त भी चौदह हैं। उनको भी संघात के समान ही गिनना चाहिए, क्योंकि जो संघात अभी कहे हैं, उन्हीं से युक्त (सीमन्त) होते हैं। कई आचार्यों के मत से सीमन्त अठारह होते हैं ॥१६॥

वक्तव्य—सीमन्त—संघाताः सीविता यैस्तु सीमन्तान् प्रचक्ष्महे ॥ (भोज)। सीवन और सीमन्त एक

---

१ सीवन्यः.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिवायाः—सीमन्ताद् द्विगुणा नव । (अष्टांगहृदय) । तद्वत् सीमन्ताः । ते तु पञ्च शिरसि इत्यष्टादश । (अष्टांगसंग्रह)। इसका अभिप्राय यह है कि सिर के एक संघात के बदले पाँच सीमन्त लेकर बाकी तेरह संघात पहले की तरह लेना—सीमन्ताः पञ्च मूर्ध्नि स्युर्गुल्फादिष्वस्थिसंघवत् ॥ (अरुणदत्त टीका)। डल्हणाचार्य 'यतस्तैर्युक्ता अस्थिसंघाताः, ये ह्युक्ताः संघातास्ते खल्वष्टादशैकेषाम् ।' इस पाठ को देकर उसका अर्थ निम्न प्रकार से करते हैं—परमतमाह—ये ह्युक्ता इत्यादि । एकेषामाचार्याणां मते संघाता अष्टादश; यद्यथा—पूर्वोक्ताश्चतुर्दश, श्रोणिकाण्डसुपर्येकः, वक्ष ऽपर्येकः, उदरोरःसंधाने एकः, अंसद्वयपर्येकः, एवमष्टादश ॥

त्रीणि सषष्टीन्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते; शल्यतन्त्रे तु त्रीण्येव शतानि । तेषां सविंशमस्थिशतं शाखासु, सप्तदशोत्तरं शतं श्रोणिपार्श्वपृष्ठोरःसु, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं त्रिषष्टिः, एवमस्थ्नां त्रीणि शतानि पूर्यन्ते ॥१७॥

(अस्थि और उनकी संख्या—) वेदवादी (मुनि-शरीर में) ३६० हड्डियाँ (होती हैं ऐसा) कहते हैं, परंतु शल्यतन्त्र में केवल ३०० (हड्डियाँ होती हैं)। इनमें से शाखाओं में १२०; श्रोणी, पार्श्व, पृष्ठ और छाती, इनमें ११७; ग्रीवा से ऊपर ६३; इस प्रकार हड्डियों के तीन सौ पूरे होते हैं ॥१७॥

वक्तव्य—वेदवादिनः—वेद का अनुवाद करने वाले। अथर्ववेद में अस्थियों की संख्या ३६० बताई है—द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत । तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये ॥ (१०–८–४)। इसके अनुसार याज्ञवल्क्य अपनी स्मृति में यही संख्या देते हैं—तस्य षोढा शरीराणि षट् त्वचो धारयन्ति च । षडङ्गानि, तथास्थ्नां च सह षष्ट्या शतत्रयम् ॥ (३–८४)। त्रीणि सषष्टीनि शतान्यस्थ्नां सह दन्तोलूखलनखेन । (चरक, शा० ७)। त्रीणि षष्ट्यधिकान्यस्थिशतानि। (अष्टांगसंग्रह)। काश्यपसंहिता के शरीरविचयशारीराध्याय में प्रत्यंगों की हड्डियों की जो संख्या बताई गई है, वह ठीक ठीक चरक के साथ मिलती है, अर्थात् उसके अनुसार भी हड्डियों की संख्या ३६० होती है। शल्यतन्त्रे—सुश्रुतसंहिता में। सुश्रुत का अनुवाद भेलसंहिता में भी किया गया है। आधुनिक पाश्चात्त्य शल्यचिकित्सकों के अनुसार शरीर में अस्थियों की संख्या कान की अस्थियों को छोड़कर दो सौ और उनके साथ दो सौ छः होती है। इस मतभेद के निम्न कारण हो सकते हैं। (१) अस्थि के साथ किसी प्रकार से न मिलने वाले पदार्थों को हड्डी में गिनना। जैसे—नख। नखों का समावेश अस्थि में चरक में किया गया है, सुश्रुत में नहीं। (२) अस्थि के साथ मिलने वाले पदार्थों को, परंतु जो वास्तव में अस्थि नहीं है, अस्थि में गिनना। जैसे—तरुणास्थि (Cortilage) और दाँत। आधुनिक काल में सूक्ष्मदर्शक (आगे २२वें सूत्र का वक्तव्य देखो) द्वारा प्रत्येक वस्तु की सूक्ष्म रचना का ज्ञान होने पर ये दोनों चीजें अस्थि से पृथक् सिद्ध हुई हैं। पचास साल पहले पाश्चात्त्य शल्यशास्त्रज्ञ भी दाँतों को अस्थियों में गिना करते थे। (३) जिनका वास्तव में स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, उनका अस्तित्व मानना। जैसे—दाँतों के उलूखल (Sockets)। ये चरक के अनुसार स्वतन्त्र माने गये हैं, सुश्रुत में नहीं। (४) जो अस्थियाँ वास्तव में हैं नहीं, उनको भी गिनना अर्थात् काल्पनिक परिगणना। जैसे—पसलियों की संख्या प्रत्येक पार्श्व में ३६ बताई है और उनकी गणना १२ पसलियाँ, बारह अर्बुद और बारह स्थालक इस प्रकार की गई है—पार्श्वे षट्त्रिंशदेवमेकस्मिन्। (सुश्रुत)। इसका विवरण चरक में इस प्रकार है—द्वयोः पार्श्वयोश्चतुर्विंशतिः पर्शुकाः, तावन्ति स्थालकानि, तावन्ति चैव स्थालकार्बुदानि। (शारीर ७)। यहाँ पर प्रत्येक पसली के तीन भाग माने गये हैं—पसली, स्थालक और अर्बुद। इनमें अर्बुद पसली का ही भाग है, उसे पसली से अलग गिनने की आवश्यकता नहीं है। स्थालक कशेरुका (Vertebra) का भाग है, जिसे पसलियों में गिनना उचित नहीं। परंतु यदि सुभीते के लिए या अपनी विशेष गणनापद्धति के अनुसार इनको अलग भी गिना जाय तथापि अन्तिम दो पसलियों के लिए न अर्बुद होते हैं, न स्थालक। इसलिए प्राचीन गणनापद्धति के अनुसार भी पार्श्व-अस्थियों की संख्या ७२ न होकर ६४ होगी। (५) अस्थियों के उभारों को पृथक् पृथक् अस्थि मानना। जैसे, ऊपर के पसलियों के उभार; इसके सिवा पीठ की कशेरुकाओं के प्रवर्धन (Transverse process)। वास्तव में ये स्वतन्त्र न होकर एक होते हैं। (६) गणीकरण (Generalization) की पद्धति। जैसे, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ। एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि तानि पञ्चदश। इससे यद्यपि अस्थियों की संख्या में फर्क नहीं पड़ता तथापि वास्तविक संख्या का ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता। जैसे, पादकूर्चास्थियों की (Tarsal bones) संख्या करकूर्चास्थियों (Carpal bones) से वास्तव में भिन्न है, परंतु इस गणीकरणपद्धति से वह एक हो जाती है। प्रत्येक अंगुलि में तीन हड्डियाँ और अँगूठे में केवल दो ही होती हैं। परंतु अंगुलियों का एक गण करने के कारण उनकी कुल संख्या चौदह के बदले पंद्रह हो जाती है। (७) अस्थियों के ऊपर के निशान देखकर उसके अनुसार एक एक अस्थि की कई अस्थियाँ मानना—जैसे, वक्षोस्थि और श्रोण्यस्थि। (८) गणना करने की पद्धति में भेद होने के कारण एक ही अंग की हड्डियों की संख्या भिन्न भिन्न होती है। जैसे, सुश्रुत में पीठ की अस्थियों की संख्या ३० और चरक में ४५ बतलाई है। वैसे ही सुश्रुत में सिर की अस्थियों की संख्या ४ और सुश्रुत में ६ बताई गई है। (९) उत्तरकालीन शारीरज्ञानाभाव—शवविच्छेद की प्रथा बंद होने के पश्चात् शारीर का प्रत्यक्ष ज्ञान मिलने का मार्ग बंद हो गया। इसलिए उत्तरकालीन ग्रंथकार, टीकाकार तथा पुराने ग्रंथों के लेखक शारीर के संबंध में अनुमान से

१ षष्ट्यधिकानि.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक काम लेने लगे। इसका परिणाम यद्यपि अस्थियों की कुल संख्या पर नहीं हुआ तथापि भिन्न भिन्न अंगों की अस्थिसंख्या पर जरूर हुआ, जिससे 'एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि इति पञ्चदश' इस प्रकार के प्रमाद या विकृत पाठ-भेद ग्रंथ में प्रविष्ट हो गये। मतभिन्नता के इतने कारण होने पर भी अनस्थियों को अस्थियों में गिनना और अस्थियों के उभारों की स्वतन्त्र परिगणना करना ये ही अस्थिसंख्या-भिन्नता के मुख्य दो कारण हैं। आयुभिन्नता भी एक कारण माना जाता है। इसका विचार आगे ६९वें सूत्र के वक्तव्य के 'पुरुष' की टिप्पणी में किया गया है, उसे देखो। शाखासु—दो ऊर्ध्व और दो अधोशाखाओं की संख्या एक सौ बीस है। यह संख्या आधुनिक संख्या के साथ मिलती है। इसका तात्पर्य यह है कि शाखाओं की अस्थिगणना में एकाध अस्थि को छोड़कर और कोई मतभेद नहीं है। चरक में नखों का समावेश अस्थियों में करने के कारण यह संख्या कुछ अधिक (१२८) हो गई है। अष्टांगसंग्रह चरकमतानुसारी होने पर भी अंगों की संख्या में चरक से विभिन्नता रखता है। उसके अनुसार शाखाओं की अस्थिसंख्या एक सौ चालीस है—तेषां चत्वारिंशच्छतं शाखासु ॥ श्रोणिपार्श्वपृष्ठोरःसु—आधुनिक गणना के अनुसार इस विभाग की अस्थियों की संख्या केवल ५० होती है। चरक के अनुसार यह संख्या १४१ और अष्टांगसंग्रह के अनुसार १२० होती है—सविंशच्छतमन्तराधौ ॥ ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वम्—इस विभाग में आधुनिक मतानुसार केवल ३६ अस्थियाँ होती हैं। चरक के अनुसार इसमें ९१ और अष्टांगसंग्रहानुसार १०० अस्थियाँ होती हैं—शतमूर्ध्वमिति।

अब षडंगों की पृथक् पृथक् अस्थियों की गणना बताई जाती है—

एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि तानि पञ्चदश, तलकूर्चगुल्फसंश्रितानि दश, पार्ष्ण्यामेकं, जङ्घायां द्वे, जानुन्येकम्, एकमूराविति, त्रिंशदेव-मेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ ॥१९॥

(शाखाओं की अस्थियाँ—) पैर की एक एक अंगुलि में तीन तीन (हड्डियाँ होती हैं, इस प्रकार सब मिलकर अंगुलियों में) वे पंद्रह (होती हैं)। तल, कूर्च और गुल्फ संश्रित हड्डियाँ दस, पार्ष्णि में एक, जङ्घा में दो, जानु में एक, ऊरु में एक; (इस प्रकार) एक टांग में तीस हड्डियाँ होती हैं। इसी से ही दूसरी टांग तथा दोनों बाहुओं (की हड्डियों) का वर्णन हो गया है ॥१९॥

वक्तव्य—तानि पञ्चदश—प्रत्येक अंगुलि में तीन तीन हड्डियाँ होती हैं, परंतु अँगूठे में तीन न होकर केवल दो ही होती हैं; अतः यह संख्या पंद्रह न होकर चौदह होनी चाहिए। परंतु इस आक्षेप के ऊपर एक उत्तर यह हो सकता है कि अन्य अंगुलियों की जैसी गतिमर्यादा होती है, वैसी गतिमर्यादा अँगूठे के बारे में न होने के कारण उसके तल की अस्थि (शलाका) उसके साथ हिलती हैं। अतः अँगूठे की अस्थिगणना में उसकी तलास्थि उसके साथ गिनी गई है। यह समाधान बहुत ठीक और युक्त (रसयोगसागर, उपोद्घात पृष्ठ १७२) है, संदेह नहीं, परंतु निम्न दो कारणों से उसका ग्रहण पाठ के समर्थन के लिए नहीं किया जा सकता। (१) यह विचारसरणि प्राचीन काल में भी मान्य होती अंगुलितल की शलाकाओं की संख्या चार होना जरूरी परंतु वह संख्या पाँच ही बताई गई है—तले पादतले शलाकाः। (डल्हण)। अष्टांगसंग्रह में भी ऐसा ही है—प्रत्येकमङ्गुल्यां त्रीण्यस्थीनि तानि पञ्चदश। पञ्च पादशलाका अरुणदत्त भी अष्टांगहृदय की टीका में इसी प्रकार लिखते हैं—पंचपादनखासक्थिप्रत्यङ्गुल्यस्थिकत्रयम्। एवं पंचदशैव शलाकाः पंच तु स्मृताः ॥ (२) यह कारण विशेष महत्त्व का है क्योंकि यह सुश्रुतान्तर्गत है। अंगुलियों की संधियों का वर्णन करते समय प्रत्येक अंगुलि में तीन और अँगूठे में दो ही संधियाँ बतलाई हैं—एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रयः द्वावङ्गुष्ठे, ते चतुर्दश। यदि अँगूठे में तीन अस्थियाँ अंगुलियों के समान होतीं तो संधियाँ भी उनके समान तीन होना जरूरी था, परंतु दो ही संधियाँ लिखी हैं। लिए अँगूठे में दो ही अस्थियाँ मानना उचित है। तल-गुल्फसंश्रितानि दश—पादतल, पादकूर्च और गुल्फ तीन समूह की अस्थियाँ इसमें शामिल हैं। पादतल अस्थियों को शलाका भी कहते हैं। इनकी संख्या होती है। यदि अंगुल्यस्थियों की संख्या पद्रह ही जाय तो इनकी संख्या चार माननी पड़ेगी। पादकूर्च इनमें पाँच अस्थियाँ होती हैं। ये बहुत छोटी होती गुल्फ—जंघास्थियों के साथ मिलने वाली हड्डी। यह है। इस प्रकार ये दश और यदि पादाङ्गुलियाँ चौदह तो ग्यारह होती हैं। जङ्घायां द्वे—जंघा में दो हड्डियाँ हैं—एक बाहर और एक भीतर। भीतर की मोटी बाहर की पतली होती है। जानुन्येकम्—घुटने के होने वाली यह पतली चपटी हड्डी है। अधोशाखा की के अँग्रेजी नाम—अँगुलि की अस्थियाँ—Phalanges; शलाका—Metatarsal bones; कूर्चास्थि—Tarsal bones; गुल्फास्थि—Talus; पार्ष्ण्यस्थि—Calcaneus; पाश्चात्य शारीर में गुल्फ और पार्ष्णिकूर्च (Tarsal bones) समाविष्ट करते हैं और इस तरह पादकूर्चास्थियों की संख्या ७ होती है; अन्तर्जङ्घास्थि—Tibia; बहिर्जङ्घास्थि—Fibula; जान्वस्थि—Patella; ऊर्वस्थि—Femur। इस प्रकार अधोशाखा में कुल ३० हड्डियाँ होती हैं। शाखा की हड्डियों के नाम—अंगुल्यस्थियाँ—Phalanges; हस्तशलाकाएँ—Metacarpal bones; हस्तकूर्चास्थि—Carpal bones; हस्तगुल्फ—Lunate and Navicular of the carpal bones; पाश्चात्त्य शारीर के अनुसार कूर्चास्थियों की संख्या ८ होती है, जिसमें गुल्फ की अस्थियों का भी समावेश होता है। यदि अंगुलियों की अस्थियों की संख्या पंद्रह मानी जाय तो हस्ततल गुल्फसंश्रित अस्थियों की संख्या बारह होनी चाहिए। यहाँ पर हाथ के लिए जो दश संख्या बताई गई है,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठीक नहीं है। पैर की जङ्घा के समान ऊर्ध्वशाखा का जो भाग होता है, उसको अरत्नि या प्रकोष्ठ कहते हैं। इसमें भी जङ्घा के समान बाहर और भीतर की दो अस्थियाँ होती हैं। अन्तःप्रकोष्ठास्थि—Ulna; बहिःप्रकोष्ठास्थि—Radius; बाह्वस्थि या प्रगण्डास्थि—Humerus; हाथ में जान्वस्थि के समान कोई हड्डी नहीं है, परंतु 'एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ' इसके अनुसार जान्वस्थि का प्रतिनिधि कूर्पराग्रास्थि हाथ में माना जाता है। वास्तविक वह स्वतन्त्र अस्थि न होकर अन्तःप्रकोष्ठास्थि का ऊपर का सिरा है। इसको कूर्परकूट (Olecranon) या जानुकपाल के अनुसार कूर्परकपाल कहते हैं। अन्तःप्रकोष्ठास्थि का यह सिरा उसके साथ सोलह साल की आयु में पूर्णतया जुड़ जाता है। शाखास्थियों के संबंध में हाराणचन्द्र का पाठ निम्न प्रकार का है—तेषामष्टादशोत्तरं शतं शाखासु। एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रीणि त्रीणि, अंगुष्ठे द्वे, तानि चतुर्दश। तलकूर्चगुल्फसंश्रितान्येकादश। पाष्ण्यामेकम्। जङ्घायां द्वे। एकमूराविति त्रिंशदेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति। द्वितीयेप्येवम्। एतेनैव जानुवर्जेन बाहू च व्याख्यातौ। हाराणचन्द्र का यह कथन भी सदोष है क्योंकि यद्यपि बाहु में जान्वस्थि की तरह कूर्परास्थि नहीं होती तथापि हस्तकूर्चास्थियों में एक अस्थि अधिक होती है, जिससे टांग की अस्थिसंख्या के बराबर हाथ की अस्थिसंख्या हो जाती है।

श्रोण्यां पञ्च, तेषां गुदभगनितम्बेषु[1] चत्वारि, त्रिकसंश्रितमेकं, पार्श्वे षट्त्रिंशदेकस्मिन्, द्वितीयेऽप्येवं, पृष्ठे त्रिंशत्, अष्टावुरसि, द्वे अंसफलके[2] ॥२०॥

(धड़ की अस्थियाँ—) श्रोणी में पाँच, इनमें से गुद भग और नितम्ब में चार, त्रिकाश्रित एक, एक पार्श्व में छत्तीस, दूसरे में भी इतनी ही (छत्तीस), पीठ में तीस, छाती में आठ, दो अंसफलक ॥२०॥

वक्तव्य—मध्य और सिर की अस्थिगणना में बहुत भिन्नता है, जिसका समन्वय करना कठिन है। श्रोण्यां पंच—आधुनिक गणना के अनुसार दोनों तरफ दो श्रोणिफलक (Osinnominatum or hip bone) होते हैं। प्रत्येक श्रोणिफलक तीन अस्थियों के संयोग से बनता है। उनके नाम हैं जघनकपाल (Ilium), कुकुन्दरास्थि (Ischium), और भगास्थि (Pubis)। ये तीनों अस्थियाँ आपस में जुड़ी रहती हैं, इसलिए नव्यगणना में वे एक समझी जाती हैं। अष्टांगसंग्रह में नितम्ब की हड्डियाँ दो ही बतलाई हैं—नितम्बयोर्द्वे। चरक और काश्यपसंहिता में श्रोणिफलक दो ही बतलाये हैं, परंतु भगास्थि उससे पृथक् गिनी है—द्वे श्रोणिफलके एकं भगास्थि। श्रोणी की पाँच हड्डियों का ठीक समर्थन करना कठिन है। त्रिक—तीनों के संधानस्थान को त्रिक कहते हैं। यह शब्द अधिकतर पृष्ठवंश और दोनों नितम्बास्थियों के संयोग स्थान के लिए प्रयुक्त होता है—स्फिक्सक्थोः पृष्ठवंशास्थ्नोर्यः संधिस्तत् त्रिकं मतम्॥ कभी कभी त्रिकशब्द पृष्ठवंश और अंसफलकों की संधि के लिए भी प्रयुक्त होता है—उरःस्थत्रिकसंधारणमात्मवीर्येणान्नरससहितेन हृदयावलम्बनं करोति। (सुश्रुत, सूत्र २१)। 'त्रिकसंश्रितमेकम्' से नीचे के त्रिकस्थान में आश्रित एक हड्डी अर्थात् त्रिकास्थि (Sacrum) समझ सकते हैं। यह अस्थि पाँच मोहरों के आपस में जुड़ जाने से बनी है। इसके दोनों पार्श्वों से श्रोणिफलक जुड़े रहते हैं। नीचे गुदास्थि या अनुत्रिकास्थि (Coccyx) जुड़ी रहती है। ऊपर से कटि का अन्तिम मोहरा मिला रहता है। इसकी शक्ल कुछ तिकोनी होती है और यदि गुदास्थि को इसके साथ मिलाया जाय तो पूरी तिकोनी बन जाती है। गुदास्थि—पृष्ठवंश की यह अन्तिम अस्थि है। चार छोटी छोटी अस्थियों के जुड़ जाने से यह बनती है। सपुच्छ प्राणियों में इसी से पुच्छ निकलता है तथा उनमें ये अस्थियाँ अलग अलग और अधिक संख्या में होती हैं। इसकी भी शक्ल तिकोनी है। गुदद्वार के पीछे दबाने पर इसकी नोक को हम स्पर्श कर सकते हैं। श्रोणी की पाँच हड्डियों की संख्या अगर कायम करना हो तो निम्न प्रकार से कर सकते हैं—१ भगास्थि (इसमें दोनों तरफ के भगास्थियों के संयोग को पृथक् माना है), २ नितम्बास्थि, गुदास्थि और १ त्रिकास्थि। पार्श्वे षट्त्रिंशत्—पार्श्व की पसलियों (Ribs) की संख्या ३६ होती है। वास्तव में पर्शुकाएँ प्रत्येक पार्श्व में बारह होती हैं। परंतु यहाँ पर उनके उभार (Tubercle) तथा स्थालक (पीठ के मोहरों के प्रवर्धन, जिनके साथ पसलियाँ मिलती हैं) अलग माने गये हैं। इसलिए उनकी संख्या तिगुनी हो गई है—पार्श्वयोश्चतुर्विंशतिः पर्शुकाः, तावन्ति स्थालकानि, तावन्ति चैव स्थालकार्बुदानि। (चरक)। स्थालकानीति पर्शुकानां मूलस्थानलग्नानि, स्थालकार्बुदानि तु पर्शुकामूलान्यर्बुदाकाराण्यस्थीनि। (चक्रपाणिदत्त)। पृष्ठे त्रिंशत्—पृष्ठवंश (Vertebral column) के पृष्ठ और कटि विभाग की अस्थियों की अर्थात् रीढ़ के मोहरों की संख्या। इसके संबंध में बहुत मतभेद है। चरक में इसकी संख्या ४५ बताई है। पर्शुकाओं की ३६ या ७२ संख्या के संबंध में संहिता में तथा टीका में जैसा स्पष्टीकरण मिलता है, वैसा स्पष्टीकरण पृष्ठ की संख्या के संबंध में नहीं मिलता। अतः इसके स्पष्टीकरण के संबंध में प्रत्येक अपनी बुद्धि से काम लेता है। वास्तव में पृष्ठ के मोहरे १२ और कटि के ५ मिलकर पीठ में १७ अस्थियाँ होती हैं। यहाँ पर जो तीस संख्या बतलाई गई है, उसके संबंध में एक पक्ष का मत है कि वास्तव में यह संख्या संपूर्ण पृष्ठवंश की अस्थियों की है। दूसरे का मत है कि, जैसे पर्शुकाओं में उनके उभार और स्थालक स्वतन्त्र गिने गये हैं, वैसे ही पृष्ठवंश में मोहरों के प्रवर्धन (Processes) अलग गिने गये हैं। इन दोनों के साथ तीसरा भी एक पक्ष सूचित किया जाय तो अप्रस्तुत नहीं होगा। वह तीसरा पक्ष इस प्रकार का है। पृष्ठवंश के मोहरे आपस में सीधे नहीं मिलाये गये हैं। उनके बीच में शणसूत्रसंततरुणास्थि के वलय (Intervertebral fibroca-

१ भगगुदनितम्बेषु. २ द्वे अक्षकसंज्ञे.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

rtilages) होते हैं। ये वलय काफी मोटे होते हैं। यहाँ तक कि सब मिलकर पृष्ठवंश की लम्बाई की चौथाई के लगभग हो जाते हैं। अतः यह बहुत संभवनीय है कि पृष्ठ की अस्थियों में इनकी गणना की गई हो। नवीन गणना के अनुसार पीठ में १७ मोहरे और १७ अन्तःकशेरुवलय अर्थात् दोनों मिलकर ३४ अस्थियाँ हो सकती हैं। अष्टावुरसि—इसमें उरःफलक (Sternum) और दो अक्षक (Clavicles) मिलकर तीन अस्थियाँ होती हैं। अक्षक—इसी को हँसली भी कहते हैं। यह लम्बी हड्डी है, जिसका एक सिरा उरःफलक के ऊपर के हिस्से के साथ और दूसरा सिरा अंसफल के कूट के साथ मिला रहता है। यह हड्डी दो जगह कुछ मुड़ी हुई है। राजयक्ष्मी—दुर्बल और कृश मनुष्यों में यह अधिक उभरी हुई दिखाई देती है क्योंकि इसके ऊपर और नीचे कुछ गड़ा-सा बन जाता है। उरःफलक या वक्षोऽस्थि—यह अस्थि चपटी और लम्बी है, जो ग्रीवा के नीचे के भाग से प्रारंभ होकर उदर के कौड़ीप्रदेश तक रहती है। इस अस्थि के तीन खण्ड होते हैं। ऊपर का चौड़ा और छोटा (Manubrium) भाग, जिसके ऊपर के सिरे में कण्ठकूप (Sternal notch) करके एक गढ़ा होता है। मध्यखण्ड लम्बा होता है। इसमें चार अस्थियाँ जुड़ी रहती हैं। तीसरा अग्रपत्र (Xiphoid process) जो कौड़ीप्रदेश में दबाने पर स्पर्शलभ्य होता है। इस तरह वक्षोस्थि में छः अस्थियाँ होती हैं। सोलह साल के पूर्व ये सब अस्थियाँ स्वतन्त्र होती हैं। इसके पश्चात् २५ साल की उमर तक मध्यखण्ड के चारों विभाग आपस में जुड़ जाते हैं। ऊपर की और नीचे की अस्थियाँ मध्य के साथ अधेड़ उमर के बाद मिलती हैं। द्वे अंसफलके—अंसफलक (Scapula) प्रत्येक पार्श्व में पीछे की ओर एक होता है। इसका आकार कुछ तिकोना होता है। यह चपटी हड्डी है, परंतु इसमें कई उभार होते हैं। इसका चौड़ा भाग खवे में और मोटा भाग कंधे में रहता है। इस मोटे भाग में अंसपीठ (Glenoid cavity) नामक गढ़ा रहता है, जिसमें बाहु की अस्थि का सिरा मिला और बँधा रहता है। चौड़े भाग के दो पृष्ठ होते हैं। एक पसलियों के समीप का और दूसरा पिछला, जो स्पर्श किया जा सकता है। पिछले पृष्ठ पर तलवार की तरह एक टेढ़ा नीचे से ऊपर की ओर जाने वाला उभार होता है, जिसे अंसप्राचीरक (Spine) कहते हैं। कंधे की ओर इसका सबसे ऊँचा जो भाग होता है, उसे अंसकूट कहते हैं। इसी के साथ अक्षक लगा रहता है। इस अस्थि के तीन किनारे होते हैं—एक पृष्ठवंश की ओर का जो सब से लम्बा होता है, दूसरा कक्षा की ओर का और तीसरा ऊपर का होता है। कक्षा की ओर का सब से मोटा और ऊपर की ओर का सब से छोटा होता है। ऊपर के किनारे के पास अंसतुण्ड (Cora-coid process) नामक मुड़ा हुआ उभार होता है।

ग्रीवायां नव, कण्ठनाड्यां चत्वारि, द्वे हन्वोः, दन्ता द्वात्रिंशत्, नासायां त्रीणि, एकं तालुनि, गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकं, षट् शिरसीति ॥२१॥

(शिर और ग्रीवा की हड्डियाँ—) ग्रीवा में ... कण्ठनाड़ी में चार, हनु के दो, दाँत बत्तीस, नाक में ... तालु में एक, गण्ड, कर्ण और शङ्ख में एक एक, ... में छः ॥२१॥

वक्तव्य—ग्रीवायां नव—ग्रीवा में वास्तव में ... मोहरे होते हैं। पहले और दूसरे मोहरों को छोड़कर ... मोहरे एक से होते हैं। नीचे वाले मोहरे ऊपर वाले ... अपेक्षा कुछ बड़े रहते हैं। पहला मोहरा वलयाकार हो... इसलिए यह चूडावलया (Atlas) कहलाता है। ... दाँत के समान एक उभार होता है, इसलिए यह दन्त... (Epistrophius) कहलाता है। इसके दाँत के ... पहला बैठता है और दोनों नरमादगी (Pivot Joint) ... तरह संधित होते हैं। इसके कारण सिर में इधर-... घुमाव काफी हो सकता है। अष्टांगसंग्रह में ग्रीवास्थि... की संख्या १३ और चरक में १५ बतलाई है। ग्रीवा... अस्थियों के संबंध में भी मतभेद है। कण्ठनाड्यां चत्वारि... ये प्रायः स्वरयन्त्र की तरुणास्थियाँ मालूम होती ... ये तरुणास्थियाँ तीन अकेली और तीन दो दो करके ... होती हैं। यदि कण्ठनाडी (Trachea) के छल्लों का ... किया जाय तो वे संख्या में १६–२० होते हैं। द्वे हन्वोः... इससे वाम और दक्षिण तरफ की हनु के दो ... समझने चाहिएँ। वास्तव में हनु की हड्डी एक होती ... यह हड्डी आधुनिक परिभाषा में अधोहन्वस्थि (Mandible) ... कहलाती है। परंतु बचपन में दो साल की उमर ... इसके दो विभाग साफ साफ दिखाई देते हैं। चरक... हनु और हनुमूलबंधन करके हनु की तीन हड्डियाँ ... हैं। नासायां त्रीणि—दोनों तरफ की नासा की दो ... (Nasal bones) और नासा के पर्दे की एक ... Vomer और Ethmoid दोनों का संबंध आता ... एकं तालुनि—ये वास्तव में दो होती हैं, परंतु एक ... गई है। चरक और काश्यपसंहिता में ये दो ही बतलाई ... हैं—द्वे तालुके। (चरक)। द्वे द्वे श्रोणी तालुके ... (काश्यपसंहिता)। गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकम्—एक ... तरफ, इस तरह ये छः हड्डियाँ होती हैं। इनकी ... कहीं पर नहीं बताई गई है, परंतु यदि करोटी ... से देखी जाय तो इनसे निम्न अस्थियों का बोध होता ... गंडास्थि—इसमें Maxilla और Malar (ऊर्ध्व... और गण्डास्थि) का समावेश कर सकते हैं। ... इससे Mastoid portion of the temporal (... पिण्ड) समझ सकते हैं। शंखास्थि—इसमें Sp... (जतूकास्थि) और Squama of the te... (शंखास्थि का शंखचक्र) का समावेश कर सकते ... षट् शिरसि—शिरस से यहाँ शिरःपटल (Roof of ...) का अर्थ लेना चाहिए। पटल में वास्तव में चार ... होती हैं। पुरःकपाल एक, पार्श्व कपाल दो और ... कपाल एक। चरक और काश्यपसंहिता में ... चार हड्डियाँ बतलाई हैं। यहाँ पर छः कहने का ...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मालूम होता है कि बचपन में प्रायः छः साल तक पुरः और पश्चिम कपाल दो भागों में विभक्त रहता है। अतः प्रत्येक की दो दो हड्डियाँ होने से कुल संख्या छः हो जाती है। नवीन गणना के अनुसार सिर की अस्थियों में ग्रीवा के मोहरों का समावेश नहीं किया जाता और मुख के साथ सिर की हड्डियाँ बाईस होती हैं। इनके अँग्रेज़ी तथा सद्यःप्रचलित संस्कृत नाम दिये जाते हैं। पुरःकपाल—Frontal, पार्श्वकपाल—Parital, पश्चिमकपाल—Occipital, शंखकास्थि—Temporal, जतूकास्थि—Sphenoidal, झर्झरास्थि—Ethmoidal, नासास्थि—Nasal, ऊर्ध्वहन्वस्थि—Maxilla, अश्रुपीठास्थि—Lachrymal, गंडास्थि—Malar or zygomatic, तालव्वस्थि—Palatine, शुक्तिकास्थि—Inferior nasalconchae, सीरिकास्थि—Vomer.

अब इसके बाद चरक, सुश्रुत और नवीन अस्थि-संख्या का तुलनात्मक कोष्ठक दिया जाता है, जिससे तीनों के साम्य और वैषम्य के स्थान तुरन्त ध्यान में आ जायँगे।

अस्थिसंख्यातुलनात्मक कोष्ठक

चरक		सुश्रुत		नवीन	
नख	२०	—		—	
पाद—अंगुलियाँ	३०	,,	३०	Phalanges	28
,, शलाकाएँ	१०	तल	१०	Metatarsals	10
,, अधिष्ठान	२	कूर्च }	१०	Tarsus	12
,, गुल्फ	४	गुल्फ }			
,, पार्ष्णि	२	,,	२	Oscalcis	2
हस्त—अंगुलियाँ	३०	,,	३०	Phalanges	28
,, शलाकाएँ	१०	तल	१०	Metacarpals	10
,, अधिष्ठान	२	कूर्च }	१२	Carpus	16
,, मणिक	२	मणिक }			
अन्तर्जंघास्थि	२	,,	२	Tibia	2
बहिर्जंघास्थि	२	,,	२	Fibula	2
जानुकपालिका	२	जानु	२	Patella	2
जानु	२	—		—	
ऊरु, नलक	२	,,	२	Fsemur	2
अन्तःप्रकोष्ठास्थि	२	,,	२	Ulna	2
बहिःप्रकोष्ठास्थि	२	,,	२	Radius	2
कूर्परास्थि	—	,,	२	—	
बाहुनलक	२	,,	२	Humurus	2
	१२८		१२०		120

धड़ (अन्तरार्ध)

चरक		सुश्रुत		नवीन	
श्रोणिफलक	२	} श्रोणी	३ ४	Os innominatum	2
भगास्थि	१				
त्रिक	—		१	Sacrum	1
अनुत्रिक (गुदास्थि)	—		२ —	Coccyx	1
पृष्ठ की अस्थियाँ	४५		३०	Thoracic. lumber Vertebrae	17
पर्शुक	२४	,,	२४	} Ribs	24
,, अर्बुद	२४	,,	२४		
,, स्थालक	२४	,,	२४	—	
उरस की अस्थियाँ	१४	,,	६	Starnum	1
अक्षक	२	,,	२	Clavical	2
अंस	२	—		—	
अंसफलक	२	,,	२	Scapula	2
	१४०		११७		50

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

		शिर, ग्रीवा		
ग्रीवा की अस्थियाँ	१५	,,	९	Cervical vertebra
जत्रु	१	कण्ठनाडी	४	—
हन्वस्थि	१	,,	२	Mandible
हनुमूलबंधने	२	—		—
शिरःकपाल	४	,,	६	Frontal, Parietal, Occipital
तात्वस्थियाँ	२	,,	१	Palatines
शंखास्थियाँ	२	,,	२	Temporal
नासास्थि, गण्डकूट, ललाट	१	,,	३	Nasals
		,,	२	Malar
		—		—
कर्णास्थियाँ	—	—	२	Auditory ossicles
दाँत	३२	,,	३२	—
,, उलूखल	३२	—		—
जतुकादि अन्य अस्थियाँ अनिर्दिष्ट या अनिर्णीत	—	—		Spenoidal and other bones
	९२		६३	

एतानि पञ्चविधानि भवन्ति; तद्यथा—कपाल-रुचकतरुणवलयनलकसंज्ञानि। तेषां जानुनितम्बांसगण्डतालुशङ्खशिरःसु कपालानि, दशनास्तु रुचकानि, घ्राणकर्णग्रीवाक्षिकोषेषु तरुणानि, पार्श्वपृष्ठोरःसु वलयानि, शेषाणि नलकसंज्ञानि ॥२२॥

(अस्थियों के प्रकार—) ये (शरीरगत अस्थियाँ) पाँच प्रकार की होती हैं। जैसे—कपाल, रुचक, तरुण, वलय और नलकसंज्ञक। इनमें से जानु, नितम्ब, अंस, गण्ड, तालु, शङ्ख और सिर (पटल इन स्थानों) में कपाल (संज्ञक अस्थियाँ होती हैं); दाँत तो रुचक (संज्ञक अस्थि हैं); घ्राण, कर्ण, ग्रीवा और अक्षिकोष में तरुण (संज्ञक अस्थियाँ होती हैं); पार्श्व, पृष्ठ और उर में वलय (संज्ञक अस्थियाँ होती हैं); शेष अस्थियाँ नलकसंज्ञक होती हैं ॥२२॥

वक्तव्य—इस सूत्र में शरीर के भीतर मिलने वाली सब अस्थियों के संगठन और आकार के अनुसार पाँच प्रकार बतलाये गये हैं। कपाल—मिट्टी के घड़े का भाग, खपड़ा या खप्पर। शरीर की कुछ हड्डियाँ इस आकार की होती हैं, इसलिए वे कपाल कहलाती हैं। सिर के पटल की हड्डियाँ कपाल के साथ अन्य कपालाकारी हड्डियों की अपेक्षा अधिक मिलती जुलती हैं। इसलिए कपाल से खोपड़ी का भी बोध होता है। कपालास्थियों को अंग्रेज़ी में फ़्लाटबोन्स (Flat bones) कहते हैं। जहाँ पर पेशियों के निबंधन (Attachment) के लिए अधिक स्थान की आवश्यकता होती है या भीतरी अंग की रक्षा करने की आवश्यकता होती है, वहाँ पर चपटी हड्डियाँ रहती हैं। चपटी हड्डियों के दोनों पृष्ठ बड़े मजबूत होते हैं, बीच में जो अवकाश रहता है, उसमें सुषिर (Spongy tissue) होती है। रुचक—नमक का टुकड़ा। सौवर्चलं स्याद्रुचकं मन्थपाकश्च तन्मतम्। रुचकं रोचनं दीपनं पाचनं परम् ॥ (भावप्रकाश)। सौवर्चल लवण के टुकड़े के समान दिखाई देते हैं, इसलिए दाँत रुचक कहलाते हैं तथा उसके समान वे भंगुर भी होते हैं—स्फुटन्ति रुचकानि तु। (सुश्रुत, निदान १५)। रुचक कहने का और भी एक कारण हो सकता है। रुचि उत्पन्न करने वाले पदार्थों को भी रुचक कहते हैं। जैसे—सौवर्चल लवण, मातुलुंग इत्यादि। भोजन भी जब दाँतों के द्वारा चबाया जाता है, तब रुचिकर होता है। इसलिए भी दाँत रुचक कहलाते होंगे। म० म० गणनाथसेन प्रत्यक्षशारीर में रुचक का अर्थ दूसरा करते हैं—रुचकानि रुचकाकाराणि, रुचकं नाम कङ्कतिका कंकही चिरुणीति भावः। तरुण—जिन हड्डियों में अस्थिभवन (Ossification) का कार्य पूर्ण नहीं हुआ है, ऐसी हड्डियाँ। जन्म के समय शरीर में कुछ हड्डियाँ पूर्ण अस्थिभूत होती हैं और कुछ अपूर्ण अस्थिभूत होती हैं। अस्थिभवन होने से पूर्व हड्डियों के स्थान में जो चीज होती है, वह सफेद या पीले रंग की, चिकनी, चमकदार और लचकदार रहती है। इसी को तरुणास्थि (Cartilage) कहते हैं। डेढ़ महीने के गर्भ के शरीर में कहीं भी अस्थि नहीं मिलेगी। अस्थि बनने का काम इसके बाद शुरू होता है और जवानी तक प्रायः सभी तरुणास्थियाँ परिपूर्ण अस्थि में परिवर्तित होती हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरीर में कुछ तरुणास्थियाँ ऐसी हैं कि जो जीवन भर तरुण ही तरुण रहा करती हैं। जैसे—स्वरयन्त्र, टेंटुवे, कान, नाक इत्यादि स्थानों के कार्टिलेज। तथापि इनमें से कुछ कार्टिलेज, विशेष करके स्वरयन्त्र और टेंटुवे (कण्ठनाडी) के, बुढ़ापे में अस्थिभूत हो जाते हैं। आयुर्वेद में कण्ठनाडी की तरुणास्थियाँ हड्डियों में गिनने का यही कारण हो सकता है—The thyroid, cricoid and the greater part of the arytoenoids consist of hyaline cartilage, and become more or less ossified as age advances. By the sixty-fifth year the cartilages may be completely converted into bone. *Grey's Anytomn.* इस तरह शरीर में तरुणास्थियाँ दो प्रकार की होती हैं, एक वह जो स्वभाव से ही उचित आयु में पूर्ण अस्थि बन जाती हैं और दूसरी वह जो स्वभाव से ही प्रायः तरुणावस्था में रहती हैं। वलय—वलय या गोल आकार की। यहाँ पर हड्डियों के जो पाँच प्रकार किये गये हैं, उनमें शरीर की समस्त हड्डियाँ आ जाती हैं। रुचक प्रकार केवल दाँतों के लिए परिमित है। तरुण प्रकार अस्थिवृद्धि की दृष्टि से किया गया है। शेष जो तीन प्रकार रहे हैं, उनमें आकार की दृष्टि से शरीर की समस्त अस्थियाँ आ जाती हैं। कपालास्थियाँ वे हैं जिनमें लम्बाई चौड़ाई काफी होती है, मोटाई बहुत कम होती है और जो चपटी रहती हैं। नलकास्थियाँ वे हैं जिनमें लम्बाई काफी होती है, चौड़ाई और मोटाई प्रायः बराबर होती है और जो नलिका के आकार की गोल होती हैं। इन दो विभागों में जो अस्थियाँ नहीं आतीं, वे सब वलय-विभाग में आती हैं। पाश्चात्य शारीर में आकार के अनुसार अस्थियों के चार प्रकार किये जाते हैं—१ चपटी (Flat), २ लम्बी (Long), ३ छोटी (Short), और ४ विषम (Irregular)। आयुर्वेद में आकार के अनुसार केवल तीन प्रकार होते हैं, जिनमें से चपटी और लम्बी हड्डियाँ कपाल और नलक हड्डियों के साथ मिलती हैं। शेष केवल वलय प्रकार रहता है अर्थात् इस प्रकार में पाश्चात्य के विषम और छोटा ये दो प्रकार आ जाते हैं। इसलिए वलय प्रकार में Short and irregular bones का समावेश करना चाहिए। छोटी हड्डियों में हाथ-पैर की कूर्चास्थियाँ (Carpal and Tarsal bones) और विषमास्थियों में पीठ के मोहरे आ जाते हैं। वलय में, अतः, इनका समावेश करना उचित है। भावप्रकाश में इनका समावेश किया गया है—पाण्योः पार्श्वयुगे पृष्ठे वक्षोजठरपायुषु। पादयोर्वलयानि स्युः॥ आगे वलयास्थियों का जो सूत्र है, उसमें 'पाणिपादपृष्ठोरःसु वलयानि' ऐसा एक पाठभेद मिलता है। यह पाठभेद समीचीन है। इसमें पाणिपाद की कूर्चास्थियाँ अभिप्रेत हैं। हाराणसंमत यही पाठ है। कुछ लोग इस पाठभेद को समीचीन नहीं समझते—'पाणिपादपार्श्वपृष्ठोदरोरःसु वलयानि' इति पाठस्तु न समीचीनः, टीकायामुक्तेन भोजवचनेन सह विरोधात् प्रत्यक्षविरोधाच्च। (निर्णयसागर सुश्रुतसंहिता पादटिप्पणी)। भोज का वचन नलकास्थियों के निर्देश के लिए है—हस्तपादाङ्गुलितले कूर्चेषु मणिबन्धयोः। बाहुजङ्घाद्वये चापि जानीयान्नलकानि तु॥ (सुश्रुतटीका में डल्हण से उद्धृत भोजवचन)। इस वचन में कूर्च का समावेश नलकास्थियों में किया है, इसलिए 'पाणिपादपृष्ठोरःसु वलयानि' यह पाठ समीचीन नहीं मालूम होता। हाथ और पैर की जो छोटी छोटी अस्थियाँ (Carpal and tarsal) होती हैं, उनको कोई विचारी मनुष्य नलकास्थियों में नहीं गिनेगा। इनका समावेश गोल अस्थियों में ही हो सकता है। इसलिए उपर्युक्त भोजवचन का अर्थ निम्न प्रकार का होता है—हाथ पैर की अंगुलियों में (Phalanges), उनके तल में (शलाकाएँ Meta carpals and meta tarsals), प्रकोष्ठ (मणिबन्ध) में, दोनों बाहु और जङ्घा में नलकसंज्ञक अस्थियाँ जानना चाहिए। इस प्रकार अर्थ करने से उपर्युक्त पाठभेद का तथा भोजवचन का उचित मतलब निकलता है। नलक—लम्बी और भीतर से नालीदार। इस प्रकार की अस्थियाँ शाखाओं में मिलती हैं। इसके दो भाग होते हैं—प्रांत (Epiphysis) और शरीर (Diphysis)। शरीर बेलनाकार (Cylindrical) होकर उसके मध्य में एक नाली होती है, जिसमें मज्जा (Marrow) होती है। इस नाली के आस पास का भाग सुषिर रहता है। इसमें भी मज्जा रहती है। सब से ऊपर कठिन भाग रहता है। प्रांत भाग शरीर की अपेक्षा कुछ मोटे होते हैं क्योंकि ये दूसरी अस्थियों से संधित होते हैं तथा इनके ऊपर स्नायु और पेशियों की कण्डराएँ लगी रहती हैं।

संगठन की दृष्टि से इन पाँच प्रकार के तीन भेद होते हैं। अतः उनका संगठन नीचे दिया जाता है। अस्थि का संगठन—अस्थियाँ दो प्रकार के पदार्थों से बनी हैं—१ सेन्द्रिय, और २ निरिन्द्रिय या खनिज। ये दोनों पदार्थ रीएन्फोर्सड कांक्रीट (Reinforced concrete) की तरह आपस में मिले रहते हैं। खनिज पदार्थों से अस्थियों में दृढ़ता आती है और सेन्द्रिय पदार्थों से उनमें लचक आती है। अस्थि को भट्टी में जलाने से उसके सेन्द्रिय पदार्थ जल जायँगे और वह स्पंज के समान जालीदार दिखाई देगी। इस जाली के तार खनिज पदार्थ से बनते हैं। अतः उसका लचकीलापन नष्ट होकर वह भुरभुरी (भंगुर Friable) बन जाती है और दबाने पर उसका चूरा बन जाता है। तोल में ये खनिज पदार्थ $\frac{2}{3}$ होते हैं। इन खनिज पदार्थों में कैलसिअम फोस्फेट सब से अधिक (५१ प्रतिशत) होता है। इसके सिवाय कैलसिअम कार्बोनेट (११ प्रतिशत), कैलसियम फ्लोराइड, मगनेशिअम फोस्फेट, और सोडिअम क्लोराइड (खाने का नमक) ये लवण भी होते हैं। यदि अस्थि को जलमिश्र नमक के, गंधक के या शोरे के तेजाब में कुछ देर रक्खा जाय तो खनिज-पदार्थ घुल जायंगे और केवल सेन्द्रिय पदार्थ बचे रहेंगे। खनिज-पदार्थ-विरहित अस्थि तान्तव धातु (Fibrous tissue) और सेलों से बनती है। यह बहुत मुलायम हो जाती है। इसको मोड़ने की कोशिश की जाय तो वह मुड़ सकती है तथा लम्बी हो तो उसमें गाँठ भी लगाई जा सकती है। जब खाद्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पेय द्रव्यों में चूने की कमी होती है या उसके सात्म्यीकरण के लिए आवश्यक जीवद्रव्य 'डी' (Vitamine. D) की कमी होती है, तब हड्डी के सेन्द्रिय भाग में चूने का संचय ठीक तौर से नहीं होता और हड्डी में दृढ़ता कम होती है, जिससे वह टेढ़ी हो जाती है । इस अवस्था को अस्थिमृदुता (Rickets) कहते हैं और यह अवस्था बच्चों में पाई जाती है (१० अध्याय के ५२वें श्लोक के वक्तव्य में 'फक्क' देखो)। अस्थि की सूक्ष्म रचना—अस्थि नालियों के एक बन्डल की तरह होती है । ये नालियाँ हावर्सिअन नालियाँ (Haversian canals) कहलाती हैं । इनमें रक्तवाहिनियाँ और नाड़ियाँ (Nerves) होती हैं । इन नालियों के चारों ओर सूत्रों के कई घेरे होते हैं। इन घेरों के बीच में अस्थि की खास सेलें होती हैं । इनकी शक्ल मकड़ी जैसी होती है। सेलों के घरों से बहुत सी सूक्ष्म नालियाँ (Canaliculi) निकली रहती हैं, जो आस पास की नालियों से मिली रहती हैं। इन नालियों में रक्त का पोषक भाग बहता है और सेलों और सूत्रों का पोषण करता है । सेलों और सूत्रों के बीच में चूने के लवण संचित होते हैं। कार्टिलेज (तरुणास्थि) की सूक्ष्म रचना—तरुणास्थि दो प्रकार की होती है—सूत्रमय और सूत्रविहीन। सूत्रमय कार्टिलेज में कार्टिलेज की खास सेलों के अतिरिक्त सूत्र होते हैं। सूत्र के रंग के अनुसार इसके दो भेद किये गये हैं—पीत सूत्रमय और श्वेत सूत्रमय। पीत सूत्रमय तरुणास्थि में लचकीलापन अधिक होता है । विशुद्ध तरुणास्थि (अस्थिभवन होने से पूर्व) केवल सेन्द्रिय द्रव्यों से बनी रहती है। बहुत सी अस्थियों की जगह पहले तरुणास्थियाँ होती हैं । धीरे धीरे इनमें अस्थिविकासकेन्द्र (Centres of ossification) उत्पन्न होकर उनके चारों ओर अस्थि बनने का कार्य प्रारंभ होता है, जिससे चूने के तथा अन्य लवण उनमें इकट्ठे होने लगते हैं और कार्टिलेज की सेलों की जगह अस्थि की सेलें बनने लगती हैं । प्रत्येक अस्थि में कई केन्द्र प्रायः हुआ करते हैं। लम्बी अस्थियों में सब से पहले गात्रों में अस्थि बनना प्रारंभ होता है । किसी में एक, किसी में अनेक केन्द्र होते हैं । अस्थिविकासकेन्द्र नियत समय पर उदय हुआ करते हैं और तरुणास्थियों से अस्थियों की पूर्णता होने की आयु भी निश्चित रहती है । दाँतों की रचना और संगठन—प्रत्येक दाँत के तीन विभाग होते हैं। (१) दंताग्र या शिखर—यह वह भाग है जो श्वेत और चमकदार होता है तथा दन्तमांस से ऊपर निकला रहता है । इसी चमक (रुचकता—चमक—क्षणदाशु यत्र च रुचकतां गताः । शिशुपालवध १३–५३) के कारण संस्कृत में दाँत रुचक कहलाते हैं । दाँतों का यही भाग हमेशा देखने में आता है । (२) दंतग्रीवा—शिखर से नीचे जो किंचित् संकुचित भाग रहता है, उसको दंतग्रीवा कहते हैं। (३) दंतमूल—ग्रीवा के नीचे जबड़े के गड्हे (दंत उलूखल) में गड़ा हुआ जो भाग होता है, वह दन्तमूल कहलाता है। कुछ दाँतों में एक, कुछ दाँतों में दो और कुछ दाँतों में तीन मूल होते हैं । दाँत का व्यत्यस्त छेद लिया जाय तो उसमें तीन तहें मिलती सब से बाहर श्वेत और चमकदार तह होती है । यह केवल दंतमांस से ऊपर के हिस्से पर होती है । स्तर दंतवल्क या कवच (Enamel) कहलाता है । के सब पदार्थों में यह कठिनतम (निदान १६–३३) है। इसमें सेन्द्रिय पदार्थ अल्पल्प मात्रा में होते हैं। निरिन्द्रिय पदार्थों की राशि ९६ प्रतिशत के लगभग है। अस्थि में जो लवण होते हैं, वे ही लवण इसमें होते हैं, परंतु फर्क इतना ही होता है कि कैल्शि फोस्फेट की राशि अधिक (८९ प्रतिशत के लगभग) है। इस कवच के नीचे जो दूसरी चीज होती है दन्तसार (Dentine) कहलाती है। यह भी बहुत होती है, परंतु कवच से नरम रहती है। इसका रासा संगठन अस्थि के संगठन से बहुत कुछ मिलता दन्तमूल के सार के ऊपर कवच न होकर उसकी जगह और चीज होती है, जो वास्तविक अस्थि के समान है । इसको दंतप्रस्तर (Crusta Petrosa or Ce कहते हैं। सब से भीतर दाँत का खोखला भाग हो जिसके भीतर सूक्ष्मतन्तु, सेलें, रक्तवाहिनियाँ और सूत्र होते हैं। इसको दंतमज्जा कहते हैं । रक्तवाहि और नाडीसूत्र दन्तमूलगत एक छिद्र में से भीतर करते हैं ।

दाँत और तरुणास्थियाँ अस्थियों के साथ गिन पद्धति कहाँ तक युक्तियुक्त है ?—दाँतों और तरुणास्थि सूक्ष्म रचना अस्थियों से विभिन्न है, इसमें कोई नहीं है। सूक्ष्मरचनाविज्ञान सूक्ष्मदर्शक यन्त्र के आवि के पश्चात् उत्पन्न हुआ वैद्यक का एक विभाग है। आधार पर अर्वाचीन काल में किये वर्गीकरण की प्राचीन काल में मोटी मोटी बातों के आधार पर किये वर्गीकरण को देखना उचित नहीं है । यदि अन्य विज्ञानसंमत कुछ अन्य पहलुओं से प्राचीन वर्गीकरण ओर देखा जाय तो वह वर्गीकरण वैज्ञानिक मालूम है। दाँतों का विचार लीजिए। यदि रासायनिक संगठ दृष्टि से दाँत और अस्थि की ओर देखा जाय तो शरीरगत अस्थियाँ कार्य-भिन्नता के कारण विविध की होती हैं, कोई अधिक कठिन होती है, कोई कुछ रहती है, बाहर का भाग कठिन होता है, भीतर का सुषिर होता है परंतु आखिर में सब अस्थियाँ ही होती वैसे ही दाँत शरीर के बाहर अनावृत (Exposed) हो कारण तथा चबाने के कार्य के होने के कारण कव अधिक कठिन, सार में अस्थि सम और प्रस्तर में बा अस्थि के समान बनाये गये हैं; परंतु उनका रासा संगठन अस्थि के समान ही होता है। अतः दाँतों को भिन्नता के कारण उत्पन्न हुआ अस्थियों का ही स्वरूप मानने में कोई असामञ्जस्य नहीं हो सक

Enamel is the hardest substance in the
It is made up of minute prisms of the same

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

as those of bone. The dentine resembles bone in chemical composition. Sheathing the portion of dentine which is beneath the level of the gum is a layer of true bone, called the cement or crusta petrosa. *Halliburton's Physiology.* आगे ५वें अध्याय के ५२वें सूत्र के वक्तव्य में दन्तोद्भेद की टिप्पणी देखो।

अब तरुणास्थियों का विचार लीजिए। यदि शरीरगत स्नायु, सिरा, पेशियाँ इत्यादि मृदु (वल्ली के समान जो स्वयं खड़े नहीं हो सकते) पदार्थों को आश्रय या आधार देने की दृष्टि से अस्थि और तरुणास्थि का विचार किया जाय तो ये दोनों भी समानरूपेण इन मृदु पदार्थों को आधार देते हैं। अतः शरीर के सार (Frame work) में आज भी दोनों का वर्गीकरण एक ही होता है। इसलिए अस्थियों के साथ तरुणास्थियों को गिनने के प्राचीन वर्गीकरण में कोई विशेष असामञ्जस्य नहीं है—The skeleton. This is the frame work on which soft parts are built. It consists of bones and cartilages which are bound together by ligaments of fibrous tissues. Serving a similar supporting function in the body as bone, cartilage is popularly known as gristle. *Halliburton's physiology.* नासा—नासा की तीन दीवालें होती हैं, एक भीतर का पर्दा और दो बाहर की। इनका ऊपर का भाग कठिन होता है, जो अस्थि का बनता है। नीचे का भाग मुलायम रहता है। इसमें तरुणास्थियाँ होती हैं। ये तरुणास्थियाँ जीवनभर तरुण रहती हैं। कर्ण—कान का जो बाह्य भाग होता है, उसके शष्कुली (Pinna) में तथा कुहर (Extauditory meatus) के बाहरी ⅓ भाग में तरुणास्थियाँ होती हैं। यह तरुणास्थि भी जीवनभर तरुण ही रहती है। ग्रीवा—ग्रीवा प्रदेश स्थित कण्ठनाड़ी याने टेंटुवा और स्वरयन्त्र। टेंटुवा और उसकी शाखा-प्रशाखाएँ (Trachea, Bronchii and bronchioles) तथा स्वरयन्त्र अंग कार्टिलेज से बने हुए हैं। टेंटुवा और उसकी शाखा-प्रशाखाओं के कार्टिलेज छल्लेदार होते हैं। इन छल्लों के मुँह पीछे से खुले रहते हैं। कहीं कहीं ऊपर और नीचे के छल्ले कुछ अंश तक एक दूसरे से जुड़े रहते हैं। सब छल्ले आपस में तान्तव धातु के द्वारा बँधे रहते हैं। स्वरयन्त्र के कार्टिलेज का विवरण पीछे २१वें सूत्र के वक्तव्य में कुछ किया है। टेंटुवे और कण्ठनाड़ी के कार्टिलेज में बुढ़ापे में अस्थि-भवन की कुछ प्रवृत्ति होती है। अक्षिकोष—आँखों को ढाकने वाली चीज, अर्थात् वर्त्म या पलक। पलकों के मध्य में तन्तुनिर्मित एक दृढ़ पट्टी (Tarsus) होती है, जिसके कारण पलक में कुछ दृढ़ता आ जाती है और उसका आकार स्थिर रहता है। ये पट्टियाँ न अस्थि है, न तरुणास्थि हैं, परंतु तान्तव धातु (Fibrous tissue) की बनी हैं। पार्श्वपृष्ठोरःसु—इसके बदले 'पाणिपादपार्श्वपृष्ठोरःसु वलयानि' यह पाठ अधिक अच्छा है। पाणिपाद से अंगुलि और तल छोड़कर हाथ पैर की शेष अस्थियाँ लेनी चाहिएँ, पृष्ठ से पृष्ठवंश के मोहरे तथा उनके बीच में मिलने वाले वलयाकार कार्टिलेज लेने चाहिएँ। शेषाणि—शरीर की जो संपूर्ण अस्थियाँ हैं, उनमें से जिनका निर्देश ऊपर इस सूत्र में नहीं किया गया है वे सब; जैसे—बाहु की, अरत्नि की, ऊरु की, जङ्घा की इत्यादि।

भवन्ति चात्र—

अभ्यन्तरगतैः सारैर्यथा तिष्ठन्ति भूरुहाः।
अस्थिसारैस्तथा देहा ध्रियन्ते देहिनां ध्रुवम् ॥२३॥
तस्माच्चिरविनष्टेषु त्वङ्मांसेषु शरीरिणाम्।
अस्थीनि न विनश्यन्ति साराण्येतानि देहिनाम् ॥२४॥
मांसान्यत्र निबद्धानि सिराभिः स्नायुभिस्तथा।
अस्थीन्यालम्बनं कृत्वा न शीर्यन्ते पतन्ति वा ॥२५॥

(अस्थियों का कार्य—) जैसे कि वृक्ष (अपने शरीर के) अन्तर्गत (काष्ठरूप) सार (के सहारे) से खड़े रहते हैं, वैसे ही प्राणियों के देह निश्चिति से अस्थि (रूप) सार के सहारे से धारण किये जाते हैं ॥२३॥ इसलिए प्राणियों की त्वचा मांस (तथा शरीर की अन्य अस्थिविरहित मृदु धातुएँ) देर से नष्ट होने पर भी हड्डियाँ नष्ट नहीं होतीं, (क्योंकि) ये प्राणियों के (शरीरों में) सार हैं ॥२४॥ (प्राणियों के शरीर में) अस्थियों का अवलंबन करके सिराओं और स्नायुओं के द्वारा मांस अस्थियों में बँधा रहता है; (अतएव वह) न अस्त-व्यस्त होता है, न गिरता है ॥२५॥

वक्तव्य—इन श्लोकों में अस्थियों का कार्य वर्णन किया है। सारैः—वृक्षों की दृष्टि से काष्ठसारैः। अस्थिसार—Skeleton या Frame work of bones। तस्माच्चिरविनष्टेषु इत्यादि—इसके दो अर्थ हो सकते हैं। (१) मनुष्य बीमार होने पर उसकी त्वचा, पेशियाँ इत्यादि अंग क्षीण और पतले हो जाते हैं, परंतु हड्डियाँ क्षीण नहीं होतीं, जिससे रुग्णोत्तर अवस्था में अस्थियों का मोटापन तथा शरीर की लम्बाई रुग्णपूर्व अवस्था के समान ही रहा करती है। (२) मृत्यु के पश्चात् जब शरीर रक्खा जाता है या जमीन में गाड़ा जाता है, तब त्वङ्मांसादि अंग बहुत जल्दी गल जाते हैं और उनके गल जाने के पश्चात् बहुत काल तक हड्डियाँ ज्यों की त्यों रह जाती हैं। अत्र—अस्थियों में। सिराभिः—इस पद का अर्थ निम्न दो प्रकार से कर सकते हैं। (१) सिरा से रज्जु या कण्डरा (स्नायु का ही एक विशेष रूप) समझना। इस अर्थ से कभी कभी आयुर्वेद में सिरा शब्द का प्रयोग होता है—अंसदेशस्थितो वायुः शोषयित्वांऽसबंधनम्। सिरास्त्वाकुञ्च्य तत्रस्थो जनयत्यवबाहुकम् ॥ (सुश्रुत, निदान १)। गृहीत्वार्धं तनोर्वायुः सिराः स्नायूर्विशोष्य च। पक्षमन्यतरं हन्ति संधिबंधान् विमोक्षयन् ॥ (अष्टांगसंग्रह, निदान १५)। (२) किंवा सिरा से रक्तवाहिनी समझकर उसी में स्नायु के गुणों का अन्तर्भाव करना। मांसपेशियों में जो रक्तवाहिनियाँ होती हैं, उनमें से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एकाध वाहिनी अस्थि में उसके पोषण के लिए (Nutrient artery) जाती है, तथा एकाध सिरा उसमें से बाहर निकल आती है। इन वाहिनियों का संबंध पेशीनिबंधन के लिए माना गया हो तो उसमें आश्चर्य नहीं है। शार्ङ्गधर में स्पष्ट लिखा है—संधिबंधनकारिण्यो दोषधातुवहाः सिराः ॥ इस दृष्टि से उपर्युक्त अष्टांगसंग्रह और सुश्रुत के वचन का तथा प्रस्तुत श्लोक का अर्थ कर सकते हैं। स्नायुभिः—पेशियों की कण्डराएँ, वितान तथा बंधन के काम में उपयोगी शणसूत्रसंनिभ शरीरगत धातु (Fibrous tissue in general and ligaments in particular)। मांसानि—मांस शब्द यहाँ पर उपलक्षण है। इससे जैसे पेशियों का बोध होता है, वैसे शरीरगत अन्य अंगों का भी बोध होता है, जो अस्थियों के सहारे एक विशिष्ट स्थान पर अवस्थित हैं। अस्थियों के कार्य—(१) शरीर को खड़ा करना अर्थात् एक विशेष प्रकार की आकृति बनाना। (२) दबाव, चोट इत्यादि से त्वङ्मांसादि का नाश होने पर भी अंगों की आकृति में विशेष अन्तर न आने देना। (३) शरीर के कोमल अंगों को सहारा देना अर्थात् उनकी रक्षा करना। (४) मांसपेशियों के निबंधन से शरीर में विविध प्रकार की गतियाँ उत्पन्न करना।

अब संधियों का वर्णन करते हैं—

सन्धयस्तु द्विविधाश्चेष्टावन्तः, स्थिराश्च ॥२६॥
शाखासु हन्वोः कट्यां च चेष्टावन्तस्तु सन्धयः।
शेषास्तु सन्धयः सर्वे विज्ञेया हि स्थिरा बुधैः ॥२७॥

(संधियों के प्रकार और उनके स्थान—) जोड़ दो प्रकार के होते हैं—चल और स्थिर ॥२६॥ बुद्धिमान् शाखा, हनु और कटि में चेष्टायुक्त संधियाँ जाने और शेष (स्थानों की) संपूर्ण संधियाँ स्थिर जाने ॥२७॥

वक्तव्य—द्विविधाः—यहाँ पर गति के विचार से प्रकार किये गये हैं। संधि में गति होती है या नहीं, इस दृष्टि से संधियाँ दो प्रकार की ही हो सकती हैं। चेष्टावन्तः—जिन संधियों में गति हो सकती हैं वे चेष्टावन्त या चल कहलाती हैं। जैसे—कंधा, कोहनी, कलाई, हाथ पैर की अंगुलियाँ इत्यादि। बहुत सी चल संधियों में गति भली प्रकार होती है। जैसे, हाथ पैर की संधियाँ, सिर और पृष्ठवंश की संधियाँ इत्यादि। कुछ चल संधियों में गति थोड़ी सी हो सकती है; जैसे, पृष्ठवंश की संधियाँ, अक्षक और स्कन्धास्थि तथा अक्षक और वक्षोस्थि इत्यादि। पाश्चात्य परिभाषा में गति की अल्पता और अधिकता के अनुसार चल संधियों के बहुचेष्ट (Diarthroses, freely movable) और अल्पचेष्ट (Amphiarthroses, slightly movable) करके दो भेद किये गये हैं। बहुचेष्ट संधियों की संख्या बहुत अधिक है। इन संधियों में संधित होने वाली अस्थियों के सिरों के बीच में कुछ अन्तर रहता है, संधित होने वाले पृष्ठभाग पर सूत्रविहीन तरुणास्थि की पतली चिकनी तह चढ़ी रहती है और उनके ऊपर एक कोष (Capsule) भी रहता है। कहीं कहीं दोनों सिरों के दर्मियान संधान चक्रिका (Articular disk) भी रहती है। अल्पचल संधि[यों] की अस्थि सिरों के दर्मियान कहीं पर संधान चक्रि[का] होती हैं (जैसे, पृष्ठवंश मोहरों की आपस की संधियाँ) और कहीं पर आन्तरास्थिक स्नायु (Interosse[ous] ligament) होती हैं। अचल या स्थिर संधि—इस प्र[कार] की संधियों में जरा सी भी गति नहीं हो सकती क्योंकि इनका संधान इस तरह का बना रहता है कि गति असं[भव] होती है। इस प्रकार की संधियाँ खोपड़ी में मिलती हैं। यहाँ पर दोनों अस्थियाँ आपस में बिलकुल जुड़ी रहती हैं। कहीं पर जोड़ने वाली चीज तरुणास्थि और कहीं तान्तव धातु होती है। संस्कृत भाषा के अनुसार 'अ' का अर्थ अभाव और ईषत् दोनों प्रकार का होता है। इसलि[ए] स्थिर या अचेष्ट संधियों में जिनमें बिलकुल गति न[हीं] होती, ऐसी संधियाँ तथा जिनमें जरा-सी गति हो सक[ती] है, ऐसी संधियाँ समाविष्ट होती हैं। यहाँ पर चेष्टावन्त और स्थिर संधियों के जो उदाहरण श्लोक में दिये हैं, उन[से] यही अर्थ निकलता है कि चेष्टावन्त संधियाँ वे हैं, जि[नमें] बहुचेष्टा होती है; और स्थिर संधियाँ वे हैं, जि[नमें] बिलकुल चेष्टा नहीं होती (अचल) तथा जिनमें जरा[-सी] चेष्टा हो सकती (अचल) है। संधियों की रचना—जहाँ पर जोड़ होता है, वहाँ पर कमजोरी आ जा[ती] है तथा गति के कारण रगड़ उत्पन्न होती है। अखण्ड हड्डी की अपेक्षा संधित हड्डी में ये [दो] दोष उत्पन्न होते हैं। यदि ये दोनों दोष दूर किये जायँ तो अखण्ड हड्डी की अपेक्षा संधि शरीर के लिए अधि[क] उपयोगी हो जाती है। शरीर में ऐसा ही किया गया है। अचल संधियों के जोड़ रचनाविशेष से बिलकुल बे[जोड़] किये गये हैं। आगे ३२वें सूत्र के वक्तव्य में तुन्नसेवनी [की] टिप्पणी देखो। अल्पचेष्ट और बहुचेष्ट संधियों में संधि[त] होने वाले हड्डियों के सिरे चारों ओर से रज्जु या पट्टवत् [बंधनों] के द्वारा इस तरह बँधे रहते हैं कि यदि एक मर्यादा से अधि[क] दबाव या आघात न हो, संधि में कुछ भी कमजोरी न[हीं] होती। ये बंधन स्नायु कहलाते हैं। इनका विशेष विव[रण] आगे ३४वें सूत्र से संधियों के पश्चात् किया गया है। [जहाँ] पर गति अधिक होती है, वहाँ पर घर्षण से बचाने के लि[ए] संधियों में एक श्लेष्मल कला रक्खी रहती है, जिसकी सं[धि] से एक चिकनाईदार तरल निकलता रहता है। इस तरल [से] कला तथा अस्थियों के सिरे सदा तर रहते हैं। यह त[रल] वही काम देता है, जो यन्त्र में तेल। यन्त्र में तेल देने [से] रगड़ नहीं होती, उसके पुरजे जल्दी नहीं घिसते और [गति] भी अच्छी तरह होती है। वैसे ही इस तरल से संधियों [में] बिना रगड़ के गति भली भाँति होती है तथा अस्थियों [के] सिरे नहीं घिसते। जिस कला से यह तरल निकलता [है] वह कला संधिश्लेष्मधरा कला (Synovial membr[ane]) और वह तरल संधिश्लेष्मा या श्लेषक (Synovia) कहल[ाता] है—संधिस्थस्तु श्लेष्मा सर्वसंधिसंश्लेषात् सर्वसन्ध्यनुग्रहं करोति (सुश्रुत)। पर्वस्थोऽस्थिसंधिश्लेषणात् श्लेषक इति। (अष्टांग संग्रह)। तथा चतुर्थ अध्याय में श्लेष्मधरा कला भी दे[खो]।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...तु श्लेष्मधरा कला में कभी कभी सूजन उत्पन्न होती है, उसको संधिश्लेष्मकलाशोथ (Synovitis) कहते हैं। इसमें संधियों में सूजन, पीड़ा और गतियों में रुकावट होती है। कभी कभी दबाव के कारण संधिस्नायु जोर से खिंच जाते हैं और कुछ सूत्र भी टूट जाते हैं, परंतु पूरी स्नायु कर्महीन नहीं होतीं। इस अवस्था को मोच आना (Sprain) कहते हैं। इसमें अधिक खींचने से या एक विशिष्ट दिशा में गति करने से संधि में थोड़ा बहुत दर्द होता है। जब अधिक जोर पड़ने से या चोट लगने से संधिबंधन टूट जाते हैं, तब संधित अस्थियाँ अपने स्वाभाविक स्थान से हटकर एक दूसरे से अलग हो जाती हैं। इस अवस्था को संधिभग्न या संधिविश्लेष (Dislocation) कहते हैं। निदानस्थान के १५वें अध्याय का तीसरा सूत्र देखो।

सङ्ख्यातस्तु दशोत्तरे द्वे शते; तेषां शाखास्वष्टषष्टिः; एकोनषष्टिः कोष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं त्र्यशीतिः ॥२८॥

(संपूर्ण शरीर की तथा षडंगों की संधिसंख्या—) संख्या (की दृष्टि) से तो ये दो सौ दस हैं। इनमें से शाखाओं में अड़सठ, मध्यशरीर में उनसठ और ग्रीवा से ऊपर तिरासी ॥२८॥

एकैकस्यां पादाङ्गुल्यां त्रयस्त्रयः, द्वावङ्गुष्ठे, ते चतुर्दश; जानुगुल्फवङ्क्षणेष्वेकैकः, एवं सप्तदशैकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति; एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ ॥२९॥

(शाखाओं की पृथक् पृथक् संधियाँ—) पाँव की प्रत्येक अंगुलि में तीन तीन; अँगूठे में दो; (इस प्रकार प्रत्येक पाँव की अँगुलियों में) ये चौदह; जानु, गुल्फ, वंक्षण में एक एक; इस प्रकार एक टांग में सत्रह संधियाँ होती हैं। इससे दूसरी टांग और दोनों बाहुओं का भी व्याख्यान हो जाता है ॥२९॥

त्रयः कटीकपालेषु, चतुर्विंशतिः पृष्ठवंशे, तावन्त एव पार्श्वयोः, उरस्यष्टौ ॥३०॥

(मध्यशरीर की संधियाँ—) श्रोणिफलकों में तीन, पृष्ठवंश में चौबीस, उतनी ही पार्श्वों में और वक्ष में आठ ॥३०॥

तावन्त एव ग्रीवायां, त्रयः कण्ठे, नाडीषु हृदयक्लोमनिबद्धास्वष्टादश, दन्तपरिमाणा दन्तमूलेषु, एकः काकलके नासायां च, द्वौ वर्त्ममण्डलजौ नेत्राश्रयौ, गण्डकर्णशङ्खेष्वेकैकः, द्वौ हनुसन्धी, द्वावुपरिष्टाद्भ्रुवोः शङ्खयोश्च, पञ्च शिरःकपालेषु, एको मूर्ध्नि ॥३१॥

(ग्रीवा के ऊपर की संधिसंख्या—) ग्रीवा में उतनी ही (आठ); कण्ठ में तीन; हृदयक्लोमसंबद्ध नाड़ी में अठारह; दाँतों की जड़ों में दाँतों के बराबर (बत्तीस); काकलक और नासा में एक एक; नेत्राश्रित वर्त्ममण्डल में दो; गण्ड, कर्ण और शङ्ख इनमें (प्रत्येक तरफ) एक एक; दो हनु संधियाँ; भौंहों और शङ्खों के ऊपर दो; शिरःकपालों में पाँच; मूर्धा में एक ॥३१॥

वक्तव्य—तावन्त एव—उरस में जितनी हैं, उतनी। नाडीषु इत्यादि—यहाँ पर 'फुप्फुसक्लोमनिबद्धासु' ऐसा भी पाठ है। इसका मतलब इतना ही है कि यहाँ पर नाड़ी से कण्ठनाड़ी (Trachea) अभिप्रेत है। हाराणचंद्र इसके बदले निम्न पाठ देते हैं—फुप्फुसनिबद्धायां कण्ठसंसक्तायां नाड्यां विंशतिः॥ अठारह या बीस संख्या कण्ठनाडीगत छल्लों की अर्थात् उनके आपस के जोड़ों की है। दन्तमूलेषु—यहाँ पर दन्तमूल और उलूखल इनके जोड़ों की संख्या अभिप्रेत है। काकलक—डल्हण के अनुसार 'काकलकं गलमणिः, घण्टिकेति लोके।' चरक और चक्रपाणिदत्त के अनुसार तालुमूल—यस्य श्लेष्मा प्रकुपितः काकले व्यवतिष्ठते। आशु संजनयेच्छोफं करोति गलशुण्डिकाम्॥ (चरक, सूत्र १८)। काकलं तालुमूलम्। (चक्रपाणिदत्त)।

त एते सन्धयोऽष्टविधाः—कोरोलूखलसामुद्गप्रतरतुन्नसेवनीवायसतुण्डमण्डलशङ्खावर्ताः। तेषामङ्गुलिमणिबन्धगुल्फजानुकूर्परेषु कोराः सन्धयः, कक्षावङ्क्षणदशनेषूलूखलाः, अंसपीठगुदभगनितम्बेषु सामुद्गाः, ग्रीवापृष्ठवंशयोः प्रतराः, शिरःकटीकपालेषु तुन्नसेवन्यः, हनोरुभयतस्तु वायसतुण्डः, कण्ठहृदयनेत्रक्लोमनाडीषु मण्डलाः, श्रोत्रशृङ्गाटकेषु शङ्खावर्ताः। तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः ॥३२॥

(संधियों की रचना के प्रकार—) ये जोड़ आठ प्रकार के होते हैं—कोर, उलूखल, सामुद्ग, प्रतर, तुन्नसेवनी, वायसतुण्ड, मण्डल, शङ्खावर्त। इनमें से अंगुलि, कलाई, गुल्फ, जानु, कूर्पर में कोर संधि होते हैं; कक्षा, वङ्क्षण और दाँतों में उलूखल; अंसपीठ, गुद, भग तथा नितम्ब में सामुद्ग; ग्रीवा, पृष्ठवंश में प्रतर; शिर और कटि के कपालों में तुन्नसेवनी; हनु के दोनों ओर वायसतुण्ड; कण्ठहृदय क्लोमनाड़ी में मण्डल; श्रोत्रशृङ्गाटक में शङ्खावर्त। इनके नाम से ही प्रायः इनकी आकृति वर्णित होती है ॥३२॥

वक्तव्य—पीछे २६वें सूत्र में गति के आधार पर संधियों के दो भाग किये गये थे। इस सूत्र में संधियों की रचना के अनुसार आठ विभाग किये गये हैं। इनमें से मण्डल और शंखावर्त वास्तव में संधि नहीं हैं; तुन्नसेवनी स्थिर संधि है और बाकी पाँच चल संधियों के भेद हैं। कोर—किवाड़ या संदूक में जड़े जाने वाले लोहे

१ नाडीषु फुप्फुसक्लोमनिबद्धासु. त्रयः कण्ठे, त्रयः कण्ठनाड्यां, हृदयक्लोमनिबद्धासु नाडीष्वष्टादश. २ नासायां पञ्च, ... द्वावेव द्वयोर्नेत्रयोर्भवतः, द्वौ वर्त्ममण्डलजौ नेत्राशयौ.

१ अंसपीठगुदपादनितम्बेषु. २ हन्वोः.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

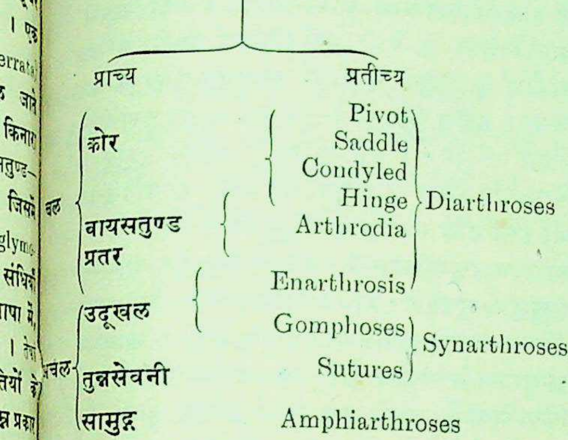
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या पीतल के बने हुए दो टुकड़े, नरमादगी या कब्जा (Hinge); इसके समान जिसकी रचना होती है, वह कोरसंधि (Hinge-joint or Ginglymus) कहलाता है। यहाँ पर कोरसंधि के जो उदाहरण दिये हैं, उनमें से अंगुलिपर्वो की संधियाँ (Interphalangeal joints) और कूर्परसंधियाँ ठीक इस प्रकार की हैं। गुल्फसंधियाँ (Talocrural or ankle joint) भी इसी स्वरूप की हैं यद्यपि वे ऐसी मालूम नहीं होतीं। कोरसंधियों में गति केवल एक अक्ष पर (Uniaxial) अर्थात् किवाड़ की तरह आगे पीछे होती है। गुल्फ में दोनों पार्श्वों में भी कुछ गति होती है, परंतु वह संधि के कारण न होकर बंधनशिथिलता के कारण होती है। कोरसंधियों में जो मणिबंध संधि है, वह वास्तविक कोर न होकर उसका एक प्रकार मान सकते हैं। इसको खल्लकोर (Condyloid articulation) कहते हैं। इसमें दीर्घ गोलाकार बहिर्भूत भाग (Condyle) का वैसे गड्ढेदार भाग से संधान होता है। इस प्रकार के जोड़ में आकुञ्चन, प्रसारण, आकर्षण (Adduction), अपकर्षण (Abduction) और परिकर्षण (Circumduction) ये गतियाँ होती हैं, परंतु कोरसंधि के समान अक्षभ्रमण (Axial rotation) नहीं होता। अंगुलियों में और भी एक प्रकार की संधि होती है, जिसमें दीर्घ गोल के बदले उन्नत गोल और नत गोल (Concavo-convex) पृष्ठभाग होते हैं। इसमें भी उपर्युक्त प्रकार की गतियाँ होती हैं। इस संधि को परस्पर कोर (Saddle articulation) कहते हैं। इसका उदाहरण अंगुष्ठमूलसंधि (Carpo-metacarpal joint of the thumb) है। उलूखल—इसमें अस्थि का एक सिरा ऊखल के समान गड्ढेदार होकर उसमें दूसरी अस्थि का गोल सिरा संधित होता है। इसलिए यह संधि उलूखलसंधि (Enarthrosis, ball and socket joint) कहलाती है। इस संधि में सब प्रकार की गतियाँ होती हैं। इसके उदाहरण कक्षासंधि (Shoulder joint) और वङ्क्षणसंधि (Hip-joint) हैं। यहाँ पर दाँतों की संधि का जो उदाहरण दिया है, वह इस वर्ग का नहीं; स्थिर संधि का है। उसमें जरा सी भी गति नहीं होती। इस प्रकार की संधि को Gomphosis कहते हैं। सामुद्ग—जहाँ पर जुड़ने वाली अस्थियों के दोनों सिरे गड्ढेदार होने के कारण उनके संधान से संपुट या डिब्बी के समान आकृति होती है, उस प्रकार की संधि। इसकी रचना ही ऐसी होती है कि उससे जरा सी गति हो सकती है। इस प्रकार की संधि एम्फीअर्थ्रोडिया (Amphiarthrodia) कहलाती है। यहाँ पर इसके जो उदाहरण दिये हैं, उनमें अंसपीठ की संधियाँ इस प्रकार की नहीं होतीं। यदि उसके बदले 'वंशपीठगुदभगनितम्बेषु' ऐसा पाठ कर दिया जाय तो वह ठीक हो जाता है क्योंकि पीठ के मोहरों के गात्रों की (Bodies of vertebrae) संधियाँ इस प्रकार की होती हैं। इसके सिवा दोनों भगास्थियों की संधि, गुदास्थि और त्रिकास्थि की संधि, त्रिक और श्रोणीफलक तथा पृष्ठवंश की संधि, इसी स्वरूप की होती हैं। म० म० गणनाथसेनजी अंसकूटगुदभग-नितम्बेषु ऐसा पाठ लेते हैं। प्रतर—इस प्रकार की संधि में प्रतरण याने फिसलने के समान कुछ गति (Gliding movement) होती है। इस प्रकार की संधि को आर्थ्रोडिया (Arthrodia) कहते हैं। यह संधि ग्रीवा और पृष्ठ के मोहरों के प्रवर्धनों (Processes) के बीच में होती है। तुन्नसेवनी—दर्जी की सीवन के समान जो संधि होती है, वह तुन्नसेवनी कहलाती है। इसको सूचर (Suture) कहते हैं। सेवनी कई प्रकार की होती है। एक प्रकार में हड्डियों के किनारे दन्तुर (Sutura Serrata) होते हैं। दूसरे प्रकार में दोनों सीधे मिल जाते (S. harmonia) हैं। तीसरे प्रकार में एक का किनारा दूसरे के ऊपर कुछ चढ़ता (S. squamosa) है। वायसतुण्ड—काकमुख। हनु का संधान संयुक्त प्रकार का है, जिसमें प्रतर और कोर दोनों प्रकार से गति का काम (Ginglymo-arthrodial joint) होता है। मण्डलशंखावर्त—ये संधियाँ अस्थियों की नहीं हैं। आधुनिक पाश्चात्त्य परिभाषा में, अतएव, इनका समावेश संधियों में नहीं होता। तेषां नामभिरेवाकृतयः प्रायेण व्याख्याताः—इनकी आकृतियों के संबंध में प्राचीन और अर्वाचीन टीकाकारों के मत निम्न प्रकार के हैं—कोरो नाम गर्तस्तदाकृतयः कोराः; कोरः कलिका, तदाकृतय इत्यन्ये। उलूखलस्तण्डुलकण्डनोपयोगी, तदाकृतयः सन्धयो-प्युलूखलाः। समुद्गः संपुटस्तदाकृतौ भवाः सामुद्गाः। प्रतरत्यनेनेति प्रतरो भेलकः, तदाकृतयः प्रतराः। मण्डलो मण्डलाकृतिः (डल्हण)। कोरो नाम कपाटादिनिवन्धनार्थो यन्त्रभेदः 'कब्जा' इत्याख्यायते। उलूखलशब्देनेह मुसलस्यापि परिग्रहः क्रियते धनुर्धरेति धनुःशब्देन वाणस्यापि परिग्रहवत्। छिन्नानामल्लं सेवनं तुन्नसेवनी। शङ्खावर्तः शङ्खभ्रमः; संधिषु च शब्दानामेषां तत्त-त्सात्म्याद्व्यपदेशः, सिंहो माणवक इतिवत्। सम्पुटाकारेण निर्वृत्तः सामुद्गः। चिङ्गटा नाम मत्स्याः प्रकर्षेण तरन्त्यनेनेति प्रतरः, तत्-इवास्थिविशेषोऽस्त्यस्येति व्युपत्त्या प्रतरशब्दोऽस्मिन् शास्त्रे 'चिङ्गटा' इति प्रसिद्धेषु मत्स्येषु मध्ये बृहच्छरीरस्य शिरःकण्टकवदुद्गता-मतिसन्धौ रूढ इति गम्यते, प्रतरसंज्ञया विवक्षितानां ग्रीवादि-संधीनां तथात्वात्। अथापि चेत् केषाञ्चित् श्रद्धामनुरुध्य-मत्स्यस्यास्य शिरो हित्वा ग्रीवादिभागमेव प्रतरणसाधनत्वेनोक्तं प्रतरशब्दवाच्यमभ्युपगच्छेम तदापि नानुपपत्तिस्तदनूकत्वात् तेषां संधीनाम्। (हाराणचन्द्र)। तत्र कोरा नाम सन्धयो बहुचेष्टा उत्तानकोरगर्भेष्वस्थिप्रान्तेषु उत्सेधवतामस्थिभागानां सं-रूपाः। ते चतुर्विधाः—खल्लकोरः, परस्परकोरः, चक्रकोरः संदंशकोरश्चेति। उदूखला नाम सन्धयोऽपि बहुचेष्टाः, उदूखल-गम्भीरप्रायेष्वस्थिभागेषु इतरास्थिमुण्डानां सन्धानरूपाः तेषु हि स्वोदूखलानाश्रित्य अभितो विवर्तन्ते तानि तान्यङ्गानि यथा—कक्षावङ्क्षणसंधिषु। दशनोदूखलास्तु स्थिराः सन्धयः इति मन्तव्याः। सामुद्गा नाम समुद्गनिर्मापका इव सन्धयः अल्पचेष्टा ते श्रोणिचक्रांसचक्रादिषु दृश्याः। प्रतरा नाम प्रतरणशीला ईषच्चलैः समतलांशाभ्यां परस्परसंहितैरस्थिखण्डैर्निर्मिताः सन्धयः। तुन्नसेवन्यो नाम परस्परापीडनैर्दन्तुरधारादिभिर्निर्मिताः कपालान्त-रालाः सन्धयः। ते शिरःकपालेषु दृश्याः कटिकपालेषु च प्रायशः

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वायसतुण्डाख्यस्तु सन्धिः अधोहनोमुण्डयोः शङ्खास्थिगताभ्यां हनुसंधिस्थालकाभ्यां संधानान्मुखव्यादानादिसम्पादकः । स तु कोरसंधेरेव खल्लकोराख्यो भेदो युग्मरूपः, तस्य कोरग्रहणेनैव ग्रहणा-दिति सूक्ष्मदृशः । मण्डलशङ्खावर्ताः पुनः क्रमात् श्वासपथकर्णशष्कु-लीगतास्तरुणास्थिसन्धयः, तेषां नेह ग्रहणम् । (म० म० गणनाथसेन, प्रत्यक्षशारीर) । अब नीचे प्राच्य और प्रतीच्य संधि प्रकारों का तुलनात्मक नक्शा दिया जाता है—



अस्थ्नां तु सन्धयो ह्येते केवलाः परिकीर्तिताः ।
पेशीस्नायुसिराणां तु सन्धिसङ्ख्या न विद्यते ॥३३॥

ये (उपर्युक्त) संधियाँ केवल हड्डियों की वर्णन की गई हैं। पेशी, स्नायु और सिरा इनकी संधियों की संख्या ही नहीं हो सकती है ॥३३॥

वक्तव्य—संधि—शरीर में एक प्रकार की दो वस्तुओं के स्थान को संधि कहते हैं । जैसे—अस्थिसंधि, सिरा-संधि, पेशीसंधि इत्यादि । इनमें से अस्थिसंधियों का ज्ञान विशेष उपयोगी होने के कारण उन्हीं का विवरण किया गया; शेष संधियों का यहाँ पर केवल निर्देश किया है। संधि से यद्यपि शरीरगत सब वस्तुओं के मिलने के स्थान का बोध होता है तथापि उपर्युक्त कारण से विशेष निर्देश न होने पर प्रायः अस्थिसंधि का ही बोध होता है। अस्थिसंधि को ही Joint या Articulation कहते हैं; पेशी या अन्य अंगों के संधि को नहीं कहते । केवलाः—सिर्फ हड्डियों की ही, किम्वा स्थूलरूप से । यहाँ पर जो अस्थिसंधिसंख्या बतलाई गई है, वह वास्तविक संख्या से बहुत कम है। अस्थियों की गणना के समय जो अधिकता हुई है, उसकी क्षति अस्थिसंधि गणना के समय की गई है ऐसा मालूम होता है । यदि अस्थि और अस्थिसंधिसंख्या की अदल-बदल की जाय तो वह संख्या आधुनिक गणना के साथ बहुत कुछ मिल जाती है। जैसे, कुल संख्या के बारे में है, वैसे ही कुछ अवयवों की संख्या के बारे में सही है। यथा—पादांगुलियों की, पृष्ठवंश की, पार्श्व की संधिसंख्या अस्थियों के लिए अधिक योग्य होती है । आधुनिक गणना के अनुसार शरीरगत कुल संधियों की संख्या तीन सौ से अधिक है । प्राचीनकालीन संधिसंख्या कम होने के अनेक कारण हो सकते हैं । उनमें एक कारण यह मालूम होता है कि प्राचीन गणना में अनेक अस्थियों की संधियाँ एक और स्वतन्त्र मानी जाती थीं । पीछे १५वें सूत्र में अस्थिसंघात और उनका वक्तव्य देखो ।

अब इसके पश्चात् स्नायुओं का वर्णन करते हैं—

नव स्नायुशतानि । तासां शाखासु षट्शतानि, द्वे शते त्रिंशच्च कोष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं सप्ततिः ॥३४॥

(स्नायुसंख्या—) स्नायुएँ नौ सौ हैं । इनमें से शाखाओं में छः सौ, मध्यशरीर में दो सौ तीस, और ग्रीवा में ऊपर सत्तर ॥३४॥

एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां षट् निचिताः, तास्त्रिंशत्, तावत्य एव तलकूर्चगुल्फेषु, तावत्य एव जङ्घायां, दश जानुनि, चत्वारिंशदूरौ, दश वङ्क्षणे, शतमध्यर्धमेवमेकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ ॥३५॥

(शाखागत स्नायु—) पैर की एक एक अंगुलि में छः स्नायुएँ लगी रहती हैं (इस प्रकार पाँच अंगुलियों में) वे तीस होती हैं। पादतल, कूर्च और गुल्फ (इन तीनों स्थानों) में उतनी ही, जङ्घा में उतनी ही, जानु में दस, ऊरु में चालीस, वङ्क्षण में दस, इस प्रकार एक टाँग में १५० स्नायुएँ होती हैं । इससे दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं (की कुल तथा पृथक् पृथक् स्नायुओं की संख्या) का विवरण हो जाता है ॥३५॥

षष्टिः कट्यां, पृष्ठेऽशीतिः, पार्श्वयोः षष्टिः, उरसि त्रिंशत् ॥३६॥

(मध्य शरीर की स्नायु—) कटि में साठ, पीठ में अस्सी, पार्श्वों में साठ, छाती में तीस ॥३६॥

षट्त्रिंशद्ग्रीवायां, मूर्ध्नि चतुस्त्रिंशतः एवं नव स्नायुशतानि व्याख्यातानि (भवन्ति) ॥३७॥

(ऊर्ध्वजत्रुगत स्नायु—) ग्रीवा में छत्तीस, सिर में चौंतीस; इस प्रकार स्नायुओं के नौ शत वर्णन किये गये हैं ॥३७॥

भवन्ति चात्र—

स्नायूश्चतुर्विधा विद्यात्तास्तु सर्वा निबोध मे ।
प्रतानवत्यो वृत्ताश्च पृथ्व्यश्च शुषिरास्तथा ॥३८॥
प्रतानवत्यः शाखासु सर्वसन्धिषु चाप्यथ ।
वृत्तास्तु कण्डराः सर्वा विज्ञेयाः कुशलैरिह ॥३९॥
आमपक्वाशयान्तेषु वस्तौ च शुषिराः खलु ।
पार्श्वोरसि तथा पृष्ठे पृथुलाश्च शिरस्यथ ॥४०॥

१ षट् षट् . २ अस्याग्रे .

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(स्नायुओं के प्रकार और उनके स्थान—) सब स्नायुएँ चार प्रकार की होती हैं, उन्हें मुझसे सुनो। प्रतानवती, वृत्त, पृथुल और सुषिर ॥३८॥ प्रतानवती स्नायुएँ शाखाओं में तथा सब संधियों में होती हैं। यहाँ (स्नायुविभाग में) बुद्धिमानों को गोल स्नायुएँ कण्डरा समझना चाहिए; (वे भी शाखाओं और संधियों में होती हैं ॥३९॥ आमाशय, पक्वाशय तथा बस्ति में सुषिर स्नायुएँ होती हैं। पार्श्व, छाती तथा पीठ और शिर में पृथुल स्नायुएँ होती हैं ॥४०॥

वक्तव्य—स्नायु—इस शब्द के अर्थ के संबंध में भी कुछ मतभेद प्रचलित हैं। पं० गंगाधर शास्त्री जोशी स्नायु से पेशी (Muscle) समझते हैं। मराठी भाषा में भी स्नायु शब्द मसल के लिए ही प्रयुक्त होता है। परंतु इसका वास्तविक अर्थ से कोई संबंध नहीं है। स्नायु का स्वरूप निम्न प्रकार से ग्रंथों में वर्णित है—केचिदवसन्नसुषिरपर्यन्ताः शणतूलवत् स्नायुजालवन्तो दुर्दर्शनाः (व्रणाः)। (सुश्रुत, सूत्र २३)। स्नायुरिति शणाकार उपधातुविशेषः, येन धनूंषि नह्यन्ते। (डल्हण, सुश्रुत, सूत्र २५)। सीवन के द्रव्यों में स्नायु का उल्लेख है—सीव्येत् सूक्ष्मेण सूत्रेण वल्केनाश्मन्तकस्य वा। शणजक्षौमसूत्राभ्यां स्नाय्वा वालेन वा पुनः ॥ (सुश्रुत, सूत्र २५)। स्थिते रक्ते यथार्हं सूच्योपहृतेन स्नायुसूत्रवालानामन्यतमेन सीव्येत्। (अष्टांगसंग्रह, सूत्र ३९)। स्नायु का कार्य—मांसान्यत्र निबद्धानि सिराभिः स्नायुभिस्तथा। आगे ४२वाँ श्लोक देखो। स्नायवो बन्धनं प्रोक्ता देहे मांसास्थिमेदसाम्। (शार्ङ्गधर)। इससे यह स्पष्ट है कि स्नायु शरीरगत श्वेत सूत्रमय मजबूत उपधातु है, जो संधि और मांस (पेशी Muscle) बंधन के काम में आती है और आकार के अनुसार उसको भिन्न भिन्न नाम दिये जाते हैं। प्रत्यक्ष शारीर में उसका जो वर्णन दिया है, वह यथार्थ है—स्नायवो नाम सान्द्रमसृणशणगुच्छसमाकाराः संधिबन्धनार्थाः प्रायेण। स्नायुशब्दश्चैष द्वयोरर्थयोर्दृश्यते प्रयुक्तः—स्नायुसंहतिषु (Ligaments) स्नायुव्यक्तिषु (Fibrous tissue)। तत्र प्रथमः अस्थिसंधिबन्धनरूपोऽर्थः, स मुख्यः—'प्रतानवतीभिर्हि स्नायुभिर्दृढीकृताः सन्धयः' इति पूर्वाचार्योक्तेः। अथ द्वितीयः स्नायुव्यक्तिरूपोऽर्थः, स गौणः। तेन स्नायुशब्दः क्वचित् शणसूत्रवद् दृढशुभ्रसूक्ष्मसूत्राण्यभिधत्ते। तथाहि कलासु कण्डरासु पार्श्वपृष्ठोरःपेश्यन्तेषु आमाशयपक्वाशयबस्त्यन्तभागेषु च दृश्यते यः स्नायुशब्दः प्रयुक्तः पूर्वैः, सोऽस्मिन्नेवार्थे। इसमें संदेह नहीं है कि आयुर्वेद में पेशी (Muscle) के अर्थ में स्नायु शब्द प्रयुक्त होता है। (१) इसका एक कारण है वास्तविक पेशी को स्नायु समझना। इसका उदाहरण सुषिर स्नायु का है। सुषिर स्नायु वास्तव में गोलाकार पेशियाँ (Sphincters and valnular bands of muscles) हैं। इनका स्वरूप स्नायु के साथ कुछ मिलता है। इसलिए ये पेशियाँ स्नायु मानी गई हैं। (२) शरीर की पेशियों का अन्तिम भाग स्नायु सूत्रों (Fibrous structures) से बनता है। स्नायुसूत्र जब गोल रस्सी के रूप में होते हैं, तब कण्डरा (Tendons) कहलाते हैं। जब रस्सी के आकार के न होकर अ[…] फैले हुए एक पतली तह बनाते हैं, तब पृथुल स्ना[…] (Aponeurosis) कहलाते हैं। ये स्नायुसूत्र पेशीसू[…] से अखंडित मिले रहते हैं। आकुंचन और प्रसारण […] गुण स्नायुसूत्रों में न होकर पेशीसूत्रों में होता है। प[…] इन दोनों का अत्यन्त घनिष्ठ संबंध होने के कारण आयुर्वे[…] में संकोच-प्रसार का कार्य पेशीगत स्नायु-विभाग का […] माना गया है। परंतु इसका उल्लेख कहीं भी स्वतन्त्र[…] न होकर विकृतावस्था में मिलता है। यही कारण है […] शल्यविज्ञान में पेशी या मांसगत शल्य के लक्षणों […] संकोच का उल्लेख न होकर स्नायुगत शल्य के लक्षणों […] उसका उल्लेख मिलता है—आक्षेपः स्नायुजालस्य संरंभः […] वेदना। स्नायुगे। (अष्टांगहृदय)। स्नायुगते स्नायुजालोत्क्षे[…] संरंभश्चोग्रा रुक् च। (सुश्रुत, सूत्र २६)। स्नायुविद्ध लक्षणों […] भी इसी तरह संकोच का उल्लेख है—कौब्जं शरीरावयव[…] सादः क्रियास्वशक्तिस्तुमुला रुजश्च। तं स्नायुविद्धं मनुजं व्यवस्ये[…] (सुश्रुत, सूत्र० २५)। क्रियास्वशक्तिरिति, क्रियाश्चात्रोत्क्षेपणा[…]वक्षेपणप्रसारणाकुंचनलक्षणाः। (डल्हण)। स्नायुवेध और स्नायुशल्य में संकोच और उत्तेजन का जो विशेष उल्लेख किया गया है, उससें कुछ तथ्य मालूम होता है क्योंकि आधुनिक खोज से यह मालूम होने लगा है कि सां[…]निक तथा अन्य प्रकार के नाडियों के अग्र पेशिकण्ड[…] संयोग में तथा कण्डरा में होते हैं—The nerve ter[…]nations are found in tendon and muscles. T[…] neuro-muscular spindles are principally found […] muscles in the neighbourhood of tendons a[…] aponeuroses. Of recent years more and m[…] importance has been attached to the ten[…] organs. It is considered that tendon organs a[…] concerned in the tendon stretch reflexes. *Hal[…]burton's Physiology.* वैसे ही अपतानक में जहाँ पेशि[…] में संकोच होता है, वहाँ पर पेशियों के लिए स्नायुशब्द […] प्रयोग किया गया है—अङ्गुलीगुल्फजठरहृद्वक्षोगलसंश्रि[…] स्नायुप्रतानमनिलो यदाऽऽक्षिपति वेगवान्। तदाऽस्याभ्य[…]यामं कुरुते मारुतो बली। बाह्यस्नायुप्रतानस्थो बाह्या[…] करोति च ॥ (सुश्रुत, निदान० १)। (३) स्नायु पेशियों का […] एक भाग होने के कारण 'नामैकदेशे नामग्रहणम्' इस न्या[…] से भी कहीं कहीं पेशियों के लिए स्नायु शब्द प्रयुक्त ह[…] है—गृहीत्वार्धं तनोर्वायुः सिराः स्नायूर्विशोष्य च। पक्षम[…] हन्ति संधिबंधान् विमोक्षयन् ॥ (अष्टांगहृदय)। इस […] यद्यपि कहीं कहीं स्नायु शब्द पेशी या मांस (Mus[…] के अर्थ में प्रयुक्त होता है तथापि उसका वास्तविक […] शणसूत्रसन्निभ शरीरगत उपधातु है (Fibrous tis[…] और मांस से स्नायु हमेशा पृथक् माना जाता है—मां[…] अत्र निबद्धानि स्नायुभिः। त्वङ्मांससिरास्नाय्वस्थिसंधि[…] मर्माण्यष्टौ व्रणवस्तुनि। (सुश्रुत)। स्वल्पं स्नायुवसावशेष[…] निर्मांसमप्यस्थि गोः श्वा लब्ध्वा परितोषमेति न तु तस्य […] शांतये। (नीतिशतक)। अब यहाँ पर स्नायु के जो चार […]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बतलाये गये हैं उनके आधुनिक पर्याय—(१) प्रतानवती स्नायु—संधिबंधन Ligaments; (२) वृत्तस्नायु—कण्डरा, Tendons; (३) सुषिरस्नायु—गोल या सच्छिद्र पेशियाँ Sphincter muscles or valvulor bands of muscles; (४) पृथुलस्नायु—चपटी स्नायु Flattened or ribbon shaped tendons or Aponeuroses; इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि स्नायु-वर्णन के प्रारंभ में जो इनकी संख्या बतलाई है, उसमें संधिबंधन (Ligaments) और पेशियों के बंध (Tendons and aponeuroses) अधिक संख्या में तथा कुछ पेशियाँ भी शामिल हैं।

नौर्यथा फलकास्तीर्णा बन्धनैर्बहुभिर्युता।
भारक्षमा भवेदप्सु नृयुक्ता सुसमाहिता ॥४१॥
एवमेव शरीरेऽस्मिन् यावन्तः सन्धयः स्मृताः।
स्नायुभिर्बहुभिर्बद्धास्तेन भारसहा नराः ॥४२॥

(स्नायुओं का कार्य—) जिस प्रकार बहुत से बंधनों से युक्त, मनुष्य (बढ़ई) के द्वारा भली भाँति जोड़ी हुई फलकों (तख्तों) की नौका पानी में भार को उठाने में समर्थ होती है ॥४१॥ इसी प्रकार इस शरीर में जितनी संधियाँ हैं वे बहुत सी स्नायुओं द्वारा बँधी हुई हैं, जिससे मनुष्य (शरीररूप प्लव) भार को उठाने में समर्थ होते हैं ॥४२॥

वक्तव्य—नृयुक्ता—इसका एक अर्थ ऊपर दिया है। इसके सिवा 'नाव में बैठने वाले मनुष्यों से युक्त' किंवा 'नाविक से युक्त' ये भी इसके दो अर्थ हो सकते हैं। स्नायु—यहाँ पर नाव का जो दृष्टान्त दिया है, उससे स्नायु का अर्थ केवल Ligaments होता है।

न ह्यस्थीनि न वा पेश्यो न सिरा न च सन्धयः।
व्यापादितास्तथा हन्युर्यथा स्नायुः शरीरिणम् ॥४३॥

(शरीर में स्नायु का महत्त्व—) पीडित हुई स्नायु जैसे मनुष्य का घात (अकर्मण्य या वैकल्य करती है), वैसे न हड्डियाँ, न पेशियाँ, न सिराएँ, न संधियाँ घात करती हैं ॥४३॥

वक्तव्य—इस श्लोक का तात्पर्य इतना ही है कि स्नायु विकृत या पीड़ित (Injured or hurt) होने पर मनुष्य को बहुत तकलीफ होती है। उतनी तकलीफ अस्थि आदि से नहीं होती। मोच (Sprain) का उदाहरण लीजिए। बहुत सरल बीमारी है परंतु सब कुछ करने पर भी महीनों तक तंग करती है और कभी कभी यहाँ तक देखा जाता है कि एक बार जिस अंग में सख्त मोच आ जाती है, उस अंग से जिन्दगी-भर भार सहन करने का काम नहीं होता। अर्थात् यह कथन एक मर्यादा तक सत्य है। इसलिए 'व्यापादित' का अर्थ 'पूर्णतया नष्ट न करके' 'कुछ पीडित' (Injured or hurt) ऐसा करना चाहिए, और 'हन' का अर्थ 'मार डालना' ऐसा न करके 'रुकावट या अड़चन पैदा करना' (Obstruct, Hinder) ऐसा करना चाहिए।

यः स्नायूः प्रविजानाति बाह्याश्चाभ्यन्तरास्तथा।
स गूढं शल्यमाहर्तुं देहाच्छक्नोति देहिनाम् ॥४४॥

(स्नायुविज्ञान का महत्त्व—) जो बाह्य और आभ्यन्तर (उत्तान और गंभीर) स्नायुओं को भली भाँति जानता है, वह बहुत दूर तक अन्दर गये हुए शल्य को मनुष्यों के शरीर से निकालने में समर्थ होता है ॥४४॥

अब इसके बाद पेशियों का विवरण करते हैं—

पञ्च पेशीशतानि भवन्ति। तासां चत्वारि शतानि शाखासु, कोष्ठे षट्षष्टिः, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं चतुस्त्रिंशत् ॥४५॥

(पेशियों की संख्या—) पाँच सौ पेशियाँ (शरीर में होती) हैं। इनमें से शाखाओं में चार सौ, कोष्ठ में छियासठ, गर्दन के ऊपर चौंतीस ॥४५॥

वक्तव्य—यहाँ पर पेशियों की जो कुल संख्या बताई है वह आधुनिक संख्या के साथ बहुत कुछ मिलती है, परंतु प्रत्यंगों की संख्या में बहुत फर्क होता है। प्रत्येक अंग और प्रत्यंगों की पेशियों की तुलना करने में कोई स्वारस्य नहीं है, इसलिए षडंगों की पेशियों की संख्या का तुलनात्मक कोष्ठक नीचे दिया जाता है।

पेशीसंख्यातुलनाकोष्ठक

अंग का नाम	प्राचीन संख्या	अर्वाचीन संख्या
शाखाएँ	१००×४=४००	५९×४=२३६
धड़	६६	१३५
ग्रीवा और सिर	३४	१४८
	५००	५१९

एकैकस्यां तु पादाङ्गुल्यां तिस्रस्तिस्रस्ताः पञ्चदश, दश प्रपदे, पादोपरि कूर्चसन्निविष्टास्तावत्य एव, दश गुल्फतलयोः, गुल्फजान्वन्तरे विंशतिः, पञ्च जानुनि, विंशतिरूरौ, दश वङ्क्षणे, शतमेवमेकस्मिन् सक्थिन भवन्ति, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ ॥४६॥

(शाखागत पेशियाँ—) पाँव की एक एक अंगुलि में तीन तीन, वे पंद्रह; पाँव के अग्रभाग में दस, पाँव के ऊपर कूर्च में स्थित उतनी ही (दस); गुल्फ और पादतल में दस, गुल्फ और जानु के बीच में बीस, जानु में पाँच, ऊरु में बीस, वङ्क्षण में दस, इस प्रकार एक टाँग में सौ पेशियाँ होती हैं। इसी से दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं (की पेशियों) का व्याख्यान हो जाता है (इस प्रकार चारों शाखाओं में चार सौ पेशियाँ होती हैं) ॥४६॥

तिस्रः पायौ, एका मेढ्रे, सेवन्यां चापरा, द्वे वृषणयोः, स्फिचोः पञ्च पञ्च, द्वे बस्तिशिरसि,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पञ्चोदरे, नाभ्यामेका, पृष्ठोर्ध्वसन्निविष्टाः पञ्च पञ्च दीर्घाः, षट् पार्श्वयोः, दश वक्षसि, अक्षकांसौ प्रतिसमन्तात् सप्त, द्वे हृदयामाशययोः, षट् यकृत्प्लीहोण्डुकेषु ॥४७॥

(कोष्ठगत मांसपेशियाँ—) गुदा में तीन, शिश्न में एक, सेवनी में दूसरी (अर्थात् एक), वृषणों में दो, चूतड़ों में पाँच पाँच, बस्तिशिर में दो, उदर में पाँच, नाभि में एक, पृष्ठ के ऊर्ध्वभाग में स्थित (प्रत्येक तरफ) पाँच पाँच दीर्घ (पेशियाँ), दोनों पार्श्वों में छः, छाती में दस, अक्षक और कंधे के आसपास सात, हृदय और आमाशय में दो, यकृत्, प्लीहा और उण्डुक में छः (इस प्रकार कोष्ठ में सड़सठ पेशियाँ होती हैं) ॥४७॥

ग्रीवायां चतस्रः, अष्टौ हन्वोः[1], एकैका काकलकगलयोः, द्वे तालुनि, एका जिह्वायाम्[2], ओष्ठयोर्द्वे, नासायां द्वे, द्वे नेत्रयोः[3], गण्डयोश्चतस्रः, कर्णयोर्द्वे, चतस्रो ललाटे, एका शिरसीति[4]; एवमेतानि पञ्च पेशीशतानि ॥४८॥

(ग्रीवा और सिर की पेशियाँ—) ग्रीवा में चार, हनु में आठ, काकलक (कौवा) और गले में एक एक, तालु प्रदेश में दो, जिह्वा में एक, ओठों में दो, नाक में दो, आँखों में दो, कपोल में चार, कानों में चार, ललाट में चार, शिर में एक; इस प्रकार (सिर और ग्रीवा की पेशियाँ चौंतीस होती हैं तथा संपूर्ण शरीर की) पाँच सौ पेशियाँ हैं ॥४८॥

वक्तव्य—तुलना के लिए सिर और ग्रीवा की पेशियों की आधुनिक संख्या यहाँ पर दी जाती है। ग्रीवा—इसमें एक तरफ बाईस और दूसरी तरफ बाईस करके कुल चौवालीस पेशियाँ होती हैं। हनु—इससे यदि चर्वण की पेशियाँ ग्रहण की जाय तो आठ संख्या ठीक है। काकलक—गलशुण्डिका (पीछे ३१वें सूत्र का वक्तव्य देखो), इसमें एक छोटी सी पेशी होती है (Musculus uvulae), परन्तु आधुनिक गणना में यह दो गिनी जाती है। गला—ग्रसनिका (Pharynx)। इसमें एक तरफ पाँच और दूसरी तरफ पाँच करके कुल दस पेशियाँ होती हैं। तालु—तालु प्रदेश में चार चार करके कुल आठ पेशियाँ होती हैं। जिह्वा—संपूर्ण जिह्वा एक पेशी मानी गई है। इसलिए जिह्वा में एक पेशी बताई है। आधुनिक गणना के अनुसार चार चार करके जिह्वा में कुल आठ पेशियाँ होती हैं। होंठ—इनके साथ संबंध रखने वाली पेशियाँ एक तरफ आठ और दूसरे तरफ आठ करके सोलह होती हैं। नासा—इसकी पाँच पाँच करके दस होती हैं। नेत्र—ऊपर के पलक के साथ आँखों की पेशियों की संख्या सात और सात करके चौदह होती हैं। कपोल—इसकी केवल दो ही पेशियाँ हैं। कान—इसमें बाह्यकर्ण की छः और छः करके बारह और मध्यकर्ण की दो दो करक चार, इस तरह कुल सोलह पेशियाँ होती हैं। ललाट और सिर—इनमें कुल छः पेशियाँ होती हैं। इनके सिवा स्वरयन्त्र में दस पेशियाँ होती हैं, जिनका उल्लेख प्राचीन गणना में नहीं है।

भवति चात्र—

सिरास्नाय्वस्थिपर्वाणि सन्धयश्च शरीरिणाम्। पेशीभिः संवृतान्यत्र बलवन्ति भवन्त्यतः ॥४९॥

(पेशियों का कार्य—) शरीरधारियों की सिराएँ, स्नायुएँ, अस्थिपर्व और संधियाँ पेशियों से ढकी रहती हैं, अतएव वे बलवती होती हैं ॥४९॥

वक्तव्य—पेशी—पं० गंगाधर शास्त्री जोशी पेशी के आवरण (Coverings like faciæs, sheaths and serous membranes) समझते हैं। परन्तु यह मत बिलकुल निराधार है। पेशी का स्वरूप आयुर्वैदिक तथा अन्य ग्रंथों में निम्न प्रकार से वर्णित है—अनुप्रविश्य पिशितं पेशीर्विभजते तथा। (सुश्रुत, शा० ४)। इसकी टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—वायुः पिशितं मांसमनुप्रविश्य पेशीर्विभजते। पेशी मांसखण्डम् ॥ इसी अध्याय के ४५वें सूत्र की टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—मांसावयवसंघातः परस्परविभक्तः पेशीत्युच्यते ॥ इन्दु अष्टांगसंग्रह की टीका में लिखते हैं—पेश्यः पुनः स्नाय्वाकृतयो मांसमय्यः ॥ (शा० ५)। म० म० गणनाथ सेन 'स्नाय्वाकृतयः' के बदले 'स्नाय्वावृतयः' पाठभेद सूचित (संज्ञापंचकविमर्श पृष्ठ ३) करते हैं, परंतु इस प्रकार पाठ में परिवर्तन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। 'स्नाय्वाकृतयः' का अभिप्राय यह है कि/जैसे स्नायुएँ गोल, चपटी, प्रतानवती इत्यादि विविध आकृति की होती हैं, वैसे ही पेशियाँ भी होती हैं और यह कथन ठीक भी है। आगे ५२वाँ सूत्र देखो। दोनों में फर्क केवल यही है कि स्नायु स्नायुमय (Fibrous) और पेशी मांसमय (Fleshy) होती है। चक्रपाणिदत्त चरक की टीका में लिखते हैं—पेशी दीर्घमांसपेश्याकारा। (शा० ४)। मांसपेशी बलाय स्युरवष्टम्भाय देहिनाम्। (शार्ङ्गधर)। इस श्लोक की टीका में आढमल्ल लिखते हैं—मांसावयवसंघाताः परस्परविभक्ताः पेश्य इत्युच्यन्ते। याज्ञवल्क्यस्मृति में भी पेशियों की संख्या पाँच सौ बतलाई है। उसकी टीका में विज्ञानेश्वर लिखते हैं—पेश्यः पुनर्मांसलाकारा ऊरुपिण्डकाद्यङ्गप्रत्यङ्गसंधिन्यः पञ्चशतानि भवन्ति। (याज्ञवल्क्यस्मृति ३।१००) पेशीस्वरूप के संबंध में विज्ञानेश्वर तथा अन्य ग्रंथकारों के वचन इतने स्पष्ट हैं कि मसल (Muscle) के सिवा पेशी का दूसरा कोई अर्थ नहीं हो सकता। अर्थात् शरीर में लाल रंग की रेशादार आकुञ्चन-प्रसारणशील जो धातु होती है उसके पिण्ड को पेशी कहते हैं। पेशियों का कार्य—इस श्लोक में जो 'संवृतानि' शब्द है तथा अष्टांगसंग्रह 'प्रच्छादितानि' शब्द (ताभिर्हि सन्ध्यस्थिसिरास्नावानि प्रच्छादितानि। शा० ५) आता है, उसको देखकर पं० गंगाधर शास्त्री जोशी संवरण और प्रच्छादन पेशियों का कार्य समझते हैं—पेशीनां कार्याणि—'प्रच्छादकत्वं, संवरकत्वम्, आवरकत्वं च।' परंतु यह अर्थ गलत है। संवृतादि शब्द (५२वें सूत्र का वक्तव्य भी

---

१ हनुसमाख्ये. २ जिह्वायां द्वे. ३ चतस्रो नेत्रयोः. ४ षट् शिरसि.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देखो) अस्थ्यादि अंगों के साथ पेशियों का संबंध प्रदर्शित करते हैं; अर्थात् इनका अभिप्राय यह है कि अस्थ्यादि अंग चारों ओर से पेशियों द्वारा घिरे हुए हैं। पेशियों का कार्य बल और आधार देने का है। इसका स्पष्ट उल्लेख उपर्युक्त शार्ङ्गधर के श्लोकार्ध में तथा यहाँ पर भी बलवन्ती शब्द से किया गया है। शार्ङ्गधर की गूढार्थदीपिका में वैद्य काशीराम लिखते हैं—अथ मांसपेश्यः। पञ्चशतानि भवन्तीत्युक्तं तेषां प्रयोजनमाह—मांसपेश्यः बलाय भवन्ति तथा देहिनाम्-वष्टम्भाय। पेशियों का यह कार्य तदन्तर्भूत एक विशेष गुण के ऊपर निर्भर होता है। पेशियों के तन्तुओं का यह विशेष गुण है कि वे सिकुड़कर मोटे और छोटे हो सकते हैं तथा अपनी पूर्वदशा को प्राप्त कर लेते हैं। इस गुण को संकोचनशीलता (Contractility) कहते हैं। नाडियों के द्वारा प्राप्त उत्तेजन (Stimulus) से पेशियों में संकोचन उत्पन्न होता है। अस्थिसन्ध्यादि अंगों में जितनी स्वाभाविक शक्ति होती है, उससे कई गुना अधिक शक्ति पेशियों के कारण आ जाती है। प्रो० राममूर्ति या सेन्डो के शक्ति के खेल जिन्होंने देखे हैं, उनके लिए इसके संबंध में अधिक विवरण करने की आवश्यकता नहीं है। संकोच से जैसी शक्ति उत्पन्न होती है, वैसी विविध प्रकार की गतियाँ भी उत्पन्न होती हैं। संकोचन का गुण आयुर्वेद में पेशी तन्तुओं के बदले स्नायुतन्तुओं का माना गया है—प्रसारणाकुञ्चनयोरङ्गानां कण्डरा मताः। (शार्ङ्गधर)। पीछे ४०वें श्लोक का वक्तव्य भी देखो। वास्तव में यह कल्पना असत्य है, परन्तु व्यवहार में इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। पेशियों के संबंध में कुछ अधिक विवरण—मांस शरीर में प्रायः हर जगह रहता है। शरीरभार का करीब आधा अंश मांस का होता है। जो मांस त्वचा, अस्थि और संधियों से लगा हुआ रहता है वह छोटे छोटे पृथक् पृथक् समूहों में विभक्त रहता है। ये समूह पेशियाँ कहलाती हैं। ये पेशियाँ आपस में सौत्रिक तंतु द्वारा जुड़ी रहती हैं, परन्तु यह जोड़ इतना ढीला होता है कि पेशियों के संकोच-प्रसार में कोई रुकावट नहीं होती। जो मांस आशयों, स्रोतों (जैसे हृदय, आमाशय, आन्त्र इत्यादि) में होता है वह पेशियों में विभक्त नहीं होता, परन्तु पतली पतली तहों में विभक्त होता है। आयुर्वेद के समान (द्वे हृदयामाशययोः, षट् यकृत्प्लीहोण्डुकेषु—४७वाँ सूत्र देखो) आधुनिक वैद्यक में इनका समावेश पेशियों (Muscles) में नहीं किया जाता। जैसे, यन्त्र में जितनी गतियाँ होती हैं चक्र के द्वारा होती हैं, वैसे ही शरीर में चलना, फिरना, बोलना, रोना, गाना, हाथ उठाना, आँखों को खोलना, बंद करना, मलमूत्रोत्सर्ग करना, साँस लेना, हृदय का स्पन्दन, भोजन का महास्रोत में नीचे सरकना, आँखों की पुतली का छोटा बड़ा होना इत्यादि जो सब गतियाँ तथा क्रियाएँ होती हैं, मांस द्वारा होती हैं। इनमें से कुछ गतियाँ या क्रियाएँ हमारी इच्छानुसार होती हैं। जैसे—चलना, फिरना, बोलना, हाथ पैर उठाना इत्यादि। ये गतियाँ ऐच्छिक (Voluntary) कहलाती हैं। कुछ गतियाँ हमारे बस में नहीं होतीं; इनको हम अपनी इच्छानुसार न रोक सकते हैं, न शुरू कर सकते हैं—जैसे, हृदय का स्पन्दन, आन्त्र की गति, आँखों की पुतलियों का छोटा या बड़ा होना इत्यादि। ये गतियाँ हमारी इच्छा के आधीन न होने के कारण अनैच्छिक (Involuntary) कही जाती हैं। इन दो भिन्न गतियों के लिए शरीर में दो भिन्न प्रकार के मांसतन्तु होते हैं। इच्छानुसार काम करने वाला मांस ऐच्छिक (Voluntary muscle) और इच्छा से संबंध न रखकर काम करने वाला मांस अनैच्छिक कहलाता है। अनैच्छिक मांस के स्थान—अन्नप्रणाली के मध्य से गुदद्वार तक महास्रोत में; मूत्राशय और दोनों गवीनियों में; कण्ठनाडी और उनकी शाखाओं में; ग्रंथियों की नालियों में; अष्ठीला, शुक्राशय और शुक्रप्रणालियों में; बीजग्रंथि, बीजवाहिनी और गर्भाशय में; रक्त और लसिका की वाहिनियों में; हृदय में; नेत्र के तारकामण्डल (Iris) और संधानपेशिका (Ciliary muscle) में; रोमकूपों में; स्वेदग्रंथियों में; वृषण की त्वचा में; स्तनचूचुक के मण्डल में; और प्लीहा में। इनके अतिरिक्त स्थानों में अर्थात् अस्थियों के साथ संबंधित पेशियों (Skeletal muscles) में ऐच्छिक मांस होता है। सूक्ष्म रचना—ऐच्छिक मांस की सेलें लम्बाई में एक इंच के लगभग, बेलनाकार, दोनों सिरों में गोल, अनेक केन्द्रयुक्त, मोटाई के रुख में श्वेत और काली धारियाँ (Stripes) धारण करने वाली होती हैं। धारियों के कारण ऐच्छिक मांस धारीदार (Striped) भी कहलाता है। अनैच्छिक मांस की सेलें लम्बाई में बहुत कम ($\frac{1}{500}$ इंच), तर्काकार (Fusiform), एक केन्द्रयुक्त होती हैं। इनमें मोटाई के रुख धारियाँ नहीं होतीं, इसलिए धारीविहीन कहलाती हैं। परंतु उसके साथ साथ यह ध्यान में रखना चाहिए कि लम्बाई में धारियाँ या रेखाएँ होती हैं। हृदय का मांस यद्यपि अनैच्छिक है तथापि उसमें ऐच्छिक मांस के समान धारियाँ होती हैं। अनैच्छिक मांस की विशेषताएँ—इच्छा के अनुसार काम न करना या व्यक्ति की इच्छा के आधीन न होकर अपनी स्वतन्त्र पद्धति से काम करना और काम और आराम में एक नियत क्रम रखना, जिसको तालबद्धता (Rhythmicality) कहते हैं, ये अनैच्छिक मांस की दो विशेषताएँ होती हैं। यह तालबद्धता आन्त्र, गर्भाशय, हृदय इत्यादि सब अनैच्छिक मांस में होती हैं। हृदय की तालबद्धता प्रसिद्ध है—तत् संकोचं विकासं च स्वतः कुर्यात् पुनः पुनः। प्रत्येक अनैच्छिक पेशी में ताल का समय भिन्न भिन्न होता है। इस विवरण की दृष्टि से यदि आयुर्वैदिक पेशियों की ओर देखा जाय तो यह स्पष्ट होगा कि उनमें ऐच्छिक और अनैच्छिक दोनों प्रकार समाविष्ट किये गये हैं। पाश्चात्त्य गणना के अनुसार पेशियों की जो ५१९ संख्या बतलाई गई है, उसमें केवल ऐच्छिक पेशियाँ होती हैं।

स्त्रीणां तु विंशतिरधिका। दश तासां स्तनयोरेकैकस्मिन् पञ्च पञ्चेति, यौवने तासां परिवृद्धिः ॥५०॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(स्त्रियों की विशेष पेशियाँ—) स्त्रियों में (पुरुषों की अपेक्षा बीस पेशियाँ अधिक होती हैं । (इनमें से) एक एक में पाँच पाँच करके उनके दोनों स्तनों में दस पेशियाँ हैं; यौवनावस्था में उनकी वृद्धि होती है ॥५०॥

वक्तव्य—'दश तासाम्' इत्यादि—स्त्रियों के स्तनों में तान्तव धातु, चरबी, दुग्धग्रंथियाँ, दुग्धहरिणी (Lacti-Ferous ducts) और मांसतन्तु भी होते हैं । ये मांस-तन्तु चूचुक में और दुग्धहरिणियों की दीवाल में होते हैं । इनके संकोच से दूध बाहर निकलने में सहायता होती है, तथा चूचुक और स्तनमण्डलगत सिराओं का रक्त इनके संकोच से रुक जाने के कारण वह कुछ खड़ा (उत्थापन-Erection) हो जाता है । चूचुक का उत्थापन कामवासना से या प्रत्यक्ष उसको मलने से होता है । यौवनावस्था में पदार्पण करने के पूर्व स्त्रियों के स्तन बहुत छोटे याने पुरुष के समान होते हैं । यौवनावस्था में तथा उसके पूर्व कुछ काल से स्तन मोटे होने लगते हैं । यह वृद्धि चूचुक की तथा दुग्धहरिणियों की अधिकतर होती है—During prepubescence and puberty, a considerable enlargement occurs in females. This consists essentially of an extensive developement of the duct system including the nipples, *Wiggers's Physiology in health and disease.* अर्थात् इनकी वृद्धि के साथ मांसतन्तुओं की भी वृद्धि होती है, इसमें कोई संदेह नहीं । अब इस सूत्र में वर्णित पाँच पेशियों का और इन मांसतन्तुओं का कहाँ तक संबंध हो सकता है, इसका निर्णय करना कठिन है ।

अपत्यपथे चतस्रः—तासां प्रसृतेऽभ्यन्तरतो द्वे, मुखाश्रिते बाह्ये च वृत्ते द्वे, गर्भच्छिद्रसंश्रिता-स्तिस्रः, शुक्रार्तवप्रवेशिन्यस्तिस्र एव । पित्तपक्वाशयोर्मध्ये गर्भशय्या, यत्र गर्भस्तिष्ठति ॥५१॥

(योनि और गर्भाशय की पेशियाँ—) अपत्यमार्ग में चार पेशियाँ होती हैं—इनमें से दो अन्दर की ओर फैली हुई होती हैं, और दो बाहर की ओर मुख पर आश्रित होती हैं । गर्भच्छिद्र पर आश्रित तीन और शुक्र तथा आर्तव को प्रविष्ट कराने वाली तीन पेशियाँ हैं । पित्ताशय और पक्वाशय के बीच में गर्भशय्या होती है, जिसमें गर्भ अवस्थान करता है ॥५१॥

वक्तव्य—अपत्यपथ—योनिमार्ग (Vaginal canal) । योनिमार्ग की प्राचीर में मांसतन्तुओं के दो स्तर होते हैं और इनके ऊपर श्लेष्मल कला का आवरण होता है । योनि के बाह्य द्वार पर गोल मांसतन्तुओं का घेरा होता है । इसको योनिसंकोचनी (Sphincter vaginœ) कहते हैं । ये दो पेशियाँ होती हैं—योनिद्वारम् । तद् योनिसंकोचनाख्य-पेशीद्वयेनोपलक्षितम् । (प्रत्यक्षशारीर) । इस तरह योनि के दोनों तरफ की दीवाल की दो पेशियाँ और द्वार की दो पेशियाँ मिलकर अपत्यमार्ग की चार होती हैं । गर्भच्छिद्र—गर्भाशयच्छिद्र । इससे गर्भाशय की पेशियाँ समझनी चाहिएँ । गर्भाशय वास्तव में एक पेशी है, परन्तु उसमें तीन तहें होती हैं—बाहर की, भीतर की और मध्य की । ज़रा सा परिश्रम करने से ये तीन तहें स्पष्ट मालूम होती हैं । शुक्रार्तवप्रवेशिन्यः—इससे बीजवाहिनियों (Uterine tubes) का बोध होता है । इसमें भी गर्भाशय के समान तहें होती हैं । प्राचीन काल में ये दस पेशियाँ कौन सी थीं, इसका निर्णय करना कठिन है । पित्तपक्वाशययोर्मध्ये गर्भशय्या—इसका उचित अर्थ निम्न दो प्रकार से किया जा सकता है । इसके पूर्व गर्भशय्या की वास्तविक स्थिति बतलाना उचित है । गर्भशय्या के सामने मूत्राशय और पीछे मलाशय है । अर्थात् यदि पित्त से पित्ताशय (Gall-bladder) और मध्ये से दरमियान (In between) का अर्थ लिया जाय तो यहाँ का पाठ अप्रशस्त होता है । इसलिए (१) पाठपरिवर्तन से इस पद का अर्थ करना । म० म० गणनाथ सेन प्रत्यक्षशारीर की प्रस्तावना में लिखते हैं—पित्तपक्वाशयमध्ये गर्भाशयो यत्र गर्भस्तिष्ठति—इत्यत्र 'बस्ति-पक्वाशयमध्ये' इति पाठो भवितुमर्हति, शरीरे तथैव दर्शनादन्यथा प्रत्यक्षविरोधाच्च ॥ यह पाठपरिवर्तन बिलकुल ठीक है और इसके लिए सुश्रुत में ही आधार मिलता है—स्त्रीणां तु बस्तिपार्श्वगतो गर्भाशयः सन्निकृष्टः । (सुश्रुत, चिकित्सा ७) । (२) यदि पित्ताशय से गाल ब्लाडर (Gall-bladder) न समझकर (आयुर्वेद में पित्ताशय से गालब्लाडर कहीं भी नहीं समझा जाता है) पित्तधरा कला का आशय याने क्षुद्रान्त्र माना जाय तो मूल वाक्य का अर्थ ठीक होकर उसमें कोई प्रत्यक्ष विरोध भी नहीं होता—On it (Fundus of the uterus) rest some coils of small intestine, and occasionally the distended sigmoid colon. *Grey's Anatomy.* बचपन में गर्भाशय अधिक ऊँचाई पर स्थित होने के कारण वह बिलकुल आंत्र की गेंडलियों में रहता है । आगे ५६वें श्लोक के वक्तव्य में वयानुसार गर्भाशय की स्थिति देखो । अतः मध्ये का अर्थ दरमियान (In between) न करके बीच में (amid, Amidst) करना प्रशस्त है । मध्ये का इस प्रकार का अर्थ गर्भ के संबंध में प्रयुक्त हुआ है—अत्र हि योनियकृत्प्लीहान्त्रविवरगर्भाशयानां मध्ये कर्म कर्तव्यं स्यात् (चिकित्सा १५) । गर्भशय्या—इसका विवरण आगे ५५-५६ श्लोकों में किया गया है ।

तासां बहलपेलवस्थूलाणुपृथुवृत्तह्रस्वदीर्घस्थिरमृदुश्लक्ष्णकर्कशभावाः सन्ध्यस्थिसिरास्नायुप्रच्छादका यथाप्रदेशं स्वभावत एव भवन्ति ॥५२॥

(पेशियों का स्वरूप—) उन (पेशियों) के अस्थि, संधि, सिरा और स्नायुओं को ढाकने वाले बहल, पेलव, स्थूल, अणु, पृथु, वृत्त, ह्रस्व, दीर्घ, स्थिर, मृदु, श्लक्ष्ण, कर्कश, भाव स्थान के अनुसार स्वभाव से ही हुआ करते हैं ॥५२॥

वक्तव्य—बहल इत्यादि—इनसे पेशियों के विविध

१ भगापत्यपथे. २ शुक्रार्तवप्रवेशिन्यो गर्भाशये तिस्र एव.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आकार वर्णन किये गये हैं । वहल—बहुत बड़ी (large); [अ]ल्प—अल्प (Small); स्थूल—मोटी (Thick); अणु—पतली (Thin); पृथु—चपटी (Flat, Broad); वृत्त—गोल, गुम्मट के समान (Domeshaped), किंवा वलय के समान (Sphincter), किंवा रज्जु के समान गोल । ह्रस्व—कम लम्बी (Short); दीर्घ—बहुत लम्बी (long); स्थिर—कठिन (Firm)। कुछ पेशियाँ बहुत कठिन होती हैं। जैसे, कुमारी का गर्भाशय—In the virgin it is dense, Firm, of a greyish colour, and cuts almost like cartilage. *Grey's Anatomy*. मृदु—स्थिर के उलटी (Soft); श्लक्ष्ण—चिकनी (Smooth); कर्कश—खुरदरी (Rough) । सन्ध्यस्थिसिरास्नायुप्रच्छादकाः—प्रच्छादक शब्द को देखकर पं० गंगाधर शास्त्री पेशी से गिलाफ या आवरण (Coverings) समझते हैं । पीछे भी ४७वें श्लोक का वक्तव्य देखो । परंतु यह अर्थ गलत है। पेशियाँ भी अस्थि आदि को आवृत करके बल देती हैं । इसलिए उसमें बहल, पेलवादि भाव उत्पन्न किये गये हैं—Muscles veary in their form. In the limbs, They are of considerable length, especially the more superficial ones; They Surround the bones, and constitute an important protection to the joints. In the trunk, they are broad and flattened, and assist in forming the walls of the trunk cavities. Hence the reason of the terms, long, broad, short, used in the description of the muscle. *Grey's Anatomy*. यह ग्रे का वचन और उपर्युक्त सुश्रुत का वचन, इनमें भाषाभेद के सिवा और कोई भेद नहीं मालूम होता । इसलिए प्रच्छादकत्वादि शब्दों को देखकर पेशी का अर्थ (Coverings) करने का कोई कारण नहीं है। ये शब्द (Muscle) के साथ भी भली भाँति सार्थ होते हैं ।

भवति चात्र—

पुंसां पेश्यः पुरस्ताद्याः प्रोक्ता लक्षणमुष्कजाः ।
स्त्रीणामावृत्य तिष्ठन्ति फलमन्तर्गतं हि ताः ॥५३॥

(पुरुषविशिष्ट पेशियों के स्त्री में प्रतिनिधि—) पुरुषों के शिश्न और वृषणसंबंधित जो पेशियाँ पहले कही गई हैं, वही स्त्रियों के अन्तर्गतफल को आवृत करके रहती हैं ॥५३॥

वक्तव्य—पुरस्तात्—पीछे ४७वें सूत्र में । यथा—एका मेढ्रे, द्वे वृषणयोः । लक्षणमुष्कजाः—लक्षण से यहाँ शिश्न समझना चाहिए । भावप्रकाश में यही श्लोक लक्षण के बदले मेहन शब्द से मिलता है—प्रोक्ता मेहनमुष्कजाः । ज—तत्स्थानसंबंधित या तत्स्थानविशिष्ट। फलमन्तर्गतम्—इसका अर्थ डल्हण तथा भावमिश्र गर्भाशय करते हैं—पुंसां मेहनमुष्कयोश्च यास्तिस्रो मांसपेश्यः पूर्वमुक्तास्ताः स्त्रीणां मेहनमुष्काभावात् फलं गर्भाशयमावृत्य तिष्ठन्ति । (भावप्रकाश)। गर्भाशय की पेशियाँ ५१वें सूत्र में स्वतन्त्रतया वर्णन की गई हैं। अतः अन्तर्गतफल से पुरुष के वृषण का स्त्रीशरीरगत प्रतिनिधि याने बीजकोष (Ovary) समझना अधिक प्रशस्त है । उसके साथ साथ पुरुषशिश्न का स्त्रीशरीरान्तर्गत प्रतिनिधि अर्थात् भगशिश्निका (Clitoris) का ग्रहण करना उचित है । भगशिश्निका और बीजकोषबंध में पेशियों के सूत्र होते हैं। म० म० गणनाथसेन संज्ञापंचकविमर्श में लिखते हैं—नव्यमतेन तु स्त्रीणां शिश्नवृषणाभावेऽपि तत्स्थानापन्न'भगशिश्निकाबीजकोष'योः सन्त्येव कतिचित् पेशीसूत्राण्यदृश्यप्रायाणि इति सुविदितं शारीरविदाम् । तानीह प्राचामभिप्रेतानीति सुवचम् ॥ नव्यमतानुसार तो यह अर्थ ठीक है, परंतु प्राचीनकाल में भगशिश्निका और फलकोषसंबंधित पेशियों का ज्ञान था और उसी के उपलक्ष्य में यह श्लोक लिखा गया, इस प्रकार का मत निश्चिति से देना कठिन है । कम से कम कुछ शारीरशास्त्रज्ञों को इनका अस्तित्व मालूम नहीं था, यह बात निश्चित है। इसी लिए गयदासाचार्य इस श्लोक को नहीं पढ़ते हैं और भोज का वचन आधार के लिए देते हैं—गयी तु अमुं तन्त्रान्तरीयश्लोकं न पठति, किन्तु 'एवमेतानि पञ्चपेशीशतानि' इत्यत्र पुंसामिति पदं पठित्वा पुंसामेव पञ्चपेशीशतानि स्त्रीणां तु तिसृभिरूनानि पञ्चशतानीति व्याख्याति । अत्रार्थे च भोजवाक्यं दृष्टान्तीकरोति । तथा च भोजवाक्यम्—'पञ्चपेशीशतान्येव स्त्रीवर्ज्यं विद्धि भूमिप । अतश्च तिस्रो हीयन्ते स्त्रीणां शेफसि मुष्कयोः ॥' (डल्हणटीका) ।

मर्मसिराधमनीस्रोतसामन्यत्र प्रविभागः ॥५४॥

मर्म, सिरा, धमनी और स्रोतसों का विभाग अन्यत्र (किया गया है) ॥५४॥

वक्तव्य—अन्यत्र—मर्मों का षष्ठ अध्याय में, सिराओं का सप्तम में, और धमनी तथा स्रोतसों का नौवें अध्याय में वर्णन किया गया है ।

शङ्खनाभ्याकृतिर्योनिस्त्र्यावर्ता सा प्रकीर्तिता ।
तस्यास्तृतीये त्वावर्ते गर्भशय्या प्रतिष्ठिता ॥५५॥
यथा रोहितमत्स्यस्य मुखं भवति रूपतः ।
तत्संस्थानां तथारूपां गर्भशय्यां विदुर्बुधाः ॥५६॥

(योनि और गर्भशय्या का स्वरूप—) योनि शङ्खनाभि की आकृति की होती है। वह तीन आवर्तयुक्त वर्णन की गई है और उसके तीसरे आवर्त में गर्भशय्या प्रतिष्ठित है ॥५५॥ रोहू मछली का मुख जिस स्वरूप का होता है, बुद्धिमान् वैद्य उसी के स्वरूप की और आकृति की गर्भशय्या को समझते हैं ॥५६॥

वक्तव्य—शङ्खनाभ्याकृतिः—शङ्ख की नाभि याने मध्यभाग जैसे बीच में मोटा और चौड़ा और दोनों तरफ तंग होता है, उसी प्रकार की आकृति जिसकी है, ऐसी । योनि—योनिमार्ग (Vaginal canal—) It is constricted at it's commencement, dilated in the middle, and narrowed near it's uterine extremity. *Grey's Anatomy*. त्र्यावर्ता सा प्रकीर्तिता—योनि की रचना में तीन

१ लक्षणमुष्कयोः । स्त्रीणामाश्रित्य.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निश्चित आवर्त नहीं दिखाई देते, परन्तु उसकी आन्तरिक त्वचा पर आवर्त के समान कई गोल झोल (Ridges or Rugae) दिखाई देते हैं। तृतीये आवर्ते—अन्त में। गर्भशय्या—जिसमें गर्भ सोता है या अवस्थान करता है, वह स्थान अर्थात् गर्भाशय के भीतर का अवकाश (Uterine cavity); संदर्भ के अनुसार गर्भशय्या से गर्भाशय (Uterus, womb) का भी बोध होता है, परन्तु यहाँ पर उसके भीतर का अवकाश समझना चाहिए। तत्संस्थानाम् अल्पमुखामन्तर्महासुषिराम्। (डल्हण)। जहाँ पर गर्भ रहता है, वह स्थान त्रिकोणाकृति होता है जिसका एक कोन गर्भाशय अन्तर्मुख पर और दो कोन दो बीजवाहिनियों के मुख पर होते हैं अर्थात् मुख के पास तंग और पीछे चौड़ा होता है। गर्भाशय का संक्षिप्त वर्णन—गर्भाशय वह अंग है, जिसमें गर्भ रहा करता है। यह अंग श्रोणिगुहा में मूत्राशय और मलाशय के बीच में होता है। इसके दोनों तरफ दो बंधन होते हैं, जो पक्षबंधन (Broad-ligaments) कहलाते हैं। इनमें दोनों ओर दो बीजग्रंथियाँ रहती हैं, जिनमें बीज (Ova) उत्पन्न होकर बाहर निकलता है और पक्षबंधन के ऊपर के किनारे में स्थित बीजवाहिनियों द्वारा (Uterine tubes) गर्भाशय में आता है। गर्भाशय का आकार अधोमुख क्षुद्र तुम्बीफल के समान परंतु चपटा (Pyriform in shape) होता है। अप्रजाता (जिसमें गर्भधारणा न हुई हो) स्त्री में गर्भाशय की लम्बाई ३ इंच, चौड़ाई २ इंच और मोटाई १ इंच होती है और उसका तोल ढाई से साढ़े तीन तोला होता है। प्रजाता स्त्री में ये सब परिमाण कुछ अधिक हो जाते हैं। वर्णन के लिए गर्भाशय के तीन भाग किये जाते हैं। (१) गर्भाशयमुख (Os uteri)—यह भाग योनि के शिखर में होता है। इसके बीच में जो छिद्र होता है, वह बाह्य गर्भच्छिद्र (External os) कहलाता है और उसी में से मासिक स्राव बाहर आता है और शुक्राणु भीतर प्रवेश करता है। संक्षेप में यह गर्भाशय का महाद्वार है। यही द्वार मासिक धर्म के समय तथा उसके पश्चात् कुछ दिन तक विवृत रहता है (पीछे तीसरे अध्याय का ९वाँ श्लोक और उसका वक्तव्य देखो), जिससे शुक्राणुओं को भीतर जाने में कठिनाई नहीं होती। उसके पश्चात् यह द्वार कुछ संकुचित हो जाता है, जिससे शुक्राणु भीतर नहीं जा सकते, अतएव गर्भधारणा भी नहीं होती। कुछ स्त्रियों में यह द्वार जन्म से या पश्चात् व्रणवस्तु की उत्पत्ति से सदा के लिए अत्यन्त संकुचित (सूचीमुख, अणुमुख Pinhole os) रहता है—गर्भस्थायाः स्त्रिया रौक्ष्याद्वायुर्योनिं प्रदूषयन्। मातृदोषादणुद्वारां कुर्यात् सूचीमुखी तु सा॥ (चरक, चिकित्सा ३०)। ऐसी अवस्था में मासिक धर्म के समय आर्तव स्राव बाहर निकलने में बहुत कठिनता होती है (रजःकृच्छ्र, Dysmenorrhoea) और प्रायः ऐसी स्त्रियों में गर्भधारणा भी नहीं होती। महाद्वार संकोच के साथ प्रायः ग्रीवासरणी (Cervical canal) का भी संकोच रहता है, यह ध्यान में रखना चाहिए। (२) ग्रीवा (Cervix)—गर्भाशय मुख और शरीर के मध्य का यह भाग आकार में एक तरफ कुछ कम चौड़े बेलन के समान होता है। इसके भीतर का मार्ग ग्रीवासरणी कहलाता है और आकार में शकरकंद के समान अर्थात् मध्य में कुछ विस्तृत होता है। ग्रीवा का कुछ हिस्सा योनि के शिखर में आगे की ओर निकला हुआ रहता है, जो योनि में अंगुलि देकर स्पर्श किया जा सकता है या योनिवीक्षणयन्त्र (प्रथमभाग पृष्ठ ४० देखो) योनि में प्रविष्ट करने से प्रत्यक्ष किया जा सकता है। (३) शरीर (Body of the uterus)—यह वह भाग है, जिसमें गर्भ का अवस्थान होता है। इसका आकार त्रिकोणाकृति चपटा होता है और भीतर का अवकाश भी वैसा ही होता है। इसलिए इसका वर्णन 'तत्संस्थानां तथारूपाम्' किया गया है। इसका ऊपर का भाग गर्भतुम्बी (Fundus uteri) कहलाता है और उसी में अपरा लगी रहती है। श्रोणिगुहा में गर्भाशय सीधा खड़ा न होकर मूत्राशय की ओर आगे झुका रहता है। यह झुकाव ग्रीवा और शरीर के संयोग पर होता है। स्वस्थावस्था में भी मलाशय और मूत्राशय की रिक्तता और पूर्णता के ऊपर इस झुकाव में फर्क पड़ता है। जब मूत्राशय रिक्त और मलाशय पूर्ण रहता है, तब गर्भाशय अधिक झुककर मूत्राशय के ऊपर रहता है। जब मूत्राशय पूर्ण और मलाशय रिक्त रहता है, गर्भाशय का आगे का झुकाव नष्ट होकर वह सीधा खड़ा होता है और कभी कभी पीछे त्रिक की ओर झुकता है। इस तरह गर्भाशय कुछ चल होने पर भी आठ बंधनों से अपने स्थान में बहुत कुछ स्थिर रहता है। इनमें एक आगे, एक पीछे, दो त्रिकसंबंधित, दो पार्श्विक और दो गोल होते हैं। जब ये बंधन कमजोर होकर ढीले और लम्बे हो जाते हैं, तब गर्भाशय अपने स्थान से हट जाता है। इस विकृति को योनिस्थानापवृत्ति या गर्भाशयस्थानापवृत्ति (Uterine displacements) कहते हैं—योनिः स्थानापवृत्ता हि शल्यभूता मता स्त्रियाः। (चरक, चिकित्सा ३०)।

वयानुसार गर्भाशय की स्थिति—वय के अनुसार भी गर्भाशय की स्थिति में बहुत फर्क होता है। गर्भावस्था में तथा जन्म के पश्चात् कुछ काल तक गर्भाशय श्रोणिगुहा से ऊपर याने उदरगुहा में होता है। धीरे धीरे वह नीचे सरकता है और जवानी के प्रारंभ में तथा उसके पश्चात् वह पूर्णतया श्रोणिगुहा में रहता है। मासिक धर्म के समय वह कुछ बड़ा (पीछे तीसरे अध्याय के नौवें श्लोक का वक्तव्य देखो) हुआ करता है। गर्भधारणा होने के बाद उसका आकार बहुत बड़ा होता है और आठवें महीने में कौड़ी-प्रदेश तक पहुँच जाता है। प्रसूति के पश्चात् वह करीब करीब पूर्ववत् हो जाता है, परंतु उसके भीतर का अवकाश कुछ बड़ा हुआ रहता है। वृद्धावस्था में गर्भाशय सिकुड़कर बहुत छोटा और कठिन हो जाता है तथा उसका आन्तरिक छिद्र (Internal os) और कभी कभी बाह्यछिद्र बंद हो जाता है।

आभुग्नोऽभिमुखः शेते गर्भो गर्भाशये स्त्रियाः।
स योनिं शिरसा याति स्वभावात् प्रसवं प्रति ॥५

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

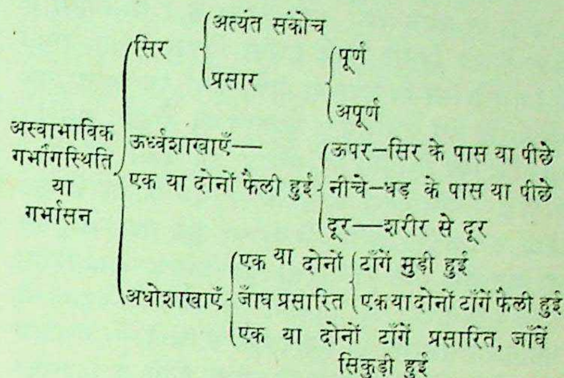
(गर्भाशय में गर्भ की स्थिति—) स्त्री के गर्भाशय में गर्भ संकुचित अंग और अभिमुख होकर रहता है। (और) प्रसव के प्रति (समय में) स्वभाव से ही शिर के बल योनि की ओर चलता है ॥५७॥

वक्तव्य—इसमें गर्भ का साधारण तथा प्रायिक आसन, अवस्थिति और गति वर्णन की है। आभुग्नः—मुड़ा हुआ। गर्भाशय में गर्भांगों की स्थिति निम्न प्रकार की होती है—उसका सिर आगे को वक्ष पर मुड़ा रहता है; पृष्ठवंश आगे को कुछ मुड़ता है, जिससे पीठ बहिर्गोल हो जाता है; दोनों जाँघें उदर पर और टाँगें जाँघों पर मुड़ी रहती हैं; मुट्ठियाँ बंद रहती हैं; हथेली और अँगुलियों में जो रेखाएँ मिलती हैं, वे गर्भावस्था में त्वचा के मुड़ जाने से ही बनती हैं। संक्षेप में, शरीर की संकोचक (Flexor) पेशियाँ काम में आती हैं, जिससे संपूर्ण शरीर संकुचित स्थिति में रहता है। गर्भाशय में गर्भ के धड़ के साथ सिर और शाखाओं का जो संबंध होता है, उसको गर्भाङ्गस्थिति या आसन (Attitude) कहते हैं और स्वाभाविक अवस्था में गर्भांगस्थिति सार्वदैहिक संकोच (Universal flexion) की होती है। चरक में इसलिए लिखा है—गर्भस्तु खलु संकुच्याङ्गान्यास्तेऽन्तःकुक्षौ। (शारीर ६)। इस तरह कुल अंग संकुचित हो जाने के कारण गर्भ का आकार अण्डे के समान दीर्घ गोल हो जाता है। इसको भुग्नगर्भ (Foetal ovoid) कहते हैं। यद्यपि मासानुमास गर्भाशय की लम्बाई बढ़ती जाती है तथापि गर्भ की मासानुमासिक लम्बाई की वृद्धि गर्भाशय की लम्बाई की वृद्धि से अधिक होने के कारण उत्तरकाल में गर्भ को अपने अंगों को संकुचित करके रहना एक आवश्यक घटना होती है। इसके सिवा गर्भाशय के अवकाश के साथ मिलने की दृष्टि से भी आकुञ्चन आवश्यक होती है। नीचे भुग्नगर्भ, गर्भ और गर्भाशय की लम्बाई की मासानुमासिक वृद्धि (इंचों में) दी जाती है—

मासानुमासिक वृद्धि का कोष्ठक

मास	गर्भाशय की लम्बाई	भुग्नगर्भ की लम्बाई	गर्भ की लम्बाई
४	४	—	६·५
५	५·४	—	१०
६	६·६	—	१२
७	७·८	७·६	१४
८	८·७	८·३	१६–१७
९	९·३	९.२	१८
१०	१०	९·७	२०

इस कोष्ठक से यह स्पष्ट होगा कि गर्भ की लम्बाई प्रारंभिक तीन महीनों को छोड़कर शेष काल में गर्भाशय से बहुत अधिक होने के कारण गर्भ गर्भाशय में सीधा रह नहीं सकता। परंतु जब वह हाथ, पैर और सिर सिकुड़ लेता है तब उसकी लम्बाई (चोटी से चूतड़ तक) गर्भाशय की लम्बाई से जरा सी कम होती है। अर्थात् गर्भाशय में आराम से रहने का यही एक स्वाभाविक मार्ग है। अस्वाभाविकता हाथ, पैर या सिर के न सिकुड़ने से होती है। इस अस्वाभाविक गर्भांगस्थिति के विविध प्रकार नीचे दिये जाते हैं—



अंगों की अस्वाभाविक स्थिति के कारण गर्भ में मूढता आ जाती है और वह प्रसव के समय अपत्यमार्ग में अटक जाता है। (निदानस्थान का आठवाँ अध्याय प्रथम खण्ड पृष्ठ ३६१-३६२ देखो)। अभिमुखः—पीठ की ओर मुख करके—मातुः पृष्ठाभिमुखः। (चरक, शारीर ६)। इससे गर्भ का माता के शरीर के साथ संबंध बताया गया है। इसको गर्भ की अवस्थिति (Position) कहते हैं। आधुनिक परिभाषा के अनुसार गर्भाशय में गर्भ की चार स्थितियाँ होती हैं। स्थिति निश्चित करने के लिए सिर और जघन गति में गर्भपृष्ठ निदर्शक (Indicator) माना जाता है और उसके अनुसार गर्भ की अवस्थिति निम्न प्रकार से वर्णित होती है। प्रथम स्थिति—इसमें पीठ सामने और बाईं ओर। द्वितीय स्थिति—पीठ सामने और दाईं ओर। तृतीय स्थिति—पीठ पीछे और दाईं ओर। चतुर्थ स्थिति—पीठ पीछे और बाईं ओर। आयुर्वेद में इस प्रकार चार स्थितियाँ नहीं मिलतीं। यहाँ पर 'अभिमुख या पृष्ठाभिमुख' करके जो स्थिति वर्णन की है वह प्रायिक है अर्थात् अधिकसंख्य गर्भों में मिलती हैं, इसलिए बतलाई है। आधुनिक परिभाषा के अनुसार इससे प्रथम तथा द्वितीय स्थिति का बोध होता है क्योंकि दोनों में मुख पीठ की तरफ होता है। आधुनिक वैज्ञानिक निरीक्षण से यह सिद्ध हुआ है कि गर्भ चाहे सिर के बल जन्म लेता हो, चाहे जघन के बल लेता हो, प्रथम और द्वितीय स्थिति याने पृष्ठाभिमुखत्व ८०–९० प्रतिशत गर्भों में पाया जाता है। जघन गति में यह प्रमाण ९९ प्रतिशत तक पहुँच जाता है—The back of the child is much more commonly directed towards the front than towards the back of the mother. *Ten teacher's midwifery*. शिरसा याति—इसका विचार करने के पूर्व चरकसंहिता के निम्न वचन का कुछ विचार किया जायगा—गर्भस्तु खलु मातुः पृष्ठाभिमुख ऊर्ध्वशिराः संकुच्याङ्गान्यास्तेऽन्तःकुक्षौ। स चोपस्थितकाले जन्मनि प्रसूतिमारुतयोगात् परिवृत्त्यावाक्शिरा निष्क्रामत्यपत्यपथेन। एषा प्रकृतिः, विकृतिः पुनरतोऽन्यथा। (शारीर ६)। यह चरक का वचन एक दृष्टि से सुश्रुत के उपर्युक्त श्लोक का स्पष्टीकरण है। इसमें दो नई बातें बतलाई गई हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका विचार यहाँ पर करना प्रस्तुत है । ऊर्ध्वशिराः— इसका अभिप्राय यह है कि गर्भ गर्भाशय में सिर ऊपर और पैर या जघन नीचे करके रहता है । गर्भावस्था के काल के दो विभाग करके इसका विचार करना उचित है । गर्भ के सिर का ऊपर या नीचे रहना यह घटना गर्भ की मोटाई और गर्भाशय के अवकाश की मोटाई, गर्भोदक की राशि और गर्भ-सिर की मोटाई इन बातों पर निर्भर होती है । गर्भावस्था के पूर्वार्ध में गर्भ आकार में कुछ छोटा, उसका सिर शरीर की अपेक्षा कुछ बड़ा, गर्भाशय का अवकाश गर्भ की अपेक्षा कुछ अधिक बड़ा, विशेष करके बहुप्रजाता (Multipara, ५६वें श्लोक के वक्तव्य में वयानुसार गर्भाशय की स्थिति देखो) स्त्रियों में, गर्भोदक की राशि अधिक इस प्रकार की अवस्था होती है । इसका परिणाम यह होता है कि गर्भ का शिर ऊपर को और चूतड़ नीचे को रहता है । अर्थात् गर्भावस्था के पूर्वार्ध की स्थिति के लिए ऊर्ध्वसिरा यह वचन सोलहों आने सत्य है । उत्तरार्ध के प्रारम्भ से यह स्थिति धीरे धीरे बदलने लगती है और गर्भावस्था के अन्त तक ९८ प्रतिशत गर्भ सिर नीचे और चूतड़ ऊपर के गर्भाशय में रहते हैं । नीचे उत्तरार्ध के महीनों में ऊपर और नीचे सिर का प्रमाण कितना होता है उसका कोष्टक दिया जाता है, जिससे ऊपर के कथन का सत्य स्पष्ट होगा—

मास	ऊपर के सिर की संख्या	नीचे के सिर की संख्या	प्रतिशत प्रमाण (ऊपर सिर का)
पाँचवाँ	५	४	५५·५
छठा वा सातवाँ	८	१७	३२·०
आठवाँ वा नौवाँ	६	७३	७·६
दसवाँ	९	२०३	४·२५
पूर्णकाल	२७	१८६१	१·५

उत्तरार्ध में इस प्रकार का परिवर्तन होने के निम्न कारण होते हैं । (१) भ्रूणगर्भ और गर्भशय्या के आकार का पारस्परिक संबंध—गर्भशय्या का आकार अण्डे के समान दीर्घ गोल रहता है, परंतु उसका ऊपर का सिरा नीचे की अपेक्षा कुछ बड़ा होता है । भ्रूणगर्भ का आकार भी अण्डे के समान होता है और उसके सिरे भी समान नहीं होते, परंतु गर्भशय्या के समान उसके सिरों की मोटाई सदा के लिए निश्चित नहीं होती । पूर्वार्ध में सिर का सिरा मोटा और उत्तरार्ध में चूतड़ का सिरा मोटा रहता है । यदि गर्भ गर्भाशय के अवकाश का पूर्ण उपयोग करना चाहे तो उसको अपना मोटा सिरा ऊपर और छोटा सिरा नीचे को रखना पड़ेगा और वास्तव में, यदि कोई अस्वाभाविक या वैकारिक घटना न हो तो, ऐसा ही होता है । यही कारण है कि पूर्वार्ध में गर्भ सिर ऊपर को करके और उत्तरार्ध में नीचे को करके रहता है । इससे उसको अपने लिए अधिक से अधिक याने संपूर्ण गर्भशय्या सोने के लिए मिलती है । संक्षेप में गर्भशरीरगत परिवर्तन इस परिवर्तन का एक कारण है । बहुप्रजाता स्त्रियों की गर्भशय्या कुछ मोटी होने के कारण उनके गर्भों को प्रथमगर्भा स्त्री के गर्भों के समान शिरःपरिवृत्ति करने की उतनी आवश्यकता नहीं होती, जिससे कुछ गर्भ आखिर तक ऊर्ध्वशिर रहते हैं । यह देखा गया है कि प्रथमगर्भा स्त्रियों की अपेक्षा बहुप्रजाता स्त्रियों में ऊर्ध्वशिर गर्भ चौगुना अधिक मिलते हैं । (२) गर्भगुरुता का परिणाम—गर्भावस्था के उत्तरार्ध में गर्भ का गुरुत्व केन्द्र (Centre of gravity) धीरे धीरे मध्य से सिर की ओर सरकता है और पूर्णकाल के गर्भ में वह केन्द्र दोनों कंधों के बीच में रहता है । इसका परिणाम यह होता है कि उत्तरार्ध में यदि कोई वैकारिक या शारीरिक विरोध न हो तो सिर नीचे को चला जाता है । (३) गर्भ की गतियाँ—जब तक गर्भ को गर्भाशय में गति करने के लिए गुंजायश मिलती है, तब तक वह अपने हाथ-पैर हिलाता रहता है (पीछे तीसरे अध्याय के ३६वें सूत्र का वक्तव्य देखो) । हाथों की अपेक्षा पैरों को हिलाने का परिणाम गर्भ की स्थिति पर अधिक होता है । विशेष करके जब पैरों का आघात श्रोणिगुहा की हड्डियों पर होता है, तब गर्भ उलटा हो जाता है यानी गर्भ का सिर नीचे को हो जाता है । इन कारणों के सिवा और भी कुछ कारण हो सकते हैं । इन सब कारणों का परिणाम यह होता है कि गर्भावस्था के उत्तरार्ध में गर्भ का सिर नीचे को हो जाता है । संक्षेप में गर्भावस्था के पूर्वार्ध में ऊर्ध्वसिर करके जो गर्भ होते हैं, वे उत्तरार्ध में धीरे धीरे ऊपर चूतड़ करके रहते हैं । यह प्रत्यक्षस्थिति है । यदि उत्तरार्ध के सब महीनों में होने वाले प्रसवों के ऊर्ध्व सिर बालकों का प्रतिशत प्रमाण निकाला जाय तो ३३ प्रतिशत होता है । इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि अधिकसंख्यक गर्भ उत्तरार्ध में अवाक्शिर होकर वैसे ही जन्म लेते हैं । स चोपस्थितकाले जन्मनि इत्यादि—इस वचन का अर्थ निम्न प्रकार से किया जाता है—'वह गर्भ जन्मकाल समीप आने पर प्रसूति-वायु के द्वारा घुमाव से अवाक्शिर होकर अपत्यमार्ग से योनि के बाहर निकलता है ।' यदि आधुनिक अन्वेषण द्वारा सिद्ध प्रत्यक्षस्थिति के आधार पर विचार किया जाय तो पूर्णकालीन गर्भ का घुमाव खाकर अवाक्शिर होना यह घटना असंभवनीय सिद्ध होती है । इसलिए चरक के इस वचन का अन्वय तथा अर्थ निम्न प्रकार से करना चाहिए—स च गर्भः परिवृत्त्याऽवाक्शिरा (भूत्वा) उपस्थितकाले जन्मनि प्रसूतिमारुतयोगान्निष्क्रामत्यपत्यपथेन । एषा प्रकृतिः, विकृतिरतोऽन्यथा ॥ वही गर्भ घुमाव खाकर और अवाक्शिर होकर जन्मकाल उपस्थित होने पर प्रसूतिवायु (अपानवायु) के द्वारा अपत्यपथ से बाहर निकलता है । यह प्रकृति है । इसके अतिरिक्त विकृति है । इसका अभिप्राय यह है कि ऊर्ध्वशिर का चक्कर खाकर अवाक्शिर होना और शिर के बल जन्म लेना, यह प्रकृति है । स योनिं शिरसा याति—इस वचन का अर्थ स्पष्ट करने के लिए उपर्युक्त चरक के वचन का विवरण किया है । इस... गर्भ की जन्म के समय की स्वाभाविक गति (Presentation

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(...tion) बताई गई है। इसको शिरोगति कहते हैं। इसके सिवा और दो गतियाँ होती हैं—तिर्यग्गति और जघनगति (Transverse and pelvic presentation)। ये दोनों गतियाँ अस्वाभाविक होती हैं। इनके विशेष विवरण के लिए प्रथम-खण्ड पृष्ठ ३६२ देखो। स्वभावात्—डल्हणाचार्य इसका अर्थ 'पूर्वकर्मापेक्षात् किंवा पूर्वकर्माक्षेपात्' ऐसा करते हैं, परंतु इसमें पूर्वकर्म का कोई विशेष संबंध नहीं है। जैसे अंगप्रत्यङ्गनिर्वृत्ति स्वभाव से होती है (शा० ३-४५), शरीर का संनिवेश और दाँतों का पतन और उद्गम स्वभाव से होता है (शा० २-५८), वैसे ही गर्भ जन्म के समय शिर के बल योनिमार्ग से बाहर आता है। पूर्णकालीन गर्भों का विचार किया जाय तो ९९ प्रतिशत गर्भ शिर के बल जन्म लेते हुए दिखाई देते हैं। यदि इसमें पूर्व-कर्म का संबंध होता तो इतनी समता या एकता नहीं दिखाई देती। यह कर्म स्वभाव से या प्रकृति से होता है, इसलिए इसमें इतनी एकता मिलती है।

त्वक्पर्यन्तस्य देहस्य योऽयमङ्गविनिश्चयः।
शल्यज्ञानादृते नैष[1] वर्ण्यतेऽङ्गेषु केषुचित् ॥५८॥

(शल्यशास्त्र की महत्ता—) त्वचा से मर्यादित (अर्थात् संपूर्ण) शरीर का जो यह अंगविनिश्चय (अब तक वर्णन किया गया है) वह शल्यविज्ञान के अतिरिक्त (आयुर्वेद के अन्य) किसी अंग में वर्णित नहीं किया जाता है ॥५८॥

वक्तव्य—त्वक्पर्यन्त—त्वचा जिसका पर्यन्त याने सीमा है ऐसा, त्वचा से मर्यादित, जैसे, समुद्रपर्यन्ता पृथ्वी अर्थात् संपूर्ण। अङ्गविनिश्चयः—शरीर में जो विविध अंग तथा प्रत्यङ्ग होते हैं उनका स्थान, संख्या, मर्यादा, रचना, कार्य, आपस में संबंध इत्यादि के संबंध में निश्चयात्मक ज्ञान या शरीरावयव विवरण (Gross and descriptive anatomy)। शल्यज्ञान—आयुर्वेद का शल्यविभाग, शल्यअंग, शल्यतन्त्र। शल्याङ्ग के लिए शल्यज्ञान शब्द का प्रयोग होता है—शालाक्यतन्त्रं कौमारं चिकित्सा कायिकी च या। त्रिविधेति चत्वारि तन्त्रे तूत्तरसंज्ञिते ॥ वाजीकरं चिकित्सासु रसायनविधिस्तथा। विषतन्त्रं पुनः कल्पाः शल्यज्ञानं समन्ततः ॥ अष्टांगमिदं तन्त्रम्। (सुश्रुत, सूत्र ३)। अङ्गेषु केषुचित्—अङ्ग में यहाँ पर शरीर के अङ्गों का बोध नहीं होता। आयुर्वेद के जो आठ अंग हैं, उनका बोध लेना चाहिए।

इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि अङ्गविनिश्चय, शरीरावयव या आधुनिक परिभाषा के अनुसार जिसको प्रत्यक्ष शारीर कहते हैं वह शास्त्र शल्यतन्त्र का एक विभाग माना है और शल्यतन्त्र में ही उसका विवरण किया जाता है क्योंकि उसके सिवा शरीरगत शल्यों को सफलता से निकालना एक असंभवनीय घटना है। आधुनिक काल में भी यह कथन सत्य प्रमाणित हुआ है क्योंकि जो शल्य-चिकित्सक होना चाहते हैं, उनको प्रत्यक्ष शारीर के ऊपर अधिक ध्यान देना पड़ता है और मृतशोधन (Dissection) भी अधिक करना पड़ता है। भेद इतना ही है कि प्राचीन काल के समान आधुनिक काल में अङ्गविनिश्चय शल्यतन्त्र का विभाग नहीं माना जाता है, न उसका विवरण शल्यतन्त्र में (अर्थात् आवश्यक बातों को छोड़कर) आता है। वह एक स्वतन्त्र शास्त्र हो गया है।

तस्मान्निःसंशयं ज्ञानं हर्त्रा शल्यस्य वाञ्छता।
शोधयित्वा मृतं सम्यग्द्रष्टव्योऽङ्गविनिश्चयः ॥५९॥

(शल्यशास्त्र में मृतशोधन का महत्त्व—) इसलिए (शल्यतन्त्र का) निःसंदेह ज्ञान (प्राप्त करने की) इच्छा करने वाले शल्यचिकित्सक को मृत शरीर को अच्छे प्रकार से शोधन करके अङ्गों का विनिश्चय देखना चाहिए ॥५९॥

वक्तव्य—प्रथम श्लोकार्ध का अन्वय—तस्मात् (शल्य-शास्त्रस्य) निःसंशयं ज्ञानं वाञ्छता शल्यस्य हर्त्रा। निःसंशयं ज्ञानम्—इसका संबंध अङ्गविनिश्चय के साथ न होकर शल्यशास्त्र के साथ होता है। निःसंशय ज्ञान से शल्यशास्त्र-गत प्रावीण्य या कौशल का बोध होता है। शस्त्रशास्त्र में प्रावीण्य या नैपुण्य प्राप्त करना यह साध्य है और मृतशोधन करके अंगों को देखना प्रावीण्य प्राप्त करने का साधन है। शल्यस्य हर्त्रा—शल्यहर्त्रा, शल्यचिकित्सक (Surgeon)।

प्रत्यक्षतो हि यद्दृष्टं शास्त्रदृष्टं च यद्भवेत्[2]।
समासतस्तदुभयं[3] भूयो ज्ञानविवर्धनम् ॥६०॥

(शास्त्रज्ञान में प्रत्यक्षज्ञान का महत्त्व—) जो प्रत्यक्ष देखा जाता है और जो शास्त्र में भी देखा जाता है, ये दोनों मिलकर अधिक ज्ञानवर्धक होते हैं ॥६०॥

वक्तव्य—प्रत्यक्षतो दृष्टम्—पाँचों बुद्धीन्द्रियों के द्वारा प्राप्त ज्ञान—आत्मेन्द्रियमनोर्थानां संनिकर्षात् प्रवर्तते। व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः प्रत्यक्षं सा निरुच्यते ॥ (चरक, सूत्र ११)। प्रत्यक्ष में ज्ञानप्राप्ति के साधन इन्द्रियार्थ होते हैं। इसलिए प्रत्यक्ष तो दृष्ट को Practical knowledge कहते हैं। शास्त्रदृष्ट—केवल ग्रंथों के अध्ययन से प्राप्त ज्ञान अर्थात् इन्द्रियार्थविरहित केवल मन और बुद्धि के द्वारा प्राप्त ज्ञान। इसको Theoriatical कहते हैं। समासतस्तदुभयम्—वैज्ञानिक (Scientific) व्यावसायिक Technological) विषयों में केवल औपपत्तिक (शास्त्रदृष्ट) या केवल प्रात्यक्षिक ज्ञान अपूर्ण रहता है। जब एक विषय के दोनों ज्ञान प्राप्त होते हैं तब जाकर उसका यथावत् संपूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है, इसलिए लिखा है—समासतस्तदुभयम्। यह श्लोक यद्यपि शल्यतन्त्र के संबंध में लिखा गया है तथापि उसका तत्त्व केवल शल्यतन्त्र में सीमित न होकर संपूर्ण वैज्ञानिक और व्यावसायिक शास्त्रों को व्याप्त करता है। औपपत्तिक और प्रात्यक्षिक ज्ञान के संयोग का तत्त्व व्यावहारिकदृष्ट्या विशेष महत्त्व का होने के कारण ग्रंथ के प्रारंभ में ही उसका विवरण किया गया है (सूत्रस्थान अध्याय ३ के

१ नैव.

१ ज्ञानमिच्छता शल्यजीविना. २ तावत. ३ समागतं द्वयं तत्.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्तिम श्लोक प्रथम खण्ड पृष्ठ १८-१९) उसको देखो । अब इसके पश्चात् मृतशोधन की पद्धति लिखते हैं—

तस्मात् समस्तगात्रमविषोपहतमदीर्घव्याधिपीडितमवर्षशतिकं निःसृष्टान्त्रपुरीषं पुरुषमवगाहन्त्यामापगायां निबद्धं पञ्जरस्थं मुञ्जवल्कलकुशशणादीनामन्यतमेनावेष्टिताङ्गप्रत्यङ्गमप्रकाशे देशे कोथयेत्, सम्यक्प्रकुथितं चोद्धृत्य ततो देहं सप्तरात्राद् उशीरबालवेणुवल्कलकूर्चानामन्यतमेन शनैः शनैः रवघर्षयंस्त्वगादीन् सर्वानेव बाह्याभ्यन्तरानङ्गप्रत्यङ्गविशेषान् यथोक्तान् लक्षयेच्चक्षुषा ॥६१॥

(मृतशोधन की पद्धति—) अतः (शरीरगत अंग-प्रत्यङ्गों का प्रत्यक्षज्ञान प्राप्त करने के लिए) जिसके शरीर में संपूर्ण अंग-प्रत्यंग (अविकल) हों, जिसकी मृत्यु विष से न हुई हो, जो (मृत्यु के पूर्व) दीर्घकाल तक व्याधि से पीड़ित न हुआ हो, जिसकी आयु सौ बरस की न हो, जिसकी आँतें और मल निकाल दिया गया हो, ऐसे (मृत) पुरुष (के शरीर) को (तेजी से) न बहने वाली नदी में बाँधकर, पिंजरे में रखकर, मूँज, (वृक्षों की) छाल, कुश, सन इनमें से एक से अंग-प्रत्यंगों को लपेटकर अप्रकट स्थान में सड़ावे । फिर सात रोज़ के बाद भली भाँति सड़े हुए उस देह को (नदी के बाहर) निकालकर (और उसके पिंजरे को तथा मुञ्जादि के आवरण को हटाकर) खस, बाल, बाँस और छाल की कूँचियों में से एक (की कूँची) से धीरे धीरे घिसते हुए, जैसे कि पहले वर्णन किये गये हैं वैसे, त्वचादि सब बाह्य और आभ्यन्तर अंग-प्रत्यंग विशेषों को आँखों से देखे ॥६१॥

वक्तव्य—समस्तगात्रम्—मनुष्यशरीर में जितने अंग अवयव होने चाहिएँ उतने अंगों से तथा अवयवों से युक्त; अर्थात् समस्त शब्द से अंगों की हीनता का जैसे निषेध सूचित किया जाता है, वैसे ही अंगों की अधिकता का भी निषेध सूचित होता है । इसलिए डल्हणाचार्य के अर्थ में निम्न प्रकार का शोधन करना चाहिए—समस्तगात्रमिति, अङ्गहीने (अङ्गाधिक्ये वा) आगमोक्तावयवसंख्याद्यप्रत्ययात् । इसमें संदेह नहीं कि अंगाधिक्य की अपेक्षा अंगहीनता अधिक मिलती है तथा जन्म के पश्चात् भी उत्पन्न हो सकती है । इसलिए उसका उल्लेख न करके केवल अंगहीनता का उल्लेख किया होगा । इन दो अवस्थाओं के सिवा अंगविकृति (सहज दोष Congenital malformations जो पूर्वोक्त दो अवस्थाओं में नहीं आते । प्रथम खण्ड पृष्ठ १५० देखो) की तीसरी अवस्था होती है उससे विरहित यह भी समस्त का अर्थ होता है । संक्षेप में समस्त मात्र का अर्थ 'जिसके शरीर में न कोई अंग कम हो, न अधिक हो, न विकृत हो, ऐसा' । अविषोपहतम्—विष से मृत्यु होने पर जिन अंगों पर विष का प्रभाव पड़ता है, वे अंग अस्वाभाविक हो जाते हैं । इसलिए विष से मृत हुआ नहीं होना चाहिए । अदीर्घव्याधिपीडितम्—दीर्घव्याधि (Chronic disease) से पीड़ित होने पर शरीर के अं और धातु खराब हो जाते हैं । जैसे, उपदंश में शिश्न ... जाता है; कुष्ठ में त्वचा खराब होती है; फिरंग में नाक तथा अन्य स्थान की हड्डियाँ गलती हैं; विषमज्वर का अजार म प्लीहोदर होता है, इत्यादि । अतः दीर्घ व्याधियों से मृत मनुष्यों का शरीर देखने से इन अंगों का परिज्ञान विकृत होगा । अदीर्घ या नवीन व्याधि (Acute disease) से मृत्यु होने पर रोग की अवधि अल्प होने के कारण शरीर में विशेष परिवर्तन नहीं हो सकते । इसलिए अदीर्घव्याधिपीडित का अर्थ 'जो व्याधि से अल्पकाल पीड़ित होकर मृत हुआ हो' ऐसा करना चाहिए । अवर्षशतिकम्—जो बहुत बूढ़ा न हो । वृद्धावस्था में शरीर की धातुओं और अवयवों का क्षय होता है—सप्ततेरूर्ध्वं क्षीयमाणधात्विन्द्रियबलवीर्योत्साहं वृद्धमाचक्षते । (सुश्रुत, सूत्र ३५)। जैसे, हड्डियाँ वृद्धावस्था में कुछ हलकी, विरल और भङ्गुर हो जाती हैं, दाँत संपूर्ण गिर जाते हैं, अधोहनु का आकार बदलता है, स्त्रियों में गर्भाशय सिकुड़कर छोटा होता है और उसका मुख बंद हो जाता है, इत्यादि । 'अवर्षशतिक' इस विशेषण का तात्पर्य ऊपर बताया गया है और उसके अनुसार इसके लिए उचित पर्याय 'अनतिवृद्ध' होता है । परंतु इस विशेषण में जो शब्द प्रयुक्त हुए हैं उनके वास्तविक अर्थ की ओर ध्यान दिया जाय और उसके साथ यह भी मान लिया जाय, और इस प्रकार मानना उचित भी है कि ये शब्द सहेतुक प्रयुक्त किये गये हैं तो यह अनुमान किया जा सकता है कि जिस काल में यह संहिता लिखी गई है उस काल में सौ वर्ष की आयु में मरने वाले लोगों की संख्या बहुत कम न थी । अन्यथा इस शब्दप्रयोग से अतिवृद्धावस्था में मृत मनुष्य के ग्रहण का निषेध करने का कोई कारण नहीं था । सुश्रुत संशोधनार्थ ग्रहण करने योग्य शरीर का सुश्रुतोक्त वर्णन आज भी संमत होने योग्य है, परंतु यदि कोई लेखक आज की परिस्थिति के अनुसार इसी बात को लिखे तो उसको 'अवर्षशतिक' शब्द प्रयोग करने का ख्याल तक नहीं आयगा क्योंकि आज भारतवर्ष में सौ साल की आयु में मरने वाले लोग अत्यंत विरलदृष्ट होते हैं । निःसृष्टान्त्रपुरीषम्—(१) अन्त्रं च पुरीषं च अन्त्रपुरीषे, निःसृष्टे अन्त्रपुरीषे यस्य तम् । जिसकी आन्त्र और पुरीष दोनों निकाली गई हैं, ऐसा । हाराणचन्द्र 'अन्त्रपुरीषम्' का अर्थ 'अन्त्रगतं पुरीषमन्त्रपुरीषम्' ऐसा करते हैं । यह भी अर्थ हो सकता है क्योंकि इसमें मुख्य उद्देश्य मल को निकालने का है । परंतु मृत मनुष्य के केवल मल को निकालने का, सिवा आन्त्र को काटकर निकालने के, और कोई सरल उपाय नहीं मालूम होता । इसलिए 'निःसृष्टान्त्रपुरीष' का 'जिसकी आँतें और तद्गत पुरीष दोनों ही निकाली गई हैं' ऐसा अर्थ करना अधिक प्रशस्त है । इसके सिवा आन्त्र की लम्बाई मालूम करने के लिए (पीछे ८वाँ सूत्र देखो) एक बार आन्त्र को काटकर शरीर से पृथक् करके देखना

१ ०वल्वज० ।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। सिवा शरीर से पृथक् करने के, आन्त्र की लम्बाई मालूम नहीं हो सकती। यदि यह कर्म प्रारंभ में ही किया जाय तो 'एक पंथ दो काज' के तत्त्वानुसार शरीर से मल भी हट जाता है और लम्बाई नापने के लिए आन्त्र भी मिल जाता है। इसके सिवा आन्त्र तथा तद्गत मल निकालने का और भी एक उद्देश्य होता है। इसका विवरण इसी वक्तव्य में आगे कोथ की टिप्पणी में किया गया है, उसे देखो। इसलिए यही अर्थ अधिक प्रशस्त है। (२) इसका और भी एक गौण अर्थ हो सकता है। कभी कभी मृत्यु के पूर्व से रोगी का शरीर मलमूत्र से लिप्त रहता है और कभी कभी मृत्यु के पश्चात् उसके मलद्वार से मल बाहर आता है। ऐसी अवस्था में शव को सड़वाने से पूर्व उसका शरीर साफ करना आवश्यक है। इसलिए 'जिसके शरीर पर लगा हुआ आन्त्रगत मल साफ किया गया है' ऐसा भी इस पद का अर्थ हो सकता है। पुरुषम्—इससे पुरुष के मृत शरीर का बोध होता है। पुरुष शरीर ग्रहण का निर्देश सहेतुक तथा निर्हेतुक दोनों प्रकार का हो सकता है। निर्हेतुक इसलिए कहा जा सकता है कि यदि कोई विशेष कारण न हो तो पुरुष लेखक (प्राचीनकाल में सब लेखक पुरुष ही थे) स्त्रियों के स्वतन्त्र अस्तित्व का ख्याल ही नहीं करते थे और प्रत्येक समय मनुष्य के लिए पुरुष का ही निर्देश (पीछे ९वें सूत्र के वक्तव्य में 'नव' की टिप्पणी देखो) होता था। सहेतुक इसलिए कि स्त्रीशरीर की अपेक्षा पुरुष-शरीर सुगमता से मिलता होगा। पुरुष की आयु—यह एक बहुत महत्त्व का प्रश्न है। कुछ आधुनिक विद्वानों की यह राय है कि आयुर्वेद में मृतशोधन के लिए बाल के या पचीस वर्ष से कम आयु के शरीर प्रयोग में लाये जाते थे—आपातविरुद्धवादिनो(अस्थिसंख्यापरिगणने)ऽपि सर्वे खल्वेतेऽवितथमाहुः। गणनाप्रकारभेदात्। पृथगवयोग्रहणाच्च। प्राच्यो हि यौवनप्रविष्टस्य संचक्षतेऽस्थीनि, प्रौढस्य पञ्चविंशतिवर्ष-देशीयस्य तु प्रतीच्याः। कशेरुकावयववादीनां पृथक्संख्यानात् स्फुटमनुमीयते खल्वेतत्॥ (प्रत्यक्षशारीर, प्रथम विभाग)। इसके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण कहीं भी नहीं मिलता। जो अनुमान किया गया है, वह अस्थियों की गणना के ऊपर किया गया है। परंतु इससे भी संशोध्य मृतशरीर की आयु एक निश्चित नहीं की जा सकती। जैसे, यदि कशेरुकाओं के अवयवों के आधार पर मृतशरीर की आयु १६-१८ मानी जाय तो शिर के छः कपालों के आधार पर वह ४-६ साल की माननी पड़ेगी और यदि त्रिकसंश्रित अस्थि की एक संख्या देखकर मृतशरीर की आयु ३० साल से अधिक माननी पड़ेगी क्योंकि उसके अवयव २५-३० साल की उम्र में एक हो जाते हैं। अतः अस्थिगणना के आधार पर किया हुआ अनुमान कुछ अस्थिर सा मालूम होता है। अब इस सूत्र में संशोध्य मृतशरीर का जो वर्णन किया गया है, उसमें भी 'अवर्षशतिकम्' के सिवा उसकी आयु मालूम करने का और कोई साधन नहीं है। इस विशेषण से अतिवृद्ध शरीर का निषेध किया गया है, इसमें कोई संदेह नहीं। यदि इस निषेध के कारण का बारीकी से विचार किया जाय तो यह अनुमान किया जा सकता है कि जिस काल में मृतसंशोधन की प्रथा जारी थी, उस समय में लोग अधिक उम्र के मृत को संशोधन के लिए पसंद किया करते थे और उसके अतियोग से बचने के लिए यह 'अवर्षशतिकम्' का लाल झंडा (Red signal) दिखाया गया है। इसके साथ पुरुष को जोड़ने पर संशोध्य की आयु का निदर्शक लोलक (Pendulum) पचीस साल से कम आयु की अपेक्षा पचास या उससे अधिक साल की ओर झुकता हुआ मालूम पड़ता है। दूसरा भी एक आनुमानिक प्रमाण दिया जा सकता है। अस्थिसंख्या में दाँत हमेशा बत्तीस बताये जाते हैं। इससे कम संख्या कहीं भी नहीं बताई गई है। दाँतों की बत्तीस संख्या पचीस साल की उम्र के पश्चात् ही हो सकती है, इससे पहले कदापि नहीं हो सकती। संक्षेप में इस विवरण का तात्पर्य यह है कि मृत-संशोधन के लिए आयुर्वेद के शारीरशास्त्रज्ञ अल्पायु पुरुष को पसंद नहीं करते थे। अतः अस्थिसंख्याधिक्य का मुख्य कारण अल्पायु मृतसंशोधन न होकर गणनापद्धति भेद ही होता है (पीछे १७वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। अवहन्त्यामापगायाम्—अपां समूहो आपं तेन गच्छति इति आपगा—स्रोतस्विनी द्वीपवती स्रवन्ती निम्नगापगा। (अमरकोष)। अर्थात् जिसमें पानी काफी होता है, वही आपगा कहलाती है। अवहन्त्याम्—जिसमें ईषत् प्रवाह हो परंतु प्रवाह की गति तेज न हो। निबद्धम्—प्रवाह से नीचे शव न बहने पावे; तथा वह पानी में मग्न (डुबा) रहे, इसलिए वह बाँधकर रक्खा जाता था। पंजरस्थम्—घड़ियाल, मगर इत्यादि बड़े बड़े जलचरों से रक्षा करने के लिए शव पिंजरे में बंद करके रक्खा जाता था। शव का पिंजरा ही बाँधकर रक्खा जाता था। मुञ्जवल्कल इत्यादि—मछली तथा अन्य छोटे छोटे जलचरों द्वारा त्वचा की रक्षा करने के लिए इनके द्वारा शव पूरा लपेटा जाता था। सप्तरात्रात्—सप्तरात्रादनन्तरमित्यर्थः। कभी कभी कालदर्शक शब्दों की पंचमी के पश्चात् 'अनन्तरम्' या 'परम्' या 'ऊर्ध्वम्' शब्द लुप्त रहते हैं; जैसे—वहोर्दृष्टं कालादपरमिव मन्ये वनमिदम्। (उत्तररामचरित २)। इसका संबंध नदी में शव रखने के साथ है; नदी से बाहर निकालने के पश्चात् के कर्म के साथ नहीं। संक्षेप में, इससे नदी में प्रेत रखने की अवधि सूचित होती है। अप्रकाशे देशे—गाँव या नगर के पास जब नदी होती है तब स्नान करना, वस्त्र धोना, बर्तन माँजना, जानवरों को धोना और पानी पिलाना, किनारे पर टहलना इत्यादि अनेक कामों के लिए वहाँ के निवासी लोग उसका उपयोग करते हैं। इसलिए, प्रेत ऐसे स्थान में रखना चाहिए कि जहाँ पर लोग किसी काम के लिए नहीं जाते हैं और वह उनकी दृष्टि के सामने नहीं आ सकता है। संक्षेप में, जनसमाज से दूर स्थान में या पर्याय से गुप्त स्थान में। अप्रकाश देश का अर्थ अँधेरा स्थान नहीं है। नदी में अँधेरा स्थान कहीं नहीं मिल सकता। इस प्रकार गुप्त स्थान में रखने से दो फायदे होते हैं। गाँव वालों का फायदा यह है कि वे उस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीभत्स दृश्य से बच जाते हैं और वैद्य की दृष्टि से फायदा यह है कि प्रेत को शरारती लोगों का उपसर्ग नहीं पहुँचता। डल्हणाचार्य अप्रकाश में रखने का उद्देश्य गृध्रादि का निवारण समझते हैं—प्रकाशे गृध्रादिभक्षणभयम्। पानी के भीतर पिंजरे में वल्कलादि से लिप्त प्रेत के लिए गृध्र का भय बहुत कम होगा या होगा ही नहीं। इसके सिवा अप्रकाश में रक्खे हुए प्रेत की ओर उनका आकर्षण नहीं होगा, यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि गृध्र जैसे दृष्टिलोलुप होता है, वैसा गंधलोलुप भी रहता है। इस सूत्र के तीन विभाग हैं और प्रत्येक विभाग में अलग अलग विषय वर्णन किया है। प्रथम विभाग 'समस्तगात्र' से 'पुरुषम्' तक है। इसमें संशोधनार्थ मृतपुरुष किस प्रकार का होना आवश्यक है, उसका विचार किया है। इस सूत्र में बताये हुए विचारों में आज भी कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता है; यदि वय की उत्तरमर्यादा के साथ पूर्वमर्यादा भी (जैसे—नातिवृद्धं नातिबालम्) उसमें स्पष्ट शब्दों में समाविष्ट की जाय। दूसरा विभाग 'अवहन्त्यामापगायाम्' से 'कोथयेत्' तक है। इसमें शोधन के पहले प्रेत को तैयार करने की विधि (Preparation of the dead body) बतलाई है। यह प्राचीन विधि आधुनिक विधि से बिलकुल भिन्न है। अतः दोनों का ही यहाँ पर विचार करना आवश्यक है। तीसरा विभाग 'सम्यक् प्रकुथितम्' से 'लक्षयेच्चक्षुषा' तक है। इस विभाग में मृतसंशोधन की विधि (Method of dissection) बतलाई है। यह प्राचीन विधि भी आधुनिक विधि से कुछ भिन्न है। मृत को तैयार करने की प्राचीन पद्धति—संशोधनार्थ मृत को तैयार करने की प्राचीन पद्धति को 'जलमज्जन कोथपद्धति' कह सकते हैं। इस पद्धति का क्या प्रयोजन था, इसका निर्णय करना बहुत कठिन काम है, परंतु उसके संबंध में जो कुछ समझ में आता है, उसका विवरण नीचे किया जाता है। प्राचीन काल में मृत का संशोधन कूँची के द्वारा किया जाता था। कूँची की रगड़ से यदि शरीर को देखना हो तो शरीर मृदु (Soft) बनना आवश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति करने के लिए जलमज्जन की विधि का आविष्कार किया गया है। यह आविष्कार कहाँ तक युक्तियुक्त है, इसका विचार करने के पूर्व मृत्यु के पश्चात् शरीर में होने वाले परिवर्तन और उनके कारणों का कुछ विचार करना आवश्यक है। मृत्यु के पश्चात् शरीर में होने वाले परिवर्तन (Cadaveric changes)—मृत्यु के पश्चात् यदि शरीर कुछ काल वैसा ही रक्खा जाय तो उसमें निम्न परिवर्तन होते हैं और वे मृत्यु के निश्चित चिह्न होते हैं। (१) मरणोत्तर अधस्तल वैवर्ण्य (Cadaveric lividity)—इसमें शरीर के सब से नीचे के भाग में तरल रक्त इकट्ठा होने से वैवर्ण्य आ जाता है। (२) मरणसंकोच (Rigor mortis)—इसमें पेशियाँ जम जाती हैं, जिससे वे संकुचित नहीं हो सकतीं और शरीर में एक प्रकार की कड़ाई आती है। यह अवस्था मृत्यु के कुछ घंटों के पश्चात् प्रारंभ होकर एक से तीन दिन तक रह सकती है। अधिक देर तक प्रेत रखने के पश्चात् उसको उठाते समय इस कड़ाई का अनुभव मिलता है। मरणसंकोच के संबंध में एक हँसोड़ का किस्सा बहुत प्रसिद्ध है। वह मनुष्य हमेशा विनोदी बातें कहकर लोगों को हँसाया करता था और यह भी कहे देता था कि मरणोत्तर भी एक बार आप लोगों की ऐसी ही सेवा करके फिर दुनिया से मिट जाऊँगा। लोग उस समय उसके वचन पर विश्वास नहीं करते थे और उसको दिल्लगी समझते थे। जब वह मरने लगा, तब उसने अपने पास वाले मनुष्य को कहा कि मेरी टाँगों में बड़ा दर्द हो रहा है, इसलिए उनको दीवाल के पास खड़ा कर दीजिए। टाँगें खड़ी करने के थोड़ी देर के पश्चात् वह मनुष्य मर गया। उसको ले जाने की तैयारी करते करते कई घंटे बीत गये। तैयारी होने के पश्चात् जब उसको उठाकर लोग अरथी पर रखकर बाँधने लगे तो टाँगें दबाने पर सिर और धड़ ऊपर उठने लगा और सिर को दबाने पर टाँगें ऊपर उठने लगीं। कई बार दोनों ओर दबाने पर मुश्किल से लोग उसको अरथी पर बाँधने में सफल हुए। परंतु इससे लोगों को हँसी आ गई और उसके वचन की भी याद आ गई। संक्षेप में, मरणोत्तर संकोच से शरीर में काफी कड़ाई आ जाती है, जिससे पश्चात् शरीर को सीधा करने में कठिनाई होती है। इस लिए मृत्यु होते ही, यदि उस समय शरीर अस्तव्यस्त हो तो, शरीर को सीधा करके रखने का रिवाज है। (३) शरीर का ठंडा होना—मृत्यु होने के कुछ पूर्व हाथ-पैर ठंडे होने लगते हैं और मृत्यु के पश्चात् संपूर्ण शरीर ठंडा हो जाता है। यदि शरीर का तापक्रम ८०° फे० तक कम हो जाय तो वह चिह्न मृत्यु का निश्चित निदर्शक समझना चाहिए। (४) कोथ (Putrefaction)—शरीर की मृत्यु का यह एकमात्र निश्चित चिह्न है। यदि किसी की मृत्यु के संबंध में संदेह हो तो उसका दहन या दफन कुछ दिनों तक स्थगित करना उचित है। वास्तविक मृत्यु होने पर आयु, शरीर की स्थिति, मृत्यु का कारण, आर्द्रता, उष्णता, वायु इत्यादि के अनुसार न्यूनाधिक काल में शरीर में सड़ने की क्रिया शुरू होती है। सड़ने के मुख्य दो कारण होते हैं—(१) शरीरगत और शरीरबाह्य जीवाणु; (२) तथा शरीरधातुगत स्वयंपाचक द्रव्य (Autolytic ferments)। शरीरगत जीवाणुओं का मुख्य स्थान आन्त्र है। इसमें मल की उपस्थिति के कारण अनन्त जीवाणु भरे रहते हैं। ये जीवाणु मृत्यु के पश्चात् मल से आन्त्र की दीवाल में, वहाँ से उदरगुहा में और समस्त शरीर में फैलते हैं। शरीरबाह्य जीवाणु वातावरण में होते हैं जो क्षत स्थान में से शरीर में प्रवेश करते हैं। ये जीवाणु वातपी (Acrobe) और वातभी (Anacrobe) दो प्रकार के होते हैं और पाचक द्रव्यों को उत्पन्न करके शरीर का विद्रावण करते हैं। शरीरगत जो पाचक द्रव्य होते हैं, वे जीवाणुओं की सहायता के विना अपना कार्य कर सकते हैं। अर्थात् यदि शरीरगत तथा शरीरबाह्य जीवाणुओं का संबंध कम कर दिया जाय, तब भी शरीर में विद्रावण हो सकता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे शरीर मृदु हो जाता है । यही कोथ है । कोथ में शरीर में कई प्रकार की वायु (Gases) उत्पन्न होती हैं। जब दोनों कारण उपस्थित रहते हैं, तब कोथ जल्दी होता है। प्रथम कारण उपस्थित न होने पर देर में होता है तथा उतनी दुर्गन्ध नहीं उत्पन्न होती । खुली हवा में, अनावृत शरीर अधिक तापक्रम पर जल्दी कुथित होता है। हवा-बंद स्थान में आवृत शरीर कम तापक्रम पर देर में कुथित होता है।

कोथ के संबंध के इन आधुनिक निरीक्षणों (Observations) के आधार पर प्राचीन जलनिमज्जनपद्धति का मृत-शरीर पर क्या परिणाम होता है, इसका विचार किया जाता है। मुञ्जादि से आवृत रहने के कारण त्वचा अक्षत रहती है और बाह्य जीवाणुओं का संबंध कम होता है; आन्त्र तथा मल निकाल देने के कारण शरीरगत जीवाणु, जो कोथ में मुख्यतया सहायता करते हैं, प्रायः नष्ट हो जाते हैं। पानी में गहराई पर प्रेत रहने के कारण बाह्य वायु का तथा जीवाणुओं का संबंध टूटता है और प्रेत न्यून तथा एक-से तापक्रम (Low and uniform temperature) पर रहता है। इन सब बातों का परिणाम यह होता है कि शरीर में कोथ देर में परंतु एक-सा (Uniform) प्रारंभ होता है और जीवाणुओं की अपेक्षा उसमें शरीरगत पाचक-द्रव्य अधिक काम करते हैं। संक्षेप में, स्वाभाविक कोथ में ही कुछ अनुकूल परिवर्तन कृत्रिम उपायों के द्वारा उत्पन्न करके मृतशरीर संशोधन के लिए उपयुक्त बनाया जाता था। कुथित शरीर कूँची के द्वारा रगड़ने के लिए मृदु बनता है और रगड़ने पर धीरे धीरे त्वचादि अंग निकल जाते हैं और निकलते समय उनका परीक्षण भी किया जाता है। आधुनिक काल में संशोध्य शरीर में जो स्वाभाविक कोथ होता है, उसको रोकने के उपाय काम में लाये जाते हैं। ये उपाय मुख्यतया दो हैं। (१) ओषधियाँ—फार्मेलिन (Formalin) संखिया इत्यादि कोथप्रतिबंधक ओषधियों का इन्जेक्शन मृत शरीर में दिया जाता है। (२) शीत—पश्चात् उस शरीर को विशेष पद्धति से बनाये हुए ठंडे कमरे में कुछ रोज तक रखते हैं। ओषधि का परिणाम समस्त शरीर पर होने के पश्चात् उसको संशोधन के काम में ले आते हैं। इससे प्रायः स्वाभाविक अवस्था में शरीर की सब वस्तुएँ मिलती हैं। मृतसंशोधन की पद्धति—प्राचीन काल में मृत का संशोधन कूँची के द्वारा किया जाता था। आधुनिक काल में चाकू और चिमटी के द्वारा शरीर का संशोधन होता है तथा शरीर के विविध अंग और प्रत्यंग काट-काटकर अलग किये जाते हैं और उनका संशोधन होता है। इसलिए आधुनिक पद्धति के डिसेक्शन (Dissection) याने विच्छेदन शब्द का प्रयोग होता है। शरीर के प्रत्यंगों को देखने की दृष्टि से जलनिमज्जन और कूर्चघर्षण ये दोनों पद्धतियाँ बहुत ही असंस्कृत (Crude) हैं। पेशी, स्नायु इत्यादि की संख्या आधुनिक संख्या के साथ न मिलने के जो अनेक कारण हो सकते हैं, उनमें संशोधन की असंस्कृत पद्धति एक कारण है। चक्षुषा—चर्मचक्षुओं द्वारा। इस साधन से जो अंगविनिश्चय होता है, उसको स्थूल अंगविनिश्चय या शारीर (Gross anatomy) कहते हैं। इस अध्याय में चर्मचक्षुओं द्वारा प्राप्त हुआ याने स्थूल अंगविनिश्चय वर्णन किया है। आधुनिक काल में सूक्ष्म दर्शक की सहायता से भी अंगों की रचना का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। उसको सूक्ष्म अंगविनिश्चय (Microscopical anatomy) कहते हैं। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र न होने के कारण प्राचीन ग्रंथों में स्थूल वर्णन ही मिलता है। कहीं कहीं सूक्ष्म वर्णन भी आता है। उसके कारण का विचार आगे के श्लोक के वक्तव्य में किया गया है।

श्लोकौ चात्र भवतः—

न शक्यश्चक्षुषा द्रष्टुं देहे सूक्ष्मतमो विभुः।
दृश्यते ज्ञानचक्षुर्भिस्तपश्चक्षुर्भिरेव च ॥६२॥

(सूक्ष्मदर्शन में चर्मचक्षुओं का वैयर्थ्य—) (इस प्रकार शरीर के स्थूल अंग-प्रत्यंगों को चर्मचक्षुओं से देखना शक्य है, परंतु) शरीरगत अत्यंत सूक्ष्म आत्मा को (चर्म) चक्षु से देखना शक्य नहीं है। वह आत्मा ज्ञानचक्षुओं तथा तपश्चक्षुओं द्वारा ही दीख पड़ता है ॥६२॥

वक्तव्य—प्रथम अध्याय में संहिताकार बतला चुके हैं कि प्रत्येक सजीव शरीर में पुरुष होता है, परंतु वह अनुमानग्राह्य (प्रथम अध्याय सूत्र १७ देखो) होता है। इस श्लोक में उस अनुमानग्राह्य पुरुष को प्रत्यक्ष करने के दो मार्ग बताये गये हैं। चक्षुषा—चर्म-चक्षुषा। देहे—सजीवदेहे। मृत शरीर में आत्मा को देखने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह उसमें होता ही नहीं—शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम्। पंचभूतावशेषत्वात् पञ्चत्वं गतमुच्यते ॥ (चरक, शा० १)। विभुः—पुरुष, आत्मा। सुश्रुत के मतानुसार विभु (सर्वमूर्त-संयोगित्व) नहीं होता (प्रथम अध्याय के १६वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। सूक्ष्मतम और विभु ये दोनों परस्परविरोधी शब्द हैं। परंतु जीवात्मा में इनके विरोध का परिहार हो जाता है—अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्। (कठोपनिषत्)। सूक्ष्मतमः—जीवात्मा के सूक्ष्मतमत्व की कल्पना श्वेताश्वतरोपनिषत् में निम्नप्रकार से वर्णित है—बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः। जीवात्मा को सूक्ष्मतम याने अणुरूप मानने के कारणों का विचार प्रथम अध्याय के १६वें सूत्र के वक्तव्य में 'पुरुष का परिमाण' की टिप्पणी में किया गया है। दृश्यते—प्रकाशित होता है, उपलब्ध होता है (is revealed)। दृश् का प्रयोग यहाँ पर 'ऋषयो मन्त्राणां द्रष्टारः' इस अर्थ से किया गया है। ज्ञानचक्षु—चर्मचक्षु का विरोधी शब्द है। ज्ञानमेव चक्षुः, किं वा ज्ञानं चक्षुरिव ज्ञानचक्षुः। भेलसंहिता में आलोचक पित्त के दो विभाग किये हैं—चक्षुर्वैशेषिक और बुद्धिवैशेषिक आलोचन-पित्त। चक्षुर्वैशेषिक पित्त का नेत्ररूप यन्त्र के साथ संबंध होता है और बुद्धिवैशेषिक का मस्तिष्क के साथ होता है—तत्र चक्षुर्वैशेषिको नाम य आत्ममनसोःसंनिकर्षात्...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चक्षुषा वैशेष्यमुत्पादयति; बुद्धिवैशेषिको नाम यो भुवोर्मध्ये शृंगाटकस्थः सुसूक्ष्मानर्थानध्यात्मकृतान् गृह्णाति, गृहीतं धारयति, धारितं प्रत्युदाहरति, अतीतं स्मरति, प्रत्युत्पन्नं कृत्वाऽनागतं प्रार्थयति, ध्याने प्रत्याहारे योजनाच्च बुद्धिवैशेष्यमुत्पादयति ॥ (शारीर ४) । इसलिए ज्ञानचक्षु को बुद्धिवैशेषिक आलोचकपित्त का स्वाभाविक फल समझ सकते हैं । अर्थात् वेद, वेदांग, उपनिषद्, दर्शन इत्यादि शास्त्रों के अध्ययन और चिन्तन से प्राप्त हुआ ज्ञान । यही ज्ञान ज्ञानी लोगों में चक्षु का काम करता है, इसलिए वे ज्ञान-चक्षु कहलाते हैं । चर्मचक्षु के द्वारा जो चीज़ दिखाई देती है, उसको देखने के लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं होती । मूढ़ भी उसको देख सकते हैं, परंतु जो नेत्र प्रत्यक्ष नहीं होता उसको मानस प्रत्यक्ष करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है । भगवद्गीता में चर्मचक्षु और ज्ञानचक्षु का मिथ्या भेद निम्नश्लोक में स्पष्ट किया है—उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् । विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ (गीता १५-१०) । चरक में भी लिखा है कि प्रत्यक्ष अल्प और अप्रत्यक्ष अनल्प होता है । अर्थात् जो चक्षु के द्वारा प्राप्त नहीं होता, उसकी उपलब्धि आगम, अनुमानयुक्ति के द्वारा याने ज्ञानचक्षु के द्वारा होती है—प्रत्यक्षं ह्यल्पम्; अनल्पमप्रत्यक्षमस्ति, यदागमानुमानयुक्तिभिरुपलभ्यते ॥ (सूत्र ११) । संक्षेप में ज्ञानचक्षु से मोक्षशास्त्र में अध्यात्मज्ञान रूपी चक्षु और भौतिक शास्त्रों में विज्ञानरूपी चक्षु । ज्ञानचक्षु के द्वारा दर्शन का प्राचीन उदाहरण रोगोत्पादक जीवाणु हैं । वे प्राचीन काल में सूक्ष्मदर्शक न होने के कारण अदृश्य थे—जन्तवोऽणवः; सौक्ष्म्याददर्शनः (अष्टांगहृदय) । केशादाद्यास्त्वदृश्यास्ते । (सुश्रुत) । परंतु उनका अस्तित्व आयुर्वेद में अनेक रोगों के कारणों में माना जाता था (निदानस्थान के ५वें अध्याय के छठे तथा ३२-३३वें श्लोकों का वक्तव्य देखो) और उनकी उपलब्धि ज्ञानचक्षु से की गई थी—सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मत्वात् कारणात् केचिददर्शनाः प्रत्यक्षप्रमाणसमधिगम्याः कार्यैणैवानुमीयन्ते । (अरुणदत्त, अष्टांगहृदयटीका, निदान १४-५१) । आधुनिक काल में ज्ञानचक्षु के द्वारा ही प्रथम हर्शल और नेपच्यून नामक ग्रहों की उपलब्धि हुई थी । ये ग्रह (Planet) शनि से भी बहुत दूर हैं । इनका दर्शन न आँखों से होता है, न साधारण दूरदर्शक (Telescope) से होता है । इनका दर्शन आधुनिक काल के उत्तम दूरदर्शक से होता है; परंतु सौ वर्ष पीछे के यन्त्र से नहीं होता था । उस समय भी गणित के अर्थात् ज्ञानचक्षु के द्वारा ज्योतिषी लोगों ने शनि से परे इन दो ग्रहों का अस्तित्व और उनका अन्तर मानस प्रत्यक्ष किया था और जैसे प्राचीनकाल के जीवाणु आज प्रत्यक्ष हुए; वैसे ही सौ साल से पूर्व अदृश्य हर्शल और नेपच्यून आज प्रत्यक्ष हो गये हैं । तपश्चक्षु—तप योग और समाधि का एक साधन है—तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः । (योगसूत्र २।१) । समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः । (कुमारसंभव) । तपस्या एक बड़ा भारी साधन है, जिसके द्वारा अलौकिक और असाध्य भी साध्य हो जाता है— तपोभिः प्राप्यतेऽभीष्टं नासाध्यं हि तपस्यतः । (मत्स्यपुराण) तपसो हि परं नास्ति तपसा विन्दते महत् । (वह्निपुराण) इसलिए तपश्चक्षु का अर्थ तप के द्वारा प्राप्त हुआ अलौकिक चक्षु याने दिव्यदृष्टि (Divine vision) । यह दिव्य... जैसे मनुष्य को तपस्या और योग के द्वारा प्राप्त होती है वैसे ही देवताओं और महान् पुरुषों के प्रसाद और अनु... से भी मिलती है । महाभारत युद्ध के समय भगवा... व्यासजी ने संजय को दिव्यदृष्टि दी थी—व्यासप्रसादाच्छ्रुत... वानेतद् गुह्यमहं परम् । योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ (गीता १८-७५) । वैसे ही भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने विश्वरूपदर्शन के समय अर्जुन को दिव्य... दिये थे—न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा । दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ (गीता ११-८) । इस तर... वस्तुओं को देखने की तीन आँखें या दृष्टियाँ होती हैं— चर्मचक्षु, ज्ञानचक्षु और दिव्यचक्षु (Naked eye, philos... ophical or scientificic eye and divine eye) । इनमें... प्रथमचक्षु के लिए नेत्र नामक पंचमहाभूतात्मक तेजोमूर्ति... करण की आवश्यकता होती है । सूक्ष्मदर्शक, दूरदर्शक इत्यादि अनेक आधुनिक दर्शक यन्त्र इसी नेत्र के उपकरण होते हैं, अतः इसी वर्ग में आते हैं । शेष दोनों चक्षुओं के लिए पांचभौतिक नेत्र की आवश्यकता नहीं होती; ... भी ज्ञानचक्षु या दिव्यचक्षु के द्वारा देख सकते हैं ।

शरीरे चैव शास्त्रे च दृष्टार्थः स्याद्विशारदः ।
दृष्टश्रुताभ्यां सन्देहमवापोह्याचरेत् क्रियाः ॥६३॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने शरीरसंख्याव्याकरणं शारीरं नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

(वैद्यक में प्रत्यक्ष और ग्रंथोक्त ज्ञान का महत्त्व—) (यदि कोई मनुष्य आयुर्वेद में) विशारद (होना चा... तो उसका कर्तव्य है कि वह प्रत्यक्ष) शारीर में तथा शा... में (प्रथम) ज्ञाता रहे और दर्शन तथा अध्ययन के द्वारा अपनी शंकाओं को दूर करके पश्चात् चिकित्सा या शस्त्र कर्म करे ॥६३॥

वक्तव्य—यह श्लोक शल्यतन्त्र में आया है । इसलिए यह न समझे कि शरीररचना के प्रत्यक्ष ज्ञान का महत्त्व केवल शस्त्रचिकित्सा में ही होता है । कायचिकित्सा में भी प्रत्यक्ष ज्ञान का महत्त्व होता है, इसका निदर्शन चरक के निम्न श्लोकों से होगा—शरीरं सर्वथा सर्वं सर्वदा वेद यो भिषक् । आयुर्वेदं स कार्त्स्न्येन वेद लोकसुखप्रदम् ॥ (शारीर ६) । ... संख्यां यो वेद सर्वावयवशो भिषक् । तदज्ञाननिमित्तेन स मोहेन न युज्यते ॥ (शारीर ७) । कायचिकित्सा में शारीर... का महत्त्व प्रदर्शित करने के लिए चरक के ये श्लोक ... के उपर्युक्त श्लोकों से कम नहीं हैं । आयुर्वेदिक शारीर... दार्शनिक (Meta physical) और प्रात्यक्षिक (Phys... दोनों का ही समावेश होता है और आयुर्वेद के ...

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तम चिकित्सक या शल्यहर्ता वह समझा जाता है, जो दार्शनिक तथा प्रात्यक्षिक दोनों में दृष्टार्थ हो । पाश्चात्य कल्पना के अनुसार केवल प्रात्यक्षिक शारीर में दृष्टार्थ होने से चिकित्सक या शल्यहर्ता हो जाता है। पाश्चात्य वैद्यक में दार्शनिक शारीर के लिए कोई स्थान नहीं है । आजकल एनाटोमी (Anatomy) के लिए शारीर शब्द का प्रयोग हो रहा है, वह ठीक नहीं है क्योंकि आयुर्वैदिक शारीर में कई भावों का समावेश होता है । एनाटोमी शारीर का प्रात्यक्षिक विभाग है। अतः उसके लिए प्रत्यक्ष शारीर शब्द का प्रयोग करना उचित है । म० म० गणनाथसेनजी ने अपने एनाटमी के ग्रंथ के लिए 'प्रत्यक्ष शारीर' नाम रक्खा है, वह यथार्थ और आयुर्वेदसंमत है। शरीरे चैव शास्त्रे च—चर्मचक्षु के द्वारा शरीर के अंग-प्रत्यंगों की संख्या, आकृति, कार्य इत्यादि के संबंध में तथा ज्ञानचक्षु के द्वारा शारीर के दर्शनादि सभी अंगों की उपपत्ति के संबंध में । श्रुतताभ्याम्—प्राचीन काल में ग्रंथों का या शास्त्रों का अध्ययन श्रवण के द्वारा किया जाता था, इसलिए श्रुत शब्द का प्रयोग किया गया है । अवापोह्य—निराकृत्य । इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि उपपत्ति (Theory) और प्रत्यक्ष (Practical) के द्वारा ज्ञान में निःसंदिग्धता उत्पन्न होने पर व्यवसाय (Practice) को प्रारंभ करना चाहिए ।

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्य-दीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां शारीरस्थाने शरीरसंख्या-व्याकरणं नाम पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ॥५॥

षष्ठोऽध्यायः ।

अथातः प्रत्येकमर्मनिर्देशं शारीरं व्याख्यास्यामः यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब इसके पश्चात् प्रत्येक मर्मनिर्देश नामक शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१॥

वक्तव्य—प्रत्येकमर्मनिर्देशम्—एकैकेषां मर्मणां निर्देश-मधिकृत्य कृतः प्रत्येकमर्मनिर्देशः, तम् । निर्देश—अवधारणा याने विशेषतादर्शक विवरण (Specific description) । मर्म—म्रियन्तेऽस्मिन्निति मर्माणि । (डल्हण) । अपि च मरणकारित्वान्मर्म । (अष्टांगहृदय, शारीर ७) । मर्म शब्द की निरुक्ति उपर्युक्त प्रकार से ग्रंथों में वर्णित है और व्यवहार में भी मर्म के ऊपर आघात या प्रहार होने से (हृदय के संबंध में मानसिक आघात होने से भी) मृत्यु हो जाती है, ऐसी कल्पना है—तथैव तीव्रो हृदि शोकशङ्कुर्मर्माणि कृन्तन्नपि किं न हन्ति । (उत्तररामचरित ३) । इन स्थानों पर आघात होने से जीव का नाश होता है। इसलिए ये जीवस्थान (Vital parts) भी कहलाते हैं। जीवस्थान और वायटल का योगार्थ एक ही है । मर्मविवरण आयुर्वैदिक शारीर का एक विशेष है, इसमें संदेह नहीं । परंतु इसकी विशेषताओं का हमें ठीक आकलन नहीं हो रहा है । एक फायदा जरूर मालूम होता है कि मर्मों के निमित्त हमें अनेक अंगों और स्थानों का, जिनका विवरण पिछले अध्यायों में नहीं हुआ है, बहुत उपयोगी विवरण मिलता है।

सप्तोत्तरं मर्मशतम् । तानि मर्माणि पञ्चात्मकानि भवन्ति, तद्यथा—मांसमर्माणि, सिरामर्माणि, स्नायुमर्माणि, अस्थिमर्माणि, सन्धिमर्माणि चेति; न खलु मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिव्यतिरेकेणा-न्यानि मर्माणि भवन्ति, यस्मान्नोपलभ्यन्ते ॥२॥

(मर्मों की संख्या और उनके बनावट के अनुसार प्रकार—) मर्म एक सौ सात होते हैं । वे पंचात्मक होते हैं । जैसे—मांसमर्म, सिरामर्म, स्नायुमर्म, अस्थिमर्म और संधिमर्म । वास्तव में मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि और संधि के अतिरिक्त मर्म होते ही नहीं, क्योंकि (इन धातुओं और अंगों के अतिरिक्त स्थानों में वे) नहीं पाये जाते हैं ॥२॥

वक्तव्य—इस सूत्र में जिस धातु से याने शरीरगत पुर्जे से मर्म बनते हैं, उनके अनुसार मर्मों के प्रकार वर्णन किये हैं । पञ्चात्मकानि—पञ्चविधः आत्मा येषां तानि पञ्चात्मकानि । आत्मा का अर्थ शरीर है—आत्मा जीवे धृतौ देहे स्वभावे परमात्मनि । (वैजयन्ती) । आत्मा कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि । (धरणिः) । अर्थात् जिससे मर्मों का देह बना है, वे वस्तुएँ । ये वस्तुएँ पाँच होती हैं। जैसे—मांस इत्यादि और उनके अनुसार मर्मों के मांसमर्म आदि पाँच प्रकार किये गये हैं । इसके साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रत्येक मर्म में उसके शरीर की मुख्य वस्तु के अतिरिक्त अन्य वस्तुएँ भी होती हैं (आगे २५वाँ सूत्र देखो); परंतु जो वस्तु अधिक होती है उसके अनुसार मर्म का प्रकार किया जाता है—तत्पुनर्मांससिरास्नाय्वस्थिसंधिसंनिपातः । बाहुल्येन तु निर्देशः । तस्मान्मांसाद्याश्रयतो मर्माणि पञ्चधा भिद्यन्ते । (अष्टांगसंग्रह, शारीर ७) । इसका अभिप्राय यह है कि जिसको मांसमर्म कहते हैं, उसमें मांस के अतिरिक्त सिरादि अन्य धातुएँ भी अल्पांश में होती हैं । अष्टांगहृदय में वाग्भटाचार्य पाँच के बदले मर्मों के छः प्रकार करते हैं, जिनमें धमनी मर्म अधिक है—मांसास्थिस्नायुधमनीसिरा-संधिसमागमः । स्यान्मर्मेति च तेनात्र सुतरां जीवितं स्थितम् ॥ बाहुल्येन तु निर्देशः षोढैवं मर्मकल्पना ॥ (शारीर ४) । मर्मों की कुल संख्या उतनी ही है, केवल मांस, अस्थि, स्नायु और सिरा इनके मर्मों से कुछ मर्म निकालकर उनका स्वतन्त्र वर्ग धमनीमर्म करके किया गया है । इसका अर्थ यह है कि कुछ मर्मों का शरीर बाहुल्येन किस वस्तु से बना है, इसके संबंध के मतभेद का यह परिणाम है । न खलु—इससे मर्मों के पाँच ही प्रकार होते हैं; अधिक नहीं हो सकते, यह बताया गया है । इसके संबंध में डल्हणाचार्य लिखते हैं—ननु स्रोतःप्रभृतीनामपि मारणात्मक-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्वान्मर्मत्वमस्त्येव, तत्कथं मांसादिव्यतिरेकेणान्यानि मर्माणि नोपलभ्यन्त इत्युक्तम्। स्रोतःप्रभृतीनि मांसादीनव्यतिरिच्य वर्तन्ते, यतो मांसादिष्वेव स्रोतःप्रभृतीनि सन्ति । तस्मान्मांसादीनि पञ्चैव मर्माणीति ॥ इसका अभिप्राय यह है कि मर्मों के और भी विभाग आश्रय के अनुसार हो सकते हैं, परंतु उनका समावेश उपर्युक्त पाँचों में से किसी एक में हो जाता है, इसलिए अधिक प्रकार मानने की आवश्यकता नहीं है। यही तत्त्व वाग्भटोक्त धमनीमर्मों के लिए लागू किया जा सकता है।

तत्रैकादश मांसमर्माणि, एकचत्वारिंशत्सिरामर्माणि, सप्तविंशतिः स्नायुमर्माणि, अष्टावस्थिमर्माणि, विंशतिः सन्धिमर्माणि चेति । तदेतत् सप्तोत्तरं मर्मशतम् ॥३॥

(मांसादि प्रत्येक प्रकार की संख्या—) इनमें से मांसमर्म ग्यारह, सिरामर्म इकतालीस, स्नायुमर्म सत्ताईस, अस्थिमर्म आठ, और संधिमर्म बीस। इस प्रकार मर्म एक सौ और सात (हो जाते हैं) ॥३॥

वक्तव्य—अष्टांगहृदय में मांसमर्म दस, स्नायुमर्म तेईस, और सिरामर्म सैंतीस दिये हैं और इनमें से जो बचे हैं, उन नौ मर्मों का धमनीवर्ग बनाया है।

तेषामेकादशैकस्मिन् सक्थ्नि भवन्ति, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ, उदरोरसोर्द्वादश, चतुर्दश पृष्ठे, ग्रीवां प्रत्यूर्ध्वं सप्तत्रिंशत् ॥४॥

(षडंगों में मर्मों की संख्या—) इनमें से एक टाँग में ग्यारह मर्म होते हैं, इससे दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं का विवरण होता है। उदर और छाती में बारह, पीठ में चौदह। ग्रीवा से ऊपर सैंतीस ॥४॥

वक्तव्य—एतेन इत्यादि—प्रत्येक शाखा में ग्यारह मर्म होते हैं, इसलिए चारों शाखाओं के चौवालीस मर्म हो जाते हैं। उदरोरसोः—धड़ का सामने का (Anterior) भाग। पृष्ठे—धड़ का पीछे का (Posterior) भाग। अन्तराधि में जो बारह मर्म होते हैं, उनमें से तीन मर्म उदरविभाग में और नौ मर्म छाती में होते हैं—त्रीणि कोष्ठे नवोरसि । (अष्टांगहृदय) । इस तरह शाखाओं में चौवालीस, अन्तराधि में छब्बीस और जत्रूर्ध्व सैंतीस मर्म होते हैं।

तत्र सक्थिमर्माणि क्षिप्रतलहृदयकूर्चकूर्चशिरोगुल्फेन्द्रबस्तिजान्वाण्यूर्वीलोहिताक्षाणि विटपं चेति, एतेनेतरत्सक्थि व्याख्यातम् ॥५॥

(सक्थिगत मर्मों के नाम—) सक्थिमर्म—क्षिप्र, तलहृदय, कूर्च, कूर्चशिर, गुल्फ, इन्द्रबस्ति, जानु, आणी, ऊर्वी, लोहिताक्ष और विटप । इससे दूसरी टाँग का भी व्याख्यान हो जाता है ॥५॥

उदरोरसोस्तु गुदबस्तिनाभिहृदयस्तनमूलस्तनरोहितापलापान्यपस्तम्भौ चेति । पृष्ठमर्माणि तु कटीकतरुणकुकुन्दरनितम्बपार्श्वसन्धिबृहत्यंसफलकान्यंसौ चेति ॥६॥

(अन्तराधि के मर्म—) उदर और छाती के गुद, बस्ति, नाभि, हृदय, स्तनमूल, स्तनरोहित, अपलाप और अपस्तम्भ; पीठ के मर्म कटीकतरुण, कुकुन्दर, नितम्ब, पार्श्वसंधि, बृहती, अंसफलक और अंस (होते हैं) ॥६॥

वक्तव्य—छाती के मर्मों में स्तनमूलादि मर्म दो दो और हृदय एक; उदर के तीनों मर्म एक एक हैं।

बाहुमर्माणि तु क्षिप्रतलहृदयकूर्चकूर्चशिरोमणिबन्धेन्द्रबस्तिकूर्पराण्यूर्वीलोहिताक्षाणि कक्षाधराणि चेति; एतेनेतरो बाहुर्व्याख्यातः ॥७॥

(ऊर्ध्वशाखा के मर्म—) बाहु के मर्म तो क्षिप्र, तलहृदय, कूर्च, कूर्चशिर, मणिबन्ध, इन्द्रबस्ति, कूर्पर, आणी, ऊर्वी, लोहिताक्ष और कक्षाधर हैं; इससे दूसरे बाहु का भी व्याख्यान हो जाता है ॥७॥

वक्तव्य—बाहु के मर्मों के नाम और स्थान सक्थि मर्मों के समान हैं; केवल गुल्फ, जानु और विटप के बदले मणिबन्ध, कूर्पर और कक्षाधर होते हैं—विशेषस्तु गुल्फे मणिबन्धः, तथा जानु कूर्परम्। विटपवच्च कक्षाक्षमध्ये कक्षाधरः (अष्टांगसंग्रह)।

जत्रुण ऊर्ध्वं (मर्माणि) चतस्रो धमन्योऽष्टौ मातृका द्वे कृकाटिके द्वे विधुरे द्वे फणे द्वावपाङ्गौ द्वावावर्तौ द्वावुत्क्षेपौ द्वौ शङ्खावेका स्थपनी पञ्च सीमन्ताश्चत्वारि शृङ्गाटकान्येकोऽधिपतिरिति ॥८॥

(जत्रूर्ध्वगत मर्म—) जत्रु के ऊपर चार धमनियाँ, आठ मातृकाएँ, दो कृकाटिका, दो विधुर, दो फण, दो अपाङ्ग, दो आवर्त, दो उत्क्षेप, दो शङ्ख, एक स्थपनी, पाँच सीमन्त, चार शृङ्गाटक, एक अधिपति (ये मर्म होते हैं) ॥८॥

तत्र तलहृदयेन्द्रबस्तिगुदस्तनरोहितानि मांसमर्माणि ॥९॥

(मांसमर्म—) इनमें से (चार) तलहृदय, (चार) इन्द्रबस्ति, गुद, (और दो) स्तनरोहित मांसमर्म हैं ॥९॥

नीलधमनीमातृकाशृङ्गाटकापाङ्गस्थपनीफणस्तनमूलापलापापस्तम्भहृदयनाभिपार्श्वसन्धिबृहतीलोहिताक्षोर्व्यः सिरामर्माणि ॥१०॥

(सिरामर्म—) (दो) नीला, (दो मन्या) धमनियाँ, (आठ) मातृकाएँ, (चार) शृङ्गाटक, (दो) अपाङ्ग, स्थपनी, (दो) फण, (दो) स्तनमूल, (दो) अपलाप, (दो) आपस्तम्भ, हृदय, नाभि, (दो) पार्श्वसंधि, (दो) बृहती, (चार) लोहिताक्ष, (चार) ऊर्वी सिरा-मर्म हैं ॥१०॥

वक्तव्य—नीलधमनी—नीला और मन्या। मन्या

१ ०स्तनरोहितापस्तम्भावपलापौ चेति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धमनी कहने के कारण के संबंध में आगे ३६वें सूत्र के वक्तव्य में 'नीले मन्ये' की टिप्पणी देखो।

आणीविटपकक्षधरकूर्चकूर्चशिरोबस्तिक्षिप्रांसविधुरोत्क्षेपाः स्नायुमर्माणि ॥११॥

(स्नायुमर्म—) (चार) आणी, (दो) विटप, (दो) कक्षधर, (चार) कूर्च, (चार) कूर्चशिर, बस्ति, (चार) क्षिप्र, (दो) अंस, (दो) विधुर, (दो) उत्क्षेप स्नायुमर्म हैं ॥११॥

कटीकतरुणनितम्बांसफलकशङ्खास्त्वस्थिमर्माणि ॥१२॥

(अस्थिमर्म—) (दो) कटीकतरुण, (दो) नितम्ब, (दो) अंसफलक, (दो) शङ्ख अस्थिमर्म हैं ॥१२॥

जानुकूर्परसीमन्ताधिपतिगुल्फमणिबन्धकुकुन्दरावर्तकृकाटिकाश्चेति सन्धिमर्माणि ॥१३॥

(संधिमर्म—) जानु (दो), (दो) कूर्पर, (पाँच) सीमन्त, अधिपति, (दो) गुल्फ, (दो) मणिबन्ध, (दो) कुकुन्दर, (दो) आवर्त, (दो) कृकाटिका संधिमर्म हैं ॥१३॥

तान्येतानि पञ्चविकल्पानि मर्माणि भवन्ति। तद्यथा—सद्यःप्राणहराणि, कालान्तरप्राणहराणि, विशल्यघ्नानि, वैकल्यकराणि, रुजाकराणीति। तत्र सद्यःप्राणहराण्येकोनविंशतिः, कालान्तरप्राणहराणि त्रयस्त्रिंशत्, त्रीणि विशल्यघ्नानि, चतुश्चत्वारिंशद्वैकल्यकराणि, अष्टौ रुजाकराणीति ॥१४॥

(परिणामानुसार मर्मों के पाँच प्रकार—) ये मर्म पाँच प्रकार के होते हैं। जैसे—सद्यःप्राणहर, कालान्तर प्राणहर, विशल्यघ्न, वैकल्यकर और रुजाकर। इनमें सद्यःप्राणहर मर्म उन्नीस, कालान्तर प्राणहर तेंतीस, विशल्यघ्न तीन, वैकल्यकर चौवालीस और रुजाकर आठ हैं ॥१४॥

वक्तव्य—परिणाम के अनुसार यहाँ पर मर्मों के जो पाँच प्रकार वर्णन किये हैं, उनके काल का विचार आगे २५वें सूत्र में किया गया है। विशल्यघ्न—जो मर्म सशल्य होने पर घातक नहीं होता, परंतु शल्य निकालने पर घातक होता है, वह विशल्यघ्न कहलाता है—विहृतं शल्यं हन्ति इति विशल्यघ्नम्। अत्र शल्ये जीवेदनुद्धृते। स्वयं वा पतिते पाकात्सद्यो म्रियति तूद्धृते। (अष्टांगहृदय, शारीर ४)। वैकल्यकर—शरीर में स्थायी विकलता (Disability) उत्पन्न करने वाले। अब इसके बाद प्रत्येक प्रकार के मर्मों के नाम बताये जाते हैं—

भवन्ति चात्र—

शृङ्गाटकान्यधिपतिः शङ्खौ कण्ठसिरा गुदम्।
हृदयं बस्तिनाभी च घ्नन्ति सद्यो हतानि तु ॥१५॥

(सद्यःप्राणहर मर्म—) (चार) शृङ्गाटक, अधिपति, (दो) शङ्ख, (आठ) कण्ठसिराएँ, गुद, हृदय, बस्ति और नाभि (ये उन्नीस मर्म आघात होने पर शीघ्र नाश करते हैं ॥१५॥

वक्षोमर्माणि सीमन्ततलक्षिप्रेन्द्रबस्तयः।
कटीकतरुणे सन्धी पार्श्वजौ[1] बृहती च या ॥१६॥
नितम्बाविति चैतानि कालान्तरहराणि तु।

(कालान्तर प्राणहर मर्म—) छाती के मर्म (दो अपलाप, दो अपस्तम्भ, दो स्तनरोहित और दो स्तनमूल), (पाँच) सीमन्त, (चार) तलहृदय, (चार) क्षिप्र, (चार) इन्द्रबस्ति, (दो) कटीकतरुण, (दो) पार्श्वसंधि, (दो) बृहती और (दो) नितम्ब ये कालान्तर से प्राणघातक मर्म हैं ॥१६॥

उत्क्षेपौ स्थपनी चैव विशल्यघ्नानि निर्दिशेत् ॥१७॥

(विशल्यघ्न मर्म—) (दो) उत्क्षेप और स्थपनी (ये तीन मर्म) विशल्यघ्न समझे ॥१७॥

लोहिताक्षाणि जानूर्वीकूर्चविटपकूर्पराः।
कुकुन्दरे कक्षधरे विधुरे सकृकाटिके ॥१८॥
अंसांसफलकापाङ्गा नीले मन्ये फणे तथा।
वैकल्यकरणान्याहुरावर्तौ द्वौ तथैव च ॥१९॥

(वैकल्यकर मर्म—) (चार) लोहिताक्ष, (चार) आणी, दो (जानु), (चार) ऊर्वी, (चार) कूर्च, (दो) विटप, (दो) कूर्पर, (दो) कुकुन्दर, (दो) कक्षाधर, (दो) विधुर, (दो) कृकाटिका, (दो) अंस, (दो) अंसफलक, (दो) अपाङ्ग, (दो) नीला, (दो) मन्या, (दो) फण, तथा (दो) आवर्त (ये चौवालीस मर्म) वैकल्यकर कहलाते हैं ॥१८,१९॥

गुल्फौ द्वौ मणिबन्धौ द्वौ द्वे द्वे कूर्चशिरांसि च।
रुजाकराणि जानीयादष्टावेतानि बुद्धिमान् ॥२०॥

(रुजाकर मर्म—) दो गुल्फ, दो मणिबन्ध, और दो दो कूर्चशिर (हाथ के दो, पैर के दो) इन आठ मर्मों को बुद्धिमान् वैद्य रुजाकर जाने ॥२०॥

क्षिप्राणि विद्धमात्राणि घ्नन्ति कालान्तरेण च ॥२१॥

(क्षिप्रों का सद्यःप्राणहरत्व—) कालान्तर से तथा वेधन होते ही क्षिप्रमर्म प्राणों का नाश करते हैं ॥२१॥

वक्तव्य—प्रत्येक मर्म के ऊपर आघात या वेध होने से उसका परिणाम निश्चित होता है। परंतु क्षिप्रमर्म ऐसा है कि यद्यपि साधारणतया उसके वेधन से कालान्तर में मृत्यु होती है तथापि कभी कभी वेधन होते ही मृत्यु हो सकती है—तेष्वपि (कालान्तरप्राणहरमर्मेष्वपि) तु क्षिप्राणि कदाचिदाशु। (अष्टांगसंग्रह)। क्षिप्राणि सद्यःप्राणहराण्यपि भवन्ति। (इन्दु)। संक्षेप में क्षिप्र द्विविध स्वरूप का मर्म है, इसलिए उसका निर्देश फिर से किया गया है।

[1] पार्श्वगौ . पार्श्वयोः .

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

✓मर्माणि नाम मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिसन्निपाताः; तेषु स्वभावत एव विशेषेण प्राणास्तिष्ठन्ति; तस्मान्मर्मस्वभिहतास्तांस्तान् भावानापद्यन्ते ॥२२॥

(मर्मों की रचना—) मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि और सधि के संयोगस्थान मर्म हैं; इनमें स्वभाव से ही विशेष करके प्राण रहते हैं। इसलिए मर्मों पर पीड़ित हुए (लोग) अनेक अवस्थाओं को प्राप्त होते हैं ॥२२॥

✓वक्तव्य—संनिपात—संश्लेषोऽत्यन्तमिश्रीभाव इति यावत्। सर्वेषां सर्वत्र मर्मणि संश्लेषेऽपि मांसमर्मसिरामर्मादिव्यवहार आधिक्यमाश्रित्य पार्थिवादिव्यवहारवत्। (डल्हण)। द्वितीय सूत्र का वक्तव्य देखो। संक्षेप में इस सूत्र में मर्मों का शरीर किन चीजों से बना है, उसका वर्णन किया है। प्राणाः—अग्नि, सोम, वायु इत्यादि चौथे अध्याय के दूसरे सूत्र में वर्णन किये हुए; आगे इन प्राणों का उल्लेख ४५वें श्लोक में भी किया गया है। तांस्तान् भावान्—विविधान् भावान्। जैसे, ऊपर सद्यःप्राणनाश, कालान्तर प्राणनाश, वैकल्य पीड़ा ये भाव, और आगे ४६वें श्लोक से 'इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्मनोबुद्धिविपर्ययः' इत्यादि भाव, या सूत्रस्थान के २६वें अध्याय में वर्णन किये हुए 'भ्रमप्रलापः पतनं प्रमोहः' इत्यादि भाव। संक्षेप में मर्म पर आघात होने से मर्म का प्रकार, आघात का बलाबल इत्यादि के अनुसार विविध लक्षण उत्पन्न होते हैं।

✓तत्र सद्यःप्राणहराण्याग्नेयानि, अग्निगुणेष्वाशु क्षीणेषु क्षपयन्ति; कालान्तरप्राणहराणि सौम्याग्नेयानि, अग्निगुणेष्वाशु क्षीणेषु क्रमेण च सोमगुणेषु कालान्तरेण क्षपयन्ति; विशल्यप्राणहराणि वायव्यानि, शल्यमुखावरुद्धो यावदन्तर्वायुस्तिष्ठति तावज्जीवति, उद्धृतमात्रे तु शल्ये मर्मस्थानाश्रितो वायुर्निष्क्रामति, तस्मात् सशल्यो जीवत्युद्धृतशल्यो म्रियते, पाकात्पतितशल्यो वा जीवति; वैकल्यकराणि सौम्यानि, सोमो हि स्थिरत्वाच्छैत्याच्च प्राणावलम्बनं करोति; रुजाकराण्यग्निवायुगुणभूयिष्ठानि, विशेषतश्च तौ रुजाकरौ, पाञ्चभौतिकीं च रुजामाहुरेके ॥२३॥

(सद्यःप्राणहरत्वादि की उपपत्ति—) इसमें सद्यःप्राणहर मर्म आग्नेय हैं, (क्योंकि) अग्निगुणों के शीघ्र नष्ट हो जाने पर (वे शीघ्र ही शरीर का) नाश करते हैं। कालान्तर प्राणहर मर्म सौम्य और आग्नेय होते हैं, (क्योंकि) अग्निगुणों के शीघ्र नष्ट हो जाने पर सोमगुणों के धीरे धीरे नष्ट हो जाने से कुछ काल के पश्चात् नाश करते हैं। विशल्यघ्न (अतएव) प्राणहर मर्म वायव्य होते हैं, (क्योंकि) जब तक शल्य से मार्गावरुद्ध वायु भीतर रहती है, तब तक (मर्मपीडित मनुष्य) जीता है; परंतु शल्य को निकालते ही मर्मस्थान में आश्रित वायु बाहर निकलती है, इसलिए शल्ययुक्त (मनुष्य) जीता है और शल्य निकाला हुआ मरता है, (अथवा पाक उत्पन्न होने के पश्चात् शल्य निकल जाने पर जीता है)। विकलता उत्पन्न करने वाले मर्म सौम्य होते हैं; सोम स्थिरता और शीतलता के कारण प्राणों का अवलम्बन करता है। रुजाकर मर्म अग्निप्रधान और वायुप्रधान होते हैं। (अग्नि और वायु) दोनों ही विशेष करके पीड़ा करने वाले होते हैं। कुछ (आचार्य) पीड़ा को पंचमहाभूतात्मक मानते हैं ॥२३॥

✓केचिदाहुर्मांसादीनां पञ्चानामपि समस्तानां विवृद्धानां[1] च समवायात् सद्यःप्राणहराणि, एकहीनानामल्पानां वा[2] कालान्तरप्राणहराणि, द्विहीनानां विशल्य[3]प्राणहराणि, त्रिहीनानां वैकल्यकराणि, एकस्मिन्नेव रुजाकराणीति। नैवं, यतो[4]ऽस्थिमर्मस्वप्यभिहतेषु शोणितागमनं भवति ॥२४॥

(सद्यःप्राणहरत्वादि की अन्य उपपत्ति—) कई आचार्य कहते हैं कि—मांसादि संपूर्ण समप्राण में वर्धित हुई पाँचों (मर्म वस्तुओं) के संयोग से (मर्म) सद्यःप्राणहर (होते हैं); (मांस, सिरा इत्यादि में से) एक हीन अथवा एकाल्पवृद्ध (मांसादि) के (संयोग से मर्म) कालान्तर प्राणहर (होते हैं); (मांसादि में से) दो न होने वाले (मांसादि के संयोग से) विशल्य प्राणहर (होते हैं); तीन न होने वाले (मांसादि के संयोग से मर्म) वैकल्यकर (होते हैं); एक ही (वस्तु) के (मर्म आश्रित होने पर) रुजाकर (होते हैं)। (परंतु) इस प्रकार (वास्तविक स्थिति) नहीं है, क्योंकि अस्थिमर्मों पर चोट लगने से रक्त का आगमन हो जाता है ॥२४॥

✓वक्तव्य—विवृद्धानाम्—पीछे दूसरे सूत्र के वक्तव्य में यह बताया जा चुका है कि प्रत्येक मर्म के शरीर में एक वस्तु अधिक और शेष वस्तुएँ कम होती हैं, और अधिक वस्तु के अनुसार मर्म का नामकरण होता है। यहाँ पर विवृद्ध शब्द से यह बताया जाता है कि पाँचों ही वस्तु बढ़े हुए याने समप्रमाण में बढ़े हुए जहाँ पर होते हैं वे मर्म सद्यःप्राणहर होते हैं। विवृद्ध के बदले 'समवृद्ध' पाठ है। यह पाठभेद अधिक अच्छा है क्योंकि इससे उपर्युक्त कल्पना स्पष्टतया प्रदर्शित होती है। एकहीनानामल्पानां वा—मांसादि पाँचों में से एक का अत्यन्ताभाव हो या अल्प हो। अल्प का संबंध पाँचों के साथ न होकर जिसका अत्यन्ताभाव हो सकता है, उसी के साथ होता है। नैवम्—इसका अभिप्राय यह है कि अन्य आचार्यों की मर्मों के पञ्चविधत्व के संबंध में एकोत्तरहीनत्व की जो कल्पना है, वह ठीक नहीं है। इसके लिए प्रमाण देते हैं। अस्थिमर्मसु इत्यादि—अस्थिमर्म एक उपलक्षण है। इससे

१ विशेषेण.

१ समवृद्धानां. २ च. ३ विशल्यघ्नानि. ४ यतश्चैव

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्य मर्मों का भी समावेश होता है क्योंकि आगे के श्लोक में यह बताया जा रहा है कि चतुर्विध सिराएँ सब प्रकार के मर्मों में होती हैं। इसलिए अस्थिमर्म पर चोट लगने से जैसे रक्तस्राव होता है, वैसे ही अन्य मर्मों पर आघात होने से रक्तस्राव होता है। संक्षेप में, शरीर के मर्म एकोत्तर-हीन न होकर पाँचों के समवाय से बनते हैं, केवल किसी में एक की और किसी में दूसरे की अधिकता होती है।

इस सूत्र में तथा इससे पूर्वसूत्र में मर्मों के सद्यःप्राणहरत्वादि परिणाम के संबंध में प्राचीन कल्पना के अनुसार उपपत्तियाँ बतलाई गई हैं। आधुनिक दृष्टि से ये परिणाम कैसे हो सकते हैं, इसका कुछ विचार अब किया जाता है। सद्यःप्राणहरत्व—यद्यपि शरीर में अनेक महत्त्व के अंग होते हैं और प्रत्येक अंग का विशेष प्रयोजन होता है, तथापि जिन्दा रहने की दृष्टि से हृदय, मस्तिष्क और फुफ्फुस ये तीन अंग नितान्त आवश्यक माने गये हैं। इसलिए पाश्चात्य परिभाषा में ये जीवन के त्रिदण्ड (Tripod of life) कहलाते हैं। आयुर्वेद में भी त्रिदण्ड की कल्पना है और इनके लिए 'त्रिमर्म' कहते हैं; भेद इतना ही है कि आयुर्वेद में फेफड़े के बदले बस्ति मिलता है—स्कन्धाश्रितेभ्योऽपि हृद्बस्तिशिरांसि (गरीयांसि) तन्मूलत्वाच्छरीरस्य । (चरक, सिद्धि ९)। सप्तोत्तरं मर्मशतं यदुक्तं शरीरसंख्यामधिकृत्य तेषु । मर्माणि वस्ति हृदयं शिरश्च प्रधानभूतान्यृषयो वदन्ति ॥ प्राणाश्रयान् तानपि पीडयन्तो वातादयोऽसूनपि पीडयन्ति ॥ प्राणाश्रयत्वमपि यथा हृदयादीनां न तथा शङ्खादीनाम्। (चक्रपाणिदत्त, चरक, सिद्धि ९-३)। इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि ऊपर १९वें श्लोक में सद्यःप्राणहर मर्म उन्नीस बताये गये हैं, तथापि उनमें भी हृदय और बस्ति और मस्तिष्क ये तीन मर्म वास्तव में सद्यःप्राणहर हैं और शेष इन्हीं के अधीन हैं—अन्ये तु—शङ्खादिप्राणाश्रयाणां हृदयादिष्वेव सामीप्यादन्तर्भावं दर्शयन्ति। (उपर्युक्त चक्रदत्त की टीका में उद्धृत एकीय मत)। प्राणहरण करने का धर्म केवल इन उन्नीस मर्मों में ही सीमित नहीं हुआ है, हरएक मर्म पर विशेष आघात होने से प्राणों का नाश हो सकता है—एवं परं परमपि मर्मातिविद्धादिकारणवशात् पूर्वस्य पूर्वस्य कर्म करोति। अतएव तेष्वित्यादिना क्षिप्राणि कदाचिदाशु मारयन्तीत्यग्रे वक्ष्यति । (डल्हणाचार्य)। अर्थात् शरीर पर कहीं भी आघात हो, मृत्यु का कारण यह त्रिमर्म होता है—तेषां त्रयाणामन्यतमस्यापि भेदादाश्वेव शरीरभेदः स्यात्। आश्रय-नाशादाश्रितस्यापि विनाशः। तदुपतापात्तु घोरतरव्याधिप्रादुर्भावः, तस्मादेतानि विशेषेण रक्ष्याणि बाह्याभिघाताद्वातादिभ्यश्च । (चरक, सिद्धिस्थान ९)। पाश्चात्य ग्रंथों में भी यही कल्पना मिलती है—Life and health depends on the proper action of the heart, lungs, and brain. This has been called the 'tripod of life'. Bichat (1798) considered that death might arise from a failure of each of these. *Medical Jurisprudence by W. G. Aitchison Robertson.* हृदय, मस्तिष्क और फुफ्फुस में से फुफ्फुस का विचार मर्मों में नहीं आता; उससे होने वाली मृत्यु का विचार पीछे सूत्रस्थान के २७वें अध्याय में 'बाहुरज्जुलतापाशैः' इस सूत्र में किया गया है (प्रथमखण्ड पृष्ठ १६९)। अब केवल हृदय और मस्तिष्क का विचार करना है। हृदय—हृदय सद्यःप्राणहरत्वादि की दृष्टि से मस्तिष्क की अपेक्षा अधिक महत्त्व का है। कोई प्राणी या मनुष्य सजीव या निर्जीव है, इसका निर्णय केवल हृदय के ऊपर किया जाता है। हृदय के जवाब देने से एक क्षणार्ध के पूर्व बातचीत करते हुए या खाना खाते हुए सजीव मनुष्य क्षणार्ध के पश्चात् निर्जीव हो जाते हैं। यही कारण है कि आयुर्वेद में हृदय विशेष चेतनास्थान माना गया है—तद्धृदयं विशेषेण चेतनास्थानम्। (शारीर ४-३० तथा उसका वक्तव्य भी देखो)। तात्कालिक मरण का कारण हमेशा हृच्छेद (Heart-failure) होता है। यह हृच्छेद हृदयविकृति के कारण होता है या स्वस्थहृदय में प्रत्यावर्तनजनित क्रिया से (Reflex inhibition of the heart) होता है। यदि किसी का हृदय पुराने विकार से (जैसे, Aortic regurgitation, fatty degeneration) कमजोर हुआ हो तो जरा-सा आघात होने पर वह विदीर्ण (Rupture) भी हो सकता है, और तत्काल मृत्यु हो जाती है। जब हृदय स्वस्थ होता है, तब भी मर्मस्थान पर आघात होने से सांवेदनिक नाडीसूत्रों के द्वारा उसका परिणाम मस्तिष्कगत हृदय (Cardiac centre) के ऊपर होकर उसके द्वारा हृदय का कार्य बंद हो जाता है, और इसी को प्रत्यावर्तनजन्य हृच्छेद कहते हैं। इससे स्तब्धता भी उत्पन्न होती है। शङ्खप्रदेश पर या नाभिप्रदेश पर आघात होने से कई बार लोगों की मृत्यु इसी कारण से हुआ करती है। प्रत्यावर्तन-जन्य हृच्छेद में चार अवस्थाएँ सहायता करती हैं। (१) हृदय की विकृति—इसका उल्लेख पीछे किया गया है। (२) मानसिक स्थिति—चिन्ता, शोक, आनन्द, दुःख, भीति इत्यादि विकारों से जब मन एवं मस्तिष्क अस्थिर रहता है, उस समय शरीर की सांवेदनिक नाडी (Sensory nerve) या उसके क्षेत्र पर कहीं भी जरा-सा आघात होने पर उसका कुछ का कुछ परिणाम होकर मृत्यु तक हो सकती है। (३) आमाशय की पूर्णता—आमाशय हृदयसमीपवर्ती अंग है और अति भोजन से हृदय के ऊपर दबाव पड़ता है जिससे उसके संकोच विस्फार में कठिनाई हो जाती है। परिणाम यह होता है कि दिल में धड़कन, तालवैषम्य (Irregularity) इत्यादि हृदयविकार के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसलिए मात्रावत् भोजन के आयुर्वेद में जो अनेक लक्षण दिये हैं, उनमें 'हृदयावाधः' 'हृदयस्यानवरोधः' (चरक, विमान २) एक लक्षण दिया है। अतिभोजन के पश्चात् आमाशय या अन्य प्रदेश में आघात होने से हृदय बंद होने की संभावना अधिक होती है। (४) लसिकाभ धातु-वृद्धि की अवस्था (Status lymphaticus)—इसमें शरीर में जहाँ जहाँ लसिकाभ धातु (जैसे, टौन्सिल, प्लीहा, थायमस इत्यादि) होती है, वहाँ वहाँ उसकी वृद्धि हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाती है। इस स्थिति का ज्ञान प्रायः मृत्यु के पश्चात् मरणोत्तर परीक्षा से होता है। इस स्थिति का महत्त्व इसलिए है कि कनपटी पर थप्पड़ लगने से, जरा से अपघात से, डर से या क्लोरोफार्म से ऐसे लोगों की तुरन्त मृत्यु हो जाती है। संक्षेप में तत्काल मृत्यु (Sudden death) का कारण हृद्भेद है और यह हृद्भेद प्रत्यक्ष या प्रत्यावर्तन जनित होता है और इस हृद्भेद में उपर्युक्त चार अवस्थाएँ सहायता करती हैं। आयुर्वेद में सद्यःप्राणहरण का काल सात दिन का बतलाया गया है (३०वाँ सूत्र देखो)। अतः जो तत्काल नहीं मरते परंतु सात दिनों के अंदर मर जाते हैं, उनका विचार किया जाता है। कुछ काल के पश्चात् मृत्यु के तीन कारण हैं—मूर्च्छा (Syncope), स्तब्धता (Shock) और संन्यास (Coma)। मूर्च्छा—मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से यह स्थिति उत्पन्न होती है। इसके तीन कारण हैं। मर्माघात की दृष्टि से सब से महत्त्व का कारण अधिक रक्तस्राव है (आगे ४२वाँ श्लोक देखो)। यह रक्तस्राव धमनी या सिरा आघात के कारण टूट जाने से होता है और शरीर के बाहर या शरीर के भीतर हो सकता है। सिरामर्मों की घातकता इसी कारण से होती है। दूसरा कारण रक्तवाहिनी नियन्त्रण अस्थैर्य है (Vaso-motor instability) (आगे ८वें अध्याय के २२वें श्लोक का वक्तव्य भी देखो)। इससे उदरप्रदेश में रक्तवाहिनियाँ विस्फारित होकर वहाँ रक्त की अधिकांश राशि एकत्र होकर मस्तिष्क में रक्त की कमी होती है। नाभिप्रदेश में आघात होने से इस प्रकार की स्थिति हो सकती है। तीसरा कारण हृदय की कमजोरी है। इसका विचार पीछे हो चुका है। मर्माघात की दृष्टि से यह कारण विशेष महत्त्व का नहीं है। इससे यदि मृत्यु होगी तो तत्काल हृदयविदारण (Rupture) से होगी। संन्यास—यह विकृति मस्तिष्क की है। इसमें शिर के ऊपर (शृङ्गाटकान्यधिपतिः शङ्खौ) आघात होने से मस्तिष्क के भीतर (Apoplexy) या मस्तिष्कावरण के भीतर और मस्तिष्क के बाहर रक्तस्राव (Cerebral compression from trauma) होता है। अथवा आघातजन्य मस्तिष्कसंक्षोभ (Cerebral concussion) से या खोपड़ी की हड्डी अवनत भङ्ग (Depressed fracture) होने से यह अवस्था उत्पन्न होती है। अर्थात् ये अवस्थाएँ आगन्तुक कारणजन्य हैं। निजकारणजन्य अवस्थाओं का विचार पीछे चतुर्थ अध्याय के ३४वें और ५५वें श्लोकों के वक्तव्य में किया गया है। संक्षेप में मर्मों का सद्यःप्राणहरत्व हृदय के एकाएक जवाब देने पर या हृदयदौर्बल्यजन्य स्तब्धता (आगे रुजाकर में देखो) मूर्च्छा या मस्तिष्क के संन्यास जैसे घोर व्याधियों के ऊपर निर्भर होता है। कालान्तर प्राणहरत्व—ये मर्म प्रायः निम्न प्रकार से प्राणों का नाश करते होंगे। (१) शनैः शनैः रक्तस्राव—थोड़े समय में अधिक रक्तस्राव होने से तत्काल मृत्यु होती है, परंतु थोड़ा थोड़ा रक्त अधिक काल तक बहने से तीव्र रक्तक्षय उत्पन्न होकर उससे रोगी की मृत्यु हो सकती है। रक्त का स्राव निरन्तर, अन्तरित (Recurr-ing) और गुप्त (शरीर के भीतर concealed) तीन प्रकार का होता है। जैसे, इन्द्रबस्ति, कटीकतरुण कालान्तर प्राणहर मर्म हैं। इनके लिए शोणितक्षय मृत्यु का कारण बताया है—जङ्घामध्ये इन्द्रवस्तिर्नाम, तत्र शोणितक्षयेण मरणम्, कटीकतरुणे नाम मर्मणी, तत्र शोणितक्षयात् पाण्डुर्विवर्णो हीन-रूपश्च म्रियते ॥ (२) जीवाणुओं का उपसर्ग—इसमें मर्मस्थान में व्रण उत्पन्न होने के कारण कुछ काल के पश्चात् जीवाणुओं का उपसर्ग (Infection) हो सकता है। इससे जीवाणु-मयता (Septicaemia), विसर्प (Erysipelas), धनुर्वात (Tetanus) इत्यादि विकार उत्पन्न होकर कुछ काल के पश्चात् रोगी की मृत्यु हो सकती है। जैसे, क्षिप्र में आक्षेप से मृत्यु और अपलाप में पूयभावगत रक्त से मृत्यु इसी का सूचक होता है—क्षिप्रं नाम मर्म, तत्र विद्धस्याक्षेपेण मरणम्। अपलापौ नाम तत्र रक्तेन पूयभावं गतेन मरणम्। विशल्यघ्न—विगतशल्य होने पर ये मर्म किस प्रकार से घातक होते हैं इसका ठीक आकलन नहीं होता। वैकल्यकर—अस्थि, संधि, स्नायु, सिरा (नाडी के Nerve अर्थ में) और मांस ये धातु टूटने से सदा के लिए वैकल्य हो सकता है। हड्डी टूटने से उसमें कमजोरी आ जायगी; संधि से संधिभङ्ग या संधिविश्लेष (Fracture dislocation) हो जायगा; स्नायु (Ligament या Tendon) से मोच (Sprain) पैदा होगा या विशिष्ट पेशी की हलचल में रुकावट होगी; मांस के टूटने से स्थायी संकोच (Contracture) और संसक्ति (Adhe-sions) होकर पेशियों की गतियों में कठिनता हो जायगी। रुजाकर—इसके संबंध में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। मर्म के ऊपर आघात होने से, अगर कुछ भी न हो तो कम से कम पीडा तो जरूर होगी। जिस स्थान पर सांवेदनिक नाडी होती है, वहाँ पर आघात होने से पीडा अधिक होती है। जब तक यह पीडा अपने स्थान में सीमित रहती है, तब तक उसको केवल पीडा या रुजा कह सकते हैं, परंतु कई वार पीड़ा का परिणाम सार्वदैहिक होता है। उस समय प्रत्यावर्तन क्रिया (Reflex action) से हृदय के कार्य में कुछ अवरोध उत्पन्न होकर मनुष्य स्तब्ध हो जाता है। इस अवस्था को स्तब्धता (Shock) कहते हैं। इसमें बेहोशी, अवसन्नता (Prostration), नाड़ी और हृदय क्षीण, अनियमित तथा शीघ्र, साँस उथली और घर्घरयुक्त, शरीर ठंडा इत्यादि लक्षण उत्पन्न होकर मृत्यु भी हो जाती है। स्तब्धता प्राथमिक (Primary) और द्वितीयक (Secondary) दो प्रकार की होती है। स्तब्धता की उत्पत्ति में चिन्ता, शोक, भीति इत्यादि मानसिक विकार बहुत सहायता करते हैं। आघात के समय यदि मस्तिष्क इन विकारों से अस्थिर हो तो स्तब्धता जल्दी उत्पन्न होती है। तल हृदय में रुजा याने पीडाओं के कारण मृत्यु बतलाई गई है—तलहृदयं नाम तत्रापि रुजाभिर्मरणम्। इससे पीड़ाजन्य स्तब्धता का ही बोध होता है अन्यथा केवल पीड़ा के द्वारा मृत्यु होना असंभव है। इन सब कारणों का विचार प्रत्येक मर्म के समय और भी किया जायगा। स्तब्धता का विवरण आगे के वक्तव्य में और किया गया है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भवन्ति चात्र—

चतुर्विधा यास्तु सिराः शरीरे
प्रायेण ता मर्मसु सन्निविष्टाः ।
स्नाय्वस्थिमांसानि तथैव सन्धीन्
सन्तर्प्य देहं प्रतिपालयन्ति[1] ॥२५॥
ततः क्षते मर्मणि ताः प्रवृद्धः
समन्ततो वायुरभिस्तृणोति ।
विवर्धमानस्तु स मातरिश्वा
रुजः सुतीव्राः प्रतनोति काये ॥२६॥
रुजाभिभूतं तु ततः शरीरं
प्रलीयते नश्यति चास्य संज्ञा ।
अतो हि शल्यं विनिहर्तुमिच्छन्
मर्माणि यत्नेन परीक्ष्य कर्षेत्[2] ॥२७॥

शरीर में जो चार प्रकार की सिराएँ होती हैं वे प्रायः मर्मस्थानों में सन्निविष्ट रहती हैं, और स्नायु, अस्थि, मांस तथा संधि इनका संतर्पण करके देह का पालन करती हैं ॥२५॥ अतः मर्म पर चोट लगने से वायु प्रवृद्ध होकर उन सिराओं को चारों ओर से आच्छादित करती है, और बढ़ती हुई वायु शरीर में तीव्र पीड़ा को फैलाती है ॥२६॥ तब (तीव्र) वेदना से पीड़ित शरीर नष्ट होने लगता है और उसकी चेतना (भी) नष्ट होती है । इसलिए शल्य निकालने की इच्छा करने वाला वैद्य (शल्यसमीपवर्ती स्थान के) मर्मों का यत्नपूर्वक परीक्षण करके (पश्चात्) शल्य को निकाले ॥२७॥

वक्तव्य—पिछले सूत्र में मर्मों की एकोत्तरहीनत्व की कल्पना का खण्डन अस्थिमर्माघात में शोणितागमन के उदाहरण से किया गया है । २५वें श्लोक में अस्थिमर्मों में रक्तोपस्थिति का कारण बताया जाता है । चतुर्विधाः सिराः—वातवह, पित्तवह, श्लेष्मवह और रक्तवह । इनका निर्देश सातवें अध्याय के ५वें सूत्र में किया गया है । मर्मसु—शरीर के संपूर्ण मर्मों में । इसलिए ये सिराएँ अस्थिमर्मों में भी होती हैं और आघात होने पर उनसे रक्त निकलता है । ततः क्षते—इन दो श्लोकों में मर्माघात से पीड़ा कैसी होती है और पीड़ा के कारण मृत्यु कैसी उत्पन्न होती है, उसकी संप्राप्ति वर्णन की गई है । आधुनिक परिभाषा के अनुसार इसमें स्तब्धता (Shock) की घटना वर्णित की गई है । स्तब्धता आघात, क्षत, शस्त्रकर्म, विष इन कारणों से उत्पन्न होती है और कारणों के अनुसार आघातजन्य (Traumatic), क्षतजन्य (Wound), शस्त्रकर्मजन्य (Surgical), विषजन्य (Toxic) इत्यादि उसके प्रकार किये जाते हैं । स्तब्धता अधिकतर आघात या क्षत से ही उत्पन्न होती है । आघात या क्षत से प्रायः तीव्र पीडा (Pain) होती है और इसके सार्वदैहिक प्रभाव से शरीर के महत्त्व के कार्य (Vital functions) उत्तरोत्तर क्षीण होते जाते हैं और अन्त में मृत्यु होती है । स्तब्धता उत्पन्न करने में तीव्र पीड़ा एक महत्त्व का सहायक कारण होता है । संक्षेप में आघात, तज्जन्य पीडा, पीडा के कारण शरीर के महत्त्व के कार्यों का उत्तरोत्तर क्षीण होना और अन्त में मृत्यु, यह स्तब्धताजन्य मृत्यु का क्रम आधुनिक संप्राप्ति के अनुसार होता है—Shock is a condition following surgical operations, trauma, wounds, intoxications or infections, in which a progressive failure of body functions, leading more or less rapidly to death, occurs. *Physiology in Health and disease by Carl J. Wiggers.* Pain is a factor in the production of shock. *Howlett's Pathology.* पचीस और छब्बीसवें श्लोक में मर्माघातजन्य मृत्यु की जो घटना वर्णित की गई है, उसका क्रम शब्दशः आधुनिक क्रम के साथ मिलता है । इनकी टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—इदानीं यथैकदेशजेऽपि प्रहारे मर्मविद्धस्य क्रमेण सकलशरीरे वातादिदोषव्याप्त्या रुजावेगेन चेतनाधातोर्वियोगस्तथा दर्शयन्नाह । शरीरं प्रलीयते प्रलयं गच्छति शरीरयन्त्रं विघट्टयतीत्यर्थः । तस्मिन् पाञ्चभौतिके शरीरे प्रलीने संज्ञाषष्ठश्चेतनाधातुरपि नश्यति ॥ प्रलीयते शरीरम्—प्रलय शब्द से शरीर की उत्तरोत्तर क्षीणता का बोध होता है; एकाएक क्षीणता का नहीं (पीछे २४वें सूत्र का वक्तव्य देखो) ।

एतेन शेषं व्याख्यातम् ॥२८॥

इसी से अवशिष्ट (मर्मों का भी) व्याख्यान होता है ॥२८॥

वक्तव्य—इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि उपर्युक्त तीन श्लोकों का व्याख्यान अस्थिमर्माघात से शोणितागमन के निमित्त किया गया है तथापि यही व्याख्यान शेष मांसादि मर्मों के संबंध में भी होता है । संक्षेप में, मांसादि मर्मों पर आघात होने से भी रक्त निकलता है, पीडा होती है, शरीर प्रलीन होता है और मृत्यु हो जाती है । डल्हणाचार्य इससे दूसरा अर्थ मानते हैं—एतेनेति रुगादिरूपेण वायोर्लक्षणेन, शेषमिति दाहादिस्रोतोनिरोधनादि च पित्तश्लेष्मणोर्लक्षणं व्याख्यातमेवेत्यर्थः ।

तत्र सद्यःप्राणहरमन्ते विद्धं कालान्तरेण मारयति, कालान्तरप्राणहरमन्ते विद्धं वैकल्यमापादयति विशल्यप्राणहरं च, वैकल्यकरं कालान्तरं क्लेशयति रुजां च करोति, रुजाकरमतीव्रवेदनं भवति[1] ॥२९॥

(मर्माघात के भिन्न परिणाम—) इन (पञ्चविध मर्मों) में से अन्त में विद्ध हुआ सद्यःप्राणहर मर्म कालान्तर से घातक होता है, अन्त में विद्ध हुआ कालान्तर प्राणहर मर्म विकलता उत्पन्न करता है तथा विशल्यघ्न मर्म (भी अन्त में विद्ध होने पर वैकल्य उत्पन्न करता है), अन्त (में

[1] प्रतियापयन्ति. [2] पुनः.

[1] विशल्यप्राणहरमन्ते विद्धं क्लेशयति कालान्तरेण च रुजां करोति.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्ध हुआ) वैकल्यकर मर्म अधिक काल तक तकलीफ देता है और पीड़ा भी करता है, (अन्त में विद्ध हुआ) रुजाकर मर्म बहुत पीडाकर नहीं होता ॥२९॥

✓ वक्तव्य—पीछे १४वें सूत्र में आघात या वेध के परिणाम के अनुसार मर्मों के सद्यःप्राणहरत्वादि पाँच प्रकार बताये गये हैं। उसके पश्चात् प्रत्येक प्रकार के मर्मों के नाम दिये गये हैं। इस सूत्र में यह बताया जाता है कि मर्माघात का परिणाम आघात के औचित्य के साथ बदलता रहता है। यदि आघात उचित जोर का या उचित स्थान पर न हो तो एक प्रकार के मर्म से दूसरे प्रकार का परिणाम निकल सकता है। अन्ते विद्धम्—आगे ३८,३९वें श्लोकों में मर्मों के परिमाण (मोटाई) बताये गये हैं। उस परिमाण के घेरे के बाहर परंतु समीप वेध होने से। अन्त शब्द से कई बार निर्दिष्ट स्थान का समीपवर्ती भाग अभिप्रेत होता है—पौषमासस्य रोहिण्यामष्टकायामथापि वा। जलान्ते छन्दसां कुर्यादुत्सर्गं विधिवद्बहिः ॥ (याज्ञवल्क्य १-१४३)। नाधीयीत श्मशानान्ते ग्रामान्ते गोव्रजेऽपि वा। (मनु ४-११६)। इस प्रकार का अर्थ करने का कारण यह है कि आगे लिखते हैं कि मर्मपार्श्व में आघात होने से भी मृत्यु होती है। इसलिए मर्मस्थान को पूर्णतया छोड़कर शस्त्रकर्म करना चाहिए—पार्श्वाभिघातितमपीह निहन्ति मर्म तस्माद्धि मर्मसदनं परिवर्जनीयम्। यह जैसे वेधन या आघात का विचार मर्मस्थान की दृष्टि से हुआ, वैसे ही वेधन की गहराई (Depth) तथा आघात की प्रबलता (Strength) की दृष्टि से भी विचार होना चाहिए। और यहाँ पर स्थान का जो सिद्धान्त बताया गया है, उसका उपसिद्धान्त (Corollary) करके यह भी समझना चाहिए कि यदि वेध गहरा न हो या आघात कमजोर हो, उसके परिणाम भी अन्त वेधन के समान ही होते हैं और यदि अतिवेधन या अतिप्रबल प्रहार हो तो अपेक्षित प्रकार से अधिक तीव्र स्वरूप का परिणाम होता है—एतेन पूर्वं पूर्वं मर्म कारणवैकल्यात्परस्य परस्य कार्यं करोति, एवं परं परमपि मर्मातिविद्धादिकारणवशात् पूर्वस्य पूर्वस्य कर्म करोति। (डल्हण)। यही उपसिद्धान्त अब आगे के सूत्र में बताया जा रहा है।

✓ **तत्र सद्यःप्राणहराणि सप्तरात्राभ्यन्तरान्मारयन्ति, कालान्तरप्राणहराणि पक्षान्मासाद्वा, तेष्वपि क्षिप्राणि कदाचिदाशु मारयन्ति, विशल्यप्राणहराणि वैकल्यकराणि च कदाचिदत्यभिहतानि मारयन्ति ॥३०॥**

(मर्मों का घातक काल और अघातक मर्मों का घातकत्व—) इनमें सद्यःप्राणहर मर्म सात दिन के अन्दर मार देते हैं, कालान्तर प्राणहर मर्म दो सप्ताह में अथवा एक मास में (मार देते हैं), इन (कालान्तर प्राणहर मर्मों) में से क्षिप्र कभी कभी तत्काल मार देते हैं, विशल्य प्राणहर, वैकल्यकर और (रुजाकर) कभी कभी अभिहत होने पर मार देते हैं ॥३०॥

वक्तव्य—क्षिप्राणि इत्यादि—कदाचिदाशु मारयन्ति 'अतिहतानि' इति शेषः। अनतिहतानि तु कालान्तरेणैव मारयन्ति (डल्हण)। वैकल्यकराणि च—'च' का प्रयोग यहाँ 'अनुक्तसमुच्चयार्थे' किया है, जिससे 'वैकल्यकराणि च' का वैकल्यकर तथा रुजाकर होता है। इसका अभिप्राय है कि रुजाकर भी प्रबल आघात से मारक होते हैं। इसमें कोई असंभवनीय बात नहीं है क्योंकि वे भी मर्म हैं और 'मारयन्तीति मर्माणि' यह मर्मों की व्याख्या है। डल्हणाचार्य लिखते हैं—एतच्चोपलक्षणं, तेन रुजाकराण्येवं वैकल्यं जनयन्ति, एवं वैकल्यादिष्वपि स्वनियतकर्मव्यभिचारः। यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि अतिहत होने पर रुजाकर मर्म भी घातक होते हैं। दूसरा कारण यह है कि इस सूत्र में मर्मों की घातकता का ही विचार हो रहा है, अन्य व्यभिचार का नहीं; वह विचार ऊपर के सूत्र में हो चुका है। संक्षेप में सभी मर्म अतिघातित होने पर मारक होते हैं, यह इस सूत्र का तात्पर्य है।

✓ **अत ऊर्ध्वं प्रत्येकशो मर्मस्थानानि व्याख्यास्यामः—तत्र पादस्याङ्गुष्ठाङ्गुल्योर्मध्ये क्षिप्रं[1] नाम मर्म, तत्र विद्धस्याक्षेपकेण मरणं; मध्यमाङ्गुलीमनुपूर्वेण[2] मध्ये पादतलस्य तलहृदयं नाम, तत्रापि रुजाभिर्मरणं; क्षिप्रस्योपरिष्टादुभयतः कूर्चो नाम, तत्र पादस्य भ्रमणवेपने भवतः; गुल्फसन्धेरध उभयतः कूर्चशिरो नाम, तत्र रुजाशोफौ; पादजङ्घयोः सन्धाने गुल्फो नाम, तत्र रुजः स्तब्धपादता खञ्जता वा; पार्ष्णिं प्रति जङ्घामध्ये इन्द्रबस्तिर्नाम, तत्र शोणितक्षयेण मरणं; जङ्घोर्वोः सन्धाने जानु नाम, तत्र खञ्जता; जानुन ऊर्ध्वमुभयतस्त्र्यङ्गुलमाणी[3] नाम, तत्र शोफाभिवृद्धिः स्तब्धसक्थिता च; ऊरुमध्ये ऊर्वी नाम, तत्र शोणितक्षयात् सक्थिशोषः; ऊर्व्या ऊर्ध्वमधो वङ्क्षणसंधेरूरुमूले लोहिताक्षं[4] नाम, तत्र लोहितक्षयेण[5] पक्षाघातः सक्थिशोषो वा; वङ्क्षणवृषणयोरन्तरे विटपं नाम, तत्र षाण्ढ्यमल्पशुक्रता वा भवति; एवमेतान्येकादश सक्थिमर्माणि व्याख्यातानि ॥३१॥**

(पादमर्म—) अब इसके बाद मर्मस्थानों का पृथक् पृथक् व्याख्यान करते हैं। पाँव के अँगूठे और (समीपवर्ती) अंगुलि के बीच में क्षिप्रनामक मर्म है, वहाँ पर विद्ध (मनुष्य) की मृत्यु आक्षेप से होती है। मध्यम अंगुलि की रेखा में ऊपर पादतल के मध्य में तलहृदय नामक मर्म होता है, वहाँ पर भी (विद्ध हुए मनुष्य की) वेदना से मृत्यु होती है। क्षिप्र के ऊपर दोनों ओर कूर्च नामक

१ क्षिप्रमिति मर्म. २ मध्यमाङ्गुलीमानुपूर्व्येण जङ्घां. ३ जानुसन्धेरुभयतस्त्र्यङ्गुले. ४ ऊरुमध्ये लोहिताख्यम्. ५ लोहित-क्षयेण मरणं पक्षाघातो वा.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहाँ पर (वेध होने से) पाँव में टेढापन और कंपन होता है। गुल्फसंधि से नीचे दोनों ओर कूर्चशिर नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) पीडा और सूजन होती है। पाँव और जङ्घा के संयोग पर गुल्फ नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) पीडा, पाँव में जकड़न, अथवा लँगड़ापन होता है। जङ्घा में एड़ी की ओर इन्द्रवस्ति नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) रक्त(स्रावजन्य)क्षय से मृत्यु होती है। जङ्घा और ऊरु के संयोग पर जानु नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) लँगड़ापन होता है। जानु से तीन अंगुल ऊपर दोनों ओर आणी नामक मर्म है, वहाँ पर (चोट लगने से) सूजन की वृद्धि और टाँग में स्तब्धता (जकड़न तथा सुन्नता) होती है। ऊरु के मध्य में ऊर्वी नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) रक्तक्षय से टाँग सूख जाती है। ऊर्वी से ऊपर वङ्क्षणसंधि से नीचे ऊरु के मूल में लोहिताक्ष नामक मर्म है, वहाँ पर (चोट लगने से) रक्तक्षय से पक्षाघात अथवा टाँग की कृशता होती है। वङ्क्षण और वृषण के मध्य में विटप नामक मर्म है, वहाँ पर (चोट लगने से) षण्ढता या अल्पशुक्रता होती है। इस प्रकार टाँग के ग्यारह मर्मों का व्याख्यान किया है ॥३१॥

वक्तव्य—क्षिप्र—यह स्नायु मर्म है। इसकी मोटाई अर्धाङ्गुल है और कालान्तर प्राणहर है। प्रत्यक्षशारीर की दृष्टि से यह प्रथम शलाकान्तरीय (First intermetatarsal) स्थान है। इस स्थान में प्रथम पादाङ्गुलिशलाका पृष्ठगा (First dorsal metatarsal) धमनी और पुरोजंघिका गंभीरा (Deep peronacal nerve) नाडी की अंगुष्ठमूलगा शाखा ये दो महत्त्व के अंग होते हैं। इस मर्म के वेधन से आक्षेपक नामक रोग होकर मृत्यु होती है। आक्षेपक से Convulsions और Tetanus (धनुर्वात) दोनों का ही बोध होता है और ये दोनों रोग रक्तस्रावाधिक्य और अभिघात के कारण उत्पन्न होते हैं। निदानस्थान प्रथम अध्याय के ४८–५६ श्लोक तथा उनका वक्तव्य देखो। जब रक्तस्रावजन्य आक्षेप होते हैं, तब मृत्यु तत्काल होगी। जब धनुर्वात के जीवाणु का उपसर्ग होगा, तब देर में होगी। हाथों और पैरों की चोटों में धनुर्वात का उपसर्ग बहुत हुआ करता है, यह अनुभवसिद्ध बात है। तलहृदय—मध्यमाङ्गुलिमनुलक्षीकृत्य क्रमेण पादतलस्य मध्ये तलहृदयम्, मांसमर्मेदमर्धाङ्गुलं कालान्तरप्राणहरं च। (डल्हण)। प्रत्यक्षशारीर की परिभाषा में तलहृदय पादतलमध्य (Centre of the planter side) है। इसमें पादतलधानुषी (Lateral planter) धमनी और पादतलीया बाह्या और अन्तरा (Medial or lateral planter) नाडी ये दो महत्त्व के अंग होते हैं। इन अंगों की रक्षा करने के लिए इनके ऊपर बड़ी मजबूत दीर्घ पादतलिक स्नायु (Long planter ligament) का आवरण होता है। क्षिप्र और तलहृदय मर्मों से मृत्यु की मीमांसा के लिए आगे ४२वाँ श्लोक और उसका वक्तव्य देखो। कूर्च—उपरिष्टादित्यत्र 'द्व्यङ्गुले' इति शेषः। उभयत इत्यादि ऊर्ध्वमधश्च, तस्य कूर्च इति नाम, 'विद्धि' इति शेषः। स्नायुमर्मेदं वैकल्यकरं चतुरंगुलं च। (डल्हण)। प्रत्यक्षशारीर की दृष्टि से इस मर्म में कूर्चशलाका की स्नायुओं (Tarso metatarsal and intertarsal ligaments जैसे Canonavicular, cuboid-onavicular, long planter etc.) का समावेश होता है। इनके ऊपर आघात होने से पाँव की कमान (Arch) कमजोर होकर कंपन, भ्रमण (जैसे, समतलपाद flat foot) इत्यादि विकार होते हैं। कूर्चशिर—इदमपि स्नायुमर्म एकाङ्गुलं वैकल्यकरं च। (डल्हण)। इससे बहिःपार्श्विक और अन्तःपार्श्विक स्नायुओं (Deltoid ligaments, Talo-calcaneal and calcaneofibular ligaments) का बोध होता है। इनके ऊपर आघात होने से गुल्फसंधि में पीडा तथा सूजन आ जाती है और यदि उचित चिकित्सा न हुई तो कुछ वैकल्य भी आ जाता है। गुल्फ—संधिमर्मेदं द्व्यङ्गुलप्रमाणं वैकल्यकरं च। (डल्हण)। गुल्फ से गुल्फसंधि (Ankle joint) का बोध होता है। इसमें अन्तर्जंघास्थि और बहिर्जंघास्थि का नीचे का जोड़ (Tibio fibular) तथा इन दोनों का कूर्चशिरास्थि के साथ जोड़ (Talo-Crural articulation) इनका समावेश होता है। गुल्फ पर आघात होने से प्रायः अस्थिभंग या अंगविश्लेष (Fracture dislocation) होता है जिससे पीड़ा, स्तब्धता, लँगड़ापन इत्यादि उत्पन्न होते हैं। इन्द्रवस्ति—मांसमर्मेदमर्धाङ्गुलं पार्ष्णि प्रति त्रयोदशांगुले स्थितं कालान्तरप्राणहरं च, भोजस्तु द्व्यङ्गुलप्रमाणमाह। (डल्हण)। यद्यपि यहाँ पर नहीं तथापि चिकित्सास्थान में इन्द्रबस्ति का पार्ष्णि से अन्तर तेरह अङ्गुल बताया गया है—पार्ष्णि प्रति द्वे दश चाङ्गुलानि मित्वेन्द्रबस्तिं परिवर्ज्य धीमान्। (अध्याय १८)। एड़ी से इन्द्रबस्ति का जो अन्तर दिया है उससे, तथा यह मांसमर्म होने से इन्द्रबस्ति जंघा की पिंडली (Calf) मालूम होता है। पिंडली वह स्थान है, जहाँ पर जंघा का घेरा सब से अधिक होता है। यह स्थान ठीक पार्ष्णि से बारह या तेरह अङ्गुल होता है। पिंडली में जंघापिंडिका गुर्वी (Gastronemius), लघ्वी (Soleus) और तृतीया (Plantaris) ये तीन पेशियाँ होती हैं—इदं च पेशीत्रयं जङ्घापिण्डिकेति पिण्डिकेति वा कथ्यते। (प्रत्यक्ष शारीर)। इन पेशियों के पीछे बहिर्जंघिका (Peroneal) और पश्चिमजंघिका (Posterior Tibial) धमनियाँ तथा पश्चिमजंघिका (Tibial) नाड़ी होती है। यह मांस मर्मविद्ध होने से उपर्युक्त धमनियाँ कटने की संभावना होती है और जब कट जाती हैं, तब रक्तनाश से मृत्यु होने का डर होता है। रसयोगसागर की प्रस्तावना में इन्द्रबस्ति से Popliteal fossa बताया गया है। यह स्थान जानुसंधि के पीछे होता है और जानुसंधि पार्ष्णि या गुल्फ से अठारह अङ्गुल दूर होती है—अष्टादशाङ्गुला जंघा। (सूत्र ३५)। इन्द्रबस्ति एड़ी से केवल तेरह अंगुल लंबाई पर होने के कारण इन्द्रबस्ति से पाप्लीटील फोसा मानना उचित नहीं होता। इसके सिवा वहाँ पर जानुमध्य का परिणाह और इन्द्रबस्ति का परिणाह भिन्न भिन्न बतलाया गया है; इसलिए जानुमध्य से इन्द्रबस्ति पृथक् स्थान मालूम होता है। जानु—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संधिमर्मेदं त्र्यङ्गुलप्रमाणं वैकल्यकरं च। जानुसंधि knee joint। आणी—स्नायुमर्मेदमर्धाङ्गुलं वैकल्यकरं च। (डल्हण)। आणी से चतुःशिरस्का औवीं (Inadriceps femoris) पेशी की कण्डरा, जो जानुकपालिका (Patella) में संसक्त हुई है, का बोध होता है। ऊरु—सिरामर्मेदमेकाङ्गुलं वैकल्यकरं च। (डल्हण)। ऊरुमर्म ऊरु के मध्य में और सिरामर्म है। इस दृष्टि से यदि ऊरु की रचना का परीक्षण किया जाय तो इससे संव्यूहनप्रणाली (Adductor Canal) मालूम होती है। इस प्रणाली में औवीं धमनी, सिरा और नाड़ी (Femoral artery, Vein and Saphenous nerve) ये महत्त्व के अंग होते हैं। धमनी या सिरावेधन से रक्तक्षय और नाड़ी के वेधन से सक्थिशोष हो सकता है। ये तीनों अंग अत्यंत समीप होने से तीनों ही एक समय में विद्ध हो सकते हैं। लोहिताक्षम्—सिरामर्मेदमर्धाङ्गुलं वैकल्यकरं च। (डल्हण)। इस मर्म का स्थान वङ्क्षणसंधि के नीचे ऊरुमूल में और ऊरु में सामने की ओर है। इस वर्णन के अनुसार यह मर्म औवंत्रिकोण (Femoral triangle) के साथ मिलता है। इस त्रिकोण में ऊरु मर्म के समान सब महत्त्व के अंग होते हैं। अर्थात् इसके वेध के परिणाम ऊरुवेध के समान होते हैं। विटप—स्नायुमर्मेदमेकाङ्गुलं वैकल्यकरं च। (डल्हण)। इसका स्थान वङ्क्षण और वृषण के मध्य में है। इसके अनुसार यह मर्म वङ्क्षण सुरंगा (Inginnal canal) मालूम होता है। यह सुरंगा स्नायुओं से बनी है और उसमें से होकर वृषण की बन्धनी तथा शुक्रवह नाड़ी (Spermatic cord) के भीतर चली गई है। इसके ऊपर आघात होने से नाड़ी बंद हो जायगी और वृषण में उत्पन्न हुआ शुक्र शिश्न में नहीं आयगा। दोनों के ऊपर चोट लगने से षण्ढता (Sterility) उत्पन्न होगी। इसमें मैथुन का असामर्थ्य न होकर प्रजोत्पादन का असामर्थ्य होता है। एक के ऊपर चोट लगने से केवल एक ही वृषण का शुक्र मैथुन के समय निकलेगा, याने अल्पशुक्रता उत्पन्न होगी।

एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ। विशेषतस्तु यानि सक्थ्नि गुल्फजानुविटपानि तानि बाहौ मणिबन्धकूर्परकक्षधराणि; यथा वङ्क्षणवृषणयोरन्तरे विटपमेवं वक्षःकक्षयोर्मध्ये कक्षधरं, तस्मिन् विद्धे त एवोपद्रवाः; विशेषतस्तु मणिबन्धे कुण्ठता, कूर्पराख्ये कुणिः, कक्षधरे पक्षाघातः। एवमेतानि चतुश्चत्वारिंशच्छाखासु मर्माणि व्याख्यातानि ॥३२॥

(बाहुमर्म—) इसी से ही दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं (के मर्मों) का व्याख्यान हो गया है। विशेष करके टाँग में जो गुल्फ जानु विटप हैं वे ही बाहु में मणिबंध, कूर्पर कक्षधर हैं; जैसे वङ्क्षण और वृषण के बीच में विटप है वैसे ही वक्ष और कक्षा के बीच में कक्षाधर है, उसके विद्ध होने से वे ही उपद्रव होते हैं; विशेष करके मणिबन्ध में (वेध होने से हाथ का) वैकल्य (कलाई की शक्ति नष्ट होना, उसकी गति कम होना इत्यादि), कूर्पर नामक मर्म में (वेध होने से) अग्रबाहु का लूलापन, कक्षधर में (वेध होने से) पक्षाघात होता है। इस प्रकार शाखाओं में चौवालीस मर्मों की व्याख्या हो गई है ॥३२॥

वक्तव्य—तस्मिन् विद्धे त एव उपद्रवाः—'तस्मिन्' शब्द यहाँ पर बाहुमर्म समूह के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ इस प्रकार है—बाहुमर्मसमूह विद्ध होने पर, सक्थि मर्मसमूह विद्ध होने पर जो उपद्रव ऊपर बतलाये गये हैं, वे ही उपद्रव उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार साधारण निर्देश करने पर पश्चात् विशेष निर्देश 'विशेषतस्तु' से करते हैं। डल्हणाचार्य 'तस्मिन्निति मणिबन्धादौ, त एव इति गुल्फादिवधजाताः' ऐसा अर्थ करते हैं। परंतु यह अर्थ असंगत है क्योंकि इससे 'विशेषतस्तु' इत्यादि का प्रयोजन व्यर्थ हो जाता है। क्षिप्र—यह मर्म अंगुष्ठतर्जनीशलाकान्तरीय स्थान है (First intermetacarpal space) और इसमें बहिःप्रकोष्ठा धमनी की शलाका पृष्ठिका शाखा (First Dorsal metacarpal artery) होती है। तलहृदय—यह हस्ततल का मध्य है जिसके ऊपर करतलिकास्नायु (Palmar aponeuroses) फैली रहती है। इसके पीछे करतल धानुषी धमनी (Palmer arch) और उसकी शाखाएँ तथा नाड़ियाँ (Nerves) भी होती हैं। इनके कारण हस्ततल में मर्मत्व आ गया है। कूर्च—इससे हस्तकूर्चास्थियाँ और शलाकाएँ इनको जोड़ने वाली स्नायु (Carpometacarpal and intercarpal ligaments) अभिप्रेत होती हैं। कूर्चशिर—इससे मणिबन्धसंधि की अन्तःपार्श्विक और बहिःपार्श्विक स्नायुओं (Ulner and radial Collateral ligaments) का बोध होता है। मणिबंध—इससे कलाई जोड़ (Wrist joint) का बोध होता है; जिसमें प्रकोष्ठान्तरीय जोड़ (Distal radioulner) तथा बहिःप्रकोष्ठकरकूर्चास्थिजोड़ (Radio carpal) दोनों का समावेश होता है। रसयोगसागर प्रस्तावना में मणिबन्ध का अर्थ Intercarpal ligaments दिया है। परंतु यह अर्थ दो दृष्टि से उचित नहीं मालूम होता। मणिबंधसंधि मर्म है, अतः मणिबन्ध की संधि का ही ग्रहण करना चाहिए। दूसरी दृष्टि यह है कि कूर्चमर्म की दीर्घता चार अंगुल है, अतः कूर्च में ही कूर्चान्तर स्नायुओं का समावेश हो जाना चाहिए। पाँव में भी ऐसा ही है। इसलिए वैसे अर्थ पीछे हस्तकूर्च और पादकूर्च मर्मों के किये गये हैं। कलाई के जोड़ में क्षति होने से हाथ की हर एक काम में कुण्ठित गति हो जाती है। इन्द्रवस्ति—अग्रबाहु की पिण्डली का स्थान जहाँ पर मणिबंधसंकोचिन्यादि उत्तान पेशियों के नीचे अन्तःप्रकोष्ठिका (Ulner) धमनी और मध्यप्रकोष्ठिका (Median) नाड़ी इत्यादि महत्त्व के अंग होते हैं। रसयोगसागरकार के समान इससे Cubital fossa समझ सकते हैं। कूर्पर—यह संधिमर्म है। इससे कोहनी जोड़ (Elbow joint) का बोध होता है। आणी—यह स्नायुमर्म है। इससे द्विशिरस्का (Biceps) पेशी की कण्डरा का बोध होता है। इसके पास बाहवी धमनी तथा मध्यप्रकोष्ठिका नाडी होती है। इस मर्म के उपद्रव कण्डरा तथा नाडी के वेध से होते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—यह सिरामर्म है। इसका स्थान बाहुमध्य अग्रभाग है। इससे बाहवी धमनी, अन्तर्बाहुका सिरा, बहिर्बाहुका और मध्यप्रकोष्ठिका नाडी का ग्रहण करना चाहिए। सिरा या धमनी का वेध होने से रक्तक्षय और नाडी का वेध होने से बाहुशोष (Atrophic paralysis) हो जाता है। लोहिताक्ष—यह भी सिरामर्म है। इसमें भी ऊरुमर्म के महत्त्व के अंग हैं, केवल स्थान कुछ ऊपर की ओर कक्षा में होता है। यहाँ पर धमनी कक्षाधरा (Axillary) कहलाती है। इस मर्म के वेध से पक्षाघात या बाहुशोष हो जाता है। ये लक्षण नाडी (Nerve) के वेध से होते हैं। रसयोग-सागर में लोहिताक्ष (ऊर्ध्व-शाखा का) का आंग्लानुवाद Sacral plexus दिया है। सैक्रल प्लेक्जस श्रोणि में होता है, ऊर्ध्वशाखा में नहीं। अतः यह मुद्रणदोष मालूम होता है। कक्षधर—यह स्नायुमर्म और एकाङ्गुल है। अष्टांगहृदय में यह मर्म तथा इसका प्रतिनिधि विटप सिरामर्म बतलाया गया है—तत्रत्रिंशत् सिराश्रयाः। बृहत्यौ मातृका नीले मन्ये कक्षाधरौ फणौ। (विटपे। शा० ४)। इसको सिरामर्म मानने की अपेक्षा स्नायुमर्म मानना अधिक प्रशस्त है। इसका विचार आगे ९ अध्याय के द्वितीय सूत्र के वक्तव्य में धमनी होता है? इसकी टिप्पणी में किया गया है। इसका स्थान वक्ष और कक्षा के मध्य में याने काँख के शिखर में बतलाया है। वहाँ पर महत्त्व का अंग कक्षानुगा नाडी वेणी (Brachial plexus) का कक्षादरीस्थित भाग आता है, जिसमें पार्श्विकी, मध्यानुगा और पश्चिमा वेणिकाएँ (Lateral, median and posterior cords) आती हैं। इसके वेध से पक्षाघात होता है। पक्षाघात—यह उपद्रव लोहिताक्ष नामक हाथों और पादों के मर्मों में भी बताया गया है। पक्षाघात का सामान्य अर्थ संपूर्ण एक पक्ष याने आधे शरीर का घात (Hemiplegia) किया जाता है। यहाँ पर पक्षाघात शब्द इस सामान्य अर्थ से नहीं प्रयुक्त किया गया है। यहाँ पर इसका अर्थ है 'पक्ष की जिस शाखा के मर्म में वेध हुआ है, उस शाखा का घात' अर्थात् एकांगघात (पक्षाश्रित एक शाखाघात)। शाखाश्रित मर्मों का परीक्षण—शस्त्रकर्म की दृष्टि से धमनी, नाड़ी और बड़ी सिरा ये महत्त्व के अंग होते हैं। यदि शाखाश्रित मर्मों का अनुसंधान इन महत्त्व के अंगों की दृष्टि से किया जाय तो कहना पड़ता है कि यद्यपि शारीर वर्णन में अन्यत्र नहीं तथापि मर्मों के निमित्त शाखाओं के इन महत्त्व के अंगों का स्थान चिकित्सकों को मालूम होता है। तल, क्षिप्र, तलहृदय, कूर्चशिर, इन्द्रबस्ति, आणी, ऊरु लोहिताक्ष और बाहु का कक्षधर ये सब मर्म शाखाओं के इन अंगों के मार्गों के नीचे से ऊपर तक के पड़ाव हैं। सिरामर्म—पीछे दूसरे सूत्र के वक्तव्य में बताया जा चुका है कि मर्म का नाम उसके शरीर की बनावट सूचित करता है। अर्थात् सिरामर्म से यह सूचित किया जाता है कि यह मर्म सिरा से बना हुआ है। शाखाओं में ऊरु, लोहिताक्ष, कक्षाधर ये सिरामर्म हैं। यदि सिरा का आधुनिक अर्थ (Vein) लिया जाय तो पक्षाघात या सक्थिशोष ये उपद्रव सिरामर्म के वेधन से उत्पन्न होने की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रत्यक्षशारीर की दृष्टि से यदि इन मर्मों की रचना देखी जाय तो इनमें धमनी (Artery शुद्ध रक्तवाहिनी), सिरा (Vein अशुद्ध रक्तवाहिनी) और नाडी (Nerve वातवाहिनी) ये तीनों अंग उपस्थित रहते हैं। आधुनिक दृष्टि से पक्षाघात या एकांगघात या सक्थिशोष ये विकार प्रायः नाड़ी के वेधन से होते हैं। इन स्थानों में नाडी होती है। इसलिए, जैसे कि अमर-कोश में लिखा है 'नाडी तु धमनी सिरा' उसके अनुसार सिरा से तीनों का ग्रहण करना चाहिए और सिरामर्म में आवश्यकता के अनुसार तीनों का समावेश करना चाहिए।

अत ऊर्ध्वमुदरोरसोर्मर्माण्यनुव्याख्यास्यामः[1]—तत्र वातवर्चोनिरसनं स्थूलान्त्रप्रतिबद्धं गुदं नाम मर्म, तत्र सद्योमरणम्; अल्पमांसशोणितोऽभ्यन्तरतः कट्यां मूत्राशयो वस्तिर्नाम, तत्रापि सद्योमरणमश्मरीव्रणादृते, तत्राप्युभयतो भिन्ने न जीवति, एकतो भिन्ने मूत्रस्रावी व्रणो भवति, स तु यत्नेनोपक्रान्तो रोहति; पक्वामाशययोर्मध्ये सिराप्रभवा नाभिर्नाम, तत्रापि सद्योमरणम् ॥३३॥

(उदरमर्म—) अब इसके बाद उदर और छाती के मर्मों का व्याख्यान करेंगे। इनमें मल और वात को निकालने वाला, बड़ी आँत से जुड़ा हुआ गुद नामक मर्म है। वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। कटि में भीतर की ओर जिसकी बनावट में मांस और रक्त अल्प होता है ऐसा मूत्र का आधार बस्ति नामक मर्म है; वहाँ पर अश्मरीव्रण के अतिरिक्त (अन्य कारण से व्रण उत्पन्न होने पर) तत्काल मृत्यु होती है; अश्मरी के लिए भी दोनों ओर भिन्न होने से (मनुष्य) नहीं बचता; एक में भेद करने से मूत्रस्रावी व्रण बन जाता है, जो यत्न से चिकित्सा करने पर रोपित होता है। पक्वाशय और आमाशय के मध्य में सिराओं का उत्पत्ति-स्थान नाभि नामक मर्म है, वहाँ पर भी (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है ॥३३॥

वक्तव्य—गुद—मांसमर्मेदं चतुरंगुलं सद्योघाति च। (डल्हण)। अष्टांगहृदय के अनुसार गुद धमनी मर्म है। इसको मांसमर्म कहना ही उचित है। गुद के संबंध का कुछ विवरण पीछे निदानस्थान के दूसरे अध्याय के चौथे सूत्र तथा उसके वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३२९) में किया गया है। गुद से यहाँ पर गुदनलिका (Anal canal) और गुदद्वार (Anus) का ही ग्रहण करना चाहिए। मलाशय (Rectum) का ग्रहण करना उचित नहीं है क्योंकि यह गुद वातवर्चोनिरसन है, वर्चोधारक नहीं है। चरकसंहिता में गुद के दो विभाग 'उत्तरगुद' और 'अधरगुद' किये गये हैं। उसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—उत्तरगुदो

[1] मर्मस्थानान्यनुव्याख्यास्यामः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यत्र पुरीषमवतिष्ठते, येन तु पुरीषं निष्क्रामति तदधरगुदम्। (शारीर ७–१०)। यहाँ पर गुद से चरकोक्त अधरगुद अभिप्रेत है। गुद के ऊपर आघात होने से तत्काल मृत्यु स्तब्धता के कारण हो सकती है और यदि वेधन गंभीर हुआ हो तो उदरावरण में शोथ (Peritonitis) उत्पन्न होकर उससे हो सकती है। गुद को इतना महत्त्व देने का और एक कारण यह मालूम होता है कि प्राचीन काल में जैसे सिर को शरीर का मूल मानने की कल्पना थी—ऊर्ध्वमूलमधः शाखमृषयः पुरुषं विदुः। मूलप्रहारिणस्तस्माद् रोगान् शीघ्रतरं जयेत्॥ (अष्टांगहृदय, उत्तर० २४) वैसे ही गुद को भी शरीर का मूल मानने की कल्पना प्रचलित थी और इसी कल्पना के आधार पर अनुवासन बस्ति की फलप्राप्ति चरक में वर्णन की गई है—मूले निषिक्तो हि यथा द्रुमः स्यान्नीलच्छदः कोमलपल्लवाग्र्यः। काले महान् पुष्पफलप्रदश्च तथा नरः स्यादनुवासनेन॥ (सिद्धि १)। इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—मूलदृष्टान्तेन चानुवासनेन साक्षात्तर्पणीयस्य गुदस्य देहमूलत्वं दर्शयति। उक्तं हि पराशरे—मूलं गुदं शरीरस्य सिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः। सर्वं शरीरं पुष्णन्ति मूर्धानं यावदाश्रिताः॥ बस्ति—स्नायुमर्मेदं चतुरंगुलं सद्योघाति च। (डल्हण)। यही मूत्राशय (Urinary bladder) है। इसका वर्णन निदानस्थान के तीसरे अध्याय के १८–२० श्लोकों में तथा उनके वक्तव्य (प्रथमखण्ड पृष्ठ ३३६–३३७) में किया गया है। यहाँ पर उसका और उदरावरण (Peritoneum) का संबंध देखना जरूरी है। बस्ति के चार पृष्ठ (Surfaces) होते हैं—एक ऊर्ध्व, एक अधर और दो पार्श्विक। इनमें से ऊर्ध्व भाग पर उदरावरण लगा रहता है। अधर और पार्श्विक पृष्ठ उदरावरणरहित होते हैं। बस्ति मूत्र से परिपूर्ण होने के समय बस्तिप्रदेश पर आघात या चोट लगने से वह विदीर्ण (Rupture) हो जाती है। यह विदार चारों में से किसी एक पृष्ठ में हो सकता है। बस्ति ऊर्ध्व पृष्ठभाग में विदीर्ण होने से मूत्र उदरगुहा में प्रवेश करेगा। इस विदार को उदरान्तरीय (Intra-peritoneal) कहते हैं। इसमें विदीर्ण होने के समय स्तब्धता, पीडा इत्यादि तीव्र लक्षण उत्पन्न होकर थोड़े समय में तीव्र उदरावरणशोथ होकर उसी से मृत्यु हो जाती है। बस्ति का भेद प्रायः इसी प्रकार का होता है और इसी से जल्दी मृत्यु होती है। यदि पार्श्विक या अधर पृष्ठ में भेद हुआ तो मूत्र उदरगुहा में न जाकर श्रोणिगुहा में उदरावरण के बाहर फैलता है। इसको उदरबाह्य (Extra peritoneal) विदार या भेद कहते हैं। इस प्रकार के विदार से कटि की संयोजक धातुओं में तीव्र स्वरूप का पाक (Suppurative pelvic cellulitis) उत्पन्न होकर पूयमयता या विषमयता से मृत्यु होती है। संक्षेप में, जब आगन्तुक कारणों से बस्ति विदीर्ण होगी, तब उदरबाह्य या उदरान्तरीय भेद होगा और दोनों में ही मृत्यु हो जायगी। अश्मरीव्रणादृते—उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि इस शब्दसमूह का अर्थ 'आकस्मिक, आघातजन्य, आगन्तुक और शल्यशास्त्रज्ञ से जो नहीं किया गया है,

ऐसा व्रण उत्पन्न होने पर' होता है। अश्मरी का व्रण शास्त्रज्ञ सोच-विचार करके योग्यस्थान में करता है, जिससे मूत्र इधर-उधर न जाकर सीधा उससे बाहर निकलता है और न उदरगुहा में, न कटिगुहा में विकृति पैदा होती है। उभयतो भिन्न इत्यादि—इसका अभिप्राय यह है कि अश्मरी निकालने के लिए सावधानी से किया हुआ व्रण मुश्किल से भरता है और दो व्रणों का रोपण होना असंभव हो जाता है, जिससे इन व्रणों से मूत्र टपकता रहता है। चिकित्सास्थान के सातवें अध्याय में अश्मरी का जो शस्त्रकर्म वर्णन किया है, वह मूलाधारपार्श्विक बस्तिभेदन (Lateral cystotomy) है। भेदन के समय यदि ठीक सरल भेदन न हुआ हो और त्वचादि धातुएँ अधिक इधर उधर कटी हुई हों तो बस्ति का मूत्र इधर उधर फैलकर श्रोणिगुहा में शोथ (Pelvic cellulitis) उत्पन्न करता है। दोनों तरफ भेदन करने से इस शोथ के उत्पन्न होने की संभावना दुगुनी बढ़ जाती है। इसी लिए लिखा है कि उभयतो भिन्न होने पर मृत्यु हो जाती है, क्योंकि श्रोणिगुहागत शोथ घातक होता है। संक्षेप में, प्राचीन काल में यद्यपि बस्तिगत अश्मरी मूलाधारपार्श्विक बस्तिभेदन से निकाली जाती थी तथापि बहुत कम लोग उसके बाद बचते थे और जो बचते थे, उनमें से बहुतेरे लोगों में मूत्रस्रावी व्रण बनता था। चिकित्सास्थान में इस प्रकार स्पष्ट लिखा है—अक्रियायां ध्रुवो मृत्युः क्रियायां संशयो भवेत्। तस्मादापृच्छ्य कर्तव्यमीश्वरं साधुकारिणा॥ नाभि—सिरामर्म चतुरंगुलं सद्योघाति च। नाभिसिराओं का प्रभव (सातवें अध्याय के ३ श्लोक का वक्तव्य देखो) गर्भावस्था की दृष्टि से माना गया है। जन्म के पश्चात् नाभि का और सिराओं का कोई संबंध नहीं रहता है। नाभि के पीछे उदरगुहा है। उदर में सब महत्त्व के अंग होते हैं। नाभि के ऊपर आघात होने से भीतरी महत्त्व के अंगों के ऊपर उसका परिणाम होकर, अंगों के विदीर्ण होने से, प्रत्यावर्तनजन्य हृद्भेद से या स्तब्धता से मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। यदि किसी नोकीले शस्त्र द्वारा वेधन हुआ हो तो आन्त्र में छेद उत्पन्न हो सकता है और मल उदरगुहा में आने के कारण उदरावरण शोथ से मृत्यु हो सकती है। जब विषम ज्वर या कालज्वर (कालाजार) के कारण यकृत् और प्लीहा बढ़ती है, तब नाभिप्रदेश या उसके आस पास प्रहार होने पर यकृत् या प्लीहा विदीर्ण होकर रक्तस्राव से या स्तब्धता से रोगी की मृत्यु हो जाती है। संपूर्ण उदर के सामने का पृष्ठभाग मर्मस्थान है, जिस पर चोट लगने से मृत्यु हो सकती है। यहाँ पर उदर के दो विभाग किये गये हैं—बस्तिविभाग और नाभिविभाग। बस्तिविभाग में जघनकपाल के पूरोर्ध्व कूटों (Anterior Superior Illiac Spine) को जोड़ने वाली रेखा के नीचे का भाग आता है और उसके ऊपर का भाग नाभिविभाग में आता है।

स्तनयोर्मध्यमधिष्ठायोरस्यामाशयद्वारं सत्त्वरजस्तमसामधिष्ठानं हृदयं नाम, तत्रापि सद्य [...]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मर्माणि; स्तनयोरधस्ताद् द्व्यङ्गुलमुभयतः स्तनमूले नाम (मर्मणी), तत्र कफपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां म्रियते; स्तनचूचुकयोरूर्ध्वं द्व्यङ्गुलमुभयतः स्तनरोहितौ नाम, तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां च म्रियते; अंसकूटयोरधस्तात् पार्श्वोपरिभागयोरपलापौ नाम, तत्र रक्तेन पूयभावं गतेन मरणम्; उभयत्रोरसो नाड्यौ वातवहे अपस्तम्भौ नाम, तत्र वातपूर्णकोष्ठतया कासश्वासाभ्यां च मरणम्; एवमेतान्युदरोरसोर्द्वादश मर्माणि व्याख्यातानि ॥३४॥

(छाती के मर्म—) छाती में दोनों स्तनों के मध्य प्रदेश में अवस्थान किया हुआ आमाशय का द्वार और सत्व, रज तथा तम का अधिष्ठान हृदय नामक मर्म है। वहाँ पर (वेध होने से) भी तत्काल मृत्यु होती है। स्तनों के नीचे दो अंगुल दोनों ओर स्तनमूल नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) कोष्ठ (छाती) कफ से भरकर कास-श्वास से मृत्यु हो जाती है। स्तनचूचुकों के ऊपर दो अंगुल दोनों ओर स्तनरोहित नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) कोष्ठ (छाती) रक्त से भरकर कास-श्वास से मृत्यु होती है। दोनों अंसकूटों के नीचे पार्श्वों के ऊपर के भागों पर अपलाप नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) रक्त को पूयभाव प्राप्त होकर मृत्यु होती है। छाती के दोनों ओर अपस्तम्भ नामक दो वातवह नाड़ियाँ हैं, वहाँ पर (वेध होने से) छाती वायु से भरकर कास-श्वास से मृत्यु होती है। इस प्रकार उदर और छाती के बारह मर्मों का व्याख्यान किया गया ॥३४॥

वक्तव्य—हृदय—सिराममैदं कमलमुकुलाकारमधोमुखं चतुरंगुलं च सद्योघाति। यह वही वक्षःस्थ यन्त्र है, जिसके संकोच-विकास से संपूर्ण शरीर में रक्त का परिभ्रमण होता है। इस कार्य के अतिरिक्त अन्य कार्यों का विवरण पीछे चौथे अध्याय में ३३वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। इससे सत्त्वादि का अधिष्ठान हृदय क्यों माना जाता है, उसका पता चलेगा। हृदय दो स्तनों के बीच में रहता है, परंतु उसका अधिकांश बाईं ओर होता है। छाती की दीवाल के ऊपर उसका चित्र निम्न चार बिंदुओं को मिलाने वाली चार रेखाओं से खींच सकते हैं—(१) हृदय का अग्र या मुख (Apex)—इसका स्थान बाईं ओर के पंचम पर्शुकान्तर-स्थान में चूचुक के नीचे वक्षःफलक की ओर ३/४ इंच या वक्ष मध्य रेखा से ३३/४ इंच होता है। इसी स्थान पर दर्शन या स्पर्शन से हृदय के अग्र का स्पन्द प्रतीत होता है। हृदय की विकृतियों में यह स्थान नीचे और बाहर की ओर सरकता है। हृदयाग्र का स्थानान्तर हृद्विकृति का निश्चित चिह्न है। (२) दाईं ओर का सातवाँ उपपर्शुकावक्षःफलक संधि। (३) दाँईं ओर वक्षःफलक के किनारे से १/४ से १/२ इंच की दूरी पर तीसरी उपपर्शुका के ऊपर के किनारे पर। (४) बाईं ओर वक्षःफलक के किनारे से एक इंच दूसरी उपपर्शुका के निचले किनारे पर। अब प्रथम और द्वितीय बिंदु इस प्रकार से जोड़ो कि रेखा वक्षःफलक के मध्यभाग और अग्रपत्र (Xiphoid) के संयोगस्थान में से होकर चली जावे। यह रेखा हृदय का निचला किनारा बताती है। फिर दूसरा और तीसरा बिंदु इस प्रकार से जोड़ो कि चौथे उपपर्शुका पर रेखा का उभार वक्षमध्य से ०.५ इंच का हो जावे। इससे हृदय का दायाँ किनारा बनता है। फिर चौथे और पहले बिंदु को इस प्रकार से जोड़ो कि रेखा का कुछ उभार दाईं ओर हो जावे। यह हृदय का बायाँ किनारा है। आमाशयद्वारम्—अरुणदत्त अष्टांगहृदय की टीका में इसका अर्थ लिखते हैं—तच्चामाशयस्य द्वारं मुखम्। तेन हि द्वारेणान्नपानमामाशये प्रविशति। (शा० ४)। यह अर्थ गलत है। हृदय आमाशयद्वार इसलिए कहा गया है कि वह आमाशयद्वार के बहुत समीप रहता है। हृदय महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm उदरवक्षगुहा विभाजक) के ऊपर स्थित है। गले से निकली हुई अन्नप्रणाली हृदय-समीपवर्ती महाप्राचीरा के छिद्र में से उदरगुहा में प्रवेश करके आमाशय से मिलती है। आमाशय का यह ऊपर का द्वार हृदय के बहुत समीप होता है। दोनों में केवल महाप्राचीरा पेशी होती है। इस कारण से आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा में भी आमाशय का ऊपर का द्वार हार्दिक द्वार (Cardiac orifice) कहलाता है—तत्रापि ऊर्ध्वद्वारमन्ननलिकाद्वारानुबन्धि—तस्य हार्दिकं द्वारमिति संज्ञा हृदयसांनिध्यात्। (प्रत्यक्षशारीर)। इसके सिवाय आमाशय का मोटा भाग, जहाँ पर अन्न इकट्ठा होता है, हृदयसमीप होने के कारण हार्दिक भाग (Cardiac portion) कहलाता है। इस सान्निध्य के कारण ही अधिक भोजन करने पर उसका भार हृदय पर पड़ता है और उसके कार्य में बाधा उत्पन्न होती है। मात्राानुसार भोजन का एक लक्षण जो 'अन्नेन हृदयाबाधः' वह इसी समीपता के कारण होता है। स्तनमूले—सिराममर्मणी द्व्यङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च। (डल्हण)। स्तनरोहिते—स्तनचूचुकयोरूर्ध्वं द्व्यङ्गुले स्तनरोहिते। अर्धाङ्गुलमिते मांसमर्मणी परिकीर्तिते। रक्तपूरितकोष्ठस्य कालान्मरणकारिणी ॥ अपलापौ—सिराममर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च। अपस्तम्भौ—सिराममर्मणी अर्धाङ्गुलप्रमाणे कालान्तरप्राणहरे च। (डल्हण)।

प्रत्यक्षशारीर की दृष्टि से हृदय को छोड़कर छाती के अन्य मर्मों का अंगविनिश्चय विशेष महत्त्व का नहीं है। छाती में दो ही मर्मस्थान होते हैं—एक रक्तवाहिनी युक्त हृदय और दूसरा फुफ्फुस। ये दोनों वक्षगुहा को पूर्णतया व्यापते हैं। हृदय का स्वतन्त्र निर्देश किया गया है। शेष मर्मों का किसी न किसी प्रकार से फुफ्फुस के साथ संबंध आता है। क्योंकि स्तनमूल में कफपूर्णकोष्ठतया, स्तनरोहित में लोहितपूर्णकोष्ठतया, अपलाप में रक्तेन पूयभावगतेन और अपस्तम्भ में वातपूर्णकोष्ठतया मृत्यु होती है। यहाँ पर कोष्ठ शब्द फुफ्फुसवाचक है। छाती पर आघात, वेध इत्यादि होने से छाती की दीवाल पसली इत्यादि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

टूट जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि बाहर की हवा फुफ्फुसावरण के भीतर जाकर वातोरस (वातपूर्णकोष्ठता Pneumothorax) हो सकता है। बाहर के जीवाणु भीतर प्रवेश करके न्युमोनिया, ब्रान्को न्युमोनिया (कफपूर्णकोष्ठता) हो सकती है। बाहर की दीवाल में टूट-फूट या घाव न होते हुए भी भीतर रक्तवाहिनियों के विदीर्ण होने से रक्तोरस (शोणितपूर्णकोष्ठता Haemothorax) या फुफ्फुसगत रक्तस्राव और तज्जन्य रक्तष्ठीवन (Haemoptysis उरःक्षत, भृशमभ्याहतस्य वा। विक्षते वक्षसि व्याधिर्बलवान् समुदीर्यते। चरक) हो सकता है, या भीतर का सुप्त उपसर्ग उत्तेजित होकर पूयोरस (Empyema), राजयक्ष्मा (Pulmonary tuberculosis) इत्यादि रोग उत्पन्न हो सकते हैं—Pneumonia may follow directly upon injury, particularly of the chest, without necessarily any lesion of the lung. Trauma, as for example a blow on the chest may be followed by local tuberculosis. *Osler's Medicine.* Trauma involving the chest wall, may be followed by active pulmonary tuberculosis. Haemoptysis occurs pregnantly in wounds of the chest both penetrating and non-penetrating. Inflamatory serous effusion may also occur as a complication of injury to the chest wall. In most of these conditions the exudate often becomes purulent. *Text-book of medicine by F. W.* Price. Haemothorax commonly results from wounds, injuries etc. *Taylor's Medicine.* ये सब रोग कालान्तर प्राणहर हैं, इसमें भी संदेह नहीं है। अतः स्तनमूलवेध की कफपूर्णकोष्ठता से राजयक्ष्मा, न्युमोनिया या ब्रान्को न्यूमोनिया, स्तनरोहित वेध की ~~शोणित~~पूर्णकोष्ठता से फुफ्फुसगत रक्तस्राव (Haemoptysis), अपस्तम्भवेध की ~~शोणित~~पूर्णकोष्ठता से वातोरस (Pneumothorax), और अपलापवेध की पूयभावगतरक्तता (यह भी कोष्ठ की है, इसमें संदेह नहीं) से पूयोरस (Empyema) समझना उचित है। ये रोग छाती के एक विशिष्ट भाग में आघात होने से होते हैं, सो नहीं है। तथापि व्यवहार के लिए स्तनमूल से lower portion of the pectoralis major (suspensory ligament of the inamnra रसयोग), स्तनरोहित से Internal mammary vessels, अपलाप से lateral thoracic and subscapular vessels (Medial walls of the axilla रसयोग), और अपस्तंभ से two bronchii (नाडीशब्देनेह वातवहत्वेन विवक्षितासु वक्षोगतासु सिरासु मध्ये फुफ्फुसाद् हृदयगामिन्यौ स्नायुसचिवे द्वे सिरे लक्ष्येते। हाराणचन्द्र) समझ सकते हैं।

अत ऊर्ध्वं पृष्ठमर्माणि व्याख्यास्यामः[1]—तत्र पृष्ठवंशमुभयतः प्रतिश्रोणिकाण्डमस्थिनी कटीकतरुणे नाम मर्मणी, तत्र शोणितक्षयात् पाण्डुर्विवर्णो हीनरूपश्च[1] म्रियते, पार्श्वजघनबहिर्भागे पृष्ठवंशमुभयतो (नातिनिम्ने) कुकुन्दरे नाम मर्मणी, तत्र स्पर्शाज्ञानमधःकाये चेष्टोपघातश्च; श्रोणीकाण्डयोरुपर्याशयाच्छादनौ पार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ नितम्बौ नाम, तत्राधःकायशोषो दौर्बल्याच्च मरणम्; अधःपार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ जघनपार्श्वमध्ययोस्तिर्यगूर्ध्वं च जघनात् पार्श्वसन्धी नाम, तत्र लोहितपूर्णकोष्ठतया म्रियते; स्तनमूलादृजूभयतः पृष्ठवंशस्य बृहत्यौ[2] नाम, तत्र शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तैरुपद्रवैर्म्रियते; पृष्ठोपरि पृष्ठवंशमुभयतस्त्रिकसंबद्धे अंसफलके नाम, तत्र बाह्वोः स्वापशोषौ[3]; बाहुमूर्धग्रीवामध्ये अंसपीठस्कन्धनिबन्धनावंसौ नाम, तत्र स्तब्धबाहुता; एवमेतानि चतुर्दश पृष्ठमर्माणि व्याख्यातानि ॥३५॥

(पीठ के मर्म—) अब इसके बाद पीठ के मर्मों का व्याख्यान करते हैं—पृष्ठवंश के दोनों ओर प्रत्येक श्रोणिकाण्ड में कटीकतरुण नामक अस्थिमर्म है, वहाँ पर (वेध होने से मनुष्य) रक्तक्षय से पाण्डु, विवर्ण और क्षीणदेह होकर मरता है। पृष्ठवंश के दोनों ओर जघनादि के पार्श्वों के बाहर के भाग में (किञ्चित् निम्न) कुकुन्दर नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) नीचे के शरीर में सुन्नता और चेष्टानाश होता है। श्रोणिकाण्डों के ऊपर आशय को आच्छादन करने वाले और दोनों पार्श्वों से जोड़ने वाले नितम्ब नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) नीचे का शरीर सूख जाता है और कमजोरी से मृत्यु होती है। श्रोणिकपालों के नीचे बँधे हुए जघनपार्श्वों के मध्य में और जघन से तिरछा और ऊपर की ओर पार्श्वसन्धि नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) कोष्ठ के रक्त से भर जाने के कारण मृत्यु होती है। पृष्ठवंश के दोनों ओर स्तनमूलों की सीध में बृहती नामक मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) रक्त के अतिस्राव की प्रवृत्ति के कारण उत्पन्न होने वाले उपद्रवों से मृत्यु होती है। पीठ पर पृष्ठवंश के दोनों ओर त्रिक से संबंधित अंसफलक नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) बाहुओं का शोष (कृशता) और सुन्नता होती है। बाहुशिर और ग्रीवा के मध्य में अंसपीठ और कंधे को बाँधने वाले अंस नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) बाहुओं की स्तब्धता (अकार्मण्य) होती है। इस प्रकार चौदह पीठ के मर्मों का व्याख्यान किया गया है ॥३५॥

वक्तव्य—कटीकतरुण–प्रतिश्रोणिकाण्डमित्यत्र 'प्रतिश्रोणिकर्णौ' इति केचित्पठन्ति। तत्र श्रोणिकर्णौ लक्ष्यीकृत्य त्रिकसन्निधाने श्रोण्यामुपरि अस्थिमर्मणी, अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च। (डल्हण)। पृष्ठवंशं पृष्ठवंशपुच्छसंसक्तत्वेन तद्वत्प्रतिभात

१ अनुव्याख्यास्यामः।

१ हीनदेहश्च. २ बृहती. ३ स्वापः शोषो वा.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नितम्बप्रदेशस्योभयत उभयपार्श्वे इत्यर्थः । प्रतिश्रोणिकाण्डमिति प्रतिरयं भागार्थः, काण्डं शाखेति पर्यायौ, श्रोण्याः सव्यापसव्ये भाग इत्यर्थः । अस्थिनी अधच्छिद्रे किञ्चित् साचीकृते ऊर्ध्वाधोमिथःसंयुक्ते द्वे कपाले इत्यर्थः । (**हाराणचन्द्र**) । कुकुन्दरे—पार्श्वयोर्वामदक्षिणसंज्ञकयोः, जघनबहिर्भागे इति कट्याः पश्चाद् भागे, गयी तु 'पार्श्वजघनभागे' इति पठित्वा पार्श्वयोर्जघनभागे अधोभागे नितम्बे निम्ने कुकुन्दरे इति व्याख्याति । संधिमर्मणी अर्धाङ्गुले ईषन्निम्नाकारे वैकल्यकरे चेति । (**डल्हण**) । कुकुन्दरौ स्फिचोरुपरि उन्नतभागौ । (**चक्रपाणि, चरक, शा० ७**) । जघनशब्देन कटिसामान्यमभिधीयते । स्त्रीकट्याः पुरोभागे तावत्सुप्रसिद्धो जघनशब्दः कटिसामान्येऽपि क्वचित् प्रयुज्यमानो दृश्यते 'पीनघनजघनायाः' इति । किं पुनरत्र युक्तं कटिसामान्यमिति, कुतः, अविशेषेणेह स्त्रीपुंसोरुभयोरेव मर्मोपदेशात् । एवं कटिसामान्यवचनस्यास्य जघनशब्दस्य तद्गतेऽस्थ्नि तात्पर्यमिति बुद्धिमारोहति कुकुन्दराधिष्ठानत्वेनाऽभिधानात् । तथा च पार्श्वजघनबहिर्भागे इति जघनयोः कटिकपालयोः पार्श्वे इति पार्श्वजघने तयोर्बहिर्भागेऽधःप्रदेशे, पृष्ठवंशमुभयतः पृष्ठवंशत्वेन विजृम्भितयोर्नितम्बास्थ्नोरुभयपार्श्वे नातिनिम्नेऽधस्तादावृतत्वेनानतिगंभीरे कुकुन्दरे आवर्ताकारे द्वे शुषिरे इत्यर्थः । (**हाराणचन्द्र**) । नितम्बौ—पूर्वोक्तश्रोणिकाण्डयोरुपरि, आशयच्छादनौ आमाशयपिधायकौ, पार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ पार्श्वमध्ये प्रतिबद्धौ नितम्बौ, अस्थिमर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च । (**डल्हण**) । इदमत्रामनन्ति—'श्रोणिगुदसंश्रयपर्यधो नाभेः पक्काशयः' इति । श्रोणिकाण्डे प्रत्यवस्थिते च द्वे कपाले किञ्चित् साचीकृते इत्यवोचाम । तदिदानीमूर्ध्वाधःसंयुक्तयोरनयोर्मध्यगतेनान्तरेण पक्काशयस्य योंऽशो दृष्टिपथमारुरुक्षति तदाच्छादनी तु नितंबावित्युपदिशन्नाह—श्रोणीति । (**हाराणचन्द्र**) । पार्श्वसंधि—अधोभागे यत्पार्श्वयोरन्तरं मध्यं तत्प्रतिबद्धौ, जघनपार्श्वमध्ययोरिति पश्चाद्भागपार्श्वभागयोर्यौ मध्यौ वामदक्षिणौ भागौ तयोः, तिर्यं स्थिताविल्याह—तिर्यगूर्ध्वं चेति उपर्युपरि पर्शुकानां क्रमवृद्धेः तयोरपि तिर्यगूर्ध्वत्वं; जघनादिति ल्यपि लुप्ते पञ्चमीयम्, तेन जघनपश्चाद्भागमाश्रित्य स्थितौ पार्श्वसंधी, सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरप्राणहरे च । (**डल्हण**) । अधःपार्श्वान्तरेति प्रत्यासत्त्या श्रोणिकाण्डयोरेव अन्तरं छिद्रमिति पर्यायौ । तथा च अधःपार्श्वान्तरप्रतिबद्धौ कुकुन्दरप्रतिबद्धाविति तात्पर्यम् । जघनपार्श्वमध्ययोः कटिकपालयोः पार्श्वे मध्ये च । तथा जघनात्तिर्यगूर्ध्वमूर्ध्वप्रदेशे पृष्ठवंशस्योभयपार्श्वे इति यावत्, सिरामर्मत्वेनोपदेशात् वर्तमानौ स्नायुसंहृतौ सिराविशेषौ पार्श्वसंधी नाम इति प्रत्येतव्यम् । (**हाराणचन्द्र**) । बृहत्यौ—सिरामर्मणी अर्धाङ्गुले कालान्तरे मृत्युप्रदे च । स्तनमूले लक्ष्यीकृत्य ऋजुशलाकावेधनन्यायेन पृष्ठवंशस्योभयपार्श्वे । अंसफलके—पृष्ठोपरि पृष्ठवंशस्यायतत्वात् प्रदेशनियमार्थं पृष्ठोपरीत्युक्तम् । त्रिकसंबद्धे इति ग्रीवाया अंसद्वयस्य च यः संयोगः स त्रिकः, तत्र संबद्धे अंसफलके, अस्थिमर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्यकारिणी च । (**डल्हण**) । अंसगतं हि त्रिकमंसाक्षकांसफलाग्रसन्निपातमुपदिशन्ति तदिदमुच्यते त्रिक इति । (**हाराणचन्द्र**) ।

पृष्ठ के जो चौदह मर्म हैं, उनके दो विभाग होते हैं। प्रथम निम्न विभाग है जिसमें कटीकतरुण, कुकुन्दर, नितम्ब और पार्श्वसंधि ये आठ याने एक एक पक्ष के चार चार मर्म होते हैं। द्वितीय ऊर्ध्वविभाग है जिसमें बृहती, अंसफलक और अंस ये छः याने एक एक पक्ष के तीन मर्म आते हैं। निम्न विभाग के सब मर्म नितम्ब या श्रोणीप्रदेश (Gluteal region) में एकत्र हुए हैं और ऊर्ध्वविभाग के मर्म ग्रीवा और दो अंसफलक इनसे मर्यादित स्थान में एकत्र हुए हैं। अर्थात् इन दोनों के बीच के प्रदेश में (नौवें पृष्ठ कशेरु से त्रिकसंधान तक) कोई मर्म नहीं है। श्रोणीप्रदेश के मर्मों का वर्णन इतना स्वल्प और अस्पष्ट है कि प्रत्येक मर्म से श्रोणीप्रदेश के एकाध मर्यादित अंग का अर्थ निकालना कठिन है। इसलिए प्रत्येक मर्म के संबंध में डल्हण और हाराणचन्द्र की टीका ऊपर दी हुई है। श्रोणीप्रदेश में उत्तरा और अधरा नितंबिनी नाडियाँ और धमनियाँ (Inferior or superior gluteal nerves and arteries) गुदोपस्थिका नाडी और धमनी (Internal pudendal) और गृध्रसी नाडी (Sciatic nerve) ये महत्त्व के अंग हैं। धमनियों के टूट जाने से रक्तक्षय, पाण्डु इत्यादि और नाडी के ऊपर वेध होने से चेष्टोपरम, स्पर्शाज्ञान ये लक्षण होते हैं। इनके सिवाय पेशियों का वेध होने से भी चेष्टोपघात हो सकता है। ये मर्मांग कुकुन्दरकूट (Ischiaf Tuberosity) ऊर्वस्थिमहाशिखर (Greater trochanter) और जघनकपाल का ऊपर का किनारा इनके बीच में होता है। अर्थात् इस स्थान में वेध होने से नाडी या धमनी के अनुसार लक्षण पैदा होंगे। यदि प्रत्येक मर्म के लिए स्वतन्त्र नाम देना हो तो निम्न प्रकार से दे सकते हैं—कटीकतरुण—Sciatic notch; कुकुन्दर—Ischial tuberosity (रसयोगसागर के अनुसार Anterior superior iliac spines); नितम्ब—Ala of the ilium (रसयोगसागर के अनुसार Gluteal region)। अब पार्श्वसंधि का प्रश्न रहा। इसके वेध से लोहितपूर्णकोष्ठता से मृत्यु होती है। यहाँ पर संदर्भानुसार कोष्ठ का अर्थ श्रोणिगुहा करना चाहिए। बाहर की किसी धमनी के विद्ध होने से श्रोणिगुहा में रक्तस्राव नहीं होगा। अर्थात् पार्श्वसंधि श्रोणिगुहागत कोई धमनी होनी चाहिए। इस दृष्टि से, जैसे कि रसयोगसागर में सूचित किया है, पार्श्वसंधि से Common iliac artery का ग्रहण कर सकते हैं या उसकी अन्य शाखा-प्रशाखा का ग्रहण कर सकते हैं।

ऊर्ध्ववर्ग के मर्मों में बृहती से अंसफलक के लंबे किनारे के पास होने वाली धमनियों का (Subscapular and transverse cervical) ग्रहण किया जा सकता है। अंसफलक से यद्यपि पूरे फलक (Scapula) का अर्थ निकल सकता है तथापि उससे अंसप्राचीरक (spine) के ऊपर का हिस्सा लेना उचित है। इस विभाग में अध्यंसिका (Suprascapular) नाडी होती है तथा अंस की पेशियों के निवेश होते हैं, जिनके वेधन से बाहु की कृशता और सुप्तता हो सकती है। अंस से अंससंधान (Shoulder joint) के स्नायुओं का ग्रहण कर सकते हैं। इसी में पृष्ठच्छदा (Trapezius) पेशी के निवेश का समावेश होता है। इस स्थान में वेध होने से स्वभावतः बाहु का काम बंद हो जाता है। अष्टांगहृदय में अंस का कार्य बाहुक्रिया का ही दिया है—अंसौ बाहुक्रियाकरौ। (शा० ४)।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अत ऊर्ध्वमूर्ध्वजत्रुगतानि व्याख्यास्यामः—तत्र कण्ठनाडीमुभयतश्चतस्रो धमन्यो द्वे नीले द्वे च मन्ये व्यत्यासेन, तत्र मूकता स्वरवैकृतमरसग्राहिता च; ग्रीवायामुभयतश्चतस्रः सिरा मातृकाः, तत्र सद्योमरणं; शिरोग्रीवयोः सन्धाने कृकाटिके नाम, तत्र चलमूर्धता ॥३६॥

(ग्रीवा के मर्म—) अब इसके बाद जत्रु के ऊपर के मर्मों का व्याख्यान करेंगे। कण्ठनाडी के दोनों ओर व्यत्यास से दो नीला और दो मन्या नामक चार धमनियाँ हैं। वहाँ पर (वेध होने से) गूँगापन, स्वर में विकृति और (जिह्वा के) रसज्ञान का अभाव होता है। ग्रीवा के दोनों ओर मातृका नामक चार चार सिराएँ हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। सिर और ग्रीवा के जोड़ पर कृकाटिक नाम का मर्म है, वहाँ पर (वेध होने से) सिर हिलता है ॥३६॥

वक्तव्य—कण्ठनाडी—श्वास का मार्ग, जिसमें स्वरयन्त्र और नीचे की श्वासप्रणाली इन दोनों (Larynx and trachea) का समावेश होता है। व्यत्यासेन—एक नीला और एक मन्या एक तरफ और वैसा ही दूसरी तरफ—एका नीला, एका मन्या चैकस्मिन् पार्श्वे, अन्या नीला अन्या मन्या चापरस्मिन् पार्श्वे। (डल्हण)। नीले मन्ये—सिराममर्मणी चतुरंगुले वैकल्यकारिणी च। (डल्हण)। नीला और मन्या के वेधन से होने वाले सब लक्षण वातिक (Nervous) हैं। ये वातिक लक्षण स्वरयन्त्र और जिह्वा की नाडियाँ (Nerves) खराब होने से या इनकी धमनियों का नाश होने से हो सकते हैं। गले में जिह्वा और स्वरयन्त्र की स्वरयन्त्रगा उत्तरा (Superior laryngeal), कंठरासनी (Glasso-pharyngeal) और जिह्वामूलिनी (Hypoglossal) ये नाडियाँ होती हैं तथा उत्तरग्रीविका (Superior thyroid) और अनुजिह्विका (Lingual) ये धमनियाँ भी होती हैं। यदि नीले और मन्ये इनके वेध से होने वाले परिणामों के ऊपर ध्यान देकर इनका अंगविनिश्चय करना हो तो इनसे उपर्युक्त नाडियों का और धमनियों का ग्रहण करना उचित है। मन्या के संबंध में चरक में निम्न वचन मिलता है—तस्य चेन्मन्ये परिमृश्यमाने न स्पन्देयातां, परासुरिति विद्यात्। (इन्द्रियस्थान ४)। इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—मन्ये गलपार्श्वगते धमन्यौ। इस वचन का विचार प्रत्यक्ष शारीर की दृष्टि से करने पर मन्या से Carotid arteries का ग्रहण करना पड़ेगा और नीला से Jugular veins का ग्रहण होगा। पं० हरिप्रपन्नजी नीला और मन्या से इन्हीं अंगों का ग्रहण करते हैं। नीले और मन्ये वैकल्यकर मर्म हैं (१९वाँ श्लोक देखो); क्यारोटिड धमनी इतनी महत्त्व की है कि उसके वेध से मृत्यु होने की संभावना अधिक होती है। इससे यह स्पष्ट होगा कि शारीरिक और आर्थिक दृष्टि से मन्या के अंगविनिश्चय में भिन्नता होती है। मातृका—सिराममर्माणि चतुरंगुलप्रमाणानि मातृकाः। (डल्हण)। ग्रीवा के दोनों ओर क्यारोटिड धमनी और इन्टर्नल जुगुलर सिरा के अलावा कई अन्य सिराएँ होती हैं। यदि वेध के परिणाम के अनुसार इनका विचार करना हो तो मातृकाओं से Internal and external carotid arteries and internal and external jugular veins का ग्रहण करना उचित है। यदि अर्थ के ऊपर ध्यान न देकर केवल ग्रीवा के दोनों तरफ की सिराओं की संख्या का विचार करके निर्णय करना हो तो, जैसे पं० हरिप्रपन्नजी समझते हैं, वैसे मातृकाओं से ग्रीवा की उत्तान सिराओं का (Anterior, external, posterior external jugular veins और Common facial veins) ग्रहण कर सकते हैं। संक्षेप में, नीला, मन्या और मातृका की ठीक निश्चिति करना कठिन है। तथापि इनके द्वारा यह बताया गया है कि ग्रीवा के सामने का दोनों तरफ का भाग एक महत्त्व का मर्मस्थान है। इस स्थान को मन्यास्थान भी कहते हैं—महाहेतुर्बली वायुः सिराः सकण्डराः। मन्यापृष्ठाश्रिता बाह्याः संशोष्यायामयेद् बहिः। कृकाटिका—यहाँ के वर्णन के अनुसार कृकाटिका ग्रीवा और सिर के संयोगस्थान का पीछे का भाग है। म० म० गणनाथसेन प्रत्यक्षशारीर में 'कृकाटिकं नाम अङ्गुरीयकाकारं तरुणास्थि स्वरयन्त्राधरावयवभूतम्' इस प्रकार वर्णन करते हैं। यह अर्थ सुश्रुतसंमत नहीं है। अवटु और कृकाटिका दोनों ही सिर के पीछे के भाग हैं। कृकाटिका Articulation between the occipital and Atlas.

कर्णपृष्ठतोऽधःसंश्रिते विधुरे नाम, तत्र बाधिर्यं; घ्राणमार्गमुभयतः स्रोतोमार्गप्रतिबद्धे अभ्यन्तरतः फणे नाम, तत्र गन्धाज्ञानं; भ्रूपुच्छान्तयोरधोऽक्ष्णोर्बाह्यतोऽपाङ्गौ नाम, तत्रान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा; भ्रुवोरुपरि निम्नयोरावर्तौ नाम, तत्राप्यान्ध्यं दृष्ट्युपघातो वा; भ्रुवोः पुच्छान्तयोरुपरि कर्णललाटयोर्मध्ये शङ्खौ नाम, तत्र सद्योमरणं; शङ्खयोरुपरि केशान्त उत्क्षेपौ नाम, तत्र सशल्यो जीवेत् पाकात् पतितशल्यो वा नोद्धृतशल्यः; भ्रुवोर्मध्ये स्थपनी नाम, तत्रोत्क्षेपवत्; पञ्च सन्धयः शिरसि विभक्ताः सीमन्ता नाम, तत्रोन्मादभयचित्तनाशैर्मरणं; घ्राणश्रोत्राक्षिजिह्वासन्तर्पणीनां सिराणां मध्ये सिरासन्निपातः शृङ्गाटकानि, तानि चत्वारि मर्माणि, तत्रापि सद्यो मरणं; मस्तकाभ्यन्तरतः उपरिष्टात् सिरासन्धिसन्निपातो रोमावर्तोऽधिपतिः, तत्रापि सद्य एव। एवमेतानि सप्तत्रिंशदूर्ध्वजत्रुगतानि मर्माणि व्याख्यातानि ॥३७॥

१ नाम व्यत्ययेन. २ चतस्रश्चतस्रः.

१ भ्रुवोरन्तोपरि. २ शृङ्गाटकसंज्ञश्चतुर्धा, तत्रापि. ३ तत्रापि मरणं.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(शिर के मर्म—) कान के पीछे, नीचे की ओर आश्रित हुए विधुर नामक दो मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) बधिरता होती है। नासामार्ग के दोनों ओर भीतर (नासा छत के पास श्रोत्र) स्रोत मार्ग से बँधे हुए फण नामक मर्म हैं, वहाँ (वेध होने से) गंध का ज्ञान नष्ट होता है। भ्रूपुच्छों के अन्त के नीचे आँखों के बाहर की ओर अपांग नामक मर्म हैं, वहाँ (वेध होने से) अंधापन अथवा दृष्टि की क्षीणता होती है। भौंहों (के पुच्छान्त) के ऊपर निम्न भागों में आवर्तनामक मर्म हैं, वहाँ पर भी (चोट लगने से) अंधापन और दृष्टि की कुछ क्षीणता होती है। भौंहों के पुच्छों के सिरों के ऊपर कान और माथे के बीच में शङ्ख नामक मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होने से) तत्काल मृत्यु होती है। शङ्ख के ऊपर केश समाप्त होने के स्थान पर उत्क्षेप नामक मर्म हैं, वहाँ पर (यदि कोई शल्य चुभ जाय तो) शल्य के साथ बचता है, अथवा (कुछ देर के बाद वहाँ पर) पाक (पीप) उत्पन्न होने से शल्य गिर जाने पर बचता है, (शल्य चुभते ही) शल्य को निकालने से नहीं बचता है। दोनों भौंहों के मध्य में स्थपनी नामक मर्म है, वहाँ पर भी (शल्य का परिणाम) उत्क्षेपवत् होता है। शिर (की खोपड़ी) में विभाग करने वाली सीमन्त नामक पाँच संधियाँ हैं, वहाँ पर (चोट लगने से) उन्माद, भीति, चित्तनाश से मृत्यु होती है। नाक, कान, नेत्र और जिह्वा इनका सन्तर्पण करने वाली सिराओं के मध्य में शृङ्गाटक नामक सिरासन्निपात है, ये चार मर्म हैं, वहाँ पर (वेध होनेसे) तत्काल मृत्यु होती है। मस्तिष्क के भीतर ऊपर की ओर सिरा और संधियों का सन्निपात, बालों का आवर्त (अधिपति) नामक मर्म है, वहाँ पर भी (चोट लगने से) तत्काल मृत्यु होती है। इस प्रकार ऊर्ध्वजत्रुगत सैंतीस मर्मों का विवरण किया गया ॥३७॥

वक्तव्य—विधुर—स्नायुमर्मणी किञ्चिन्निम्नाकारे वैकल्यकारिणी च। (डल्हण) आगे सिरावर्णविभक्ति अध्याय में 'द्वे विधुरयोः, एवं ग्रीवायां षोडशावध्याः' करके ये सिराएँ बतलाई गई हैं। अष्टांगहृदय में विधुर धमनी मर्म बतलाया गया है और इनका स्थान ठीक कान के नीचे के निम्न स्थान में दिया है—अधस्तात्कर्णयोर्निम्ने विधुरे श्रुतिहारिणी। इस स्थान पर पश्चिमकर्णिका (Posterior auricular) नामक सिरा और धमनी होती है, जो कान के नीचे के स्थान से प्रारंभ होकर कान के पीछे से ऊपर चली जाती है। इस धमनी या सिरा का वेध होने से बधिरता होने की संभावना होती है। कान के ऊपर जोर की चोट लगने पर सिरा के साथ कान का पर्दा (Tympanum) विदीर्ण होने से या यदि चोट बहुत प्रबल हो, कर्णनाडी की खराबी होने से भी बाधिर्य उत्पन्न हो सकता है। फणे—घ्राणमार्गस्य द्वयोः पार्श्वयोरभ्यन्तरविवरद्वारसंबद्धे फणे, सिराममर्णी अर्धाङ्गुले वैकल्यकारिणी च। (डल्हण)। अष्टांगहृदय में फण का वर्णन निम्न प्रकार का है—फणावुभयतो घ्राणमार्गे श्रोत्रपथानुगौ। अन्तर्गलस्थितौ वेधाद्गन्धविज्ञानहारिणौ ॥ इसकी टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—घ्राणमार्गस्योभयोः श्रोत्रपथानुगौ श्रोत्रमार्गप्राप्तौ, अन्तर्गलस्थितौ गलाभ्यन्तरे स्थितौ, फणाविव संस्थानं रूपमनयोः फणाविति नाम। यहाँ पर श्रोत्रपथ से श्रुतिसुरंगा का द्वार (Orice of the auditory tube) अभिप्रेत है। इस विवरण से फणों का स्थान नासा में भीतर और ऊपर श्रोत्रमार्ग तक होता है। इसी स्थान को नासागुहा कहते हैं। इसके ऊपर के भाग में तथा उसके सामने की नासाप्राचीर में गंधनाडी (Olfactory nerve) की शाखा-प्रशाखाएँ फैली रहती हैं, जिनके द्वारा गंधग्रहण होता है। फणे—Olfactory regions of the nasal cavities। अपाङ्गौ—सिराममर्णी अर्धाङ्गुले वैकल्यकरे च। (डल्हण)। भ्रुवोः संबंधिनोः पुच्छान्तयोर्बाह्यान्तयोरध अक्ष्णोश्च बहिरपाङ्गौ मर्मणी। (इन्दु)। Zygomatico, temporal vessels at the outer corner or canthus of the eye। आवर्तौ—सन्धिमर्मणी अर्धाङ्गुले वैकल्यकारिणी च। (डल्हण)। भ्रुवोरुपरि—भ्रुवोः पुच्छान्तयोरुपरि। (अरुणदत्त)। गण्डास्थि, पुरःकपाल और जतुकास्थि के संधिस्थान (Junction of frontal, malar and sphenoid bone) पर यह मर्म होता है। शङ्खौ—अस्थिमर्मणी अर्धाङ्गुले (सद्यःप्राणहरे च)। (डल्हण)। शङ्खमर्म शङ्खकास्थि (Temporal bone) का वह हिस्सा है, जिसको कनपटी (Temples) कहते हैं। इस प्रदेश के ऊपर अनुशंखा उत्ताना (Superficial temporal) और शङ्खकास्थि के भीतरी पृष्ठभाग पर मस्तिष्कवृत्तिगा मध्यमा (Middle meningeal) नामक धमनियाँ होती हैं। शङ्खप्रदेश पर आघात होने से स्तब्धता के कारण तत्काल मृत्यु हो सकती है, किंवा भीतरी धमनी टूटने के कारण मस्तिष्क में रक्तस्रावजन्य पीडन (Compression) से मृत्यु होती है। उत्क्षेपौ—स्नायुमर्मणी अर्धाङ्गुले विशल्यप्राणहरे च। (डल्हण)। इससे शङ्खस्थान की सावरण पेशी (Temporal fascia and muscle) का बोध होता है। स्थपनी—सिरामर्म अर्धाङ्गुलं विशल्यघ्नं च। (डल्हण)। इसको कूर्च भी कहते हैं—कूर्चमस्त्री भ्रुवोर्मध्ये। (अमरकोश)। अँग्रेज़ी में इसको ग्लवेला (Glabella) कहते हैं। इस स्थान पर ललाटिका सिरा (Frontal vein), या दोनों ओर की ललाटिका सिराओं को जोड़ने वाली सिरा (Nasal arch) होती है। स्थपनी के पीछे ललाटकोटर (Frontal sinus) होते हैं। सीमन्ताः—इमानि संधिमर्माणि चतुरंगुलप्रमाणानि कालान्तरप्राणहराणि च। (डल्हण)। ये वे ही सीमन्त (Sutures of the cranium) हैं, जिनका वर्णन पाँचवें अध्याय के १४वें सूत्र में सीवनी करके किया गया है। सिर के ऊपर आघात होने से निम्न लक्षण उत्पन्न होते हैं—शिरस्यभिहते मन्यास्तम्भार्दितचक्षुर्विभ्रममोहवेष्टनचेष्टानाशकासश्वासहनुग्रहमूकगद्गदत्वाक्षिनिमीलनगण्डस्पन्दनजृम्भणलालास्रावस्वरहानिवदनजिह्मत्वादीनि। (चरक, सिद्धि० ९)। ये लक्षण मस्तिष्कसंघट्टन (Cerebral concussion), मस्तिष्कपीडन (Compression), मस्तिष्कप्रक्षोभ (Irritation) के कारण उत्पन्न होते हैं और इन्हीं से कालान्तर में मनुष्य की मृत्यु होती है। शृङ्गाटक—इमानि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिराममर्माणि चतुरंगुलप्रमाणानि । (डल्हण) । मस्तिष्कमूल में Cavernous और Intercavernous sinus करके जो सिरासन्निपात है, वही शृङ्गाटक है । इसमें आँखों की सिराएँ सीधी मिलती हैं और नासाकर्ण की अप्रत्यक्षतया मिलती हैं । इसका आकार भी चतुष्कोण होता है । सिर के ऊपर, सिर के पीछे, हनु के ऊपर जोर का आघात होने से करोटी मूलास्थिभंग होता है, जिसमें शृंगाटक तथा सुषुम्नाशीर्ष इत्यादि विदीर्ण होकर मृत्यु होती है । अष्टांगहृदय में शृंगाटक धमनी मर्म बतलाये हैं । अधिपतिः—मस्तकाभ्यन्तरोपरिष्टादिति मस्तकस्याभ्यन्तरोर्ध्वमित्यर्थः, सिरासन्ध्योः सन्निपातो रोमावर्तः, बहिरस्य लक्षणमुपरिष्टाद्रोमावर्तः, एतत् संधिमर्म अर्धांगुलप्रमाणं च । (डल्हण) । इसका मतलब यह है कि अधिपति मर्म खोपड़ी के भीतर सिराओं के सन्निपात से बना हुआ है । यह संधिमर्म है, इसका अर्थ सिरासंधिमर्म अस्थिसंधिमर्म नहीं । और इस अभ्यन्तरीय मर्म की बाहर की निशानी (Surface marking) रोमावर्त, याने जहाँ पर सिर के बालों में आवर्त दिखाई देता है, वह स्थान है । इस वर्णन के अनुसार अधिपति मर्म से आधुनिक शारीर वर्णन की दृष्टि से मस्तिष्कवृति में पीछे की ओर मिलने वाले सिरासरित् सन्निपात (Confluence of sinuses या Torcular Herophili) का बोध होता है । म० म० गणनाथ सेनजी प्रत्यक्षशारीर के सिराविभाग में अधिपति का यही अर्थ देते हैं—महासिरावर्तो नाम पूर्वोक्तानां पञ्चानामपि सिरासरितां संधिसन्निपातः पश्चिमकपालस्याभ्यन्तरतलकेन्द्रस्थः । तमधिपतिसंज्ञं सद्योमारकं मर्मेति वर्णयन्ति प्राञ्चः ॥ परंतु अस्थिविभाग में पश्चिमकपाल और पार्श्वकपालों के संधिस्थान (Posterior fontanelle) को अधिपति मर्म बताते हैं—पश्चिममध्यसीमन्तयोस्तु संधिस्थलं शिवरन्ध्रमधिपतिरन्ध्रं वा नाम तदाख्यमर्मधारणात् ॥ यद्यपि ये दोनों स्थान बहुत समीप हैं, तथापि शिवरन्ध्र में सिराओं के संधियों का सन्निपात न होने से उसको अधिपति मर्म मानना उचित नहीं है । इस मर्म का स्थान कुछ नीचा गुद्दी (अवटु) के पास भीतर होता है । इसके सिवाय शिवरन्ध्र का ग्रहण पाँच सीमन्तमर्मों में हो जाता है । शिवरन्ध्र की अपेक्षा ब्रह्मरन्ध्र (Anterior-fontanelle) अधिक महत्त्व का होने पर भी उसका उल्लेख मर्मों में नहीं, इसका कारण यह है कि ये रन्ध्र सीमन्तों में आ जाते हैं । इसलिए अधिपति मर्म से शिवरन्ध्र न समझकर महासिरावर्त ही समझना उचित है । इस तरह सिर में कुल तेईस मर्म होते हैं । इन मर्मों से सिर का कोई हिस्सा नहीं बचा है । इनके निमित्त संपूर्ण सिर का वर्णन मिलता है । जैसे कि चरक के त्रिमर्मीय अध्याय में कहा है, वैसे ही संपूर्ण शिर एक मर्म कहने से भी सिर का वही एक महत्त्व रहता जो यहाँ पर तेईस मर्मों के वर्णन से रहता है । इसलिए इस अध्याय के प्रथम सूत्र के वक्तव्य में लिखा है कि मर्मों के वर्णन के फायदे शरीररक्षा और शस्त्रकर्म की दृष्टि से जैसे होते हैं, वैसे ही शारीर अंगविनिश्चय की दृष्टि से भी होते हैं ।

भवन्ति चात्र—

ऊर्व्यः शिरांसि विटपे च सकक्षपार्श्वे
एकैकमङ्गुलमितं स्तनपूर्वमूलम् ।
विद्ध्यङ्गुलद्वयमितं मणिबन्धगुल्फं
त्रीण्येव जानु सपरं सह कूर्पराभ्याम् ॥३८॥

हृद्बस्तिकूर्चगुदनाभि वदन्ति मूर्ध्नि
चत्वारि पञ्च च गले दश यानि च द्वे ।
तानि स्वपाणितलकुञ्चितसंमितानि
शेषाण्यवेहि परिविस्तरतोऽङ्गुलार्धम् ॥३९॥

(मर्मों के परिमाण—) ऊर्वी, कूर्चशिर, विटप, कक्षाधर ये (आठ मर्म) एक एक अङ्गुलपरिमित; स्तनमूल, मणिबन्ध और गुल्फ ये (छः मर्म) दो अङ्गुलपरिमित; दो कूर्पर और दो जानु तीन अङ्गुलपरिमित जानने चाहिएँ ॥३८॥ हृदय, बस्ति, कूर्च, गुद, नाभि, सिर के चार (शृंगाटक) और पाँच (सीमन्त) तथा गले के दस और दो (दो मन्या, दो नीला और आठ मातृका, ये उन्तीस) मर्म मुष्टिपरिमित होते हैं । शेष (छप्पन) मर्मों को अर्धाङ्गुलपरिमित समझना चाहिए ॥३९॥

वक्तव्य—शिरांसि—कूर्चशिरांसि । कक्षपार्श्वे—कक्षधरे इत्यर्थः । सपरम्—द्वितीयजानुसहितं जानु । स्वपाणितलकुञ्चितसंमितानि—चतुरंगुलप्रमाणानीत्यर्थः । (डल्हण) । मुष्टिप्रमाणानि । (हाराणचंद्र) । कई आचार्य शेष छप्पन मर्मों का प्रमाण तिल या चावल के समान बताते हैं—पञ्चाशद् षट् च मर्माणि तिलव्रीहिसमान्यपि । इष्टानि मर्माण्यन्येषाम् । (अष्टांगहृदय) ।

एतत्प्रमाणमभिवीक्ष्य वदन्ति तज्ज्ञाः
शस्त्रेण कर्मकरणं परिहृत्य कार्यम् ।
पार्श्वाभिघाततमपीह निहन्ति मर्म
तस्माद्धि मर्मसदनं परिवर्जनीयम् ॥४०॥

(प्रमाण कथन का प्रयोजन—) इन प्रमाणों को ध्यान में रख करके (मर्मस्थानों को) छोड़कर शस्त्र के द्वारा कर्म करना चाहिए, ऐसा शल्यचिकित्सक कहते हैं । (चूँकि) आस-पास चोट लगने पर भी मर्मघात करता है, इसलिए मर्मस्थान को (शस्त्रकर्म के समय) छोड़ना (बचाये रखना) चाहिए ॥४०॥

छिन्नेषु पाणिचरणेषु सिरा नराणां
सङ्कोचमीयुरसृगल्पमतो निरेति ।
प्राप्यामितव्यसनमुग्रमतो मनुष्याः
संच्छिन्नशाखतरुवन्निधनं न यान्ति ॥४१॥

(शाखा मर्मों का गौणत्व—) मनुष्यों के हाथ-पाँवों के छिन्न हो जाने पर (छेदस्थान की) सिराएँ सिकुड़ जाती हैं; अतः अधिक रक्त नहीं निकलता । इसलिए (हस्तपादच्छेदन रूप) कठिन विपत्ति को प्राप्त हो करके

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...नी, जिसकी शाखाएँ कट गई हैं ऐसे वृक्षों के समान मनुष्य मृत्यु को प्राप्त नहीं होते ॥४१॥

क्षिप्रेषु तत्र सतलेषु हतेषु रक्तं
गच्छत्यतीव पवनश्च रुजं करोति।
एवं विनाशमुपयान्ति हि तत्र विद्धा
वृक्षा इवायुधविघातनिकृत्तमूलाः ॥४२॥

(क्षिप्र और तलहृदय का महत्त्व—) हाथ-पैरों में क्षिप्र और तलहृदय विद्ध होने पर रक्त अत्यधिक राशि में निकलता है और वायु अधिक पीडा करती है। इस प्रकार जैसे शस्त्र (कुल्हाड़ी) से मूल कटे हुए वृक्ष मर जाते हैं, वैसे ही इन मर्मों पर विद्ध हुए (मनुष्य पीडा और रक्तस्रावाधिक्य के कारण) मर जाते हैं ॥४२॥

वक्तव्य—मर्माघात से मृत्यु होने के कारणों का विचार पीछे २४वें सूत्र के वक्तव्य में किया जा चुका है। रक्तस्राव मृत्यु का एक प्रधान कारण है, इसका उल्लेख यहाँ पर किया गया है। अष्टांगसंग्रह में स्पष्ट लिखा है कि छेद, भेद, वेधादि से यदि रक्त अत्यधिक राशि में निकले तो, वेध का स्थान चाहे मर्म हो या न हो, मृत्यु हो जाती है और मर्मस्थान पर वेध होने से भी यदि रक्तस्राव अधिक न हो तो मनुष्य की मृत्यु नहीं होती—अमर्मविद्धोऽपि शस्त्रछेदभेदादिपीडितः। अतिनिस्रुतरक्तश्च सद्यस्त्यजति जीवितम्। अतोऽन्यथा जीवति तु विद्धः शरशतैरपि ॥ (शारीर ७)। इस पर इन्दु लिखते हैं—न केवलं मर्मविद्ध एव जीवितं त्यजति यावद् मर्मविद्धोऽपि रक्तस्यातिस्रुतेः सद्य एव जीवितं जहाति। अतोऽन्यथा यथोक्तवैपरीत्ये मर्मव्यधे रक्तास्रुतौ च शरशतैरपि विद्धो जीवति। एवं विनाशमायान्ति—रक्तस्राव से मर जाते हैं। रक्तस्राव के कारण होने वाले लक्षणों का विवरण सूत्रस्थान के १४वें अध्याय के ३०वें सूत्र में, तथा उसके वक्तव्य में (प्रथम खण्ड पृष्ठ ८४ देखो) किया गया है। वहाँ के लक्षण मध्यम रक्तस्राव के हैं। जब रक्तस्राव अधिक होता है, तब मृत्यु जल्दी होती है। इसके लक्षण अष्टांगसंग्रह में बहुत सुन्दर दिये हैं और आधुनिक लक्षणों के साथ ठीक ठीक मिलते हैं—विक्षिप्यते भृशं सीदन् शून्यो भ्रमति वेपते। ऊर्ध्वं श्वसिति कृच्छ्रेण स्रस्तगात्रो मुहुर्मुहुः ॥ हृदयं रुणद्धे चास्य नैकस्थानेऽवतिष्ठते। मर्मोपघातान्मरणमेतैर्लिङ्गैः समश्नुते ॥ (शारीर ७)। रक्तस्राव के कारण शरीर में विष्णुपदामृत (Oxygen) की कमी होती है, जिसकी पूर्ति करने के लिए रोगी बेचैनी के साथ इधर उधर शरीर को घुमाता है (विक्षिप्यते भृशं, Tossing) और बड़े जोर के साथ, और तेजी से साँस (ऊर्ध्वं श्वसिति gasps for breath) लेता है। अन्त में अवसाद, संन्यास और आक्षेप के साथ मर जाता है।

क्षिप्र और तलहृदय मर्मों का महत्त्व रक्तस्राव की दृष्टि से ही होता है। इन मर्मों की सिराएँ तथा धमनियाँ अत्यन्त निगूढ होती हैं, जिसके कारण उनसे होने वाले रक्तस्राव को रोकना बहुत कठिन समस्या होती है। आधुनिक काल में प्रत्यक्ष शारीर-विज्ञान में तथा सांगोपांग शल्यचिकित्सा में आश्चर्यजनक उन्नति होने पर भी इन स्थानों के रक्तस्राव को बंद करने में कठिनाई मालूम होती है—Wounds of the volar arches are always difficult to deal with. Wounds of the planter arch are always serious on account of the depth of the vessel. *Grey's Anatomy.* अब इसके बाद क्षिप्रतलहृदय मर्मवेध की चिकित्सा वर्णन करते हैं—

तस्मात्तयोरभिहतस्य तु पाणिपादं
छेत्तव्यमाशु मणिबन्धनगुल्फदेशे ॥४३॥

(क्षिप्रतलहृदय मर्मवेध चिकित्सा—) इसलिए इन मर्मों पर अभिघात हुए (मनुष्य) के हाथ, पाँव, मणिबंध और गुल्फदेश में तत्काल काटकर उसको बचाना चाहिए ॥४३॥

वक्तव्य—मणिबन्धनगुल्फदेशे—हाथ के मर्म का वेध होने पर मणिबंध प्रदेश में और पैर के मर्म में चोट होने पर गुल्फदेश में। छेत्तव्यम्—पीछे ४१वें श्लोक में यह बताया जा चुका है कि हाथ-पैर कट जाने पर भी मृत्यु नहीं होती, क्योंकि वहाँ की रक्तवाहिनियाँ सिकुड़ जाने से प्राणधारक रक्त का नाश बहुत नहीं होता। रक्तवाहिनियों के संकोच के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि, उनमें कट जाने पर संकोच (Contraction) करने का गुण होता है और रक्तस्राव रोकने के नैसर्गिक उपायों में से यह एक उपाय है (४१वें श्लोक का वक्तव्य देखो)। परन्तु जब बड़ी बड़ी रक्तवाहिनियाँ कट जाती हैं, तब नैसर्गिक उपायों के ऊपर रक्तस्राव बंद होने के लिए निर्भर रहना उचित नहीं होता और तुरन्त कृत्रिम उपायों के द्वारा स्राव को रोकना पड़ता है। इन उपायों का विवरण सूत्रस्थान के चौदहवें अध्याय के ३६वें सूत्र और उसके वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ८५) में किया गया है। हाथ-पैर पूर्णतया कट जाने पर रक्तस्राव बंद होने के लिए नैसर्गिक साधनों पर विश्वास न करके तुरन्त कृत्रिम साधनों द्वारा रक्तप्रवाह को रोकना चाहिए और इसमें सफलता मिलने के कारण रक्तस्राव से व्रणी की मृत्यु नहीं होती। तलहृदय मर्म में चोट लगने पर जब रक्तप्रवाह शुरू होता है, तब वे धमनियाँ अत्यन्त निगूढ होने के कारण उनसे होने वाला रक्त का स्राव कृत्रिम उपायों द्वारा रोकना अत्यन्त कठिन होता है। इसलिए इस श्लोक में मणिबन्ध या गुल्फदेश में छेदन (Amputation at the wrist or ankle joint) करने का उपदेश दिया है। वहाँ पर छेदन करने से कृत्रिम उपायों द्वारा रक्तस्राव बंद करना बहुत सहल होता है और विद्ध की जान बच जाती है। इसलिए इस श्लोकार्ध का अभिप्राय ठीक ध्यान में आने के लिए निम्न (स्वकृत) श्लोकार्ध से उसकी पूर्ति की जाती है—एवं भवेच्च सुगमं विविधैरुपायैरास्थापनमसुविधारकशोणितस्य।

मर्माघात, रक्तस्राव और अंगदुष्टि के लिए छेदन (Amputation) करने का उपाय प्राचीन है—परोऽप्यपत्यं

१ इवायुधनिपातनिकृत्तमूलाः.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हितकृद् यथौषधं स्वदेहजोऽप्यामयवत्सुतोऽहितः । छिन्द्यात्तदङ्गं यदुतात्मनोऽहि तं शेषं सुखं जीवति यद्विवर्जनात् ॥ (श्रीमद्भागवत ७-५-३७)। आधुनिक शल्यचिकित्सा में भी यह उपाय संमत हुआ है—The actual removal of a limb may be required as an immediate urgent necessity in order to save life from shock, haemorrhage, or infection. *Manual of Surgery by Rose and Carless.* प्राचीन और अर्वाचीन शल्यशास्त्र संमत होने पर भी अंगच्छेदन का उपाय मामूली नहीं है। वैद्य या डाक्टर के ऊपर इसकी बड़ी भारी जिम्मेदारी होती है और व्रणी के लिए एक स्थायी वैकल्य उत्पन्न होता है। इसलिए अंगच्छेदन का उपाय आत्ययिक अवस्थाओं में बहुत सोच विचार करके काम में लाना चाहिए। यहाँ पर सब स्थानों के रक्तस्राव का विचार न करके तलहृदयगत रक्तस्राव का विचार साधारण उपायों की दृष्टि से किया जायगा। हथेलियों और तलुओं की चोट एक बहुत साधारण घटना है। इसकी चिकित्सा का ज्ञान बहुत आवश्यक है। इसलिए यहाँ पर उसकी विधि बतलाई जाती है—

हाथ या पैर के तलहृदय से रक्तस्राव होने पर व्रणमुख को कुछ चौड़ा करके धमनीसंदंश से टूटी हुई धमनी के दोनों सिरे पकड़कर ताँत से बाँध देने चाहिएँ। यदि यह न हो सके तो धमनीपीडनसंदंश (Forcipressure forceps) से दोनों सिरे दबाकर संदंशों को वैसे ही व्रण में रखकर पट्ट बाँधना चाहिए। यदि संदंश से स्राव का मुख पकड़ने में कठिनाई हो तो व्रणमुख पर स्वच्छ कवलिका की मोटी तह बनाकर (Pad of sterilized gause) और मुट्ठी बाँधकर पट्ट लगाना चाहिए और रोगी को बिस्तरे पर हाथ या पैर ऊँचा करके लिटाये रखना चाहिए। यदि इससे भी रक्त स्तम्भन न हो सके तो बाहु या ऊरु धमनी के ऊपर रज्जुबंधन (Tourniquet) करके या उन धमनियों को खोलकर उनके ऊपर टाँका (Ligature) लगाके रक्तस्राव रोकना चाहिए। आखिरी दो उपायों से रक्तस्राव बंद हो जाता है। आधुनिक काल में रक्तस्तम्भन, शस्त्रकर्म और जीवाणुनाशन के साधनों में आश्चर्यजनक उन्नति होने के कारण हाथ-पैरों के चोट में उनका छेदन (Amputation) करने के भयावह उपाय को अंगीकृत करने का प्रसंग बहुत कम आता है।

मर्माणि शल्यविषयार्धमुदाहरन्ति
यस्माच्च मर्मसु हता न भवन्ति सद्यः।
जीवन्ति तत्र यदि वैद्यगुणेन केचित्
ते प्राप्नुवन्ति विकलत्वमसंशयं हि ॥४४॥

(शल्यतन्त्र में मर्मों का महत्त्व—) यतः मर्मों पर आघात (या वेध) होने से तत्काल (मनुष्यों का) अस्तित्व नष्ट होता है और वैद्य की कुशलता के कारण उनमें से कोई बच भी जायँ तो भी वे विकलता को निःसंशय प्राप्त होते हैं। इसलिए (शल्यतान्त्रिक) मर्मों को शल्यविषयार्ध कहते हैं ॥४४॥

वक्तव्य—शल्यविषयार्धम्—संपूर्ण आयुर्वेद में शल्यतन्त्र का प्राधान्य शस्त्रक्षारादि प्रणिधान से तत्काल कार्य करने के कारण होता है—अष्टास्वपि चायुर्वेदतन्त्रेष्वेतदेवाधिकमभिमतमाशुक्रियाकरणाद्यन्त्रशस्त्रक्षाराग्निप्रणिधानात्। (सूत्रस्थान १)। यदि यन्त्र, शस्त्र, क्षार और अग्नि का प्रयोग करते समय मर्मों का ध्यान न किया जाय तो तत्काल उपाय होने के बदले तत्काल अपाय हो जायगा। अर्थात् शल्यतन्त्र का श्रेष्ठत्व जिस क्रिया के ऊपर अधिष्ठित है, वही क्रिया मर्म विज्ञान के सिवा हानिकारक होती है। इसलिए मर्मों का ज्ञान आधा शल्यशास्त्र कहलाता है।

संभिन्नजर्जरितकोष्ठशिरःकपाला
जीवन्ति शस्त्रवि(नि)हतैश्च शरीरदेशैः।
छिन्नैश्च सक्थिभुजपादकरैरशेषै-[1]
र्येषां न मर्मपतिता[2] विविधाः प्रहाराः ॥४५॥

(मर्मप्रहार का महत्त्व—) जिनके मर्मों पर विविध प्रहार नहीं हुए हैं, (परंतु इतस्ततः) प्रहारों के कारण जिनके कोष्ठ और शिरःकपाल जर्जरित हुए हैं, ऐसे मनुष्य शस्त्रों के द्वारा विद्ध हुए अपने शरीर अंगों के साथ तथा पूर्णतया कटे हुए अपने सक्थि, पाद, बाहु और हाथों के साथ जिन्दे रहते हैं ॥४५॥

सोममारुततेजांसि रजःसत्त्वतमांसि च।
मर्मसु प्रायशः पुंसां भूतात्मा चावतिष्ठते॥
मर्मस्वभिहतास्तस्मान्न जीवन्ति शरीरिणः ॥४६॥

(मर्माघात से मृत्यु की उपपत्ति—) सोम (जल या कफ), वायु, तेज और सत्त्व, रज, तम तथा जीवात्मा प्रायः मर्मों में (विशेषतया) अवस्थान करते हैं। इसलिए मर्मों पर वेध होने से (इनके चले जाने के कारण) प्राणी जीवित नहीं रहते ॥४६॥

वक्तव्य—प्रायशः—मर्मों पर आघात होने से कई बार मृत्यु होती है, यह अनुभवसिद्ध घटना है। इस घटना के कार्य-कारण संबंध का दिग्दर्शन यहाँ पर प्राचीन कल्पना के अनुसार और अनुमान प्रमाण के आधार पर किया गया है। पाश्चात्त्य वैद्यक में इस प्रकार की कल्पना न होने के कारण दोनों की तुलना नहीं हो सकती। आधुनिक कल्पना के अनुसार मृत्यु के जो कारण होते हैं, उनका विचार पीछे २३वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। वे भौतिक कारण आयुर्वेद में भी मिलते हैं। यहाँ दार्शनिक दृष्टि से (Meta physical) मृत्यु के कारण बतलाये गये हैं। जड़ शरीर को चैतन्य सत्त्वादि द्वारा प्राप्त होता है, इसलिए ये प्राण कहलाते हैं। इनका उल्लेख चौथे अध्याय के दूसरे सूत्र में किया गया है। ये प्राण सर्वशरीरव्यापी हैं, किसी एक स्थान पर स्थित नहीं होते। परंतु मर्मों पर आघात होने से प्राणयुक्त शरीर प्राणरहित होता है। इससे यह अनुमान निकलता है कि यद्यपि प्राण सर्व

१ रशेषं. २ मर्मसु कृता.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यापी हैं तथापि इनका विशेष स्थान मर्मों में होता है और वह स्थान छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण वे शरीर से चल देते हैं और शरीर निष्प्राण हो जाता है।

इन्द्रियार्थेष्वसंप्राप्तिर्मनोबुद्धिविपर्ययः ।
रुजश्च विविधास्तीव्रा भवन्त्याशुहरे हते ॥४७॥
हते कालान्तरघ्ने तु ध्रुवो धातुक्षयो नृणाम् ।
ततो धातुक्षयाज्जन्तुर्वेदनाभिश्च नश्यति ॥४८॥
हते वैकल्यजनने केवलं वैद्यनैपुणात् ।
शरीरं क्रियया युक्तं विकलत्वमवाप्नुयात् ॥४९॥
विशल्यघ्नेषु विज्ञेयं पूर्वोक्तं यच्च कारणम् ॥५०॥
रुजाकराणि मर्माणि क्षतानि विविधा रुजः ।
कुर्वन्त्यन्ते च वैकल्यं कुवैद्यवशगो यदि ॥५१॥

(पञ्चविध मर्माघात के लक्षण—) सद्यःप्राणहर मर्म पर अभिघात होने से इन्द्रियों का स्वविषयग्रहण में असामर्थ्य (बेहोशी), मन और बुद्धि के कार्य में वैपरीत्य, और तरह तरह की तीव्र वेदनाएँ (ये लक्षण) होते हैं ॥४७॥ कालान्तर प्राणहर मर्म पर अभिघात होने से मनुष्यों का धातुक्षय निश्चिति से होता है और पश्चात् धातुक्षयजनित वेदनाओं के कारण मनुष्य मर जाता है ॥४८॥ वैकल्यकर मर्म पर अभिघात होने से केवल वैद्य की कुशलता से ही शरीर कार्यक्षम होकर विकलता को प्राप्त होता है ॥४९॥ विशल्यघ्न मर्मों में जो कारण पहले बताया गया है, वही जानना चाहिए ॥५०॥ पीडाकर मर्म (आघात होने पर) विविध प्रकार की पीड़ाएँ करते हैं और यदि किसी खराब वैद्य के हाथ में हों तो अन्त में वैकल्य (भी) करते हैं ॥५१॥

वक्तव्य—असंप्राप्तिः—इन्द्रियार्थानामसम्यक्संबन्धः, इन्द्रियार्थानामग्रहणमित्यर्थः ।

वेदना—लक्षण—चिकित्सति भिषक् सर्वास्त्रिकाला वेदना इति। (चरक, शारीर ९)। अर्थात् पर्याय से धातुक्षयजनित विविध रोगों से।

वैद्यनैपुणात्—वैकल्यकर मर्मों पर वेध होने से वैकल्य तब प्राप्त होता है, जब उसकी चिकित्सा उत्तम वैद्य के हाथों से की जाती है, वरना उससे मृत्यु भी हो सकती है।

कुवैद्यवशगो यदि—पीडाकर मर्म विद्ध होने पर यदि कुवैद्यों के हाथों में सुपुर्द किये जायँ तो वैकल्य प्राप्त होता है।

मर्माघात के सामान्य लक्षण सूत्रस्थान के पचीसवें अध्याय के 'भ्रमः प्रलापः पतनं प्रमोहो' इन दो श्लोकों में वर्णन किये गये हैं।

अष्टाङ्गसंग्रह में मर्मवेध का सामान्य लक्षण निम्न प्रकार से वर्णित है—

देहप्रसुप्तिर्गुरुता संमोहः शीतकामिता। स्वेदो मूर्च्छा वमिः श्वासो मर्मविद्धस्य लक्षणम् ॥ (शारीर ७)।

अष्टाङ्गहृदय में प्रत्येक प्रकार के मर्मवेध के लक्षण निम्न प्रकार से वर्णित हैं—

विद्धेऽजस्रमसृक्स्रावो मांसधावनवत्तनुः। पाण्डुत्वमिंद्रियाज्ञानं मरणं चाशुमांसजे ॥ मज्जान्वितोऽच्छो विच्छिन्नस्रावो रुक् चास्थिमर्मणि ॥ आयामाक्षेपकस्तम्भास्नावजेऽभ्यधिकं रुजा। यानस्थानासनाशक्तिर्वैकल्यमथवांतकः ॥ रक्तं सशब्दफेनोष्णं धमनीस्थे विचेतसः। सिरामर्मव्यधे सांद्रमजस्रं बहुसृक्स्रवेत्। तत्क्षयात्तृड्भ्रमश्वासमोहहिध्माभिरन्तकः ॥ वस्तुशूकैरिवाकीर्णे रूढे च कुणिखञ्जता। बलचेष्टाक्षयः शोषः पर्वशोफश्च संधिजे ॥ (शारीर ४)।

ये लक्षण आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक के रक्तस्राव, मूर्च्छा (Syncope) और स्तब्धता (Shock) इनके साथ (पीछे २३वें सूत्र की टिप्पणी देखो) मिलते हैं।

छेदभेदाभिघातेभ्यो दहनाद्दारणादपि ।
उपघातं विजानीयान्मर्मणां तुल्यलक्षणम् ॥५२॥

(मर्मसमीप घात के लक्षण—) छेदन, भेदन, अभिघात, दहन और दारण से मर्मसमीप स्थान पर उत्पन्न हुआ आघात मर्माघात के समान लक्षणों से युक्त जानना चाहिए ॥५२॥

वक्तव्य—उपघातं समीपघातम्। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि मर्मसमीप स्थान पर उत्पन्न हुए आघात या वेध के परिणाम प्रत्यक्ष मर्म पर हुए आघात के समान होते हैं।

मर्माभिघातस्तु न कश्चिदस्ति
योऽल्पात्ययो वाऽपि निरत्ययो वा ।
प्रायेण मर्मस्वभिताडितास्तु
वैकल्यमृच्छन्त्यथवा म्रियन्ते ॥५३॥
मर्माण्यधिष्ठाय हि ये विकारा
मूर्च्छन्ति काये विविधा नराणाम् ।
प्रायेण ते कृच्छ्रतमा भवन्ति
नरस्य यत्नैरपि साध्यमानाः ॥५४॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने प्रत्येकमर्मनिर्देशशारीरं नाम षष्ठोऽध्यायः ॥६॥

(मर्माघात में प्रयत्न पराकाष्ठा की आवश्यकता—) मर्म का कोई भी अभिघात ऐसा नहीं होता है, जिससे थोड़ी सी ही हानि होती हो या बिलकुल न होती हो। प्रायः मर्मों पर अभिघातित हुए (मनुष्य) विकल होते हैं या मर जाते हैं ॥५३॥ मनुष्यों के जो विविध रोग मर्मों का आश्रय करके शरीर में होते हैं, वे वैद्य से (बहुत) प्रयत्नों द्वारा चिकित्सित होते हुए भी प्रायः अत्यन्त कृच्छ्रसाध्य होते हैं ॥५४॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्णक्रमानुसार मर्मों का कोष्ठक

नाम,	संख्या	स्थान	प्रकार	परिणाम	अँग्रेजी शारीरिक पर्याय
अंस	२	पृष्ठ	स्नायु	वैकल्यकर	Coraco-humoral, gleno-humoral ligament, Trapezius muscle
अंसफलक	२	पृष्ठ	अस्थि	वैकल्यकर	Spine of the scapula
अधिपति	१	शिर	संधि	सद्यःप्राणहर	Torcular herophilia
अपलाप	२	छाती	सिरा	का० प्राणहर	Lateral thoracic and subscapular vessels.
अपस्तम्भ	२	छाती	सिरा	का० प्राणहर	Two bronchii
अपाङ्ग	२	शिर	सिरा	वैकल्यकर	Zygomatico-temporal vessels
आणी	२	ऊर्ध्वशाखा	स्नायु	वैकल्यकर	Tendon of biceps
आणी	२	अधःशाखा	स्नायु	वैकल्यकर	Tendon of quadriceps femoris
आवर्त	२	शिर	संधि	वैकल्यकर	Junction of the frontal. malar and sphenoid bo[ne]
इन्द्रबस्ति	२	ऊर्ध्वशाखा	मांस	का० प्राणहर	Cubital fossa
इन्द्रबस्ति	२	अधःशाखा	मांस	का० प्राणहर	Calf muscles
उत्क्षेप	२	शिर	स्नायु	विशल्यघ्न	Temporal muscle and fascia
ऊर्वी	२	ऊर्ध्वशाखा	सिरा	वैकल्यकर	Brachial artery, Bacilic vein
ऊर्वी	२	अधःशाखा	सिरा	वैकल्यकर	Femoral vessels.
कक्षाधर	२	ऊर्ध्वशाखा	स्नायु	वैकल्यकर	Brachial plexus.
कटीकतरुण	२	पृष्ठ	अस्थि	का० प्राणहर	Sciatic notch
कुकुन्दर	२	पृष्ठ	संधि	वैकल्यकर	Ischial tuberosity
कूर्च	२	ऊर्ध्वशाखा	स्नायु	वैकल्यकर	Carpo-metacarpal and intercarpal ligaments
कूर्च	२	अधःशाखा	स्नायु	वैकल्यकर	Tarso-metatarsal and intertarsal ligaments
कूर्चशिर	२	ऊर्ध्वशाखा	स्नायु	पीडाकर	Lateral ligaments of the wrist joint
कूर्चशिर	२	अधःशाखा	स्नायु	पीडाकर	Lateral ligaments of the ankle joint
कूर्पर	२	ऊर्ध्वशाखा	संधि	वैकल्यकर	Elbow joint
कृकाटिका	२	ग्रीवा	संधि	वैकल्यकर	Atlanto-occipital articulation
क्षिप्र	२	ऊर्ध्वशाखा	स्नायु	का० प्राणहर	First intermeta carpul ligament
क्षिप्र	२	अधःशाखा	स्नायु	का० प्राणहर	First intermeta-tarsal ligament
गुद	१	कोष्ठ	मांस	सद्यःप्राणहर	Anal canal and anus
गुल्फ	२	अधःशाखा	संधि	पीडाकर	Ankle joint
जानु	२	अधःशाखा	संधि	वैकल्यकर	Knee joint
तलहृदय	२	ऊर्ध्वशाखा	मांस	का० प्राणहर	Palmer aponeurosis
तलहृदय	२	अधःशाखा	मांस	का० प्राणहर	Long planter ligament
नाभि	१	कोष्ठ	सिरा	सद्यःप्राणहर	Umbilicus
नितम्ब	२	पृष्ठ	अस्थि	का० प्राणहर	Ala of the ileum
नीले	२	ग्रीवा	सिरा	वैकल्यकर	Blood vessels of the neck
पार्श्वसंधि	२	पृष्ठ	सिरा	का० प्राणहर	Common iliac vessels
फण	२	शिर	सिरा	वैकल्यकर	Olfactory region of the nose
बस्ति	१	कोष्ठ	स्नायु	सद्यःप्राणहर	Urinary bladder
बृहती	२	पृष्ठ	सिरा	का० प्राणहर	Subscapular and transverse cervical arteries
मन्ये	२	ग्रीवा	सिरा	वैकल्यकर	Blood vessels of the neck
मातृका	८	ग्रीवा	सिरा	सद्यःप्राणहर	Blood vessels of the neck
लोहिताक्ष	२	ऊर्ध्वशाखा	सिरा	वैकल्यकर	Axillary vessels
लोहिताक्ष	२	अधःशाखा	सिरा	वैकल्यकर	Femoral vessels
विटप	२	कोष्ठ	स्नायु	वैकल्यकर	Inguinal canal
विधुर	२	शिर	स्नायु, सिरा	वैकल्यकर	Posterior auricular vessels
शङ्ख	२	शिर	अस्थि	सद्यःप्राणहर	Temples

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शृंगाटक	४	शिर	सिरा	सद्यःप्राणहर	Cavernous and inter-cavernous sinuses
सीमन्त	५	शिर	संधि	का० प्राणहर	Cranial sutures
स्तनमूल	२	छाती	सिरा	का० प्राणहर	Internal mammory vessels
स्तनरोहित	२	छाती	मांस	का० प्राणहर	Lower portion of Pectoralis major
स्थपनी	१	शिर	सिरा	विशल्यघ्न	Nasal arch of the frontal vein.
हृदय	१	छाती	सिरा	सद्यःप्राणहर	Heart

इति भास्करशर्मणा गोविंदात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां शारीरस्थाने प्रत्येकमर्मनिर्देशशारीरं नाम षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ॥६॥

सप्तमोऽध्यायः ।

अथातः सिरावर्णविभक्तिं नाम शारीरं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब इसके बाद सिरावर्णविभक्ति नामक शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥१॥

वक्तव्य—सिरावर्णविभक्तिम्—सिराणां वातादिवहानां वर्णानां चारुणनीलशुक्ललोहितानां विभक्तिर्विभागः समुदायात् पृथक्करणं यस्मिन् शारीरे तत्तथाविधम् ॥ वर्ण का अर्थ गुणवर्णन, ऐसा भी होता है । हाराणचन्द्र के सुश्रुत में 'सिरावर्णनविभक्ति' ऐसा पाठ है ।

सप्त सिराशतानि भवन्ति; याभिरिदं शरीरमाराम इव जलहारिणीभिः केदार इव च कुल्याभिरुपस्निह्यतेऽनुगृह्यते चाकुञ्चनप्रसारणादिभिर्विशेषैः; द्रुमपत्रसेवनीनामिव च तासां प्रतानाः; तासां नाभिर्मूलं, ततश्च प्रसरन्त्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च ॥२॥

भवतश्चात्र—

यावत्यस्तु सिराः काये संभवन्ति शरीरिणाम् ।
नाभ्यां सर्वा निबद्धास्ताः प्रतन्वन्ति समन्ततः ॥३॥
नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिर्व्युपाश्रिता ।
सिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः ॥४॥

सात सौ सिराएँ होती हैं । जैसे (बड़ी बड़ी) जलहारिणियों (नालियों) द्वारा उपवन का और (छोटी छोटी) क्यारियों द्वारा खेत का उपस्नेहन और परिपोषण होता है, वैसे ही इन सिराओं द्वारा आकुंचन एवं प्रसारण आदि कर्मों से इस शरीर का उपस्नेहन और परिपालन होता है । वृक्षों के पत्तों की सेवनी की तरह इनके प्रतान होते हैं । इन सिराओं का मूल नाभि है और वहाँ से ऊपर-नीचे और आस-पास ये फैलती हैं ॥२॥ यहाँ पर दो श्लोक हैं—प्राणियों के शरीर में जितनी सिराएँ उत्पन्न होती हैं, वे सब नाभि से संबंध रखती हुई चारों ओर फैलती हैं ॥३॥ प्राणियों के प्राण नाभि में स्थित होते हैं और प्राणों पर नाभि आश्रित है । जैसे, पहिये का मध्य अरों से घिरा हुआ रहता है, वैसे ही सिराओं से नाभि आवृत (घिरी हुई) रहती है ॥४॥

वक्तव्य—दूसरे सूत्र में तथा उपसंहारात्मक नीचे के दो श्लोकों में सिराओं की रचना तथा कार्य की दृष्टि से संपूर्ण वर्णन संक्षेप में दिया गया है । यहाँ पर सिरा शब्द रक्तवाहिनी (Blood vessel) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इसमें अर्थानुरोध से रसवाहिनी (Lymphatic vessel) का भी समावेश होता है । आराम इव जलहारिणीभिः केदार इव कुल्याभिः—पुष्प, फल, वृक्षयुक्त संपूर्ण क्षेत्र विशेष आराम या बगीचा कहलाता है । बगीचे के हर एक हिस्से में बड़ी बड़ी पक्की नालियों द्वारा कुएँ का पानी पहुँचाया जाता है, परंतु इन नालियों से बगीचे के किसी भी वृक्ष या पौधे का उपस्नेहन या पोषण नहीं होता । इसके लिए नजदीक की पक्की नाली से पौधे तक छोटी कच्ची नाली या क्यारी बनाई जाती है, जो पौधे का उपस्नेहन से पोषण करती है । शरीर में भी बगीचे के समान शरीर के हर एक हिस्से में रक्त पहुँचाने वाली बड़ी बड़ी पक्की नालियाँ होती हैं और इन पक्की नालियों से छोटी छोटी कच्ची नालियाँ हर एक धातु के पास जाकर उसका पोषण करती हैं । इसलिए 'एतद् दृष्टान्तद्वयं स्थूलसूक्ष्मसिराप्रापणार्थम्' यह डल्हणाचार्य का वचन बहुत यथार्थ है । अब यहाँ पर आराम का जो दृष्टान्त दिया है वह एकदेशीय है, इसलिए कि कूप से पक्की नालियों द्वारा बाहर गया हुआ पानी फिर से कूप में वापस नहीं आता, परन्तु शरीर में मूलस्थान से नालियों द्वारा बाहर निकला हुआ रक्त फिर से दूसरी नालियों द्वारा मूलस्थान में वापस आता है । इसलिए बगीचे के समान शरीर में एक प्रकार की रक्त को ले जाने वाली नालियों से काम नहीं बनता; रक्त को ले जाने वाली और वापस ले आने वाली नालियों की आवश्यकता होती है । वापस लाने वाली नालियों के भी दो प्रकार होते हैं—एक प्रकार में रक्त होता है और दूसरे प्रकार में लसिका होती है । इस तरह शरीर में चार प्रकार की नालियाँ होती हैं—एक मूलस्थान से रक्त ले जाने वाली, जिसको आधुनिक परिभाषा में धमनी (Artery) कहते हैं; दूसरी रक्त वापस ले जाने वाली, जिसको आधुनिक परिभाषा में सिरा (Vein) कहते हैं; तीसरी सिरा और धमनी को जोड़ने वाली सूक्ष्म, जिसको केशिका (Capillary) कहते हैं; और चौथी लसिका को ले आने वाली, जिसको लसिकावाहिनी (Lymphatic vessels) कहते हैं । सिरा में यहाँ पर इन चारों का समावेश होता है । उपस्निह्यते—बगीचे में जो

१ सिरावर्णविभक्तिशारीरं. २ प्रवर्तन्ते.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पक्की और बड़ी बड़ी नालियाँ होती हैं उनके द्वारा यद्यपि बगीचे के हर एक हिस्से में पानी फैलता है तथापि उनसे बगीचे के किसी पेड़ या पौधे को पानी का एक भी बूँद नहीं मिलता, क्योंकि उनकी दीवाल में से पानी बाहर नहीं जा सकता। पेड़ों का पोषण पक्की नालियों से स्थान स्थान पर जो छोटी नालियाँ या क्यारियाँ बनाई जाती हैं, उनसे होता है। इसका कारण यह है कि उनकी दीवाल कच्ची होने के कारण पानी उनसे रिसकर चारों ओर फैलकर समीपवर्ती वनस्पतियों को मिलता है। शरीर में भी ऐसी ही व्यवस्था है। ऊपर जो चार प्रकार की नालियाँ वर्णन की गई हैं, उनमें दो नालियाँ (सिरा और लसिका-वाहिनी) अशुद्ध रक्त तथा लसिका का वाहन करती हैं, अतः उनके रक्तलसिका से शरीरपोषण का सवाल ही नहीं उठता। बाकी जो दो नालियाँ हैं, उनमें शुद्ध रक्त बहता है। अतः धातुपोषण के साथ इनका घनिष्ठ संबंध होता है। इनमें धमनियाँ बगीचे की पक्की नालियों के समान हैं, जो शरीर के हर एक हिस्से में शुद्ध रक्त की रसीद पहुँचाने का काम किया करती हैं। इनकी दीवाल काफी मोटी (आगे आकुञ्चन-प्रसारणादि की टिप्पणी देखो) होती है, जिसमें से होकर रक्त बाहर नहीं जा सकता। दूसरी वाहिनी (केशिकाएँ) शरीरपोषण के काम में आती हैं। इन केशिकाओं की दीवाल अत्यन्त पतली, एकहरी, चपटी अन्तःस्तर सेलों की (Single layer of flattened endothelial cells) बनती है। इन केशिकाओं में से जब रक्त बहता है, तब दीवाल पतली होने के कारण रक्त का कुछ भाग रिसकर आस-पास की धातुओं में फैलकर उनका पोषण करता है। उपस्नेहन का यही अर्थ है और यह कार्य केशिकाओं की दीवाल से रक्त के निःस्रवण (Exudation) से होता है। सिराओं की दीवाल भी धमनी प्राचीर से कम होने पर भी काफी मोटी होती है, जिसके कारण उससे रक्त का निःस्रवण नहीं हो सकता। निदान अध्याय १ श्लोक १७ की टिप्पणी भी देखो। आकुञ्चनप्रसारणादिभिर्विशेषैः—इन क्रियाओं के द्वारा सिराओं की बनावट बताई गई है तथा उपस्नेहन का कारण प्रदर्शित किया गया है। धमनी, सिरा और केशिका इनकी दीवाल की मोटाई यद्यपि भिन्न भिन्न होती है तथापि प्रत्येक की दीवाल में लचकीले तन्तु (Elastic fibers) होते हैं, जिनके कारण इन नालियों में संकोच-विकास तथा स्थिति-स्थापकता का गुण आ जाता है। केशिकाओं की पतली पतली दीवारों में से रक्त का कुछ तरल भाग चूकर बाहर निकलता है और आस-पास की धातुओं का पोषण करता है क्योंकि इस तरल भाग में सेलों के लिए आवश्यक सब चीज उपस्थित रहती हैं। केशिकाओं की दीवारों में से लसिकानिःस्रवण होने के लिए जैसे उनकी प्रवेश्यता (Permeability) कारण होती है, वैसे ही रक्त का भार भी कारण होता है। यह रक्त का भार जैसे हृदय-संकोच के ऊपर निर्भर होता है, वैसा ही वाहिनियों की स्थिति-स्थापकता के ऊपर निर्भर होता है। संक्षेप में, सिराओं की संकोच-विकासशीलता और स्थितिस्थापकता उपस्नेहन के लिए आवश्यक होती है। द्रुमपत्रसेवनीनामिव प्रतानाः—वृक्षों के पत्तों का यह दृष्टान्त बहुत समर्पक है। पत्रसेवनी प्रतानों का यदि यथार्थ चित्र देखना हो तो पानी में थोड़ी देर तक सड़ने के पश्चात् सूखे हुए पत्र को देखना चाहिए। इस प्रकार के जालीदार पत्र कई बार देखने में आते हैं। सीवन से यहाँ पर पत्रों के मध्य में होने वाली मोटी सिरा तथा उसकी मोटी शाखाएँ अभिप्रेत हैं। इन सीवनियों से छोटी छोटी शाखाएँ निकलती हैं। उनसे सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम इस तरह उत्तरोत्तर सूक्ष्म प्रशाखाएँ निकलकर संपूर्ण पत्र प्रतानों से व्याप्त होता है। शरीर में भी रक्त-वाहिनियों की यही स्थिति रहती है और उनके प्रतान यहाँ तक सूक्ष्म होते हैं कि वे चर्मचक्षु से नहीं दिखाई देते। प्रतानों से यहाँ पर धमनिकाओं और केशिकाओं (Arterioles and capillaries) का बोध होता है। केशिकाओं की साधारण मोटाई $\frac{१}{२०००}$ इंच के लगभग होती है। नाभिर्मूलम्—यह मूल यावत्काल प्राणियों का अवस्थान माता के शरीर में होता है, तावत्काल होता है। जन्म के पश्चात् नाभि-संबद्ध सिराएँ सिकुड़ जाती हैं। अतः जन्मोत्तरकाल में सिराओं का मूल नाभि न होकर हृदय होता है। अर्थात् सुश्रुत का वर्णन गर्भकालीन है। अष्टांगहृदय और अष्टांगसंग्रह में इन सिराओं का मूल हृदय बताया है, अर्थात् वाग्भट का वर्णन जन्मोत्तरकालीन है—दश मूलसिरा हृत्स्थास्ताः सर्वं सर्वतो वपुः। रसात्मकं वहन्त्योजस्तन्निबद्धं हि चेष्टितम्। स्थूलमूलाः सुसूक्ष्माग्राः पत्ररेखाप्रतानवत्। भिद्यन्ते तास्ततः सप्तशतान्यासां भवन्ति तु॥ (अष्टांगहृदय ३)। दश मूलसिरा हृदयप्रतिबद्धाः सर्वाङ्गप्रत्यङ्गेष्वोजो नयन्ति। तास्तु द्व्यङ्गुलमंगुलमर्धाङ्गुलं यवं यवार्धं च गत्वा द्रुमपत्रसेवनीप्रतानवद्भिद्यमानाः सप्तशतानि भवन्ति। (अष्टांगसंग्रह)। ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च—संपूर्ण शरीर में। संभवन्ति शरीरिणाम्—इससे भी यह स्पष्ट होता है कि गर्भाशय में जब जीवात्मा का शरीर उत्पन्न होता है, उस काल की दृष्टि से नाभि सिराओं का मूल माना गया है और एक दृष्टि से यह कथन ठीक भी है क्योंकि नाभि की सिरा या नाडी से ही गर्भ का पोषण होता है और गर्भ शरीर की प्रत्येक सिरा का संबंध नाभि सिरा के साथ रहता है, जिसमें शरीरपोषक रक्त बहता है। नाभि शरीर की उत्पत्ति के समय याने प्रारंभ में सिराओं का उत्पत्तिस्थान होने के कारण जन्म के पश्चात् भी वह सिराप्रभव ही माना जाता है। इसलिए नाभिमर्म के वर्णन में नाभि (छठे अध्याय के ३३वें सूत्र में देखो) सिराप्रभव बतलाई है। इसका अर्थ है जिससे शरीरोत्पत्ति के समय में सिराओं का संभव होता है, ऐसी। प्राणाः—नाभिस्थ होने के कारण पिछले अध्याय के ४५वें श्लोक के आधार पर प्राणों से सोममारुतादि का ग्रहण हो सकता है, पर यहाँ पर प्राणों का अधिष्ठान प्राणरूप रक्त का ग्रहण करना ही उचित है—प्राणः प्राणभृतां रक्तम्। (अष्टांगसंग्रह सूत्र० ३६)। तद्विशुद्धं हि रुधिरं बलवर्णसुखायुषा। युनक्ति प्राणिनं, प्राणः शोणितं ह्यनुवर्तते॥ (चरक, सूत्र० २४)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

माता के शरीर से आया हुआ पोषक रक्त अपरा में, अपरा से नाडी में, नाडी से नाभि में और नाभि से गर्भशरीर में (३ अध्याय का ३९वाँ सूत्र देखो) प्रवेश करता है। जब किसी कारण से नाभिनाडी का पीड़न होता है, तब प्राणरूप रक्त के प्रवाह में बाधा उत्पन्न होने के कारण गर्भ की मृत्यु हो जाती है। चक्रनाभिरिवारकैः—यह एक कल्पनासृष्टि है, वास्तविक स्थिति नहीं है। नाभि में प्रविष्ट हुई सिरा से संपूर्ण शरीर का पोषण होता है और संपूर्ण शरीर का पोषण होने के लिए सिराओं का संपूर्ण शरीर में फैलना आवश्यक है। यह कार्य किस प्रकार से हो सकता है, इसकी कल्पना दृष्टिगम्य करने के लिए आरों का दृष्टान्त दिया गया है। जैसे, पहिये के घेरे को सहारा देने के लिए नाभि के चारों ओर उससे निकले हुए अनेक आरे होते हैं, वैसे ही शरीर का पोषण करने के लिए नाभि से चारों ओर उससे निकली हुई अनेक सिराएँ होती हैं; यही इस दृष्टान्त का तात्पर्य है। पहिये में आरों की संख्या बहुत होती है और जितनी संख्या अधिक होगी, उतनी अधिक मजबूती घेरे में आ जाती है। इन आरों की संख्या की महत्तम मर्यादा नियत होने की आवश्यकता नहीं होती; आठ, दस, बारह, पंद्रह जितने चाहें उतने आरे रख सकते हैं। परंतु अल्पतम मर्यादा नियत होना आवश्यक होता है। पहिये के घेरे का सहारा न एक आरे से हो सकता है, न दो आरों से हो सकता है। कम से कम इनकी संख्या तीन होना आवश्यक होता है। जहाँ पर अधिक भार सहन करने का सवाल नहीं आता, वहाँ पर तीन आरों से काम भली भाँति निकल आता है। बच्चों के खिलौने की मोटर-रेलगाड़ी के पहियों में अकसर तीन ही आरे होते हैं। गर्भ के नाभिचक्र के भी तीन आरे होते हैं। एक आरा ऊपर की ओर होता है और दो नीचे की ओर होते हैं। आधुनिक परिभाषा के अनुसार ऊपर का आरा संवाहिनी सिरा (Umbilical vein) और नीचे के आरे दक्षिण और वाम संवाहिनी धमनियाँ (Left and right umbilical arteries) कहलाते हैं। ये तीनों आरे तीन दिशा से आकर नाभि में मिलते हैं और तीनों नाभि के बाहर आकर नाभिनाड़ी के घटक बनते हैं। अपरा के गार्भिक पृष्ठभाग पर सिराओं की रचना 'चक्रनाभिरिवारकैः' के समान होती है, इसलिए कुछ लोग यह वर्णन अपरा के लिए लागू करते हैं। परंतु यह अपरा का वर्णन न होकर नाभि का ही वर्णन है और उसको भी ठीक लागू हो सकता है, यह उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट मालूम होगा। तीसरे सूत्र में सिराओं का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। चौथे और पाँचवें श्लोक में नाभि का महत्त्व और वर्णन किया गया है। अब इसके बाद सिराओं का विभागशः वर्णन किया जाता है।

तासां मूलसिराश्चत्वारिंशत्; तासां वातवाहिन्यो दश, पित्तवाहिन्यो दश, कफवाहिन्यो दश, दश रक्तवाहिन्यः। तासां तु वातवाहिनीनां[1] वातस्थानगतानां पञ्चसप्ततिशतं भवति, तावत्य एव पित्तवाहिन्यः पित्तस्थाने, कफवाहिन्यश्च कफस्थाने, रक्तवाहिन्यश्च यकृत्प्लीह्नोः, एवमेतानि सप्त सिराशतानि ॥५॥

(मूलसिरा और दोषवह सिराओं की संख्या—) इन (सात सौ शिराओं) की मूल सिराएँ चालीस हैं। इन (चालीस शिराओं) में वातवहन करने वाली दस, पित्तवहन करने वाली दस, कफवहन करने वाली दस, रक्तवहन करने वाली दस (होती हैं)। वातस्थान में होने वाली इन वातवह सिराओं की एक सौ पचहत्तर सिराएँ होती हैं; पित्तस्थान में पित्तवाहिनी सिराएँ, कफस्थान में कफवाहिनी सिराएँ, यकृत् और प्लीहा में रक्तवाहिनी सिराएँ उतनी ही (होती हैं)। इस प्रकार ये सात सिराशत (हो जाते हैं) ॥५॥

वक्तव्य—मूलसिरा—इससे वातादि विभाग की मूल सिराएँ अभिप्रेत हैं। मूल जो नाभि या हृदय, इससे चालीस सिराएँ उत्पन्न होती हैं; ऐसा इसका अभिप्राय नहीं है। वातस्थानगतानाम्—निदान के प्रथम अध्याय के १२–१८ तक के श्लोकों में वायु के स्थान दिये हैं, उन स्थानों में होने वाली सिराओं की—पक्वाशयकटीसक्थिश्रोत्राऽस्थिस्पर्शनेन्द्रियम्। स्थानं वातस्य। (अष्टांगहृदय, सूत्र १२)। पित्तस्थान, कफस्थान—पित्त और कफ के स्थान सूत्रस्थान के व्रणप्रश्न नामक एक बीसवें अध्याय के छठे और बारहवें सूत्र में वर्णन किये हैं—नाभिरामाशयः स्वेदो लसिका रुधिरं रसः। दृक्स्पर्शनं च पित्तस्य ॥ उरःकण्ठशिरःक्लोमपर्वाण्यामाशयो रसः। मेदो घ्राणं च जिह्वा च कफस्य सुतरामुरः ॥ (अष्टांगहृदय, सूत्र १२)।

तत्र वातवाहिन्यः सिरा एकस्मिन् सक्थ्नि पञ्चविंशतिः, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ। विशेषतस्तु कोष्ठे चतुस्त्रिंशत्; तासां गुदमेढ्राश्रिताः श्रोण्यामष्टौ, द्वे द्वे पार्श्वयोः, षट् पृष्ठे, तावत्य एव चोदरे, दश वक्षसि। एकचत्वारिंशज्जत्रुण ऊर्ध्वं, तासां चतुर्दश ग्रीवायां, कर्णयोश्चतस्रः, नव जिह्वायां, षट् नासिकायां, अष्टौ नेत्रयोः, एवमेतत् पञ्चसप्ततिशतं वातवहानां सिराणां व्याख्यातं भवति। एष एव विभागः शेषाणामपि। विशेषतस्तु पित्तवाहिन्यो नेत्रयोर्दश, कर्णयोर्द्वे; एवं रक्तवहाः कफवहाश्च। एवमेतानि सप्त सिराशतानि सविभागानि व्याख्यातानि ॥६॥

(दोषवह सिराओं का पृथक् पृथक् संख्यान—) इनमें एक टाँग में वातवाही सिराएँ पच्चीस होती हैं। इससे दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं का भी व्याख्यान हो जाता है। कोष्ठ में विशेषतः चौतीस (सिराएँ होती हैं)। इनमें

[1] वातवाहिनीनां.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गुदा, शिश्न और श्रोणि में आठ, पार्श्वों में दो दो, पीठ में छः, उदर में उतनी ही (छः), छाती में दस । जत्रु के ऊपर एकतालीस (सिराएँ होती हैं)। उनमें ग्रीवा में चौदह, कानों में चार, जिह्वा में नौ, नासा में छः, दोनों आँखों में आठ; इस प्रकार (शाखा, कोष्ठ, और सिर में मिलाकर) एक सौ पचहत्तर वातवाही सिराओं का व्याख्यान हो जाता है। शेष (पित्त, कफ और रक्तवाही सिराओं) का यही विभाग होता है । विशेषतया (भेद इतना ही है कि) पित्तवाहिनी सिराएँ आँखों में दस और कानों में दो हैं। इसी प्रकार रक्तवह और कफवह सिराएँ होती हैं)। इस प्रकार विभागशः सात सौ सिराएँ वर्णन की गई हैं ॥६॥

वक्तव्य—एष एव विभागः शेषाणामपि विशेषतस्तु— इस सूत्र में एक सौ पचहत्तर वातवाही सिराओं का प्रत्यङ्ग विभाग वर्णन किया है। उसी के अनुसार पित्त, कफ और रक्त इनका वहन करने वाली सिराओं का प्रसंग होता है। भेद केवल इतना ही है कि जहाँ नेत्रों में वातवाही आठ हैं, वहाँ पित्तवाहिनी, कफवाहिनी और रक्तवाहिनी दस हैं; और जहाँ कानों में वातवाहिनी चार हैं, वहाँ पित्त कफ-रक्तवाहिनियाँ दो दो हैं।

भवन्ति चात्र—

क्रियाणामप्रतीघातममोहं बुद्धिकर्मणाम् ।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि स्वाः सिराः पवनश्चरन् ॥७॥

(वातवह सिराओं का प्राकृत कर्म—) अपनी सिराओं में संचार करता हुआ वात (शारीरिक) क्रियाओं को अप्रतिहत रूप से बुद्धि के कर्मों के व्यवसायात्मक रूप से और (तन्त्र-यन्त्र धारण के लिए आवश्यक) अन्य गुणों को भी (उसी तरह अप्रतिहत रूप से) करता है ॥७॥

वक्तव्य—क्रियाणाम्—कायक्रियाणां प्रसारणाकुञ्चनादीनां, वाक्क्रियाणां भाषितादीनाम् । (डल्हण) । अर्थात् इन क्रियाओं में हस्तपादादि अवयवों के आकुञ्चन-प्रसारणादि ऐच्छिक कर्म (Voluntary actions), तथा हृदयान्त्रादि अवयवों के प्रसारणाकुञ्चनादि अनैच्छिक कर्म (Involuntary) समाविष्ट होते हैं। बुद्धिकर्मणाम्—बुद्धि का स्वाभाविक कार्य व्यवसाय याने सारासार विचार करके निर्णय करना है। यह कार्य तब ठीक हो सकता है, जब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ और मन भी अपना काम ठीक करें । संक्षेप में पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इनके कर्मों का समावेश बुद्धि-कर्मों में होता है। अमोहम्—ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा प्राप्त हुए ज्ञान का ठीक ठीक उपयोग करना अमोह है । इससे Clearness का अर्थ निकलता है। हाराणचन्द्र 'बुद्धिकर्मणां बुद्धिकर्मेन्द्रियाणाममोहं दुःखाभावम्' ऐसा अर्थ करते हैं। परंतु 'क्रियाणाम्' पद से कर्मेन्द्रियों का ग्रहण होने के कारण फिर से उनका ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं है। अमोह से 'दुःखाभाव' का अर्थ भी ठीक मालूम नहीं होता, क्योंकि यहाँ पर वायु के स्वाभाविक (Physiological) कर्मों का निर्देश हो रहा है। बुद्धि की इन्द्रियों द्वारा अर्थों का ठीक ग्रहण होना, मन के द्वारा अर्थग्रहण में सहायता और उसका व्याकरण तथा बुद्धि के द्वारा उसका व्यवसाय ये इनके मोहविरहित कार्य हैं। जब ये कार्य ठीक नहीं होंगे तब मोहयुक्त कार्य होंगे। इसमें दुःख का कोई संबंध नहीं है। (व्यवसाय और व्याकरण शब्दों के अर्थ के लिए प्रथम अध्याय के ३ सूत्र का वक्तव्य देखो)। अन्यान् गुणांश्चापि— वायु के जो अन्य गुण होते हैं, उनको भी करने वाला। इन गुणों का वर्णन निदानस्थान के नौवें श्लोक के वक्तव्य में (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३१८) 'वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः' इस चरक वचन से किया गया है । इस श्लोक के तथा १४ तक के श्लोकों के अर्थ के लिए आगे सोलहवें श्लोक का वक्तव्य भी देखो।

यदा तु कुपितो वायुः स्वाः सिराः प्रतिपद्यते ।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते वातसंभवाः ॥८॥

(कुपित वातवह सिराओं के कर्म—) जब कुपित हुआ वात अपनी सिराओं में प्राप्त होता है, तब शरीर के (अस्य) विविध वातजन्य रोग उत्पन्न होते हैं ॥८॥

भ्राजिष्णुतामन्नरुचिमग्निदीप्तिमरोगताम् ।
संसर्पत्स्वाः सिराः पित्तं कुर्याच्चान्यान्गुणानपि ॥९॥

(प्राकृत पित्तवह सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में संचार करता हुआ पित्त (शरीर में) कान्ति, अन्न में रुचि, जठराग्नि की प्रखरता, नीरोगता तथा अन्य गुणों को भी करता है ॥९॥

यदा प्रकुपितं पित्तं सेवते स्ववहाः सिराः ।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते पित्तसंभवाः ॥१०॥

(कुपित पित्तवह सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ पित्त अपनी सिराओं का आश्रय करता है, तब शरीर में विविध पित्तजन्य विकार उत्पन्न होते हैं ॥१०॥

स्नेहमङ्गेषु सन्धीनां स्थैर्यं बलमुदीर्णताम् ।
करोत्यन्यान् गुणांश्चापि बलासः स्वाः सिराश्चरन् ॥११॥

(प्राकृत कफवह सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में संचार करता हुआ कफ अंगों में चिकनाई, संधियों की स्थिरता, शक्ति, उत्साहशीलता तथा अन्य गुणों को करता है ॥११॥

यदा तु कुपितः श्लेष्मा स्वाः सिराः प्रतिपद्यते ।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते श्लेष्मसंभवाः ॥१२॥

(कुपित कफवह सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ कफ अपनी सिराओं में प्राप्त होता है, तब शरीर के विविध कफजन्य विकार होते हैं ॥१२॥

धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम् ।
स्वाः सिराः संचरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि ॥१३॥

(प्राकृत रक्तवह सिराओं के कार्य—) अपनी सिराओं में संचार करता हुआ रक्त धातुओं का पोषण, (शरीर का)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...वर्ण, स्पर्शज्ञान और अन्य गुणों को निःसंशय करता है ॥१३॥

यदा तु कुपितं रक्तं सेवते स्ववहाः सिराः ।
तदाऽस्य विविधा रोगा जायन्ते रक्तसंभवाः ॥१४॥

(कुपित रक्तवह सिराओं के कार्य—) जब कुपित हुआ रक्त अपनी सिराओं में आता है, तब शरीर के विविध रक्तज रोग उत्पन्न होते हैं ॥१४॥

न हि वातं सिराः काश्चिन्न पित्तं केवलं तथा ।
श्लेष्माणं वा वहन्त्येता अतः सर्ववहाः स्मृताः ॥१५॥
प्रदुष्टानां हि दोषाणां[1] मूर्च्छितानां प्रधावताम् ।
ध्रुवमुन्मार्गगमनमतः सर्ववहाः स्मृताः ॥१६॥

(सिराओं का सर्ववहत्व—) कोई भी सिराएँ केवल वात, पित्त अथवा कफ का वहन नहीं करतीं; अतः सिराएँ सर्ववह कहलाती हैं ॥१५॥ कुपित हुए, (स्वप्रमाण से) बढ़े हुए (शरीर में) संचार करने वाले दोषों का अपना स्वाभाविक मार्ग छोड़कर दूसरे के मार्ग में जाना निश्चित होता है। इसलिए सिराएँ सर्ववह कहलाती हैं ॥१६॥

वक्तव्य—ऊपर पाँचवें सूत्र में शरीरगत सात सौ सिराओं के वातादिवह करके चार प्रकार बताये गये हैं, तथा उसके पश्चात् के श्लोकों में प्रत्येक प्रकार की सिराओं के पृथक् पृथक् कर्म भी वर्णन किये गये हैं। इससे यह कल्पना हो जाती है कि शरीर में वातवह, पित्तवह, श्लेष्मवह और रक्तवह चार स्वतन्त्र सिरासमूह होते हैं और प्रत्येक समूह अपना कार्य स्वतन्त्रतया करता है। इस कल्पना को दूर करने के लिए पंद्रहवें और सोलहवें श्लोक में सिराओं का सर्ववहत्व सकारण सिद्ध किया गया है। पाश्चात्त्य वैद्यक में शरीरपोषण की दृष्टि से रक्त को जो महत्त्व है, वह आयुर्वेद में रस को महत्त्व है। पाश्चात्त्य परिभाषा में रक्तपरिभ्रमण कहते (Blood circulation) हैं, आयुर्वेद में रस संवहन कहते हैं—कृत्स्नदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः ॥ आयुर्वेद की यह कल्पना भी ठीक है। धातुओं के लिए पोषकद्रव्य रस में ही होते हैं, जिनको ग्रहण करके धातुओं का पोषण होता है। रस में लाल कण (Red Blood corpuscles) मिलाने पर रक्त बनता है। ये लाल कण प्राणवायु का ग्रहण करके पोषक द्रव्यों के सात्म्यीकरण में सहायता करते हैं। यह कार्य आयुर्वेद के अनुसार पित्त का है, इसलिए कभी कभी रक्त एक स्वतन्त्र दोष गिना जाता है और उसके गुणकर्म पित्त के समान माने जाते हैं। सूत्रस्थान के २१वें अध्याय में तथा यहाँ पर भी रक्त का उल्लेख स्वतन्त्र दोष के तौर पर किया गया है—नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात्। शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते ॥ (सूत्र २१)। शरीर की सात सौ सिराएँ आराम की जलहारिणियों के समान रसहारिणियाँ (द्वितीय सूत्र) हैं और उन्हीं के द्वारा संपूर्ण शरीर का पोषण होता है, इस बात को कदापि भी न भूलना चाहिए। इसके पश्चात् यह बताया है कि इनमें कुछ वातवह हैं, कुछ पित्तवह हैं, कुछ कफवह हैं और कुछ रक्तवह हैं। अन्त में यह बताया है कि सब सिराएँ सर्ववह हैं। वातादिवह सिराएँ केवल अपने याने तत्तत् दोषस्थान में ही होती हैं, परंतु दोष सर्वशरीरव्यापी होते हैं—दोषधातुमलमूलो हि देहः। (अष्टांगसंग्रह)। ते व्यापिनः। (अष्टांगहृदय)। इसलिए अन्य स्थान में वे अन्यों की सिराओं में से बहते हैं, यह सिद्ध है। इससे भी सिराओं का सर्ववहत्व निश्चित है। इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि शरीर में सिराओं के द्वारा पोषक रस बहता है और उस पोषक रस रूप वाहन पर आरूढ होकर वातादि दोष संपूर्ण शरीर में भ्रमण करके अपना अपना कार्य किया करते हैं। संक्षेप में, वातादि दोषों का कार्य आधुनिक परिभाषा में जिनको Blood vessels कहते हैं उन्हीं के द्वारा होता है, यह निश्चित है। अब वातादिवह सिराओं के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि जिन स्थानों में वातादि दोषों की उत्पत्ति होती है, उन स्थानों की सिराओं में उन दोषों की अधिकता होती है और 'व्यपदेशस्तु भूयसा' इस न्याय से किंवा 'उत्कर्षापकर्षात्तु ग्रहणम्' इस दृष्टि से वे सिराएँ वातादिवह कहलाती हैं; अर्थात् उन सिराओं में भी अन्य दोष न्यून मात्रा में उपस्थित रहते हैं। इस दृष्टि से प्राकृत और विकृत वातादिवह सिराओं का वर्णन केवल प्राकृत और विकृत वातादि दोषों के गुणों का ही वर्णन है। भेद इतना ही है कि वातादि दोष किसके ऊपर आरूढ होकर कार्य करते हैं, इसका स्पष्टीकरण यहाँ पर हो जाता है। अब सातवें श्लोक में वातवह सिराओं का वर्णन देखकर आधुनिक शारीरकार्य विज्ञान (Physiology) के साथ उस श्लोक का अर्थ मिलाने की दृष्टि से वातवह सिराओं को कुछ लोग Nerves कहते हैं, परंतु वे नर्वस नहीं हैं; रक्तवह सिराएँ हैं। आयुर्वेद में (तान्त्रिक या वैदिक ग्रंथों का यहाँ विचार नहीं है) मस्तिष्कसंस्थान का वर्णन अंगविनिश्चय (Anatomically) की दृष्टि से कहीं भी नहीं मिलता। मस्तिष्क का जो वर्णन मिलता है (चौथे अध्याय के ३३वें श्लोक का वक्तव्य देखो), वह अत्यंत अल्प और गौणरूप से मिलता है। परंतु मस्तिष्कसंस्थान के सब कार्यों का विवरण मिलता है और वे कार्य रक्त या रस की वाहिनियों द्वारा उनके साथ परिभ्रमण करने वाले वायु के कारण होते हैं, ऐसा माना गया है। एक दृष्टि से यह कल्पना ठीक भी है। जैसे, एक स्थान पर अधिक देर तक निश्चल बैठने से पैरों में झुनझुनी पैदा होती है। यह लक्षण नर्वस (Nervous) है, परंतु पैरों की नर्वस को रक्त न मिलने के कारण उत्पन्न हुआ है। आयुर्वेद आधुनिक नर्वस सिस्टम (मस्तिष्कसंस्थान) के कार्यों का विवरण वातदोष से रक्त ही के द्वारा करता है। इसलिए कार्य की दृष्टि से नर्व मालूम होने पर भी उसको नर्व मानने की आवश्यकता नहीं है। जैसे—यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः। तदाक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः ॥ मुहुर्मुहुस्तदाक्षेपादाक्षेपक इति स्मृतः ॥ यहाँ पर धमनी शब्द

[1] दोषाणामुच्छ्रितानां.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नर्व(नाडी)वाचक मालूम होता है, परंतु वास्तव में आयुर्वेद की कल्पना के अनुसार वह सचमुच धमनी(Artery)-वाचक है । इसका कुछ अधिक विवरण आगे धमनी-व्याकरण अध्याय के दूसरे सूत्र के वक्तव्य में किया गया है ।

तत्रारुणा वातवहाः पूर्यन्ते वायुना सिराः ।
पित्तादुष्णाश्च नीलाश्च, शीता गौर्यः स्थिराः कफात् ।
असृग्वहास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युष्णशीतलाः ॥१७॥

(वातादिवह सिराओं के लक्षण—) इन (चतुर्विध सिराओं) में वातवह सिराएँ अरुण (किञ्चित् रक्तवर्ण) और वायु से भरी हुई होती हैं; पित्त से उष्ण और नील वर्ण होती हैं; कफ से गौरवर्ण, शीतल और स्थिर होती हैं; और रक्तवह सिराएँ रक्तवर्ण, न बहुत शीतल न उष्ण होती हैं ॥१७॥

वक्तव्य—यहाँ पर शरीरगत सिराओं के जो चार प्रकार वर्णन किये हैं, उनके लिए आधुनिक पारिभाषिक पर्यायशब्द निम्न प्रकार से दे सकते हैं । अरुणा सिरा—तत्र श्यावारुणाः प्रस्पन्दिन्यः सूक्ष्माः क्षणपूर्णरिक्ता वातरक्तं वहन्ति । (अष्टांगसंग्रह) । रोहिणी सिरा—समा गूढाः स्निग्धा रोहिण्यः शुद्धरक्तम् । (अष्टांगसंग्रह) । ये दोनों प्रकार धमनी या शुद्धरक्तवाहिनी (Artery) के पर्याय है । पित्तवह नीला सिरा वास्तविक सिरा (Vein) का पर्याय हैं और कफवह सिराओं को लसिकावाहिनी (Lymphatics) का पर्याय समझ सकते हैं । सिराओं से नर्व या नाड़ी का बोध कदापि भी नहीं हो सकता, इसका विवरण पीछे किया गया है । परंतु जो केवल अर्थ के अनुसार ही अंगविनिश्चय करना चाहते हैं, शारीरिकदृष्ट्या नहीं, वे सिराओं का अर्थ स्थान स्थान नर्व भी कर लेते हैं । पं० गंगाधर शास्त्री अरुण सिराओं से स्वतन्त्र नाडियाँ (Sympathetic nerve fibres which carry on all the involuntary vital functions) समझते हैं ।

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि न विध्येद्याः सिरा भिषक् ।
वैकल्यं मरणं चापि व्यधात्तासां ध्रुवं भवेत् ॥१८॥
सिराशतानि चत्वारि विद्याच्छाखासु बुद्धिमान् ।
षट्त्रिंशच्च शतं कोष्ठे चतुःषष्टिं च मूर्धनि ॥१९॥
शाखासु षोडश सिराः कोष्ठे द्वात्रिंशदेव तु ।
पञ्चाशज्जत्रुणश्चोर्ध्वमव्यध्याः परिकीर्तिताः ॥२०॥

(अव्यध्य सिराविभाग—) अब इसके बाद जिन सिराओं का वेध वैद्य को न करना चाहिए, उनको कहेंगे । उनके वेध से वैकल्य तथा मृत्यु निश्चय से हो जाती है ॥१८॥

(प्रत्यंगसिरापरिगणन—) बुद्धिमान् वैद्य शाखाओं में चार सौ सिराओं को, कोष्ठ में एक सौ छत्तीस सिराओं को, और जत्रूर्ध्व में एक सौ चौसठ सिराओं को समझे ॥१९॥

(अव्यध्य सिरापरिगणन—) इनमें से शाखाओं में न वेधने योग्य सोलह सिराएँ, कोष्ठ में बत्तीस और जत्रूर्ध्व में पचास होती हैं ॥२०॥

तत्र सिराशतमेकस्मिन् सक्थ्नि भवति; तासां जालधरा त्वेका, तिस्रश्चाभ्यन्तराः—तत्रोर्वीसंज्ञे द्वे, लोहिताक्षसंज्ञा[1] चैका, एतास्त्वव्यध्याः; एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ; एवमशस्त्रकृत्याः षोडश शाखासु ॥२१॥

(शाखागत अवेध्य सिराएँ—) शाखागत चार सौ सिराओं में से (तत्र) एक टाँग में सौ सिराएँ होती हैं। इनमें बाहर की जालधरा एक और, अंदर की तीन—ऊर्वी नामक दो सिराएँ और लोहिताक्ष संज्ञक एक—अवेध्य होती हैं । इससे दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं का भी व्याख्यान हो गया । इस तरह (चारों) शाखाओं में सोलह सिराएँ अवेध्य हो गई हैं ॥२१॥

वक्तव्य—जालधरा—टाँग में इससे दीर्घोत्ताना सिरा (Great sapheneus) का बोध होता है, और बाहु में बहिर्बाहुका सिरा (Cephalic vein) का बोध होता है। ऊर्वी और लोहिताक्ष—टाँग में इनसे Femoral artery and vein तथा बाहु में Brachial artery, Basilic vein और Axillary artery and vein का बोध होता है।

द्वात्रिंशच्छ्रोण्यां, तासामष्टावशस्त्रकृत्याः—द्वे द्वे विटपयोः, कटीकतरुणयोश्च ॥२२॥

(श्रोणिप्रदेश की अवेध्य सिराएँ—) श्रोणिप्रदेश में बत्तीस सिराएँ होती हैं । इनमें से आठ अवेध्य हैं—विटपों की दो दो और कटीक तरुणों की दो दो ॥२२॥

वक्तव्य—विटप—इससे वृषणरज्जु (Spermatic cord) गत सिराओं का बोध होता है । कटीकतरुण—इससे Gluteal arteries and veins का ग्रहण होता है।

अष्टावष्टावेकैकस्मिन् पार्श्वे, तासामेकैकामूर्ध्वगां परिहरेत्, पार्श्वसन्धिगते च द्वे ॥२३॥

(पार्श्वों की अवेध्य सिराएँ—) एक एक पार्श्व में आठ आठ सिराए होती हैं । इनमें से एक एक ऊपर जाने वाली को और पार्श्वसंधिगत दो सिराओं को भी (शस्त्र से) बचाना चाहिए ॥२३॥

चतस्रो विंशतिश्च पृष्ठे[2] पृष्ठवंशमुभयतः, तासामूर्ध्वगामिन्यौ द्वे द्वे परिहरेद्बृहती सिरे ॥२४॥

(पृष्ठ की अवेध्य सिराएँ—) पृष्ठवंश के दोनों ओर पीठ में चौबीस सिराएँ हैं । इनमें से ऊपर की ओर जाने वाली बृहती नामक सिराओं का परिहार करे ॥२४॥

वक्तव्य—बृहती—इससे Subscapular artery का ग्रहण करना चाहिए ।

तावत्य एवोदरे, तासां मेढ्रोपरि रोमराजीमुभयतो द्वे द्वे परिहरेत् ॥२५॥

१ लोहिताक्षसंज्ञैका. २ पृष्ठे इति न पठ्यते केषुचित्.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(उदर की अवेध्य सिराएँ—) उतनी ही (चौबीस) सिराएँ उदर में हैं। उनमें से मेढ़ के ऊपर की रोमराजि के दोनों ओर की दो दो सिराओं का परिहार करे ॥२५॥

वक्तव्य—यहाँ पर शिश्न के ऊपर की जो अवेध्य सिराएँ हैं, उनसे Inferior epigastric vessels का ग्रहण करना चाहिए।

चत्वारिंशद्वक्षसि, तासां चतुर्दशाशस्त्रकृत्याः—हृदये द्वे, द्वे द्वे स्तनमूले, स्तनरोहितापलापस्तम्भेषूभयतोऽष्टौ; एवं द्वात्रिंशदशस्त्रकृत्याः पृष्ठोदरोरःसु भवन्ति ॥२६॥

(छाती की अवेध्य सिराएँ—) छाती में चालीस सिराएँ होती हैं; इनमें से चौदह अवेध्य हैं—हृदय में दो; स्तनमूल में दो दो; स्तनरोहित, अपलाप, अपस्तम्भ इनके दोनों ओर आठ; इस प्रकार पीठ, उदर और छाती में बत्तीस अवेध्य सिराएँ होती हैं ॥२६॥

वक्तव्य—स्तनरोहित इत्यादि—स्तनरोहितयोर्द्वे द्वे, अपलापयोरेकैका, अपस्तम्भयोरप्येकैका, एवमष्टावित्यर्थः। (डल्हण)। छाती की सिराओं से Internal mammary, Intercostals lateral thoracic arteries and their branches का ग्रहण करना चाहिए। हृदय की सिराओं से हृदयसंबंधित सिराओं को न समझकर हृदयप्रदेशवर्ती सिराओं का ग्रहण करना चाहिए।

चतुःषष्टिसिराशतं जत्रुण ऊर्ध्वं भवति; तत्र षट्पञ्चाशच्छिरोधरायां[1], तासामष्टौ चतस्रश्च मर्मसंज्ञाः परिहरेत्, द्वे कृकाटिकयोः, द्वे विधुरयोः, एवं ग्रीवायां षोडशाव्यध्याः ॥२७॥

(ग्रीवा की अवेध्य सिराएँ—) जत्रु के ऊपर एक सौ चौसठ सिराएँ होती हैं। इनमें से ग्रीवा में छप्पन सिराएँ होती हैं। उनमें से मर्मसंज्ञक बारह सिराएँ, दो कृकाटिका की, और दो विधुर की, इस प्रकार सोलह सिराएँ अवेध्य होती हैं ॥२७॥

वक्तव्य—मर्मसंज्ञाः—इससे Internal and external carotid arteries and jugular veins का बोध होता है। द्वे कृकाटिकयोः—इससे Occipal arteries और Veins का बोध होता है। द्वे विधुरयोः—इससे Posterior auricular arteries and veins का बोध होता है।

हन्वोरुभयतोऽष्टावष्टौ, तासां तु सन्धिधमन्यौ द्वे द्वे परिहरेत् ॥२८॥

(हनु की अवेध्य सिराएँ—) हनुसंधि के दोनों ओर आठ आठ सिराएँ हैं। उनमें से संधियों की दो दो धमनियों को छोड़ देवे ॥२८॥

वक्तव्य—संधिधमन्यौ—इससे Internal maxillary arteries and veins का बोध होता है।

षट्त्रिंशज्जिह्वायां, तासामधः षोडशाशस्त्रकृत्याः, रसवहे द्वे, वाग्वहे च द्वे ॥२९॥

(जिह्वा की अवेध्य सिराएँ—) जिह्वा में छत्तीस सिराएँ होती हैं; इनमें नीचे की सोलह सिराओं में दो रसवहा और दो वाग्वहा अवेध्य होती हैं ॥२९॥

वक्तव्य—अधःषोडशाशस्त्रकृत्याः—अधःषोडशोभयशस्त्रकृत्याः। रसवहे द्वे वाग्वहे द्वे—इससे Artery profunda linguae का बोध होता है।

द्विर्द्वादश नासायां, तासामौपनासिक्यश्चतस्रः परिहरेत्, तासामेव च तालुन्येकां मृदावुद्देशे ॥३०॥

(नासा की अवेध्य सिराएँ—) नासा में चौबीस सिराएँ हैं। उनमें से नासासमीपवर्ती चार सिराओं का परिहार करे। इन्हीं चौबीस में से तालु में मृदु प्रदेश में एक है (उसका भी परिहार करे) ॥३०॥

वक्तव्य—औपनासिक्यः—नासासमीपवर्ती । इससे Angular vein and artery का बोध होता है।

अष्टत्रिंशदुभयोर्नेत्रयोः[1], तासामेकैकामपाङ्गयोः परिहरेत् ॥३१॥

(नेत्रों की अवेध्य सिराएँ—) दोनों आँखों में अठतीस सिराएँ होती हैं; इनमें से अपाङ्गों की एक एक सिरा का परिहार करना चाहिए ॥३१॥

वक्तव्य—अपाङ्ग सिरा—इससे Zygomatico-temporal artery का बोध होता है।

कर्णयोर्दश, तासां शब्दवाहिनीमेकैकां परिहरेत् ॥३२॥

(कान की अवेध्य सिराएँ—) दोनों कानों में दस सिराएँ होती हैं; इनमें से शब्दवाहिनी एक एक सिरा को बचाना चाहिए ॥३२॥

वक्तव्य—शब्दवाहिनी सिरा—इससे Posterior auricular and anterior tympanic arteries का बोध होता है।

नासानेत्रगतास्तु ललाटे षष्टिः, तासां केशान्तानुगताश्चतस्रः (परिहरेत्), आवर्तयोरेकैका, स्थपन्यां चैका परिहर्तव्या ॥३३॥

(ललाट की अवेध्य सिराएँ—) नासा और नेत्र की ही ललाट में साठ सिराएँ होती हैं। उनमें से केशान्त के साथ साथ जाने वाली चार, आवर्त की एक एक और स्थपनी की एक (इस प्रकार सात) सिराओं को बचाना चाहिए ॥३३॥

वक्तव्य—ललाटे षष्टिः—नासा और नेत्र की जो सिराएँ हैं, उन्हीं में से ६० सिराएँ ललाट में आती हैं। अर्थात् इन सिराओं की पृथक् गणना करने की आवश्यकता नहीं है—याश्चतुर्विंशतिर्नासागता याश्च षट्त्रिंशन्नेत्रगतास्ता

१ तत्राष्टपञ्चाशत्.

१ षट्त्रिंशदुभयोर्नेत्रयोः.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एव षष्टिर्ललाटे ज्ञातव्याः । अतो न पृथग्गणनीयाः । ननु नेत्रगता अष्टत्रिंशत्, तत्कथं त्रिंशन्नेत्रगता इति व्याख्याय षष्टिं पूरयति? सत्यं, यद्यपि अष्टत्रिंशन्नेत्रयोः सिरा उक्तास्तथाऽपि तन्मध्ये द्वयोरपाङ्गाश्रितत्वात्तत्राभावः । अतो नेत्रगता अष्टत्रिंशदपि ललाटे पुनः षट्त्रिंशदेवेति । (डल्हण)। केशान्तानुगताः—ललाट या भालप्रदेश (Forehead) की ऊपर की बालों की मर्यादा के साथ साथ जाने वाली । इनसे Supraorbital and terminations of the frontal branch of the Superficial temporal arteries and veins का ग्रहण करना चाहिए । आवर्तयोरेकैका—इससे Frontal branch of the superficial temporal का ग्रहण करना चाहिए । स्थपन्यां चैका—इससे Nasal branch of the frontal veins का ग्रहण करना चाहिए ।

शङ्खयोर्दश, तासां शङ्खसन्धिगतानामेकैकां परिहरेत् ॥३४॥

(शङ्खप्रदेश की अवध्य सिराएँ—) शङ्खप्रदेशों में दस सिराएँ हैं । इनमें से शङ्खसंधि की एक एक सिरा का परिहार करना चाहिए ॥३४॥

वक्तव्य—शङ्खसंधिगत सिरा—इससे Superficial temporal vessels का ग्रहण करना चाहिए ।

द्वादश मूर्ध्नि, तासामुत्क्षेपयोर्द्वे परिहरेत्, सीमन्तेष्वेकैकाम्, एकामधिपताविति; एवमशस्त्रकृत्याः पञ्चाशज्जत्रुण ऊर्ध्वमिति ॥३५॥

(सिर की अवध्य सिराएँ—) मस्तक में बारह सिराएँ हैं । उनमें से उत्क्षेप की दो, सीमन्तों की एक एक (पाँच) और अधिपति की एक सिरा का परिहार करना चाहिए । इस प्रकार जत्रु के ऊपर की पचास अवध्य सिराएँ हैं ॥३५॥

वक्तव्य—उत्क्षेपयोर्द्वे—इससे Parietal branch of the superficial temporal का ग्रहण करना चाहिए । सीमन्त और अधिपति की सिराएँ—इनसे Occipital and superficial temporal की शाखा-प्रशाखाओं का ग्रहण करना चाहिए । ये रक्तवाहिनियाँ बहुत बड़ी नहीं होतीं, तथापि इनके कट जाने पर रक्तस्राव जल्दी बंद नहीं होता तथा इनको पकड़ना भी मुश्किल होता है । इसलिए इनका परिहार करना बहुत आवश्यक है—When making incisions into the scalp, care should be taken to avoid the main arteries. The blood vessels, when wounded, do not contract and retract freely; and therefore, the haemorrhage from scalp wounds is often very considerable. *Grey's Anatomy.*

यहाँ पर जत्रु के ऊपर की सिराओं की जो कुल संख्या बतलाई है, उससे पृथक् पृथक् अंगों की संख्या का कुल योग अधिक आता है । अष्टांगसंग्रह में दोनों का योग मिलता है । इसलिए नीचे दोनों का तुलनात्मक कोष्ठक दिया गया है—

१ 'इत्येता नासानेत्रगता बोद्धव्याः' इति क्वचिदधिकपाठः.

जत्रूर्ध्व सिरासंख्या का कोष्ठक

प्रत्यंग नाम	सुश्रुत	अष्टांगसंग्रह
ग्रीवा	५६	२४
हनु	१६	१६
जिह्वा	३६	१६
नासा	२४	२४
नेत्र	३८	५६
कर्ण	१०	१६
सिर	१२	१२
जत्रूर्ध्व कुल संख्या	१९२	१६४

शङ्खप्रदेश की सिराओं की गणना सुश्रुत के अनुसार नासा-नेत्रगत याने ललाट की सिराओं में होती है और अष्टांगसंग्रह के अनुसार कान की सिराओं में होती है— कर्णयोः षोडश, त एव च शङ्खयोः ।

भवति चात्र—

व्याप्नुवन्त्यभितो देहं नाभितः प्रसृताः सिराः । प्रतानाः पद्मिनीकन्दाद्बिसादीनां यथा जलम् ॥३६॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने सिरावर्णविभक्तिशारीरं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥

कमलकन्द से बिसादि (मूल) के प्रतान जैसे जल (कीचड़) में चारों ओर फलते हैं, वैसे ही नाभि से चारों ओर सिराओं के प्रतान देह में फैलते हैं ॥३६॥

वक्तव्य—रसयोगसागर में इस श्लोकगत सिरा का अर्थ नर्व (Nerve) किया गया है—इत्यत्र सिराशब्देन ज्ञानतन्तवो निर्दिष्टाः । यदि यह श्लोक किसी तन्त्रग्रंथ में होता तो सिरा का अर्थ नर्व करने में कोई विशेष आपत्ति नहीं होती, परंतु आयुर्वेद में, और विशेष करके जिस सिलसिले में यहाँ पर श्लोक आया है, उसके अनुसार सिरा का अर्थ रक्तवाहिनी ही करना उचित है, नर्व करना उचित नहीं है । महामहोपाध्याय गणनाथसेन प्रत्यक्षशारीर की प्रस्तावना (पृष्ठ ६६) में इस श्लोकगत नाभि और सिरा का अर्थ नर्व ही करते हैं—अत्र हि शेषोक्ते पद्ये नाभि... पूराख्यचक्रात् समन्ततः प्रसृताः नाड्यो लक्ष्यन्ते बिसतन्तुसदृशा... न पुनः रक्तवाहिन्यः प्रणाल्यः, इति स्फुटमिव सूक्ष्मदृशाम्। परंतु संज्ञापंचकविमर्श में धमनी-विवरण के समय इस श्लोकगत सिरा को 'रक्तप्रणाल्यः' कहते हैं— यश्च तत्रैव स्वमतरक्षार्थं—धमनीनां सुश्रुतोक्तं नाभिप्रभवत्वं सङ्गमयितुं नाभिपदस्य मेडुला अवलंगेटा सहित स्पायनल कॉर्ड (Medulla oblongata with spinal cord)—अर्थात् 'सशीर्षकसुषुम्नाकाण्ड'रूपार्थः पण्डितप्रकाण्डेन स्वप्रतिभया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आविष्कृतः, सोऽपि विदुषामुच्चैर्हासमेव कल्पयति, निर्मूलत्वाद-संभवत्वाच्च । न च तावतापि चतुर्विंशतिसंख्यकधमनीनां तत्प्रभवत्वसंगतिः सुकरा, तत्प्रभवानां नाडीनां षट्सप्ततिसंख्यकत्वात् । किञ्च नाभिपदस्यैतादृशार्थकल्पने सिराणामपि नाभिप्रभवत्वं समानार्थमेव समर्थनीयम् । तच्चाशक्यं शालिमतानुसारेणेति न विस्मर्तव्यम् । उक्तं हि—'यावत्यस्तु सिराः काये संभवन्ति शरीरिणाम् । नाभ्यां सर्वा निबद्धास्ताः तन्वन्ति समन्ततः ॥ व्याप्नुवन्त्यभितो देहं नाभितः प्रसृताः सिराः । प्रतानाः पद्मिनीकन्दाद्बिसादीनां यथा जलम् ॥' अन्यच्च, सुश्रुते धमनीव्याकरणे भवतश्चात्रेति यत् प्राचीनवचनम्, तत्र—'यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु बिसेषु च । धमनीनां तथा खानि रसो यैरुपचीयते ॥' प्रथमवचनं धमनीनां सुषिरत्वं रसवहत्वं च स्पष्टमभिधत्ते । द्वितीयवचने तु 'पञ्चेन्द्रियं खलु भावयन्ति' इत्युक्त्या संज्ञावहनाड्यर्थ एव प्रतीयते । तस्माद् धमनीसंज्ञाया द्व्यर्थत्वमनेकार्थत्वं वा स्वीकर्तव्यम् । यच्च सुश्रुते सूत्रस्थाने धमनीनां हृदयप्रभवत्वमभिधाय शारीरे नाभिप्रभवत्वमुक्तं तद् गर्भस्थबालाभिप्रायेणेतिकृत्वा समाधेयम्, न पुनः सर्वाचार्यसंमतं प्रत्यक्षसिद्धं धमनीनां हृदयसंबंधमपह्नुत्य ॥ पृष्ठ ७० । **इसके अंग्रेजी तर्जुमा में लिखते हैं**—If Nabhi means Medulla oblongata and Spinal Cord in the case of Dhamani's, why should it not mean the same thing in the case of sira's also? so the confusion seems worse confounded! Probably the emerging of Sira's and Dhamani's through the Nabhi (Naval), mentioned in Sushruta, has been said in reference to the foetal circulation. The shastri has missed this point altogether. *Page 74.* **म० म० गणनाथसेन जी का द्वितीय कथन ठीक है, प्रथम कथन गलत है। क्योंकि वहाँ पर केवल अर्थ की ओर ध्यान देकर सिरा का अंगविनिश्चय करने की कोशिश की गई है, संपूर्ण आयुर्वेदशास्त्र की दृष्टि से नहीं। अंगविनिश्चय करते समय** (Identification of the old anatomical terms for modern anatomical terms) **संपूर्ण आयुर्वेद का विचार न करके केवल स्थानिक अर्थ का विचार किया जाय तो इस प्रकार के अनवस्था प्रसंग और विसंवाद (चौथे अध्याय के ३३वें श्लोक का वक्तव्य देखो) स्थान स्थान पर उत्पन्न होने की संभावना हो सकती है । इस विषय का अधिक विवरण नौवें अध्याय के दूसरे सूत्र के वक्तव्य में भी किया गया है, उसको देखो । अब इसके बाद अवेध्य सिराओं का कोष्ठक दिया जाता है—**

शरीर की अवेध्य सिराएँ

अंग	नाम	अंग्रेजी पारिभाषिक नाम
अधःशाखा	जालधरा	Great sapheneus vein
	ऊर्वी	Femoral artery and vein
	लोहिताक्ष	,,
ऊर्ध्वशाखा	जालधरा	Cephalic vein
	ऊर्वी	Brachial vessels
	लोहिताक्ष	Axillary vessels
श्रोणी	विटप	Spermatic vessels
	कटीकरुण	Gluteal vessels
पृष्ठ	बृहती	Subscapular artery
	मेढ्रोपरि	Inferior epigastric vessels
वक्ष	स्तनमूलादि	Internal mammary and lateral thoracic vessels
ग्रीवा	मातृका	Carotid arteries and Jugular veins
	कृकाटिका	Occipital vessels
	विधुर	Posterior auricular vessels
हनु	हनुसंधि	Internal maxillary vessels
जिह्वा	रसवहे, वाग्वहे	Deep lingual vessels
नासा	औपनासिकी	Angular vessels
नेत्र	अपांग	Zygomatico-temporal vessels
कर्ण	शब्दवाहिनी	Anterior tympanic vessels
ललाट	केशान्तानुगता	Supraorbital, Superficia temporal vessels
	आवर्त	Frontal branch of the Superficial tempora
	स्थपनी	Nasal branch of the frontal vein
	शंखसंधिगत	Superficial temporal vessels
	उत्क्षेप	Parietal branch of the Superficial temporal
	सीमन्त, अधिपति	Branches of the occipital aud Superficial vessels

इति भास्करशर्मणा गोविन्दात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां शारीरस्थाने सिरावर्णविभक्तिशारीरं नाम सप्तमोऽध्यायः समाप्तः ॥७॥

अष्टमोऽध्यायः ।

अथातः सिराव्यधविधिशारीरं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब इसके बाद सिराव्यधविधि शारीर का व्याख्यान करेंगे, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने किया था ॥१॥

बालस्थविररूक्षक्षतक्षीणभीरुपरिश्रान्तमद्याध्वस्त्रीकर्षितवमितविरिक्तास्थापितानुवासितजागरितक्लीबकृशगर्भिणीनां कासश्वासशोषप्रवृद्धज्वराक्षेपकपक्षाघातोपवासपिपासामूर्च्छाप्रपीडितानां च

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सिरां न विध्येत्, याश्चाव्यध्याः, व्यध्याश्चादृष्टाः, दृष्टाश्चायन्त्रिताः, यन्त्रिताश्चानुत्थिता इति ॥२॥

(**सिरावेध का निषेध**—) बालक, बृद्ध, रूक्ष, क्षत-क्षीण, डरपोक, परिश्रान्त (थका हुआ), स्त्रीसंग मद्य-सेवन और प्रवास से थका हुआ, जिसे वमन हुआ है, जिसे विरेचन हुआ है, जिसे निरूहबस्ति दी गई है, जिसे अनुवासन बस्ति दी गई है, जिसने रात में जागरण किया है, नपुंसक, कृश, गर्भिणी, कास, श्वास, अतिज्वर, शोष, आक्षेपक, पक्षाघात, अनशन, तृषा, मूर्च्छा इनसे पीडितों का सिरावेध न करें; तथा अवेध्य सिराओं का, वेधन योग्य, परंतु दिखाई न दे उनका, दीखने पर जिनका यन्त्रण न किया गया है उनका, यन्त्रण करने पर भी जो न उठी हों उनका वेध न करें ॥२॥

वक्तव्य—बालस्थविरादि—ये रोगी दौर्बल्य, भीति, सुकुमारता या रोगविशेष के कारण सिरावेध का शस्त्रकर्म या तज्जन्य रक्तनाश बरदाश्त नहीं कर सकते, अतः इनके संबंध में सिरावेध न करना चाहिए । डल्हणाचार्य प्रत्येक में सिरावेध न करने का कारण अपने मतानुसार देते हैं— बालस्थविरयोरसंपूर्णधातुक्षीणत्वात् सिरां न विध्येत् । रूक्षक्षत-क्षीणानां वातप्रकोपभयात् सिरां न विध्येत् । क्षत इति उरःक्षतयुक्तः, खड्गाद्यभिहतो वा, क्षीणः क्षीणधातुः, गयी तु क्षतेन क्षीणस्तस्यानिल-व्याधिभयान्न विध्येदिति व्याख्याति । भीरोश्च तमोबहुलत्वाल्लो-हितदर्शनेन मूर्च्छाभयान्न विध्येत् । परिश्रान्तस्य श्रमकुपितो वायुः शोणितावसेचनेनातिप्राबल्यं प्राप्य शरीरव्यापादकः स्यात् । मद्यपस्य मदविक्षिप्तचित्तस्यातिमूर्च्छाकरत्वात्, अध्वस्त्रीकर्षितस्य वातप्रकोपभयान्न विध्येत् । वान्तविरिक्तयोरकृतसंसर्जनयोरपीत-स्नेहयोर्वमनविरेकान्तरमेव वातप्रकोपभयात् सिरां न विध्येत् । आस्थापितजागरितयोर्मरुत्प्रकोपभयान्न विध्येत् । अनुवासितस्य मंदेऽग्नौ भूयोऽग्निमान्द्यभयात् । क्लीबस्य प्रधानधातुक्षयेणाल्पसत्त्वेन च निश्चितविनाशत्वात् । कृशस्य गर्भिणीनां चोपक्षीणधातुत्वाद् देहसंदेहभयात्, कासश्वासशोषिणामप्यपचीयमानधातुत्वेन देह-संदेहभयान्न विध्येत् । प्रवृद्धज्वरस्यासृक्स्रावेण प्रलापादिभयात् सिरां न विध्येत् ।

बाल और बूढ़ों में सिरावेध का निषेध, जैसे कि डल्हणाचार्य ने बताया है, असंपूर्ण क्षीणधातु के कारण नहीं है । ये भी आवश्यकता पड़ने पर शोणितावसेचन सहन कर सकते हैं, परंतु सुकुमार या डरपोक होने के कारण सिरावेध का शस्त्रकर्म और रक्तदर्शन सहन नहीं कर सकते । इसलिए सूत्रस्थान के १३वें अध्याय में लिखा है—नृपाढ्यबालस्थविरभीरुदुर्बलनारीसुकुमाराणामनुग्रहार्थं परम-सुकुमारोऽयं शोणितावसेचनोपायोऽभिहितो जलौकसः । **इसकी टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं**—असुकुमारोपायस्तु प्रच्छन्नं सिराव्यधनं च । सिरां न विध्येत्—**यह निषेध साधारण परिस्थिति में किया गया है । जब विशेष परिस्थिति या विशेष कारण उत्पन्न होते हैं, तब सिरावेध के द्वारा शोणित मोक्षण कर सकते हैं**—न त्वेष निषेधो विषसंसृष्टोपसर्गात्ययिक-व्याधिषु । (**अष्टांगसंग्रह**) । **जैसे, बच्चों में खाँसी, श्वास-**

कृच्छ्र, ज्वर इत्यादि लक्षण तीव्र होते हैं, तब (Broncho-pneumonia), **तथा ज्वर और श्वासकृच्छ्र के साथ स्वरयन्त्र शोथ** (Laryngitis) **होता है, तब गले में सिरावेध करने से फायदा होता है । अथवा गर्भिणी में जब गर्भाक्षेपक या गर्भपातनक** (Eclampsia **प्रथम खण्ड पृष्ठ ३६३ देखो) उत्पन्न होता है, तब शरीरगत विष को निकालने के लिए सिरावेध किया जाता है और उससे बहुत फायदा होता है । अथवा पक्षाघात में जब रक्त का भार अधिक रहता है, तब भी सिरावेध से रक्तमोक्षण करने पर फायदा होता है । अन्तःशल्यता या रक्त जमने के कारण (प्रथम खण्ड पृष्ठ ३२५ देखो) पक्षाघात होता है, तब सिरावेध से नुकसान होता है । इसलिए पक्षाघात में कारणों के अनुसार सिरावेध का निषेध या विधि होती है । अथवा जब सर्प काटता है, तब रक्तगत विष का उत्सर्ग कराने के लिए मनुष्य निरोध दंशस्थान की सिरा का वेध किया जाता है और उससे फायदा होता है**—समन्ततः सिरां विध्येद्दंशान्तु कुशलो भिषक् । रक्ते निर्ह्रियमाणे तु कृत्स्नं निर्ह्रियते विषम् । तस्माद्विस्रावयेत्सैषा ह्यस्य परमा क्रिया ॥ **(सुश्रुत) । अथवा आक्षेपक** (Convulsions) **जब वृक्करोगजन्य मूत्रविषमयता** (Ureamia) **के कारण या मस्तिष्कगत रक्ताधिक्य के कारण उत्पन्न होते हैं, तब सिरावेध से फायदा होता है ।** याश्चाव्यध्याः—**किसी रोग में सिरावेध की आवश्यकता होने पर भी पिछले अध्याय में प्रत्येक अंग-प्रत्यंग की जो अवेध्य सिराएँ बतलाई गई हैं, उनका वेध न करना चाहिए ।** याश्चादृष्टाः—**जो सिराएँ दिखाई न दें, उनका वेध न करना चाहिए । सिरा दिखाई न देने के निम्न कारण होते हैं—(१) सिराएँ साधारणतया उत्तान** (Superficial) **होती हैं, इसलिए दिखाई देती हैं । जो गम्भीर होती हैं, वे नहीं दिखाई देतीं । इसलिए गंभीरता प्रथम कारण है । (२)** अस्थूलता—**वेध के लिए साधारणतया स्थूल या मोटी सिरा पसन्द होती है, जो दीख पड़ती है, उठती है और यन्त्रित भी की जाती है । जो सिरा छोटी होती है, वह दीख नहीं पड़ती । (३)** अभाव या स्थानान्तर—**सिराओं** (Veins) **के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि यद्यपि उनका स्थान निश्चित रहता है तथापि कई बार वे अपने स्थान में न होकर इधर-उधर मिलती हैं या कई बार उनका अभाव होता है । यह स्थिति मुख्यतया उत्तान सिराओं के संबंध में होती है । इन कारणों से जब यथोक्तसिरा नहीं मिलती, तब समीपवर्ती दूसरी सिरा का ग्रहण करने के लिए वाग्भटाचार्य कहते हैं**—यथोक्तानामदर्शने । मर्महीने यथासन्नं देशेऽन्यां व्यधयेच्छिराम् । **(अष्टांगहृदय) ।** दृष्टाश्चायन्त्रिताः यन्त्रिताश्चानुत्थिताः—**इसका कारण आगे ३३वें श्लोक में (सिरासु शिक्षितो नास्ति) दिया गया है । ठीक यन्त्रण न करने से सिरा का उत्थान ठीक नहीं होता और उत्थान ठीक न होने से वेधन के कर्म में कठिनाई उत्पन्न होती है, जिससे दुष्ट व्यधन के दोष (आगे ३१वाँ सूत्र देखो) उत्पन्न होते हैं और सिरावेध का लाभ भी नहीं होता ।**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोणितावसेकसाध्याश्च ये विकाराः प्रागभिहितास्तेषु चापकेष्वन्येषु चानुक्तेषु यथाभ्यासं यथान्यायं च सिरां विध्येत् ॥३॥

(सिरावेध निर्देश—) रक्तमोक्षण से साध्य होने वाले जो रोग पहले निर्दिष्ट किये गये हैं, तथा जो अन्य (शोणितावसेक साध्य) अनिर्दिष्ट रोग हैं, उनमें अपक्वावस्था में यथाभ्यास तथा यथाविधि सिरा का वेधन करे ॥३॥

वक्तव्य—प्रागभिहिताः—सूत्रस्थान के चौदहवें अध्याय के चौतीसवें श्लोक में (प्रथम खण्ड पृष्ठ ८५ देखो); इसके सिवा रक्तज और साध्य विकारों का निर्देश २४वें अध्याय के १०वें सूत्र में और २५वें अध्याय के ११-१४वें श्लोकों में किया गया है । अपक्वेषु—अनेक रोग शोथ (Inflamation) के कारण उत्पन्न होते हैं । शोथ के स्थान में हमेशा रक्ताधिक्य हो जाता है और इसी रक्त के द्वारा स्थानिक विकृति का निराकरण होता है । शोथ के दो पर्यवसान मुख्यतया होते हैं—१ उपशम (Resolution), और २ पाक (Suppuration) । जब पाक बन जाता है, तब रक्तमोक्षण से कोई फायदा नहीं होता । रक्तमोक्षण से उपशम होने में सहायता होती है—वेदनोपशमार्थाय तथा पाकशमाय च । अचिरोत्पतिते शोफे कुर्यात् शोणितमोक्षणम् ॥ शोफे कठिने श्यामे सरक्ते वेदनावति । संरब्धे विषमे वाऽपि विस्रावणं हितम् ॥ (सुश्रुत, चि० १) । इसलिए रोग में जब तक उपशम होने की संभावना होती है, तब तक रक्तमोक्षण का इलाज करना उचित है । रक्तमोक्षण से उपशम में सहायता होती है तथा वेदना कम होती है । इसको आधुनिक शास्त्रज्ञ भी मानते हैं । परंतु उसके साथ रक्त का मोक्षण करने से स्थानिक प्रतिकार-शक्ति भी कुछ कम हो जाती है, ऐसी उनकी राय है । इसलिए आधुनिक चिकित्सक रक्तमोक्षण के विपक्ष में हो गये हैं । रक्तमोक्षण उसी समय किया जाता है, जब शोथजन्य रक्ताधिक्य मर्यादा से अधिक होता है और रोगी भी रक्तल (Plethoric) होता है । यथाभ्यासम्—इसके निम्न तीन अर्थ होते हैं । इनमें प्रथम अर्थ अधिक प्रशस्त मालूम होता है—(१) अभ्यास का अर्थ परम्परा, पद्धति या प्रथा (Practice); यथाभ्यास, जिस रोग में जहाँ पर सिरावेध करने की परम्परा होगी, उसके अनुसार । इस प्रकार का अर्थ निम्न वाक्य में मिलता है—तद् यथाभ्यासम् अभिधीयताम् । (उत्तररामचरित) । संक्षेप में गुरूपदिष्ट मार्ग द्वारा । अभ्यास—सामीप्य या निकटता; यथाभ्यास समीपवर्ती । जहाँ पर रोग होता है, उसके समीप में होने वाली सिरा—यथाभ्यासमिति यथासमीपमित्यर्थः । (डल्हण) । (३) यथाभ्यासं यथासन्नम्, एतत्तु मुख्यानामदर्शनविषयम् । सरन्ति —यथोक्तानामदर्शने । मर्महीने यथासन्ने देशेऽन्यां व्यधयेत्सिराम् । (हाराणचन्द्र) । यथान्यायम्—जैसी कि आगे व्यधन की विधि बताई गई है, उसके अनुसार । यथाविधि—न्यायस्य स्नेहस्वेदादिकस्यानतिक्रमेण यथान्यायम् । (डल्हण) । हाराणचन्द्र इसका संबंध सिरा के साथ जोड़ते हैं—यथान्यायं यथोचिताम्, इति तु व्यध्यासु बह्वीषूत्थितासु विमृश्य व्यधनार्थम् ॥

प्रतिषिद्धानामपि च विषोपसर्गात्ययिकेषु सिराव्यधनमप्रतिषिद्धम् ॥४॥

(निषिद्ध रोगियों में सिरावेध के प्रयोजन—) विषोपसर्ग और आत्ययिक रोगों में (सिरावेध के लिए) निषिद्ध रोगियों का भी सिरावेध निषिद्ध नहीं है ॥४॥

वक्तव्य—विषोपसर्ग—विष का उपसर्ग होने पर । सर्पविष के उपसर्ग में सिरावेध किया जाता है, इसका विवरण २ सूत्र के वक्तव्य में किया गया है । इसके सिवा विषजन्य कामला (Toxic Jaundice) में भी विष का नाश करने के लिए सिरावेध किया जाता है । कामला दो प्रकार की होती है । एक वह है, जिसमें पित्तोत्सर्ग में बाधा उत्पन्न होती है । इसको अवरोधजन्य (Obstructive) कहते हैं । दूसरी वह है जो संखिया, फास्फरस, क्लोरोफार्म इत्यादि विषों के सेवन से तथा कुछ उपसर्गजन्य रोगों से उत्पन्न होती है । इसको विषजन्य कहते हैं । कार्बन मोनोक्साइड (Co) की विषमयता में भी सिरावेधन से रक्तमोक्षण किया जाता है । आत्ययिक—अत्ययः नाशः प्रयोजनं यस्य । प्राणनाशक, महाविपत्तिकर । जैसे, गर्भिणी के आक्षेप । इसमें यद्यपि गर्भिणी सिरावेध के लिए निषिद्ध होती है तथापि आक्षेपक में यह निषेध दूर हो जाता है ।

तत्र स्निग्धस्विन्नमातुरं यथादोषप्रत्यनीकं द्रवप्रायमन्नं भुक्तवन्तं यवागूं पीतवन्तं वा यथाकालमुपस्थाप्यासीनं स्थितं वा प्राणानबाधमानो वस्त्रपट्टचर्मान्तर्वल्कललतानामन्यतमेन यन्त्रयित्वा नातिगाढं नातिशिथिलं शरीरप्रदेशमासाद्य यथोक्तं शस्त्रमादाय सिरां विध्येत् ॥५॥

(सिरावेधनविधि—) स्नेहन और स्वेदन किये हुए दोषविपरीत द्रवभूयिष्ठ आहार सेवन किये हुए, अथवा यवागू पिये हुए, उचित समय पर उपस्थान करके बैठे हुए या सुयन्त्रित किये हुए रोगी को शरीर (के एक) प्रदेश (को रोग के अनुसार ठीक करके उस) में वस्त्रपट्ट, चर्म (पट्ट), अन्तर्वल्कल (पट्ट), लता (प्रतान); इनमें से किसी एक से न बहुत तंग न बहुत शिथिल बाँधकर उचित शस्त्र से प्राणों को बाधा न पहुँचाते हुए सिरा को प्राप्त करके वेधन करे ॥५॥

वक्तव्य—स्निग्धस्विन्न—सम्यक् स्नेहन और स्वेदन से शरीरगत दोष रक्तवाहिनियों में आते हैं और सिरावेध करने पर उत्सर्ग हो जाता है । इसलिए सिरावेध के पूर्व स्नेहन और स्वेदन दिया जाता था—सम्यक् स्निग्धस्विन्नस्य पुनर्द्रवीभूता दोषाः शोणितमनुप्रविष्टाः सम्यक् प्रच्यवन्ते । (अष्टांगसंग्रह) । अस्विन्न या अतिस्विन्न होने से रक्त का स्राव

१ प्रतिपीतम् . २ प्राप्तं शस्त्रं गृहीत्वा.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक होता है—अत्युष्णेऽतिस्विन्नेऽतिप्रवर्तते । (सुश्रुत, सूत्र १४)। यथादोषप्रत्यनीकम्—शारीरिक दोष या ऋतुदोष या दोनों का प्रतीकार जिससे होगा, ऐसा आहार। संक्षेप में धातुसाम्यावस्था करने वाला। द्रव्यप्रायम्—द्रव्यभूयिष्ठ। रक्तावसेचन से शरीर का जो द्रवांश नष्ट होगा, उसकी पूर्ति करने के लिए द्रवभूयिष्ठ आहार दिया जाता है। भुक्तवन्तम्—लघुभुक्तवन्तम्। सिरावेध शस्त्रकर्म है। इससे रोगी को मूर्च्छा आ सकती है। उसको दूर करने के लिए रोगी को हलका आहार दिया जाता है—न मूर्च्छत्यन्नसंयोगात् ॥ यवागूं पीतवन्तम्—यवागू भी रोगी को मात्रा से पिलाना चाहिए—यवागूं प्रतिपीतस्य शोणितं मोक्षयेद्भिषक्। (सूत्र १४)। इस श्लोक की टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—सा हि प्रायशः प्रक्लेदनात्मिका स्वेदलत्वाद् द्रवोष्णत्वाच्च शोणितं विलाययति प्रतिशब्दोऽत्र मात्रार्थः, तेन यवागूं मात्रया पीतवत इत्यर्थः ॥ उपस्थाप्य—बलि, मङ्गल, स्वस्त्ययनादि कराके। प्रत्येक शस्त्रकर्म के पूर्व देवतार्चन करने का प्राचीन रिवाज था। सूत्रस्थान के ५वें अग्रोपहरणीय अध्याय का ६ सूत्र देखो। आसीनम्—बिस्तरे पर या किसी आसन पर बैठा हुआ। सिरावेध के लिए बैठना यही उत्तम आसन है। रोगी को खड़ा करने से मूर्च्छा जल्दी उत्पन्न होने का डर रहता है और बिस्तरे पर लिटाने से शरीर से अधिक रक्तस्राव होने पर भी मूर्च्छा या चक्कर नहीं आता। मूर्च्छा रक्तस्राव रोकने के लिए एक सूचक लक्षण होता है। परंतु वह केवल बैठे हुए रोगी में ही योग्य सूचक होता है। स्थितं वा—किंवा यन्त्रणशाटक से सुयन्त्रित किये हुए। रोगी न हिलने पावे, इसलिए उसका यन्त्रण करने का रिवाज था। सिरावेध में प्रत्येक रोगी को सुयन्त्रित करने की आवश्यकता नहीं है। यन्त्रण दो प्रकार का होता है—सार्वदैहिक रोगी को स्थिर करने के लिए, और स्थानिक सिरा को उत्थित करने के लिए। स्थानिक की आवश्यकता प्रत्येक समय होती है, परंतु सार्वदैहिक की नहीं होती। स्थित से सार्वदैहिक नियन्त्रण का बोध होता है। संक्षेप में 'आसीनं स्थितं वा' का अर्थ 'सुखोपविष्टं सुयन्त्रितं वा' होता है। डल्हणाचार्य 'स्थितं' का अर्थ खड़े हुए (ऊर्ध्वीभूतम्) करते हैं। प्राणानबाधमानः—यह वैद्य का विशेषण है। अतिवेध, अवेध्य सिरावेध, मर्मवेध इत्यादि से (आगे सूत्र ३१ देखो) वैद्य रोगी के प्राणों को बाधा पहुँचा सकता है। इसलिए 'मर्मादि का परिहार करके' इसका अर्थ करना उचित है। वस्त्रपट्टादि—इनका उपयोग शरीर का अंग बाँधने के लिए किया जाता है। इससे सिरागत रक्तप्रवाह बंद होकर सिरोत्थान में सहायता होती है। यह बंधन हमेशा वेधस्थान से कुछ ऊपर की ओर हृदय और वेधस्थान के बीच में होना चाहिए। नातिगाढं नातिशिथिलम्—गाढ और शिथिल का संबंध रक्तप्रवाह के साथ है। इतना तंग न होना चाहिए कि धमनीगत रक्तप्रवाह रुक जाय, तथा इतना शिथिल न होना चाहिए कि सिरागत रक्तप्रवाह जारी रहे। वस्त्रपट्ट इस प्रकार से बाँधा जाय कि धमनीगत प्रवाह में बाधा न हो परंतु सिरागत प्रवाह में बाधा पड़े। इससे सिरा में अधिकाधिक रक्त आने से और आये हुए रक्त का मार्ग अवरुद्ध होने से उसका उत्थापन भली भाँति होता है। 'नातिगाढमुत्तमाङ्गे, नातिशिथिलं शाखासु' यह डल्हणाचार्य का कथन ठीक नहीं है। यह शब्दसमूह एक ही स्थान के बंधन के लिए प्रयुक्त हुआ है—वस्त्रादीनामन्यतमेन नातिगाढं नातिशिथिलं शरीरप्रदेशं यन्त्रयित्वा आसाद्य—इसका संबंध 'सिरां' के साथ है; सिरा को प्राप्त करके। यथोक्तं शस्त्रम्—सिरावेध में कुठारिका, व्रीहिमुख, आरा और वेतसपत्र इनका उपयोग होता है—कुठारिका व्रीहिमुखारावेतसपत्रकाणि व्यधने। (सुश्रुत, सूत्र ८)। इनमें से अस्थि के ऊपर की सिरा का वेधन करने के लिए कुठारिका और मांसल प्रदेश स्थित सिरा का वेधन करने के लिए व्रीहिमुख प्रयुक्त होता है। आगे १८वाँ सूत्र देखो। इनमें से योग्य शस्त्र को ग्रहण करके तद्द्वारा।

नैवातिशीते नात्युष्णे न प्रवाते न चाभ्रिते।
सिराणां व्यधनं कार्यमरोगे वा कदाचन ॥६॥

(सिरावेध के लिए अयोग्य काल—) अत्यन्त शीतकाल में, अत्यन्त उष्णकाल में, जोर से हवा चलते समय में, अभ्राच्छादित दिन में सिराओं का वेध नहीं करना चाहिए; तथा नीरोग (स्थिति) में भी कदापि (न करना चाहिए) ॥६॥

वक्तव्य—नवातिशीते इत्यादि—काल का यह नियम अनात्ययिक अवस्था के लिए है। आत्ययिक अवस्था में कृत्रिम पद्धति से शीतोष्णादि दोषों का परिहार करके सिरावेध कर सकते हैं—शीते शीतप्रतीकारमुष्णे चोष्णनिवारणम्। कृत्वा कुर्यात् क्रियां प्राप्तां क्रियाकालं न हापयेत्। (सुश्रुत, सूत्र ३५)। चरक में भी लिखा है—साधारणलक्षणेष्वृतुषु वमनादीनां प्रवृत्तिर्विधीयते, निवृत्तिरितरेषु, इतरे पुनरत्यर्थशीतोष्णवर्षत्वाद् दुःखतमाश्च भवन्ति। आत्ययिके पुनः कर्मणि काममृतुं विकल्प्य कृत्रिमगुणोपधानेन यथर्तुगुणविपरीतेन ··· प्रयोजयेदुत्तमेन यत्नेनावहितः ॥ (विमान ८)। अरोगे—वमन विरेचनादि का उपयोग एकाध बार नैमित्तिक कारण से नीरोग अवस्था में कर सकते हैं, परंतु सिरावेध का उपयोग इस प्रकार नहीं किया जा सकता। आगे १९वाँ श्लोक और उसका वक्तव्य देखो।

तत्र व्यध्यसिरं पुरुषं प्रत्यादित्यमुखमरत्निमात्रोच्छ्रिते उपवेश्यासने सक्थ्नोराकुञ्चितयोर्निवेश्य कूर्परौ सन्धिद्वयस्योपरि हस्तावन्तर्गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टी मन्ययोः स्थापयित्वा यन्त्रणशाटकं ग्रीवामुष्ट्योरुपरि परिक्षिप्यान्येन पुरुषेण पश्चात्स्थितेन वामहस्तेनोत्तानेन शाटकान्तद्वयं ग्राहयित्वा ततो वैद्यो ब्रूयात्—दक्षिणहस्तेन सिरोत्थापनार्थं नात्यायतं शिथिलं यन्त्रमावेष्टयेति, असृक्स्रावणार्थं च पृष्ठ

१ सक्थ्नोराकुञ्चितयोरुपरि कूर्परसन्धिद्वयं निवेश्य. २ मन्ये पीडयेति. पृष्ठमध्ये च पीडयेत्.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृष्ठमध्ये पीडयेति, कर्मपुरुषं च वायुपूर्णमुखं स्थापयेत्; एष उत्तमाङ्गगतानामन्तर्मुखवर्जानां सिराणां व्यधने यन्त्रणविधिः ॥७॥

(उत्तमांगसिरावेध की यन्त्रणविधि—) जिसकी सिरा का वेध करना हो, उस पुरुष को अरलिमात्र ऊँचे आसन पर सूर्य की ओर मुख करके बैठाकर, दोनों टांगों को सिकोड़कर, (दोनों जानु)संधियों के ऊपर कोहनियों को स्थापित करके, जिनमें अँगूठा अंदर की ओर हो ऐसी मुट्ठियाँ बाँधे हुए हाथों को (ग्रीवा में) मन्याओं के ऊपर रखकर (पश्चात्) नियन्त्रण का पट्ट ग्रीवा और मुट्ठियों के ऊपर फेंककर, पीछे की ओर खड़े हुए दूसरे पुरुष से ऊँचे किये हुए बायें हाथ के द्वारा यन्त्रणशाटक के दोनों सिरों को पकड़वाकर वैद्य (पुरुष को) कहे—कि सिरा को उठाने के लिए दाहिने हाथ से यन्त्रणशाटन को न बहुत गाढ न बहुत शिथिल लपेटो तथा रक्तस्रावणार्थ यन्त्रणशाटक को पीठमध्य में निष्पीडन करो और व्यध्यसिर पुरुष को मुख में वायु भरकर बैठाओ; मुख के अन्दर की सिराओं को छोड़कर सिर की शेष सिराओं का वेध करने (के समय) की यह यन्त्रणविधि है ॥७॥

वक्तव्य—प्रत्यादित्यमुखम्—आदित्य से यहाँ पर प्रकाश से मतलब है; अर्थात् प्रकाश जिस तरफ से आता है, उस तरफ मुख करके। सुप्रकाशित मुख होने से, मुख के साथ संपूर्ण शरीर भी हो जायगा, सिरा देखने में तथा कुठारिका प्रहार करने में सहलता हो जायगी, अन्यथा इधर उधर प्रहार होने का डर रहेगा। अरत्निमात्रोच्छ्रिते—कनिष्ठाङ्गुलिप्रमितरत्निमात्रेणोच्छ्रिते। (डल्हण)। मध्याङ्गुलीकूर्परयोर्मध्ये प्रामाणिकः करः। बद्धमुष्टिकरोरत्निररत्निः सकनिष्ठिकः॥ (हलायुध)। इस आसन के संबंध में हाराणचन्द्र लिखते हैं कि यह बेकार है, जमीन पर रोगी को बैठाने से भी सिरावेध का काम उत्तम होता है—अरत्निमात्रोच्छ्रित इत्यकिञ्चित्करमिवाभाति, अथवेव भूमावुपवेश्य कर्म कुर्वाणानामस्माकं नियमेन सिद्धयाप्तिः। सन्धिद्वयस्योपरि—जानुसंधिद्वयस्योपरि। अन्तर्गूढांगुष्ठकृतमुष्टि—अन्तःसंवृताङ्गुष्ठेन पाणिना कृता मुष्टिर्यत्र। इस प्रकार मुट्ठी बाँधने से मुष्टिपीडन में जोर मिलता है। वाग्भटाचार्य मुट्ठी में कुछ कपड़ा रखने के लिए कहते हैं—मुष्टिभ्यां वस्त्रगर्भाभ्याम्। अँगूठा मध्य में रखने से जो फायदा होता है, वही फायदा वस्त्र रखने से मिलता है। वायुपूर्णमुखम्—मुखद्वार बंद करके वायु से गालों को फुलाना। इसके सिवा दन्तपीडन और उत्कासन करने के लिए कहा है—दन्तप्रपीडनोत्कासगण्डाध्मानानि चाचरेत्। (अष्टांगहृदय)। दन्तप्रपीडनादि कर्मों से सिरोत्थापन में सहायता होती है। उत्कसनेन विसंरंभेण चापूर्यन्ते सिराः। (अष्टांगसंग्रह)। यन्त्रणशाटकम्—यन्त्रणवस्त्रपट्टम्।

तत्र पादव्यध्यसिरस्य पादं समे स्थाने सुस्थिरं स्थापयित्वाऽन्यं पादमीषत्संकुचितमुच्चैः कृत्वा व्यध्यसिरपादं जानुसन्धेरधः शाटकेनावेष्ट्य हस्ताभ्यां प्रपीड्यागुल्फं व्यध्यप्रदेशस्योपरि चतुरङ्गुले प्लोतादीनामन्यतमेन बद्ध्वा वा पादसिरां विध्येत् ॥८॥

(पादसिरावेध यन्त्रणविधि—) जिसके पैर की सिरा का वेधन करना हो, उसके पाँव को समस्थान पर अच्छी तरह से स्थिर करके दूसरे पाँव को कुछ सिकोड़कर ऊँचा करके सिरावेध के पाँव को जानुसंधि के नीचे (यन्त्रण)शाटक से (न बहुत ढीला न बहुत तंग) लपेटकर (नीचे के भाग को) टखने तक दोनों हाथों से पीड़न करके (सिरा उठने पर उसका वेधन करे); अथवा वेध करने के स्थान से चार अंगुल ऊपर वस्त्रादि में से किसी एक से बाँधकर सिरा का वेधन करे ॥८॥

वक्तव्य—हस्ताभ्यां प्रपीड्य—हाथों से पीडन करने पर भीतर का रक्त जल्दी सिरा में आकर वह उत्थित होती है। बद्ध्वा वा—यन्त्रणशाटक लगाने के दो स्थान बताये गये हैं; एक स्थान जानुसंधि के नीचे और दूसरा व्यध्यप्रदेश से चार अंगुल ऊपर। इनमें से किसी एक स्थान में शाटक बाँधना चाहिए।

अथोपरिष्टाद्धस्तौ गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टी सम्यगासने स्थापयित्वा सुखोपविष्टस्य पूर्ववद्यन्त्रं बद्ध्वा हस्तसिरां विध्येत् ॥९॥

(हस्तसिरावेधन यन्त्रणविधि—) सुख से बैठे हुए मनुष्य के अंदर की ओर किये हुए अँगूठे की मुट्ठी बाँधे हुए हाथों को ऊपर उचित आसन पर स्थापित करके पहले की तरह बाँधकर हाथ की सिरा का वेधन करे ॥९॥

वक्तव्य—हस्तौ—यहाँ पर दो हाथों की कोई आवश्यकता नहीं है; जिस हाथ की सिरा का वेधन करना हो उस हाथ को मुट्ठी बाँधकर आसन पर रखने से काम होता है। इसलिए 'हस्तं गूढाङ्गुष्ठकृतमुष्टिं सम्यगासने स्थापयित्वा' इत्यादि परिवर्तन करने से योग्य अर्थ निकलता है। अन्तर्गूढांगुष्ठकृतमुष्टि—अँगूठा भीतर रखने से मुट्ठी बाँधने में जोर मिलता है। इसके सिवा हस्ततल मध्य के ऊपर अँगूठे का दबाव पड़ता है, जिससे वहाँ का रक्त ऊपर सिराओं में चला जाता है। मुट्ठी को कई बार दबाने का कार्य करना चाहिए। इससे संपूर्ण हाथ की पेशियों का रक्त सिराओं में, विशेषतया उत्तान सिराओं में आकर वे उत्थित होती हैं। इससे काम न हो तो हाथ में पाषाण का गोल टुकड़ा भी देने का रिवाज था—पाषाणगर्भहस्तस्य। (अष्टांगहृदय)। पूर्ववत्—पाद की तरह कूर्परसंधि के नीचे या वेधस्थान के चार अंगुल ऊपर यन्त्रणशाटक से बाँधकर। अर्वाचीन हस्तसिरावेधनविधि—प्राचीन काल की तुलना में अर्वाचीन काल में सिरावेध का उपयोग बहुत मर्यादित हुआ है। इसके लिए प्रायः हाथ की सिरा पसंद की जाती है। हाथ की सिराओं में भी कूर्पर के सामने की सिरा (Median cubital vein) अधिकतर काम में लाई जाती है। इसका एक कारण यह है कि यह बड़ी सिरा है, जिससे काफी रक्त

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकल सकता है। दूसरा कारण यह है कि अन्य सिराओं के समान यह बहुत चल नहीं है क्योंकि यह सिरा स्नायुपट्टिका (Lacertus fibrosus) से कुछ बँधी हुई है, जिससे इसको थामने में सहूलता होती है। सिरा को उत्थित करने के लिए कूर्परसंधि के ऊपर यन्त्रणशाटक (Bandage) बाँधा जाता है तथा हाथ में कोई लकड़ी का टुकड़ा या वस्त्रपट्ट का बेलन (Bandage Roleer) दिया जाता है। सिरावेध के समय रोगी कुर्सी पर या बिस्तरे पर बैठाया जाता है। फिर त्वचा का विशोधन करके बाएँ हाथ के अँगूठे से सिरा को स्थिर करके दायें हाथ से नश्तर द्वारा उस पर छेदन किया जाता है। सिरा से निकलने वाला रक्त एक काँच के बर्तन में इकट्ठा किया जाता है। इससे निकाले हुए रक्त की राशि मालूम होती है।

गृध्रसीविश्वाच्योः सङ्कुचितजानुकूर्परस्य ॥१०॥

(गृध्रसी और विश्वाची में सिरावेधविधि—) गृध्रसी और विश्वाची में जानु और कूर्पर संकुचित किये हुए (मनुष्य की सिरा का वेधन करना चाहिए) ॥१०॥

श्रोणीपृष्ठस्कन्धेषून्नामितपृष्ठस्यावाक्शिरस्कस्योपविष्टस्य विस्फूर्जितपृष्ठस्य विध्येत् ॥११॥

(पृष्ठादिगत सिरवेधविधि—) पीठ को ऊँचे और सिर को नीचे किये हुए, (अतएव) जिसकी पीठ तनी हुई है ऐसे बैठे हुए (पुरुष) की पीठ, श्रोणी और कंधे में सिरा का वेधन करे ॥११॥

उदरोरसोः प्रसारितोरस्कस्योन्नामितशिरस्कस्य विस्फूर्जितदेहस्य ॥१२॥

(उदरवक्ष की सिरावेधनविधि—) छाती को प्रसारित किये हुए, सिर को ऊँचा किये हुए और देह को फैलाये हुए (मनुष्य) की उदर और छाती की (सिरा का वेधन करे) ॥१२॥

बाहुभ्यामवलम्बमानदेहस्य पार्श्वयोः ॥१३॥

(पार्श्वसिरावेधनविधि—) बाहुओं से लटकते हुए (पुरुष के) शरीर की पार्श्व की शिरा का वेधन करे ॥१३॥

अवनामितमेढ्रस्य मेढ्रे ॥१४॥

(शिश्नशिरावेधविधि—) जिसका शिश्न कुछ नीचे झुकाया गया है, ऐसे (पुरुष के) मेढ्र में (सिरावेधन करे) ॥१४॥

वक्तव्य—शिश्न के सिरावेधन के लिए उसका हर्षित होना याने रक्तपूर्ण होना बहुत आवश्यक है। इसलिए वाग्भटाचार्य लिखते हैं—प्रहृष्टे मेहने। (अष्टांगहृदय)। उन्नतमेढ्रस्य मेढ्रे। (अष्टांगसंग्रह)। प्रहृष्ट होने पर वह खड़ा हो जाता है, तब सिरावेध के समय उसको जरा दबाकर कर्म करना पड़ता है।

उन्नमितविदष्टजिह्वाग्रस्याधोजिह्वायाम् ॥१५॥

(जिह्वासिरावेधविधि—) जिसकी जिह्वा का अग्र ऊपर और मोड़कर अंदर गले की ओर किया गया है, ऐसे पुरुष की जीभ के नीचे की (सिरा का वेधन करे) ॥१५॥

वक्तव्य—विदष्ट—जिह्वा के अग्र को गले की तरफ लेना। इससे जिह्वा का अधोभाग स्पष्ट हो जाता है— जिह्वा विदष्टा ऊर्ध्वमुत्क्षिप्यान्तर्ग्रहणेन गले नीता। (इन्दु)।

अतिव्यात्ताननस्य तालुनि दन्तमूलेषु च ॥१६॥

(तालु और दन्तमूल सिरावेधविधि—) मुख को अत्यन्त चौड़ा खोले हुए पुरुष की तालु और दन्तमूलों की (सिरा का वेधन करे) ॥१६॥

एवं यन्त्रोपायानन्यांश्च सिरोत्थापनहेतून् बुद्ध्याऽवेक्ष्य शरीरवशेन व्याधिवशेन च विदध्यात् ॥१७॥

(अनुक्त यन्त्रणविधि—) इस प्रकार (वैद्य अपनी) बुद्धि से सिराओं को उठाने के लिए अन्य यन्त्रणोपायों को आविष्कृत करके रोग और शरीर के अनुसार (उनको सिरावेधन के) काम में लखे ॥१७॥

वक्तव्य—यन्त्रणोपाय—पट्टादि से बाँधना यही केवल यन्त्रण का अर्थ नहीं है; शरीर या अंग को फैलाना, सिकोड़ना, विस्फूर्जित करना, टेढ़ा करना इत्यादि उपाय भी यन्त्रण में समाविष्ट होते हैं। संक्षेप में, सिराओं का उत्थापन करने में सहायता करने का हर एक कर्म यन्त्रण का उपाय होता है।

मांसलेष्ववकाशेषु यवमात्रं शस्त्रं निदध्यात्, अतोऽन्येष्वर्धयवमात्रं व्रीहिमात्रं वा व्रीहिमुखेन, अस्थ्नामुपरि कुठारिकया विध्येदर्धयवमात्रम् ॥१८॥

(सिरावेधन में शस्त्रपातन का प्रमाण—) मांसल प्रदेशों में जवमात्र शस्त्र घुसाना चाहिए, इससे अन्य (जहाँ मांस अधिक न हो) आधे जौ के बराबर या व्रीहिमुख से व्रीहि के बराबर (वेधन करे)। हड्डियों के ऊपर कुठारिका से आधे जौ के बराबर वेधन करे ॥१८॥

वक्तव्य—सिरावेध में शस्त्रपात का यहाँ पर जो प्रमाण बताया गया है, वह केवल मार्गदर्शन के लिए है। सिरावेधन में यह ध्यान में रखना चाहिए कि वेधन से सिरा में आर-पार छेद न हो, केवल सामने की दीवाल में हो। अन्यथा सिरासमीपवर्ती धमनी नाड़ी आदि में चोट पहुँचने का डर रहता है। आगे ३२वें सूत्र में दुष्ट सिरावेध भी देखो।

भवन्ति चात्र—

व्यभ्रे वर्षासु विध्येत(त्तु) ग्रीष्मकाले तु शीतले।
हेमन्तकाले मध्याह्ने शस्त्रकालास्त्रयः स्मृताः ॥१९॥

(शस्त्रकर्म के लिए उचित काल—) वर्षाऋतु में जब बादल न हों तब, ग्रीष्मऋतु में शीतलकाल (पूर्वाह्न) में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और हेमन्तऋतु में मध्याह्न मे वेधन करे। शस्त्रकर्म के लिए (इन अनुचित ऋतुओं में) ये ही काल होते हैं॥१९॥

वक्तव्य—शस्त्रकर्म तथा वमनादि पंचकर्मों के लिए हमेशा प्रावृट्, शरद् और वसन्त ये तीन साधारण लक्षण ऋतुविहित होते हैं। वर्षा, ग्रीष्म और हेमन्त अतिशय लक्षणान्वित होने के कारण निषिद्ध माने गये हैं। परंतु आत्ययिक अवस्था में सब ऋतुओं में चिकित्सा करनी पड़ती है। उस समय किस दिन और दिन के किस समय पर काम करना चाहिए, इसका विवरण इस श्लोक में किया गया है। पीछे भी ६ श्लोक की टिप्पणी देखो।

सम्यक्शस्त्रनिपातेन धारया या स्रवेदसृक्।
मुहूर्तं रुद्धा तिष्ठेच्च सुविद्धां तां विनिर्दिशेत्॥२०॥

(सुविद्धसिरा का लक्षण—) शस्त्र के सम्यक् प्रयोग से (विद्ध हुई) जो (सिरा) धारारूप में कुछ काल तक रक्त को स्रवती है तथा रोकने पर बंद हो जाती है, उसको सुविद्ध जानना चाहिए॥२०॥

वक्तव्य—रुद्धा—शारीरिक कर्मों का या शाटक का नियन्त्रण छोड़ करके जरा सा दबाने पर। दबाने का काम प्रायः अंगुलि से किया जाता है—अंगुल्यग्रेणावपीडयेत्। (सुश्रुत)।

यथा कुसुम्भपुष्पेभ्यः पूर्वं स्रवति पीतिका।
तथा सिरासु विद्धासु दुष्टमग्रे प्रवर्तते॥२१॥

जैसे, कुसुम्भ (Carthamus Tinctorius) के फूलों (को तोड़ने) से प्रथम पीला रस बहता है, उसी प्रकार सिराओं के वेधन से प्रथम दुष्ट रक्त बहता है॥२१॥

वक्तव्य—रक्तमोक्षण से रक्तदोष तथा अन्य दोष दूर होकर स्वास्थ्य ठीक होता है, यह अनुभवसिद्ध बात है। इस अनुभव के आधार पर यह कल्पना की गई है कि जो रक्त प्रथम निकलता है, उसमें दोष होते हैं। परंतु यह कल्पना सिरावेधजन्य रक्तमोक्षण के संबंध में पूर्णतया ठीक नहीं है। सिरागत रक्त में संपूर्ण शरीर के रक्त का संबंध है—सिराऽङ्गव्यापके रक्ते। यदि रक्त में कुछ दोष हो तो प्रारंभिक और अन्तिम रक्त में एक सा होगा और जितने प्रमाण में रक्त निकाला जायगा, उतने प्रमाण में दोष भी रक्त के साथ निकल जायगा। प्रथम खराब और पश्चात् शुद्ध यह कल्पना शृंग, अलाबु और प्रच्छान इनके द्वारा निकाले जाने वाले रक्त के संबंध में ठीक है, क्योंकि वहाँ पर प्रथम स्थानिक रक्त का संबंध आता है। आगे ३०वें सूत्र का वक्तव्य भी देखो।

मूर्च्छितस्यातिभीतस्य श्रान्तस्य तृषितस्य च।
न वहन्ति सिरा विद्धास्तथाऽनुत्थितयन्त्रिताः॥२२॥

(सिरावेधन से सम्यक् प्रवाह न होने के कारण—) बेहोश, अत्यन्त डरे हुए, थके हुए, प्यासे (मनुष्य) की सिराएँ तथा (ठीक) न उठी हुई और यन्त्रण की हुई सिराएँ विद्ध होने पर (ठीक) नहीं स्रवती हैं॥२२॥

वक्तव्य—न वहन्ति—अल्पमात्रा में रक्त निकलता है या नहीं निकलता—शोणितं न स्रवति, अल्पं वा स्रवति। (सूत्र, १४)। इसके कारण मूर्च्छादि हैं। इन कारणों से सिरागत रक्तप्रवाह क्यों बंद हो जाता है? इसका यथार्थ ज्ञान होने के लिए शरीरगत रक्त की राशि का रक्तवाहिनियों में और शरीर के विविध अंगों में किस प्रमाण में विभजन होता है, इसका विवरण करना आवश्यक है। रक्तवह संस्थान के हृदय, धमनियाँ, धमनिकाएँ (Arterioles) और केशिकाएँ (Capillaries), तथा सिराएँ करके चार अंग होते हैं। हृदय से निकला हुआ रक्त धमनियों में, धमनियों से धमनिकाओं और केशिकाओं में, और केशिकाओं से सिराओं में आकर फिर से हृदय में प्रविष्ट होता है। (१) सिराएँ और धमनियाँ काफी मोटी मोटी होती हैं। धमनिकाएँ और केशिकाएँ अत्यंत छोटी होती हैं। परंतु इनकी संख्या अगणित होने के कारण इनकी समाई बहुत अधिक हो जाती है। एक शास्त्रज्ञ ने यह अनुभव किया है कि शरीर की संपूर्ण केशिकाओं का व्यत्यस्त क्षेत्रफल (Cross section area) महाधमनी (Aorta) के क्षेत्रफल से आठ सौ गुना के लगभग अधिक होता है। दूसरे शास्त्रज्ञ का कथन है कि यदि सारी केशिकाएँ एक रेखा में लगाई जायँ तो उनकी लम्बाई पृथ्वी के घेरे से कई गुना अधिक हो जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि केशिकाएँ अत्यंत छोटी होने पर भी उनकी समाई बहुत अधिक होती है। (२) धमन्यादि रक्तवाहिनियों के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि उनमें संकोच और विस्फार हो सकता है और इसका नियन्त्रण एक विशेष केन्द्र (Vasomotor centre) के द्वारा और स्वतन्त्र नाडीसंस्थान (Autonomous Nervous system) के वाहिनीनियन्त्रक नाड़ियों से (Vasomoter Nerves) होता है। यह संकोच-विस्फार धमनियों और सिराओं से केशिकाओं में अधिक हो सकता है। (३) शरीर की संपूर्ण केशिकाएँ एक समय में विस्फारित नहीं रहतीं; शरीर के जिस अंग में कार्य होता है, उस अंग की केशिकाएँ विस्फारित होती हैं और शेष अंगों की कुछ संकुचित हो जाती हैं। (४) यद्यपि संपूर्ण शरीर में केशिकाएँ होती हैं, तथापि पचनसंस्थान में उनकी बहुत अधिकता होती है। इस विभाग को औदरिक (Splanchnic) कहते हैं। इस विभाग की केशिकाएँ विस्फारित होने पर उनमें संपूर्ण शरीर के रक्त का तिहाई अंश फँस जाता है। इस श्लोक के अर्थ की दृष्टि से निम्न बातें ध्यान में रखनी चाहिएँ—केशिकाओं से रक्त सिराओं में आता है; शरीर की संपूर्ण केशिकाओं की समाई बहुत होती है। यदि वह सारी की सारी या केवल औदरिक विभाग की विस्फारित हो जायँ तो वे संपूर्ण शरीर का रक्त अपने में स्पंज की भाँति सोख ले सकती हैं। ये जब विस्फारित होती हैं, तब इनकी समाई बढ़ने के कारण तथा इनके भीतर का रक्तभार (Blood pressure) कम होने के कारण सिराओं में रक्त नहीं जा सकता, जिससे वह रक्तहीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अतएव निपतित (Collapsed) हो जाती हैं और यन्त्रण करने पर भी रक्त न आने के कारण वे उत्थित नहीं हो सकतीं। मूर्च्छित—मूर्च्छा के कारणों का और संप्राप्ति का कुछ विवरण पीछे छठे अध्याय के चौबीसवें सूत्र के वक्तव्य में किया है। इससे मालूम होगा कि मस्तिष्केतर अंगों में, विशेषतया उदरविभाग में, केशिकाओं का विस्तार और उसी के कारण मस्तिष्क में रक्त की कमी यह मूर्च्छा की संप्राप्ति है। केशिकाओं का विस्तार मूर्च्छा के कारणों का परिणाम वाहिनियों के नियन्त्रण केन्द्र के ऊपर होने से होता है। सिरावेध करने से पहले यदि रोगी मूर्च्छित हो, या सिरावेध के समय रोगी मूर्च्छित हो जाय तो सिरावेध से रक्त नहीं निकल सकता, क्योंकि संपूर्ण शरीर का रक्त केशिकाओं में फँस जाता है तथा जिन केशिकाओं का रक्त विद्ध सिरा में आता है, वे केशिकाएँ भी विस्फारित होती हैं और रक्त को अपने भीतर रख लेती हैं। अतिभीतस्य—भीति का परिणाम मस्तिष्कगत वाहिनीनियन्त्रण केन्द्र के ऊपर होकर वह कर्महीन हो जाता है, जिससे शरीर की केशिकाएँ विस्फारित हो जाती हैं और सिरा को रक्त नहीं मिलता। डल्हणाचार्य के 'अतिभीतादिष्वतिभयादिजनितवातेन सिरामुखनिरोधात्' वचन का अर्थ इसी दृष्टि से करना चाहिए। श्रान्त—परिश्रम के कारण थके हुए मनुष्य का अधिकांश रक्त पेशियों में फँसा रहता है, जिससे सिरा में बहुत कम रक्त आता है। तृषित—तृषा शरीरगत जलांश की कमी की सूचक होती है। जब शरीर में जलांश कम होता है, तब सिराएँ भी ठीक नहीं उठतीं तथा वेध करने पर उनसे ठीक स्राव नहीं होता। सिरावेध के पूर्व द्रवभूयिष्ठ आहार देने का यही कारण है। अतिभीतस्य—अति शब्द का संबंध भीत के समान श्रान्त और तृषित के साथ भी लेना चाहिए। इन बातों का उल्लेख सूत्रस्थान के शोणितवर्णनीय अध्याय में (प्रथम खण्ड) पहले किया जा चुका है।

क्षीणस्य बहुदोषस्य मूर्च्छयाऽभिहतस्य च।
भूयोऽपराह्णे विस्राव्या साऽपरेद्युस्त्र्यहेऽपि वा॥२३॥

(पुनर्वेधन के लिए कारण और काल—) दुर्बल, अधिक दोषयुक्त और मूर्च्छा से आक्रान्त (मनुष्य) की सिरा फिर से अपराह्ण में, दूसरे दिन या तीसरे दिन खोलनी चाहिए॥२३॥

वक्तव्य—क्षीणस्य—दुर्बल मनुष्य से एक समय में अधिक रक्त का निर्हरण नहीं कर सकते हैं, इसलिए दो तीन बार करके उसमें रक्त निकालना चाहिए। बहुदोषस्य—एक समय निकाले हुए रक्त में शरीर से जितना दोष निकल जाना चाहिए, उतना नहीं निकल सकता। इसलिए अनेक बार करके अधिकदोषयुक्त रोगी का रक्त निकालना चाहिए—मूर्च्छयाऽभिहतस्य—रोगी दुर्बल और बहुदोष युक्त न होने पर भी कई बार रक्त को देखकर मूर्च्छित हो जाते हैं। मूर्च्छा रक्तविस्रावण के समय का एक उपद्रव है। यह उपद्रव अधिकतर प्रकृतिवैशिष्ट्य के कारण ही उत्पन्न होता है—तस्माद्रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुवि मानवाः। (सुश्रुत)। इसलिए 'मूर्च्छयाऽभिहतस्य' का अर्थ है 'रक्तविस्रावण के समय याने रक्तस्रावण के बीच में जिसको मूर्च्छा उत्पन्न हुई है, उसकी सिरा'। रक्तविस्रावण के बीच में अगर मूर्च्छा उत्पन्न हो जाय तो रक्तविस्रावण बंद करके रोगी की मूर्च्छा शीतल जलादि के प्रयोग से दूर करने की कोशिश करनी चाहिए—यस्य तु स्रवति रक्ते मूर्च्छा जायते तस्य विमुच्य यन्त्रं शीतसलिलार्द्रपाणिस्पर्शेन व्यजनवायुना श्रोत्रसुखेन वचसा च समाश्वासयेत्। (अष्टांगसंग्रह)। वास्तव में मूर्च्छा उत्पन्न होने के पूर्वरूप मालूम हो जायँ तो विस्रावण बंद करना चाहिए। प्रकृतिवैशिष्ट्य के अतिरिक्त अत्यधिक रक्तस्राव से भी मूर्च्छा उत्पन्न होती है। मूर्च्छा में, मस्तिष्क में रक्त की कमी होती है। प्रकृतिवैशिष्ट्यजन्य मूर्च्छा में वाहिनीनियन्त्रण केन्द्र के अस्थैर्य से मस्तिष्क के तर भागों में रक्त इकट्ठा होने से मूर्च्छा होती है और अतिस्रावजन्य मूर्च्छा में वास्तव में शरीर में रक्त की कमी होने से मस्तिष्क में भी होती है। सिरावेधन के समय रोगी को खड़ा रखने से रक्त की उचित राशि निकलने से पूर्व मस्तिष्क के ऊँचे स्थान के कारण उसमें जल्दी रक्त की कमी होकर मूर्च्छा आती है। लेटे हुए आसन में सिर हृदय के बराबर होने से अधिक रक्त की राशि निकालने पर भी रोगी को जल्दी मूर्च्छा नहीं आती। इसलिए सिरावेधन के लिए बैठने का आसन उत्तम होता है। साऽपरेद्युस्त्र्यहेऽपि वा—इनके अतिरिक्त पक्ष के या मास से बाद भी फिर विस्रावण करा सकते हैं—स्नेहोपस्कृतदेहस्य पक्षाद्वा भृशदूषितम्। (अष्टांगहृदय)। मासमात्रं वा स्नेहादिभिरुपचर्य पुनर्विध्येत्। (अष्टांगसंग्रह)।

रक्तं सशेषदोषं तु कुर्यादपि विचक्षणः।
न चातिप्रस्रुतं कुर्याच्छेषं संशमनैर्जयेत्॥२४॥

(रक्तविस्रावण में कुछ दोष शेष रखने का महत्त्व—) बुद्धिमान् वैद्य रक्त को कुछ दोषयुक्त रक्खे, परंतु उसको अतिस्रावित न करे, (और जो कुछ भी) शेष (रहे, उस) को संशमन (ओषधियों) द्वारा निवारण करे॥२४॥

वक्तव्य—सशेषं दोषं कुर्यात्—शरीर में इकट्ठे हुए दोषों को निःशेष करना यह चिकित्सा का उद्देश्य होता है। जब तक दोष शरीर में शेष रहते हैं, तब तक रोग का पूर्ण निर्मूलन नहीं होता तथा रोगी भी पूर्णतया रोग से निर्मुक्त नहीं कहा जा सकता। रोगों की चिकित्सा ओषधियों द्वारा तथा शस्त्रप्रणिधान द्वारा की जाती है—शरीरदोषप्रकोपे खलु शरीरमेवाश्रित्य प्रायशस्त्रिविधमौषधमिच्छन्ति—अन्तःपरिमार्जनं, बहिःपरिमार्जनं, शस्त्रप्रणिधानं चेति। (चरक, सूत्र ११)। ओषधियों की विशेषता यह होती है कि उन्हीं के द्वारा शरीरगत दोषों की पूर्ण निःशेषता होती है, परंतु यदि दोषों की राशि अधिक हो तो समय अधिक लग जाता है। शस्त्रकर्म की विशेषता यह होती है, उसके द्वारा थोड़े समय में शरीरगत अधिकांश दोष शरीर के बाहर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकाले जा सकते हैं और इसी दृष्टि से प्रथम अध्याय में लिखा है—अष्टास्वपि चायुर्वेदतन्त्रेष्वेतदेवाधिकमभिमतमाशुक्रियाकरणात् । (सूत्रस्थान) । परंतु इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि शस्त्रकर्म के द्वारा दोषों की निःशेषता नहीं हो सकती । ओषधि और शस्त्रकर्म के भेद के स्पष्टीकरणार्थ यहाँ पर दो उदाहरण दिये जाते हैं—यदि शरीर में कहीं विद्रधि हुई हो तो उपनाहप्रलेप के द्वारा वह विदीर्ण होकर ठीक हो जायगी, परंतु इसके लिए अधिक समय लगेगा । यदि शस्त्र से चीरा लगाया जाय तो चीरा देते ही विद्रधि के अधिकांश दोष चले जायँगे, परंतु निःशेषता नहीं होगी । इसके लिए फिर भी ओषधियों का प्रयोग करना पड़ेगा । केवल ओषधिचिकित्सा की अपेक्षा शस्त्रकर्म और ओषधि की संयुक्त चिकित्सा विद्रधि को थोड़े काल में ठीक कर देगी । वैसा ही, जलोदर में अनुभव आता है । केवल ओषधि की अपेक्षा शस्त्रकर्म से जल निकाल देने पर ओषधिचिकित्सा करने से जलोदर थोड़े समय में ठीक हो जाता है । संक्षेप में, जहाँ शक्य हो वहाँ पर शस्त्रकर्म के द्वारा अधिकांश दोषों को निकालकर ओषधियों के द्वारा दोषों को निःशेष करना उचित है । विस्राव्य रोगों की चिकित्सा भी इसी साधारण तत्त्व पर करनी चाहिए । यदि केवल विस्रावण के द्वारा निःशेषता करनी हो तो रक्त की अत्यधिक राशि निकालनी पड़ेगी । रक्त शरीर का मूल और प्राणों में से एक प्राण है—देहस्य रुधिरं मूलं रुधिरेणैव धार्यते ॥ दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः । शङ्खौ मर्मत्रयं कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम् ॥ (चरक, सूत्र २९) । इसलिए यदि दोषों की निःशेषता उत्पन्न करने के लिए रक्त अत्यधिक राशि में निकाला जाय तो दोष निःशेष जरूर हो जायँगे, परंतु उसके साथ शरीर भी निष्प्राण हो जायगा । इसलिए लिखते हैं—न चातिप्रस्रुतं कुर्यात् । अष्टांगहृदय में वाग्भटाचार्य लिखते हैं—अतिस्रुतौ हि मृत्युः स्याद्दारुणा वा चलामयाः । शेषं संशमनैर्जयेत्—सिरावेध करके रक्त के द्वारा अधिकांश दोषों का शोधन होने के पश्चात् जो अंश शरीर में शेष रहता है, उससे फिर रोग उत्पन्न होने का डर नहीं रहता । वे कमजोर हो जाते हैं और उनका नाश संशामक ओषधियों द्वारा धीरे धीरे कर सकते हैं—किञ्चिद्धि शेषे दुष्टास्रे नैव रोगोऽतिवर्तते । सशेषमप्यतो धार्यं न चातिस्रुतमाचरेत् ॥ (अष्टांगहृदय) । फिर जो शेष दोष रहते हैं, उनका संशमन विरेचन, उपवास, शीतोपचार, स्निग्धमधुरादि भोजन इत्यादि से करना चाहिए—ततोऽपि शेषं सर्वथावाप्य विस्राव्य रक्तस्य शीतसेकप्रदेहविरेकोपवासस्निग्धमधुरान्नपानैः प्रसादयेत् । (अष्टांगसंग्रह) । ये जो शीतसेकादि उपचार शेष दोषसंशमनार्थ प्रयुक्त किये जाते हैं, वे ही अविस्राव्य रोगियों में, जैसे गर्भिणी, अल्पदोषयुक्त अवस्था में प्रयुक्त करने चाहिएँ—अविस्राव्यरक्तस्य गर्भिण्यादेरेवमेव प्रसादयेत् । (इन्दु) ।

बलिनो बहुदोषस्य वयःस्थस्य शरीरिणः ।
परं प्रमाणमिच्छन्ति प्रस्थं शोणितमोक्षणे ॥२५॥

(सिरावेध में रक्त निकालने का परम प्रमाण—) बलवान्, अधिक दोषयुक्त, युवा मनुष्य के रक्तमोक्षण में (आचार्य रक्तराशि का) अधिक से अधिक परिमाण एक प्रस्थ पसंद करते हैं ॥२५॥

वक्तव्य—वयःस्थ—इससे यद्यपि सर्वावस्था का बोध होता है तथापि यह शब्द कई बार यौवनावस्था के लिए प्रयुक्त होता है । यहाँ पर भी इसका अर्थ जवान मनुष्य है । अष्टांगहृदय में इस शब्द का प्रयोग मिलता है—मांसं सद्योहतं शुद्धं वयःस्थं च भजेत् । (सूत्रस्थान ६) । इस श्लोक की टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—तथा वयसि तिष्ठतीति वयःस्थम् । यद्यपि सर्वं मांसं वयःस्थमेव तथाऽपीह वयःस्थमित्युक्त्या शोभनं तरुणं वय इति शस्यते । तस्मादूनः प्राणिनो मांसं भजेन्न बालवृद्धयोरिति ॥ शरीरिणः—मनुष्यस्य । प्रस्थम्—रक्तमोक्षण में रक्तनिर्हरण की चरम सीमा इससे बताई गई है । वास्तव में १६ पलों का प्रस्थ होता है, परंतु रक्तमोक्षण में १३॥ पलों का प्रस्थ माना जाता है—वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे । सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥ इसके अनुसार रक्तमोक्षण की परम राशि ५४ तोले की होती है । इसका मतलब यह है कि आवश्यकता पड़ने पर बलवान् जवान मनुष्य की सिरा से चौवन तोले रक्त निकाल सकते हैं । प्रत्येक रोग और रोगी में इतना रक्त निकालने की आवश्यकता नहीं है । किसी में दो तोले से, किसी में चार तोले से, किसी में आठ तोले से काम हो सकता है । रक्त की राशि रोग और रोगी का बलाबल देखकर निश्चित करनी चाहिए । बलदोषप्रमाणाद्वा विशुद्ध्या रुधिरस्य वा । रुधिरं स्रावयेज्जन्तोराशयं प्रसमीक्ष्य वा ॥ (१५ चरक, सूत्र २४) । यहाँ पर रक्तराशि का जो पर प्रमाण बतलाया है, वह कुछ लोगों को आधुनिक काल में अधिक मालूम होता है—बलिन इति । अत्र वमने च विरेके च तथा शोणितमोक्षणे । सार्धत्रयोदशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः ॥ इति स्थितेऽपि बहुशोऽभिवीक्ष्य बलवत्त्वादिधर्मवतामिदानीं द्विपलमेव परं प्रमाणमित्यध्यवस्यामः । (हाराणचंद्र) । परंतु वास्तव में यह प्रमाण बहुत ठीक है । आधुनिक पाश्चात्त्य वैद्यक में यद्यपि बहुत नहीं तथापि कई रोगों में सिरावेध काम में लाया जाता है और वहाँ पर प्रत्येक समय रक्त की राशि भी बताई जाती है । चिरकालीन हृद्रोग में २०-३० औंस (५०-७५ तोले) तक रक्त निकालने के लिए बतलाया है—The withdrawal of blood to the extent of 20 or 30 ounces by a cut into the median bacilic vein relieves the distress by diminishing the blood flow to the heart. *Taylor's Practice of Medicine.* A good quantity of blood occasionally even up to 20 or 30 ounces should be withdrawn. *Practice of Medicine by F. W. Price.*

पश्चात्कर्म—सिरावेध करने पर रक्त इकट्ठा करने के लिए वेधस्थान के नीचे कोई पात्र रखना चाहिए, जिससे निकाले हुए रक्त की राशि निश्चित करने में सुविधा होती है । उचित राशि में रक्त निकालने पर सिरामुख को अँगूठे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से दबाकर और बंधन छोड़कर, तैल में भिगोये हुए कपड़े की पट्टी उस पर रखकर बाँधना चाहिए और कुछ रोज तक सिरावेध के अंग को आराम से रखना चाहिए तथा रोगी को अग्निदीपक, सुपाच्य आहार तथा पथ्यकर विहार सेवन करना चाहिए—ततः स्रुतरक्तस्य व्यधमनुलोममङ्गुष्ठेनोपरुध्य शनैःशनैर्यन्त्रमपनीयाश्वासयेत्। सतैलं च प्लोतं सिरामुखे दत्त्वा बध्नीयात्। संवेशयेच्चैनम्। उन्मार्गगा यन्त्रनिपीडनेन स्वस्थानमायान्ति पुनर्न यावत्। दोषाः प्रदुष्टा रुधिरं प्रपन्नास्तावद्धिताहारविहारभाक् स्यात् ॥ नात्युष्णशीतं लघुदीपनीयं रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम्। तदा शरीरं ह्यनवस्थितासृगग्निर्विशेषादिति रक्षितव्यः ॥ (अष्टांगसंग्रह, सूत्र ३६)।

अब इसके बाद रोगानुसार सिरावेध के स्थान बतलाये जाते हैं—

तत्र पाददाहपादहर्षाववाहुकचिप्पविसर्पवातशोणितवातकण्टकविचर्चिकापाददारीप्रभृतिषु क्षिप्रमर्मण उपरिष्टाद् द्व्यङ्गुले व्रीहिमुखेन सिरां विध्येत्, श्लीपदे तच्चिकित्सिते यथा वक्ष्यते, क्रोष्टुकशिरःखञ्जपङ्गुलवातवेदनासु जङ्घायां गुल्फस्योपरि चतुरङ्गुले, अपच्यामिन्द्रबस्तेरधस्ताद् द्व्यङ्गुले, जानुसन्धेरुपर्यधो वा चतुरङ्गुले गृध्रस्याम्, ऊरुमूलसंश्रितां गलगण्डे, एतेनेतरसक्थि बाहू च व्याख्यातौ ॥२६॥

(रोगानुसार शाखाओं की वेध्य सिराएँ—) पाददाह, पादहर्ष, अवबाहुक, चिप्प, विसर्प, वातरक्त, वातकण्टक, विचर्चिका, पाददारी प्रभृति (रोगों) में क्षिप्रमर्म से ऊपर दो अंगुल व्रीहिमुख से सिरावेध करे। श्लीपद में उसकी चिकित्सा में जैसा कहा जायगा (वैसा करे)। क्रोष्टुकशिर, खञ्ज, पङ्गुल, वातवेदनाओं में गुल्फ के ऊपर चार अंगुल जङ्घा में (व्रीहिमुख से सिरावेध करे)। अपची में इन्द्रबस्ति से दो अङ्गुल नीचे (सिरावेध करे)। गृध्रसी में जानुसंधि से दो अंगुल ऊपर वा नीचे (सिरावेध करे)। गलगण्ड में ऊरुमूल में स्थित सिरा का (वेधन करे)। इसी से दूसरी टाँग और दोनों बाहुओं की (रोगानुसार वेध्य सिराओं की) व्याख्या हो जाती है ॥२६॥

वक्तव्य—यहाँ पर जो अनेक रोग निर्दिष्ट किये गये हैं, उनमें पाददाह, पादहर्ष, अवबाहुक, वातशोणित, वातकण्टक, क्रोष्टुकशिर, खञ्ज, पङ्गु, गृध्रसी ये वातरोग हैं जिनका वर्णन निदान के प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। पाददारी, विचर्चिका और चिप्प क्षुद्ररोग हैं, जिनका वर्णन निदान के तेरहवें अध्याय में किया गया है। अपची और गलगण्ड का वर्णन निदान के ग्यारहवें अध्याय में और विसर्प का दसवें अध्याय में किया गया है। वातवेदना—शाखाओं में होने वाली वातजन्य विविध वेदनाएँ। इसमें आधुनिक वातनाडीशूल (Neural gias) और वातनाडीशोथ (Neuritis) का समावेश कर सकते हैं। पाददाह पादहर्ष—इससे हस्तदाह और हस्तहर्ष का भी बोध हो सकता है—Hot or itching hands and feet, Paraesthesia the hands and feet. अवबाहुक—हाराणचन्द्र के पा अवबाहुक नहीं है। वे लिखते हैं—केनचिदत्रावबाहुको पठ्यते, तन्न समीचीनं, प्रतिकारविधावस्य व्यधने जिह्वासिरा इस विषय का विवरण वातव्याधिचिकित्सा में कि जायगा। पाददाहादि रोगों में Dorsal venous arch वेध होता है; क्रोष्टुकशीर्षादि रोग, अपची में Sma saphenous vein में वेध होता है।

विशेषतस्तु वामबाहौ कूर्परसन्धेरभ्यन्तरतो बाहुमध्ये प्लीह्नि कनिष्ठिकानामिकयोर्मध्ये वा, ए दक्षिणबाहौ यकृदाख्ये[1] (कफोदरे च,) एतामे च कासश्वासयोरप्यादिशन्ति, गृध्रस्यामिव विश्वाच्याम् ॥२७॥

(बाहु के विशेष सिरावेध—) विशेष करके प्ली (वृद्धि) में वामबाहु के मध्य में कूर्परसंधि के भीत अथवा कनिष्ठिका और अनामिका (अंगुलियों) के म में सिरावेध करे। इसी प्रकार यकृदाख्य में दक्षिणबा में कूर्परसंधि पर अथवा कनिष्ठिका अनामिका के मध्य सिरावेध करे। कास-श्वास में (कई आचार्य) इन्हीं का वेध करने को कहते हैं। विश्वाची में गृध्रसी के समा कूर्परसंधि के ऊपर या नीचे चार अंगुल प्रदेश में वे करना चाहिए ॥२७॥

वक्तव्य—कूर्परसंधेरभ्यन्तरतः—कोहनी के साम वाली सिरा Median cubital vein। प्लीह्नि—प्लीहोदर में। आयुर्वेद में प्लीहा का यही एक रोग मिलता है, अथ प्लीहोदर के जो कारणभूत रोग होते हैं; उनमें जब प्ली वृद्धि होगी, तब उन रोगों में भी सिरावेध करना चाहिए। कनिष्ठिकानामिकयोर्मध्ये—इससे First dorsal metacarp vein का बोध होता है। कफोदरे च—इसके संबंध में हारा चन्द्र लिखते हैं—अत्र यकृदाख्ये कफोदरे च इत्यनाकरः पा कफोदरे सिराव्यधस्यानुपयोगात् ॥ कासश्वासयोः—हृद्रोग वृक्करोगजन्य कास-श्वास में सिरावेध से फायदा होता है। प्लीहोदर और यकृतोदर में जिस कूर्परसन्धेरभ्यन्तर सि का वेध करने के लिए कहा गया है; आधुनिक काल में सिरावेध की आवश्यकता होती है, तब रोगनिरपेक्ष प्रा इसी सिरा का वेध किया जाता है। कास-श्वास के अति अन्तर्विद्रधि में भी इसी सिरा का वेध कुछ आचार्य क हैं—रक्तपित्तानिलोत्थेषु केचिद्बाहौ वदन्ति तु। (सुश्रुत, चिकि त्सा १६)। ज्वर और विषम ज्वर में भी इसी का वेध हो है। २९वें सूत्र का वक्तव्य देखो।

श्रोणिं प्रति समन्ताद् द्व्यङ्गुले प्रवाहिकायां, शूलिन्यां, परिवर्तिकोपदंशशूकदोषशुक्रव्यापत्सु मेढ्रमध्ये, (वृषणयोः पार्श्वे मूत्रवृद्ध्यां, नाभेरध तुरङ्गुले सेवन्यां वामपार्श्वे दकोदरे,) वामपा कक्षास्तनयोरन्तरेऽन्तर्विद्रधौ पार्श्वशूले च, बा

१ यकृदाल्ये.

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शोषावबाहुकयोरप्येके वदन्त्यंसयोरन्तरे, त्रिकसन्धिमध्यगतां तृतीयके, अधःस्कन्धसन्धिगतामन्यतरपार्श्वसंस्थितां चतुर्थके ॥२८॥

(रोगानुसार पीठ और वक्ष के सिरावेध स्थान—) शूलयुक्त प्रवाहिका में श्रोणी से आस पास दो अंगुल पर सिरावेध करे । परिवर्तिका, उपदंश, शूकदोष और शूकदोषों में शिश्न के मध्य में (सिरावेध करे)। मूत्रवृद्धि में, वृषण के पार्श्व में, और जलोदर में नाभि से नीचे चार अंगुल सेवनी के बाईं ओर (वेधन करे)। अन्तर्विद्रधि और पार्श्वशूल में वामपार्श्व में कक्षा और स्तन के बीच में (सिरावेध करे)। (कई आचार्य) कहते हैं कि बाहुशोष और अवबाहुक में अंसों के मध्य प्रदेश में (सिरावेध करना चाहिए)। तृतीयक (स्वरूप के विषम ज्वर) में त्रिकसंधि के मध्य की सिरा का (वेधन करे)। चतुर्थक (स्वरूप के विषम ज्वर) में स्कन्धसंधि के नीचे स्थित किसी भी पार्श्व की सिरा का (वेधन करे) ॥२८॥

वक्तव्य—मेढ्रमध्ये—इससे Superficial dorsal vein of the penis का बोध होता है । वृषणयोः पार्श्वे इत्यादि—मूत्रवृद्धिदकोदर के यहाँ पर जो वेधस्थान बतलाये गये हैं, वे सिरावेध के न होकर जलवेधन के हैं—अधो नाभेर्वामतश्चतुरङ्गुलमपहाय रोमराज्या व्रीहिमुखेन विध्येत् । (जलोदरचिकित्सा)। सेवन्याः पार्श्वतोऽधस्ताद्विध्येद् व्रीहिमुखेन तु । (मूत्रवृद्धिचिकित्सा)। अज्ञान से यह भूल हो गई है । इस पर हाराणचंद्र लिखते हैं—अहो गुरोरश्रुतश्रुतः कश्चित् मूत्रवृध्यां दकोदरे च दोषोदकावसेचनार्थं विधित्सिते व्यधने एव सिराव्यधो मन्यमानोऽत्र 'वृषणयोः पार्श्वे मूत्रवृद्धयां' तथा 'नाभेश्चतुरंगुले सेवन्या वामपार्श्वे दकोदरे' इत्यश्रुतपूर्वमनभिज्ञसमाचक्षाणः स्वस्यैवाश्रुतत्वमदृष्टकर्मत्वमस्थानवादित्वेन पुनर्व्यध्यसिरत्वं चाख्यापयतीति ॥ अन्तर्विद्रधौ—कफजान्तर्विद्रधौ—यथोद्दिष्टां सिरां विध्येत् कफजे विद्रधौ भिषक् । (चिकित्सा १६)। अन्य दोषज विद्रधि में बाहुसिरा का वेध कुछ आचार्य बताते हैं । ऊपर २८वें सूत्र के वक्तव्य में कास-श्वास की टिप्पणी देखो । पार्श्वशूल—इससे Dry pleurisy या Pneumonia की प्रारंभिक अवस्था का ग्रहण कर सकते हैं। नीचे ३०वें सूत्र के वक्तव्य के अन्त में अर्वाचीनकालीन सिरावेध के रोग देखो । वदन्ति—यह दूसरे का मत है, सुश्रुतसंमत नहीं है। इस पर डल्हणाचार्य अपनी टीका में लिखते हैं—शोणितावृतवातजनितयोर्बाहुशोषावबाहुकयोरप्यंसयोः सिराव्यधः, न तु केवलवातकृतयोरित्येके वदन्ति । परमतं चाप्रतिषिद्धमनुमतमेवेति जेज्जटाचार्यः । गयदासस्तु 'बाहुमध्ये बाहुशोषावबाहुकयोरप्येके वदन्त्यंसयोरन्तरे' इति पठित्वा व्याख्याति—बाहुशोषावबाहुकयोर्बाहुमध्ये कूर्परांसयोर्मध्ये इत्यर्थः । मतान्तरमाह—एके वदन्त्यंसयोरन्तर इति ॥ तृतीयक, चतुर्थक—ये विषमज्वर के प्रकार हैं, जिनमें क्रम से तीसरे और चौथे दिन जाड़े के साथ ज्वर आता है। इन रोगों में अत्रोक्त स्थानों के अतिरिक्त बाहुसिरा और शङ्ख के शान्त सिरा का भी वेधन बताया गया है—शङ्खकेशान्तसंधौ वा मोक्षयेज्ज्ञो भिषक् सिराम् । उन्मादे विषमे चैव ज्वरेऽपस्मार एव च ॥ (चरक, चिकित्सा ३)। यथा स्वं च सिरां विध्येदशान्तौ विषमज्वरे । (अष्टांगसंग्रह, चिकित्सा २)। इसकी टीका में इन्दु लिखते हैं—अशान्तौ यथास्वं सिरां विध्येत्, तृतीयके अंसयोर्मध्ये स्कन्धस्याधश्चतुर्थके बाह्वोश्चेत्यादि यथास्वशब्दार्थः ॥

हनुसन्धिमध्यगतामपस्मारे, शङ्खकेशान्तसन्धिगतामुरोऽपाङ्गललाटेषु चोन्मादे, जिह्वारोगेष्वधोजिह्वायां दन्तव्याधिषु च, तालुनि तालव्येषु, कर्णयोरुपरि समन्तात् कर्णशूले तद्रोगेषु च, गन्धाग्रहणे नासारोगेषु च नासाग्रे, तिमिराक्षिपाकप्रभृतिष्वक्ष्यामयेषूपनासिके ललाट्यामपाङ्ग्यां वा, एता एव च शिरोरोगाधिमन्थप्रभृतिषु रोगेष्विति ॥२९॥

(रोगानुसार जत्रूर्ध्वसिरावेधन स्थान—) अपस्मार में हनुसंधि के मध्य की (सिरा का वेधन करे)। उन्माद में शङ्ख और केशान्तसंधि में स्थित तथा छाती, अपाङ्ग और ललाट में स्थित सिरा का वेधन करे । जिह्वा रोगों में तथा दाँतों के रोगों में जिह्वा के नीचे की सिरा का वेधन करे । तालु के रोगों में तालु में सिरावेध करे । कर्णशूल और कान के रोगों में कान के ऊपर आस-पास की (सिरा का वेधन करे)। गंध न आने और दूसरे नाक के रोगों में नासा के अग्रभाग में (सिरा-वेधन करे)। तिमिर, अक्षिपाक प्रभृति नेत्ररोगों में नासासमीपवर्ती, ललाट में स्थित, या अपाङ्ग की (सिरा का वेधन करे)। शिरोरोग, अधिमन्थ प्रभृति रोगों में ये भी सिराएँ वेध्य होती हैं ॥२९॥

वक्तव्य—उन्मादे—यहाँ पर 'उन्मादेऽपस्मारे' ऐसा भी पाठ है । इस पर डल्हणाचार्य लिखते हैं—तत्रापस्मारस्य पाठो न संगच्छते । तथा च वाग्भटः—उरोपाङ्गललाटस्थामुन्मादेऽपस्मृतौ पुनः । हनुसंधौ समस्ते च सिरां भ्रूमध्यगामिनीम् ॥ अर्थात् वाग्भटाचार्य के अनुसार अपस्मार में केवल हनुसंधिगत सिरा का वेधन होता है । परंतु चरकाचार्य का जो वचन ऊपर उद्धृत (२९वें सूत्र के वक्तव्य में) किया गया है, उसके अनुसार अपस्मार में शङ्खकेशान्त संधिगत सिरा का भी वेधन होता है । इसलिए यह पाठभेद असंगत नहीं कहा जा सकता । हनुसंधिमध्यगताम्—इसके संबंध में अरुणदत्त अष्टांगहृदय के उपर्युक्त श्लोक की टीका में लिखते हैं कि—अपसारे हनुसंधौ स्थितां सिरां विध्येत् । समस्ते सर्वस्मिन् वा हनौ सिरां विध्येत् । सिरां भ्रूमध्यगामिनीं भ्रूमध्यस्थां वाऽपस्मृतौ विध्येदिति वाशब्दोऽत्रानुवर्त्य योज्यः । उरोपाङ्गललाटेषु—उरोपाङ्गललाटेषु 'गताम्' इत्यर्थः । उर और अपाङ्ग के अर्थ के संबंध में उत्तरस्थान के 'उरोपाङ्गललाटेषु सिराश्चास्य विमोक्षयेत् ॥ (अध्याय ६२)। इस श्लोक की टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—उरःस्तनयोरन्तरालम्; अत्रापाङ्गशब्दः शङ्खे वर्तते, सामीप्यात् । न त्वपाङ्गशङ्खसंधिः, कुतः ?

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तत्रैकस्या एवाव्यध्यसिराया निर्दिष्टत्वात्। अस्य उन्मादिनः। भूतविद्यासिद्धान्तादुरःप्रभृतिषु सिराव्यधनमुक्तम्। सिराव्यधनविधिश्च शङ्खसंधौ। अतोऽत्र उन्मादे उभयत्रापि सिराव्यधनमिष्टम्॥

इसका मतलब यह है कि अपस्मार तथा उन्माद में भूमध्य सिरा (Frontal या Supraorbital vein), **शंख केशान्त संधिसिरा** (Superior temporal vein) **और स्तनान्तराला सिरा का वेधन होता है।**

अर्वाचीन कालीन सिरावेध योग्य रोग और सिरावेध के तत्त्व—**यहाँ पर २७–३०वें सूत्रों में जिन रोगों में चिकित्सा के लिए सिरावेध किया जाता था, उनके रोगों के नाम और वेध के स्थान निर्दिष्ट किये हैं। इनको देखकर यह कह सकते हैं कि आयुर्वेद में सिरावेध रक्तज रोगों की चिकित्सा का एक महत्त्व का उपाय था (आगे ३५वाँ श्लोक देखो)। परंतु आधुनिक काल में सिरावेधन की परम्परा लुप्त हो गई है। यूरोप में भी प्राचीन काल में सिरावेध** (Phlebotomy) **चिकित्सा का एक प्रधान अंग था, परंतु वहाँ पर भी यद्यपि सिरावेधन की प्रथा पूर्णतया लुप्त नहीं हुई है तथापि बहुत मर्यादित अतएव कम हो गई है। आधुनिक काल में पाश्चात्य वैद्यक में सिरावेध का उपयोग निम्न कारणों के लिए किया जाता है—(१) रक्तभाराधिक्य** (High blood pressure) **विकारों में भार को कम करने के लिए। (२) रक्तगत विषों को निकालने के लिए। (३) अपनी विकृति या हृदयादि अन्य अंगों की विकृति के कारण जब फुफ्फुस, उनमें आये हुए रक्त को शुद्ध करने में असमर्थ होता है, तब। (४) कुछ शोथजन्य** (Inflamatory) **विकारों में जब रोगी सबल और रक्तल (अधिक रक्तयुक्त** Full blooded**) होता है, तब। इन तत्त्वों के अनुसार आधुनिक पाश्चात्य वैद्यक में निम्न रोगों में सिरावेध का उपयोग किया जाता है—प्रथम तत्त्व के अनुसार विशुद्ध रक्तभाराधिक्य में तथा हृदयविकार और वृक्कविकारजन्य रक्तभाराधिक्य में जब रक्त का दबाव अधिक होकर सिरदर्द, चक्कर इत्यादि मस्तिष्कगत लक्षण तथा पक्षाघात उत्पन्न होते हैं, तब। दूसरे तत्त्व के अनुसार विषजन्य कामला** (Toxic jaundice), **मूत्रविषमयता** (Ureamia), **गर्भविषमयता** (Toxaemia of pregnancy), **सर्पविषमयता** (Snake poisoning) **इत्यादि विषमय अवस्थाओं में। तीसरे तत्त्व के अनुसार जब फुफ्फुस अपना काम करने में असमर्थ होकर श्वासकृच्छ्र** (Dyspnoea), **त्वचा में श्यावता या नीलिमा** (Cyanosis), **सिराओं की विस्तृति इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं, तब। ये लक्षण हृदय के दक्षिणार्ध के कपाटों के चिरकालीन विकारों** (Chronic heart disease) **में, फुफ्फुस के रक्ताधिक्य** (Hyperaemia) **और शोथ** (Oedema) **में, महाधमनी की विस्तृति** (Aneurism) **में तथा छाती में वायु के प्रवेश होने से उत्पन्न हुए वातोरस** (Pneumo-thorax) **में उत्पन्न होते हैं। अर्थात् चिरकालीन हृदयविकार, फुफ्फुसशोथ और रक्ताधिक्य, महाधमनी विस्तृति, वातोरस इन विकारों में श्वास, कास, नीलिमा उत्पन्न होने पर सिरावेध करके रक्त निकाला जाता है। चतुर्थ तत्त्व के अनुसार न्यूमोनिया, ब्रान्कोन्यूमोनिया (ये दोनों भी फुफ्फुसशोथ के रोग हैं), स्वरयन्त्रशोथ** (Laryngitis), **मस्तिष्कावरणशोथ** (Meningitis) **इत्यादि शोथजन्य विकारों में भी कभी कभी सिरावेध का प्रयोग श्वास, प्रलापादि लक्षण उत्पन्न होने पर किया जाता है।**

सिरावेध का स्थान—**कोई रोग हो जब रक्तमोक्षण की आवश्यकता होती है तब पाश्चात्य वैद्यक में रोगनिरपेक्ष कूर्परसंधिमध्य सिरा** (Median cubital vein) **का उपयोग (पीछे नौवें सूत्र का वक्तव्य देखो) किया जाता है। आयुर्वेद में रोग के अनुसार सिराभिन्नता होती है। प्रायः यह सिरा विकृत अंगसमीपवर्ती होती है, परंतु कई बार दूरवर्ती भी होती है—जैसे, गलगण्ड गले में होने पर भी उसके लिए ऊरुमूल की सिरा का वेधन बताया है; तथा यकृत्प्लीहोदर में बाहुमध्य सिरा का वेधन बताया है। समीपवर्ती सिरावेधन का तत्त्व इस कल्पना पर निर्भर है कि उस सिरा से आने वाला रक्त उसी विकृत अंग से आता है। इस कल्पना में कुछ सत्य है। जैसे, सिर के विकार में सिर की किसी सिरा का वेध करने से प्रथम सिर में इकट्ठा हुआ रक्त निकलेगा अर्थात् यह रक्त दूषित रहेगा और पश्चात् कुछ शुद्ध रक्त आ जायगा। इसी दृष्टि से पीछे २१वें श्लोक में लिखा है—**तथा सिरासु विद्धासु दुष्टमग्रे प्रवर्तते। **दूरवर्ती सिरा का वेध करने पर भी उसमें शरीर के विकृत अंग का रक्त आ जाता है क्योंकि रक्त संपूर्ण शरीर में परिभ्रमण करता है, परंतु उसमें स्थानिक दोष की राशि अल्प होती है और प्रारंभिक रक्त और पीछे के रक्त में कोई फर्क नहीं होता। इसलिए दूरवर्ती सिरावेध की अपेक्षा समीपवर्ती सिरावेधन में दो भेद मिलते हैं—(१) स्थानिक रक्त की अधिकता** (Congestion) **कम होती है तथा (२) स्थानिक दोष की मात्रा कम होती है। पाश्चात्य वैद्यक में स्थानिक रक्तदोषहरण करने के लिए सिरावेध का उपयोग प्रायः नहीं होता, सार्वदैहिक रक्तदोष या रक्तराशि को कम करने के लिए किया जाता है। इसलिए हमेशा कूर्परसंधि मध्य की सिरा सुविधा के कारण (पीछे ९ सूत्र का वक्तव्य देखो) पसंद की जाती है। इस सिरा के सिवा कभी कभी गले की** External Jugular vein **भी वेधन के काम में लाई जाती है। इस विषय का कुछ विवरण आगे ३८वें श्लोक के वक्तव्य में भी किया गया है।**

अत ऊर्ध्वं दुष्टव्यधनमनुव्याख्यास्यामः—तत्र **दुर्विद्धाऽतिविद्धा कुञ्चिता पिच्चिता कुट्टिताऽप्रस्नुताऽत्युदीर्णाऽन्तेऽभिहता परिशुष्का कूणिता वेपिताऽनुत्थितविद्धा शस्त्रहता तिर्यग्विद्धाऽपविद्धाऽव्यध्या विद्रुता धेनुका पुनः पुनर्विद्धा मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिमर्मसु चेति विंशतिर्दुष्टव्यधाः॥३०॥**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(दुष्टवेध के नाम—) अब इसके बाद दुष्टवेध का व्याख्यान करेंगे—दुर्विद्धा, अतिविद्धा, कुञ्चिता, पिच्चिता, कुट्टिता, अप्रस्रुता, अत्युदीर्णा, अन्तेऽभिहिता, परिशुष्का, कूणिता, वेपिता, अनुत्थितविद्धा, शस्त्रहता, तिर्यक्‌विद्धा, अपविद्धा, अव्यध्या, विद्रुता, धेनुका, पुनःपुनर्विद्धा, और मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि संधि मर्म में विद्धा, इस तरह बीस दुष्टव्यध सिराएँ होती हैं ॥३०॥

वक्तव्य—इन दुर्विद्धादि सिराओं का विवरण आगे के सूत्र में किया गया है। ये दुर्विद्धादि प्रकार सिरादोष से, शस्त्रदोष से, शस्त्रकर्म करने वाले के दोष से तथा रोगी के दोष से उत्पन्न होते हैं।

तत्र या सूक्ष्मशस्त्रविद्धाऽव्यक्तमसृक् स्रवति रुजाशोफवती च सा दुर्विद्धा, प्रमाणातिरिक्तविद्धायामन्तः प्रविशति शोणितं शोणितातिप्रवृत्तिर्वा साऽतिविद्धा, कुञ्चितायामप्येवम्, कुण्ठशस्त्रप्रमथिता पृथुलीभावमापन्ना पिच्चिता, अनासादिता पुनः पुनरन्तयोश्च बहुशः शस्त्राभिहता कुट्टिता, शीतभयमूर्च्छाभिरप्रवृत्तशोणिताऽप्रस्रुता, तीक्ष्णमहामुखशस्त्रविद्धाऽत्युदीर्णा, अल्परक्तस्राविण्यन्तेविद्धा अन्तेऽभिहता, क्षीणशोणितस्यानिलपूर्णा परिशुष्का, चतुर्भागा(व)सादिता किंचित्प्रवृत्तशोणिता कूणिता, दुःस्थानबन्धनाद्वेपमानायाः शोणितसंमोहो भवति सा वेपिता, अनुत्थितविद्धायामप्येवं, छिन्नाऽतिप्रवृत्तशोणिता क्रियासङ्गकरी शस्त्रहता, तिर्यक्प्रणिहितशस्त्रा किंचिच्छेषा तिर्यग्विद्धा, बहुशः क्षता हीनशस्त्रप्रणिधानेनापविद्धा, अशस्त्रकृत्या अव्यध्या, अनवस्थितविद्धा विद्रुता, प्रदेशस्य बहुशोऽवघट्टनादारोहद्व्यधा मुहुर्मुहुः शोणितस्रावा धेनुका, सूक्ष्मशस्त्रव्यधनाद्बहुशो भिन्ना पुनःपुनर्विद्धा, मांसस्नाय्वस्थिसिरासन्धिमर्मसु विद्धा रुजां शोफं वैकल्यं मरणं चापादयति ॥३१॥

(दुष्टव्यध सिराओं का विवरण—) इनमें जो सूक्ष्म (मुख) शस्त्र से विद्ध हुई है, जिससे अस्पष्ट (नहीं के बराबर) रक्त स्रवता है तथा जो पीडा और सूजन से युक्त है, वह दुर्विद्धा है। प्रमाण से अधिक विद्ध होने के कारण जिसका रक्त (शरीर के) भीतर प्रविष्ट होता है अथवा जिससे रक्त अधिक प्रमाण में बहता है, वह अतिविद्धा है। कुञ्चिता में भी ऐसा ही (अतिविद्ध का लक्षण) होता है। कुण्ठित (थोथे) शस्त्र से (कई वार) कुचली हुई तथा चपटी हुई पिच्चिता होती है। ठीक न उठी हुई (इसलिए ठीक प्राप्त न होने के कारण) वार वार दोनों पार्श्वों पर शस्त्र से प्रहारित हुई कुट्टिता है। शीत, भय और मूर्च्छा के कारण रक्त न स्रवने वाली अप्रस्रुता है। तेज और बड़े मुख के शस्त्र से विद्ध हुई अत्युदीर्णा है। एक किनारे पर विद्ध हुई अल्प रक्त स्रवने वाली अन्तेऽभिहता है। रक्तक्षययुक्त (मनुष्य) की वायुपूर्ण सिरा परिशुष्का होती है। चौथाई हिस्से में कटी हुई, अल्परक्त स्रवने वाली कूणिता है। अनुचित स्थान में बाँधने के कारण कंपायमान होने वाली सिरा से रुक-रुककर रक्त निकलता है, वह वेपिता है। ठीक न उठने पर विद्ध होने वाली सिरा में इसी प्रकार लक्षण होते हैं। (शस्त्र से पूर्णतया) कटी हुई, अत्यधिक रक्त स्रवने वाली, (और स्राव के कारण मूर्च्छादि उपद्रव उत्पन्न करके हलचल बन्द करने वाली शस्त्रहता है। शस्त्र के टेढे प्रहार से विद्ध हुई, जिसका (अधिकांश भाग कट गया है और) जरा-सा भाग रह गया है, ऐसी तिर्यक्‌विद्धा है। दोषयुक्त शस्त्र के अनेक प्रहारों से विद्ध हुई अपविद्धा है। जिसके ऊपर शस्त्रकर्म नहीं कर सकते, वह अवेध्य है। चञ्चल(स्थिति में) विद्धा सिरा विद्रुता होती है। (शस्त्रकर्म में वैद्य के अनैपुण्य से व्यध्य) प्रदेश के ऊपर कई बार ताड़न करने के कारण, जिसमें एक से ऊपर एक करके अनेक वेध हुए हैं, ऐसी बार बार रक्त स्रवने वाली धेनुका होती है। सूक्ष्म(मुख) शस्त्र वेधन में प्रयुक्त करने से (सिरा का वेध उचित परिमाण में बड़ा करने के लिए) कई बार वेधित की हुई पुनःपुनर्विद्धा होती है। मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि, संधि और मर्म में वेध करने से पीडा, शोथ, विकलता और मरण प्राप्त हो जाते हैं ॥३१॥

वक्तव्य—अव्यक्तम्—अत्यन्त सूक्ष्म रूप में जो स्पष्टतया न दिखाई दे। अन्तःप्रविशति शोणितम्—अतिविद्धा में शस्त्र का मुख मोटा होता है, जिससे शरीरगत शस्त्रजन्य (Incision) भेद काफी बड़ा होता है। यदि यह भेद पूर्णतया सिरा में हो तो मुख बड़ा होने के कारण शोणितादिप्रवृत्ति होगी। यदि यह पूर्णतया सिरा में न हो तो सिरासमीपवर्ती मांसादि धातुओं में होकर उनमें रक्त का प्रवेश होगा। कुञ्चितायामप्येवम्—कुञ्चितायामिति कुटलीभूतायामित्यर्थः। (डल्हण)। सिरा में कुटिलता (Varicosity) वायु के कारण उत्पन्न होती है—कुर्यात् सिरागतः शूलं सिराकुञ्चनपूरणम्। (निदान, प्रथमखण्ड पृष्ठ ३१९-३२० देखो)। पृथुलीभावमापन्ना—कुण्ठशस्त्राभिपातेन चिप्पटतया प्रसरं प्राप्ता। (डल्हण)। अनासादिता—ठीक न उठने के कारण जो उचित रूप से नहीं प्राप्त हुई थी, ऐसी। अप्रस्रुता—भय, मूर्च्छा के परिणाम से शरीरगत केशिकाएँ विस्तारित होकर उन्हीं में अधिकांश रक्त संचित होकर (पीछे २२वें श्लोक का वक्तव्य देखो) सिराओं में वह आता नहीं है, इसलिए वेध करने पर भी उससे रक्त का स्राव नहीं होता। क्षीणशोणितस्य—जिसके शरीर से रक्त का काफी नाश (रक्तस्राव से या रोग से) होने के कारण जो क्षीणरक्त (Anaemic) हो गया है, ऐसा। चतुर्भागावसादिता—चतुर्थो भागश्चतुर्भागोऽन्तर्गता शोणितधरा कलेति यावत् तत्राऽवसादिता सङ्कुचिततया रक्तं विस्रावयितुमक्षमा चतुर्भागावसादिता, न तावदर्थोऽयमनुपपन्नः 'कूण सङ्कोचे' धातुस्तस्य कुणितेति रूपेण संज्ञाकरणात्। (हाराणचंद्र)। चतुर्भागासादिता चतुर्भागेन प्राप्ता। (डल्हण)। जिसमें छेद ठीक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं हुआ है, ऐसी सिरा, इतना ही इन विवरणों का तात्पर्य मालूम होता है। दुःस्थानबन्धन—अनुचित स्थान में यन्त्रण करना। शोणितसंमोहः—मनुष्य को संमोह होने से जैसे उसके कर्म बंद हो जाते हैं, वैसे ही रक्त का संमोह होने से उसका स्राव बंद होता है। अर्थात् बीच बीच में जिसका स्राव बंद हो जाता है, ऐसी। डल्हण इसका अर्थ रक्तातिप्रवृत्ति करते हैं—शोणितसंमोहः शोणितातिप्रवृत्तिः। परंतु यह अर्थ ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि आगे 'अनुत्थितविद्धायामप्येवम्' लिखा है। अनुत्थित सिरा से अत्यधिक रक्तस्राव नहीं होगा। छिन्ना—जो पूर्णतया दो भागों में विभक्त हुई है, ऐसी। क्रियासङ्करी—गमनादिक्रियाविनाशकरी। (डल्हण)। बन्धेनायोजिता सती क्रियाणां शोणितवर्णनीयोक्तानां शोणितातिप्रवृत्तिनिमित्तानां शिरोभितापादीनां संबंधं करोतीत्यर्थः। सङ्गो मेलनं संबन्ध इत्यनर्थान्तरम्। (हाराणचन्द्र)। संक्षेप में अत्यधिक रक्तस्राव के कारण उत्पन्न होने वाले उपद्रवों को करने वाली। अशस्त्रकृत्या—सातवें अध्याय के २९वें सूत्र से ३८वें सूत्र तक जो अवेध्य सिराएँ बतलाई गई हैं, उनमें से किसी एक के ऊपर वेध करना यह भी एक सिरावेध का दोष है। आरोहद्व्यधा—उपर्युपर्यारोपितपदा, अतएव तैः शस्त्रपदैर्धेनुस्तनैरिव स्रवणाद् धेनुका। (डल्हण)। हाराणचंद्र 'आरोहव्यधा' पाठ लेते हैं और 'आरोहो दैर्घ्येणोपलक्षितो व्यधो यस्या सा तथोक्ता' ऐसा उसका अर्थ करते हैं। बहुशोऽवघट्टनात्—इससे कर्म करने वाले का अनभ्यास और भयत्व सूचित होता है। बहुशो भिन्ना—एकस्थाने एव इति शेषः।

इस सूत्र में तथा इसके पहले सूत्र में दुष्टव्यधा के जो बीस प्रकार तथा उनके लक्षण दिये हैं, इनका ज्ञान सिरावेधन का कर्म निर्दोष करने के लिए काम में लाना चाहिए, न कि दुष्टवेध के प्रकार और उनके लक्षण कण्ठ करने के लिए। अतः इनका उपयोग निर्दोष सिरावेध में किस तरह किया जायगा, इसका विचार यहाँ पर संक्षेप में बताया जाता है। पिछले सूत्र के वक्तव्य के अन्त में यह बताया गया था कि ये दोष पाँच स्थानों से उत्पन्न होते हैं। अतः इन दोषों का वर्गीकरण इन स्थानों के अनुसार यहाँ पर किया जायगा। (१) शस्त्रदोष—सिरावेधन में शस्त्र न बहुत सूक्ष्ममुख, न बहुत स्थूलमुख, न कुण्ठित, न बहुत तीक्ष्ण, न अन्य दोषयुक्त होना चाहिए। इन दोषों से युक्त होने के कारण दुर्विद्ध, अतिविद्ध, पिच्चित, अत्युदीर्ण, अपविद्ध, और पुनःपुनर्विद्धा ये छः दोष उत्पन्न होते हैं। (२) रोगी दोष—रोगी शीत, भय, मूर्च्छा तथा रक्तक्षीणता से पीड़ित न होना चाहिए, वरना अप्रसुत और परिशुष्क ये दो दोष उत्पन्न होते हैं। (३) यन्त्रण दोष—उचित स्थान पर उचित रूप से बन्धन न करने से सिरा का ठीक उत्थान नहीं होता, जिससे उसको स्थिर करने में तथा वेधन करने में कठिनाई उत्पन्न होकर वेपित, अनुत्थितविद्ध और विद्रुत—ये तीन दोष उत्पन्न होते हैं। (४) सिरादोष—वेधन के लिए रक्तवाहिनी सिरा (Vein) होनी चाहिए, बहुत महत्त्व की मोटी न होनी चाहिए तथा उसमें कोई विकृति न होनी चाहिए। इस तरफ ध्यान न देने से कुञ्चित और अवेध्य ये दो दोष उत्पन्न होते हैं। (५) वैद्य दोष—शौर्य, आशुक्रिया इत्यादि शस्त्रकर्म के लिए आवश्यक गुण (सूत्रस्थान ५वें अध्याय का नौवाँ श्लोक देखो) जिसमें न हों, तथा सिरावेधन का अभ्यास जिसे न हो, ऐसे वैद्य के द्वारा सिरावेध कराने से अन्तेऽभिहत, कूणित, छिन्न, तिर्यक्‌विद्ध, धेनुक, कुट्टित और मांसस्नाय्वस्थिसंधिमर्मविद्ध ये सात दोष उत्पन्न होते हैं। यद्यपि दोषों के पाँच विभाग किये गये हैं तथापि ये सब विभाग वैद्य के अधीन होते हैं, क्योंकि उत्तम शस्त्र, योग्य रोगी, युक्त यन्त्रण और उचित सिरा इनका संग्रह करने का काम आखिर में वैद्य (आगे ३४वाँ श्लोक) और सिरावेधन में योग्यता और अनुभव पर निर्भर होता है। अतः इन दोषों को टालने का उत्तम उपाय शस्त्रादि सामग्री की उत्तमता और अभ्यास है। इन दोषों की उत्पत्ति के कारणों का संक्षेप में विवरण आगे के दो श्लोकों में किया गया है।

भवन्ति चात्र—

सिरासु शिक्षितो नास्ति चला ह्येताः स्वभावतः।
मत्स्यवत् परिवर्तन्ते तस्माद्यत्नेन ताडयेत्॥३२॥

(सिरावेधन यत्नपूर्वक करने की आवश्यकता का कारण—) सिराओं (के वेधन) में कोई भी शिक्षित नहीं होता; (क्योंकि) ये स्वभावतः अस्थिर (होकर पकड़ने पर भी वेधन के समय) मछली की तरह परिवर्तन करती हैं; इसलिए प्रयत्नपूर्वक इनका वेधन करना चाहिए॥३२॥

वक्तव्य—शिक्षित—अभ्यास से जिसको सिरावेध में नैपुण्य प्राप्त हुआ है, ऐसा। चला ह्येता स्वभावतः—यहाँ पर अधिकतर उत्तान सिराओं (Superficial Veins) का विचार किया गया है, इसलिए 'चला' लिखा गया है। शरीरसंनिवेश की दृष्टि से उत्तान सिराएँ त्वचा के नीचे की धातु में इस प्रकार निविष्ट हुई है कि वे इंच आधा इंच इधर उधर हो सकती हैं। संक्षेप में, ये सिराएँ बहुत अस्थिर (Movable) होती हैं। मत्स्यवत् परिवर्तन्ते—पानी में मत्स्य को पकड़ने पर भी वह जैसा आसानी से हाथ से फिसल जाता है, वैसे ही वेधन के समय यन्त्रण से तथा अँगुलियों से पकड़ी हुई सिरा, शस्त्रप्रहार के समय अंगुलियों से फिसलकर दूर हो जाती है। यत्नेन—इसलिए प्रत्येक सिरावेधन के समय सिरा को अच्छी तरह पकड़ने का प्रयत्न करके फिर ताड़न करे। पकड़ने में गाफिल रहने से ताड़न के ऐन वक्त पर वह फिसल जायगी और वेधन के दोष उत्पन्न होंगे। यत्न का संबंध अधिकतर पकड़ने के साथ है, ताड़न के साथ नहीं है। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि वैद्य शिरावेधन के कर्म में कितना भी चिराभ्यासी और अनुभवी क्यों न हुआ हो, उसको प्रत्येक समय नवसिखिया की तरह सतर्क रहकर वेधन का कर्म करना चाहिए।

अजानता गृहीते तु शस्त्रे कायनिपातिते।
भवन्ति व्यापदश्चैता बहवश्चाप्युपद्रवाः॥३३॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(दुष्टव्यध का कारण अज्ञानी वैद्य—) (सिरावेधन में) अज्ञानी वैद्य से धारण किया हुआ शस्त्र शरीर (की सिरा) पर चलने से (दुर्विद्धादि) ये व्यापत्तियाँ तथा अनेक उपद्रव होते हैं ॥३३॥

स्नेहादिभिः क्रियायोगैर्न तथा लेपनैरपि ।
यान्त्याशु व्याधयः शान्तिं यथा सम्यक् सिराव्यधात् ॥३४॥

स्नेहन, स्वेदन आदि क्रियाओं से तथा लेपों से इतनी शीघ्र व्याधि शांत नहीं होती हैं, जितनी ठीक ठीक शिरावेधन से शीघ्र शांत हो जाती हैं ॥३४॥

सिराव्यधश्चिकित्सार्धं शल्यतन्त्रे प्रकीर्तितः ।
यथा प्रणिहितः सम्यग्बस्तिः कायचिकित्सिते ॥३५॥

(सिराव्यध का प्राधान्य—) जिस प्रकार यथाविधि दिया हुआ बस्ति कायचिकित्सा में आधी चिकित्सा (के बराबर) कहा जाता है, उसी प्रकार शल्यशास्त्र में (यथाविधि किया हुआ) सिरावेधन आधी चिकित्सा (के बराबर) कहा जाता है ॥३५॥

वक्तव्य—चिकित्सार्धम्—कायचिकित्सा में बस्ति चिकित्सार्ध (या संपूर्ण चिकित्सा) इसलिए मानते हैं कि बस्ति के प्रयोग से संपूर्ण शरीरगत रोग, विशेष करके त्रिदोषों में प्रधान दोष जो वायु उससे होने वाले रोग, ठीक हो जाते हैं—शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च । ये सन्ति तेषां न हि कश्चिदन्यो वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति ॥ विण्मूत्रपित्तादिमलाशयानां विक्षेपसंघातकरः स यस्मात् । तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद्बस्तिं विना भेषजमस्ति किञ्चित् ॥ तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वां चिकित्सामपि बस्तिमेके ॥ (चरक, सिद्धिस्थान २) । कायचिकित्सा में वायु को जो प्राधान्य है, वही प्राधान्य शल्यचिकित्सा में रक्त को है, क्योंकि उसी से व्रण की दुष्टि, पूयभवन, संधान, रोपण इत्यादि कार्य होते हैं और इसलिए दोषों में रक्त का समावेश शल्यतन्त्र में किया गया है—तदेभिरेव शोणितचतुर्थैः शरीरं भवति । (सूत्र २१) । इस रक्त की शुद्धि सिरावेध के द्वारा जैसी होती है, वैसी अन्य उपायों के द्वारा नहीं हो सकती—मांसमेदोऽस्थिमज्जानः शोणितस्यावसेचनात् । धमन्यश्च विशुध्यन्ति दुष्टरक्तास्त्वचश्च याः । रसस्वेदाभिनिष्यन्दाद्विशुध्यन्ति न पुष्कलम् ॥ (डल्हणटीका में उद्धृत श्लोक) । इसलिए कायचिकित्सा में बस्ति का जो स्थान है, वही स्थान शल्यचिकित्सा में सिरावेध का है । संक्षेप में, चिकित्सार्ध का तात्पर्य यह है कि यद्यपि सब रोगियों में नहीं, तथापि अनुरूप रोगियों में जैसे कायचिकित्सा में बस्ति से अधिकांश चिकित्सा का काम हो जाता है, वैसे ही अनुरूप रोगियों में शल्यचिकित्सा में सिरावेधन से चिकित्सा का अधिकांश कम हो जाता है ।

तत्र स्निग्धस्विन्नवान्तविरिक्तास्थापितानुवासितसिराविद्धैः परिहर्तव्यानि—क्रोधायासमैथुनदिवास्वप्नवाग्व्यायामयानाध्ययनस्थानासनचङ्क्रमणशीतवातातपविरुद्धासात्म्याजीर्णान्याबललाभात्, मासमेके मन्यन्ते । एतेषां विस्तरमुपरिष्टाद्वक्ष्यामः ॥३६॥

(पंचकर्म के पश्चात् निषिद्ध कर्म—) जिसको स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन (निरूहवस्ति), अनुवासन कराया गया हो तथा जिसके सिरा का वेधन (करके रक्तविस्रावण) किया गया हो, उसके लिए (पूर्ववत्) बलप्राप्ति (के काल) तक क्रोध (करना), (अधिक) परिश्रम (करना), स्त्रीसंग, दिन में सोना, (अधिक या ऊँची आवाज से) बोलने का व्यायाम, (घोड़े आदि पर) सवारी करना, (अधिक) पढ़ना, (देर तक) खड़े रहना, (अधिक काल तक एक ही स्थान पर) बैठना, (अधिक) चलना, ठंडी हवा, धूप, विरुद्धाशन, असात्म्य अन्नसेवन और (जिनके सेवन से) अजीर्ण (हो जाय, ऐसा गरिष्ठ आहार या अध्यशन ये कर्म) परित्याग करने योग्य हैं । कई आचार्य ये कर्म महीना भर के लिए परित्याज्य बताते हैं । इनका विस्तार (से विवरण) आगे कहेंगे ॥३६॥

वक्तव्य—स्निग्धस्विन्न इत्यादि—रक्तमोक्षण पंचकर्मों में से एक है । कायचिकित्सक पंचकर्मों में रक्तमोक्षण के बदले शिरोविरेचन लेते हैं । पंचकर्मों के पहले स्नेहन और स्वेदन कराने से पंचकर्मों से अधिक से अधिक लाभ होता है । पंचकर्मों में से किसी एक का सेवन कराने के पश्चात् निषिद्धकर्म नहीं होते हैं । इसलिए यहाँ पर सिरावेध के साथ स्नेहन, स्वेदन, वमनादि का उल्लेख किया गया है । आबललाभात्, मासमेके मन्यन्ते—क्रोधादि कर्मों का परित्याग करने की कालमर्यादा अभ्यन्तर स्थिति के ऊपर निर्भर होना उचित है और उस दृष्टि से 'आबललाभात्' यह सुश्रुताचार्य का कथन युक्तियुक्त है । बल का वर्णन कभी कभी 'यावत्र प्रकृतिस्थः स्याद्दोषतः प्राणतस्तथा' इस प्रकार से भी किया जाता है । कालमर्यादा दिनसंख्या में प्रदर्शित करने से कभी वह अधिक हो सकती है और कभी वह अपर्याप्त हो सकती है । अर्थात् इसमें अतिव्याप्ति और अव्याप्ति ये दोनों दोष आ जाते हैं । अतिव्याप्ति में रोगी को बिना कारण बंधन में रहना पड़ता है और अव्याप्ति में बंधन में रहना आवश्यक होने पर भी रोगी नहीं रहता । अतिव्याप्ति व्यावहारिकदृष्ट्या ठीक नहीं होती और अव्याप्ति वैद्यकीयदृष्ट्या ठीक नहीं होती । इसलिए यहाँ पर बल लाभ की दृष्टि से पथ्यसेवन की कालमर्यादा प्रदर्शित करना उत्तम पक्ष है, और दिनसंख्या में प्रदर्शित करना गौण पक्ष है । १०वें अध्याय के १५वें सूत्र के 'पुनरार्तवदर्शनात्' की टिप्पणी देखो ।

भवतश्चात्र—

सिराविषाणतुम्बैस्तु जलौकाभिः पदैस्तथा ।
अवगाढं यथापूर्वं निर्हरेद् दुष्टशोणितम् ॥३७॥

(रक्तविस्रावण के विविध उपायों की रक्तस्थिति के अनुसार मर्यादा—) सिरावेध, सींगी लगाना, तुम्बी लगाना, जोंकें लगाना और प्रच्छान से यथापूर्व गाढदूषित रक्त को निकाले ॥३७॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वक्तव्य—विषाणतुम्बैस्तु—इनके विवरण के लिए सातवें अध्याय के १२वें सूत्र का वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ४०) और १३वें अध्याय के ५वें श्लोक का वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ७१) देखो। पदैः—शस्त्रपदैः, प्रच्छाने-नेत्यर्थः। प्रच्छान के विवरण के लिए सूत्रस्थान के १४वें अध्याय के २६वें सूत्र का वक्तव्य (प्रथम खण्ड पृष्ठ ४) देखो। अवगाढं यथापूर्वम्—सब से अधिक गभीर सिरावेध से, उससे कम सींग से, उससे कम तुम्बी से, उससे कम जोंकों से और सब से उत्तान प्रच्छान से। गभीरता की अधिकता पहले में अधिक और उत्तरोत्तर कम होती है—अवगाढमभ्यन्तराश्रयं यथापूर्वं पूर्वानतिक्रमेण, एतेनोत्तानं पदैः, अवगाढं जलौकाभिः, अवगाढतरं तुम्बैः, अवगाढतमं विषाणेन, सार्वाङ्गिकमवगाढतमं च सिराभिरिति। (डल्हण)। इसका मतलब यह है कि प्रच्छान, जलौका, तुम्बी और सींग, ये साधन स्थानिक (जहाँ पर लगाया जाय, वहाँ का) रक्त निकालने में एक से एक बलवान् होते हैं और जब दोष गंभीर धातुओं में स्थित होता है, जहाँ पर वैद्य प्रच्छानादि उपायों का उपयोग नहीं कर सकता, या दोष सार्वदैहिक होने के कारण संपूर्ण शरीर में इनको प्रयुक्त नहीं कर सकता, तब सिरावेध द्वारा रक्तमोक्षण करने से फायदा होता है। यही अभिप्राय वाग्भटाचार्य अष्टांगहृदय में बतलाते हैं—प्रच्छानेनैकदेशस्थं ग्रथितं जलजन्मभिः। हरेच्छृंगा-दिभिः सुप्तमसृग्व्यापिसिराव्यधैः॥ (सूत्र २६)। सुश्रुत के उपर्युक्त श्लोक और इस श्लोक के संबंध में आगे के श्लोक का वक्तव्य भी देखो।

अवगाढे जलौकाः स्यात् प्रच्छानं पिण्डिते हितम्।
सिराऽङ्गव्यापके रक्ते शृङ्गालाबू त्वचि स्थिते ॥३८॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने सिराव्यधविधिशारीरं नामाष्टमोऽध्यायः॥८॥

(दूसरी दृष्टि से जलौकादि की कार्यमर्यादा—) गंभीर स्थान में (से रक्तनिर्हरण के लिए) जलौका होती हैं, जमे हुए रक्त के लिए प्रच्छान हितकर होता है, सर्वाङ्ग-व्यापी रक्त में सिरा(वेध हितकर होता) है और त्वचा में (रक्तदुष्टि) स्थित होने पर सींग और तुम्बी (हितकर होती है)॥३८॥

वक्तव्य—पूर्वश्लोक में रक्त की गंभीरता की दृष्टि से सिराव्यधादि साधनों का अधिकार बताया गया; परंतु प्रत्यक्ष उनके उपयोग के संबंध में उस श्लोक से मार्गदर्शन नहीं होता है, वह केवल तात्त्विक विवरण (Theory) है। इसलिए इस श्लोक में रोग को देखकर रोगी के ऊपर उनका उपयोग कैसे किया जाय, इसका निदर्शन (Practical) किया गया है। यह श्लोक एकीय मत का नहीं है, जैसे कि डल्हणाचार्य लिख रहे हैं—तत्र सिराविषाणतुम्बजलौकः-प्रच्छन्नानां विषयं कश्चिदाह, अवगाढे इत्यादि। परंतु पिछले श्लोक के स्पष्टीकरणार्थ सुश्रुताचार्य ही लिख रहे हैं। तथा यह श्लोक पक्षान्तर भी नहीं है, जैसे कि हाराणचन्द्र कहते हैं—पक्षान्तरमवतारयति—अवेति। न तावद्वचनस्यास्य पक्षान्तर-विषयत्वमश्रद्धेयम्—'प्रच्छानं पिण्डिते वा स्यादवगाढे जलौकसः। त्वक्स्थेऽलाबुघटीशृङ्गं शिरैव व्यापकेऽसृजि॥' इति स्फुटमाह वाग्भटेन वाशब्दोपादानात्॥ जिस आधार पर हाराणचन्द्र इस श्लोक को पक्षान्तर कहते हैं, वह 'वा' शब्द पिछले श्लोक के वक्तव्य के अन्त में दिये हुए वाग्भटाचार्य के श्लोक के पश्चात् आता है। परंतु ये दोनों श्लोक समानार्थी होने के कारण अष्टांगहृदय में पक्षान्तर होता है परंतु यहाँ पर नहीं होता, क्योंकि सुश्रुताचार्य का 'सिराविषाणतुम्बैस्तु' यह श्लोक और वाग्भटाचार्य का 'प्रच्छानेनैकदेशस्थम्' यह श्लोक समानार्थक नहीं है। संक्षेप में, विशुद्ध उपपत्ति (Pure theory) और कर्माभ्यासात्मक (Applied) उपपत्ति में जो संबंध और भेद होता है, वही संबंध और भेद इन अन्तिम दो श्लोकों में है, न कि एकीय मत का, न पक्षान्तर का। अब इन दोनों का आपस में कैसा संबंध है, इसका विचार किया जाता है।

रक्त निकालने की आवश्यकता जिन रोगों में होती है, उनके चार विभाग कर सकते हैं—(१) इस विभाग में वे रोग आते हैं, जिनमें संपूर्ण शरीर में फैलने वाला रक्त निकालने की आवश्यकता पड़ती है। जैसे—पुराना हृद्रोग, मूत्रविषमयता, रक्तभाराधिक्य तथा तज्जन्य पक्षाघात इत्यादि। संक्षेप में जिनमें दोष की सर्वाङ्गव्यापकता होती है, वे सब विकार इस वर्ग में आते हैं। अतः इस श्लोक में 'शिराऽङ्गव्यापके रक्ते' जो लिखा है, वह कर्माभ्यास की दृष्टि से भी बहुत ठीक है। वाग्भटाचार्य 'सिरैव व्यापकेऽसृजि' लिखते हैं। इसमें भी 'एव' शब्द बहुत सूचक है। इससे स्पष्ट बताया जाता है कि जिन रोगों में सर्वाङ्ग-व्यापक दोष होते हैं तथा सर्वाङ्गव्यापक रक्त को निकालना है, उनमें सिरावेध ही रक्तमोक्षण का एकमात्र मार्ग है। उसकी टीका में अरुणदत्त भी लिखते हैं—सर्वशरीरव्यापके रक्ते शिरैव। सिरायां मतविकल्पो नास्त्येवेत्येवशब्दार्थः॥ सर्वाङ्ग-व्यापकत्व से अवगाढतमत्व का भी बोध होता है क्योंकि मस्तिष्क, फुफ्फुस इत्यादि अत्यन्त गहराई में स्थित प्रत्यङ्गों का भी रक्त इसी मार्ग द्वारा निकाला जाता है। (२) इस विभाग में उन रोगों का समावेश होता है, जिनमें विकृति गहराई (अवगाढ) पर होती है और ऊपर की त्वचा में कोई खराबी नहीं होती। जैसे—अर्श, नेत्ररोग, न्युमोनिया, ब्रान्को न्युमोनिया, मस्तिष्कावरणशोथ, कर्णरोग इत्यादि। इन रोगों में रुगाङ्ग के ऊपर जोंकें लगाने से अवगाढ स्थान के रक्त का निर्हरण होता है। ऊपरी त्वचा को कम से कम नुकसान पहुँचाते हुए अवगाढ स्थान का रक्त निकालने का जोंक यही एक मार्ग है (प्रथम खण्ड पृष्ठ ७५ देखो)। इसलिए 'अवगाढे जलौकाः स्यात्' यह जो लिखा है, वह बहुत ठीक है और कर्माभ्यासात्मक है। (३, ४) इन दो विभागों में उन रोगों का समावेश होता है, जिनमें विकृति त्वचा तथा उपत्वचा या उसके आस-पास में होती है। जैसे—फोड़े, फुन्सियाँ, विद्रधि, उपत्वचाशोथ (Cellulitis) इत्यादि। इनमें से जिन विकारों में त्वचा गल जाती है, फूट जाती है, टूट जाती है, उनका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समावेश तीसरे विभाग में कर सकते हैं और इस विभाग के लिए सींग या तुम्बी का प्रयोग उचित होता है। इसलिए लिखा है 'शृङ्गालाबु त्वचि स्थिते'। चौथे विभाग में उन रोगों का समावेश कर सकते हैं, जिनमें विकृति त्वचा में कम परंतु त्वचा के नीचे अधिक, या त्वचा में होने पर भी त्वचा खराब न होने से दोष या रक्त उसके नीचे इकट्ठा हुआ है। पिण्डित का अर्थ जमा हुआ रक्त (घनीभूतं रक्तमित्येतत्) (हाराणचन्द्र) हो सकता है, परंतु इससे अच्छा अर्थ यह है कि 'जिसको बाहर निकलने के लिए मार्ग न मिलने से जो पिण्डित याने इकट्ठा हुआ है, ऐसा'। पिण्डित शब्द का प्रयोग इसी अर्थ से गुल्म के निदान में मिलता है—तत्र मार्गनिरोधादलब्धाश्रयो वायुः``` पिण्डितत्वात्``` गुल्मसंज्ञां लभते। (अष्टांगसंग्रह)। ऐसी अवस्था में नीचे इकट्ठे हुए रक्त को शस्त्रपदों से मार्ग बनाया जाता है और पश्चात् यदि आवश्यक हो तो सिंगी या तुम्बी लगाई जाती है, जिससे पिण्डित रक्त बाहर निकल आता है।

संक्षेप में सर्वशरीरव्यापी दोष में जब त्वचा में कोई खराबी नहीं होती तब सिरावेध, जब गहराई में स्थित किसी प्रत्यंग या अवयव में दोष होता है और त्वचा में कोई खराबी नहीं होती तब जलौका, जब त्वचा में दोष होकर त्वचा की खराबी होती है तब सिंगी या तुम्बी और त्वचा में या त्वचा के नीचे खराबी होने पर त्वचा में दोष को बाहर आने का कोई मार्ग या मार्ग की अल्पता होती है तब प्रच्छान का उपयोग करना चाहिए; यह इस श्लोक का कर्माभ्यास की दृष्टि से तात्पर्य है।

इति भास्करशर्मणा गोविंदात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां सिराव्यधविधिशारीरं नामाष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॥८॥

नवमोऽध्यायः।

अथातो धमनीव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः। यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब इसके बाद धमनीव्याकरण (नामक) शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरि ने कहा था ॥१॥

चतुर्विंशतिर्धमन्यो नाभिप्रभवा अभिहिताः। तत्र केचिदाहुः—सिराधमनीस्रोतसामविभागः, सिराविकारा एव हि धमन्यः स्रोतांसि चेति। तत्तु न सम्यक्, अन्या एव हि धमन्यः स्रोतांसि च सिराभ्यः; कस्मात्? व्यञ्जनान्यत्वान्मूलसन्नियमात् कर्मवैशेष्यादागमाच्च; केवलं तु परस्परसन्निकर्षात् सदृशागमकर्मत्वात् सौक्ष्म्याच्च विभक्तकर्मणामप्यविभाग इव कर्मसु भवति ॥२॥

(सिराओं से धमनियों का पृथक्त्व—) नाभि से प्रभव होने वाली चौबीस धमनियाँ (पहले) कही गई हैं। इस विषय में कुछ (आचार्य) कहते हैं कि सिरा, धमनी और स्रोतस् में कोई विभेद नहीं है; धमनियाँ और स्रोतस् सिराओं के ही वि(शेष आ)कार होते हैं। परंतु यह (मत) ठीक नहीं है। धमनियाँ और स्रोतस् सिराओं से बिलकुल भिन्न हैं। क्यों? लक्षणभिन्नता से, मूल (संख्याभिन्नता की) निश्चिति से, कर्मभिन्नता से और शास्त्राधार से। केवल परस्पर निकटता से, शास्त्र में (कहीं कहीं इनकी) समानता(निदर्शक वचन मिलने) से, समान कर्म होने से, सूक्ष्म(अंगविनिश्चयाज्ञान)ता से भिन्न भिन्न कर्म के होने पर भी इनके कर्म में अभिन्नता (प्रतीत) होती है ॥२॥

वक्तव्य—नाभिप्रभवाः—नाभि से जिनका उद्भव होता है, ऐसी। आयुर्वेद में जैसे हृदय एक है, वैसे नाभि भी एक ही है और वह उदर प्राचीर मध्य में स्थित होती है। इस नाभि के साथ गर्भ की नाभिनाडी संबंधित होती है, जिससे गर्भ का पोषण होकर उसकी वृद्धि भी होती है। सिराओं का संबंध इसी नाभि से बताया गया है, वह भी गर्भवृद्धि की दृष्टि से है। संक्षेप में आयुर्वेद में नाभि का संबंध गर्भपोषण के साथ होने से सिराएँ और धमनियाँ जो पोषण के काम में आती हैं, नाभि से संबंधित बताई गई हैं—गर्भस्य खलु रसनिमित्ता मारुताध्माननिमित्ता च परिवृद्धिर्भवति। तस्यान्तरेण नाभेस्तु ज्योतिःस्थानं ध्रुवं मतम्। तदा धमति वातस्तु देहस्तेनास्य वर्धते॥ मातुस्तु खलु रसवहायां नाड्यां गर्भनाभिनाडीप्रतिबद्धा, साऽस्य मातुराहाररसवीर्यमभिवहति, तेनोपस्नेहेनास्याभिवृद्धिर्भवति। असञ्जाताङ्गप्रत्यङ्गप्रविभागमानिषेकात् प्रभृति सर्वशरीरावयवानुसारिणीनां रसवहानां तिर्यग्गतानां धमनीनामुपस्नेहो जीवयति॥ गर्भस्य खलु संभवतः पूर्वं नाभिरिति पाराशर्यस्ततो हि वर्धते देहो देहिनः॥ पक्वामाशययोर्मध्ये सिराप्रभवा नाभिर्नाम॥ नाभिस्थाः प्राणिनां प्राणाः प्राणान्नाभिर्व्युपाश्रिता। सिराभिरावृता नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः॥ (सुश्रुत)। चरक, अष्टांगसंग्रह, अष्टांगहृदय इत्यादि अन्य ग्रंथों में भी नाभि का वर्णन इसी प्रकार का मिलता है। इस सब विवरण का तात्पर्य यह है कि नाभि एक कोष्ठाङ्ग है। गर्भावस्था में इसी से गर्भनाडी संबंधित होती है। सिराओं और धमनियों का प्रभव इसलिए नाभि से होता है। अतः योगशास्त्र में तथा अन्य तन्त्रग्रंथों में नाभि का अर्थ कोई भी हो, आयुर्वेद में नाभि Umbilicus naval के लिए प्रयुक्त होती है (पीछे सातवें अध्याय के ३९वें श्लोक का वक्तव्य भी देखो), Brain or spinal cord (मस्तिष्क या सुषुम्ना) से उसका कोई संबंध नहीं है। जिस दृष्टि से नाभि सिराओं का प्रभवस्थान माना गया है, उसी दृष्टि से नाभि धमनियों का प्रभवस्थान माना गया है, याने गर्भाशय में शरीर उत्पन्न होने के काल की दृष्टि से धमनी नाभिप्रभव मानी गई है। और सातवें अध्याय के चौथे श्लोक में जिस प्रकार सिराओं की नाभि के पास रचना बताई गई है, उसी प्रकार की रचना धमनियों की नाभि के पास अष्टांगहृदय में वर्णन की गई है—धमन्यो नाभिसंबद्धा विंशतिश्चतुरुत्तराः। ताभिः परिवृतो नाभिश्चक्रनाभिरिवारकैः॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(शारीर ३)। जन्म के पश्चात् धमनियों का संबंध नाभि के साथ न होकर केवल हृदय के साथ होता है, और इसी दृष्टि से सूत्रस्थान के शोणितवर्णनीय अध्याय में इन चौबीस धमनियों का संबंध हृदय के साथ स्पष्टतया बताया गया है। तस्य (रसस्य) हृदयं स्थानम्, स हृदयाच्चतुर्विंशतिं धमनीरनुप्रविश्योर्ध्वगा दश दश चाधो गामिन्यश्चतस्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति यापयति चादृष्टहेतुकेन कर्मणा ॥ चरकसंहिता में भी धमनियों का संबंध हृदय से ही बतलाया है, केवल फर्क इतना है कि वहाँ पर धमनियों की संख्या चौबीस के बदले दस है—तेन मूलेन महता महामूला मता दश। ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः ॥ (सूत्र ३०)। प्रागभिहिताः—शोणितवर्णनीय अध्याय में सूत्रस्थान में। इसका अभिप्राय यह है कि वहाँ पर हृदयस्थ रस जिन चौबीस धमनियों द्वारा संपूर्ण शरीर में फैलकर शरीर का पोषण और तर्पण करता है, वे धमनियाँ नाभिप्रभव हैं। सिराधमनीस्रोतसामविभागः—इसका अभिप्राय यह है कि कुछ आचार्यों के मतानुसार सिरा, धमनी और स्रोतस ये एकार्थक या पर्याय शब्द (Synonyms) हैं। जैसे, चरक में लिखा है—स्रोतांसि सिरा धमन्यो ··· ··· शरीरधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति। (विमान ६)। इसकी टीका में चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—स्रोतसां व्यवहारार्थं पर्यायानाह। अन्ये त्वेतानपि धमनीपर्यायानाहुः ॥ इसी मत के अनुसार अमरकोश में 'नाडी तु धमनी सिरा' करके धमनी और सिरा पर्याय बताये गये हैं। सिराविकाराः—सिराओं से उत्पन्न होने वाले विशिष्ट आकारयुक्त प्रकार, जैसे—दूध से दही, इक्षुरस से गुड चीनी इत्यादि—सिराविकारा इति सिराणामेवाकारान्तरेण परिणामाः, पिष्टविकारक्षीरविकारवत्। तत्तु न सम्यक्—सुश्रुताचार्य का मत है कि धमनी सिरा विकार न होकर स्वतन्त्र और सिराओं से बिलकुल भिन्न है। इसके लिए निम्न चार हेतु बतलाये जाते हैं। (१) व्यञ्जनान्यत्वात्—दोनों के लक्षणों में भिन्नता होने से। इसकी टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—तत्र सिराणां वातादिवहानामरुणनीलशुक्ललोहितवर्णत्वं लक्षणं शब्दादिवहधमनीनां तु वर्णानुक्तेः स्वधातुसमवर्णत्वम्, एवं स्रोतसामपि। तदुक्तं चरके—'स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च। स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या' इत्यादिकम् ॥ इस पर हाराणचन्द्र लिखते हैं—व्यञ्जनान्यत्वाल्लिङ्गान्यत्वात्, सिराणामिव धमनीनामपि द्विरावृतमांसात्मकनाडीस्वरूपत्वे सत्यपि किञ्चिन्मृदुत्वेन मृदुसंकोचविकासित्वेन च, स्रोतसां पुनः स्वच्छतरतनुकोमलपटावृतानावृतत्वेनातितरां मृदुत्वेन मृदुतरसंकोचविकासित्वेन च वैशिष्ट्यादिति यावत् ॥ धमनी और सिरा में मुख्य भेद स्पन्दन का है। स्पन्दनयुक्त धमनी और स्पन्दनरहित सिरा—ध्मानाद्धमन्यः, स्रवणात् स्रोतांसि, सरणात् सिराः। (चरक, सूत्र ३०)। (२) मूलसंनियमात्—मूलसंनियमो द्वितीयो भेदो यथा तासां मूलसिराश्चत्वारिंशदित्यारभ्य यावदेवमेतानि सप्तसिराशतानि; धमनीनां तु चतुर्विंशतिर्धमन्यः; स्रोतसां पुनर्द्वाविंशतिः स्रोतांसि। (डल्हण)। नियमोऽभ्युपगमश्चेति पर्यायौ। तदयमर्थः। मूलानां पृथक्त्वेनाभ्युपगमो यस्मात्तस्मान्मूलसन्नियमात् संख्यातानां मूलसिरादीनां विजातीयत्वेनावहितमनसां

प्रत्यक्षोपलम्भादिति निष्कर्षः। (३) कर्मवैशिष्ट्यात्—'कर्मणा प्रतीघातम्' इत्यादि सातवें अध्याय के ७वें श्लोक में वर्णित किया हुआ सिराओं का कर्म और शब्दरूप गंधादि का वहन धमनियों का कर्म। (४) आगमाच्च—आयुर्वेद के ग्रंथों में स्थान स्थान पर सिरा धमनी इनका पृथक् पृथक् उल्लेख मिलता है। जैसे सूत्रस्थान के अग्रोपहरणीय अध्याय में शस्त्रकर्म के समय लिखा है—वैद्यो मर्मसिरास्नायुसन्ध्यस्थिधमनीः परिहरन् अनुलोमं शस्त्रं निदध्यादापूयदर्शनात् ॥ वैसे ही शरीरगत प्रत्यङ्गों की परिगणना में सिरा, धमनी और स्रोतस् इनका उल्लेख स्वतन्त्र किया गया है—तस्य पुनः संख्यानं—मर्माणि सिरा धमन्यो योगवहानि स्रोतांसि च। (शारीर ५)। यदि धमनी और सिरा शब्द शरीरगत एक ही प्रत्यंग के लिए प्रयुक्त होता तो इनका पृथक् पृथक् उल्लेख नहीं किया जाता। इसलिए धमनी और सिरा ये पृथक् पृथक् हैं, यह कहने का अभिप्राय है। विभक्तकर्मणामप्यविभाग इव—इस तरह लक्षणभिन्नता, मूलसंख्याभिन्नता, कर्मभिन्नता और शास्त्राधार इन चार कारणों से सिरा और धमनी का प्रविभाग सिद्ध होने पर भी व्यवहार में ये शब्द अधिकतर समानार्थी प्रयुक्त हुए दिखाई देते हैं। यह दोष जैसे सद्यःकालीन उपलब्ध ग्रंथों में दिखाई देता है, वैसे प्राचीन कालीन ग्रंथों में तथा व्यवहार में कम से कम सुश्रुतसंहिता के समय में दिखाई देता था। अब इस दोष के रूढ होने के चार कारण यहाँ पर बताये जाते हैं—(१) परस्परसंनिकर्षात्—धमनी, सिरा और स्रोतस, इन तीनों प्रत्यंगों के शरीर में अत्यन्त समीप होने के कारण। शरीर में ऐसा कोई अंग नहीं मिलेगा, जहाँ पर ये तीनों प्रत्यंग न हों और अत्यन्त समीप न हों। इसके लिए डल्हणाचार्य दृष्टांत देते हैं—यथाऽतिसंनिकर्षयुक्तीकृतानां तृणानां प्रत्येकं भिन्नज्वलनक्रियाणामभिन्नमिव ज्वलनं प्रतीयते। सदृशागमकर्मत्वात्—सदृशागमात् सदृशकर्मत्वाच्च। (२) सदृशागमात्—शास्त्र में धमनी और सिरा की विभिन्नता के जितने उदाहरण मिलेंगे, उससे कई गुना अधिक उदाहरण दोनों का एकार्थी उपयोग करने के मिलेंगे—जैसे, 'कृशश्चाधमनी ततः प्रलापी' (शारीर ४); धमनीजालसंततः (चरक, सूत्र २१) इत्यादि स्थानों में धमनीशब्द सिरावाचक प्रयुक्त हुआ है। वैसे ही दश मूलसिरा हृत्स्थास्ताः सर्वतो वपुः। रसात्मकं वहन्त्योजः। (अष्टांगहृदय), नाडीहास्तु रोहिण्यः सिरा नात्युष्णशीतलाः। (सुश्रुत)—इन स्थानों में सिरा शब्द धमनीवाचक प्रयुक्त किया गया है। (३) सदृशकर्मत्वात्—दोषधातुवहन यह इनका कर्मसामान्य है। कर्मसामान्य के साथ इनमें कुछ रचनासामान्य भी है। ये तीनों ही अवकाशयुक्त याने मध्यच्छिद्रयुक्त या अन्तःसुषिर (Hollow) होते हैं—आकाशीयावकाशानां नामानि देहिनाम्। सिराः स्रोतांसि मार्गाः खं धमन्यो नाड्य आशयाः ॥ इनमें सिराएँ वातादि तीन दोषों का वहन करती हैं, स्रोतस् रस का वहन करते हैं और धमनी (रक्तयुक्त) मत का वहन करती हैं। अर्थात् भेद विभिन्न चीज के वहन में है। (४) सौक्ष्म्यात्—सूक्ष्म अंगविभि

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज्ञान के अभाव से। सिरा, धमनी, स्रोतस् सूक्ष्म होने के कारण उनका पृथक्त्व नहीं माना जाता है। इसका अर्थ यह है कि ये तीनों प्रत्यंग वास्तव में पृथक् होने पर भी इतने सूक्ष्म शारीर ज्ञान का अभाव वैद्यों में या सामान्य जनता में होने के कारण ये पर्याय रूप में प्रयुक्त होते हैं।

धमनी क्या है? धमनी के वास्तविक अर्थ के संबंध में कलापेशी स्नायु इत्यादि के समान कुछ मतभेद प्रचलित है। इस मतभेद के अध्वर्यु पूना के स्वर्गवासी पं० गंगाधर शास्त्री जोशी हैं। उनके मतानुसार धमनी मस्तिष्कसुषुम्ना से निकलने वाली नाडियाँ (Cerebro-spinal nerves) हैं। इस मत का विचार करने के पहले धमनी के संबंध में आयुर्वेद में जो मुख्य बातें मिलती हैं, उनका विवरण किया जाता है। वे मुख्य बातें ये हैं—(१) धमनी नाली के समान अवकाशयुक्त या सुषिर वस्तु है—आकाशीयावकाशानां देहे नामानि देहिनाम्। सिराः स्रोतांसि मार्गाः खं धमन्यः॥ स्रोतांसि सिरा धमन्यो मार्गाः शरीरच्छिद्राणि। (चरक, विमान ५)। (अष्टांगसंग्रह, शारीर ६)। (२) हृदय से संबंध—यद्यपि यहाँ पर धमनियों की उत्पत्ति नाभि से बताई गई है (इसका अर्थ इस वक्तव्य के प्रारम्भ में तथा सातवें अध्याय के ३९वें श्लोक के वक्तव्य में स्पष्ट किया गया है) तथापि साधारणतया धमनियों का संबंध हमेशा हृदय के साथ ही लिखा जाता है—स हृदयाच्चतुर्विंशतिं धमनीरनुप्रविश्य कृत्स्नं शरीरमहरहस्तर्पयति। (सूत्र १४)। हृदि च दश धमन्यः। (चरक, सिद्धिस्थान ९)। तेन मूलेन महता महामूला मता दश। ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः॥ (चरक, सूत्र ३०)। आगे नंबर तीन में दिये हुए उद्धरण भी देखो। (३) धमनी में रस और रक्त का संवहन होता है—रसवहानां स्रोतसां हृदयं मूलं दश च धमन्यः। (चरक, विमान ५)। शोणितजानां तु खलु कुष्ठैः समानं समुत्थानं, स्थानं रक्तवाहिन्यो धमन्यः। (चरक, विमान ७)। धमनिस्थे (शल्ये) सफेनं रक्तमीरयन्ननिलः सशब्दं निर्गच्छति। (सुश्रुत, सूत्र २६)। समेत्य हृदयं प्राप्य धमनीरूर्ध्वमागतम्। विक्षोभ्येन्द्रियचेतांसि वीर्यं मदयते चिरात्। (सुश्रुत, सूत्र ४५)। मासेनोपचितं काले धमनीभ्यां तदार्तवम्। ईषत् कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखं नयेत्। (सुश्रुत, शारीर ३)। धमन्यः संवृतद्वाराः कन्यानां स्तनसंश्रिताः। दोषाविसरणात्तासां न भवन्ति स्तनामयाः॥ (सुश्रुत, निदान १०)। धमनीनां हृदिस्थानां विवृतत्वादनन्तरम्। चतूरात्रात् त्रिरात्राद्वा स्त्रीणां स्तन्यं प्रवर्तते॥ (सुश्रुत, शारीर १०)। असंजाताङ्गप्रत्यङ्गप्रविभाग-मानिषेकात् प्रभृति सर्वशरीरावयवानुसारिणीनां रसवहानां धमनीनां तिर्यग्गतानामुपस्नेहो जीवयति। (सुश्रुत, शारीर ३)। स हृदयाच्चतुर्विंशतिं धमनीरनुप्रविश्योर्ध्वगा दश दश चाधो गामिन्य-श्चतस्रश्च तिर्यग्गाः कृत्स्नं शरीरं तर्पयति। (सुश्रुत, सूत्र १४)। (४) धमनियों में धमान या स्पन्दन मिलता है—ध्मानाद्ध-मन्यः, स्रवणात् स्रोतांसि, सरणात् सिराः। (चरक, सूत्र ३०)। धमन्यो रसवाहिन्यो धमन्ति पवनं तनौ। करस्यांगुष्ठमूले या धमनी जीवसाक्षिणी। तच्चेष्टया सुखं दुःखं ज्ञेयं कायस्य पण्डितैः। ज्वरकोपेन धमनी सोष्णा वेगवती भवेत्॥ (शार्ङ्गधर, प्रथमखंड)। तस्य चेन्मन्ये परिमृश्यमाने न स्पन्देयाताम्, परासुरिति विद्यात्। (चरक, इन्द्रियस्थान ४)। मन्ये गलपार्श्वगते धमन्यौ। (चक्रपाणिदत्त)। संक्षेप में आयुर्वेदोक्त धमनियाँ नाली-दार हृदय से निकलने वाली, रसरक्तवह और स्पन्दनशील (Pulsating) होती हैं। पं० गंगाधर शास्त्री हृदय का अर्थ मस्तिष्क (Brain) करते हैं—How the dhamanis are said to proceed from हृदय and नाभि is a Question connected with the ancient Yoga-philosophy. Suffice it to say here that even Dr. Gana Nath sen and the late Prof. Bhanw of Poona have acknowledged that in the ancient philosophy of Yoga and the Upanishads हृदय did mean a part of Brain. योगशास्त्र में हृदय का अर्थ मस्तिष्क भले ही हो, आयुर्वेद में हृदय से वक्षःस्थ रक्तपरिचालक यन्त्र का ही निरपवाद बोध होता है। इस विषय का विस्तृत साधक बाधक प्रमाणों के साथ विवरण चतुर्थ अध्याय के ३३वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। इसलिए धमनी से आधुनिक पाश्चात्त्य परिभाषा के अनुसार आर्टरी (Artery) का ही बोध होता है। अब, जैसे कि यहाँ पर बताया गया है, सूक्ष्म ज्ञानाभावादि कारणों से धमनी का उपयोग हमेशा आर्टरी के अर्थ में नहीं किया जाता है, यह बात दूसरी है। परन्तु इससे धमनी का वास्तविक मूल अर्थ कहीं भी नहीं छिप सकता। जिस ग्रंथ में कहीं भी मस्तिष्क का या सुषुम्ना का वर्णन नहीं मिलता, उस ग्रंथ के कुछ शब्दों से Cerebro-spinal nerves, sympathetic nerve fibers इत्यादि का अर्थ निकालना अज्ञान और धृष्टता का काम है। धमनी का अर्थ Nerve करना इसी स्वरूप का काम है। नर्व या नाडी ठोस होती है, उसमें रस या रक्त का वहन नहीं होता, न स्पन्दन होता है तथा उसका संबंध सुषुम्ना या मस्तिष्क के साथ होता है। याने धमनी और नर्व में एक भी बात की समता नहीं है। ऐसी अवस्था में धमनी को नर्व कहना एक दुराग्रह है। नर्व के संबंध में यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि मृत्यु के पश्चात् शरीर का संशोधन करने से उसके कार्य का ज्ञान कदापि नहीं हो सकता। वह अंग स्नायुतन्तु के साथ भूला जा सकता है। बंगला में नर्व के लिए स्नायु शब्द का ही प्रयोग होता है। हाराणचन्द्र भी स्नायु शब्द से नर्व समझते हैं। आगे नौवें श्लोक के वक्तव्य में हाराणचन्द्र का उद्धृत वचन देखो। धमनी का ज्ञान मृत्यु के पश्चात् भी हो जाता है और मृत्यु के पूर्व भी उसका ज्ञान स्पन्दनादि से हो जाता है। संक्षेप में रक्तवह संस्थान का ज्ञान जितना सुलभ है, उतना मस्तिष्कसंस्थान का नहीं है। अभी तक मस्तिष्क के कुछ प्रदेश तथा उनके कार्य अज्ञात हैं। इस सारे विवरण का तात्पर्य यह नहीं है कि भारतीयों को और उनके साथ आयुर्वेदवेत्ताओं को मस्तिष्क और सुषुम्ना का तथा शरीर-गत नाडियों का ज्ञान नहीं था। परन्तु यह ज़रूर कहना पड़ता है कि मस्तिष्कसंस्थान का ज्ञान हो या न हो, आयुर्वेदवेत्ताओं ने मस्तिष्कसंस्थान जैसे प्रमुख परन्तु कठिन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्थान के परिचय के झंझट को छोड़कर मनुष्य शरीरगत प्राकृत और विकृत कार्यों का समाधान करने की बड़ी सुन्दर और सरल उपपत्ति निकाली, जिस उपपत्ति के कारण कम से कम प्राचीन काल में, वैद्यकशास्त्र में बहुत सुलभता आ गई। मस्तिष्कसंस्थान के शारीरिक या अंगविनिश्चयात्मक ज्ञान (Anatomy) का अभाव इसी कारण से आयुर्वेद में दिखाई देता है, परन्तु उसके कार्य (Physiology) का काफी विवरण आयुर्वेद में मिलता है (सूत्रस्थान के १४वें अध्याय के ११वें श्लोक के वक्तव्य के अन्त में पृष्ठ ८० पर नर्वस टिशु का वर्णन देखो)। यह उपपत्ति क्या है?

आयुर्वेद की नीव त्रिदोषों के ऊपर है, इसमें कोई संदेह नहीं है। कोई इनको माने या न माने, तथा पाश्चात्य वैद्यक इनको वैज्ञानिक समझे या न समझे। इन त्रिदोषों में वायु नामक एक दोष सर्वप्रधान माना गया है। इस वायु का बहुत सुंदर वर्णन चरकसंहिता के वातकलाकलीय अध्याय में किया गया है—वायुस्तन्त्रयन्त्रधरः प्राणोदानसमानव्यानापानात्मा, प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानां, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, सर्वशरीरधातुव्यूहकरः, संधानकरः शरीरस्य, प्रवर्तको वाचः, प्रकृतिः शब्दस्पर्शयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलं, हर्षोत्साहयोर्योनिः, समीरणोऽग्नेः, संशोषणो दोषाणां, क्षेप्ता बहिर्मलानां, स्थूलाणुस्रोतसां भेत्ता, कर्ता गर्भाकृतीनाम्, आयुषोऽनुप्रवृत्तिप्रत्ययभूतो भवत्यकुपितः। कुपितस्तु खलु शरीरे शरीरं नानाविधैर्विकारैरुपतपति बलवर्णसुखायुषामुपघाताय, मनो व्याहर्षयति, सर्वेन्द्रियाण्युपहन्ति, विनिहन्ति गर्भान्, विकृतिमापादयत्यतीतकालं वा धारयति, भयशोकमोहदैन्यातिप्रलापाञ्जनयति, प्राणांश्चोपरुणद्धि ॥ (सूत्र १२)। यह वायु क्या है? आज ठीक नहीं कहा जा सकता। कोई इसको आक्सिजन समझते हैं, कोई कार्बन डायोक्साइड समझते हैं; और कोई प्रणालीविहीन ग्रंथियों के अन्तःस्राव (Hormones) समझते हैं। कुछ भी हो, यह वातशरीर में निरन्तर संचार करता रहता है और इसी संचार के ऊपर प्राणियों का स्वास्थ्य निर्भर होता है—अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतौ स्थितः। वायुः स्यात्सोऽधिकं जीवेद्वीतरोगः समाः शतम् ॥ (चरक, चिकित्सा २८)। वायु के साथ अन्य दो दोष भी शरीर में संचार करते हैं, परंतु उनका नियन्त्रण वायु के द्वारा ही होने के कारण वे विशेष महत्त्व के नहीं माने गये हैं—पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः। वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत् ॥ (शार्ङ्गधर)। अचिन्त्यवीर्यो दोषाणां नेता रोगसमूहराट्। (सुश्रुत)। ये दोष शरीर में संचार करते हैं, अर्थात् इनके संचरण के लिए मार्ग की आवश्यकता है। शवविच्छेदन तथा पाश्चात्य वैद्यक पढ़ने से जिनको नवीन दृष्टि प्राप्त हुई है (जैसी कि पं० गंगाधर शास्त्रीजी को प्राप्त हुई थी), वे कह सकते हैं कि वायु का मार्ग शरीरगत नर्व (Nerves) होती हैं। इसके संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि तीनों दोष हमेशा साथ रहते हैं, एक ही वाहिनी में से संचार करते हैं। वह वाहिनी नालीदार पोली होती है और इनका वाहन रस (या रक्त) होता है—कुपितानां हि दोषाणां शरीरे परिधावताम्। यत्र संगः खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते ॥ (सुश्रुत, सूत्र २४, १८)। व्यानेन रसधातुर्हि विक्षेपोचितकर्मणा। युगपत् सर्वतोऽजस्रं देहे विक्षिप्यते सदा ॥ क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद्रसः सज्जति यत्र सः। तस्मिन् विकारं कुरुते खे वर्षमिव तोयदः ॥ (अष्टांगहृदय, शारीर ३)। इसकी टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—एवमनेन न्यायेन दोषाणामपि वातादीनां व्यानेन विक्षिप्यमाणानामेकदेशप्रकोपणं विकारकरणं स्यात्। व्यान धातु हृदय में निवास करके रससंवहन का कार्य करता है। इससे स्पष्ट है कि यह हृदय हार्ट है, ब्रेन नहीं है। अर्थात् वातादि दोष रससंवहन के साथ शरीर में हमेशा परिभ्रमण किया करते हैं और प्राकृत अवस्था में प्राकृत कार्य और विकृत अवस्था में विकार उत्पन्न करते हैं, परंतु उनका मार्ग और वाहन दोनों अवस्थाओं में एक ही होता है। नर्व में से वायु का संचार मानने के लिए सभी (प्राचीन तथा आधुनिक) तैयार होंगे। परंतु उसी में से पित्त और कफ का वहन मानने के लिए कोई भी तैयार नहीं होगा। चूंकि ये तीनों साथ रहते हैं और रस के द्वारा रसवाहिनियों में से संपूर्ण शरीर में संचार करते हैं इसलिए वायु का कार्य जहाँ पर दिखाई देता है, वहाँ पर शारीरिक अंगविनिश्चय की दृष्टि से नर्व अर्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं होती, न आयुर्वेद की उपपत्ति की दृष्टि से उसका अर्थ नर्व कर सकते हैं। इस प्रकार यदि अर्थ किये जायँ तो कई बार अनवस्था प्रसंग उत्पन्न होंगे। इसके कुछ उदाहरण सातवें अध्याय के ३९वें श्लोक के वक्तव्य में तथा चौथे अध्याय के ३३वें श्लोक के वक्तव्य में हृदय का अर्थ करने के समय दिये गये हैं। कुछ उदाहरण यहाँ पर भी दिये जाते हैं—(१) धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम्। स्वाः सिराः संचरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि ॥ (सुश्रुत, शा० ७)। इस श्लोक पर प्रत्यक्षशारीर की प्रस्तावना में म० म० गणनाथ सेन लिखते हैं—नहि सिरासु संचरद्रक्तं स्पर्शज्ञानं साधयति, तद्धि स्पर्शसंज्ञावाहिभिर्नाडीप्रतानैः (Nerves) संपद्यते ॥ रसयोगसागर उपोद्धात (पृष्ठ १२८) में भी इस श्लोक पर लिखा है—इत्यत्र धातूनां पूरणमित्यनेन सिराधमन्यावुक्तौ। स्पर्शज्ञानमित्यनेन ज्ञानतन्तु(Nerves)कार्यं निर्दिष्टम्। तच्च सिरास्वसंबद्धं किन्तु ज्ञानतन्तुनिर्वाह्यं, सिरासु संचरद्रक्तं तन्न साधयति ॥ (२) कर्णयोर्दश तासां शब्दवाहिनीनामेकैकां परिहरेत् ॥ परिभाषितनाड्यर्थे सिरापदप्रयोगः (प्रत्यक्षशारीर प्रस्तावना ६६)। (३) यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः। तदाक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः ॥ मुहुर्मुहुस्तदाक्षेपादाक्षेपक इति स्मृतः ॥ (सुश्रुत, निदान १)। इत्यत्र ज्ञानतन्तुषु धमनीशब्दः प्रयुक्तः। (रसयोगसागर उपोद्धात पृष्ठ १२८)। इस प्रकार अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं कि जहाँ पर अर्थ की दृष्टि से सिरा या धमनी या नाडी का उलथा नर्व किया जा सकता है। परंतु वास्तव में आयुर्वेदोक्त सिरा, धमनी, स्रोतस् या नाडी नर्व नहीं हैं, रस या रक्त को वहन करने वाली नाली है। ये प्रयोग न गलती से हुए हैं, न गफलत से, न प्रतिसंस्कर्ता के दोष से, न प्रक्षेप से, परंतु ठीक आयुर्वेद की उपपत्ति के

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नुसार हुए हैं। यह उपपत्ति आधुनिक पाश्चात्य तत्त्व के अनुसार गलत कही जा सकती है, यह दूसरी बात है। परंतु इस नये तत्त्व के आधार पर पुरानी कल्पना को बदलकर नये के साथ मिलाने की कोशिश करना ठीक नहीं है। रस या रक्त के साथ वातादि दोष संचार करके शरीर में प्राकृत (Normal) तथा वैकृत (Abnormal) कार्य करते हैं। इस उपपत्ति में सत्य का संपूर्ण अभाव नहीं मालूम होता, बल्कि बहुत कुछ तथ्य प्रतीत होता है। जैसे, मस्तिष्क में रक्त की कमी होने से चक्कर, अंधता उत्पन्न होती है, रक्त की अधिकता होने से सिरदर्द होता है। मस्तिष्कगत रक्तप्रवाह के बंद होने से मृत्यु होती है, किसी एक स्थान का प्रवाह बंद होने से एकांगवात, पक्षाघात होता है। सुषुम्ना में कहीं पर रक्तप्रवाह में बाधा होने से पंगुता उत्पन्न होती है, कान के रक्तप्रवाह में बाधा होने से बाधिर्य, कर्णक्ष्वेड होता है। आँखों की रक्तवाहिनी में बाधा उत्पन्न होने से अंधता होती है। कुर्सी पर या कठिन आसन पर अधिक देर बैठने से टाँगों के रक्तप्रवाह में बाधा उत्पन्न होकर पैरों में झुनझुनी, स्वाप, जडता इत्यादि उत्पन्न होते हैं। नींद में एक करवट अधिक समय तक सोने से हाथ के रक्तप्रवाह में बाधा उत्पन्न होकर हाथ में भी पैर की तरह झुनझुनी इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। आधुनिक पाश्चात्य उपपत्ति के अनुसार ये सब नर्वस रोग (Nervous Diseases) होते हैं, परंतु इन विकारों में मस्तिष्कसंस्थान की धातु में कोई खराबी नहीं होती। जो कुछ भी होती है, वह असल में रक्तवहन की होती है। अर्थात् अगर कोई इन विकारों का कारण मस्तिष्कसंस्थान न समझकर रक्त समझे तो इसमें विशेष दोषावह नहीं है। जब कान की रक्तवाहिनी में खराबी होने से कान का कार्य ठीक नहीं होता, तब इसका अनुमान यह होता है कि रक्तवाहिनी ठीक होने से कान का काम भी ठीक होता है। आयुर्वेद में ये सब कार्य वायु के द्वारा होते हैं, ऐसा माना गया है। इसका मतलब यह है कि जब प्रत्येक प्रत्यंग की रक्तवाहिनी में अविकृत वायु संचार करती है, तब उसका कार्य ठीक होता है। और जब विकृत वायु संचार करती है, तब उसका कार्य खराब हो जाता है। जिह्वा की रक्तवाहिनी में अविकृत वायु का संचार होने पर गंधज्ञान ठीक होगा और विकृत वायु का संचार होने पर गंधज्ञान में गड़बड़ हो जायगी। संक्षेप में, रसरक्त के द्वारा शरीर के संपूर्ण कार्य विकृत या अविकृत होते हैं, यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है। पाश्चात्य वैद्यक को भी मानना पड़ता है कि शब्द स्पर्शादि कार्य शरीर में यद्यपि मस्तिष्कसंस्थान के द्वारा होते हैं तथापि मस्तिष्कसंस्थान का स्वास्थ्य रक्त के उचित संगठन पर निर्भर होता है। यदि रक्त में जीवनीय द्रव्य (Vitamines), कैलसिअम, फास्फरस, एमिनो एसिड इत्यादि द्रव्यों की तथा शरीरगत अन्तःस्रावों (Hormones) की कमी हो तो मस्तिष्कसंस्थान शारीरिक क्रिया ठीक होने पर अनेक नर्वस विकार उत्पन्न होते हैं। आयुर्वेद में मस्तिष्क तथा नाडियों के लिए जो स्थान नहीं दिया गया है, उसके लिए एक दार्शनिक दृष्टान्त दिया जा सकता है। सभी लोग जानते हैं कि ध्वनि की उत्पत्ति के लिए वायु की आवश्यकता होती है, वायु के विना ध्वनि उत्पन्न नहीं हो सकती। यह सब कुछ होते हुए भी दर्शनशास्त्रों में शब्द आकाश का गुण बताया गया है—पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि। गंधरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः। (न्यायदर्शन १)। आधुनिक वैज्ञानिक खोज से भी यह सिद्ध हुआ है कि आकाश (Ether) में शब्दोत्पत्ति होती है। आजकल आकाशवाणी (Radio) अत्यन्त दूर स्थान से आकाश द्वारा ही प्राप्त होती है। इसी प्रकार शरीर में वातिक प्राकृत और विकृत लक्षण मस्तिष्कसुषुम्ना नाडियों के द्वारा ही होते हैं, परन्तु आयुर्वेद में नाडियों के बदले रक्तस्थ वात को ही प्राधान्य दिया है। इसलिए आयुर्वेद में शारीरिक अंगविनिश्चय की दृष्टि से कहीं भी मस्तिष्क या सुषुम्ना या नाडियों (Nerves) का उल्लेख नहीं मिलेगा। भाषान्तर में कहीं कहीं जो नर्व का उल्लेख आता है, वह तो केवल आधुनिक परिभाषा की दृष्टि से अर्थ स्पष्ट करने के लिए किया गया है। आगे भी आठवें और नौवें श्लोकों का वक्तव्य देखो।

तासां तु खलु नाभिप्रभवाणां धमनीनामूर्ध्वगा दश, दश चाधोगामिन्यः, चतस्रस्तिर्यग्गाः ॥३॥

(चौबीस धमनियों के विभाग—) नाभि से उत्पन्न होने वाली इन धमनियों की दस (धमनियाँ शरीर के) ऊपर की ओर, दस (धमनियाँ) नीचे की ओर और चार तिर्यक् (पार्श्वों में जाती हैं) ॥३॥

ऊर्ध्वगाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धप्रश्वासोच्छ्वासजृम्भितक्षुद्धसितकथितरुदितादीन् विशेषानभिवहन्त्यः शरीरं धारयन्ति। तास्तु हृदयमभिप्रपन्नास्त्रिधा जायन्ते, तास्त्रिंशत्। तासां तु वातपित्तकफशोणितरसान् द्वे द्वे वहतस्ता दश, शब्दरूपरसगन्धानष्टाभिर्गृह्णीते, द्वाभ्यां भाषते, द्वाभ्यां घोषं करोति, द्वाभ्यां स्वपिति, द्वाभ्यां प्रतिबुध्यते, द्वे चाश्रुवाहिण्यौ, द्वे स्तन्यं स्त्रिया वहतः स्तनसंश्रिते, ते एव शुक्रं नरस्य स्तनाभ्यामभिवहतः, तास्त्वेतास्त्रिंशत् सविभागा व्याख्याताः। एताभिरूर्ध्वं नाभेरुदरपार्श्वपृष्ठोरःस्कन्धग्रीवाबाहवो धार्यन्ते याप्यन्ते च ॥४॥

(ऊर्ध्वग धमनियों के कार्य—) ऊपर जाने वाली (धमनियाँ) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, प्रश्वास, उच्छ्वास, जम्भाई, छींक, हँसना, रोना, बोलना इत्यादि विशेषों को अभिवहन करती हुई शरीर को धारण करती हैं। ये दस धमनियाँ हृदय के पास पहुँचने पर तीन भागों में विभक्त होती हैं। वे तीस हो जाती हैं। इनमें वात, पित्त, कफ, रक्त और रस को दो दो वहन करती हैं वे दस, शब्द, रूप, रस और गन्ध को (प्रत्येक के लिए दो दो करके) आठ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग्रहण करती हैं, दो से भाषण करता है, दो से अव्यक्त शब्द करता है, दो से सोता है, दो से जागता है, दो (आँखों के) अश्रु का वहन करने वाली हैं, दो स्तनाश्रित स्त्रियों के स्तन्य का संवहन करती हैं, वही दो स्तनों से पुरुषों के शुक्र का संवहन करती हैं, (इस तरह ऊर्ध्वग दस धमनियों की) ये तीस धमनियाँ उनके विभाग के साथ वर्णन की गई हैं। इनके द्वारा नाभि से ऊपर पेट, पार्श्व, पीठ, छाती, कन्धे, ग्रीवा और बाहु इनका धारण और यापन होता है ॥४॥

वक्तव्य—प्रश्वासोच्छ्वास—इनके अर्थ के संबंध में मतभिन्नता दिखाई देती है—प्रश्वासोऽन्तः प्रविशति वायुः, उच्छ्वास ऊर्ध्वमुत्तिष्ठद्वायुः। (**डल्हण**)। प्रश्वासः श्वासप्रेरणमुच्छ्वासोऽन्तःप्रवेशनम्। (**इन्दु, अष्टांगसंग्रह, सूत्र २०**)। भाषते, घोषं करोति—भाषत इति ताल्वादिस्थानव्यापारनिष्पादिताकारादिवर्णव्यक्तियुक्तं शब्दं करोति, घोषश्च तद्विपरीतोऽव्यक्तः शब्दः। (**डल्हण**)। ग्रीवा—सशिरग्रीवा। शिर के साथ ग्रीवा।

इस सूत्र में तथा आगे के दो सूत्रों में जो धमनियाँ वर्णन की गई हैं, उन सब धमनियों का प्रत्यक्षशारीर की दृष्टि से पर्याय नाम देना कठिन है। तथापि जिनका दिया जा सकता है, उनका अँग्रेजी पर्याय नाम नीचे दिया जाता है। उसके साथ साथ पं० गंगाधर शास्त्री के पर्याय भी कोष्ठ में दिये जाते हैं।

शब्दवह धमनी—Internal auditory artery (Acoustic nerves); **रूपवह धमनी**—Central retinal artery (optic nerves); **रसवह धमनी**—Lingual artery (Nerves of taste that is branches from glossopharyngeal and lingual); **गन्धवह धमनी**—Sphenopalatine branch of the internal maxillary (olfactory nerves); **घोषकरा धमनी**—Laryngeal arteries (Inferior laryngeal nerves); **भाषण धमनी**—Sublingual artery (Hypoglossal nerves); **अश्रुवाही धमनी**—Lacrimal artery (Lacrimal nerves); **स्तन्यवह धमनी**—Mammary artery; प्रश्वासोच्छ्वासजृम्भितक्षुद्धसितकथितरुदितादविशेष—ये श्वसन के ही विशेष प्रकार हैं, जिनमें श्वसन की महाप्राचीरा (Diaphragm) तथा अन्य पेशियाँ काम करती हैं। इसलिए इनको रक्त की रसद पहुँचाने वाली धमनियाँ ग्रहण करनी चाहिएँ; जैसे—Phrenic and inter-costal arteries। इन स्थानिक धमनियों के सिवा ये सब कार्य मस्तिष्क के द्वारा नियन्त्रित होते हैं; इसलिए ऊर्ध्वग धमनियों से मस्तिष्क की संपूर्ण धमनियों का ग्रहण होता है। इस सूत्र की टीका में डल्हणाचार्य लिखते हैं—शब्दादींश्चतुरः प्रत्येकं द्वाभ्यां द्वाभ्यामित्यष्टाभी रजःप्रवर्तितात्मप्रयत्नप्रबोधमनोऽनुगताभिर्धमनीभिर्गृह्णीते। मनसश्चाणुत्वादेकत्वाच्च तासां युगपत्प्रवृत्तिर्नास्तीति, तासां या धमनी मनसाऽनुयुज्यते तयैव रूपादिष्वन्यतममात्मा गृह्णीते, न पुनर्युगपदेव रूपादिकं सर्वं सर्वाभिरिति।

भवति चात्र—

ऊर्ध्वगमा(ता)स्तु कुर्वन्ति कर्माण्येतानि सर्वशः।
अधोगमास्तु वक्ष्यामि कर्म तासां यथायथम् ॥५॥

ऊर्ध्वगामी धमनियाँ ये सब कर्म करती हैं। अधोगामी धमनियों तथा उनके कर्मों का याथातथ्य वर्णन करूँगा ॥५॥

अधोगमास्तु वातमूत्रपुरीषशुक्रार्तवादीन्यधो वहन्ति। तास्तु पित्ताशयमभिप्र(ति)पन्नास्तत्रस्थमेवान्नपानरसं विपक्वमौष्ण्याद्विवे(रे)चयन्त्योऽभिवहन्त्यः शरीरं तर्पयन्ति, अर्पयन्ति चोर्ध्वगानां तिर्यग्गाणां च, रसस्थानं चाभिपूरयन्ति, मूत्रपुरीषस्वेदांश्च विवे(रे)चयन्ति; आमपक्वाशयान्तरे च त्रिधा जायन्ते, तास्त्रिंशत्; तासां तु वातपित्तकफशोणितरसान् द्वे द्वे वहतस्ता दश, द्वेऽन्नवाहिन्यावन्त्राश्रिते, तोयवहे द्वे, मूत्रबस्तिमभिप्रपन्ने मूत्रवहे द्वे, शुक्रवहे द्वे शुक्रप्रादुर्भावाय, द्वे विसर्गाय, ते एव रक्तमभिवहतो (विसृजतश्च) नारीणामार्तवसंज्ञं, द्वे वर्चोनिरसन्यौ स्थूलान्त्रप्रतिबद्धे, अष्टावन्यास्तिर्यग्गाणां धमनीनां स्वेदमर्पयन्ति; तास्त्वेतास्त्रिंशत् सविभागा व्याख्याताः। एताभिरधोनाभेः पक्वाशयकटीमूत्रपुरीषगुदबस्तिमेढ्रसक्थीनि धार्यन्ते याप्यन्ते च ॥६॥

(अधोगामी धमनियों का वर्णन—) अधोगामी धमनियाँ तो वात, मूत्र, मल, शुक्र तथा आर्तव इनको अधोभाग में वहन करती हैं। ये पित्ताशय के पास पहुँचने पर पाचकाग्नि से अच्छी तरह पाचित हुए, अन्न-पान के रस को ग्रहण करके अभिवहन करती हुई, शरीर का तर्पण करती हैं, ऊर्ध्वगामी और तिर्यग्गामी धमनियों को (रस) पहुँचाती हैं, रसस्थानों को रस से पूर्ण करती हैं, मूत्र पुरीष और स्वेद को (अन्नरस से) पृथक् करती हैं और आमाशय तथा पक्वाशय के मध्य में तीन भागों में विभक्त होती हैं। (इस प्रकार विभाग होने से) ये तीस धमनियाँ बनती हैं। इनमें से वात, पित्त, कफ, रक्त और रस को दो दो वहन करती हुई दस होती हैं; आन्त्र में आश्रय करके दो अन्न वहन करती हैं, दो जल वहन करती हैं, मूत्रबस्ति की ओर जाने वाली दो मूत्रवह धमनियाँ हैं; शुक्रोत्पत्ति के लिए दो शुक्रवह धमनियाँ हैं; दो शुक्रविसर्जन के लिए हैं; वही (शुक्रवह धमनियाँ) स्त्रियों में आर्तववहन का काम करती हैं, स्थूलान्त्र के साथ संबंधित हुई दो मलनिरसनी हैं, शेष आठ धमनियाँ तिर्यग्गामी धमनियों को स्वेद (के लिए रक्त) अर्पण करती हैं; इस तरह ये तीस धमनियाँ विभागों के साथ वर्णित हुई हैं। इन धमनियों से नाभि से नीचे पक्वाशय, कटी, मूत्र, पुरीष, गुद, बस्ति, मेढ़्र और सक्थि इनका धारण और यापन होता है ॥६॥

वक्तव्य—अधोगामी धमनियों का संबंध औदरिक विभाग और अधोगत शाखाओं से होता है। वातमूत्रपुरीषशुक्रार्तवादीन्यधो वहन्ति—वातमूत्रादि पदार्थ उदरविभाग में उत्पन्न होते हैं और इनकी गति की दिशा नीचे की ओर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है। ये पदार्थ धमनियों से रक्त की रसीद पहुँचने पर तज्जनक अंगों से उत्पन्न होकर नीचे की ओर चल देते हैं, इसलिए धमनियाँ इनको नीचे ले जाती हैं, ऐसा शब्द प्रयोग किया गया है। पित्ताशयमभिप्रपन्ना—आमाशय और क्षुद्रान्त्र में पहुँचने के बाद। पित्तधरा कला का यही स्थान है। इसी स्थान पर सेवन किये हुए अन्न का पाचन और शोषण होकर अन्नरस बनता है और शरीर का पोषण उससे होता है। पाचन और शोषण का कार्य करने में आन्त्र तब समर्थ होता है, जब उसको धमनियों से रक्त की रसीद मिलती है। इसलिए धमनियाँ अन्नपान रस की विवेचक और अभिवाहक बतलाई गई है। अर्पयन्ति च ऊर्ध्वगानां तिर्यग्गानाम्—अधोगामी धमनियों से अन्नपान का पचन होने में सहायता मिलकर रस बनता है, जो सिराओं और रसायनी द्वारा हृदय में जाकर ऊर्ध्वगामी तथा तिर्यग्गामी धमनियों का तर्पण करता है। अर्थात् ऊर्ध्वगामी धमनियों का तर्पण अप्रत्यक्षतया अधोगामी धमनियाँ ही करती हैं। रसस्थानम्—हृदयम्—यस्तेजोभूतः सारः परमसूक्ष्मः स रस इत्युच्यते। तस्य च हृदयं स्थानम्। (सूत्र १४)। किंवा रसप्रपा (Cysternachyli) और रसकूल्या (Thoracicduct)। अन्न का पाचन होने के पश्चात् सात्म्य भाग शोषण होकर वह भाग याने अन्नरस प्रथम रसप्रपा और रसकूल्या में आता है और उनमें से होकर हृदय में चला जाता है । मूत्रपुरीषस्वेदांश्च विवेचयति—मूत्र, पुरीष और स्वेद ये तीन अन्न के मल होते हैं जो आन्त्र, बस्ति (वृक्क) और त्वचा द्वारा पृथक् किये जाते हैं। इनमें से मूत्र और मल को पृथक् करने का काम उदरविभाग में ही होता है, जिसका उल्लेख 'वर्चोनिरसन्यौ' और 'मूत्रवहे' करके किया गया है। स्वेद का काम तिर्यक् धमनियों का है परंतु तिर्यग्गामी धमनियों को रस की रसीद ये धमनियाँ पहुँचाती हैं, इसलिए स्वेद का जिक्र यहाँ पर किया गया है । आमपक्वाशयान्तरे—आमाशय और क्षुद्रान्त्र के बीच में या आमाशय और क्षुद्रान्त्र का जो अवकाश है, उस अवकाश में कहीं पर । अन्नवाहिन्यावन्त्राश्रिते—आमाशय और क्षुद्रान्त्र को जाने वाली धमनियाँ जिनके द्वारा रक्त की रसीद पहुँचने पर आमाशय और क्षुद्रान्त्र अपनी विशेष गति के द्वारा अन्न को नीचे की ओर ले जाने में समर्थ होता है—Superior mesenteric and coelioe arteries (Vagi and sympathetic)। मूत्रवहे द्वे—जिनके द्वारा रक्त पहुँचने से मूत्रोत्पत्ति होती है। आयुर्वेद में मूत्र का प्रधान स्थान बस्ति माना गया है। यदि शब्दप्राधान्य माना जाय तो मूत्रवहे धमनियों से Vesical arteries समझ सकते हैं। यदि अर्थ की दृष्टि से आधुनिक कल्पना के अनुसार देखें तो Renal arteries वृक्कों की धमनियाँ समझना उचित है (Nerves from the renal plexus spermatic, ovarian, inferior mesenteric plexus and hypogastric plexus.)। कविराज गणनाथसेन इससे गवीनी (Ureters) समझते हैं—'मूत्रबस्तिमभिप्रपन्ने मूत्रवहे द्वे' इति स्पष्टं गवीन्योरेव निर्देशः। (प्रत्यक्ष शारीर, प्रस्तावना)। शुक्रवहे द्वे—शुक्रोत्पादक अंगों याने वृषणग्रंथियों को रक्त की रसीद पहुँचाने वाली धमनियाँ Testicular and spermatic arteries (Spermatic plexus)। इनके द्वारा रक्त पहुँचने पर वृषणग्रंथियाँ शुक्रोत्पादन में समर्थ होती हैं। इसलिए लिखा है—शुक्रप्रादुर्भावाय। द्वे शुक्रविसर्गाय—वृषणग्रंथि में उत्पन्न हुआ शुक्र मैथुन के अन्त में अधिवृषणिका, शुक्रवाहिनी, शुक्राशय और अष्ठीला ग्रंथि, इनके संकोच से मूत्रमार्ग द्वारा बाहर फेंका जाता है अर्थात् शुक्रविसर्गकर धमनियों से इन अंगों की धमनियों का बोध होता है—Arteries supplying epidydimus, dueta deferentia, seminal vesicle and prostate। नारीणामार्तवसंज्ञे द्वे आर्तववहे—आर्तव की उत्पत्ति की कारवाई बीजकोश और गर्भाशय में होती है। इसलिए आर्तववह धमनियों से गर्भाशय और बीजकोश की धमनियों को ग्रहण करना चाहिए—Uterine and ovarian arteries (Hypogastric and ovarian plexus)। वर्चोनिरसन्यौ स्थूलान्त्रप्रतिबद्धे—स्थूलान्त्र का काम मल को नीचे की ओर ले जाकर बाहर फेंकने का है। इसलिए स्थूलान्त्र के इस काम में सहायता करने वाली धमनियाँ 'वर्चोनिरसनी' कहलाती हैं—Inferior mesenteric artery, middle colic and right colic arteries (Pelvic visceral nerves)। एताभिरधोनाभेः पक्वाशयकटीमूत्रपुरीषगुदबस्तिमेढ्रसक्थीनि धार्यन्ते याप्यन्ते च—ये तीस धमनियाँ अपनी शाखा-प्रशाखाओं द्वारा नाभि के नीचे के पक्वाशयादि उक्त तथा अनुक्त अंगों को रक्त की रसीद पहुँचाकर उनका धारण और पोषण करती हैं। अधोगामी धमनियों से आधुनिक प्रत्यक्ष शारीर की दृष्टि से औदरिक महाधमनी और उसकी शाखा-प्रशाखाओं (Abdominal aorta and its branches) का बोध होता है। सक्थि में कोई विशेष कार्य न होने के कारण उपर्युक्त विवरण में उसका उल्लेख नहीं किया गया है, अन्त में उनका सिर्फ नाम दिया है। स्वेदमर्पयन्ति—स्वेदापनयनार्थं रक्तं (रसं वा) अर्पयन्ति।

भवति चात्र—

अधोगमास्तु कुर्वन्ति कर्माण्येतानि सर्वशः।
तिर्यग्गाः संप्रवक्ष्यामि कर्म चासां यथायथम् ॥७॥

अधोगामी धमनियाँ ये (उपर्युक्त) सब कर्म करती हैं। (अब) तिर्यग्गामी धमनियों तथा उनके कर्मों को याथातथ्य से वर्णन करूँगा ॥७॥

तिर्यग्गानां तु चतसृणां धमनीनामेकैका शतधा सहस्रधा चोत्तरोत्तरं विभज्यन्ते, तास्त्वसङ्ख्येयाः, ताभिरिदं शरीरं गवाक्षितं विबद्धमाततं च, तासां मुखानि रोमकूपप्रतिबद्धानि, यैः स्वेदमभिवहन्ति रसं चाभितर्पयन्त्यन्तर्बहिश्च, तैरेव चाभ्यङ्गपरिषेकावगाहालेपनवीर्याण्यन्तःशरीरमभिप्रतिपद्यन्ते त्वचि विपक्वानि, तैरेव च स्पर्शं सुखमसुखं वा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गृह्णाति; तास्त्वेताश्चतस्रो धमन्यः सर्वाङ्गगताः सविभागा व्याख्याताः ॥८॥

(अधोगामी धमनियों का वर्णन—) तिर्यग्गामी चारों धमनियों में से प्रत्येक उत्तरोत्तर सैकड़ों और हजारों शाखाओं में विभक्त होती हैं, (इस प्रकार शाखा-प्रशाखाओं में विभक्त हुई) ये धमनियाँ अपरिसंख्येय हो जाती हैं, जिनके द्वारा यह शरीर झरोखेदार (जालीदार) बँधा हुआ और व्याप्त होता है। इनके मुख (अन्तिम सिरे) लोमकूपों से संबंधित हैं जिसके द्वारा ये स्वेद का अभिवहन करती हैं तथा भीतर और बाहर अन्नरस (को पहुँचाकर उस)के द्वारा संतर्पण करती हैं। इन्हीं के द्वारा ही त्वचा में प्रयुक्त हुए अभ्यङ्ग, परिषेक, अवगाहन तथा आलेपन (के द्रव्यों) के वीर्य शरीर के भीतर प्रवेश करते हैं, इन्हीं के द्वारा सुखकर या असुखकर (दुःखकर) स्पर्श का ग्रहण (जीवात्मा) करता है । संपूर्ण शरीर में फैली हुई ये चार धमनियाँ विभागों के साथ वर्णन की गई हैं ॥८॥

वक्तव्य—तिर्यग्गामी धमनियाँ—ऊर्ध्वगामी धमनियाँ सिर, ग्रीवा, छाती और ऊर्ध्वशाखा के भीतरी कार्यों से संबंध रखती हैं; अधोगामी धमनियाँ उदरगुहागत अंगों से तथा टाँगों से संबंध रखती हैं और तिर्यग्गामी धमनियाँ शरीर के बाह्यभाग से याने त्वचा से संबंध रखती हैं। आधुनिक परिभाषा के अनुसार तिर्यग्गामी धमनियों को Cutaneous or peripheral vessels कह सकते हैं। रोमकूप—इससे स्वेदग्रंथियों का ग्रहण करना चाहिए। आयुर्वेद में स्वेद का संबंध हमेशा रोमकूपों के साथ लगाया जाता है—स्वेदक्षये स्तब्धरोमकूपता । (सूत्र १५) । स्वेदे रोमच्युतिः स्तब्धरोमता स्फुटनं त्वचः । (अष्टांगहृदय) । रोमकूप और स्वेदग्रंथियाँ स्वतन्त्र होती हैं और जहाँ पर रोमकूप बिलकुल नहीं होते—जैसे, हस्तपादतल—वहाँ पर स्वेदग्रंथियाँ बहुत अधिक होती हैं। त्वचि विपक्वानि—त्वचा में विपक्व हुई याने प्रयुक्त हुई। त्वचा में अभ्यंग (Massage) के लिए विविध तेल, परिषेक (Spray) के लिए विविध ओषधियों के काढ़े, अवगाह (Bath) के लिए विविध ओषधिजल, आलेप और प्रलेप (Ointments, paints, pigments) के लिए विविध ओषधियों के रस और कल्क प्रयुक्त होते हैं। ये सब ओषधियाँ त्वचा के कूपों (Pores) से शोषित होती हैं, यह बात आधुनिक विज्ञान से सिद्ध हुई है। विएन्ना (Vienna) के प्रा० स्टेज्स्केल (Stejskal) ने यह बात अपने अनुभव पर निश्चित की है और बताया है कि जिस समय रोगी मुख द्वारा अन्न सेवन करने में असमर्थ होता है, उस समय त्वचा के ऊपर विशेष प्रकार के अन्न का प्रलेप करने से उसका शोषण होकर रोगी का पोषण कुछ काल तक हो सकता है। आपने इसके लिए एक विशेष कल्क (Paste) भी बनाया है, जिसका उपयोग त्वचा द्वारा रोगी के पोषण के काम में होता है। यैः स्वेदमभिवहन्ति तैरेव—'यैः' और 'तैः' का संबंध धमनियों के मुख के साथ याने पर्याय से रोमकूपों के साथ होता है। स्पर्शं सुखमसुखं वा—'सुखम्' और 'असुखम्' स्पर्श के विशेषण हैं। आधुनिक पाश्चात्य शरीर-कार्य विज्ञान से स्पर्श में यद्यपि नाडियों का ही मुख्य काम होता है तथापि स्पर्शज्ञान में रक्त का भी घनिष्ठ संबंध होता है। इस विषय की जानकारी हो चुकी है—Loss of blood supply, produced experimentally by compressing an artery digitally or with a pneumatic cuff, and in disease by embolism, thrombosis, arterial spasm, etc., also causes an orderly succession of sensory disturbances resembling those of mechanical compression (of the nerve trunk). *Physiology in Health and Disease by Wiggers.* स्पर्श में गुदगुदी, कण्डु, झुनझुनी, सुप्तता, जलन इत्यादि कई प्रकार की वेदनाओं का समावेश होता है।

भवतश्चात्र—

यथा स्वभावतः खानि मृणालेषु बिसेषु च।
धमनीनां तथा खानि रसो यैरुपचीयते ॥९॥

(धमनीगत छिद्रों का प्रमाण—) जैसे कमलनालों में तथा (उनके) तन्तुओं में स्वभाव से ही छिद्र (नालियाँ) होते हैं, वैसे ही धमनियों के छिद्र होते हैं, जिनके द्वारा रस का उपचय होता है ॥९॥

वक्तव्य—इस श्लोक में स्पष्ट रूप से बतलाया है कि धमनियाँ मृणाल या बिस के समान छोटी मोटी आकार की अन्तःसुषिर होती हैं और उनमें से रस का संवहन होता है । अर्थात् धमनी शरीरगत एक रस या रक्तवह नाली है, इसमें कोई संदेह नहीं है। वेद, उपनिषद्, स्मृति, महाभारत इत्यादि प्राचीन ग्रंथों में इसी अर्थ में धमनी का प्रयोग किया गया है—शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम्। अस्थुरिन् मध्यमा इमाः साकमन्तो अरिंसत ॥ तिष्ठावरे तिष्ठ पर उत त्वं तिष्ठ मध्य मे । कनिष्ठिका च तिष्ठति तिष्ठादिद् धमनीर्मही। अथर्ववेद १–१७–२, ३)। अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनीभ्यः । यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते। (अथर्ववेद २–३३–६)। तद्यद्रजतं॰ सेयं पृथिवी यत्सुवर्णं॰ सा द्यौर्यज्जरायु ते पर्वता यदुल्बं॰ स मेघो नीहारो या धमनयस्ता नद्यो यद्वा स्तेयमुद॰ स समुद्रः। छांदोग्योपनिषद् ३–१९–२)। एकोनत्रिंशल्लक्षाणि तथा नव शतानि च । षट्पञ्चाशच्च जानीत सिराधमनिसंज्ञिताः। (३–१०१)। आक्रम्य मानुषं कण्ठमाच्छिद्य धमनीमपि । ऊष्मं नवं प्रपास्यामि फेनिलं रुधिरं बहु ॥ (महाभारत, आदिपर्व १५२)। हाराणचन्द्र भी धमनी का अर्थ रक्तवाहिनी करते हैं। उनके मतानुसार स्नायु नर्व (Nerve) का कार्य करते हैं । मृतसंशोधन की सहायता से अंग विनिश्चय करते समय नर्व स्नायुरज्जु या वृत्तस्नायु के साथ भूल जा सकती है; धमनी को नर्व समझने की भूल कदापि भी नहीं हो सकती क्योंकि दोनों में कुछ भी समता नहीं है । स्नायुरज्जु और नर्व दोनों ही शुभ्र, सूत्रमय ठोस होते हैं। इसलिए स्नायु को नर्व मानने की भूल क्षम्य है । शरीरविच्छेदन के समय इस प्रकार की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मूल कई बार हुआ करती है। नर्व के कार्य का ज्ञान मृत शरीर में कदापि नहीं हो सकता। हाराणचन्द्र लिखते हैं—तत्राहुरपरे यथा श्रोत्रादिगतासु तासु तासु स्नायुषु दुष्टासु छिन्नासु वा संतोऽपि शब्दादयो नैव श्रोत्रादिविषयीभवन्ति, …ति चापरे केचिद्धावा विनश्यन्त्येकान्तेन न तथा धमनीषु …विधासु किमपीति स्नायव एव शब्दादीनभिवहन्ति न पुनर्धमन्य …ति तत्तु न सम्यक्, धमन्यस्तावदाहाररससमर्पणेन स्नायूर्बिभ्रति …त्यस्तु ताश्चेद्विपद्यन्ते तर्ह्यणुना कालेन तदाश्रितत्वात् स्नायूना… समूलघातमुपहतत्वेनोपलम्भात्। न चैतदश्रद्धेयं राजा …तीति भृत्यैः कृतेषु कर्मसु भर्तृकर्तृकत्वप्रसिद्धिदर्शनात्॥ यदि …र्थ के अनुसार अर्थ किया जाय तो जैसे घर की सेठानी …के कपड़े धोते समय धोबिन, घर का काम करते समय नौकरानी, बच्चे का मल-मूत्र उठाते समय मिहतरानी कहने …ा अनवस्था प्रसंग उत्पन्न होता है, वैसे ही धमनी को …र्व, सिरा, स्नायु कहने का प्रसंग उत्पन्न होता है। …तु जैसे उपर्युक्त सब काम करने पर भी सेठानी सेठानी …ी होती है, नौकरानी नहीं हो सकती; वैसे ही धमनी …ब कुछ करने पर भी अंगविनिश्चय की दृष्टि से धमनी (Artery) ही रह जाती है। धमनी की व्युत्पत्ति रसयोग …गर के उपोद्घात (पृष्ठ १२६) में पं० हरिप्रपन्नजी देते हैं—…यते उच्छ्वसितीक्रियते पूर्यते पोष्यते वा शरीरं याभिस्ता धमन्य …ति व्युत्पत्त्या साधारणतया यत्किञ्चिद्देहमार्गाद्युपस्थितावपि धमनी-…ब्दस्य योगरूढत्वेन न सिरादिष्वतिव्याप्तिः। 'अर्तिसृधृधम्यश्य-…तृभ्योऽनिः' (उ० २।१०२) इत्यनिप्रत्यये 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (पा० ४।१।४१) इति ङीषि धमनीति संपद्यते। धमनीनां शरीरे …धमनैककार्यत्वात् शुद्धरक्तवाहिन्य उच्यन्ते।

पञ्चाभिभूतास्त्वथ पञ्चकृत्वः
पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयन्ति।
पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वा
पञ्चत्वमायान्ति विनाशकाले॥१०॥

(धमनियों का माहात्म्य—) पञ्च इन्द्रियों में प्रसृत हुई धमनियाँ आत्मा को पञ्च इन्द्रियार्थों में पञ्चकृत्वा संयोजित किया करती हैं, (और इस तरह विनाश काल तक) आत्मा को पञ्च इन्द्रियार्थों के साथ मिलाकर शरीर विनाश के समय (स्वयं) पञ्चत्व को प्राप्त होती हैं॥१०॥

वक्तव्य—पञ्चाभिभूताः—पञ्चेन्द्रियाण्याभिमुख्येन प्राप्ताः पञ्चेन्द्रियप्रसृता धमन्यः। पञ्चकृत्वा—आत्मा को ज्ञानप्राप्ति का साधन इन्द्रियाँ होती हैं। यद्यपि इन्द्रियाँ पाँच हैं तथापि मन एक होता है और जब तक मन इन्द्रियों के साथ नहीं मिलता, तब तक आत्मा से अर्थ ग्रहण नहीं होता है—आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण, इन्द्रियमर्थेन। (चक्रपाणिदत्त; चरक 'सूत्र' ८)। मन एक होने के कारण पाँच इन्द्रियों के अर्थों का ग्रहण करने के लिए आत्मा मन का पाँचों के साथ पाँच बार संयोग होने की आवश्यकता होगी। एक बार सब का संयोग और ग्रहण नहीं होगा। इसलिए पञ्चकृत्वा कहा है। पञ्चेन्द्रियम्—पञ्चेन्द्रिययुक्त कर्म पुरुष या आत्मा। आत्मा को ज्ञान पञ्चेन्द्रियों द्वारा ही होता है—आत्मा ज्ञः करणैर्योगाज्ज्ञानं तस्य प्रवर्तते। (चरक, शारीर)।

इस श्लोक में धमनियों के संबंध में दो महत्त्व की बातें बताई गई हैं। प्रथम बात तो यह है कि आत्मा का ज्ञान का साधन जो इन्द्रियाँ, उनका आत्मा के साथ संबंध जोड़ने का काम धमनियाँ ही करती हैं। आत्मा हृदय में रहता है (४ अध्याय में ३४वें श्लोक का वक्तव्य देखो)। मन का स्थान हृदय ही है। वह मन हृदय से निकलने वाली धमनियों में से होकर इन्द्रियों में प्राप्त होता है और आत्मा को ज्ञानप्राप्ति हो जाती है। इसलिए यह धमनियाँ मनोवह भी कहलाती हैं—मनोवहानि स्रोतांसि यद्यपि पृथङ् नोक्तानि तथापि मनसः 'केवलमेवेदं शरीरमयनभूतम्' इत्यभिधानात् सर्व-शरीरस्रोतांसि गृह्यन्ते, विशेषेण तु हृदयाश्रितत्वान्मनसस्तदाश्रिता दश धमन्यो मनोवहा अभिधीयन्ते। (चक्रपाणिदत्त, इन्द्रिय स्थान ५)। दूसरी बात यह है कि शरीर विनाशकाल की सूचना धमनियों द्वारा ही मिलती है। धमनियों का एक मुख्य गुण धमन या स्पन्दन है। यावज्जीव धमनियों का स्पन्दन जारी रहता है और इनका स्पन्दन बंद होने पर शरीरविनाश की सूचना मिलती है—सततं स्पन्दमानानां शरीरदेशानामस्पन्दनम्। तस्य चेन्मन्ये परिमृश्यमाने न स्पन्देयातां परासुरिति विद्यात्। (चरक, इन्द्रिय ३)। चतुर्थ अध्याय के ३०वें सूत्र के वक्तव्य में 'तद्विशेषेण चेतनास्थानम्' इसकी टिप्पणी देखो।

इस श्लोक के अर्थ के संबंध में बहुत मतभिन्नता दिखाई देती है। संदर्भ और क्रम के अनुसार जो अर्थ उचित मालूम हुआ, वह ऊपर दिया गया है। प्राचीन मत-मतान्तर डल्हण की टीका में दिये हुए हैं। अतः वह टीका नीचे उद्धृत की जाती है—पञ्चाभिभूताः पञ्चभ्यो भूते-भ्योऽभि समन्ताद्भूताः, शब्दस्पर्शरूपरसगन्धैर्वा पञ्चभिरभिभूता व्याप्ताः, आकाशपवनदहनतोयभूमिभिर्वा पञ्चभिरभिभूता व्याप्ता धमन्यः; कं? पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषम्; केषु? पञ्चसु श्रोत्रादिष्विन्द्रिया-धिष्ठानेषु, कथं? पञ्चकृत्वा पञ्चवारान्, भावयन्ति योजयन्ति, आयान्ति, आगच्छन्ति; काः धमन्यः, किं? पञ्चत्वम्, किं कृत्वा? भावयित्वा संयोज्य, किं तत्? पञ्चेन्द्रियमिन्द्रियपञ्चकं सूक्ष्मरूपं, केषु? पंचस्वाकाशादिषु महाभूतेषु; एतेनैतदुक्तं भवति—आका-शादिपंचभूतसमुदायसमुत्पन्ना धमन्यः कर्मपुरुषमिन्द्रियाधिष्ठानेषु पञ्चवारान् भावयन्ति ततश्चेन्द्रियपञ्चकमाकाशादिषु भूतेषु संयोज्य विनाशकाले धमन्यो विनाशं यान्ति। अन्ये तु—'पञ्चादिभूतान्यथ पञ्चकृत्वा' इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च—आदिभूतान्याका-शादीनि पञ्चमहाभूतानि, पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषं पञ्चसु चक्षुरादि-ष्विन्द्रियाधिष्ठानेषु योजयन्ति, ततश्च पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषं पञ्चसु चक्षुरादिष्विन्द्रियाधिष्ठानेषु भावयित्वा संयोज्य तानि पञ्च आदि-भूतानि विनाशकाले पञ्चत्वमायान्ति। अपरे तु—'पञ्चाभिभूता-स्त्वथ पञ्चधा वा' इति पठन्ति, व्याख्यानयन्ति च—भावयन्ति योजयन्ति, काः? पञ्चाभिभूता धमन्यः आयान्ति किं? पञ्चत्वं विनाशं, क्व? विनाशकाले, किं कृत्वा? भावयित्वा संयोज्य, किं तत्? पञ्चेन्द्रियं बुद्धीन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं च, केषु? शब्दा-दिषु वचनादिषु च स्वकीयेष्वर्थेषु। अथवा पञ्चानामाकाशपवनदहन-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तोयभूमीनां पृथगाभिमुख्येन भूताः सत्तारूपेण व्यवस्थिता धमन्यः, पञ्चेन्द्रियं कर्मपुरुषम्, यथास्वं पञ्चसु चक्षुरादिष्विन्द्रियाधिष्ठानेषु भावयन्ति योजयन्ति ॥ गयी त्वन्यथाऽऽपातनिकां विधाय व्याख्याति। यथा—अत्र रूपादिग्राहिणीनां धमनीनां पञ्चत्वात् पञ्चभिर्धमनीभिः पञ्चानामपि रूपादीनां युगपद्ग्रहणेन भवितव्यमित्याशङ्क्याह—पञ्चाभिभूता इत्यादि। अस्यायमर्थः—पञ्चसु रूपादिषु, पञ्चेन्द्रियं चक्षुरादिकं पञ्च धमन्यो भावयन्ति वेदयन्ति। स्वयं तावत् पञ्चेन्द्रियाणि रूपादिकं विन्दति, ताश्च पञ्च धमन्यस्तेषु वेदयन्ति। कथं ? पञ्चकृत्वा पञ्चवारान्। न च एकवारमेव पञ्चापि धमन्यः पञ्चापीन्द्रियाणि पञ्चस्वपि रूपादिषु वेदयन्ति। तत् कुतः पुनरिति हेतुगर्भविशेषणमाह—अभिभूता अभिमुखं प्राप्ताः। केन ? 'मनसा' इति शेषः। कस्मात् ? कर्तृमनःपुरःसरेन्द्रियार्थग्रहणात्। मन्ता हि शरीरे एक एव, मनोऽप्येकमेव, तेन मनसा यैव धमनीशब्दादिवहासु धमनीष्वभिप्रपन्ना सैव धमनी स्वधर्मं ग्राहयति मन्तारं नान्येति; यतो मनःपुरःसरैवेन्द्रियप्रवृत्तिः॥ इदानीं स्वस्थस्यैव रूपादिग्राहिणित्वमासां न पुनरतिदोषाभिपन्नस्य मरणेऽपीत्याह—पञ्चत्वमित्यादि। विशिष्टनाशकाले पञ्चत्वं यान्ति; धमन्यः पाञ्चभौतिका विनाशकाले पृथक् पृथग्भूतभावेनावस्थानात् पञ्चतां गता उच्यन्ते। पञ्चेन्द्रियं पञ्चसु भावयित्वेति पुनरप्यनुवादस्तेषां नियतस्वविषयग्राहित्वदर्शनार्थः। ग्रन्थान्तरे—रसवहनं कुर्वन्ति धमन्यः सततं तथा। शब्दादिग्रहणोच्छ्वासनिःश्वासवचनानि च ॥ भावयन्ति पृथक् पश्चात् प्रत्ययाः खलु पञ्चसु। तत्संख्याकरणं यान्ति नाशकाले तु पञ्चताम् ॥ शरीरं हि गते तस्मिन् शून्यागारमचेतनम्। पञ्चतत्त्वावशेषत्वात्पञ्चतां गतमुच्यते ॥ इति ॥

इस श्लोक के उत्तरार्ध के संबंध में हाराणचन्द्र लिखते हैं—अथ यदि इन्द्रियाभिमुखमेव प्रसृतास्ता धमन्यः किं तर्हि विनाशकाले 'पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि, मनः प्राणे इत्यादिनाश्रुतं पुनरिन्द्रियाणां प्रतिलोमगमनाभिनिर्वृत्त्यं प्राणोपसंहारं प्रति मार्गान्तरमभ्युपगच्छसि नेत्याह पञ्चेति। विनाशकाले पञ्चसु प्राणादिपञ्चके पञ्चेन्द्रियमिति 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इति न्यायादुपदिश्यते बाह्यकरणनिचयमित्यर्थः। यदाह भगवान् भाष्यकारः 'प्राणश्च तदोर्द्ध्वोच्छासी स्यात्मन्युपसंहृतबाह्यकरणः' इत्यादि। नेह प्राण इत्येकवचनं विप्रतिषिद्धं भवति 'अतएव प्राणः' इति शारीरिकसूत्रभाष्ये प्राणस्य पञ्चवृत्तौ वातविकारे प्रसिद्धतरत्वेनाभ्युपगमात्। भावयित्वा प्रापयित्वा उपसंहृत्येति यावत्। इदमत्राकूतम्—विनाशकाले ऊर्द्ध्वोच्छासिप्राणाकर्षणविह्वलास्ता एव धमन्यः प्रतिलोमवृत्त्या सर्वप्राणेनेन्द्रियजातमाकर्षन्तं पञ्चतयं प्राणं प्रापयित्वैव निष्क्रियत्वेन पञ्चभूतावशेषत्वं प्राप्नुवन्ति। एवं च धमनीनामेव तादृशप्राणोपसंहारसाधनक्षमत्वेन तावत्कालमवस्थाननियमान्न मार्गान्तरमपेक्षितव्यमित्यध्यवसेयम् ॥

इस अध्याय में धमनियों की संख्या का तथा उनकी शाखा-प्रशाखाओं का जो वर्णन तथा विवरण किया गया है, वह आधुनिक पद्धति के अनुसार शवविच्छेदनपूर्वक ज्ञान के आधार पर अधिष्ठित नहीं है, परन्तु यह वर्णन रक्त ही के द्वारा शरीर के सम्पूर्ण कार्य होते हैं। इस तत्त्व के अनुसार सजीव शरीर में जो विविध कार्य प्रत्यक्ष होते हैं, उनका समाधान करने की दृष्टि से अनुमान या कल्पना के आधार पर अधिष्ठित है। यह ज़रूर ध्यान में रखना आवश्यक है। इसलिए प्रत्येक प्राचीन धमनी के लिए आधुनिक प्रतिनिधि मिलना मुश्किल है, तथा जो आधुनिक प्रतिनिधि बतलाये गये हैं वे सोलहों आने प्राचीन धमनियों के साथ नहीं मिल सकते हैं। यह कथन प्राचीन अर्वाचीन सर्व तुलनाओं के लिए लागू होता है और इसी दृष्टि से इन तुलनाओं बातों का विचार करना चाहिए।

अत ऊर्ध्वं स्रोतसां मूलविद्धलक्षणमुपदेक्ष्यामः; तानि तु प्राणान्नोदकरसरक्तमांसमेदोमूत्रपुरीषशुक्रार्तववहानि, येष्वधिकारः; एकेषां बहूनि; एतेषां विशेषा बहवः ॥११॥

(स्रोतस, उनके नाम और संख्या—) अब इसके पश्चात् स्रोतसों के मूलवेध के लक्षण बतलायेंगे। जिनके ऊपर (शल्यशास्त्र का) अधिकार है वे प्राणवह, अन्नवह, उदकवह, रसवह, रक्तवह, मांसवह, मेदोवह, मूत्रवह, पुरीषवह, शुक्रवह और आर्तववह हैं। कई आचार्यों के अनुसार स्रोतस बहुत होते हैं; (परंतु धन्वन्तरि कहते हैं कि स्रोतस इतने ही होते हैं) उनके विशेष (भेद) बहुत हैं ॥११॥

वक्तव्य—मूलविद्धलक्षणम्—**स्रोतसों के प्रभव स्थान में वेध होने से उत्पन्न होने वाले लक्षण।** प्राणोदकान्न इत्यादि—**यहाँ पर ग्यारह भाव दिये हैं, जिनके वाहक स्रोत होते हैं। प्रत्येक भाव के दो स्रोतस हैं, इस प्रकार बाईस स्रोतस हो जाते हैं। चरकसंहिता में कुल तेरह भावों के स्रोतस बताये गये हैं जिनमें अस्थिवह, मज्जवह और स्वेदवह स्रोतस अधिक हैं और आर्तववह स्रोतस नहीं दिये हैं, तथा प्रत्येक प्रकार के स्रोतस की संख्या सुश्रुत के समान दो न होकर बहुत होती हैं।** एकेषां बहूनि—अपि चैके स्रोतसामेव समुदयं पुरुषमिच्छन्ति सर्वगतत्वात्, सर्वसरत्वाच्च दोषप्रकोपणप्रशमनानाम्। न त्वेतदेवम्, यस्य हि स्रोतांसि यच्च वहन्ति यच्चावहन्ति, यत्र चावस्थितानि, सर्वं तदन्यत्तेभ्यः। अतिबहुत्वात् खलु केचिदपरिसंख्येयान्याचक्षते स्रोतांसि, परिसंख्येयानि पुनरन्ये। **(चरक, स्रोतोविमान)। स्रोतसों की संख्या के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि यदि प्रत्येक प्रकार के स्रोतस एक माने जायँ तो उनकी संख्या परिसंख्येय हो जाती है और यदि प्रत्येक स्रोतस को पृथक् पृथक् गिना जाय, याने प्रत्येक प्रकार के स्रोतसों की शाखा-प्रशाखाएँ पृथक् गिनी जायँ तो स्रोतस अपरिसंख्येय हो जाते हैं। असंख्येय मानने का कारण शाखा-प्रशाखाएँ हैं, यह नीचे के मधुकोश के उद्धरण से स्पष्ट होगा—**ननु अपां वाहिन्योर्बहुवचनं विरुद्धं, 'द्वे उदकवहे' इति सुश्रुतेनोक्तत्वात्। नैवम्, तयोरेवानेकप्रतानयोगादिति। **(तृष्णानिदान)। अब स्रोतसों के प्रकार किस आधार पर बनाये जाते हैं, इसके संबंध में चरक में लिखा है—**यावन्तः पुरुषे मूर्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्त एवास्मिन् स्रोतसां प्रकारविशेषाः। **(स्रोतोविमान)। शरीर में प्राण, अन्न, जल, सात धातु, तीन मल, तीन दोष और स्त्रियों में शुक्र का प्रतिनिधि आर्तव इतने सत्रह ही मूर्तिमन्त भाव होते हैं। इनमें से त्रिदोष सर्वशरीरव्यापी होने से इनके लिए स्वतन्त्र स्रोतस नहीं होते। इसलिए**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शरीर में स्रोतसों की संख्या प्रकारों के अनुसार केवल चौदह होती है। चरक में चौदह प्रकार के स्रोतस वर्णन किये हैं। सुश्रुत में अस्थिवह, मज्जवह, और स्वेदवह स्रोतसों का वर्णन नहीं किया गया है। इसके संबंध में डल्हणाचार्य लिखते हैं—अस्थिमज्जस्वेदवाहिषु स्रोतःसु सत्स्वनधिकारः, कथम् ? तत्रास्थिवहानां सकलानामेव मेदो मूलं मज्जवहानां च तेषां सकलान्येव अस्थीनि सकलशरीरगतानि, न च सकलशरीरगतविद्धलक्षणं साध्यादिज्ञाननिश्चायकम्, एवं स्वेदवहानामपि केवलं मेदो मूलमिति पूर्वेणैव समानम्, अतः शल्यतन्त्रे तेषां मूलविद्धलक्षणानधिकारः । अमुमेवार्थं चेतसि कृत्वाऽऽह, त्वनधिकार इति । 'शल्यतन्त्रे' इति शेषः, कायचिकित्सायां तु स्रोतोदुष्टिलक्षणं वाच्यं तेन सकलाङ्गगतानामपि स्रोतसां कायचिकित्सायामधिकारः । शल्यतन्त्राधिकारिषु नियतदेशस्थितेषु विद्धेषु वेदनाविशेषस्यातिसूक्ष्मत्वान्न साध्यादिज्ञाननिश्चायकत्वमिति तेषामनधिकारः ॥ सुश्रुत में प्रत्येक प्रकार के स्रोतस दो बतलाये गये हैं। चरक में ऐसा नहीं है। स्रोतस क्या है ?—(१) स्रोतसों के संबंध में चरक में लिखा है—सर्वे हि भावा पुरुषे नान्तरेण स्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते क्षयं वाप्यभिगच्छन्ति । स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन ॥ इस पर डल्हणाचार्य लिखते हैं—अभिनिर्वर्तन्त इति सन्तानन्यायेन । परिणाममापद्यमानानामिति पूर्वपूर्वरसादिरूपतापरित्यागेनोत्तरोत्तररक्तादिरूपतामापद्यमानानाम् । अयनार्थेनेति वचनान्न स्थिराणां धातूनामभिवाहीनि भवन्ति स्रोतांसि, किन्तु देशान्तरप्रापणेनाभिवाहीनि भवन्ति । एवं मन्यते—रक्तस्य वृद्धिः शोणितरूपतया परिणमता रसेन मिलितेन कर्तव्या स च स्थानान्तरस्थस्य रसस्य रुधिरेण समं मेलको न गमनमार्गं स्रोतःसंज्ञकमन्तरा भवति । अयं तावदभिसंधिः–स्रोतःकारणिको हि धातूनां प्रायो रक्तादीनामुत्तरधातुपोषकभागपरिणामो भवति, तच्चाप्युत्तरधातुपोषणं नान्तरेण स्रोतो भवति, यश्च रक्ते न्यायः स सर्वत्र शारीरे भावे, न चान्यस्रोतसाऽन्यधातुपुष्टिः संभवति, सर्वपोष्याणां भिन्नदेशत्वात् । न ह्यभिन्नेन स्रोतसा भिन्नदेशवृक्षयोः सेचनमस्ति ॥ इसका अभिप्राय यह है कि स्रोतस धातुओं के रूपान्तर में याने शरीरगत विविध भावों की उत्पत्ति में तथा उनके वहन में भाग लेते हैं। स्रोतसों का यह प्रथम और मुख्य लक्षण है। (२) स्रोतसों के वर्ण जिन धातुओं में होते हैं या जिनका वहन करते हैं उनके अनुसार होता है, वे गोल चपटे और सूक्ष्म होते हैं तथा लता के प्रतान के समान वे फैले रहते हैं—स्वधातुसमवर्णानि वृत्तस्थूलान्यणूनि च । स्रोतांसि दीर्घाण्याकृत्या प्रतानसदृशानि च ॥ (चरक)। (३) स्रोतस नाली के समान या अवकाशयुक्त शरीरगत अवयव है—स्रोतांसि सिरा धमन्यो रसायन्यो रसवाहिन्यो नाड्यः पंथानो मार्गाः शरीरच्छिद्राणि संवृतासंवृतानि स्थानान्याशया निकेताश्चेति शरीरधात्ववकाशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवन्ति । (चरक)। (४) स्रोतसों से रस का स्रवण भी होता है—स्रवणात्स्रोतांसि । (चरक)। स्रवणादिति रसादेरेव पोष्यस्य स्रवणात् । (चक्रपाणिदत्त)। ये चार लक्षण प्रत्येक स्रोत के लिए आवश्यक नहीं हैं, किसी में एक किसी में दो लक्षण मिलते हैं, किसी में चारों मिलते हैं। इसलिए स्रोतस से साधारणतया Ducts, tubular structures का बोध होता है। इसके सिवा स्रोतस से Blood vessels and capillaries का भी साधारण बोध होता है। क्योंकि धातु या मल की उत्पत्ति रसरक्त से ही होती है, जब रक्त विशिष्ट धातु में या विशिष्ट मलोत्पादक अंग में पहुँचता है। इस तरह संदर्भ के अनुसार यहाँ पर स्रोतस् का अर्थ कर लेना चाहिए। इन अर्थों के सिवा आयुर्वेद में ऊपर तीसरे नंबर में बताये हुए सब पर्यायों के लिए भी स्रोत शब्द प्रयुक्त होता है।

तत्र प्राणवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्य क्रोशनविनमनमोहनभ्रमणवेपनानि मरणं वा भवति ॥१२॥

(प्राणवह स्रोतस्—) इनमें प्राणवह दो हैं; इनका मूल हृदय और रसवाही धमनियाँ हैं। इनमें वेध होने से आक्रोश, शरीर का झुकना, मूर्च्छा, चक्कर, कंप अथवा मृत्यु होती है ॥१२॥

वक्तव्य—रसवाहिन्यश्च धमन्यः—इसके बदले 'प्राणवाहिन्यश्च धमन्यः' ऐसा भी पाठ भेद है। इस पाठभेद से श्वासवाहिनियों (Bronchii) का बोध होता है। यह पाठभेद अच्छा है, इससे प्राणवह स्रोतसों में प्राणवायु का प्रवेश होता है—नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम् । कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम् । पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति वेगतः ॥ (शार्ङ्गधर)। प्राणवहे द्वे—प्राणवह स्रोतसों से दोनों तरफ के दो फुफ्फुसों का ग्रहण करना उचित है। इन फुफ्फुसों का मूल हृदय याने हृदय से फुफ्फुस में जाने वाली धमनियाँ (Pulmonary arteries) तथा कण्ठनलिका से आने वाली श्वासनालियाँ होती हैं। धमनियों के द्वारा आया हुआ रक्त फुफ्फुस के भीतर केशिकाओं में फैलता है और श्वासनालियों से आये हुए प्राणवायु का ग्रहण करके फिर फुफ्फुस सिराओं द्वारा हृदय में चला जाता है। शरीर में प्राणवायु का ग्रहण और वहन करने का प्रधान अंग फुफ्फुस (Lungs) है। सुश्रुत में इसके वेध के जो लक्षण दिये हैं, वे सब ठीक हैं, परन्तु चरक में दिया हुआ लक्षण इसके वेध का प्रधान (Cardinal) है—अतिसृष्टमतिबद्धं कुपितमल्पाल्पमभीक्ष्णं वा सशब्दशूलमुच्छ्वसन्तं दृष्ट्वा प्राणवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् । इसका अभिप्राय यह है कि प्राणवह स्रोतस दूषित होने पर साँस में सब प्रकार की कठिनाई होती है, उसके साथ शब्द (Wheezing) और पीडा होती है। इस लक्षण को श्वासकृच्छ्र (Dyspnea, Breathlessness) कहते हैं। प्राणवह स्रोतसों की दुष्टि के कारण—क्षयात् संधारणाद् रौक्ष्याद् व्यायामात् क्षुधितस्य च । प्राणवाहीनि दुष्यन्ति स्रोतांस्यन्यैश्च दारुणैः (कर्मभिः) ॥ (चरक)। स्थान, लक्षण और विकृति के कारणों को देखकर प्राणवह स्रोतसों से फुफ्फुस समझना ही उचित है। पं० हरिप्रपन्नजी प्राणवह स्रोतसों से Pulmonary arteries (फुफ्फुस धमनियाँ) समझते हैं। यदि दो शब्द के ऊपर अधिक जोर देना हो तो प्राणवह स्रोतसों से दो श्वासप्रणालियाँ (Bronchii) समझ सकते हैं।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्नवहे द्वे, तयोर्मूलमामाशयोऽन्नवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्याध्मानं शूलान्नद्वेषौ छर्दिः पिपासाऽऽन्ध्यं मरणं च ॥१३॥

(अन्नवह स्रोतस्—) अन्नवह (स्रोतस) दो हैं, इनका मूल आमाशय और अन्नवाहिनी धमनियाँ हैं। वहाँ पर वेध होने से आध्मान (पेट का फूलना), शूल, अन्नद्वेष, वमन, प्यास, चक्कर अथवा मरण होता है ॥१३॥

वक्तव्य—अन्नवह स्रोतस्—इससे अन्नप्रणाली (Oesophagus) और क्षुद्रान्त्र समझ सकते हैं। आमाशय अन्न का आधार है—तत्र आमाशयः, स चतुर्विधस्याहारस्याधारः । (सूत्र २१)। अन्नप्रणाली आमाशय तक अन्न का वहन करती है और क्षुद्रान्त्र आमाशय से आगे की ओर अन्न का वहन करता है। अन्नवह स्रोतस दुष्टि के कारण—अतिमात्रस्य चाकाले चाहितस्य च भोजनात् । अन्नवाहीनि दुष्यन्ति वैगुण्यात् पावकस्य च ॥ (चरक)। अन्नवह स्रोतसों के साथ आमाशय भी वैसे आ जाता है । आन्ध्यं मरणं वा—आमाशय या क्षुद्रान्त्र के ऊपर आघात होने से स्तब्धता या मूर्च्छा या हृद्भेद से (छठे अध्याय के २४वें सूत्र का वक्तव्य देखो) ये लक्षण उत्पन्न हो सकते हैं। क्षुद्रान्त्र से यहाँ पर ग्रहणी का ही ग्रहण विशेषतया करना चाहिए, क्योंकि उसी का संबंध अन्न से अधिक रहता है—अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद् ग्रहणी मता। नाभेरुपरि सा ह्यग्निबलोपस्तम्भबृंहिता । अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः । दुर्बलाग्निबला दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति ॥ (चरक, ग्रहणीचिकित्सित)।

उदकवहे द्वे, तयोर्मूलं तालु क्लोम च, तत्र विद्धस्य पिपासा सद्योमरणं च ॥१४॥

(उदकवह स्रोतस—) उदकवह दो हैं, उनका मूल तालु और क्लोम है। उनका वेध होने से प्यास और मृत्यु होती है ॥१४॥

वक्तव्य—उदकवहे द्वे—उदक से यहाँ पर जल (पीने का पानी) अभिप्रेत नहीं है, परंतु शरीरगत जल याने लसिका (Lymph) अभिप्रेत है । उदर में यही जल उदरगुहा में इकट्ठा होता है। इसलिए वह दकोदर कहलाता है—परिपाकात् परिणामेन दकोदरता सर्वेषामेव; अन्यान्युदराणि परिपाकादुदकभावं भजन्ते, दकोदरं प्रागेवेति विशेषः । (डल्हण, निदान अध्याय ७)। उदकवह स्रोतसों का संबंध अधिकतर उदररोग में आता है और उनके लिए अम्बुवाही या जलवाही शब्दों का भी प्रयोग होता है—पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य स्रोतांसि दुष्यन्ति हि तद्वहानि । (सुश्रुत, उदरनिदान)। इस पर मधुकोश में लिखते हैं—तद्वहानि उदकवहानि । अन्नरस उपस्नेहन्यायेन बहिर्निःसृत्योदरं जनयतीत्यर्थः । ऊर्ध्वाधो धातवो रुद्ध्वा वाहिनीरम्बुवाहिनीः । कुर्युः ··· उदरम् ॥ रुद्ध्वाऽम्बुमार्गाननिलः कफश्च जलमूर्च्छितः। वर्धयेतां तदेवाम्बु तत्स्थानादुदराश्रितौ ॥ (अष्टांगहृदय, उदरनिदान)। उदररोग में लसिकावाहिनियों (Lymphatics) में खराबी होती है। यह सिद्ध बात है—Ascites is very common in heart failure. It is also in part caused by portal congestion and by obstruction to the lymph flow from thoracic duct owing to the rise of venous pressure. In uncomplicated cases (of cirrhosis) the ascites is probably always in part due to the lymphogogue action of toxins normally destroyed by the liver, which increases the flow of fluid into the peritoneal cavity by injuring the vessel walls. *Practice of medicine by F. W. Price.* ये उदकवाही स्रोतस् दो होने पर भी अनेक क्यों बतलाये गये हैं ? इसका विचार पीछे ११वें सूत्र के वक्तव्य में मधुकोश के आधार पर किया गया है। उदकवह स्रोतस् से, इसलिए लसिकावाहिनियाँ विशेष करके वाम और दक्षिण रसकूल्ये (Lymphatics, especially thoracic duct and right lymphatic duct) इनका ग्रहण करना उचित है। तयोर्मूलं तालु क्लोम च—रसकूल्या और लसिकावाहिनियों का ग्रहण उदकवह स्रोतसों के लिए करने पर उनका मूल या प्रभव स्थान संपूर्ण शरीर में होता है, किसी एक स्थान में नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में इनका मूल तालु मानने के कारणों का भी विचार करना आवश्यक है। उदकवह स्रोतसों का संबंध शरीरगत जल के साथ होता है तथा तृषा का संबंध शरीरगत जल के साथ होता है, ये दोनों बातें निर्विवाद हैं। उदररोग में अंबुवाही स्रोतसों की दुष्टि होने से उदरगुहा में जल इकट्ठा होता है और उस समय तृषा भी मालूम होती है—स्रोतःसु रुद्धमार्गेषु कफश्चोदकमूर्च्छितः । वर्धयेतां तदेवाम्बु स्वस्थानादुदरायतौ ॥ तस्य रूपाणि—अनन्नकाङ्क्षा पिपासा ॥ (चरक, उदरचिकित्सा)। पाश्चात्त्य वैद्यक में जलोदर के लक्षणों में यद्यपि पिपासा का उल्लेख प्रायः नहीं मिलता तथापि जलोदर उत्पन्न होने के समय पिपासा उत्पन्न हो सकती है। इसका उल्लेख अप्रत्यक्षतया हर्बर्ट फ्रेंच अपनी किताब (Differential diagnosis) में करते हैं—Cases of extreme thirst may be subdivided into two main groups, namely, those with and those without polyuria. To the other group belong such conditions as excessive loss of fluid into serous membranes. उदकवह स्रोतसों का संबंध शरीरगत जलांश के साथ होता है। इसलिए उनकी दुष्टि में पिपासा की उत्पत्ति एक स्वाभाविक परिणाम है । चरक में केवल पिपासा ही लक्षण बतलाया है—जिह्वाताल्वोष्ठकण्ठक्लोमशोषं पिपासां चातिप्रवृद्धां दृष्ट्वोदकवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥ मनुष्यों को प्यास की संवेदना केवल गले के आस-पास के भाग में ही होती है, अन्यत्र नहीं होती। इसलिए पिपासा के समय हमेशा गल, तालु इत्यादि मुखगत प्रत्यङ्गों का उल्लेख होता है—Thirst is a sensation referred to the pharyngeal region rather than to the stomach. *Halliburton's physiology..* उदकवह स्रोतसों का संबंध जल के साथ, जल का संबंध पिपासा के साथ और पिपासा का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संबंध गले के या तालु के साथ होता है। इस विचारप्रणाली के आधार पर उदकवह स्रोतसों का संबंध, याने पर्याय से मूल तालु में माना गया होगा, ऐसा मालूम पड़ता है। पिपासा—इसकी उत्पत्ति के संबंध में पाश्चात्य पण्डितों का यह कथन है कि शरीरगत जलांश कम होने से लाला तथा मुखस्थ अन्य ग्रंथियों से स्राव निकलना बंद होकर तालु, गला इत्यादि शुष्क हो जाते हैं और इस शुष्कता के कारण प्यास मालूम होती है—The theory postulates that the salivary and buccal glands, like other tissues, become dehydrated and consequently secrete less liquid or none at all. When insufficient fluid is provided to moisten the mucous membranes continually, the local discomfort provoked is interpreted as thirst. *Physiology in Health and disease by Wiggers.* चरकसंहिता में भी पिपासा के संबंध में पर्याय से यही उपपत्ति वर्णन की गई है—पित्तानिलौ प्रवृद्धौ सौम्यान् धातूंश्च शोषयतः। रसवाहिनीश्च नालीर्जिह्वामूलगलताल्वक्लोम्नः। संशोष्य नृणां देहे कुरुतस्तृष्णां महाबलावेतौ॥ (तृष्णाचिकित्सित)। संक्षेप में उदकवह स्रोतसों का पिपासा से और पिपासा का तालु से जो स्वाभाविक संबंध है, उस संबंध के कारण उदकवह स्रोतस तालुप्रभव माने गये हैं। प्रत्यक्षशारीर की दृष्टि से तालु और उदकवह स्रोतसों में कोई खास संबंध नहीं होता। सद्यो मरणं च—यहाँ पर अधिकतर उदरस्थ उदकवह स्रोतस अभिप्रेत हैं, इसलिए उदर पर आघात होने से मृत्यु भी शीघ्र हो सकती है।

रसवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्य शोषः प्राणवहविद्धवच्च मरणं तल्लिङ्गानि च ॥१५॥

(रसवह स्रोतस्—) रसवह दो हैं; उनका मूल हृदय और रसवह धमनियाँ हैं। वहाँ पर वेध होने से शोष, प्राणवह (स्रोतोमूल) वेध के समान मृत्यु तथा (अन्य) लक्षण होते हैं ॥१५॥

वक्तव्य—रसवहे द्वे—रसवह स्रोतसों का मूल हृदय और चौबीस या दस रसवाही याने आधुनिक कल्पना के अनुसार रक्तवाही धमनियाँ हैं। इसलिए रसवह स्रोतसों से शरीरगत रसवह छोटी छोटी नालियाँ, जो आधुनिक परिभाषा में केशिकाएँ (Capillaries) कहलाती हैं, समझना चाहिए। प्राणवह स्रोतसों का भी वही मूल बतलाया गया है। दोनों में फर्क आधुनिक कल्पना के अनुसार निम्न प्रकार से कर सकते हैं। शरीर में रक्तपरिभ्रमण दो विभागों में बाँटा गया है—लघुपरिभ्रमण (Lesser circulation) और दीर्घ परिभ्रमण (Greater circulation); इनमें लघु का संबंध प्राणवायु वहन के साथ होकर फुफ्फुस में होता है और दीर्घ का संबंध संपूर्ण शरीर के पोषण के साथ होकर फुफ्फुसेतर अन्य हिस्से में होता है। इसलिए प्राणवह स्रोतसों से Pulmonary capillaries (फुफ्फुसगत केशिकाएँ) और रसवह स्रोतसों से Systemic capillaries (शरीरगत केशिकाएँ) समझ सकते हैं। प्राणवहविद्धवच्च—दोनों का मूल हृदय होने से दोनों में भी वेध के लक्षण एक-से होते हैं, तथा मर्माघात के कारण मृत्यु भी हो सकती है।

रक्तवहे द्वे, तयोर्मूलं यकृत्प्लीहानौ रक्तवाहिन्यश्च धमन्यः, तत्र विद्धस्य श्यावाङ्गता ज्वरो दाहः पाण्डुता शोणितागमनं रक्तनेत्रता च ॥१६॥

(रक्तवह स्रोतस्—) रक्तवह दो हैं; उनका मूल यकृत्, प्लीहा और रक्तवाही धमनियाँ हैं। वहाँ पर वेध होने से शरीर का कालापन, ज्वर, दाह, पाण्डरवर्णता, रक्तस्राव की अधिकता और आँखें रंजित होती हैं ॥१६॥

वक्तव्य—रक्तवह स्रोतस्—आयुर्वेद में रक्तोत्पत्ति का स्थान यकृत् और प्लीहा माना गया है। इसलिए रक्तवह स्रोतसों का मूल यकृत्, प्लीहा और तद्गत धमनियाँ मानी गई हैं। रक्तवह स्रोतसों से, अतः, यकृत् प्लीहागत केशिकाएँ मानना उचित है। आधुनिक कल्पना के अनुसार यकृत्गत रक्तपरिभ्रमण (Portal circulation) स्वतन्त्र माना जाता है और उसी के अनुसार रक्तवह स्रोतसों को Portal capillaries कह सकते हैं। तत्र विद्धस्य—यकृत् और प्लीहा के ऊपर वेध होने से दोनों ही विदीर्ण (Rupture) होने का डर रहता है। विदीर्ण होने पर प्रायः मृत्यु हो जाती है। यदि वेध बहुत जोरदार न हो तो मृत्यु नहीं होती। श्यावाङ्गता—शरीर का वैवर्ण्य—यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितः श्यावपीतकः। (चरक)। दाहः—जलन, यह पीड़ा का उपलक्षण है। शोणितातिगमनम्—रक्तस्रावाधिक्य। यह रक्तस्राव शरीर के बाहर न होकर यकृत् प्लीहा के भीतर होता है या उदरगुहा के भीतर होता है। रक्तनेत्रता—रक्त का अर्थ यहाँ पर लाल न करके रंजित (Coloured) करना उचित है। प्रायः आँखों में कुछ पीलापन आ जाता है। यह पीलापन शरीरगत रक्तशोषण के समय उत्पन्न हुई कामला का परिणाम है। नीचे पाश्चात्य शल्यतन्त्र से यकृत् वेध के लक्षण दिये जाते हैं, जो इन लक्षणों के साथ बहुत कुछ मिलते हैं—The chief symptoms are shock, Pain and tenderness and the evidences of loss of blood. The process is usually attended by certain amount of jaundice. Well-marked pyrexia may follow the initial shock. *Rose and Carless 'manual of surgery.* वेध के बदले यदि चरक के अनुसार, ये रक्तवह स्रोतोदुष्टि के लक्षण माने जायँ, तब भी ये लक्षण यकृत् प्लीहा की खराबी जिन रोगों में हुआ करती है (जैसे—काला अजार, विषम ज्वर, विविध पाण्डुरोग, कामला) उन रोगों के लक्षणों के साथ बहुत मिलते हैं।

मांसवहे द्वे, तयोर्मूलं स्नायुत्वचं रक्तवहाश्च धमन्यः। तत्र विद्धस्य श्वयथुर्मांसशोषः सिराग्रन्थयो मरणं च ॥१७॥

(मांसवह स्रोतस्—) मांसवह दो हैं। उनका मूल स्नायु, त्वचा और रक्तवाही धमनियाँ हैं। वहाँ पर वेध

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने से सूजन, मांसशोष, सिराओं का गठीलापन और मृत्यु होती है ॥१७॥

वक्तव्य—मांसवह स्रोतसों से पेशीगत केशिकाएँ (muscular capillaries) समझ सकते हैं । तत्र विद्धस्य— इनका मूल त्वचा और स्नायु होने के कारण त्वचा और स्नायु पर चोट होने के लक्षण इसमें मिलते हैं । मरणं च— मामूली त्वचा पर वेध होने से मृत्यु होने का कारण नहीं है, परंतु सिर या ग्रीवा की त्वचा में चोट लगने से और वह व्रण दूषित होने से उपत्वचाशोथ (Cellulitis) के कारण मृत्यु हो सकती है ।

मेदोवहे द्वे, तयोर्मूलं कटी वृक्कौ च, तत्र विद्धस्य स्वेदागमनं स्निग्धाङ्गता तालुशोषः स्थूलशोफता पिपासा च ॥१८॥

(मेदोवह स्रोतस—) मेदोवह दो हैं । उनका मूल कटी और वृक्क हैं । वहाँ पर वेध होने से पसीना आना, अङ्गों की स्निग्धता, तालु की खुश्की, स्थूल सूजन और प्यास होती है ॥१८॥

वक्तव्य—तयोर्मूलं कटी वृक्कौ च—चरक में मेदोवह स्रोतसों का मूल वृक्क और वपावहन बतलाया है—मेदोवहानां स्रोतसां वृक्कौ मूलं वपावहनं च ॥ (स्रोतोविमान) । कटी (नितंब प्रदेश) और वपा इन दोनों स्थानों में मेदोवृद्धि अधिक हुआ करती है—वपावहनं वपा उदरस्था स्निग्धवर्तिका यमाहुर्जनास्तैलवर्तिकेति । (चक्रपाणिदत्त, स्रोतोविमान) । वपावहनं मेदःस्थानं तैलवर्तिकेति ख्यातम् । (चक्रपाणिदत्त, शारीर ७) । वपानाम (Great omentum) उदर्यायाः कलायाः स्तरचतुष्टयात्मको भाग आम्नायप्रसिद्धो येन स्थूलजवनिकारूपेण पुरस्तात् संच्छाद्यन्तेऽन्त्राणि । (प्रत्यक्षशारीर) । वृक्कों का कार्य—आयुर्वेद में वृक्कों का उल्लेख अनेक स्थानों में मिलता है—पंचदश कोष्ठाङ्गानि प्लीहा च वृक्कौ च वस्तिश्च । यानि मातृतः संभवन्ति तान्यनुव्याख्यास्यामः । वृक्कौ च वस्तिश्च । वृक्कजायां विद्रध्या पृष्ठकटिग्रहः । (चरक) । रक्तमेदप्रसासाद् वृक्कौ । वृक्कयोः पार्श्वसंकोचः । (सुश्रुत) । वृक्कौ पुष्टिकरौ प्रोक्तौ जठरस्थस्य मेदसः । (शार्ङ्गधर) । वृक्कौ कुक्षिगोलकौ । (डल्हण) । वृक्कौ कुक्षिगोलकौ, तौ तु रक्तप्रसादसंभवौ, अतएव जठरस्थस्य मेदसः पुष्टिकरौ कथितौ, तत्संभवात् । (शार्ङ्गधरदीपिका) । इन सब उल्लेखों में कई बार बस्ति और वृक्क, इनका साहचर्य होने पर भी कहीं भी वृक्कों का मूत्रोत्पत्ति के साथ संबंध नहीं बताया गया है, परंतु मेदोत्पत्ति के साथ बताया गया है । उदरगुहा में आमाशय, क्षुद्रान्त्र, स्थूलान्त्र, मलाशय, यकृत्, प्लीहा, मूत्राशय, गर्भाशय और वृक्क ये प्रधान अवयव होते हैं । इन सब अवयवों के कार्य आयुर्वेद में वर्णित हैं । बस्ति और वृक्कों के कार्यों को छोड़कर शेष अवयवों के कार्य आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से भी ठीक हैं । मूत्ररोगों का एकमात्र अधिष्ठान बस्ति बतलाया गया है—सर्वेषां मूत्ररोगाणामधिष्ठानं वस्तिः । (अष्टांगसंग्रह) । और मेदोत्पत्ति का अधिष्ठान वृक्क बतलाया गया है—वृक्कौ पुष्टिकरौ प्रोक्तौ जठरस्थस्य मेदसः । (शार्ङ्गधर) । मूत्ररोगों के लिए बस्ति का जो अधिष्ठान बतलाया गया है उसमें कुछ तथ्य है परंतु जो वृक्कों का मेदोत्पत्ति में संबंध बतलाया गया है, उसमें उतना भी तथ्य नहीं है । यह दोष कैसे उत्पन्न हुआ ? इसको जानने के लिए मृतसंशोधन की ओर ध्यान देना चाहिए । मृत मनुष्य की उदरगुहा खोलने पर उसमें कई अवयव और कई पदार्थ मिलते हैं । बस्ति में मूत्र मिलता है, जिससे बस्ति का और मूत्र का संबंध निश्चित हो जाता है । मृतशरीर में वृक्कों में न मूत्र मिलता है, न मूत्रोत्पत्ति के साथ संबंध जोड़ने का कोई मोटा साधन उपलब्ध रहता है । वृक्कों से निकलने वाली गवीनी (Ureter) बस्ति तक जाती है, परंतु वह बहुत पतली होने के कारण स्नायुसूत्रों के समान समझी जा सकती है । इसलिए, केवल मृतशरीरसंशोधन से वृक्कों का संबंध मूत्रोत्पत्ति के साथ जोड़ना असंभव है । बस्ति का संबंध मूत्र के साथ जोड़ना आसान है और इसी कारण से बस्ति मूत्ररोगों का प्रधान स्थान माना गया है । अब वृक्कों का मेदोत्पत्ति के साथ संबंध जोड़ने के कारणों का विचार करना है । उदरगुहा में वपा में बहुत मेद मिलता है । इसके सिवा वृक्कों के आसपास और वृक्कों के ऊपर भी मेद होता है—The kidneys are situated in the posterior part of the abdomen, one on either side of the vertebral column, behind the peritoneum, and sourrounded by a mass of fat and loose areolar tissue. The kidney and its vessels are imbedded in a mass of fatty tissue termed the adipose capsule. Behind the renal fascia is a considerable quantity of fat which constitutes the paranephric body. *Grey's Anatomy.* जैसे, अन्न और आमाशय, मल और मलाशय, मूत्र और मूत्राशय इनका नित्यसाहचर्य देखकर इनका आपस में कार्यकारण या आश्रयाश्रयिसंबंध माना गया है, वैसे ही वृक्कों के ऊपर और आसपास मेद (वृक्क ठोस होने से इनके भीतर मेद नहीं हो सकता) का साहचर्य देखकर दोनों का आपस में जनक-जन्य भाव माना गया है, ऐसा मालूम पड़ता है । ऐसी अवस्था में मेदवह स्रोतसों का ठीक पर्याय बताना कठिन है । तथापि यदि पर्याय देना हो तो Capillaries of the perinephric tissues and omentum दे सकते हैं ।

मूत्रवहे द्वे, तयोर्मूलं बस्तिर्मेढ्रं च । तत्र विद्धस्यानद्धबस्तिता मूत्रनिरोधः स्तब्धमेढ्रता च ॥१९॥

(मूत्रवह स्रोतस्—) मूत्रवह दो हैं, उनका मूल बस्ति और मेढ्र है । वहाँ पर वेध होने से बस्ति का फूलना, मूत्र का रुक जाना और शिश्न की सख्ती होती है ॥१९॥

वक्तव्य—मूत्रवह स्रोतस्—आयुर्वेद में मूत्रोत्पत्ति की कल्पना यह है कि आन्त्र में ही मूत्र पृथक् होकर आन्त्र से असंख्य सूक्ष्म स्रोतसों द्वारा बस्ति में आता है । अर्थात् इन स्रोतसों का ऊपर का सिरा आन्त्र से और नीचे का बस्ति से

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बंधित रहता है । आन्त्र में मलधर कला से पृथक् हुआ मल पाचक अग्नि और समान वायु के कार्य से इन स्रोतसों में बहते समय पूर्णतया मूत्र में परिवर्तित होकर बस्ति में आता है—पक्वाशयगतास्तत्र नाड्यो मूत्रवहास्तु याः । तर्पयन्ति सदा मूत्रं सरितः सागरं यथा ॥ सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते मुखान्यासां सहस्रशः । नाडीभिरुपनीतस्य मूत्रस्यामाशयान्तरात् ॥ (सुश्रुत, निदान ३)। इसका वक्तव्य भी देखो । अधोमुखो हि बस्तिर्हि मूत्रवाही सिरामुखैः । पार्श्वेभ्यः पूर्यते सूक्ष्मैः स्यन्दमानैरनारतम् ॥ (अष्टांगहृदय) । सिराभिस्तज्जलं नीतं बस्तौ मूत्रत्वमाप्नुयात् । (शार्ङ्गधर) । इस विषय के विशेष विवरण के लिए ग्रंथकार की Ayurvedic conception about urine formation नामक पुस्तक देखो । प्रत्यक्ष शारीर कार्य की दृष्टि से आयुर्वेद की यह मूत्रोत्पत्ति की कल्पना ठीक नहीं है । इसलिए मूत्रवह स्रोतसों का कोई ठीक अँग्रेज़ी पर्याय नहीं दिया जा सकता । यदि आधुनिक शारीरकार्य विज्ञान के अनुसार इनका अर्थ करना हो तो मूत्रवह स्रोतसों से वृक्कस्थ मूत्रस्रोत (Renal tubules) याने वृक्कान्तर्गत मूत्रोत्पादक नालियाँ समझ सकते हैं । और यदि बस्ति का संबंध ठीक रखना हो तो तात्पर्य की दृष्टि से गवीनीयुक्त वृक्क (Kidneys with ureters) इनसे समझ सकते हैं । हाराणचन्द्र तथा कुछ अन्य लोग मूत्रवहे द्वे से गवीनी (Ureters) समझते हैं—मूत्रवहे द्वे वृक्कतः प्रसृते एव । परन्तु यह अर्थ ठीक नहीं है, क्योंकि चरक में मूत्रवाही स्रोतसों की दुष्टि के कारण दिये हैं तथा उनकी चिकित्सा मूत्रकृच्छ्र के समान बतलाई है—मूत्रितोदकभक्ष्यस्त्रीसेवनान्मूत्रनिग्रहात् । मूत्रवाहीनि दुष्यन्ति क्षीणस्यातिकृशस्य च ॥ मूत्रविट्स्वेदवाहानां चिकित्सा मौत्रकृच्छ्रिकी ॥ आयुर्वेद में या पाश्चात्त्य वैद्यक में वृक्कविहीन गवीनियों का कोई ऐसा रोग नहीं है । इसलिए यदि गवीनी अर्थ करना हो वृक्कयुक्त गवीनी करना उचित है । मेढ्रं च—इसका उल्लेख मूल में परम्परा की दृष्टि से किया गया है ।

पुरीषवहे द्वे, तयोर्मूलं पक्वाशयो गुदं च, तत्र विद्धस्यानाहो दुर्गन्धता ग्रथितान्त्रता च ॥२०॥

(पुरीषवह स्रोतस—) पुरीषवह दो हैं, उनका मूल पक्वाशय और गुद है । वहाँ पर वेध होने से उदर का फूलना, (मल में) दुर्गंध और गाँठें उत्पन्न होती हैं ॥२०॥

वक्तव्य—पुरीषवह स्रोतस से उण्डुक और स्थूलान्त्र का ग्रहण करना चाहिए । तत्र विद्धस्य—पक्वाशय या गुद के ऊपर वेध होने से मलावरोध या प्रवाहिका उत्पन्न हो सकती है । मलावरोध होने पर पेट फूलना, दुर्गंध और मल अधिक देर तक रहने से गाँठदार होना ये लक्षण उत्पन्न होते हैं । ग्रथितान्त्रता—ग्रथितमलान्त्रता, मल की गाँठे उत्पन्न होने की स्थिति । चरक में साफ लिखा है—कृच्छ्रेणाल्पाल्पं सशब्दशूलमतिद्रवमतिग्रथितमतिबहु चोपविशन्तं दृष्ट्वा पुरीषवहान्यस्य स्रोतांसि प्रदुष्टानीति विद्यात् ॥

शुक्रवहे द्वे, तयोर्मूलं स्तनौ वृषणौ च, तत्र विद्धस्य क्लीवता चिरात् प्रसेको रक्तशुक्रता च ॥२१॥

(शुक्रवह स्रोतस—) शुक्रवह दो हैं, उनका मूल स्तन और वृषण हैं । वहाँ पर वेध होने से षंढता, देर से वीर्यस्खलन और रक्तयुक्त वीर्य (का निकलना ये लक्षण) होते हैं ॥२१॥

वक्तव्य—शुक्रवहे द्वे—शुक्रवह दो नालियों से Ductus deferens का ग्रहण करना चाहिए और उनसे जो अनेक स्रोतस आगे वृषण की ओर होते हैं, उनसे Ductuli efferentes and retetestes का ग्रहण करना चाहिए । वृषणग्रंथि में उत्पन्न हुआ शुक्र इनके द्वारा बाहर आता है । क्लीवता—वीर्य के न निकलने से यह षण्ढता उत्पन्न होती है । स्तनौ—वास्तव में यहाँ पर स्तनों का कोई संबंध नहीं है । परन्तु शुक्रोत्पत्ति और स्तन्योत्पत्ति का मानसिक और शरीरकार्य की दृष्टि से बहुत घनिष्ठ संबंध होता है (निदान के १०वें अध्याय के १९–२१ श्लोक और उनका वक्तव्य देखो) इसलिए यहाँ पर उसका उल्लेख किया गया है । यह एक स्वतन्त्र वाक्य है, जिसकी पूर्ति इस प्रकार से कर सकते हैं—स्तन्यवहे द्वे, तयोर्मूलं स्तनौ । तत्र विद्धस्यास्तन्यता, चिरात् प्रसेको रक्तस्तन्यता च । स्तन्यवह स्रोतसों से Tubuli lactiferi of mamma समझ सकते हैं ।

आर्तववहे द्वे, तयोर्मूलं गर्भाशय आर्तववाहिन्यश्च धमन्यः । तत्र विद्धाया वन्ध्यात्वं मैथुनासहिष्णुत्वमार्तवनाशश्च ॥२२॥

(आर्तववह स्रोतस—) आर्तववह स्रोतस दो हैं, उनका मूल गर्भाशय और आर्तववाही धमनियाँ हैं । वहाँ पर वेध होने से वन्ध्यता, मैथुन कर्म को सहन न करना और आर्तवनाश होता है ॥२२॥

वक्तव्य—आर्तववह स्रोतस्—आर्तव शब्द के दो अर्थ दूसरे अध्याय के प्रारंभ में बताये गये हैं—आर्तवशोणित (Menstrual blood) और स्त्रीबीज (Ova); इन दो अर्थों के अनुसार आर्तववह स्रोतस् के दो अर्थ हो सकते हैं—(१) आर्तवशोणितवहन करने वाले स्रोतस Blood vessels and capillaries of the uterus. (२) बीजवाहक स्रोतस् Fallopian tubes । पं० हरिप्रपन्नजी तथा अन्य कुछ लोग आर्तववह स्रोतस् का दूसरा अर्थ करते हैं, परंतु यह अर्थ ठीक नहीं । इसका कारण यह है कि इन आर्तववह स्रोतसों का संबंध स्त्रीबीज वहन के साथ न होकर आर्तव रक्तवहन के साथ होता है । इसका स्पष्ट निर्देश चतुर्थ अध्याय के निम्न वचन के 'दृश्यते' शब्द से मालूम होता है—गृहीतगर्भाणामार्तववहानां स्रोतसां वर्त्मान्यवरुध्यन्ते गर्भेण तस्माद् गृहीतगर्भाणामार्तवं न दृश्यते ॥ पीछे २३वें सूत्र का वक्तव्य भी देखो । आर्तवस्राव के समय गर्भाशय की श्लेष्मल कला के नीचे रक्तवाहिनियाँ (आयुर्वैदिक परिभाषा के अनुसार आर्तव स्रोतस) बहुत विस्फारित होती हैं और श्लेष्मल कला को तोड़कर मासिक स्राव के समय आर्तवशोणित को उत्सर्गित करती हैं । इन आर्तव स्रोतसों के मार्ग गर्भाधान होने पर श्लेष्मल कला की मोटाई काफी बढ़ जाने से बंद हो जाते हैं, जिससे गर्भवती स्त्रियों में आर्तव दर्शन नहीं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता—The uterine mucous membrane undergoes extensive changes as a result of pregnancy. The mucosa as a whole grows to four or five times its former thickness. *Introduction to sexual Physiology by Marshall.* **चरक में इन आर्तववह स्रोतसों (रजोवह) का संबंध प्रदर में वर्णन किया है—** रक्तं प्रमाणमुत्क्रम्य गर्भाशयगताः सिराः। रजोवहाः समाश्रित्य रक्तमादाय तद्रजः ॥ यस्माद्विवर्धयत्याशु रसभावाद्विमानता । तस्मादसृग्दरं प्राहुरेतत्तन्त्रविशारदाः ॥ **(चिकित्सा) । इससे यह स्पष्ट होगा कि आर्तववह स्रोतसों से गर्भाशयगत रक्तवाहिनियों का ग्रहण उचित है, क्योंकि गर्भाशयगत रक्त ही आर्तव बनता है—**तथा रक्तमेव च स्त्रीणां मासे मासे गर्भकोष्ठमनुप्राप्य त्र्यहं प्रवर्तमानमार्तवमित्याहुः ॥ **(अष्टांगसंग्रह, शारीर १) । पं० गंगाधर शास्त्री आर्तववह स्रोतसों से गर्भाशय की श्लेष्मल कला** (Uterine mucosa) **समझते हैं। परंतु यह अर्थ भी ठीक नहीं है, क्योंकि श्लेष्मल कला आर्तव का वहन नहीं करती है, परंतु स्वयं आर्तव में प्रवाहित हो जाती है और गर्भाधान होने पर आर्तववह स्रोतसों का मार्ग अवरुद्ध करती है। आर्तववाही धमनियाँ—**Uterine and ovarian arteries। तत्र विद्धायां वन्ध्यात्वम्—**गर्भोत्पादन के असामर्थ्य को वंध्यात्व** (Sterility) **कहते हैं। पुरुषों की वन्ध्यता का विवरण पीछे २ अध्याय के २ सूत्र में किया गया है। स्त्रियों के वन्ध्यात्व का विवरण यहाँ पर दिया जाता है । हारीतसंहिता में स्त्रियों के वन्ध्यात्व के तीन प्रधान कारण विभाग दिये हैं—**वन्ध्या स्यात् षट्प्रकारेण बाल्येनाप्यथवा पुनः। गर्भकोषस्य भङ्गाद्वा, तथा धातुक्षयादपि । जायते न च गर्भस्य संभूतिश्च कदाचन ॥ (३–४८–७)। बाल्येन—**बाल्यावस्था में गर्भाशयादि अंगों की जो स्थिति होती है वैसी ही स्थिति युवावस्था में होने से । इस विभाग में** Infantile uterus, cochleate uterus **तथा अन्य सहज** (Congenital) **विकृतियों का समावेश कर सकते हैं। (२)** गर्भकोषभङ्ग—**इसमें जन्मोत्तर** (Acquired) **गर्भाशय में होने वाले निज या आगंतुक विकारों का समावेश कर सकते हैं । (३)** धातुक्षय—**इसमें सार्वदैहिक विकारों** (General conditions) **का समावेश कर सकते हैं, जिनके कारण शरीरगत धातुओं का क्षय या दौर्बल्य हुआ करता है—जैसे, उचित आहार का न मिलना, रक्तक्षय, पाण्डुरोग, वृद्धावस्था इत्यादि। यहाँ पर वंध्यात्व का जो कारण दिया है वह दूसरे विभाग में आता है । वन्ध्यता के निम्न चार महत्त्व के प्रकार हारीतसंहिता में वहाँ पर दिये हैं—** काकवन्ध्या भवेच्चैका, अनपत्या द्वितीयका । गर्भस्रावी तृतीयाथ कथिता मुनिसत्तमैः। मृतवत्सा चतुर्थी स्यात् ॥ **(१)** काकवन्ध्या—**जिसको एक बार गर्भधारणा हुई है और पश्चात् जो वन्ध्या हो गई है, वह काकवन्ध्या कहलाती हैं।** काकीवदेकमात्रापत्यजननेन वंध्यात्वं प्राप्ता। काकवन्ध्या च या नारी मृतापत्या च या भवेत्। बह्वपत्या जीववत्सा सा भवेन्नात्र संशयः ॥ **(पद्मपुराण) । काकवन्ध्यता को** One child sterility **कहते हैं । इसका कारण यह है कि प्रथम गर्भधारणा के समय स्त्री के शरीर में कोई खराबी न होने पर भी प्रसूति के समय या पश्चा[illegible] गर्भाशय में उपसर्ग पहुँचने** (Infection) **के कारण गर्भाश[illegible] या फलस्रोत** (Fallopian tubes) **में खराबी होने [illegible] दूसरी बार गर्भधारणा नहीं होती। औपसर्गिक पूयमेह [illegible] सोजाक** (Gonorrhoea) **और राजयक्ष्मा** (T. B.) **इ[illegible] प्रकार की वन्ध्यता के प्रधान कारण हैं । आगन्तुक कारणों की दृष्टि से विचार किया जाय तो प्रसूति के समय मूत्र[illegible] धार पीठ का विदीर्ण होना** (Laceration of Perineum) **या गर्भाशय ग्रीवा का विदीर्ण होना** (Laceration of cervix uteri) **और वैसा ही रहना या चोट लगने के कारण इनका विदीर्ण होना और पश्चात् इनका द्वार पूर्णतया बं[illegible] हो जाना** (Acquired atresia) **ये प्रधान होते हैं। (२)** अनपत्या—**इसका अर्थ यद्यपि जीवित अपत्यविरहि[illegible] ऐसा भी हो सकता है तथापि यहाँ पर 'जिसको गर्भधारणा कदापि नहीं हुई है, ऐसी स्त्री' यह अधिक प्रशस्त है। इस प्रकार की वन्ध्यता को** Absolute sterility **कहते हैं। इसके कारण प्रायः सहज होते हैं । आगन्तुक कारणों [illegible] वेधजन्य गर्भाशय-ग्रीवा या योनिसंकोच प्रधान कार[illegible] हैं। (३)** गर्भस्रावी—**जिस स्त्री को गर्भधारणा होती है, परंतु तीन चार महीने में गर्भ का स्राव या पात प्रत्येक सम[illegible] होता है, वह गर्भस्रावी कहलाती है । इसके कारण कुछ सहज और कुछ जन्मोत्तर होते हैं—जैसे, योनिगर्भाशय के अन्तःस्तर के विकार** (Endometritis, Vaginitis etc.) **तथा गर्भाशय के स्थानापसरण** (Displacements) **तथा उनके स्वाभाविक आकार की विकृति—जैसे, ग्रीवा और शरीर के बीच में अधिक वक्रता होना** (Acute Flexions) **इत्यादि । (४)** मृतवत्सा—**जो गर्भधारणा होने के सातवें महीने के (२८वें सप्ताह के) पश्चात् प्रत्येक समय मृतगर्भ को जन्म देती है, वह मृतवत्सा कहलाती है। जो बालक जन्म के समय १३ इं[illegible] लम्बाई में (सिर से पैर के तुलुवे तक) होता है और [illegible] माता से स्वतन्त्र होने पर भी चैतन्यहीन (चैतन्य [illegible] स्थान जो हृदय वह जिसका कार्यहीन होता है, ऐसा) होता है, वह मृतवत्स या मृतगर्भ** (Still born) **कहलाता है। ऐसे मृतगर्भ जन्म को** still birth **कहते हैं। गर्भस्राव के जो कारण होते हैं, वे इसके भी होते हैं । इनके सिवा कुछ अज्ञात कारण भी हो सकते हैं ।** मैथुनासहिष्णुत्वम्—**मैथुन सहन करने का असामर्थ्य । यह असामर्थ्य मैथुन कर्म के समय होने वाली पीड़ा से उत्पन्न होता है। इस अवस्था को डिस्पारयूनिआ** (Dyspareunia) **कहते हैं। यहाँ पर वेध के कारण योनिगर्भाशय तथा उनके आस-पास के भाग पर घाव या व्रण होने से मैथुन में असहिष्णुता उत्पन्न होती है। इस आगन्तुक कारण के सिवा गुद, बस्ति, मलाशय, योनि, गर्भाशय, बीजकोष इनके विकारों में विशेष करके शोथजन्य** (Inflamatory) **विकारों में भी मैथुनासहिष्णुता होती है। यह असहिष्णुता योन्याक्षेप** (Vaginismus) **से होती है । यह योन्याक्षेप या योनि का संकोच उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त मानसिक**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिस्थिति (जैसे, पति पर प्रेम न होना) के कारण भी उत्पन्न होता है ।

सेवनीच्छेदाद्रुजाप्रादुर्भावः; बस्तिगुदविद्धलक्षणं प्रागुक्तमिति ॥२३॥

सेवनी पर वेध होने से वेदना उत्पन्न होती है । बस्ति और गुद के वेध के लक्षण पहले कह चुके हैं ॥२३॥

वक्तव्य—सेवनी—गुद से शिश्नमूल तक जाने वाली रेखा Perineal raphe । प्रागुक्तम्—बस्तिभेद के लक्षण १९वें सूत्र में आनद्धबस्तिता इत्यादि और गुदवेध के लक्षण २०वें सूत्र में आना हो, इत्यादि । यह सूत्र अश्मरीशस्त्रकर्म में भी (चिकित्सा अध्याय ७) दिया गया है ।

स्रोतोविद्धं तु प्रत्याख्यायोपचरेत् । उद्धृतशल्यं तु क्षतविधानेनोपचरेत् ॥२४॥

(स्रोतोवेध की साध्यासाध्यता और चिकित्सा—) स्रोतोमूल में विद्ध हुए को असाध्य समझकर (उसकी) चिकित्सा करे । शल्य निकाले हुए का क्षतचिकित्सा के अनुसार उपचार करे ॥२४॥

वक्तव्य—स्रोतोविद्धम्—यहाँ पर अब तक स्रोतोमूल विद्ध के ही लक्षण बताये गये हैं । इसलिए स्रोतोविद्ध से स्रोतोमूलविद्ध समझना उचित है । इसके सिवा प्रत्याख्याय (असाध्य) से भी वही अर्थ निकलता है, क्योंकि हृदय बस्ति तथा अन्य मूल मर्मांग होते हैं ।

भवति चात्र—

मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत् ।
स्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम् ॥२५॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने धमनीव्याकरणशारीरं नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

(स्रोतस की व्याख्या—) मूल छिद्र से शरीर में फैला हुआ, (रसादि का) जो वहन करता है, और सिरा-धमनी से जो पृथक् है उस अवकाश को स्रोतस् जानना चाहिए ॥२५॥

वक्तव्य—मूलात् खात्—हृदयादि अवकाशयुक्त या अन्तःसुषिर अंगों से । सिराधमनिवर्जितम्—सिरा और धमनी को छोड़कर । इस श्लोक का तात्पर्य इतना ही है कि शरीर में जो बड़ी बड़ी सिराएँ और धमनियाँ होती हैं, उनको छोड़कर जो नालियाँ होती हैं और जो किसी अन्तःसुषिर अंग से संबंध रखकर उससे रसादि तरल पदार्थ का वहन करती हैं, वे स्रोतस हैं ।

अब इसके बाद धमनी और स्रोतसों का कोष्ठक अँग्रेजी पर्यायों के साथ दिया जाता है ।

धमनीकोष्ठक

नाम	पर्याय
शब्दवहा धमनी	Internal auditory artery
रसवहा धमनी	Lingual artery
गन्धवहा	Sphenopalatine branch of the internal maxillary
घोषकरा	Laryngeal artery
भाषण	Sublingual artery
अश्रुवाही	Lacrymal artery
स्तन्यवह	Mammary artery
प्रश्वासोच्छ्वासादिका	Phrenic and intercostal artery
अन्नवाहिनी	Superior mesenteric and colic arteries
मूत्रवहा	Renal or Vesical arteries
शुक्रवहा	Testicular and spermatic arteries
शुक्रविसर्ग	Artery supplying epidydimus, seminal vesicle etc.
आर्त्तववहा	Uterine and ovarian arteries
वर्चोनिरसनी	Inferior mesenteric and Colic arteries
ऊर्ध्वगामी धमनियाँ	Aortic arch and thoracic aorta and branches
अधोगामी धमनियाँ	Abdominal aorta and its branches
तिर्यग्गामी धमनियाँ	Cutaneous vessels.

स्रोतस कोष्ठक

प्राणवह स्रोतस	Lung capillaries
अन्नवह	Oesophagus, duodenum
उदकवह	Lymphatics
रसवह	Capillaries
रक्तवह	Capillaries of the liver and spleen
मांसवह	Capillaries of the muscles
मेदोवह	Capillaries of the perinephric tissue and omentum
मूत्रवह	Renal tubules
पुरीषवह	Caecum and Colon
शुक्रवह	Ductus deferens
स्तन्यवह	Tubuli lactiferi
आर्तववह	Blood vessels of the uterus

इति भास्करशर्मणा गोविंदात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां धमनीव्याकरणं शारीरं नाम नवमोऽध्यायः समाप्तः ॥९॥

दशमोऽध्यायः ।

अथातो गर्भिणीव्याकरणं शारीरं व्याख्यास्यामः । यथोवाच भगवान् धन्वन्तरिः ॥१॥

अब इसके बाद गर्भिणीव्याकरण नामक शारीर का व्याख्यान करते हैं, जैसे कि भगवान् धन्वन्तरिजी ने किया था ॥१॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वक्तव्य—गर्भिणीव्याकरण—व्याकरण शब्द के व्यवस्थाकरण और विस्तारकरण इस प्रकार दो अर्थ होते हैं। शारीर स्थान के गर्भव्याकरण, शरीरसंख्याव्याकरण और धमनीव्याकरण इन स्थानों में व्याकरण शब्द का प्रयोग विस्तारकरण के लिए किया गया है। यहाँ पर प्रथम अर्थ के लिए किया गया है। आहार, विहार, प्रसूति इत्यादि गर्भिणी-संबंधित बातों की व्यवस्था जिसमें वर्णन की गई है, वह अध्याय गर्भिणीव्याकरण कहलाता है।

गर्भिणी प्रथमदिवसात् प्रभृति नित्यं प्रहृष्टा शुच्यलङ्कृता शुक्लवसना शान्तिमङ्गलदेवताब्राह्मण-गुरुपरा च भवेत्, मलिनविकृतहीनगात्राणि न स्पृशेत्, दुर्गन्धदुर्दर्शनानि परिहरेत्, उद्वेजनीयाश्च कथाः, शुष्कं पर्युषितं कुथितं क्लिन्नं चान्नं नोपभुञ्जीत, बहिर्निष्क्रमणं शून्यागारचैत्यश्मशानवृक्षाश्रयान् क्रोधभयसङ्कराश्च भावानुच्चैर्भाष्यादिकं च परिहरेद्यानि च गर्भं व्यापादयन्ति, न चाभीक्ष्णं तैलाभ्यङ्गोत्सादनादीनि निषेवेत, न चायासयेच्छरीरं, पूर्वोक्तानि च परिहरेत्, शयनासनं मृद्वास्तरणं नात्युच्चमपाश्रयोपेतमसंबाधं च विदध्यात्, हृद्यं द्रवं मधुरप्रायं स्निग्धं दीपनीयसंस्कृतं च भोजनं भोजयेत्, सामान्यमेतदाप्रसवात् ॥२॥

(**गर्भिणी सामान्य परिचर्या**—) गर्भिणी प्रथम दिन से लेकर प्रतिदिन प्रसन्नचित्त, पवित्र, अलङ्कारों से विभूषित, श्वेतवस्त्र धारण करने वाली, शान्तिहोम, मंगलकर्म, देवता, ब्राह्मण और गुरु इनकी पूजा करने वाली होवे; मैले, रोगी और हीन (जाति के) शरीरों को स्पर्श न करे; दुर्गंधयुक्त (पदार्थों), दुर्दर्शन (दृश्यों) और उद्वेग उत्पन्न करने वाली कथाओं का परित्याग करे; सूखा, बासी, सड़ा हुआ, क्लिन्न अन्न सेवन न करे; बाहर निकलना, शून्यगृह, चैत्य, श्मशान, वृक्षाश्रय, क्रोध और भययुक्त भाव, ऊँची आवाज़ से बोलना इनको तथा गर्भ का नाश करने वाले अन्य भावों का परित्याग करे; तैल की मालिश और उबटन आदि का बार बार सेवन न करे; शरीर को (बहुत) न थकावे; पहले बताये हुए (अपथ्यों) का परिहार करे; लेटने का और बैठने का स्थान (गद्दी तकिया इत्यादि) मृदु वस्त्रों से युक्त, न बहुत ऊँचा, अपाश्रय युक्त और बाधाविरहित बनावे; हृद्य, तरल, मधुरप्राय, स्निग्ध, अग्निदीपक (मरिच, जीरा इत्यादि) द्रव्यों से संस्कृत भोजन खिलावे। प्रसूति तक यह साधारण (परिचर्या) है ॥२॥

वक्तव्य—प्रथमदिवसात् प्रभृति—गर्भस्थिति का ज्ञान 'श्रमो ग्लानिः पिपासा' (तीसरे अध्याय का १३वाँ सूत्र) इत्यादि लक्षणों से होने के दिन से लेकर प्रसूति तक। यह शब्दप्रयोग तीसरे अध्याय के १६वें सूत्र के 'तदाप्रभृति' शब्द प्रयोग के अर्थ में किया गया है। इसका दूसरा भी अर्थ कर सकते हैं। ऋतुकाल के प्रथम दिन से याने ऋतुस्नात दिन से। ऋतुकाल प्रारंभ दिन के संबंध में तीसरे अध्याय के छठे सूत्र का वक्तव्य देखो। अपत्य की इच्छा करके स्त्री-पुरुष जब समागम करते हैं तब गर्भधारणा होगी, इस कल्पना से ऋतुस्नात दिन से ही स्त्री को शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य रखना अधिक हितावह होता है। इससे गर्भधारणा की संभावना भी बढ़ती है तथा जिस गर्भ का आधान होता है, उसके लिए पहले से ही सब तरह से अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न की जाती है। शान्तिमंगल इत्यादि—ये सब उपाय आस्तिकों के लिए हैं। इससे मनःशान्ति तथा मनोबल प्राप्त होता है। क्लिन्नम्—सड़ने के कारण जिससे पानी निकल रहा है। चैत्य—इसके दो अर्थ बताये जाते हैं—चैत्यं देवताधिष्ठितो वृक्षः, अन्ये बौद्धालय-माहुः। (डल्हण)। चैत्यस्तु विशिष्टदेवताधिष्ठितो लोकप्रसिद्धो वृक्षविशेषः। बुद्धालय इत्यन्ये। (अरुणदत्त, अष्टांगहृदय, सूत्र २)। चैत्यवृक्ष के ऊपर श्रीरामकृष्णादि सात्त्विक देवताओं का वास नहीं होता परंतु भूत, प्रेत, पिशाचादि तामस देवताओं का वास होता है। इसलिए चैत्य के पास जाना अनुचित माना गया है। यदि चैत्य से बौद्धालय माना जाय तो वह परधर्म का होने के वजह से उसका निषेध किया गया है, ऐसा समझना चाहिए। श्मशान—श्मानः शवाः शेरतेऽत्रेति श्मशानम्। दहन और दफन करने का स्थान। शुक्लवसना—शुभ्रवस्त्र निर्मलता का उच्च आदर्श होता है, इसलिए शुभ्रवस्त्र परिधान करने के लिए कहा है। क्षेमकुतूहल में शुभ्रवस्त्र के निम्न गुण वर्णन किये हैं—शुभ्रं च सुखदं वस्त्रं शीतातपनिवारणम्। न चोष्णं न च वा शीतं, शुक्लं वस्त्रं च धारयेत् ॥ मलिनविकृतहीनगात्राणि न स्पृशेत्—जो मनुष्य हमेशा गंदे रहते हैं, जो रोगों से पीड़ित होते हैं, तथा चमार, चण्डाल इत्यादि हीन जाति के जो लोग होते हैं और जो हमेशा गन्दे रहते हैं उनसे दूर रहना चाहिए। यहाँ पर 'हीन' शब्द हीन जाति के लिए और 'गात्र' शब्द शरीर के लिए प्रयुक्त हुआ है। पूर्वोक्तानि—तीसरे अध्याय के १९वें सूत्र में बताये हुए। अपाश्रयोपेतम्—अपाश्रियते आच्छाद्यतेऽनेन इति अपाश्रयः, तेन सहितम्। अपाश्रय शामियाना की तरह ऊपर लगाने की एक वस्तु होती है। यहाँ पर इसका मतलब इतना ही है कि हमेशा ऐसे स्थान पर सोवे, जो ऊपर से खुला न हो। जैसे खुले आँगन में सोना। खुले स्थान में सोने में ओस या हवा से (Exposure) बीमार होने का डर रहता है। इसलिए गर्भिणी स्त्री हमेशा जो स्थान ऊपर से बंद हो, ऐसे स्थान में अपना बिस्तरा लगावे। चरकसंहिता में विवृत स्थान में सोना गर्भिणी के लिए दोषावह माना गया है और उसका परिणाम गर्भ की उन्मत्तावस्था बतलाया है—विवृतशायिनी नक्तंचारिणी चोन्मत्तं जनयति। (चरक, शारीर ८)। विवृते अनावृते देशे शयनशीला विवृतशायिनी। विवृतशायिनी तथा नक्तंचारिणी च रक्षःप्रभृतिभूताभिगमनीया भवति; ततश्च भूतैरभिभूतो गर्भ उन्मत्तो भवतीति युक्तम्। (चक्रपाणिदत्त)। इससे यह स्पष्ट होगा कि ऊपर अपाश्रयोपेत का जो अर्थ किया गया है, वही युक्त है। किंवा अपाश्रय से तकिया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपाश्रयते शिरः यत्र) भी समझ सकते हैं । अपाश्रयोपेत ऐसे सिर के नीचे या बैठने के लिए जिस पर तकिया इत्यादि कुछ आश्रय स्थान हो, ऐसा । हाराणचन्द्र अपाश्रय से चन्द्रातप समझते हैं—अपाश्रयश्चन्द्रातपश्चेति पर्यायौ । और डल्हण अपाश्रय से प्रतिवाहक समझते हैं—अपाश्रयोपेतं प्रतिवाहकसहितम् । ये दोनों अर्थ गौण मालूम होते हैं । असंबाधम्—नींद में जिससे बाधा न उत्पन्न हो जाय, उस प्रकार का । जैसे जाड़ों के दिनों में गरम कपड़ों से युक्त, गर्मियों के दिनों में हलके पतले कपड़ों से युक्त, मच्छर होने पर मशहरी से युक्त, खटमल विरहित इत्यादि । हृद्यम्—इसके दो अर्थ होते हैं—(१) हृदयाय हितम् । हृदय के लिए हितकर अर्थात् हृदय को बल देने वाला अथवा हृदय को तकलीफ न देने वाला । कुछ अन्न ऐसे होते हैं कि जो सेवन करने पर हृदयप्रदेश में जलन या बेचैनी पैदा करते हैं । जैसे उष्ण, अम्ल, तीक्ष्ण मसाले युक्त खाद्य द्रव्य—विदाहिद्रव्यमुद्गारमम्लं कुर्यात्तथा तृषाम् । हृदि दाहं च जनयेत् पाकं गच्छति तच्चिरात ॥ (भावप्रकाश) । इसी कारण से चरक और अष्टांगसंग्रह में विदाही द्रव्यों का गर्भिणी के लिए (आगे देखो) निषेध किया गया है । इसके सिवाय हृद्य का संबंध कुछ अन्न की मात्रा के साथ भी होता है । अधिक मात्रा में अन्न सेवन करने पर उसका दबाव हृदय के ऊपर पड़ता है, जिससे हृदय में धड़कन, बेचैनी इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं—अपीडनं भवेत् कुक्षेः पार्श्वयोरवपीडनम् । अन्नेन हृदयाबाधो जठरस्य तु गौरवम् ॥ अर्थात् अधिक मात्रा में अन्न का सेवन अहृद्य होता है । (२) हृदयस्य प्रियम् । यहाँ पर हृदय शब्द मन के लिए प्रयुक्त होता है । ऐसा अन्न हो, जो मन को पसंद हो जाय अर्थात् रुचिकर । संक्षेप में हृद्य से हृदय को याने शरीर को बल देने वाला, मध्यम मात्रा में सेवन किया हुआ, जो विदाही न हो तथा मन को पसंद होने वाला, याने रुचिकर हो, ऐसा अन्न अभिप्रेत होता है । हृद्य सात्त्विक अन्न का एक महत्त्व का गुण है—आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः । रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥ (भगवद्गीता १८) ।

गर्भिणी के स्वस्थवृत्त का विवरण इस सूत्र के सिवा पीछे तीसरे अध्याय के १९वें सूत्र में तथा उसके वक्तव्य में किया जा चुका है । यहाँ पर उन्हीं विषयों का पृथक्करणात्मक दृष्टि से फिर से संक्षेप में विचार किया जाता है । (१) आहार—गर्भिणी का आहार विशेष महत्त्व का होता है । इसके संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि गर्भिणी को अपना तथा अपने गर्भ का पोषण करना पड़ता है । उससे उसके पाचक अंगों और वृक्क, त्वचा, फेफड़े इत्यादि मलोत्सर्जन के अवयवों पर विशेष करके वृक्कों पर अधिक काम पड़ता है । इसलिए आहार सुपाच्य, सुशोष्य और पौष्टिक होना चाहिए, उससे शरीर में विषैले पदार्थ कम बनने चाहिएँ, मलावरोध न उत्पन्न होना चाहिए, उसमें खटिक (चूना Calcium) उचित मात्रा में होना चाहिए और जीवद्रव्य उपस्थित होने चाहिएँ । गर्भ अपने पोषण के लिए आवश्यक सब पदार्थ माता से ग्रहण करता है, और जब माता के आहार में उन पदार्थों की कमी होती है, तब माता को क्षति पहुँचाकर उसके शरीर से लेता है । इसका विशेष महत्त्व का उदाहरण खटिक है । बालक को अपनी अस्थियों के लिए खटिक की अधिक आवश्यकता होती है । यदि माता के आहार में खटिक पर्याप्त मात्रा में हो तो कोई कठिनाई नहीं होती । जब माता के आहार में इसकी कमी होती है तब गर्भ माता की अस्थियों से तथा दाँतों से खटिक का ग्रहण कर लेता है, जिससे माता में अस्थिमृदुता (Osteomalacia) कृमिदंत ये विकार उत्पन्न होते हैं । जीवद्रव्य 'डी' खटिक के सात्म्यीकरण के लिए आवश्यक होता है । उसके न होने से आहार में खटिक होने पर भी उसका उपयोग अस्थिविकास में नहीं हो सकता । जीवद्रव्य 'ए' उपसर्गनाशक होता है । उसकी कमी से माता का औपसर्गिक (Infectious) रोगों की शिकार होने की संभावना होती है, विशेष करके प्रसूतिज्वर होने का बड़ा डर रहता है । जीवद्रव्य 'बी' की कमी से गर्भपात—गर्भस्राव, अकालप्रसव, मृतवत्सजन्म इत्यादि आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं । इस दृष्टि से माता के आहार में दूध, मट्ठा, माखन, घी, चावल, गेहूँ की रोटी, अण्डा, प्याज, गोभी, मूली, पालक, टोमाटो, शलगम, गाजर, आलू इत्यादि साग-सब्जियाँ, संतरा, सेव, आम, अनार, द्राक्षा इत्यादि फल होने चाहिएँ । मांस, मद्य, चाय, काफी इत्यादि उत्तेजक पदार्थ; मिर्च, मसाले, अचार इत्यादि तीक्ष्णोष्ण पदार्थ बहुत कम होने चाहिएँ । संक्षेप में गर्भिणी का आहार सात्त्विक हो, प्रत्येक बार वह मध्यम मात्रा में उसको सेवन करे, जिससे कुक्षि में पीड़ा न हो सके । परंतु दिन रात में आहार की राशि इतनी हो कि वह उसके लिए तथा उसके बालक की वृद्धि के लिए पर्याप्त हो जाय—बृंहयेद्, गर्भिणीसूतिकाबालवृद्धान् । मांसक्षीरसितासर्पिर्मधुरस्निग्धवस्तिभिः ॥ (अष्टांगसंग्रह, सूत्र २४) । न मदकराणि मद्यान्यभ्यवहरेत्, न मांसमश्नीयात् । (चरक, शारीर ४) । गर्भस्त्वामगर्भेण । (आप्यायते) । (चरक, शारीर ६) । गर्भस्त्वामगर्भेणेत्यत्र आमगर्भेणाण्डादिरूपेण समुदितानां मांसादीनां सम्यगनिष्पन्नानां च वृद्धिरुच्यते । (चक्रपाणिदत्त) । समासतः सर्वमतिगुरूष्णतीक्ष्णरूक्षमन्नपानं (गर्भोपघातकरत्वान्न सेवेत) । (अष्टांगसंग्रह, शारीर २) । नवनीतघृतक्षीरैः सदा चैनामुपाचरेत् ॥ उपवासाध्वतीक्ष्णोष्णगुरुविष्टम्भिभोजनम् (त्यजेत्) । (अष्टांगहृदय, शारीर १) । **निषिद्ध आहार और कुछ द्रव्यों के अतियोग के संबंध में चरक में लिखा है**—मद्यनित्या पिपासालुमल्पस्मृतिमनवस्थितचित्तं वा, गोधामांसप्राया शार्करिणमश्मरिणं शनैर्मेहिणं वा, वराहमांसप्राया रक्ताक्षं क्रथनमतिपरुषरोमाणं वा, मत्स्यमांसनित्या चिरनिमेषं स्तब्धाक्षं वा, मधुरनित्या प्रमेहिणं मूकमतिस्थूलं वा, अम्लनित्या रक्तपित्तिनं त्वगक्षिरोगिणं वा, लवणनित्या शीघ्रवलीपलितं खालित्यरोगिणं वा, कटुकनित्या दुर्बलमल्पशुक्रमनपत्यं वा, तिक्तनित्या शोषिणमबलमनुपचितं वा, कषायनित्या श्यावमानाहिनमुदावर्तिनं वा । यद्यच्च यस्य यस्य व्याधेर्निदानमुक्तं तत्तदासेवमानाऽन्तर्वत्नी तन्निमित्तविकारबहुलमपत्यं जनयति । तस्माद्हितानाहारविहारान् प्रजासम्पदमिच्छन्ती स्त्री विशेषेण

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्जयेत् ॥ (चरक, शारीर ८) । डा० निकोलस गर्भवती स्त्री के आहार के संबंध में लिखते हैं—Her diet should be moderate. simple, pure and perfectly healthful; consisting chiefly of brown bread and its equivalents, Fruit, milk, vegetables, with little, if any, flesh meat, no heating or exciting condimends, and no tea, coffee, or alcoholic stimulents. *Esoteric Anthropology*. (२) स्वच्छता—इसमें शरीर की अन्तर्बाह्य स्वच्छता का समावेश होता है । बाह्य स्वच्छता में स्नान के द्वारा त्वचा की सफाई, निर्मल शुभ्र-वस्त्रपरिधान, मलिन विकृतादि दूर रहना, स्नान के समय तथा मलमूत्र विसर्जन के पश्चात् प्रत्येक समय गुह्यांगों की स्वच्छता, इनका समावेश होता है । अन्तःस्वच्छता में मल-मूत्र के आवेगों को न रोकना (वेगविधारणं त्यजेत् । अष्टांग-हृदय), पर्याप्त मात्रा में जल सेवन करके मूत्र के द्वारा विषैले पदार्थों को बाहर निकालना, मलावरोधक आहार को न सेवन करके जिससे कब्ज पैदा न हो ऐसे साग, सब्जी, फल—इनका सेवन करना, मलावरोध होने पर मृदु विरेचन (जैसे, एरंडी का तेल, लिक्विड पैराफिन) से कब्ज को दूर करना, खुली हवा में प्रतिदिन सुबह-शाम थोड़ी देर तक टहलकर फुफ्फुस के द्वारा रक्तशुद्धि करना इत्यादि बातों का समावेश होता है । बहिर्निष्क्रमणम्—यहाँ पर इसका विचार करना आवश्यक है । बाहर जाने का निषेध इस सूत्र में किया गया है । इसका अभिप्राय यह नहीं है कि स्त्री घर के बाहर ही न निकले, न खुली हवा में टहलने के लिए जाय । बहिर्निष्क्रमण का निषेध दो दृष्टि से किया गया है । प्रथम दृष्टि स्थान की होती है । चैत्य, श्मशान, कब्रस्तान, चत्वर, शून्यस्थान, वध्यस्थान इत्यादि मन में उद्वेग, विषण्णता, भय इत्यादि भाव उत्पन्न करने वाले स्थानों में जाने का निषेध इसलिए होता है कि ये भाव माता के द्वारा गर्भ पर भी खराब परिणाम करते हैं । दूसरी दृष्टि स्त्री की होती है । लज्जा स्त्री का एक स्वाभाविक गुण है । स्त्री का यह गुण पुरुषसमाज में जाने पर अधिक प्रकट होता है । उसमें भी यदि स्त्री गर्भवती हो तो अधिकतम स्पष्ट हो जाता है । लज्जा के मारे स्त्री सिर नीचा करके और छाती सिकोड़कर चलती है । ऐसी अवस्था में बहिर्निष्क्रमण से उसको कुछ भी फायदा नहीं हो सकता । इसलिए गर्भवती स्त्री को ऐसे स्थान में न जाना उचित है, जहाँ पर उसको अधिक लज्जा मालूम हो और लज्जा के मारे चलने फिरने में बाधा उत्पन्न हो जाय । देवताओं और साधु-संतों के दर्शन के लिए, कथा पुराण प्रवचनादि धार्मिक कथा सुनने के लिए बाहर जाने में कोई आपत्ति नहीं होती है । प्राचीन काल में स्त्रियाँ इन्हीं कारणों के लिए बाहर जाया करती थीं । आधुनिक काल के समान केवल टहलने के लिए बाहर जाने का रिवाज उस काल में नहीं था । देवता-ब्राह्मण-गुरुपरता जैसे घर में होती थी, वैसे ही बाहर जाकर उनके दर्शनों और पूजाओं द्वारा भी होती थी । इसलिए बहिर्निष्क्रमण का निषेध चैत्यादि स्थानों के लिए तथा जहाँ पर स्त्री को मानसिक स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती, उन स्थानों के लिए समझना उचित है । (३) मनःशान्ति—उत्तम आहार, पर्याप्त गाढ निद्रा, अनुद्वेगकर इन्द्रियार्थ, आस्तिक्य, ये मनःशान्ति प्राप्त करने के उपायों में महत्त्व के उपाय हैं । इनमें 'हृद्यं द्रवं शुचि पर्युषितम्' से उत्तम आहार का दिग्दर्शन, 'शयनास्तरणम्' से रात में उत्तम गाढ निद्रा प्राप्त होने के उपाय का दिग्दर्शन, 'दुर्गंधदुर्दर्शनानि उद्वेजनीयाश्च कथाः, क्रोधभयसंकरांश्च भावान्' इस से अनुकूल इन्द्रियार्थ (चरक में लिखा है—सर्वेन्द्रियप्रतिकूलांश्च भावान् दूरतः परिवर्जयेत् । शारीर ४), 'शान्तिमंगल' से आस्तिक्य दिग्दर्शन किया गया है । गर्भिणी के स्वस्थवृत्त में उसकी मानसिक स्थिति एक महत्त्व का अंग है । यह मनःस्थिति गर्भ के ऊपर कैसे और कितने अंश में परिणाम करती है । यह यद्यपि ठीक नहीं कहा जा सकता तथापि गर्भिणी का मनःस्वास्थ्य गर्भस्वास्थ्य के लिए बहुत आवश्यक है, इसको पाश्चात्त्य पण्डित भी मानते हैं—The mental condition and the sourroundings of the pregnant woman are of importance, in as much as they largely influence her physical well being and hence that of the foetus. A pregnant woman should, as far as possible be sheltered from all influences which tend to give rise excitement, annoyance or depression. *Gellet's Midwifery.* No work should worry her no anxiety disturb her, no lust excite or torment her. *Esoteric Anthropology*. (४) प्रत्यक्ष गर्भघातक कर्म—यद्यपि उपर्युक्त तीनों विषय अप्रत्यक्षतया गर्भ के लिए घातक हो सकते हैं, तथापि उनका प्रत्यक्ष गर्भ से कोई संबंध नहीं है । परंतु अतिव्यवाय, अतिव्यायाम, अधिक भारी बोझ उठाना, उत्कटकासन, वेगविधारण, उदर के ऊपर प्रहार, प्रपीडन, अतिमात्रसंक्षोभक यान में सवारी करना, तीव्र वमन विरेचन ये तथा इस प्रकार के अन्य दारुण कर्म गर्भपात या गर्भस्राव में प्रत्यक्ष सहायता करते हैं ।

संक्षेप में गर्भिणी को पर्याप्त मात्रा में पौष्टिक आहार सेवन करना चाहिए । शरीर की अन्तर्बाह्य स्वच्छता रखनी चाहिए, मन को प्रसन्न और शान्त रखना चाहिए और मन की शान्ति को बिगाड़ने वाले तथा गर्भ के लिए घातक कर्मों से दूर रहना चाहिए ।

विशेषतस्तु गर्भिणी प्रथमद्वितीयतृतीयमासेषु मधुरशीतद्रवप्रायमाहारमुपसेवेत, विशेषतस्तु तृतीये षष्टिकौदनं पयसा भोजयेच्चतुर्थे दध्ना पञ्चमे पयसा षष्ठे सर्पिषा चेत्येके, चतुर्थे पयोनवनीतसंसृष्टमाहारयेज्जाङ्गलमांससहितं हृद्यमन्नं भोजयेत्, पञ्चमे क्षीरसर्पिःसंसृष्टं, षष्ठे श्वदंष्ट्रासिद्धस्य सर्पिषो मात्रां पाययेद् यवागूं वा, सप्तमे सर्पिः पृथक्पर्ण्यादिसिद्धम्, एवमाप्यायते गर्भः, अष्टमे बदरोदकेन बलातिबलाशतपुष्पापललपयोदधिमस्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तैललवणमदनफलमधुघृतमिश्रेणास्थापयेत् पुराणपुरीषशुद्ध्यर्थमनुलोमनार्थं च वायोः, ततः पयोमधुरकषायसिद्धेन तैलेनानुवासयेत्, अनुलोमे हि वायौ सुखं प्रसूयते निरुपद्रवा च भवति, अत ऊर्ध्वं स्निग्धाभिर्यवागूभिर्जाङ्गलरसैश्चोपक्रमेदाप्रसवकालात्; एवमुपक्रान्ता स्निग्धा बलवती सुखमनुपद्रवा प्रसूयते ॥३॥

(गर्भिणी का मासानुमासिक आहार-क्रम—) विशेषतया गर्भिणी प्रथम, द्वितीय और तृतीय महीने में मधुर, शीतवीर्य, तरलभूयिष्ठ आहार सेवन करे। विशेष करके तीसरे महीने में साँठी चावल के भात को दूध के साथ खिलावे, चौथे (महीने) में दही से, पाँचवें (महीने) में (फिर) दूध से, छठे (महीने) में घी से ऐसा कुछ आचार्यों का कथन है। चौथे महीने में दूध और मक्खन के साथ, जांगल (प्राणियों के) मांस से युक्त हृद्य (रुचिकर) अन्न खिलावे। पाँचवें (महीने) में दूध और घी से युक्त (अन्न खिलावे)। छठे (महीने) में गोखरू से सिद्ध घी या यवागू मात्रानुसार पिलावे। सातवें में पृथक्पर्णी (विदारिगन्धादि गण) आदि द्वारा साधित घृत (पिलावे)। इस प्रकार गर्भ परिवर्धित होता है। आठवें में बला, अतिबला, शतपुष्पा, पलल, दूध, दही का पानी, तेल, नमक, मैनफल, शहद और घी (इन वस्तुओं) से मिश्रित बेर के क्वाथ से पुराने मल के विशोधन के लिए तथा (अपान) वायु के अनुलोमन के लिए आस्थापन (निरूहबस्ति) करावे; उसके पश्चात् दूध और मधुर (गण की ओषधियों के) काढे से सिद्ध किये हुए तेल का अनुवासन करावे। वायु अनुलोम होने पर (गर्भिणी स्त्री बालक को) सुख से जन्म देती है और उपद्रवविरहित होती है। इसके पश्चात् प्रसव काल तक स्निग्ध यवागुओं और जांगल (प्राणियों के मांस) रसों द्वारा (उसकी) चिकित्सा करे। इस प्रकार (प्रथम मास से प्रसव काल तक) उपक्रान्ता (गर्भिणी) स्निग्ध और बलवान् (होकर) उपद्रव के सिवा सुख से प्रसूत होती है ॥३॥

वक्तव्य—इस सूत्र में गर्भिणी का मासानुमासिक आहारक्रम वर्णन किया है। इत्येके—यह मतभेद 'विशेषतस्तु तृतीये षष्टिकौदनम्' से 'षष्ठे सर्पिषा' तक है। पृथक्पर्णी—पृश्निपर्णी; बिदारिगन्धादिगणगत ओषधि। आदि शब्द से विदारिगन्धादिगण का ग्रहण कर सकते हैं। पलल—पललशब्देनात्र ग्राम्यजाङ्गलमांसयोरेव परिग्रहः क्रियते। अत्र बलादीनां चतुर्णां शरावमितः क्वाथः पयःप्रभृतीनां त्रयाणामर्धशरावो मधुतैलघृतानां प्रत्येकशः कर्षो लवणमदनयोस्तु शाणश्चालमास्थापनाय ॥ (हाराणचन्द्र)।

सातवें महीने से उदर पर किक्किस (तीसरे अध्याय के १५वें सूत्र का वक्तव्य देखो) तथा कण्डु उत्पन्न होती है। उसकी चिकित्सा चरक में लिखी है—तत्र कोलोदकेन नवनीतस्य मधुरौषधसिद्धस्य पाणितलमात्रं काले कालेऽस्यै पानार्थं दद्यात्। चन्दनमृणालकल्कैश्चास्याः स्तनोदरं विमृद्नीयात्। शिरीषधातकीसर्षपमधुकचूर्णैर्वा, कुटजार्जकबीजमुस्तहरिद्राकल्कैर्वा, निम्बकोलसुरसमञ्जिष्ठाकल्कैर्वा, पृषतहरिणशशरुधिरयुतया त्रिफलया वा; करवीरपत्रसिद्धेन तैलेनाभ्यङ्गः, परिषेकः पुनर्मालतीमधुकसिद्धेनाम्भसा, जातकण्डुश्च कण्डूयनं वर्जयेत्त्वग्भेदवैरूप्यपरिहारार्थम्, असह्यायां तु कण्डूमुन्मर्दनोद्घर्षणाभ्यां परिहारः स्यात्। मधुरमाहारजातं वातहरमल्पमस्नेहलवणमल्पोदकानुपानं च भुञ्जीत। (शारीर ८)। अनुवासयेत्—चरकसंहिता में अनुवासनबस्ति के लिए प्रयुक्त तैल से गर्भिणी की योनि में तैलपिचु रखने के लिए लिखा है—अतश्चैवास्यास्तैलात् पिचुं योनौ प्रणयेद्गर्भस्थानमार्गस्नेहनार्थम्॥ योनि में रखने की ओषधियुक्त रुई को मेडिकेटेड टम्पून (Medicated tampoon) कहते हैं। गर्भस्थानमार्ग स्नेहन करने के लिए योनि में तैलपिचु (Oiled tampoon) रखने की कृति में बहुत व्यावहारिक तत्त्व भरा है। तैलपिचु एक प्रकार से योनिमार्ग का अभ्यंग है। अभ्यंग से जैसे त्वचा मृदु होती है, उसकी रूक्षता दूर होती है, स्फुटन नहीं होता, वह तनाव सहन कर सकती है, वैसे ही तैलपिचु से योनिमार्ग मृदु होता है, उसकी रूक्षता दूर होती है, उसमें स्फुटन नहीं होता और वह तनाव सहन कर सकता है। ये सब गुण प्रसूति के समय योनिमार्ग में आवश्यक होते हैं क्योंकि उस समय उसमें काफी तनाव पैदा होता है। यदि उसमें मृदुता और तनाव सहन करने की शक्ति न हो तो उस समय उसमें विदार (Laceration) उत्पन्न होने का डर रहता है। आधुनिक काल में प्रसूति के समय जननेन्द्रिय की सफाई करने के लिए, विविध प्रकार के जीवाणुनाशक या उपसर्गनाशक ओषधियों के घोल प्रयुक्त करते हैं। इनके संबंध में इस बात पर ध्यान दिया जाता है कि इनके प्रयोग से जननेन्द्रिय में सख्ती पैदा न हो जाय, बल्कि कुछ स्नेहन हो। इस दृष्टि से रसकपूर का घोल यद्यपि उत्तम जीवाणुनाशक होता है तथापि सख्ती पैदा करने के कारण पसंद नहीं किया जाता, क्योंकि उसके उपयोग से विदारण होने की संभावना होती है। लायसोल (Lysol) इसलिए पसंद किया जाता है कि उससे कुछ मृदुता तथा स्नेहन पैदा होता है—In all cases, the external genitals must be well washed by the nurse with soap and water and then bathed with an unirritating antiseptic. For this purpose lysol is most suitable. The use of corrosive sublimate for this purpose during labour is contraindicated, as it constringes the parts, and so makes them prone to lacerate. *Gellet's Midwifery*. इसलिए, नौवें महीने से योनि में तैलपिचु धारण करने की पद्धति प्रसूति के समय अपत्यमार्ग विदारण से बचने के लिए बहुत उत्तम है, इसमें कोई संदेह नहीं है और इसका उपयोग जरूर करना चाहिए। रात में सोने के समय इसका प्रयोग करने से और सुबह के समय उसको निकाल देने से स्त्री को किसी प्रकार की असुविधा या

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तकलीफ या बेचैनी नहीं मालूम होगी। अनुपद्रवा प्रसूयते— यहाँ पर केवल प्रसूति के समय के उपद्रवों का विचार करना है। प्रसूति के पूर्व और पश्चात् जो उपद्रव होते हैं, उनका विचार आगे १८वें श्लोक में किया गया है। प्रसव-कालीन उपद्रव अधिकतर गर्भाशय की विकृति से उत्पन्न होते हैं। गर्भाशय में अत्यंत प्रबल संकोच उत्पन्न होने से साहस प्रसव (Precipitate labour) होता है, जिसमें अत्यल्पकाल में बालक तोप के गोले की तरह अचानक बाहर फेंका जाता है। यदि अपत्यमार्ग ठीक विस्फारित न हुआ हो तो उसमें विदारण पैदा होता है और प्रसवोत्तर रक्तस्राव भी होता है। कभी कभी गर्भाशय में कमजोरी के कारण संकोच उत्पन्न ही नहीं होते या अल्पबल होते हैं, जिससे गर्भ आशय के बाहर नहीं आ सकता। इस संकोच-हीनावस्था को गर्भाशयासंग (Uterine inertia) कहते हैं। इसका उल्लेख सूत्रस्थान के ३३वें अध्याय के १२वें श्लोक में 'गर्भकोष परासंग' करके किया गया है। इस गर्भाशय की विकृति के सिवा प्रसव के समय अपत्यमार्ग का विदारण भी होता है। इस सूत्र में तथा इसके पहले और तीसरे अध्याय के १६वें सूत्र में बताये हुए आहार-विहार के अनुसार गर्भिणी की परिचर्या करने से कालप्रसवपूर्व प्रसवकालीन तथा कुछ अंश में प्रसवोत्तर उत्पन्न होने वाले उपद्रव टल जाते हैं।

नवमे मासि सूतिकागारमेनां प्रवेशयेत् प्रशस्ततिथ्यादौ, तत्रारिष्टं ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणां श्वेतरक्तपीतकृष्णेषु भूमिप्रदेशेषु बिल्वन्यग्रोधतिन्दुकभल्लातकनिर्मितं सर्वागारं यथासङ्ख्यं तन्मयपर्यङ्कमुपलिप्तभित्तिं सुविभक्तपरिच्छदं प्राग्द्वारं दक्षिणद्वारं वाऽष्टहस्तायतं चतुर्हस्तविस्तृतं रक्षामङ्गलसंपन्नं विधेयम् ॥४॥

(सूतिकागार—) नौवें महीने में शुभ तिथ्यादि पर उसको सूतिका घर में प्रवेश करावे। यह सूतिकागृह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों (की स्त्रियों) के लिए क्रमशः सफेद, लाल, पीली और काली भूमि पर बेल, बरगद, तिन्दुक और भिलावे (की लकड़ी) से निर्मित, इन्हीं (की लकड़ी) से निर्मित पलंगयुक्त, जिसकी दीवाल लीप-पोतकर अच्छी तरह साफ की गई हो, जिसमें (प्रसवोपयोगी सब) सामग्री यथास्थान रक्खी गई हो, जिसका द्वार पूर्व या दक्षिण की ओर हो, आठ हाथ लम्बा और चार हाथ चौड़ा और रक्षामंगलसंपन्न, ऐसा बनावे ॥४॥

वक्तव्य—सूतिकागारम्—यत्र गर्भिणी प्रसूता यत्र च तिष्ठति तत् सूतिकागारमुच्यते। (चक्रपाणिदत्त)। नवमे मासि— नौवें महीने में गर्भिणी सूतिकागृह का आश्रय करती है, इसलिए सूतिकागृह आठवें महीने के अन्त तक सब तैयार हो जाना चाहिए—प्राक् चैवास्या नवमान्मासात् सूतिकागारं कारयेत्। (चरक)। प्रशस्ततिथ्यादौ—तिथ्यादि पंच अंगों की प्रशस्तता जिस समय हो, उस समय पर—तिथिर्वारश्च नक्षत्रं योगः करणमेव च ॥ नौवाँ महीना प्रारंभ होने पर सर्वप्रथम जो तिथ्यादि शुभ योग मिलेगा, उस योग पर। चरकसंहिता में सूतिकागार प्रवेश की विधि निम्न प्रकार से वर्णन की गई है—ततः प्रवृत्ते नवमे मासे पुण्येऽहनि प्रशस्तनक्षत्रयोगमुपगते प्रशस्ते भगवति शशिनि कल्याणे च करणे मैत्रे मुहूर्ते शान्तिं हुत्वा गोब्राह्मणमग्निमुदकं चादौ प्रवेश्य गोभ्यस्तृणोदकं मधुलाजांश्च प्रदाय ब्राह्मणेभ्योऽक्षतान् सुमनसो नान्दीमुखानि च फलानीष्टानि दत्त्वोदकपूर्वमासनस्थेभ्योऽभिवाद्य पुनराचम्य स्वस्ति वाचयेत्। ततः पुण्याहशब्देन गोब्राह्मणं समनुवर्तमाना प्रदक्षिणं प्रविशेत् सूतिकागारम्। (शारीरस्थान ८)। सूतिकागार में एक बार प्रवेश करने पर स्त्री वहीं पर प्रसवकाल तक रहती है और उसके पास हमेशा प्रजननकुशल स्त्रियाँ भी रहा करती हैं—तत्रोदीक्षेत सा सूतिं सूतिका परिवारिता। (अष्टांगहृदय)। अहमत्र प्रसविष्ये इति चेतसि विधाय सा गर्भिणी तत्राऽसीदित्यर्थः। किंभूता सूतिका परिवारिताऽनेकवारप्रसवानुभूततत्कालोचितव्यवहारकुशलाभिः स्त्रीभिः परिवारिता। (अरुणदत्त)। अरिष्टम्—सूतिकागारम्—अरिष्टशय्यां परितो विसारिणा सुजन्मनस्तस्य निजेन तेजसा। (रघुवंश ३)। ब्राह्मणक्षत्रिय इत्यादि—चरकसंहिता में ब्राह्मणक्षत्रियादि वर्णों की दृष्टि से भूमि और काष्ठ की प्रशस्तता न बतलाकर साधारण प्रशस्तता बतलाई है—अपहृतास्थिशर्कराकपाले देशे प्रशस्तरूपरसगन्धायां भूमौ बैल्वानां काष्ठानाम् आगारं कारयेदिति संबंधः। (चक्रपाणिदत्त)। तैन्दुकैङ्गुदकानां भल्लातकानां वारुणानां खादिराणां वा। (चरक)। सर्वागारम्—प्रसूतिगृह का जो भाग लकड़ी से बनाया जाता है—जैसे, चौखट, किवाड़, खिड़कियाँ, अलमारियाँ, खूँटियाँ इत्यादि—वह सर्व भाग जिसमें उपर्युक्त वृक्षों की लकड़ी से निर्माण किया गया है। यथासंख्यम्—इसका संबंध भूमि, लकड़ी और पलंग के साथ है। अभिप्राय यह है कि ब्राह्मण के लिए भूमि श्वेतवर्ण हो, मकान की लकड़ी बेल की हो, और खटिया भी उसी की बनाई जाय। इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र का भी समझ लेना चाहिए। सुविभक्तपरिच्छदम्—जिसमें प्रसवोपयोगी साधन-सामग्री (परिच्छद) इस प्रकार विभक्त याने व्यवस्थित रक्खी हुई है कि आवश्यकता के समय वहाँ की प्रत्येक वस्तु आसानी से और शीघ्रता से मिल सके। चरकसंहिता में प्रसवोपयोगी साधन-सामग्री का वर्णन निम्न प्रकार से मिलता है—तत्र सर्पिस्तैलमधुसैन्धवसौवर्चलकालविड्लवणविडङ्गकुष्ठकिलिमनागरपिप्पलीपिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीमण्डूकपर्ण्यैलालाङ्गलीवचाचव्यचित्रकचिरबिल्वहिङ्गुसर्षपलशुनकतककणकणिकानीपाऽतसीबल्वजभूर्जकुलत्थमैरेयसुरासवाः सन्निहिताः स्युः, तथाऽश्मानौ द्वौ, द्वे च (कु)ण्डमुसले, द्वे उदूखले, खरवृषभश्च, द्वौ च तीक्ष्णौ सूचीपिप्पलकौ सौवर्णराजतौ, शस्त्राणि च तीक्ष्णायसानि, द्वौ च बिल्वमयौ पर्यङ्कौ, तैन्दुकैङ्गुदानि च काष्ठान्यग्निसन्धुक्षणानि वसनालेपनाच्छादनापिधानसंपेदुपेतम् ॥ दक्षिणद्वारं वा—चरक में दक्षिण के बदले उत्तर दिशा में द्वार बतलाया है— प्राग्द्वारमुदग्द्वारं वा। साधारणतया दक्षिण दिशा यम की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होने के कारण अशुभ मानी जाती है। अष्टहस्तायतं चतुर्हस्तविस्तृतम्—आधुनिक परिभाषा के अनुसार २१-१४ फुट लम्बा और ६-७ फुट चौड़ा प्रसवागार होगा। केवल स्त्री के लिए यह स्थान पर्याप्त हो सकता है, परंतु प्रसूति की दृष्टि से यह स्थान अपर्याप्त मालूम होता है। चरकसंहिता में कई जगह गृहों का वर्णन किया गया है। जैसे—कुमारागार, सूतिकागार (शारीर ८), वैद्यगृह इत्यादि। परंतु कहीं पर रोगी के लिए स्थान की मर्यादा नहीं बताई है। इनमें वैद्यगृह का वर्णन एक दृष्टि से आदर्श वर्णन है, इसलिए उसका वर्णन नीचे दिया जाता है—दृढं निवातं प्रवातैकदेशं सुखप्रविचारमनुपत्यकं धूमातपजलरजसामनभिगमनीयमनिष्टानां च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धानां सोदपानोदूखलमुसलवर्चःस्थानस्नानभूमिमहानसं वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं गृहमेव तावत् पूर्वमुपकल्पयेत्। (सूत्रस्थान १५)। जहाँ पर स्त्री तीन चार महीनों तक रहेगी वहाँ पर स्नान करना, पाखाना, पेशाब करना, रसोई बनाना, उपर्युक्त सब साधनसामग्री रखना, प्रसूता के पास रहने वाली कोई स्त्री या नौकरानी का रहना इन सबों के लिए स्थान की आवश्यकता होगी। केवल एक गर्भवती या प्रसूता स्त्री की खटिया रखने से काम नहीं चलेगा। चरकसंहिता में इन सब बातों का विचार करके लिखा है—सूतिकागारं कारयेत्, वास्तुविद्याहृदययोगाग्निसलिलोदूखलवर्चःस्थानस्नानभूमिमहानसमृतुसुखं च॥ अर्थात् सूतिकागृह काफी विस्तृत होना चाहिए, जिसमें स्नानगृह, वर्चःगृह (पाखाना), महानस (रसोई घर) तथा अन्य आवश्यक कार्यों के लिए काफी स्थान हो। इसके सिवा सब साधन-सामग्री रखने पर भी उसमें संचार करने के समय किसी प्रकार की कठिनाई न होनी (सुखप्रविचारम्) चाहिए। इससे यह स्पष्ट होगा कि ८×४ हाथ का यहाँ पर वर्णन किया हुआ सूतिकागृह स्त्री के उठने, बैठने, लेटने का ही स्थान समझना चाहिए। उसमें स्नानगृहादि का समावेश नहीं हो सकता। रक्षामङ्गलसंपन्नम्—भूत, प्रेत, पिशाचादि से रक्षा करने के लिए ऋग्यजुःसामाथर्ववेद के मंत्रों का पाठ तथा सर्षपारिष्ट का धूपन (सूत्रस्थान १९-२६,२७ देखो) इत्यादि का प्रबंध जिसमें किया गया हो—धूपितार्चितसंमृष्टं मशकाद्यपवर्जितम्। ब्रह्मघोषैः सवादित्रैर्वादितं वेश्म शस्यते॥ (काश्यपसंहिता, जातिसूत्रीय शारीराध्याय)। किंवा चरक के अनुसार निम्न प्रबंध जिसमें किया गया हो—आदनीखदिरकर्कन्धुपीलुपरूषकशाखाभिरस्या गृहं समन्ततः परिवारयेत्। सर्वतश्च सूतिकागारस्य सर्षपातसीतण्डुलकणकणिकाः प्रकिरेयुः। द्वारे च मुसलं देहलीमनुतिरश्चीनं न्यसेत्। वचाकुष्ठक्षौमकहिङ्गुसर्षपातसीलशुनकणकणिकानां रक्षोघ्नसमाख्यातानामोषधीनां पोट्टलिकां बद्ध्वा सूतिकागारस्योत्तरदेहल्यामवसृजेत्, तथैव च द्वयोर्द्वारपक्षयोः। अनुपरतप्रदानमङ्गलाशीःस्तुतिगीतवादित्रं च तद्वेश्म कार्यम्। (शारीर १०)। सूतिकागार कैसा होना चाहिए?—चरक तथा सुश्रुत में सूतिकागृह का जो वर्णन मिलता है, उससे यह स्पष्ट होता है कि उस समय प्रसूति के लिए रहने के मकान से स्वतन्त्र स्थान बनाने की पद्धति प्रचलित थी। प्रत्येक समय अस्थायी स्वरूप की झोपड़ी की तरह ये सूतिकागृह बनाये जाते थे, ऐसा मालूम होता है। आधुनिक परिस्थिति में इस प्रकार का प्रबंध कुछ अव्यावहारिक मालूम पड़ता है। परंतु यदि इस प्रकार के गृह स्थायी और पक्के बनवाये जायँ तो इनकी तुलना आधुनिक प्रसूति-गृहों (Maternity-homes) के साथ की जा सकती है। कुछ भी हो यह पद्धति उत्तम है, इसमें कोई शक नहीं है। आधुनिक प्रसूतिगृह सब साधन-सामग्री से सुसज्ज, सुप्रकाशयुक्त, स्वच्छ और हवादार होते हैं। अब हमारे यहाँ इस समय प्रसूति के लिए घर में ही एक कमरा दिया जाता है। यदि उसकी ओर ध्यान दिया जाय तो वह अत्यंत अँधेरा, हवाबंद और अत्यंत गन्दा होता है। इस प्रकार का स्थान प्रसूति के लिए देना अस्वास्थ्यजनक ही नहीं, बल्कि हानिकारक है। इसके साथ साथ आधुनिक प्रसूति-गृहों में पाश्चात्यों की देखा-देखी प्रकाश और हवा का जो अतियोग होता है, वह भी ठीक नहीं है। प्रसूति-गृह में प्रकाश और हवा का प्रबंध प्रसूता स्त्री और नवजात बालक की दृष्टि से होना आवश्यक है। प्रसूता स्त्री बीमार नहीं है कि उसके शरीर से तथा श्वास-प्रश्वास से खराब चीजें और वायु अधिक मात्रा में निकलती हों। प्रसूता स्त्री प्रसववेदना और रक्तस्राव के कारण अत्यंत परिश्रान्त होती है। प्रसूता स्त्री के रोग के असाध्य होने के कारणों में इसी कारण का ही प्राधान्य से निर्देश किया गया है—गर्भवृद्धिक्षयितशिथिलसर्वधातुत्वात्, प्रवाहणवेदनाक्लेदनरक्तनिःस्रुतिविशेषशून्यशरीरत्वाच्च। (चरक)। परिश्रान्त दुर्बल मनुष्य आराम करने के लिए हमेशा हवा के झोंके-झपाटे से दूर (निवात) और कुछ अँधेरा ही स्थान पसंद करता है, और डाक्टर या वैद्य भी ऐसे ही स्थान में आराम करने की सलाह उसको देते हैं। अब गर्भ की दृष्टि से विचार किया जायगा। गर्भ महीनों तक हवा और प्रकाश के लिए बंद स्थान में रहता है। जन्म के पश्चात् वह हवा और प्रकाश के स्थान में आता है। जन्म के पश्चात् बालक को हवा की आवश्यकता होती है परंतु प्रकाश की नहीं होती। एक दृष्टि से देखा जाय तो उसकी आँखें प्रकाश सहन करने की स्थिति में नहीं होतीं। निम्न श्रेणी के प्राणियों में, पक्षियों में, बच्चों की आँखें कुछ दिनों तक बंद रहती हैं, पश्चात् धीरे धीरे खुलती हैं। इसमें तत्त्व है। सभी लोक जानते हैं कि जो मनुष्य सजा होने के कारण अँधेरी कोठरी में महीनों तक रहा है, वह मनुष्य छुटकारा होने पर भी प्रकाशयुक्त स्थान में जाना पसंद नहीं करता और न उसकी आँखें प्रकाश को सहन कर सकती हैं। अगर जबरदस्ती वह मनुष्य अँधेरी कोठरी से प्रकाश के स्थान में लाया जाय तो उसकी आँखें खराब होने की संभावना होती है। जिसको बहुत दिनों से अन्न नहीं मिल रहा है, या जिसने बहुत दिनों तक अन्न-सत्याग्रह किया है, उसको प्रारंभ से ही भरपेट अन्न देने की सिफारिश कोई नहीं करेगा, क्योंकि उससे अन्नसत्याग्रही के नाश होने का डर होता है। यही संबंध बालक की आँखों में और प्रकाश में होता है, और होना भी चाहिए। परंतु इस बात की ओर पाश्चात्य ढंग के अनुसार प्रसूति-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गृहों का प्रबंध करने वाले लोगों का बहुत कम ध्यान जाता है। इन बातों में आयुर्वेद का मत सुवर्णमध्यम (Golden mean) के समान ग्रहण करने योग्य है। आयुर्वेद में इनके स्थान हमेशा प्रवातैकदेश, निवात, आतपवर्जित और अतमस्क होने चाहिएँ, ऐसा आदेश किया जाता है— प्रशस्तवास्तुनि गृहे शुचौ आतपवर्जिते। निवाते न च रोगाः स्युः शारीरागन्तुमानसाः॥ (सुश्रुत, सूत्रस्थान १९-३)। इस श्लोक का वक्तव्य भी देखो। वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं रम्यमतमस्कं निवातं प्रवातैकदेशं कुमारागारं कुर्यात्॥ (चरक, शारीर १०)। इसका मतलब यह है कि सूतिकागार में एक रास्ते से हवा आती जाती रहे, जिससे कमरे के भीतर हवा की खुलासगी (Ventilation) अच्छी होती रहे, परंतु हवा के आवागमन का उपसर्ग प्रसूता स्त्री तथा उसका बालक जहाँ पर रहता हो, उस स्थान पर कदापि भी न पहुँच सके। अर्थात् प्रसूता और बालक का स्थान निवात हो और अन्य स्थान में हवा प्रवाह के रूप में बहती रहे। प्रकाश के बारे में भी ऐसा ही होना चाहिए। कमरे में इतना अँधेरा न हो कि भीतर कोई दिखाई ही न दे, तथा इतना असह्य प्रकाश भी न हो कि प्रसूता स्त्री तथा उसके बालक को प्रकाशसंत्रास (Photophobia), याने प्रकाश के कारण आँखें मूँदने की नौबत पैदा हो जाय। प्रकाश के लिए अनभ्यस्त बालक को प्रकाश सहन करने का अभ्यास कराने का बहुत उत्तम विधान आयुर्वेद में वर्णन किया है। वह यह है कि प्रथम महीने में बालक को सूर्योदय के समय सूर्य का और प्रदोष में चन्द्र का दर्शन प्रतिदिन करावे—अथ खलु शिशोर्जातस्य तत्कर्मण्यभिनिर्वृत्ते प्रथम एव मासि कृतरक्षाहोममङ्गलस्वस्त्ययनस्य सूर्योदयदर्शनोपस्थानं, प्रदोषे चन्द्रमसः॥ (काश्यपसंहिता, जातकर्मोत्तर अध्याय)। इस विधि से यह स्पष्ट होगा कि जो दृष्टिकोण ऊपर बतलाया गया है, उसी दृष्टिकोण से बालक का कमरा आतपवर्जित रक्खा जाता है। आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से भी इसमें कोई अवैज्ञानिक बात नहीं मालूम होती, बल्कि युक्ति-युक्त मालूम होती है। संक्षेप में, जैसे कि आयुर्वेद में वर्णन किया गया है, सूतिकागार स्वच्छ, सब साधन-सामग्रियों से सुसज्जित, स्नान-गृहादि सुविधाओं से युक्त, प्रशस्त, सुख-प्रविचारक, ऋतु के अनुसार सुखकर, प्रवात परंतु निवात, आतपवर्जित परंतु अतमस्क, और यदि हो सके तो मुख्य गृह से पृथक् होना उचित है।

जाते हि शिथिले कुक्षौ मुक्ते हृदयबन्धने।
सशूले जघने नारी ज्ञेया सा तु प्रजायिनी॥५॥

(प्रसवसामीप्य के लक्षण—) कुक्षि में शिथिलता उत्पन्न होने पर, हृदय का बंधन मुक्त होने पर और जघन (प्रदेश) में पीड़ा होने पर स्त्री प्रजायिनी समझनी चाहिए॥५॥

वक्तव्य—इस श्लोक में प्रसव समीप आ रहा है, इसके लक्षण बताये हैं। प्रत्यक्ष प्रसव-प्रारंभ के लक्षण नहीं बताये हैं। इनको प्रसवपूर्व लक्षण (Premonitory symptoms) कहते हैं। ये लक्षण प्रसव से लगभग दो सप्ताह के पूर्व उत्पन्न होते हैं। जाते हि शिथिले कुक्षौ— गर्भाशय में गर्भ का आधान होने के पश्चात् मास प्रतिमास गर्भाशय की वृद्धि होती जाती है और उसकी वृद्धि का परिचय भगास्थि के ऊपर प्रतिमास उसकी ऊँचाई नापने से हो जाता है। नौवें महीने के अन्त तक गर्भाशय उदरगुहा में बराबर ऊपर की ओर बढ़ता जाता है (तीसरे अध्याय के १५वें श्लोक के वक्तव्य में गर्भाशयवृद्धि देखो), और माता की कुक्षि याने उदर खूब तन जाती है। इसके बाद गर्भाशय कुछ नीचे की ओर आता है और माता की कुक्षि में कुछ ढीलापन महसूस होने लगता है। मुक्ते हृदयबन्धने—नौवें महीने के अन्त तक गर्भाशय की इतनी वृद्धि होती है कि वह उदरगुहा को प्रायः पूर्णतया व्याप्त करता है और उसका ऊपर का सिरा महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm उदर और वक्ष के मध्य की प्राचीर) के ऊपर दबाव डालता है। इसका परिणाम यह होता है कि गर्भिणी स्त्री को साँस लेने में कठिनाई होती है तथा हृदय महाप्राचीरा पेशी के ऊपर स्थित होने से उसके कार्य में याने संकोच-विकास में कुछ कठिनाई होती है, जिसको स्त्री भी अच्छी तरह महसूस करती है। इस गर्भवृद्धि का परिणाम यह होता है कि स्त्री को अपना हृदयप्रदेश जकड़ा हुआ सा मालूम होता है। गर्भावस्था के अन्तिम दो सप्ताहों में गर्भाशय कुछ नीचे की ओर आता है और उसका उदर में स्थान आठवें महीने के अन्त के बराबर हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि स्त्री का हृदय-बंधन छूट जाता है और उसको श्वास-प्रश्वास में आसानी मालूम होने लगती है। चरकसंहिता में साँस की इस कठिनाई को लक्ष्य में रखकर इस लक्षण का वर्णन 'विमुक्तबन्धनत्वमिव वक्षसः' ऐसा किया गया है। काश्यपसंहिता में कुक्षि अर्थात् गर्भाशय के नीचे आने का स्पष्ट उल्लेख किया है—कुक्षेश्च स्यादवस्रंसस्त्वधोभागस्य गौरवम्। (जातिसूत्रीय शारीराध्याय)। अर्थात् अन्तिम कुछ दिनों में स्त्री को कुछ हलकापन (Lightening) मालूम होता है—During the last two weeks of pregnancy, or occasionally rather earlier, the uterus sinks a little. If the patient has suffered from a sense of oppression and difficulty in breathing, she will now feel more comfortable and breathe with more freedom. This is sometimes spoken off as 'lightening'. *Ten teacher's Midwifery.* हाराणचन्द्र हृदय का अर्थ योनि और हृदयबन्धनमुक्ति का अर्थ गर्भाशयग्रीवामुखविस्तृति (Dilatation of the os) समझते हैं— रोहितमत्स्यस्य मुखाकारत्वेनोपदिष्टा हि योनिरवश्यं हृदयमप्यनुकरोति भूयिष्ठं तदाकारत्वात्। विशेषतश्चापन्ने गर्भे समं गर्भाभिवृद्ध्याऽभिवृद्धा अपि चोपस्थिते प्रजननकाले बहिर्द्वारं प्रत्यक्कुल्यग्रामिकाक्षितत्वेनासन्नमुखी निसर्गत एव विमुक्तबन्धना भवत्यतस्तदिदमुच्यते मुक्त इति। तथा च सिंहो माणवक इतिवद्यौगिकं हृदयशब्दो योनिं लक्षयतीति हृदयबंधने योनिमुखबन्धे मुक्ते अंगुल्यग्रेण स्फुटितत्वेनानुभूत इत्यर्थः।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हाराणचन्द्रजी का अर्थ निम्न कारणों से ठीक नहीं मालूम होता—(१) हृदय का सरल अर्थ कर सकते हैं, सरल अर्थ प्रत्यक्ष स्थिति के साथ भली भाँति मिलता है और किसी प्रकार का विरोध नहीं करता। ऐसी अवस्था में हृदय से योनि समझने का जो अति दूरान्वय किया गया है, उसकी कोई आवश्यकता नहीं मालूम होती। (२) इस श्लोक में जो लक्षण वर्णन किये हैं, वे प्रजायिनी स्त्री के हैं। आगे के सूत्र में जो लक्षण दिये हैं, वे आसन्नप्रसवा के हैं। अर्थात् ये दोनों अवस्थाएँ भिन्न हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। प्रजायिनी स्त्री वह है, जिसका प्रसवकाल समीप आ गया है। प्रत्यक्ष प्रसव के लक्षण उसमें नहीं दिखाई देते। ये लक्षण गर्भिणी स्त्री के घर वालों को सावधान करने के लिए दिये गये हैं, क्योंकि इनके उत्पन्न होने पर प्रसव किसी दिन प्रारंभ हो सकता है। इसलिए ये प्रसवपूर्व लक्षण कहलाते हैं और इन लक्षणों से युक्त काल प्रसवपूर्व स्थिति (Premonitory stage) कहलाता है। इस स्थिति में गर्भाशयमुखविस्तृति नहीं होती है, प्रसव प्रारंभ होने के पश्चात् होती है। इसका विवरण आगे के सूत्र के वक्तव्य में किया जायगा अर्थात् यह लक्षण आसन्नप्रसवा स्त्री के लक्षणों में रखने योग्य है, प्रजायिनी के लक्षणों में रखने योग्य नहीं है। इसलिए इस श्लोक में यह अर्थ ठीक संगत नहीं मालूम होता। (३) अगर मान लिया जाय कि प्रसवपूर्व स्थिति में गर्भाशय मुख की कुछ विस्तृति होती है, जैसे कि जेलेट ने अपनी (*Manual of Midwifery* नामक) पुस्तक में वर्णन किया है, तब भी यह लक्षण केवल बहुप्रसवा (Multiparae) स्त्री में ही दिखाई देता है—In multiparae, the external os usually begins to dilate some days before the onset of labour, so that the finger may be passed a short way into the cervical canal. ये प्रसवपूर्वकालीन लक्षण प्रथमगर्भा स्त्री में अधिक दिखाई देते हैं और अनेकगर्भा स्त्रियों में बहुत कम दिखाई देते हैं या नहीं दिखाई देते; इसका स्पष्ट निर्देश जेलेट करते हैं—In primiparae the symptoms are well marked, in multiparae they may be slight or altogether absent. अब शारीरस्थान में ऋतु, ऋतुकाल, पुरुषसमागम, गर्भाधान, गृहीतगर्भा के लक्षण, प्रसव इत्यादि जो विषय वर्णन किये हैं उनका यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि ये सब विषय स्त्री में प्रथम वार याने उसकी आयु में पहले पहल होने वाली घटनाओं के संबंध में लिखे गये हैं। अर्थात् इनका उपयोग बार बार होने वाली इन घटनाओं में होता है, यह दूसरी बात है। परंतु असल में ये प्रथमगर्भा स्त्री के निमित्त लिखे गये हैं। अर्थात् इस श्लोक के प्रसवपूर्वावस्था के लक्षण भी प्रथमगर्भा स्त्री के ही हैं। अब जेलेट, जो बहुप्रसवा स्त्री में प्रसवपूर्वावस्था में गर्भाशयमुखविस्तृति होती है, ऐसा लिखते हैं। वे कहते हैं कि प्रथमगर्भा स्त्री में इस प्रकार की विस्तृति नहीं होती—In primiparae, there is, as a rule, no dilatation of either the internal or the external os until labour has actually begun. इस विवरण का तात्पर्य यह है कि हृदयबन्धन का अर्थ किसी भी दृष्टि से योनिमुखविस्तृति नहीं हो सकता। सशूले जघने—जघन से यहाँ नाभि और गुह्येन्द्रिय के बीच का भाग, याने पेडू प्रदेश अभिप्रेत है। इस प्रदेश में प्रसवपूर्वकाल में कुछ पीड़ा होती है। यह पीड़ा पचनसंस्थान की खराबी से ही प्रायः हुआ करती है और विरेचन से या कोष्ठशुद्धि करने से दूर होती है। प्रसव के पूर्व होने से इसको प्रसववेदना या आवी (Labour pains) समझते हैं, परंतु यह पीड़ा आवी नहीं है। इसको अंग्रेजी में मिथ्यावी (False pains) कहते हैं। आवी और मिथ्या आवी में भेद—(१) मिथ्यावी प्रसव के पूर्व और आवी प्रसव के समय उत्पन्न होती है। (२) मिथ्यावी आन्त्रगत वायु या अन्य कारण से और आवी गर्भाशयसंकोच से उत्पन्न होती है। (३) मिथ्यावी आन्त्र में और आवी पीठ के नीचे के हिस्से में मालूम होती है। (४) मिथ्यावी का उद्भव अनियमित समय पर और आवी का नियमित समय पर होता है। (५) मिथ्यावी मालूम होने के समय गर्भाशय पर हाथ रखने से वह कड़ा नहीं मालूम होता, परंतु आवी के समय गर्भाशय कड़ा मालूम होता है। (६) यदि गर्भाशय का मुख विस्तृत हुआ हो, जैसे कि बहुगर्भा स्त्री में हुआ करता है, तो उसमें अँगुली डालने से मिथ्यावी के समय गर्भ के आवरण में कोई तनाव नहीं प्रतीत होता, परंतु आवी के समय होता है।

इस तरह प्रसवपूर्व स्थिति में गर्भाशय का कुछ नीचे उतरना, उसके कारण हृदय के ऊपर का दबाव कम होकर श्वास-प्रश्वास में आराम मालूम होना और उदर में कुछ पीड़ा होना ये तीन लक्षण होते हैं। अब इसके बाद प्रसव प्रारंभ होने पर होने वाले लक्षण वर्णन करते हैं। इस प्रसव पूर्वकाल में मलमूत्रशुद्धि पर अधिक ध्यान देना चाहिए। यदि मलावरोध हो जाय तो बस्ति से कोष्ठशुद्धि कर लेनी चाहिए—तत्र (सूतिकागारे) अनुलोमनैराहारविहारैरनुलोमितवातमूत्रपुरीषा प्रसवकालमुदीक्षेत। स्वल्पेऽपि च विण्मूत्रविबन्धे फलवर्तीः प्रणिदध्यात्। (अष्टांगसंग्रह, शारीर ३)।

तत्रोपस्थितप्रसवायाः कटीपृष्ठं प्रति समन्ताद् वेदना भवत्यभीक्ष्णं पुरीषप्रवृत्तिर्मूत्रं प्रसिच्यते योनिमुखाच्छ्लेष्मा च ॥६॥

(आसन्नप्रसवा के लक्षण—) उपस्थितप्रसवा (स्त्री) के कटी (समीपवर्ती) पीठ के पास तथा चारों ओर बार बार पीड़ा होती है, मल (का उत्सर्ग करने) की प्रवृत्ति होती है, मूत्र का स्राव होता है और योनिमुख से श्लेष्मा निकलता है ॥६॥

वक्तव्य—उपस्थितप्रसवा—जिसका प्रसव प्रारंभ हुआ है, ऐसी स्त्री। कटीपृष्ठ—कटीपृष्ठ का संधिस्थान याने त्रिक (Sacrum)—स्फिक्सक्थ्नोः पृष्ठवंशास्थ्नोर्यः संधिस्तत् त्रिकं मतम्। अभीक्ष्णम्—इसका संबंध वेदना, मूत्र और श्लेष्मा का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रसेक तथा पुरीष प्रवृत्ति के साथ होता है। पुरीषप्रवृत्तिर्मूत्रं प्रसिच्यते—प्रसव के समय गर्भ का सिर नीचे की ओर आता है और मलाशय तथा मूत्राशय के ऊपर दबाव डालता है। इसके साथ साथ गर्भाशय में, जो कि मलाशय और मूत्राशय के बीच में हैं, संकोच उत्पन्न होता है। इन कारणों से स्त्री को बारबार मल-मूत्र त्याग करने की इच्छा हुआ करती है। योनिमुखात् श्लेष्मा च—प्रथमगर्भा स्त्री में प्रसव के प्रारंभ से और बहुगर्भा स्त्री में उससे भी कुछ दिन पहले से गर्भाशय का मुख फैलने लगता है। संपूर्ण गर्भावस्था में प्रसवकाल तक योनिमुख बंद रहता है तथा उसमें मार्गावरोधक श्लेष्मा (Operculum) भी भरा रहता है। प्रसव के समय गर्भाशयमुख धीरे धीरे प्रसारित होता है। इसके प्रसारित होने से मुख के पास संसक्त हुआ गर्भावरण (जरायु) मुख से पृथक् होने लगता है। इसके पृथक् होने से कुछ रक्त और लसिका मुख के अभ्यन्तरीय स्थान से निकलने लगती है। इस तरह गर्भाशयमुख के प्रसारित होने से मुखस्थ श्लेष्मा तथा कुछ रक्त योनि से स्रवने लगता है। प्रसवारंभ के रक्तमिश्र श्लेष्मास्राव को शो (Show) कहते हैं। इससे यह पता चलता है कि गर्भाशयमुख प्रसारित हो रहा है। बहुप्रसवा स्त्री में यह लक्षण प्रसवपूर्वकाल में भी मिल सकता है क्योंकि उसके गर्भाशय का मुख कुछ पहले प्रसारित होने लगता है।

प्रसव की अवस्थाएँ—आधुनिक पाश्चात्य व्यवस्था के अनुसार प्रसव तीन अवस्थाओं में विभक्त किया जाता है। (१) प्रसरणावस्था (Stage of dilatation)—गर्भ बाहर निकलने के लिए गर्भाशयमुख काफी चौड़ा होने की आवश्यकता होती है। इस अवस्था में यह मुख धीरे धीरे प्रसारित होता है। प्रथमप्रसवा स्त्री में प्रसारण के लिए अधिक समय (१२ घंटे या इससे अधिक) और अनेकप्रसवा में थोड़ा समय (५–७ घंटे) लगता है। यह अवस्था प्रसववेदना (आवी) के प्रारंभ से गर्भाशयमुख की पूर्ण विस्तृति तक होती है। (२) गर्भजन्मावस्था (Stage of expulsion of the child)—यह अवस्था गर्भाशयमुख की पूर्ण विस्तृति के समय से प्रारंभ होकर गर्भ का जन्म होने पर समाप्त होती है। प्रथमप्रसवा स्त्री में इसका काल साधारणतया १-२ घंटे का और अनेकप्रसवा में १०-१५ मिनट का होता है। (३) अपराजन्मावस्था (Placental stage)—यह अवस्था गर्भजन्म होने से प्रारंभ होकर अपरा के निकल आने पर समाप्त होती है। यदि अपरा को निकलवाने में कुछ सहायता दी जाय तो यह अवस्था १०-१५ मिनट में समाप्त होती है; परंतु कुछ भी मदद न दी जाय तो इसका काल कई घंटों का हो सकता है। साधारणतया हस्तकौशल से ही अपरा निकाली जाती है।

प्रसरणावस्था—इस सूत्र में प्रसरणावस्था के ही लक्षण वर्णन किये गये हैं। इस अवस्था के निम्न लक्षण होते हैं—(१) प्रसववेदना या आवी (labour pains)—इस अवस्था का यह प्रधान लक्षण है और इसी के कारण अन्य लक्षण उत्पन्न होते हैं। प्रसववेदना गर्भाशय के आकुञ्चनों से उत्पन्न होती है। ये आकुञ्चन अनैच्छिक, सान्तर और नियमित होते हैं। प्रारंभ में ये देर में याने आधे आधे घंटे में उत्पन्न होते हैं, अल्पबल और अल्पकालीन होते हैं। धीरे धीरे इनके बीच का काल कम होता जाता है और इनका बल और काल बढ़ता है, जिससे प्रसववेदना उत्तरोत्तर प्रबल और तीव्र होती जाती है। यह प्रसववेदना अनैच्छिक (अपने मन का या इच्छा का जिस पर अधिकार नहीं होता, ऐसी) होने पर भी लज्जा, घबराहट इत्यादि मानसिक विकारों से और मल और मूत्र से भरे हुए मल-मूत्राशय की रुकावट से कम हो जाती है; और गरम पानी की बस्ति, भगपीठ पर दबाव इत्यादि से अधिक हो जाती है। यह वेदना पीठ के निचले हिस्से में याने त्रिक में और उसके आस-पास (कटीपृष्ठं प्रति समन्तात्) इस अवस्था में मालूम होती है—During the first stage of labour the pain is principally referred to the region of the sacrum, *Gellet's midwifery.* वेदना के समय गर्भाशय कड़ा हो जाता है। प्रारंभ में गर्भाशय का आकुञ्चन औसत बीस मिनट पर एक बार होता है। धीरे धीरे यह आन्तराकुञ्चन काल कम होता जाता है और प्रथमावस्था के अन्त में तीन-चार मिनट का होता है। अर्थात् प्रारम्भ में प्रसववेदना प्रत्येक बीस मिनट पर हुआ करती है और धीरे धीरे यह समय कम होकर प्रथमावस्था के अन्त में प्रत्येक तीन-चार मिनट पर हुआ करती है। (२) गर्भाशयमुखविस्तृति (Dilatation of the os)—पेशीतन्तुओं के कार्य की दृष्टि से गर्भाशय के दो विभाग होते हैं—शरीर और ग्रीवा शरीर के पेशीतन्तु गर्भाशय की लंबाई में और ग्रीवा के पेशीतन्तु चौड़ाई में होते हैं। ग्रीवातन्तुओं के संकोच से गर्भाशय का मुख पूर्णतया बंद हो जाता है। प्रसव प्रारंभ होने के पूर्व ये तन्तु संकोचयुक्त अवस्था में रहते हैं, जिससे बाहर से कोई वस्तु गर्भाशय के भीतर नहीं जा सकती, न भीतर का गर्भ बाहर आ सकता है। गर्भाशय-शरीर-तन्तुओं के संकोच से गर्भाशय की भीतरी समाई कम हो जाती है और भीतर का गर्भ बाहर निकालने का कार्य होता है। इस तरह गर्भाशयशरीर और ग्रीवा के पेशीतन्तुओं के कार्य में विरोध होता है। अगर यह विरोध हमेशा के लिए हो तो अनवस्थाप्रसंग उत्पन्न हो जाता। परंतु यह सहज का विरोध होता है। गर्भावस्था में ग्रीवापेशीसंकोच रहता है और शरीरपेशी शिथिलता रहती है, जिससे पूर्णकाल तक गर्भ गर्भाशय में रह सकता है। प्रसवकाल के समय शरीरपेशीसंकोच होता है और ग्रीवातन्तु शिथिलता हो जाती है, जिससे गर्भ के बाहर आने में सहायता होती है। इनकी शिथिलता के कारण तथा ऊपर से गर्भ के दबाव के कारण ग्रीवामुख धीरे धीरे विस्तृत होता जाता है और प्रथमावस्था के अन्त में गर्भनिर्गम के लिए जितनी विस्तृति आवश्यक होती है, उतनी हो जाती है। ग्रीवा और शरीर

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संकोच-विकास का यह विरोध जैसे स्वभाव से उत्पन्न होने वाले संकोच-विकास में होता है, वैसे ही कृत्रिम पद्धति से उत्पन्न किये हुए संकोच-विकास में होता है। कभी कभी प्रारम्भ में गर्भाशय में उत्पन्न होने वाले संकोच कुछ काल के पश्चात् कमजोरी के या अन्य कारण से बंद हो जाते हैं। उस अवस्था में हाथ की अंगुलियों से या यन्त्र की सहायता से ग्रीवामुखविस्तृति करने से गर्भाशय-शरीर में संकोच उत्पन्न होकर प्रसव ठीक हो जाता है। किंवा जब कमजोर संकोच के कारण गर्भाशय ग्रीवामुख की ठीक विस्तृति नहीं होती, तब पिच्युट्रिन (Pituitrin) का इन्जेक्शन देकर गर्भाशय के संकोच जोरदार करने से ग्रीवामुखविस्तृति होकर प्रसव हो जाता है। गर्भाशय के शरीर और ग्रीवा के संकोच-विकास का जो यह नियम है उसको अंग्रेज़ी में ध्रुवधर्म (Law of polarity) कहते हैं। इस प्रकार के सहकारी विरोधी कर्म शरीर के अनेक कर्मों में दिखाई देते हैं—जैसे, आँखों की पुतली फैलने के समय एक प्रकार के तन्तु संकुचित और दूसरे प्रकार के शिथिल हो जाते हैं, तथा पुतली छोटी होने के समय प्रथम शिथिल हुए संकुचित होते हैं और संकुचित शिथिल हो जाते हैं। संक्षेप में यों कह सकते हैं कि शरीरगत सम्पूर्ण कर्मों का नियमन इस प्रकार के सहकारी विरोधी कर्मों के ऊपर निर्भर होता है। कविकुलगुरु कालिदास ने चन्द्र-सूर्य के अस्तोदय को लेकर ब्रह्माण्ड के सम्बन्ध में जो एक नियम बताया है, (शाकुन्तल ४-९) वही नियम निम्नभेद करके शरीर के लिए भी यथार्थ होता है—कर्मद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां देहो नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु। गर्भाशय शरीर संकोच के कारण उसकी ग्रीवा छोटी और उसका मुख काफ़ी विस्तृत हो जाता है। (३) योनिमुख से सरक्त श्लेष्मा का स्राव। इसका विवरण पीछे किया गया है। तीसरा और चौथा लक्षण प्रथमप्रसवा स्त्री में इस समय में ही मिलता है। बहुप्रसवा स्त्री में इससे कुछ पहले भी मिल सकता है। परन्तु यह ध्यान में रखना चाहिए कि ग्रीवामुखविस्तृति उस समय में अधिक नहीं होती। (४) शिरोऽवग्रहण (Fixation of the head)—गर्भाशय के संकोच के कारण उसकी समाई कम होती है तथा गर्भ ऊपर से नीचे को दबाया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि गर्भ का सिर, जो पहले बस्तिगुहा (Pelvis) के किनारे के ऊपर था, नीचे बस्तिगुहा के किनारे पर उचित व्यास पर दृढ हो जाता है। चरकसंहिता में 'बस्तिशिरोऽवगृह्णाति' इस पद का प्रयोग प्रायः इसी अर्थ में किया गया है—स यदा जानीयाद्विमुच्य हृदयमुदरमस्याविशति बस्तिशिरोऽवगृह्णाति त्वरयन्त्येनामाव्यः परिवर्ततेऽधो गर्भ इति। (शारीर १०)। काश्यपसंहिता में भी गर्भशिर ग्रहण का स्पष्ट उल्लेख मिलता है—कालेन चोदितो गर्भो विमुच्य हृदयोदरम्। बस्तिशीर्षमधोभागमवगृह्णाति जन्मनि॥ (जातिसूत्रीय शारीराध्याय)। (५) जरायुविदारण (Rupture of the membranes)—गर्भाशयमुख विस्तृत होने के कारण गर्भावरण का नीचे का आधार टूट जाता है और ऊपर से संकोच के कारण दबाव पड़ता है। इसका परिणाम यह होता है कि मुख की काफी विस्तृति होने पर उसके सामने की जरायु विदीर्ण होकर गर्भोदक बाहर निकलता है—आवीनामनुजन्मातस्ततो गर्भोदकस्रुतिः। (अष्टांगहृदय)। ततोऽनन्तरमावीनां प्रादुर्भावः, प्रसेकश्च गर्भोदकस्य॥ कभी कभी गर्भाशय-मुख पूर्ण विस्फुट होने पर भी जरायु विदीर्ण नहीं होती और गर्भोदक का स्राव नहीं होता। ऐसी अवस्था में योनि में अँगुली डालकर उसके दबाव से सावधानी से जरायु को विदीर्ण करना चाहिए। प्रसव के प्रारम्भ में गर्भाशय में संकोच प्रारम्भ होने पर गर्भ का सिर नीचे की ओर श्रोणी के किनारे पर दबाया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि सिर के सामने का आवरण कुछ जल के साथ पीछे के जल से पृथक् हो जाता है। सिर के सामने जो जल होता है, उसको प्रसवपूर्वजल (Fore-waters) और पीछे जो होता है, उसको प्रसवोत्तर जल (After-waters) कहते हैं। प्रसवपूर्व जल जरायु के साथ सिर के सामने एक छोटी पानी से भरी हुई मोट के समान होता है। इसको पानमोटरी (Bag of membranes) कहते हैं। गर्भ के सिर की अपेक्षा गर्भाशय का मुख विस्तृत करने में यह पानमोटरी बहुत उपयोगी होती है। इसका दबाव गर्भाशय के मुख पर चारों ओर से समान पड़ता है, जिसके कारण गर्भाशय के प्रत्येक संकोच के समय मुख धीरे धीरे विस्तृत होता है। जब पूर्ण विस्तृत हो जाता है, तब पानमोटरी निराधार होने के कारण फूटती है और उसका गर्भोदक योनि के बाहर निकलता है। प्रथमावस्था के अन्त तक पानमोटरी के अविदीर्ण रहने के लिए गर्भ का नीचे की ओर आने वाला अंग और कटीर के नीचे के किनारे में कुछ मेल (Fit) होने की आवश्यकता होती है। जब गर्भ प्रतिलोम या विषम स्थिति में आता है या कटीर टेढ़ा या संकुचित (Contracted pelvis) होता है, उस समय इन दोनों में ठीक मेल न होने से पानमोटरी बहुत पहले फूट जाती है और गर्भोदक बहुत पहले बाहर आता है। इसके निम्न परिणाम होते हैं। गर्भाशय का मुख विस्तृत होने के लिए काफी देर लग जाती है और प्रथमावस्था विलंबित होती है। (२) गर्भ का नीचे का अंग और कटीर में मेल न होने से पीछे के जल को आगे को आने के लिए कुछ मार्ग मिलता है, जिससे पीछे का जल धीरे धीरे स्रवता रहता है और कुछ समय के पश्चात् गर्भाशय के भीतर का गर्भोदक करीब करीब नष्ट हो जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि गर्भाशय के संकोच से गर्भ सीधा दबाया जाता है, जल के द्वारा उसका जो रक्षण होता था वह नहीं होता। इससे कभी कभी गर्भ की मृत्यु हो जाती है। (३) गर्भाशयमुख का किनारा भगास्थि और सिर के बीच में पकड़ जाने का डर रहता है। इस तरह पकड़ जाने पर वह किनारा काफी फूलता है और प्रसव के मार्ग में रुकावट पैदा करता है। ऐसी अवस्था में उस किनारे को अंगुलि से ऊपर की ओर एक तरफ दबा देना चाहिए। कभी कभी जरायु के साथ बालक का जन्म होता है। यदि जरायु आप से आप न विदीर्ण हो या कृत्रिम रीति से विदीर्ण न किया गया हो। आगे १९वें सूत्र का वक्तव्य देखो।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रजनयिष्यमाणां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनां कुमारपरिवृतां पुन्नामफलहस्तां स्वभ्यक्तामुष्णोदकपरिषिक्तामथैनां सम्भृतां यवागूमाकण्ठात् पाययेत्। ततः कृतोपधाने मृदुनि विस्तीर्णे शयने स्थितामाभुग्नसक्थीमुत्तानामशङ्कनीयाश्चतस्रः स्त्रियः परिणतवयसः प्रजननकुशलाः कर्तितनखाः परिचरेयुरिति ॥७॥

(प्रथमावस्था का कर्म—) मङ्गल और स्वस्तिवाचन (पुण्याहवाचन) की हुई, कुमारों से घेरी हुई, हाथ में पुन्नामफल ग्रहण की हुई, तैल से अभ्यङ्ग और गरम पानी से स्नान की हुई, प्रसूत होने वाली स्त्री को बलकर यवागू कण्ठ तक (भरपेट) पिलावे। तदनन्तर मृदु, विस्तीर्ण, (सिरहाने में) तकिया रक्खे हुए बिस्तरे पर टाँगों को सिकोड़कर उत्तान (पीठ के बल) लेटी हुई स्त्री की अशङ्कनीय, वृद्ध, प्रसवकुशल, कर्तितनख चार स्त्रियाँ परिचर्या करें ॥७॥

वक्तव्य—कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनाम्—प्रत्येक महत्त्व के कर्म के पूर्व वेदों के मन्त्रोच्चारपूर्वक पुण्याहवाचन करने की जो विधि है, उसके अनुसार प्रसवकर्म के पूर्व मङ्गल और पुण्याहवाचन करके। कुमारपरिवृताम्—कुमार से यहाँ पुमान् अपत्य अभिप्रेत है। छोटे छोटे बालक स्त्री के चारों ओर रखने से 'अपने को भी पुत्र हो जायगा' इस कल्पना से स्त्री को प्रसववेदना की तकलीफ कम मालूम होगी, इस दृष्टि से यह कर्म किया जाता है। हाराणचंद्र कुमार से छोटे छोटे बाल समझते हैं, जिसमें बालक और बालिकाएँ भी शामिल हो सकती हैं—कुमारपरिवृतामिति हर्षेण क्लेशापवारणार्थमुपदिश्यते इति गम्यते। अतः कुमारशब्देन स्निग्धानां कुमारीणामपि परिग्रहो न्याय्यः॥ पुन्नामफलहस्ताम्—पुँल्लिंगी जिसका नाम हो ऐसा कोई फल जिसके हाथ में हो, ऐसी। ऐसा पुँल्लिंगी फल भी पुत्र की दृष्टि से ही स्त्री के हाथ में दिया जाता है। गर्भ के लिंग की सूचना देने की दृष्टि से पहले भी इस प्रकार का शब्द प्रयोग किया गया है—बाहुल्याच्च पुन्नामधेयेषु द्रव्येषु दौर्हृदमभिध्यायति। (शारीर ६)। हाराणचन्द्र पुन्नाम फल से पुन्नाग समझते हैं—पुन्नामा पुन्नागः, 'पुन्नागः पुरुषस्तुङ्गः पुन्नामा पाटलद्रुमः' इति राजनिघण्टुः। पुन्नामफलहस्तत्वं पुनः सुखप्रसवं प्रत्येनां त्वरयतीत्याचक्षते तदिदमुक्तं पुन्नामेति। पहले पाँचवें श्लोक के वक्तव्य में बताया गया है कि शारीरस्थान की गर्भाधान प्रसवादि घटनाएँ प्रथमगर्भा स्त्री के संबंध में लिखी गई हैं। प्रथमगर्भा स्त्री को तथा उसके पति तथा घर वाले अन्य लोगों को पुत्र उत्पन्न होने की जबरदस्त इच्छा होती है। इसी इच्छा के कारण ही पुंसवन विधि का आविष्कार हुआ है। अर्थात् प्रसव के समय भी उसके आसपास की स्थिति इस प्रकार बनाये रखने की कोशिश की जाती है कि उसको पुत्र उत्पन्न होगा, ऐसा ही विचार उसके मन में हमेशा पैदा हो। प्रत्यक्ष प्रसव के समय भी 'पुत्र हुआ, पुत्र हुआ, धन्य हो' ऐसे शब्द प्रयोग किये जाते हैं—'प्रजाता प्रजाता धन्यं धन्यं पुत्रम्' इति। तथाऽस्या हर्षेणाप्यायन्ते प्राणाः॥ (चरक)। इसलिए यहाँ पर कुमार में पुमान् अपत्य और पुन्नामफल से पुमान्वाचक फल (जिसमें पुन्नाग भी आ सकता है, परंतु अन्य पुँल्लिंगी फल भी चल सकते हैं) ही लेना उचित है। जैसे, अष्टांगहृदय में भी लिखा है—हस्तस्थपुन्नामफलाम्। इसकी टीका में अरुणदत्त लिखते हैं—तथा हस्तस्थं पुन्नाम दाडिमादिफलं यस्यास्ताम्।

उष्णोदकपरिषिक्ताम्—उष्णोदक से गर्भिणी को नहलाने के लिए जेलेट भी कहते हैं—It is also a good thing for the patient to have a warm bath during the premonitary stage. स्नान से शरीर की और जननेन्द्रिय की सफाई होती है, पेशियाँ अधिक कार्यक्षम होती हैं और गर्भिणी प्रसव-वेदनाओं को अच्छी तरह सह सकती है। सम्भृतां यवागूम्—क्षीर, घृत इत्यादि से युक्त होने के कारण पुष्टिकर। प्रसव के परिश्रम में शक्ति देने के लिए यवागू दी जाती है। कृतोपधाने मृदुनि विस्तीर्णे शयने—रूई की मृदु गद्दी पर सिरहाने में तकिया युक्त विस्तृत बिछौना। आधुनिक काल में गद्दी और चादर की रक्षा रक्तादि से करने के लिए उस पर जलाभेद्य म्याकिन्टोश (Mackintosh) बिछाने की पद्धति है। अष्टांगसंग्रह में शयन के ऊपर चर्म प्रच्छद का प्रयोग करने के लिए लिखा है। इसका उपयोग म्याकिन्टोश के समान हो सकता है—ततः ... क्तार्षभचर्मप्रच्छदे मृदुनि भूमिशयने। (शारीर ३)। आभुग्नसक्थीमुत्तानाम्—जानु सिकोड़कर पीठ पर लेटना। इस आसन को डॉर्सल पोजीशन (Dorsal position) कहते हैं। अशङ्कनीयाः—यासां लज्जाभयादिकं न करोति गर्भिणी (डल्हण)। किंवा जिनके शील, शौच, आचार, विनय, सौहार्द, अनुरक्ति इत्यादि गुणों के संबंध में (आगे चरक का वचन देखो) शंका न हो। चतस्रस्त्रियः—चरक ने अष्टांगसंग्रह में अनेक स्त्रियाँ उपस्थित रखने के लिए लिखा है—स्त्रियश्च बह्व्यो बहुशः प्रजाताः। इनके लिए पृथक् पृथक् काम भी बताये गये हैं—(एका) स्त्री पादतोऽस्या निषण्णाया योनिमनुलोममनुसुखमभ्यज्ज्य स्फिजौ पादाभ्यां ... येत्। अन्या (द्वितीया) तु वामकर्णेऽस्या मन्त्रमिमं जपेत् 'क्षितिर्जलम्' इत्यादि (आगे ८वें सूत्र के वक्तव्य के अन्त में देखो) तथा परा(तृतीया)नुशिष्यात्, अनागतायां वेदनायां ... प्रवाहिष्ठाः। तद्वच्चान्यतमा (चतुर्था) स्त्री जातमात्रमेव बालं ... पचरणीयेन विधिनोपपादयेत्। (अष्टांगसंग्रह, शारीर ४)। इसमें संदेह नहीं है कि, काम ये ही हों या आधुनिक काल के अनुसार दूसरे हों, प्रसव के समय अनेक स्त्रियाँ होने से काम करने में सब प्रकार की सुविधा होती है। इसलिए प्रसव के समय अनेक स्त्रियाँ रखने की प्राचीन पद्धति आधुनिक काल में भी अनुकरण करने योग्य है। प्रजनन-कुशलाः—प्रतिपत्तिकुशलाः। (चरक)। गर्भनिष्कासने कुशलाः (इन्दु)। कर्तितनखाः—योनि में हाथ प्रवेश करते समय अंगुलियों के नख व्रण उत्पन्न कर सकते हैं। इसलिए उनको कटवाना बहुत आवश्यक है। इसके सिवा नखों के नीचे बहुत मल (आधुनिक परिभाषा के अनुसार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Septic matter) इकट्ठा होता है, जो योनि में प्रवेश करके रोग उत्पन्न कर सकता है। नाखून काटने पर उनके नीचे इकट्ठा हुआ मल चला जाता है और हाथों की सचमुच सफाई होती है। नाखूनों के अतिरिक्त हाथों के अन्य हिस्से में कोई विशेष खराबी नहीं होती। आधुनिक काल में भी शस्त्रकर्म के पूर्व हाथों की सफाई में नाखूनों के ऊपर ही ज्यादा ध्यान दिया जाता है और काटने के पश्चात् उनको ब्रुश से रगड़कर स्वच्छ किया जाता है। शरीर की स्वच्छता की दृष्टि से आयुर्वेद में हमेशा नाखून कटवाने का उपदेश किया गया है—नीचरोमनखश्मश्रुर्निर्मलांघ्रिमलायनः। (अष्टांगहृदय)। पंचरात्रात्पञ्चखश्मश्रुकेशरोमाणि कर्तयेत्। (योगरत्नाकर)। चरकसंहिता में प्रसवोपयोगी स्त्रियों का वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—स्त्रियश्च बह्व्यो बहुशः प्रजाताः सौहार्दयुक्ताः सततमनुरक्ताः प्रदक्षिणाचाराः प्रतिपत्तिकुशलाः प्रकृतिवत्सलास्त्यक्तविषादाः क्लेशसहिन्योऽभिमताः। चरक के इस वर्णन में 'बहुशः प्रजाताः' यह गुण बहुत महत्त्व का है। जो स्त्री स्वयं कई बार प्रसूत हुई है, वही स्त्री प्रसूति के समय स्त्री को कितना कष्ट उठाना पड़ता है, कितनी लाचारी होती है, कितनी लज्जा (जो कि स्त्री का परम भूषण है) छोड़नी पड़ती है, और इन बातों का परिणाम आसन्नप्रसवा विशेषतया प्रथमप्रसवा स्त्री के मन पर कैसे होता है, इसको समझ सकती है। इसलिए बहुशःप्रजाता स्त्री प्रसव रूप आपत्ति (एक दृष्टि से आपत्ति ही कहना उचित है यद्यपि वास्तव में वह आपत्ति नहीं है) में फँसी हुई स्त्री के साथ जितना सौहार्द, अनुराग और सहसंवेदना (सहानुभूति) प्रकट कर सकती है उतनी सहानुभूति क्वारी, वन्ध्या या बालविधवा स्त्री नहीं प्रकट कर सकती। क्योंकि जैसे 'न हि वन्ध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम्' वैसे ही—कुमारी न विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम्। आधुनिक काल में दाई (Midwife) का व्यवसाय हो गया है, जिसमें फीस लेकर दूसरे का काम किया जाता है। इसमें प्रेम, अनुरक्ति और सहानुभूति का संबंध बहुत थोड़ा होता है। इसके सिवाय ये स्त्रियाँ प्रायः क्वारी, या विधवा या वन्ध्या (स्वाभाविक या कृत्रिम) होती हैं। इसलिए प्रसववेदना से पीडित स्त्री को सान्त्वना देने के बदले ये स्त्रियाँ कई बार उसकी दिल्लगी उड़ाती हुई देखी जाती हैं। यह कथन अधिकतर अस्पताल के लिए लागू है, घर के लिए नहीं। कुछ भी हो, एकाध अपवाद या सुस्वभावी स्त्री को छोड़कर क्वारी या वन्ध्या स्त्री की अपेक्षा बहुशःप्रजाता स्त्री प्रसव के काम के लिए अधिक अच्छी होती है, इसमें कोई संदेह नहीं। प्रत्यक्ष अनुभव का परिणाम मनुष्य के मन पर जैसे होता है, वैसे उस अनुभव की कल्पना करने से नहीं होता। सौहार्दयुक्ता, सततमनुरक्ता, प्रकृतिवत्सलाः—स्निग्धता, अनुरक्ति ये परिचारक के गुण (सूत्रस्थान ३४–२३ और उसका वक्तव्य देखो) हैं। प्रसूता यद्यपि रोगी नहीं है तथापि उसकी परिचर्या रोगी के समान करनी पड़ती है। अर्थात् सौहार्द और अनुराग ये गुण स्त्रियों में बहुत आवश्यक हैं। इनके सिवा और एक गुण प्रसूता की परिचारिका में होना आवश्यक है, जो अन्य परिचारिका में उतना आवश्यक नहीं है। वह गुण है प्रकृतिवत्सलता, याने दिल से बच्चों को प्यार करने का स्वभाव। त्यक्तविषादाः—प्रसव के समय प्रसूता की लाचारी को और दुःख को देखकर विषाद उत्पन्न होता है। उसमें अगर विलम्बित प्रसव, मूढगर्भ, रक्तस्राव इत्यादि आपत्तियाँ खड़ी हो जायँ, तो विषण्णता और भी बढ़ जाती है। विषाद से चेतोभंग होता है—विषादश्चेतसो भङ्ग उपायाभावनाशयोः। अर्जुन को भारतीय युद्ध के पूर्व विषाद हुआ था। विषाद से शरीर की क्या दशा होती है, उसका सुंदर वर्णन भगवद्गीता में मिलता है—सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति। वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते॥ गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते। न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः॥ (प्रथम अध्याय २९–३०)। यदि प्रसव के समय स्त्री की ऐसी अवस्था हो जायगी तो उससे कुछ भी काम नहीं होगा। इसलिए प्रसव कराने वाली स्त्रियों में त्यक्तविषादत्व यह एक महत्त्व का गुण है। अहतवाससः—अष्टांगसंग्रह में उपर्युक्त शब्दों के अतिरिक्त यह शब्द अधिक है। इससे प्रसाविका के कपड़े की स्वच्छता की ओर ध्यान खींचा गया है। प्रसाविका को अपने हाथों और कपड़ों की स्वच्छता पर बहुत ध्यान देना चाहिए। इसका निर्देश 'अहतवासा' और 'कृत्तनखा' से किया गया है। इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि प्रसाविका किसी रोग से पीडित न हो। विशेष करके त्वचा के और मुख तथा श्वसनसंस्थान के रोगों से पीडित होना भयावह होता है। इससे योनि, गर्भाशय दूषित होने का डर होता है। डाक्टर या वैद्य भी अगर प्रत्यक्ष प्रसव में भाग लेने वाले हों तो वे भी मुख या श्वसनसंस्थान के और त्वचा के रोगों से मुक्त और स्वच्छहस्तवस्त्रयुक्त होने चाहिएँ। प्रसाविका के समान प्रसूत होने वाली स्त्री के लिए भी जो जो वस्त्र प्रयोग में आते हैं, वे सब स्वच्छ-निर्मल होने चाहिएँ। प्रसूत होने वाली स्त्री के कपड़े प्रसव के बाद खराब हो जाते हैं, इसलिए उसको प्रसव के समय पुराने गन्दे कपड़े देने का रिवाज कई जगह देखा जाता है। परंतु यह रिवाज बहुत खराब है। भोजन करने के पश्चात् थाली खराब हो जाती है, इसलिए भोजन करने के लिए जब खराब थाली लेने का कहीं पर रिवाज नहीं है तब इसमें इस प्रकार का रिवाज क्यों? भोजन के लिए स्वच्छ थाली की जितनी आवश्यकता है, उससे प्रसव के कपड़ों के लिए कहीं अधिक स्वच्छता की आवश्यकता है। इसलिए प्रसव के साथ संबंध रखने वाली सब चीजें (जैसे—वस्त्र, जल, पात्र, यन्त्र, शस्त्र इत्यादि) का स्वच्छ और निर्मल होना आवश्यक है। आधुनिक काल में ये सब चीजें ऊष्मविशोधन से शुद्ध करके ली जाती हैं।

प्रथमावस्था की व्यवस्था—प्रसववेदना के प्रारंभ से प्रथमावस्था का प्रारंभ होता है। इसका प्रारंभ होते ही गर्भिणी को एरण्ड का तैल या यष्टिमध्वादि चूर्ण या अन्य विरेचन देकर कोष्ठ शुद्धि करना चाहिए और प्रथमावस्था के मध्य में बस्ति देकर मलाशय को खाली करना चाहिए।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इससे गर्भ के रास्ते में मलाशय की रुकावट नहीं होती तथा प्रसव के समय मल से अपत्यमार्ग तथा अन्य वस्त्रादि खराब होने का डर नहीं रहता। कोष्ठशुद्धि ठीक होने से बार बार मलोत्सर्ग करने की प्रवृत्ति कम हो जाती है। इस अवस्था में बार बार मूत्र त्यागने की इच्छा भी होती है। इसके लिए बार बार मूत्र त्यागना ही उचित होता है। यदि गर्भ सिर के दबाव के कारण मूत्र त्यागने में कठिनाई मालूम होती हो तो सलाई से मूत्राशय खाली करना उचित है। मलाशय और मूत्राशय खाली रहने से गर्भ का मार्ग निष्कण्टक हो जाता है। (२) स्नान और जननेन्द्रिय की स्वच्छता—गरम पानी से स्नान और स्नान के समय ही गरम पानी से जननेन्द्रिय की अन्तर्बाह्य स्वच्छता करना। (३) लघु आहार का सेवन—प्रसववेदना में माता की थकावट होती है, इसलिए इस अवस्था में माता को सुपाच्य बलकर आहार देना चाहिए। इस दृष्टि से यवागू देने की पद्धति उत्तम है, क्योंकि यवागू हलकी, बलकारक, तृषा और क्षुधा की शामक होती है—Patients should be encouraged to take light food during the first stage. *Ten Teachers' Midwifery*. काश्यपसंहिता में दुर्बल स्त्री को मद्य देने का एकीय मत दिया है, परंतु काश्यप उसको पसंद नहीं करते—दुर्बलां पाययेन्मद्यमित्येके, नेति काश्यपः। (जातिसूत्रीय शारीराध्याय)। (४) गर्भिणी का आसन—यदि प्रसववेदना बहुत तीव्र हो और माता को थकावट मालूम होती हो तो बिस्तरे पर लेटना ठीक है। परंतु यदि ये मामूली हो तो माता को खड़े रहकर टहलना ही उचित है—कारयेत् जृम्भचंक्रमम्। (अष्टांगहृदय)। जृम्भणं चंक्रमणं च पुनरनुष्ठेयमिति। (चरक)। प्रसववेदना तीव्र होने पर ग्रीवामुखविस्तृति होने में देर नहीं लगती, परंतु जब मंद होती है तब देर लगती है। ऐसी अवस्था में गर्भिणी के खड़ी होकर चल फिरने से गुरुत्वाकर्षण के कारण गर्भोदक तथा गर्भ का दबाव ग्रीवा के ऊपर पड़ता है, जिससे गर्भाशय का मुख विस्तृत होने में सहायता होती है। इसके सिवाय ग्रीवा के ऊपर दबाव पड़ने से तथा उसका मुख विस्तृत होने से गर्भाशय के आकुञ्चन भी जोरदार होने लगते हैं। जृम्भण के समय फुफ्फुस के भीतर साधारण श्वास की अपेक्षा अधिक हवा भीतर जाती है। इसका परिणाम यह होता है कि उदरवक्षमध्यस्थ महा प्राचीरा पेशी अधिक नीचे को जाती है और गर्भाशय को अधिक नीचे की ओर दबाती है। संक्षेप में, जृम्भण और चंक्रमण प्रसववेदना बढ़ाने के अनपायी उपाय हैं—The uterine contractions of the first stage act more advantageously when the patient is in erect posture, as the action of gravitation increases the downward pressure of the ovum. *Jellet's Midwifery*. चरकसंहिता में अन्य आचार्यों का मुसल ग्रहण करके ओखली में धान्य कूटने के व्यायाम का जो मत दिया है, उसका खण्डन वहीं पर भगवान् आत्रेयजी ने किया है। अतः उस मत के अनुसार दारुण व्यायाम इस अवस्था में न करना चाहिए। इसके सिवा यह भी देखा जाता है कि प्रथमावस्था में गर्भिणी स्वयं बिस्तरे पर घंटों तक लेटे रहने की अपेक्षा टहलना ही पसंद करती हैं। प्रथमावस्था की अवधि अधिक होने के कारण यदि गर्भिणी प्रारंभ से ही बिस्तरे पर लेटी रहे तो उसका मन प्रसव जल्दी न होने के कारण कुछ निराशायुक्त और चिंतित हो जाता है, क्योंकि शुरू से ही वह प्रसव होने के फेर में रहती है। टहलने से उसका मन कुछ इधर-उधर जाता है, जिससे वेदना कुछ कम मालूम होती है। तथापि यह वेदना कितनी ही कम क्यों न हो, इससे स्त्री को जरूर कुछ बेचैनी मालूम हो सकती है। ऐसी अवस्था में स्त्री के पीठ, कमर, पार्श्व इत्यादि स्थानों में गरम तैल का मालिश करने से उसको कुछ आराम मालूम होता है—तस्याश्चान्तरा कटीपार्श्वपृष्ठसक्थिदेशानीषदुष्णेन तैलेनाभ्यज्यानुसुखमवमृद्नीयात्। (चरक)। Many women experience a feeling of relief and comfort when the lower part of the back is pressed on or rubbed during a pain. *Ten Teachers' Midwifery*. इसलिए यदि आवश्यक हो तो स्त्री का पृष्ठभाग वेदना के समय मर्दन करना उचित है। इस प्रकार प्रथमावस्था में गर्भिणी की परिचर्या करनी चाहिए। अब द्वितीयावस्था का कर्म वर्णन करते हैं—

अथास्या विशिखान्तरमनुलोममनुसुखमभ्यज्यानुब्रूयाच्चैनामेका—सुभगे प्रवाहस्वेति, न चाप्राप्तावी प्रवाहस्व, ततो विमुक्ते गर्भनाडीप्रबन्धे सशूलेषु श्रोणिवङ्क्षणबस्तिशिरःसु च प्रवाहेथाः शनैः शनैः (पूर्वं), ततो गर्भनिर्गमे प्रगाढं, ततो गर्भे योनिमुखं प्रपन्ने गाढतरमाविशल्यभावात्; अकालप्रवाहणाद् बधिरं मूकं कुब्जं व्यस्तहनुमूर्ध्वाभिघातिनं कासश्वासशोषोपद्रुतं विकटं वा जनयति ॥८॥

(द्वितीयावस्था के कर्म—) अब उन (स्त्रियों) में से एक (स्त्री) उस (गर्भिणी) के अपत्यद्वार पर अनुलोम और सुख से (तैल का) मालिश करके उसको कहे कि हे सुभगे! (अब) प्रवाहण करो, आवी न होने पर प्रवाहण न करो। (प्रथम) गर्भमार्ग का बन्धन खुल जाने पर और श्रोणी, वङ्क्षण और बस्ति शिर में पीडा होने पर धीरे धीरे प्रवाहण करो, गर्भ के बाहर निकलने के समय अधिर जोर से (प्रवाहण करो) और पश्चात् गर्भ योनिमुखद्वार पर पहुँचने पर (योनिमार्ग गर्भ रूप) शल्यविरहित होने तक अत्यधिक जोर से (प्रवाहण करो)। अकाल में प्रवाहण करने से (गर्भिणी) बहरे, गूँगे, कुबड़े, व्यस्तहनु के, सिर पर घातित, कास श्वास और शोष से युक्त अथवा विकृताकारी (अपत्य) को जन्म देती है ॥८॥

वक्तव्य—विशिखान्तरम्—विशिखाया अपत्यमार्गस्यान्तरमभ्यन्तरं विशिखान्तरम्। अपत्यमार्ग का अभ्यन्तर भाग

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

याने योनि—स्त्रीयोनिमनुलोममनुसुखमभ्यज्य । (अष्टांगसंग्रह)। अनुलोममनुसुखमभ्यज्य—ऊपर से नीचे की ओर सहुता से तैल से मालिश करके । प्रवाहण—निकुन्थनं कुरु; 'वाह' प्रयत्ने, इत्यस्य धातोरात्मनेपदिनः प्रयोगः । (डल्हण)। प्रवाहण से गर्भाशय को संकोच के समय चारों ओर से आधार दिया जाता है तथा गर्भाशय नीचे की ओर दबाया जाता है। प्रवाहण में उदर-प्राचीर की पेशियाँ, उदरवक्षमध्य महाप्राचीरा पेशी, वश की पेशियाँ मुख्यतया सहायता (Accessory muscles of labour) करती हैं। इनके सिवा इनका कार्य ठीक होने के लिए शाखाओं की पेशियों से भी सहायता ली जाती है, जो वक्ष और उदर को स्थिर किया करती हैं। इन सहायक पेशियों के संकोच से उदर की समाई कम होकर गर्भाशय में दबाव पड़ता है। जैसे कि मलमूत्रोत्सर्ग के समय कुन्थन से मलमूत्रोत्सर्ग में सहायता होती है, वैसे ही गर्भनिष्कासन के लिए उत्पन्न हुई प्रसववेदना के समय प्रवाहण या निकुन्थन (Bearing down efforts) से गर्भनिष्कासन में सहायता होती है। न चाप्राप्तावी प्रवाहस्व—गर्भनिष्कासन का कार्य आवी का याने गर्भाशयसंकोच का है, प्रवाहण उसमें सहायता करता है । अर्थात् गर्भजन्म में आवी प्रधान और प्रवाहण गौण कारण है। इसलिए जिस समय आवी नहीं होती उस समय प्रवाहण कितने ही जोर से क्यों न किया जाय, वह आवी का काम नहीं कर सकता, व्यर्थ होता है और माता को थकावट पैदा होती है। चरकसंहिता में अकाल प्रवाहण का सुन्दर वर्णन किया है—या ह्यनागतावीः प्रवाहते व्यर्थमेवास्यास्तत् कर्म भवति । यथा हि क्षवथूद्गारवातमूत्रपुरीषवेगान् प्रयतमानोऽप्यप्राप्तकालान्न लभते कृच्छ्रेण वाऽप्यवाप्नोति, तथाऽनागतकालं गर्भमपि प्रवाहमाणा । (शारीर ८) । विमुक्ते गर्भनाडीप्रबन्धे—गर्भस्य नाड्या मार्गस्य प्रबन्धः प्रकर्षेण गतिरोधो यत्र तस्मिन् गर्भनाडीप्रबन्धे गर्भाशयमुखे विमुक्ते प्रस्फुटिते इत्यर्थः ॥ नाडी शब्द यहाँ पर मार्ग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—नाड्यः पंथानो मार्गाः शरीरच्छिद्राणि । (चरक)। संक्षेप में, गर्भाशयमुख पूर्णतया प्रस्फुटित होने पर । गर्भनिर्गमे—गर्भ गर्भाशय से चलित होने पर—स्वस्थानाद्गर्भस्य निःसरणाय गमनं गर्भनिर्गमस्तस्मिन् गर्भनिर्गमे । (डल्हण) । योनिमुखम्—योनि का बाह्य द्वार या भगद्वार (Vulval orifice) । गर्भ को योनिद्वार पर बाहर निकलने के लिए कुछ रुकावट होती है । गर्भाशय मुख से बाहर निकल आने पर गर्भ योनि में आता है । योनि की दीवार श्रोणिगुहाभूमि (Pelvic floor) पर आधारित होती है। यह भूमि पेशियों से बनती है । गर्भाशय के संकोच से तथा प्रवाहण से योनि में आया हुआ गर्भ (अर्थात् गर्भ का सिर) संकोच के मध्यकाल में श्रोणिभूमि पेशियों के द्वारा फिर से ऊपर दबाया जाता है। इस तरह भगद्वार तक आया हुआ गर्भ कई बार फिर योनि में चला जाता है। धीरे धीरे गर्भाशय के जोरदार संकोचों से तथा प्रवाहण से श्रोणिभूमि इतनी तन जाती है कि वह गर्भ को ऊपर दबाने में असमर्थ होती है, जिससे योनिद्वार पूर्णतया विस्फुटित होकर गर्भ का शिर द्वार में स्पष्टतया और पूरा दिखाई देता है। इसको शीर्षदर्शन (Crowning of the head) कहते हैं। गाढतरमाविशल्यभावात्—गाढतरमाप्रसवात् । अष्टांगसंग्रह में स्पष्ट लिखा है—गर्भस्य योनिमुखप्रतिपत्तौ गाढतरमाप्रसवादिति । (शारीर ३)। अर्थात् गर्भ का जन्म होने के समय तक । डल्हणाचार्य 'अपरासहितगर्भप्राप्त्यर्थम्' लिखते हैं। परंतु यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि गर्भ के साथ अपरा बाहर नहीं आती, थोड़ी देर के बाद आती है; इसका स्पष्ट उल्लेख 'अथ प्रसूताया न चेदपरा पतति ततः' (अष्टांगसंग्रह) इस वाक्य में मिलता तथा व्यवहार में देखा जाता है । इसके सिवा अपरापतन के लिए गाढतर प्रवाहण की भी आवश्यकता नहीं होती। वह गर्भाशय के संकोच से ही नीचे चली आती है। यहाँ पर शल्य शब्द का जो प्रयोग किया है वह एक दृष्टि से बहुत योग्य है और उसका तथा गाढतर प्रवाहण का संबंध भी होता है । गर्भ या बालक माता को कितना ही प्यार क्यों न हो, माता की योनि के लिए वह शल्य (Foreign body) रूप होता है और उस शल्य को निकाल देने के लिए प्रवाहण चाहे माता करे या न करे, प्रत्यावर्तन क्रिया (Reflex action) से आप से आप होता है—These expiratory or expulsive efforts are partly voluntary but largely reflex, due to the presence of a foreign body in the vagina. *Ten Teachers' Midwifery.* द्वितीयावस्था की प्रसववेदना—द्वितीयावस्था में गर्भाशय के संकोच अधिक जोरदार होते हैं, अधिक देर तक होते हैं और उनके बीच का समय अल्प होता है। इस अवस्था के अन्त में, याने प्रसव के समय प्रत्येक संकोच एक मिनट या उससे कुछ अधिक होता है और उनके बीच में २–३ मिनट का समय होता है। प्रत्यक्ष गर्भजन्म के समय यह संकोच निरन्तर होता है। इसके सिवा इसके साथ प्रवाहणकार्य आप से आप होता है, क्योंकि गर्भ को बाहर निकालने में केवल गर्भाशय संकोच असमर्थ रहते हैं । इसलिए प्रसव के समय विना कहे भी स्त्री प्रवाहण किया करती हैं । परंतु यदि वह सोच-समझकर ठीक उसी समय अपने संपूर्ण बल से प्रवाहण करे तो और भी अधिक सफलता मिलती है; इसलिए 'प्रवाहस्व, न चाप्राप्तावी प्रवाहस्व' इस प्रकार कहने का रिवाज पड़ गया है। अकालप्रवाहणम्—अप्राप्तावीकालप्रवाहणम्। बधिरं मूकम्—इत्यादि—अकाल प्रवाहण से ये विकार उत्पन्न नहीं हो सकते । अगर जन्म के पश्चात् ये विकार बालक में दिखाई दें तो उनकी उत्पत्ति गर्भवृद्धिकालीन पूर्वकर्म तथा माता के आहार-विहार से समझना चाहिए । इस विषय का विवरण सूत्रस्थान के २४वें अध्याय के ५वें सूत्र के वक्तव्य में, शारीरस्थान के दूसरे अध्याय के ५२–५३वें श्लोकों में तथा उनके वक्तव्य में, तीसरे अध्याय के २२वें सूत्र के वक्तव्य में तथा ४५वें श्लोक और उसके वक्तव्य में किया गया है। वेगोदीरण के समान अकालप्रवाहण अहितकर होता है, इसमें कोई संशय नहीं है—यथा चैषामेव क्षवथ्वादीनां संधारणमुपघातायोपपद्यते,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा प्राप्तकालस्य गर्भस्याप्रवाहणम् । (चरक) । अप्राप्तकाल में प्रवाहण और प्राप्तकाल में अप्रवाहण का परिणाम यह होता है कि प्रवाहण स्वयं गर्भ को बाहर निकाल नहीं सकता और माता को कमजोर बनाता है । प्राप्तकाल में प्रवाहण न करने से प्रसववेदना (गर्भाशय संकोच) निराधार होने से भी कई बार गर्भ को बाहर निकालने में असमर्थ होती है और कई बार असफलता मिलने के कारण गर्भाशय कमजोर हो जाता है । इसका परिणाम गर्भाशय की सुस्ती (Uterine inertia) में और पर्याय से प्रसवविलम्ब में होता है । इसके सिवा और किसी में नहीं । परंतु यही परिणाम कुछ कम नहीं है । इसके सिवा अन्य परिणाम, जो इस सूत्र में बताये गये हैं, गर्भिणी को अकालप्रवाहण से परावृत्त करने की दृष्टि से बताये गये हैं, कार्य-कारण की दृष्टि से नहीं बताये गये हैं ।

द्वितीयावस्था के लक्षण—द्वितीयावस्था का मुख्य लक्षण प्रसववेदना है । यह वेदना यद्यपि पूर्णतया नहीं, तथापि निरन्तर और अत्यंत पीडाकर होती है । उसी के कारण स्त्री की नाडी और साँस कुछ तेज हो जाती हैं तथा बदन पर पसीना आने लगता है । साथ ही साथ गर्भ गर्भाशय से नीचे योनि में और योनि से बाहर फेंका जाता है ।

द्वितीयावस्था की व्यवस्था—प्रथमावस्था में गर्भिणी इधर-उधर टहलती है, परंतु द्वितीयावस्था के प्रारंभ से ही उसको बिस्तरे पर लेटना उचित है । यह बिस्तरा भूमि पर भी हो सकता है, परंतु उससे खटिया या पलंग पर होना अधिक प्रशस्त है क्योंकि पलंग या खटिया पर सहायता करने वाली स्त्रियों को प्रसव के समय सहायता करने में कुछ सुविधा होती है । प्रसव के समय खटिया से भी पलंग अच्छा होता है क्योंकि खटिया में बीच में झोला पड़ता है—आव्यो हि त्वरयन्त्येनां खट्वामारोपयेत्ततः । (अष्टांगहृदय) । अस्यामवस्थायां पर्यङ्कमेनामारोप्य प्रवाहयितुमुपक्रमेत् । (चरक) । प्रसव के लिए पलंग पर स्त्री का आसन आभुग्नसक्थि उत्तान ही (Dorsal position) होता है जैसे कि पिछले सूत्र में वर्णन किया है, किंवा मूढगर्भशस्त्रकर्म में बताया है—उत्तानाया आभुग्नसक्थ्या वस्त्राधारकोन्नमितकट्या । (चिकित्सा १५) । उत्तानासन के सिवा प्रसव के लिए पार्श्वासन (करवट लेटना Lateral position) भी सुविधाजनक होता है । आधुनिक काल में कुछ लोग उत्तानासन को और कुछ पार्श्वासन को पसंद करते हैं । इस आसन में लेटने पर स्त्री को सिरहाने और पैताने से कुछ आधार ग्रहण करके आवी आने पर प्रवाहण का कार्य प्रारंभ करना चाहिए । प्रवाहणयुक्त प्रसववेदना से गर्भ धीरे धीरे गर्भाशय से नीचे योनि में आता है और योनि से बाहर चला जाता है । इसमें योनिद्वार में भी कुछ कठिनता होती है । इस कठिनता को दूर करने के लिए योनिद्वार तथा उसके आस-पास का, विशेषतया नीचे का (मूलाधार पीठ Perineum) भाग मृदु, शिथिल और प्रसरणशील रखने की कोशिश करनी चाहिए । वैसे तो गर्भशीर्षप्रपीडन से इन अंगों में लसिका भरकर इनको मृदु बना ही देती है । इस स्वाभाविक मृदुता से कृत्रिमरीत्या अधिक मृदुता उत्पन्न करना कठिन है । परंतु कोशिश इस बात की की जाती है कि यह स्वाभाविक मृदुता बनाये रहे और इसमें किसी प्रकार की खराबी न होने पावे । आधुनिक काल में इसके लिए गरम पानी में लायसोल (Lysol) का घोल बनाकर उसके बार बार परिसेचन से योनि तथा उसके आस-पास का भाग तर रक्खा जाता है । इस काम के लिए रसकपूर का घोल (Mercury lotion) प्रयुक्त नहीं होता । क्योंकि वह ग्राही होने के कारण जिससे संयुक्त होता है, उसको सख्त बना देता है । आयुर्वेद में योनि की मृदुता रखने के लिए ही विशिखान्तर का अभ्यंग करने के लिए कहा है—योनिमनुलोममनुसुखमभ्यज्य, योनिं पुनः पुनः प्रसाधयेत् । (अष्टांगसंग्रह) । अभ्यंग से मृदुता उत्पन्न होती है, यह सिद्ध बात है—अभ्यङ्गो मार्दवकरः । (चिकित्सा २४) । इसलिए प्रसव के समय योनि का अभ्यङ्ग अपत्यमार्ग में मार्दव उत्पन्न करने के उद्देश्य से ही किया जाता है, इसमें कोई संदेह नहीं है । द्वितीयावस्था में प्रसववेदना के साथ प्रवाहण करने की आवश्यकता होती है और प्रवाहण से गर्भ जल्दी नीचे की ओर आता है । जब वह योनिद्वार पर आता है, तब प्रायः बड़े जोर के साथ बाण या गोली की तरह खट से योनिद्वार के बाहर आता है—निःसार्यते बाण इव यन्त्रच्छिद्रेण सज्वरः । (याज्ञवल्क्यस्मृति २-८३) । Suddenly, the head emerges, comes out like a shot. *Esoteric Anthropology*. इसलिए जब शीर्ष-दर्शन पूर्ण हो जाता है तब प्रसववेदना के साथ प्रवाहण करना उचित नहीं है । इससे योनिद्वार या मार्ग विदीर्ण (Laceration) होने का डर रहता है । योनिद्वार पर गर्भ आने से प्रसववेदनाएँ अत्यन्त तीव्र स्वरूप की हुआ करती हैं, जिससे माता प्रवाहण कर नहीं सकती, परंतु रोने या चिल्लाने लगती है । रोने या चिल्लाने से प्रवाहण का कार्य आप से आप बन्द होता है । इस रुदन या क्रन्दन को योनि का रक्षाकर कर्म (Safety valvœe action) कहते हैं । यह कर्म निसर्गतः हुआ करता है । इसलिए गर्भ के सिर का जन्म होते समय अगर स्त्री रोती या चिल्लाती हो तो उसको कुछ भी न कहना चाहिए । अगर उस समय वह पहले की तरह प्रवाहण करना चाहे तो उसे प्रसववेदना के समय प्रवाहण करना मना करना चाहिए । प्रसववेदना के बीच में जरा-सा प्रवाहण करने पर प्रायः सिर योनिद्वार से बाहर निकलता है और दूसरी प्रसववेदना के समय संपूर्ण बालक बाहर आता है और उसके पश्चात् शेष गर्भोदक और कुछ रक्त निकलता है । गर्भ का जन्म होने पर द्वितीयावस्था समाप्त होती है । प्रथमप्रसवा स्त्री में इस अवस्था का काल १-२ घंटे का होता है और अनेकप्रसवा स्त्री में १५-३० मिनट का होता है । गर्भ का जन्म होने के पश्चात् गर्भाशय नाभि से नीचे आ जाता है ।

द्वितीयावस्था का वैदिक कर्म—**निम्न मन्त्र गर्भिणी स्त्री के कान में पढ़े जाते हैं**—क्षितिर्जलं वियत्तेजो वायुर्विष्णुः प्रजापतिः । सगर्भां त्वां सदा पांतु वैशल्यं च दिशन्तु ते ॥ प्रसूष्व त्वमविक्लिष्ट

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...तिष्ठा शुभानने। कार्त्तिकेयद्युतिं पुत्रं कार्त्तिकेयाभिरक्षितम्॥ (चरक)। अष्टांगसंग्रह में निम्न दो श्लोक और दिये हैं—...मृतञ्च सोमश्च चित्रभानुश्च भामिनी। उच्चैःश्रवाश्च तुरगो मन्दिरे ...वसन्तु ते॥ इदममृतमपां समुद्धृतं वै तव लघुगर्भमिमं प्रमुञ्चतु ...। तदनलपवनार्कवासवास्ते सह लवणाम्बुधरैर्दिशन्तु शान्तिम्॥ ...वा इन च्यवनप्रणीत मन्त्रों से सप्तवार अभिमन्त्रित ...पीने के लिए दिया जाता है—जलं च्यावनमंत्रेण सप्तवारा-...भिमन्त्रितम्। पीत्वा प्रसूयते नारी। (वृन्दमाधव)।

तत्र प्रतिलोममनुलोमयेत्॥९॥

उसमें प्रतिलोम (गर्भ) को अनुलोम करे॥९॥

वक्तव्य—प्रतिलोम—विषम शरीरस्थिति से आया ...आ गर्भ प्रतिलोम कहलाता है। अनुलोमन—विषम शरीर ...सम करके निकालना—गात्रं च विषमं स्थितम्। आंछनोत्पीड-...पीडविक्षेपोत्क्षेपणादिभिः। अनुलोम्य समाकर्षेद्योनिं प्रत्यार्ज-...वितम्॥ (अष्टांगहृदय, शारीर २)। इस विषय का ...धिक विवरण चिकित्सास्थान के मूढगर्भचिकित्सित ...ध्याय में किया गया है।

गर्भसङ्गे तु योनिं धूपयेत् कृष्णसर्पनिर्मोकेण ...पिण्डीतकेन वा, बध्नीयाद्धिरण्यपुष्पीमूलं हस्त-...पादयोः, धारयेत् सुवर्चलां विशल्यां वा॥१०॥

(गर्भाशयसंग की चिकित्सा—) गर्भसंग में काले ...साँप की केंचली या मदनफल (को जलाकर उसके धुएँ) ...से धूपन करे; हाथ-पाँव में हिरण्यपुष्पी का मूल बाँधे; ...अथवा (गल में) सुवर्चला या विशल्या को धारण ...करे॥१०॥

वक्तव्य—गर्भसंग—गर्भ का बाहर न निकलना। ...प्रारंभिक अवस्था में प्रसववेदना शुरू होने पर भी दूसरी ...अवस्था में उसका बाहर न निकलना। इसके निम्न कारण ...होते हैं—(१) गर्भ का प्रतिलोम या विषमस्थिति में ...आना। (२) मलाशय और मूत्राशय की परिपूर्णता। (३) अकालप्रवाहण और प्राप्तकाल में अप्रवाहण। इनके ...सिवा और भी कारण हो सकते हैं। परंतु यहाँ पर उसकी ...ही चिकित्सा बतलाई गई है, उसको देखकर इससे ...अधिक गंभीर कारणों का विचार करने की आवश्यकता ...नहीं होती। प्रथम और द्वितीय कारणों का परिणाम एक ...सा होता है, याने गर्भ के लिए अपत्यमार्ग तंग हो जाता ...है। इसलिए प्रारंभ में बहुत कुछ कोशिश करने पर भी ...गर्भाशय गर्भ को बाहर निकालने में असमर्थ होकर अंत ...में थक जाता है। तृतीय कारण का परिणाम भी वही ...होता है। अकालप्रवाहण से स्त्री थक जाती है और प्राप्त ...काल पर प्रवाहण न होने से गर्भाशय निराधार होने से ...थक जाता है। संक्षेप में यह गर्भसंग गर्भाशय के थक ...जाने का परिणाम है। इसको Uterine inertia कहते हैं। ...यह गर्भाशयसंग दो प्रकार का होता है—प्राथमिक (Primary) और द्वितीयक (Secondary)। प्राथमिक ...गर्भाशयसंग अधिक गंभीर स्वरूप का और अधिक गंभीर कारणों से उत्पन्न होने वाला होता है। जैसे—गर्भाशय के विकार, अर्बुद, व्यंग, प्रसवपूर्व रक्तस्राव, माता, राजयक्ष्मा, रक्तक्षय इत्यादि विकार। इस प्रकार का संग घातक भी होता है और इसी का उल्लेख मूढगर्भ के असाध्य लक्षणों में 'गर्भकोषपरासंग' करके (सूत्रस्थान के ३३वें अध्याय का १२वाँ श्लोक देखो) किया गया है। द्वितीयकसंग कारण, लक्षण और परिणाम की दृष्टि से उतना गंभीर नहीं होता। उसका निर्देश यहाँ पर किया गया है। इसको श्रान्तगर्भाशय (Exhausted uterus) कहने का भी रिवाज है। चिकित्सा—प्रतिलोम गर्भ को अनुलोम करना यह प्रथम कारण की चिकित्सा है, उसका निर्देश ऊपर के सूत्र में किया गया है। मलाशय या मूत्राशय मलमूत्र से परिपूर्ण हो तो बस्ति या सलाई से उनको रिक्त करना चाहिए। इस कारण को दूर करने के लिए ही प्रसव के प्रारंभ में माता को विरेचन और बस्ति देना उचित है। तृतीय कारण की चिकित्सा माता को आराम देकर पश्चात् प्रसववेदना उत्पन्न होने पर प्रवाहण करना है। यहाँ पर ओषधियों के द्वारा जो चिकित्सा बतलाई गई है, उसका विवरण निम्न प्रकार से कर सकते हैं। (१) मानसिक परिणाम—जिसका इन ओषधियों की शक्ति पर विश्वास है, वह स्त्री इनके प्रयोग से निश्चिन्त होकर गर्भसंग दूर हो जायगा, ऐसा मानने लगती है। इसका परिणाम गर्भाशय के संकोच में होकर प्रसव होता है। (२) समय का परिणाम—ओषधियों को ले आना, धूपन करना, गले में या हाथ-पैर में बाँधना, इत्यादि में कुछ समय चला जाता है। इसके सिवा माता की कुछ सान्त्वना करने में भी समय चला जाता है। जैसे कि अध्वश्रान्त मनुष्य किसी पेड़ के नीचे थोड़ी देर आराम करने पर फिर से अपना मार्ग तय करने में समर्थ होता है, वैसे ही गर्भनिष्कासन-श्रान्त गर्भाशय सुवर्चलादि धारण के निमित्त थोड़ी देर तक आराम करने पर फिर से गर्भनिष्कासन के अपने कर्म में समर्थ हो जाता है। (३) प्रत्यक्ष ओषधियों का परिणाम या प्रभाव—हिरण्यपुष्पी, सुवर्चला, विशल्या इनमें यह प्रसवकारक शक्ति कहाँ तक है, यह नहीं कहा जा सकता। प्राचीन तथा अर्वाचीन कुछ ग्रंथों में यह प्रसवकारक (आगे देखो) बतलाई गई है। ओषधियों में इस प्रकार की आश्चर्यजनक शक्ति होती है, इसमें कोई संदेह नहीं। इसके सिद्ध्यर्थ आँखों से देखा हुआ एक उदाहरण दिया जाता है। पश्चिम खान देश जिले के मुख्य स्थान धुलिया में एक मनुष्य के पास बिच्छू की जड़ी है। एक दिन दोपहर को एक भूखा साधु वैरागी उसके घर पर अन्न माँगने आया था। संयोगवश उसके घर में अन्न था और उसने उसको दिया। उससे संतुष्ट होकर उसने वह जड़ी उसको प्रदान की। उस जड़ी की विशेषता यह थी कि दंशस्थान के सामने (दंशस्थान से प्रत्यक्ष संबंध नहीं) पानी में भिगोकर वह रक्खी जाती थी, और मिनिट दो मिनिट में वह जड़ी, लोहचुंबक जैसे लोह को अपनी ओर लोह को बिना स्पर्श किये खींच लिया करता है, वैसे वृश्चिकविष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को खींच लेती थी। पश्चात् पानी से धोकर वह रख दी जाती थी। प्रत्येक साल में सैकड़ों वृश्चिकदंश के मनुष्य एकाध मिनट में निरपवाद ठीक होकर चले जाते थे। आधुनिक विज्ञान इसका उत्तर नहीं दे सकता, और जिनकी कल्पना की दौड़ विज्ञान से आगे नहीं जा सकती, वे या तो ऐसी घटना को असत्य मानते हैं, या मेस्मेरिज्म, हिप्नोटिज्म या अन्य इज्म से इसका कार्य-कारण संबंध का विवरण करते हैं। परंतु बिच्छू की उस जड़ी में न कोई इज्म होता है और न उसके प्रभाव में असत्यता ही है। सैकड़ों बार आँखों से देखी हुई वह चीज है। इसलिए प्रसवकारक वनस्पतियाँ भी हो सकती हैं। अविश्वास करने का कोई कारण नहीं है। हिरण्यपुष्पी—लांगली। लांगली होलनी सीरी विशल्या कलिकारिका। अग्निजिह्वा स्वर्णपुष्पा दीप्ता नक्तेन्दुपुष्पिका॥ लांगली कटुका चोष्णा कफवातापहा सरा। अपरा पातनी चैव सद्यःप्रसवकारिका॥ हिरण्यपुष्पी स्वर्णकेतकी आरग्वध इत्यन्ये। (हाराणचन्द्र)। लांगली वारिणा पिष्टा करपादप्रलेपिता। अपरां पातयत्याशु न संदेहोऽत्र कश्चन। सुधौतं लांगलीमूलं वारिणा परिपेपितम्। नाभौ योनौ प्रलिप्तं वा सद्यः प्रसवकृन्मतम्। (रसतरंगिणी)। सुवर्चला सूर्यभक्ता, विशल्या पाटला। (डल्हण)। विशल्या गुडूची। (हाराणचन्द्र)। तथा सुवर्चलाया विशल्याया वा मणिवच्छरीरे धारणम्। (इन्दु)।

अथ जातस्योल्वमपनीय, मुखं च सैन्धवसर्पिषा विशोध्य, घृताक्तं मूर्ध्नि पिचुं दद्यात्; ततो नाभिनाडीमष्टाङ्गुलमायम्य सूत्रेण बद्ध्वा छेदयेत्, तत्सूत्रैकदेशं च कुमारस्य ग्रीवायां सम्यग् बध्नीयात् ॥११॥

(जात बालक के कर्म—) अब जन्म लिये हुए बालक के जरायु को हटाकर, सैन्धवयुक्त घी से मुख को विशोधित करके, उसके सिर पर घी से भीगा हुआ फाया रक्खे। पश्चात् (नाभि से) नाभिनाडी आठ अंगुल नापकर (वहाँ पर) सूत्र से बाँधकर (उसके आगे कैंची से) काटे। फिर उस सूत्र का दूसरा सिरा बालक के गले में ठीक तौर से बाँधे ॥११॥

वक्तव्य—उल्व—गर्भावरण जरायु। पहले यह बताया जा चुका है (छठे सूत्र के वक्तव्य के अन्त में) कि प्रथमावस्था के अन्त में गर्भाशयमुख पूर्ण विस्तृत होने पर गर्भ के सिर के सामने आया हुआ गर्भावरण का भाग निराधार होने के कारण फूटता है और गर्भोदक बाहर निकलता है। कभी कभी जरायु के मजबूत रहने से या अन्य कारण से पानमोटरी नहीं फूटती और यदि अंगुलि से न विदीर्ण की जाय तो गर्भ के साथ उसका सिर योनि के बाहर आने के समय तक ज्यों की त्यों रहती है और पश्चात् फूटती है। कभी कभी संपूर्ण गर्भ जरायु के साथ जन्म लेता है। इस अवस्था को उल्व के साथ जन्म (Born with a caul, कोल अर्थ उल्व है) कहते हैं। इसमें गर्भ के आवरण अपरा से अलाहिदा होकर गर्भ के साथ बाहर आते हैं। गर्भ योनि के बाहर आते ही साँस लेने की कोशिश करता है और यदि उसके मुख पर पानी और आवरण हो तो अपने ही पानी में डूबकर मरने का डर रहता है। इसलिए [illegible] गर्भ उल्व के साथ योनि के बाहर आ जाय तो शीघ्रातिशीघ्र जरायु को विदीर्ण करके और मुख को जरायु से स्वतन्त्र करना चाहिए। किंवा उल्व से संपूर्ण जरायु का अर्थ लेकर केवल जरायु का टुकड़ा भी समझ सकते हैं। कभी जरायु का टुकड़ा बालक के सिर के साथ निकल आता और मुख पर चिपट जाता है, जिससे श्वास-प्रश्वास में बाधा उत्पन्न होती है—The child is born. I lay it on the right side, see that its face is free from any portion of membrane or other hindrance to breathing. *Esoteric Anthropology.* उल्वमपनीय—संपूर्ण जरायु के साथ जन्म हुआ हो तो जरायु को विदीर्ण करके मुख को खुलाकर, किंवा मुख के ऊपर जरायु का कोई टुकड़ा हो तो उसको दूर करके। व्यापक दृष्टि से उल्वमपनीय का अर्थ बालक के चेहरे को याने मुख के बाहरी भाग को साफ करके। मुख और नासा को साफ करने में देरी होने से श्वासावरोध से मृत्यु हो जाती है। जातस्य—जातमात्रस्य। उपर्युक्त कारण से 'जातस्य' का अर्थ जन्म होते ही तत्काल, ऐसा करना चाहिए। अष्टांगसंग्रह में जातमात्र शब्द का प्रयोग किया गया है—अथ [illegible] जातमात्रमेव बालमुल्बात् सैन्धवसर्पिषा मार्जयेत्। (उत्तरतन्त्र १)। जातमात्रं तत्काल एव। (इन्दु)। इस प्रकार उल्व के साथ बालक का जन्म क्वचित् होता है। इसलिए चरकसंहिता में जातकर्मों में उल्व निकालने का कर्म नहीं बताया गया है। मुखं च विशोध्य—मुख के भीतर का भाग विशेष करके गला। गले में श्लेष्मा भरा रहता है, जो श्वास-प्रश्वास में बाधा उत्पन्न करता है—कण्ठे च कफवेष्टिते। इसलिए जन्म होते ही गले को भी साफ कर लेना उचित है। चरक में कण्ठविशोधन की विधि बहुत अच्छी तरह वर्णन की है—अथास्य ताल्वोष्ठकण्ठजिह्वाप्रमार्जनमारभेताङ्गुल्या सुपरिलिखितनखया सुप्रक्षालितोपधानकार्पासपिचुमत्या (शारीर ८)। इसससे गला साफ होकर श्वास लेने में आसानी होती है। कभी कभी गले में श्लेष्मा बहुत गहराई तक भरा रहता है, जो कराङ्गुलि से साफ नहीं हो सकता। ऐसी अवस्था में उसको निकालने के लिए सैंधव और घी देकर बालक को उलटी कराने का रिवाज था—ततोऽस्यानन्तरं सैंधवोपहितेन सर्पिषा कार्यं प्रच्छर्दनम्। (चरक)। आधुनिक काल में गले के भीतर का श्लेष्मा नाडीयन्त्र या सलाई (Catheter) के द्वारा चूसके निकाला जाता है। गले के भीतर का श्लेष्मा बाहर निकालने के लिए बालक को पैरों से उठाकर सिर नीचा करने का भी रिवाज है। इससे आप से आप श्लेष्मा बाहर आता है, जो सलाई से या कार्पासपिचुयुक्त अंगुलि से निकाला जा सकता है। मुख की भीतर की सफाई के साथ मुख की बाहर की सफाई भी करनी चाहिए। इसमें विशेषतया आँखों पर ध्यान देना पड़ता है। आँखों की सफाई इसलिए आवश्यक होती है कि अपत्यमार्ग में से आते समय आँखों के ऊपर योनिस्राव और मलमूत्र का कुछ संबंध हो जाता है। यदि [illegible]

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आँखों की सफाई न की जाय, तो आँखें खुल जाने पर ये द्रव्य भीतर पहुँचकर उनमें शोथ पैदा कर सकते हैं। यदि माता सोज़ाक से पीड़ित हो तो आँखों की सफाई के ऊपर अधिक ध्यान देना पड़ता है। इसमें प्रथम रूई के फाया से आँखें साफ करके पश्चात् टंकणाम्ल (बोरिक) घोल से आँखें धोई जाती हैं, और अन्त में १ प्र० श० सिल्वर नैट्रेट घोल के एक दो बूँद उनमें छोड़े जाते हैं। सोज़ाक के सिवा योनिमार्ग में अन्य पूयजनक जीवाणुओं का उपसर्ग होने पर भी (पूयजनक जीवाणुओं के लिए सूत्रस्थान के १७वें अध्याय के १२वें श्लोक का वक्तव्य देखो) इसी तरह से सफाई करनी चाहिए, वरना आँखों में उनका उपसर्ग पहुँचने पर आँखें आती हैं। इस विकार को नवजात नेत्राभिष्यन्द (Ophthalmia neonatorum) कहते हैं। इस अभिष्यन्द का परिणाम अन्धता में होता है। आँखों की सफाई बालक का पूरा जन्म होने के पूर्व, याने सिर बाहर निकलते ही करनी चाहिए, और बालक के संपूर्ण बाहर निकलने के पश्चात् कण्ठ की सफाई करनी चाहिए।

इस तरह नेत्र और मुख की सफाई करने के समय तक शीतस्पर्श, वस्त्रस्पर्श, वायुस्पर्श इनको सह न सकने के कारण बालक प्रायः जोर से चिल्लाने लगता है, जिससे उसके जन्म का तथा स्वस्थावस्था का पता सब को लग जाता है। कभी कभी कष्टप्रसूति के कारण या अपने दौर्बल्य के कारण बालक जल्दी नहीं रोता, उस समय गरम या ठंडे पानी का अवसेचन, चपत लगाना इत्यादि मामूली उपाय करने चाहिएँ। बालक के न रोने के कारणों का बड़ा सुंदर वर्णन अष्टांगसंग्रह में दिया है और चरक में रुलाने के उपायों को बतलाया है—ततोऽस्यातिप्रबलमोहज्वरपरीतसर्वगात्रस्य क्रोशितुमपि यथानुरूपमसमर्थस्यानवस्थिताशेषदेहधातोरसम्भाव्ययौवनाद्यवस्थस्य क्रकचस्पर्शमिव करवसनपवनसंसर्गं मन्यमानस्याविकल्पितमङ्गानि विक्षिपतः पुनरिव मरणमनुभवतो लीयमानसंज्ञस्यातिसंबा-धयोनिपुटावपीडितप्राणप्रत्यानयनाय ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर १)। अश्मनोः संघट्टनं कर्णयोर्मूले, शीतोदकेन वा सुखेन परिषेकः, तथा स क्लेशविहितान् प्राणान् पुनर्लभेत। कृष्णकपालिकाशूर्पेण चैनमभि-निष्पुणीयुर्यद्यचेष्टः स्याद् यावत् प्राणानां प्रत्यागमनम्। (चरक)। एतच्च प्रसूतिकालसञ्जातमोहप्रशमार्थम्। (इन्दु)। शीतोदकेन उष्णोदकेनेति विकल्पो ऋतुभेदेन ज्ञेयः, ग्रीष्मकाले शीतोदकेन, शीतकाले तूष्णोदकेनेत्यर्थः। (चक्रपाणिदत्त)। प्रसवपीडा के कारण लीयमान याने मूढचेतन बालक इन मामूली उपायों से होश पर आकर आक्रोश करने लगता है। यदि होश पर न आ जाय तो समझना चाहिए कि बालक नवजात श्वासावरोध से पीड़ित है, और उसके अनुसार शीघ्रातिशीघ्र चिकित्सा करनी चाहिए। नवजात श्वासावरोध (Asphyxia neonatorum)—मनुष्यों को प्राणवायु की आवश्यकता होती है, जिसकी पूर्ति श्वास से होती है। गर्भाशय में स्थित बालक श्वास-प्रश्वास का कार्य नहीं करता, उसका कार्य माता के द्वारा होता है—मातुर्निश्वसितोच्छ्वाससंक्षोभस्वप्नसंभवान्। (शारीर ३)। अर्थात् गर्भाशय से बाहर आने के पूर्व बालक को प्राणवायु माता के रक्त से मिलता है। गर्भाशय के संकोच के समय गर्भाशयगत अतएव अपरागत रक्तसंचार बंद हो जाता है तथा गर्भहृदय की गति मंद होती है। अर्थात् गर्भाशयसंकोच के समय गर्भ को प्राणवायु कम मिलती है। संकोच समाप्त होने पर फिर से रक्तसंचार शुरू होकर प्राणवायु मिलने लगती है। द्वितीयावस्था में जब संकोच की लहरें जल्दी जल्दी आने लगती हैं तब गर्भ को प्राणवायु कुछ मिलती है, परंतु पूर्णतया उसका अभाव नहीं होता। क्वचित् द्वितीयावस्था में गर्भाशय की संकोच लहरें सान्त-रित के बदले निरन्तर हो जाती हैं। उस अवस्था में गर्भ को प्राणवायु नहीं मिलती और उसका परिणाम श्वासाव-रोध में होता है। इस कारण के सिवा कभी कभी गर्भ की नाभिनाड़ी दब जाती है, या अपरा गर्भाशय से जल्दी पृथक् होने लगती है और श्वासावरोध होता है। श्वासा-वरोध का एक और भी कारण होता है। प्राणवायु की कमी होने से गर्भ गर्भाशय में या योनि में होते समय मुख से साँस लेने की कोशिश करता है। इसका परिणाम यह होता है कि गले में या फुफ्फुस में कुछ गर्भोदक या श्लेष्मा प्रविष्ट होकर वायु के रास्ते में रुकावट पैदा करता है। यह श्वासावरोध दो प्रकार का है—(१) श्वेत (A. pallida)—इसमें बालक का वर्ण फीका, शरीर ठंडा और हृदय मंद और क्षीण होता है। यह श्वासावरोध असाध्य होता है। (२) नील (A. Livida)—इसमें बालक का वर्ण नीलाभ होता है। उसका हृदय ठीक काम करता है। यह श्वासावरोध प्रायः साध्य होता है। इसमें प्राणप्रत्यानयन के ऊपर जो उपाय बताये हैं, जैसे, शीतल जलावसेचन इत्यादि, उनसे काम हो जाता है। यदि इससे काम न हो तो श्वेत श्वासावरोध के समान कृत्रिम श्वसन का उपयोग करना (सूत्रस्थान २७वें अध्याय के १५वें सूत्र के वक्तव्य में कृत्रिम श्वसन की विधियाँ देखो) चाहिए। श्वेत श्वासावरोध में कृत्रिम श्वसन का उपयोग करने की आवश्यकता होती है। कृत्रिम श्वसन प्रारंभ करने के पूर्व बालक का मुख और गला साफ करना आवश्यक है। बालक श्वेतश्वासावरोध से पीड़ित हो तो तुरन्त उसकी नाड़ी काटकर उसको थोड़ी देर तक (कुछ सैकंड) गरम पानी में (१००° फै०) रखना चाहिए। पश्चात् उसको वहाँ से निकालकर और अच्छी तरह पोंछकर कृत्रिम श्वसन कराना चाहिए। कृत्रिम श्वसन में सिल्वेस्टर, लबोर्दे की तथा मार्शल की पद्धतियाँ काम में लाई जाती हैं। मार्शल की पद्धति में बालक प्रसारित हथेली पर क्रम से पीठ के बल और छाती के बल पर रक्खा जाता है, जिससे उसका सिर और शाखाएँ नीचे की ओर लटकती रहती हैं। मार्शल की पद्धति नीलश्वासावरोध में अधिक उपयोगी होती है। संमुखश्वसन (Mouth to mouth respiration)—इसमें बालक के मुख में मुख से हवा फूँकी जाती है। फूँकने के समय नासा बंद की जाती है तथा आमाशय के ऊपर कुछ दबाया जाता है, जिससे हवा नासामार्ग से न बाहर आ सके, न आमाशय में चली जाय। इस प्रकार का संमुख-श्वसन कई बार किया जाता है। कृत्रिम श्वसन का कर्म

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हृदय और श्वसन के अच्छी तरह चलने के समय तक या पूर्णतया बंद हो जाने के समय तक करना चाहिए। प्राण-प्रत्यानयन में कृत्रिम श्वसन के सिवा पिच्युट्रिन का इन्जेक्शन त्वचा में (मात्रा २–५ बूँद) और ब्रांडी मसूडों पर तथा छाती पर मलना इन उपायों का भी उपयोग होता है। नीलश्वासावरोध में मामूली उपायों से अगर काम न हो तो उसकी नाडी काटकर श्वेत के समान सब उपाय करने चाहिएँ। अष्टांगुलमायम्य—नाभितो दैर्घ्येणाष्टाङ्गुलं परिमाय। वाग्भट आठ अंगुल के बदले चार अंगुल बताते हैं—नाभिनालं नालाभिबंधनाच्चतुरंगुलस्योर्ध्वं क्षौमसूत्रेण बद्ध्वा। (अष्टांगसंग्रह)। नाभिं च सूत्रेण चतुरंगुलाद् बद्ध्वोर्ध्वम्। (अष्टांगहृदय)। चतुरंगुल की मर्यादा आधुनिक काल की मर्यादा से अधिक मिलती है। ग्रीवायां बध्नीयात्—डल्हणाचार्य कहते हैं 'स्रावपरिहार्यम्'। परंतु यह कथन भी ठीक नहीं है। नाडी के अन्त में गाँठ लगाने पर स्राव होने का कोई डर नहीं होता। हाराणचन्द्र कहते हैं कि गले में बाँधने से नाडी के भीतर का रसप्रवाह बंद होकर नाडी सूखने में सहायता होती है—ग्रीवायां बध्नीयादिति तु नितरां रसादिगतिप्रतिबंधेन त्वरितमुच्छोषयितुमित्युन्नेयम्॥ परंतु यह कथन भी ठीक नहीं है। क्योंकि गले में बाँधने से रसादि की गति की रुकावट होने का कारण नहीं है, न उससे सूखने में सहायता होती है। गले में बाँधने का प्रयोजन यह मालूम होता है कि अगर आठ अंगुल लंबी नाडी का दूसरा सिरा वैसा ही खुला रक्खा जाय तो वह स्वतन्त्र और लंबा होने के कारण हर एक काम में दखल करेगा। बालक के मल-मूत्र से खराब होगा तथा गीला भी होगा, क्योंकि वह जननेन्द्रिय के बहुत करीब होता है। इस आपत्ति को दूर करने के लिए उसका सिरा बालक के गले में बाँधने का आदेश किया गया है। यदि नाडी अंगुल दो अंगुल लम्बी रक्खी जाती तो गले में बाँधने की कोई आवश्यकता नहीं होती। इन्दु अपनी टीका में गले में बाँधने का उद्देश्य लम्बत्वपरिहार बताते हैं, वह बहुत ठीक है—छिन्नशिष्टं नाभिनालं बालस्य ग्रीवायां सूत्रेणासज्जयेल्लम्बत्वपरिहाराय। नाडीकल्पन की विधि चरकसंहिता में बहुत उत्तम प्रकार से वर्णित है—नाभिबन्धनात् प्रभृत्यष्टाङ्गुलमभिज्ञानं कृत्वा छेदनावकाशस्य द्वयोरन्तरयोः शनैर्गृहीत्वा तीक्ष्णेन रौक्मराजतायसानां छेदनानामन्यतमेन छेदयेत्।

नाडीकल्पन के संबंध में कुछ बातें—(१) नाडीबन्धन का समय—माता के शरीर में नाभिनाड़ी के द्वारा माता और गर्भ में आदान-प्रदान का कार्य हुआ करता है। अर्थात् यह आदान-प्रदान नाभिनाडीगत रक्तप्रवाह से होता है जिसका ज्ञान हमें नाडीगत स्पन्दन से हो जाता है। बालक के स्वतन्त्रवृत्ति होने पर यह आदान-प्रदान याने नाभिनाडीगत स्पन्दन बंद हो जाता है। अपत्य मार्ग से बाहर आते ही बालक प्रथम श्वास-प्रश्वास का कार्य प्रारंभ करता है। इससे बालक के फुफ्फुस में रक्त की राशि अधिक जाने लगती है और अपरा (जो पहले फुफ्फुस का काम करती थी) में कम जाने लगती है। कुछ मिनिटों में रक्त-परिभ्रमण की यह अदल-बदल पूरी होकर नाडीगत रक्त-प्रवाह पूर्णतया बंद होता है, जिसका ज्ञान नाडीगत स्पन्दन बंद होने से होता है। इसलिए नाडी का बंधन उस समय पर करना चाहिए, जब कि बालक की नाभिनाडी का स्पन्दन बंद हो गया हो। जन्म के पश्चात् मुखविशोधन, अश्मसंघट्टन इत्यादि कर्म करने के लिए जितना समय लगता है, उतने समय में नाभिनाडीगत रक्तप्रवाह आप से आप बंद हो जाता है। चरकसंहिता के 'ततः कल्पनं नाड्या' इस शब्द प्रयोग से यह बात स्पष्ट होती है कि नाडी का कल्पन अश्मसंघट्टनादि कर्मों के पश्चात् किया जाता था। परंतु उपर्युक्त कर्म कोई करे या न करे, नाड़ी का बन्धन तथा कल्पन नाड़ीगत रक्तप्रवाह बंद होने के पश्चात् करना चाहिए। यदि बालक के बाहर आते ही नाड़ीकल्पन किया जाय तो बालक ८ तोले रक्त से वंचित हो जाता है याने नाड़ी का स्पन्दन बंद होने के समय तक अपरा से बालक के शरीर में ८ तोला रक्त प्रविष्ट होता है। अष्टांगहृदय में नाभिनाडी के बंधन का समय 'स्वस्थीभूतस्य' शब्द से सूचित किया गया है। जब कोई व्यक्ति अत्यन्त भिन्न परिस्थिति में, या स्थान में, या आब-हवा में चला जाता है, तब थोड़े काल तक वह अस्वस्थ होता है। फिर धीरे धीरे वह स्वस्थ हो जाता है। बालक के लिए भी ऐसा ही होता है। माता के शरीर के भीतर की परिस्थिति और शरीर के बाहर की परिस्थिति में जमीन-आसमान का भेद होता है, जिसके कारण बालक कुछ देर तक अस्वस्थ रहता है। इसका सुन्दर वर्णन अष्टांगसंग्रह का ऊपर जो उद्धरण दिया है, उसमें मिलता है। कुछ देर के पश्चात् बालक इस नई परिस्थिति के लिए तैयार हो जाता है। उस अवस्था को 'स्वस्थीभूत' कहते हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट होगा कि आयुर्वेद में नाडीबन्धन के लिए जो काल बताया गया है, वह आधुनिक काल के साथ मिलता है। (२) बन्धनों की संख्या—छेदन करने के पूर्व नाडी में दो बन्धन लगाये जाते हैं। एक बन्धन नाभि के साथ लगी हुई नाड़ी के अन्त में रहता है और दूसरा अपरा से संबंधित नाड़ी के अन्त में रहता है। गर्भ को नाड़ी के साथ बंधन की आवश्यकता होती है क्योंकि यदि बंधन न लगाया जाय तो उससे रक्त का स्राव होगा। दूसरे बन्धन की उतनी आवश्यकता नहीं होती और न लगाया जाय तो भी कोई खास नुकसान नहीं होता। सुश्रुत, अष्टांगहृदय तथा संग्रह में एक ही स्थान पर बन्धन बाँधने के लिए कहा है। आधुनिक काल में दो बन्धन बाँधने का रिवाज है। दूसरे बन्धन का उपयोग अपरापतन का ज्ञान होने के लिए होता है। इसके सिवा जब यमल की उत्पत्ति होती है, तब कई बार दोनों की नाभिनाडी का आपस में संबंध रहता है। उस अवस्था में यदि अपरा से संबंधित नाडी पर बंधन न लगाया जाय तो दूसरे गर्भ से रक्तस्राव होने का डर रहता है। इसलिए दूसरा बंधन लगाना यद्यपि हरेक बालक के लिए आवश्यक नहीं होता तथापि प्रसव की तृतीयावस्था के लिए सुविधाजनक और यमलों के लिए

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक होता है । अतः परिपाटी के तौर पर आजकल दो बंधनों का प्रयोग होता है । चरकसंहिता में भी दो बंधनों का उपयोग करने का उपदेश किया गया है—छेदनावकाशस्य द्वयोरन्तरयोः शनैर्गृहीत्वा तीक्ष्णेन छेदयेत् । (चरक)। इसका अभिप्राय यह है—छेदनावकाशस्योर्ध्वमेकमधश्चैकं बंधनं क्षौमसूत्रेण दृढकार्पाससूत्रेण वा दत्त्वा द्वयोर्बन्धनयोर्मध्ये तीक्ष्णेन शस्त्रेण छेदयेत् । (३) छेदन और बंधन के सूत्र और शस्त्र—ये दोनों ही विशोधित (Sterilized) होने चाहिएँ । इनके विशोधन पर ध्यान न देने से नाभि और नाडी में पाक उत्पन्न होने की संभावना होती है । कभी कभी यह दोष गर्भ के शरीर में फैलकर जीवाणुमयता (Septicæmia) से बालक की मृत्यु भी हो सकती है । नाभिपाक से नाभिप्रदेश में कमजोरी उत्पन्न होकर आयाम-व्यायामादि विकार उत्पन्न होते हैं—असम्यक्कल्पने हि नाड्या आयामव्यायामोत्तुण्डितापिण्डलिकाविनामिकाविजृम्भिकाबाधेभ्यो भयम् । (चरक)। इस विषय का विवरण आगे २६वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है । (४) कल्पनोत्तर नाडीबन्धन की पद्धति—नाभि के साथ संबंधित नाडी का हिस्सा प्रायः पाँचवें दिन नाभि से स्वतन्त्र हो जाता है । कभी कभी पंद्रह रोज तक नाडी नाभि से पृथक् नहीं होती । तब तक नाडी को इस प्रकार सुरक्षित रखना चाहिए कि जिससे वह जल्दी सूख जाया करे, मलमूत्रादि से दूषित न हो तथा जबर्दस्ती न खींची जाय । यहाँ पर कल्पित नाडी गले में बाँधने की जो विधि बताई गई है, उससे प्रायः उपर्युक्त तीनों कार्य निकल आते हैं; इसमें संदेह नहीं है । केवल एक आध बार बच्चे को उठाते समय, नहलाते समय, कपड़े पहनाते समय, वह अनजाने खींची जाने का डर रहता है । परंतु पैरों में दखल देने वाली धोती की लाँग को घूमते और सायकल पर सवार होते समय जेब में खोंसने की बंगालियों की पद्धति जैसे कामचलाऊ होने पर भी सर्वोत्तम नहीं कही जा सकती, वैसे ही गले में लटकाने की यह पद्धति कामचलाऊ होने पर भी उत्तम नहीं कही जा सकती । उत्तम विधि तो यह है कि किसी स्वच्छ मृदु कपड़े की करीब तीन इंच चौड़ी, चार इंच लम्बी, कुछ मोटी, मध्य में छिद्रयुक्त तह बनाकर उस छिद्र में से नाडी को पिरोकर, वह कपड़े की तह नाभि पर रक्खे और पश्चात् उस पर नाड़ी को रखकर तथा टंकणाम्ल (बोरिक) या अन्य ओषधि की बुकनी बुरकाकर नाडी के ऊपर उदर के चारों ओर बंध (Bandage) बाँध दे । नाड़ी गिर जाने के दिन तक इस प्रकार सुबह शाम उसका बंधन किया जाय । बुरकाने के लिए कोई ओषधि न हो तो कोई हरज़ा नहीं होता, परंतु कपड़ा और बंध विशोधित होना चाहिए । आजकल नाडीबंधन इसी तरह से होता है । गले में बाँधने का रिवाज नहीं है । (५) स्वच्छता—नाडी के कल्पन और बन्धन के काम में आने वाली सब चीजें अत्यन्त स्वच्छ होनी चाहिएँ । इसमें लापरवाही करने से पूयजनक जीवाणुओं का प्रवेश नाभिनाडी में होकर नाभिपाक तथा अन्य आपत्तियाँ खड़ी होती हैं । आयुर्वेद में नाडी कल्पन के पश्चात् नाभि के ऊपर कुष्ठतैल सेचन करने के लिए लिखा है—नाभिं च कुष्ठतैलेन सेचयेत् । (अष्टांगहृदय और संग्रह, उत्तरस्थान १)। कुष्ठ (Saussurea Lappa) में उड़नशील तैल होता है । इस तैल में जीवाणुनाशक विशेषतया पूयजनक जीवाणुनाशक शक्ति है, यह बात आधुनिक खोज से सिद्ध हुई है—The essential oil has strong antiseptic and disinfectant properties especially against the streptococcus and staphylococcus. *Nadkarni's Indian Materia Medica.* इससे यह स्पष्ट है कि कुष्ठसिद्ध तैल में जीवाणुनाशक का गुण होने से नाभि के ऊपर उसका प्रयोग करने की पद्धति हितावह ही है । परंतु 'प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इस व्यावहारिक तत्त्व के अनुसार नाभि और नाडी के पास पूयजनक जीवाणुओं को पहुँचने का मौका ही न मिले, इस प्रकार के वस्त्र नाभिबन्धन में प्रयुक्त करना उचित है । नाडी की दुष्टि में बालक के स्नान का भी कुछ संबंध होता है । इसका विचार आगे के सूत्र में किया गया है ।

अथ कुमारं शीताभिरद्भिराश्वास्य जातकर्मणि कृते मधुसर्पिरनन्तचूर्णमङ्गुल्याऽनामिकया लेहयेत्; ततो बलातैलेनाभ्यज्य, क्षीरवृक्षकषायेण सर्वगन्धोदकेन वा रूप्यहेमप्रतप्तेन वा वारिणा स्नापयेदेनं कपित्थपत्रकषायेण वा कोष्णेन यथाकालं यथादोषं यथाविभवं च ॥१२॥

अब बालक को शीतल जल से (परिसेचन द्वारा) आश्वासित करके जातकर्म करने पर मधु और घृत के साथ सुवर्ण का चूर्ण अनामिका अंगुलि से चटावे । पश्चात् बलातैल से मालिश करके मन्दोष्ण क्षीरवृक्षकषाय से, सर्वगन्धयुक्त जल से, प्रतप्त चाँदी-सोने के (निमज्जन के) जल से, अथवा कैथ के पत्ते के कषाय से दोष, काल और सामर्थ्य के अनुसार (बालक को) स्नान करावे ॥१२॥

वक्तव्य—कुमार—यहाँ पर, पिछले सूत्र में तथा अन्य स्थानों में भी कुमार शब्द से कुमारी का भी ग्रहण हो सकता है, क्योंकि कुमार या पुत्र शब्द अपत्यवाचक ही प्रायः प्रयुक्त किये जाते हैं । फर्क इतना ही है कि जहाँ संस्कारों का संबंध होता है, वहाँ पर कुमार के संस्कार मन्त्रयुक्त और कुमारी के संस्कार मन्त्रविरहित किये जाते हैं—अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः ॥ (मनु २-६६)। जैसे, कुमार हो तो मधु-घृत समन्त्रक चटाया जायगा—मधुसर्पिषी मन्त्रोपमन्त्रिते यथाम्नायं प्राशितुं दद्यात् ॥ (चरक)। कुमारी हो तो वैसे ही चटाया जायगा । परंतु यहाँ पर बालक के लिए जो कुमार शब्द का प्रयोग किया गया है, वह इसलिए है कि गर्भ स्थापन होने पर पुंसवनविधि का प्रयोग किया गया था । अनन्तचूर्णम्—सुवर्णचूर्णम् । कहीं कहीं 'अनन्ता' ऐसा भी पाठ है । हाराणचन्द्र 'अनन्ताब्राह्मीरसेन' ऐसा पाठ देते हैं । वाग्भट अष्टांगसंग्रह में और भी कई ओषधियों का समावेश करते हैं—ततश्चैन्द्रीब्राह्मीशङ्खपुष्पी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वचाकल्कं मधुघृतोपेतं हरेणुमात्रं कुशाग्राभिमन्त्रितं सौवर्णेनाश्वत्थपत्रेण मेधायुर्बलजननं प्राशयेत् । तद्वद् ब्राह्मीबलानन्ताशतावर्यन्यतमचूर्णं वा । **यहाँ पर का पाठ गृह्यसूत्रानुसार है**—कुमारं जातं पुराऽन्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्यनिकाषं हिरण्येन प्राशयेत् ॥ **गृह्यसूत्रोक्त चटाने की विधि यह है कि किसी सान पर घी और मधु लेकर उसमें सोना रगड़कर उसी सोने से वह अवलेह बालक के मुख में लगाना । यहाँ पर अंगुलि से चटाने के लिए लिखा है ।** प्राशन मन्त्र—प्र ते ददामि मधुनो घृतस्य वेदं सवित्रा प्रसूतं मघोनाम् । आयुष्मान् गुप्तो देवताभिः शतं जीव शरदो लोके अस्मिन् ॥ बलातैलेनाभ्यज्य—**बालक के शरीर पर उदक में अधिक काल रहने की दृष्टि से एक प्रकार का चिकना पदार्थ** (Vernix caseosa **तीसरे अध्याय के ३५वें सूत्र का वक्तव्य देखो) बनता है । कभी यह पदार्थ अधिक होता है, कभी कम होता है । केवल जल से यह साफ नहीं होता है । तैल से यह जल्दी निकल आता है । इसलिए संपूर्ण शरीर पर तैल की मालिश करने से त्वचा की सफाई होने में सहायता मिलती है । बलातैल का वर्णन चिकित्सास्थान के मूढगर्भचिकित्सित अध्याय के अन्त में किया गया है ।** क्षीरवृक्ष—**अश्वत्थादि वृक्ष जिनकी त्वचा पर घाव करने से दूध के समान सफेद गाढ़ा रस निकलता है**—अश्वत्थोदुम्बरप्लक्षवटपिप्पलसंज्ञिताः । पंचैते क्षीरिणो वृक्षाः समाख्याता विचक्षणैः ॥ सर्वगन्ध—चातुर्जातककर्पूरकक्कोलागुरुकुङ्कुमम् । लवङ्गसहितं चैव सर्वगन्धं प्रकीर्तितम् ॥ **किंवा सूत्रस्थान के द्रव्यसंग्रहणीय अध्यायोक्त 'एलादिगण' की ओषधियों का भी ग्रहण किया जा सकता है ।** रूप्यहेमप्रतप्तेन—**सोने और चांदी के पदार्थ को प्रतप्त करके पानी में बार बार बुझाने से गरम किये हुए जल से**—कोष्णेन तप्तरजततपनीयनिमज्जनैः । (**अष्टांगहृदय**) । स्नापयेत्—**जन्म के पश्चात् शरीर पर तैल लगाकर साबुन और मन्दोष्ण जल से बालक को नहलाने का रिवाज पाश्चात्त्य देशों में भी है । परंतु स्नान के समय बालक की नाभिनाडी गीली हो जाती है और स्नान के पश्चात् नाड़ी को सुखाने की ओर ठीक ध्यान न दिया जाय तो उसमें पाक होने की संभवनीयता बढ़ती है । कुछ चिकित्सकों ने यहाँ तक सिद्ध किया है कि नाड़ी को सुखाने की कितनी भी कोशिश क्यों न की जाय, अस्नात बालकों की अपेक्षा स्नात बालकों में नाडीपाक अधिक हुआ करता है । इसलिए उन लोगों का कथन है कि जन्मदिन से नाभिनाडी गिरने के पश्चात् नाभिव्रण का पूर्ण रोपण होने के समय तक बालक को न नहलाना चाहिए, परंतु नाभि और नाड़ी गीली न हो जाय, उस प्रकार से शरीर को पोंछ देना चाहिए । इस कथन में कुछ तथ्य है । इसलिए बालक को नहलाने के पश्चात् प्रतिदिन नाभिनाडी को सुखाने पर तथा उसके साथ संबंध रखने वाले कपड़ों की सफाई पर विशेष ध्यान देना चाहिए ।** कोष्णेन—**शरीरतापक्रम से कुछ अधिक, ९००° फै०** The water should be nearly blood-warm and it is best to rub the skin all over first with some sweet oil. *Esoteric Anthropology.* **कोष्ण का अर्थ मंदोष्ण याने शरीरतापक्रम से कुछ अधिक । स्नान का पानी शरीरतापक्रम से कुछ अधिक रखने पर स्नान के समय वह शरीरतापक्रम के बराबर हो जाता है ।** यथाकालम्—**काल के अनुसार । जैसे, शीतकाल में पानी कुछ अधिक गरम हो, मध्यम काल में मंदोष्ण हो और गरमियों के दिनों में कुछ ठंढा (७०°–८०° फै०) हो ।** यथादोषं यथाविभवं च—दोषानतिक्रमेण, क्षीरिवृक्षकषायेण पित्तघ्नेन, सर्वगन्धोदकेन वा वातघ्नेन । विभवानतिक्रमेण रूप्यहेमतप्तेन वारिणा । (**डल्हण**) । जातकर्म—जातमात्रस्य वेदोक्तं कर्म ।

धमनीनां हृदिस्थानां विवृतत्वादनन्तरम् ।
चतूरात्रात्त्रिरात्राद्वा स्त्रीणां स्तन्यं प्रवर्तते ॥१३॥
तस्मात् प्रथमेऽह्नि मधुसर्पिरनन्तमिश्रं मन्त्रपूतं त्रिकालं पाययेत्, द्वितीये लक्ष्मणासिद्धं सर्पिः, तृतीये च; ततः प्राङ्निवारितस्तन्यं मधुसर्पिः स्वपाणितलसंमितं द्विकालं पाययेत् ॥१४॥

(**स्तन्योत्पत्तिकाल**—) **हृदय (प्रदेश) में स्थित धमनियों के विस्फुट होने के कारण (प्रसूति के) पश्चात् तीसरे या चौथे दिन से स्त्रियों को दूध शुरू होता है ॥१३॥ इसलिए प्रथम दिन (बालक को) मन्त्रपूत सुवर्णमिश्र मधुसर्पि (दिन भर में) तीन बार पिलावे, दूसरे और तीसरे दिन लक्ष्मणासिद्ध घृत (प्रथम दिन के समान तीन बार); चौथे दिन पहले (माता का) दूध न पिलाये गये उस (बालक) को (उसकी) हथेली में जितना रहे उतना घी और मधु दो बार पिलावे, (पश्चात् तीसरे समय से माता का दूध पिलाना शुरू करे) ॥१४॥**

वक्तव्य—धमनीनां हृदिस्थानाम्—**हृदयप्रदेशस्थित अर्थात् स्तनसंश्रित धमनियाँ**—धमन्यः संवृतद्वारा कन्यानां स्तनसंश्रिताः । दोषाविसरणात्तासां न भवन्ति स्तनामयाः ॥ तासामेव प्रजातानां गर्भिणीनां च ताः पुनः । स्वभावादेव विवृता जायन्ते । (**निदान १०**) । विवृतत्वात्—**स्तनसंश्रित धमनियों की विवृतता प्रसूति के पश्चात् नहीं होती, वह गर्भावस्था के प्रारंभ से शुरू होती है और संपूर्ण गर्भावस्था पर रहती है, यह बात उपर्युक्त श्लोकों से स्पष्ट है । अर्थात् तीसरे या चौथे दिन स्तन्य उत्पन्न होने का कारण विवृतता नहीं है, इसको ध्यान में रखना चाहिए । स्तन्यप्रवर्तन के दो कारण हैं—(१)** स्वभाव—**जैसे गर्भ का आधान होने के पश्चात् स्वभाव से स्तनसंश्रित धमनियाँ विवृत हो जाया करती हैं, वैसे ही प्रसूति के पश्चात् तीसरे या चौथे दिन स्तनों से दूध निकलने लगता है । (२)** प्रसूति—**प्रसूति होने के पश्चात् । प्रसूति स्तनों में स्तन्य का प्रवर्तक होती है**—सिराणां हृदयस्थानां विवृतत्वात् प्रसूतितः । (**अष्टांगहृदय**) । स्तन्योत्पत्ति के संबंध में आधुनिक मत—**आधुनिक काल में इसके संबंध में बहुत कुछ खोज हुई है, परंतु अभी तक ठीक ठीक निर्णय नहीं हुआ है । तथापि स्तन्यप्रवर्तन के संबंध में निम्न उपपत्ति बतलाई जाती है । मस्तिष्क के**

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

षणिका ग्रंथि (Pituitary body) के अग्रिम भाग से जो स्राव निकलकर रक्त में मिलता है, वह स्तनों में रक्त साथ पहुँचकर उनको स्तन्योत्पत्ति में प्रवर्तित करता यह द्रव्य स्तन्यप्रवर्तक, या स्तन्यजनक या स्तन्यपूर्वज rolactin, Galactin) कहलाता है। बालक को दूध की वश्यकता जिस अवधि में होती है, उस अवधि में यह व्य उस ग्रंथि के अग्रिम (Anterior) हिस्से में बनता ता है और दूध की उत्पत्ति में सहायता करता है। जब की आवश्यकता नहीं होती, तब यह द्रव्य भी उसमें हीं बनता। इसका अभिप्राय यह है कि गर्भावस्था में द्रव्य नहीं बनता और प्रसूति होने पर बनने लगता है सके कारण दूसरे या तीसरे दिन दूध का प्रवर्तन शुरू ता है। अब प्रसूति के और इसके बीच में क्या संबंध ! इसके बारे में कई मत प्रचलित हैं, जिनमें निम्न दो ख्यान हैं—(१) प्रसूति के बाद गर्भाशय सिकुड़ता है र उससे पोषणिकाग्रंथि को नाड़ियों द्वारा (Nervous eflexes) सूचना मिल जाती है कि अब दुग्धप्रवर्तक द्रव्य नाने का समय आ गया है। (२) गर्भावस्था में अपरा और बीजग्रंथि से कुछ द्रव्य (तीसरे अध्याय के १५वें श्लोक का वक्तव्य देखो) बनते हैं, जो प्रायः पोषणिकाग्रंथि स्तन्यप्रवर्तक द्रव्य की उत्पत्ति के विरोधी होते हैं। सूति के पश्चात् अपरा का यह विरोधी कार्य नष्ट होने वह ग्रंथि दुग्धप्रवर्तक द्रव्य को बनाती है, जिसके रिणाम स्वरूप में स्तनों में दूध का प्रवर्तन होता है। क्षेप में, जो स्वभाव गर्भावस्था में बालक का पोषण प्रगल्भ होने पर गर्भाशय से उसका निष्कासन करता (निदानस्थान ८वें अध्याय के ८वें श्लोक और उसके क्तव्य को देखो) है, वही निष्कासन के पश्चात् दूध त्पन्न करके उसका पोषण करता है। परंतु स्वभाव परमेश्वर समान निर्गुण निराकार होने के कारण कार्य करने के लिए उसको सगुण साकार अंगों और द्रव्यों का आधार लेना पड़ता है। स्वभाव प्रत्येक कार्य के लिए किस प्रकार और किस का आधार लेता है, इसको जानने में ज्ञान है। इसको जानने की कोशिश अत्यन्त प्राचीन काल से अब तक हो रही है और भविष्य में भी होती रहेगी और इसके कारण ज्ञान की वृद्धि भी होती आ रही है और होती जायगी। परंतु एक मर्यादा पर अंत में स्वभाव पर ही छोड़ना पड़ेगा। ज्ञान की वृद्धि इस मर्यादा को बढ़ाने में होती है। प्राचीन काल में यह मर्यादा बहुत छोटी थी, अब अधिक बढ़ गई है, भविष्य में इससे अधिक बढ़ेगी। द्विरात्रात् त्रिरात्राद्वा—इसमें संदेह नहीं है कि प्रारंभिक दो तीन दिन स्तनों में दूध नहीं होता या अत्यल्प होता है। प्रसूति के कारण उत्पन्न हुए परिवर्तन का परिणाम स्तन्योत्पत्ति में होने के लिए दो तीन दिन की अवधि आवश्यक होती है। जब स्तनों में दुग्धोत्पत्ति प्रारंभ होती है, तब वे कठिन और पीडायुक्त होते हैं। क्वचित् उस समय शरीर का तापक्रम एक दो अंश से बढ़ सकता है। इसको स्तन्यज्वर (Milk-fever) कहने का रिवाज है। काश्यपसंहिता में सूतिकाज्वर के कारणों में स्तन्यागम एक कारण दिया है, तथा उसके लक्षण दिये हैं—स्तन्यागमाद्गृहाबाधादजीर्णाद् दुष्प्रजायनात्। ज्वरः संजायते नार्याः षड्विधो हेतुभेदतः॥ तृतीयेऽह्नि चतुर्थे वा नार्याः स्तन्यं प्रवर्तते। पयोवहानि स्रोतांसि संवृतान्यभिघट्टयेत्॥ करोति स्तनयोः स्तम्भं पिपासां हृदयद्रवम्। कुक्षिपार्श्वकटीशूलमङ्गमर्दं शिरोरुजाम्॥ एतत् स्तन्यागमोत्थस्य ज्वरस्योक्तं स्वलक्षणम्। स हि पीयूषसंशुद्धौ क्रममात्रेण तिष्ठति॥ इसका अभिप्राय यह है कि तीसरे या चौथे दिन दूध उत्पन्न होकर बंद पयोवह स्रोतसों (Lactiferous bobules and ducts) में अभिघट्टन याने उत्तेजना पैदा करता है, जिससे स्तनों में स्तम्भ (कठिनता और पीडा) और छाती में बेचैनी (हृदयद्रव) इत्यादि लक्षण होते हैं। पीयूष की शुद्धि होने पर ये लक्षण आप से आप ठीक होते हैं। अर्थात् दुग्ध का प्रवर्तन ठीक प्रारंभ होने पर स्तनगत कठिनता, पीडा, सिरदर्द तथा हरारत ये लक्षण आप से आप ठीक हो जाते हैं। कुछ पाश्चात्त्य प्रसूतिशास्त्रज्ञ स्तन्यज्वर के अस्तित्व के संबंध में जो शंका प्रदर्शित करते हैं, वह ठीक नहीं है। स्तन्यज्वर यद्यपि सब स्त्रियों में नहीं तथापि कुछ स्त्रियों में, विशेषतः वातिक और कोमल प्रकृति की स्त्रियों में कई बार उत्पन्न होता है। इसका कारण अभी तक ठीक ठीक मालूम नहीं हुआ है—And as to the cause and significance of the rise of temperature which sometimes accompanies the shooting in of the milk, we are still more uncertain. *Ideal Birth.* स्तन्यज्वर की उत्पत्ति के संबंध में इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि वह कुछ घंटों से अधिक देर तक नहीं रहता। यदि अधिक देर ज्वर लगातार बना रहे तो स्तन्यज न समझकर योनिदोषज समझना चाहिए और उसके अनुसार जननेन्द्रिय की ओर अधिक ध्यान देकर चिकित्सा करनी चाहिए। स्तन्यम्—प्रारंभ में जो दूध स्तनों से निकलता है, उसका संगठन नित्य के दूध से भिन्न होता है। इस दूध को पीयूष या खीस (Colostrum) कहते हैं—आसप्तरात्रं प्रसवात् क्षीरं पीयूषमुच्यते। इसमें प्रोटीनों की राशि अधिक (६ प्रतिशत) होती है और शर्करा तथा चरबी की स्वाभाविक से आधी (शर्करा २ प्रतिशत; चरबी ३·७ प्रतिशत) होती है। चरबी की विशेषता यह होती है कि वह सेलों के भीतर रहती है। ये पीयूष सेलें (Colostrum corpuscles) कहलाती हैं। तीन चार दिन के बाद ये सेलें दूध में नहीं मिलतीं। पीयूष वर्ण में पीला, गाढा और क्षारीय होता है, जो गरम करने से या वैसा ही जम जाता है। इसमें कुछ सारक गुण भी होता है। तस्मात्—प्रथम दो तीन दिन बालक को दूध नहीं मिलता, इसलिए। काश्यपसंहिता में लेहप्राशन के जो अनेक निर्देश (Indications) बताये गये हैं, उनमें माता को दूध न होना या कम होना ये दो निर्देश मिलते हैं—अक्षीरा जननी येषामल्पक्षीराऽपि वा भवेत्। (सूत्रस्थान, लेहाध्याय)। इस दृष्टि से प्रारंभिक लेहसेवन अक्षीरावस्था के लिए है, ऐसा समझ सकते हैं। अर्थात् इसका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उपयोग आहार के लिए भी हो सकता है, क्योंकि घी और मधु दोनों भी उत्तम आहार्य द्रव्य हैं। हाराणचन्द्र अवलेह सेवन स्तन्याभावजनित दोषोपशमन के लिए मानते हैं—पाययेदिति स्तन्याभावजनितदोषोपशमार्थं न पुनराहारार्थमिति निश्चीयतेऽनेरणीयस्त्वेन मध्वादीनां गन्धमात्रेणोपयोगात्। आहार के सिवा अवलेह का दूसरा भी एक उपयोग हो सकता है। यद्यपि स्तन्यचूषण एक स्वाभाविक कर्म है तथापि प्रारंभ में दूध गाढा होने के कारण तथा बालक को चूसने तथा निगलने का अभ्यास न होने के कारण दूध खींचने में कठिनाई होती है। अवलेह चटाने से बालक को चूसने तथा निगलने का कुछ अभ्यास हो जाता है, जिससे तीसरे दिन जब बालक स्तनों पर लगाया जाता है तब वह स्तनपान करने में समर्थ होता है। साधारणतया प्रथम या द्वितीय दिन में बालक को स्तनपान की इच्छा बहुत कम होती है तथा स्तनपान करने का सामर्थ्य भी नहीं होता। ऐसी अवस्था में अवलेह चटाने का प्रयोग फायदेमन्द होता है। क्षीरप्रवर्तन के पूर्व बालक को दूध दिया जाय या नहीं? इस प्रश्न का उत्तर तीसरे दिन के स्तन्यप्रवर्तन में ही मिल जाता है। बालक के पोषण के लिए जो दूध माता के स्तनों में स्वभाव से उत्पन्न होता है, उसकी यदि आवश्यकता प्रारंभिक तीन दिनों में होती तो स्वभाव प्रथम दिन से ही स्तन्यप्रवर्तन कर देता। परंतु ऐसा कहीं नहीं होता। इसका अभिप्राय यह है कि बालक को प्रथम दो दिनों में भोजन की विशेष आवश्यकता नहीं होती। जो कुछ माता के स्तनों से (आगे चरक का वचन देखो) मिलता है तथा मधुसर्पि के रूप में थोड़ा सा दिया जाता है, उतना ही उसके लिए काफी होता है। अज्ञानी लोग इस अक्षीरावस्था में बालक को गाय का या अन्य जानवर का दूध पिलाने लगते हैं। यह बड़ी भूल है। 'स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं हितम्' यह वाग्भटाचार्य का वचन प्रथम तीन दिनों के स्तन्याभाव के लिए नहीं है, परंतु तीसरे दिन दूध न आने पर उत्पन्न हुए स्तन्याभाव के लिए है, क्योंकि प्रथम तीन दिनों की मधुसर्पि चटाने की विधि देने के पश्चात् चौथे दिन से माता का ही दूध पिलाने के लिए 'मातुरेव पिबेत्स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये' यह श्लोकार्ध आता है, और उसके बाद 'स्तन्याभावे' यह श्लोक आता है—Nature intended the infant to wait for a couple of days or so before receiving any food. For the first two days nothing is taken. *Ten teachers' Midwifery*. इसलिए तत्र तत्र आहारार्थं 'स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं हितम्' इत्यागमानुसरणं नानुपपन्नम् यह हाराणचन्द्रजी का कथन ठीक नहीं है।

चरकसंहिता में प्रथम दिन से ही स्तनपान कराने के लिए लिखा है—मधुसर्पिषी मन्त्रोपमन्त्रिते यथाम्नायं प्रथमं प्राशितुं दद्यात्। स्तनमत ऊर्ध्वमेतेनैव विधिना दक्षिणं पातुं पुरस्तात् प्रयच्छेत्। आधुनिक पाश्चात्त्य कौमारभृत्यों का भी कथन है कि प्रथम दिन से ही बालक को स्तनपान करावे। इससे दो फायदे होते हैं—(१) बालक के स्तनपान करते समय, चाहे स्तन से दूध निकले या न निकले, गर्भाशय में उत्तेजना पैदा होती है, जिसका परिणाम गर्भाशय के संकोच होने में होता है। (२) यद्यपि बालक का संबंध न होने पर भी तीसरे या चौथे दिन स्तनों में स्तन्यप्रवर्तन स्वभाव से ही हुआ करता है, तथापि बालक को प्रथम दिन से स्तनपान कराने से स्तन्योत्पत्ति में सहायता होती है। बालक को आहार की आवश्यकता है या नहीं? स्तनपान करने का सामर्थ्य है या नहीं? इसका ज्ञान जब तक स्तनपान नहीं कराया जायगा, तब तक नहीं होगा। इसलिए, तथा उपर्युक्त फायदों के लिए चरकमतानुसार प्रथम दिन से ही स्तनपान कराने की विधि ही प्रशस्त है। अनन्तमिश्रं मन्त्रपूतम्—'प्र ते ददामि मधुनः' इस मन्त्र (१२वें सूत्र के वक्तव्य में देखो) से सुवर्णचूर्ण घी और मधु के साथ दिया जाता है। अवलेह बनाने की विधि और सुवर्ण के फायदे काश्यपसंहिता में निम्न प्रकार से वर्णित हैं—विघृष्य धौते दृषदि प्राङ्मुखी लघुनाऽम्बुना। आमथ्य मधुसर्पिर्भ्यां लेहयेत् कनकं शिशुम्॥ सुवर्णप्राशनं ह्येतन्मेधाग्निबलवर्धनम्। आयुष्यं मंगलं पुण्यं वृष्यं वर्ण्यं ग्रहापहम्॥ मासात्परममेधावी व्याधिभिर्न च धृष्यते। षड्भिर्मासैः श्रुतधरः सुवर्णप्राशनात् भवेत्॥ (लेहाध्याय)। प्राङ्निवारितस्तन्यम्—यह बालक का विशेषण है और इसका अर्थ है—जिसके लिए प्रथम तीन दिन स्तन्य निषिद्ध किया गया था, उसको। अष्टांगसंग्रह में स्पष्ट लिखा है—ततः प्राङ्निवारितस्तन्यस्य स्वपाणितलसंमितं सर्पिर्द्विकालं दापयेत्। अनन्तरं च स्तन्यमिष्टतः॥ इसका अर्थ यह है कि चौथे दिन दो बार मधुसर्पि बालक को चटावे और तीसरी बार से उसको यथेच्छ स्तनपान करावे। किंवा इसका दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि चौथे दिन दो बार प्रथम बालक को मधुसर्पि चटावे और तुरन्त उसको पश्चात् स्तनपान करावे। पहले पहल स्तनपान कराने के पूर्व, जैसे कि धात्री के बारे में आगे २७वें सूत्र में बताया गया है, स्तन को साफ धोकर तथा निचोड़कर कुछ दूध निकालकर पश्चात् बालक को स्तन पिलावे। डल्हण वाग्भटमतानुसार प्रथम अर्थ देते हैं—ततश्चतुर्थे दिवसे प्रातर्मध्याह्नादिलक्षणे मधुसर्पिः प्राशयेत्, तदनन्तरं चतुर्थदिवसस्य तृतीयकालमारभ्य पञ्चमादिदिवसेषु यथेष्टं स्तन्यपानं कारयेत्। कं? बालं; किं विशिष्टं? प्राङ्निवारितस्तन्यं, प्राक् पूर्वं निवारितं स्तन्यं यस्य तत्॥

अथ सूतिकां बलातैलाभ्यक्तां वातहरौषधनिष्क्वाथेनोपचरेत्। सशेषदोषां तु तदहः पिप्पलीपिप्पलीमूलहस्तिपिप्पलीचित्रकशृङ्गवेरचूर्णं गुडोदकेनोष्णेन पाययेत्, एवं द्विरात्रं त्रिरात्रं वा कुर्यादादुष्टशोणितात्। विशुद्धे ततो विदारिगन्धादिसिद्धां स्नेहयवागूं क्षीरयवागूं वा पाययेत्त्रिरात्रम्। ततो यवकोलकुलत्थसिद्धेन जाङ्गलरसेन शाल्योदनं भोजयेद्बलमग्निबलं चावेक्ष्य। अनेन विधिनाऽध्यर्धमासमुपसंस्कृता विमुक्ताहाराचारा विगतसूतिकाभिधाना स्यात्, पुनरार्तवदर्शनादित्येके ॥१५॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धन्वभूमिजातां तु सूतिकां घृततैलयोरन्यतरस्य मात्रां पाययेत् पिप्पल्यादिकषायानुपानां, स्नेहनित्या च स्यात्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा (बलवती;) अबलां यवागूं पाययेत्त्रिरात्रं पञ्चरात्रं वा । अत ऊर्ध्वं स्निग्धेनान्नसंसर्गेणोपचरेत् ॥१६॥

प्रायशश्चैनां प्रभूतेनोष्णोदकेन परिषिञ्चेत्, क्रोधायासमैथुनादीन् परिहरेत् ॥१७॥

(सूतिका की परिचर्या—) (अपरा गिरने के पश्चात्) सूतिका को बलातैल का अभ्यंग करवाके वातहर ओषधियों के क्वाथ से चिकित्सा करे । यदि (गर्भाशय में कोई) दोष शेष रहा हो उसी (प्रसव के) दिन पिप्पली, हस्तिपिप्पली, पिप्पलीमूल, चित्रक, सोंठ इनका चूर्ण गरम गुडोदक के साथ पिलावे, इस प्रकार दो दिन, तीन दिन या जब तक दुष्ट रक्त निकलता हो तब तक (पिलावे); रक्त शुद्ध हो जाने पर विदारिगन्धादि (गण की ओषधियों से) सिद्ध घृत युक्त या क्षीरयुक्त यवागू तीन दिन पिलावे। उसके पश्चात् (सूतिका के शारीरिक) बल और जठराग्नि बल को देखकर (उसके अनुसार) जौ, बेर और कुलथी से सिद्ध जांगल (पशु-पक्षियों के मांस के) रस के साथ चावलों का भात (न्यूनाधिक मात्रा में) खिलावे । डेढ़ महीने तक इस प्रकार (आहार और आचार के नियमों के अनुसार) परिचारिता (प्रसूता स्त्री उसके पश्चात्) आहार और आचार (के नियमों) से तथा सूतिका नाम से विमुक्त हो जाती है । कई आचार्यों का मत है कि (प्रसूति के पश्चात्) फिर से आर्तवदर्शन होने के समय तक (स्त्री सूतिका होती है तथा तब तक उसको उपर्युक्त आहाराचार के अनुसार रहना चाहिए) ॥१५॥

जांगलदेश (मरुभूमि) में प्रसूत हुई सूतिका को (पूर्वोक्त) पिप्पल्यादि कषाय के अनुपान के साथ घी या तैल में से किसी एक को मात्रानुसार पिलावे । (इस प्रकार बलवती प्रसूता) तीन दिन या पाँच दिन (तक) नित्य स्नेह सेवन करे । निर्बल प्रसूता को (स्नेह के बदले) यवागू तीन दिन या पाँच दिन (तक) पिलावे । इसके बाद स्नेह से युक्त अन्न से उपचार करे ॥१६॥

साधारणतया सूतिका को बहुत से गरम जल से (प्रतिदिन) स्नान करावे । (प्रसूता) क्रोध, (अत्यधिक शारीरिक या मानसिक) परिश्रम, मैथुन इत्यादि का त्याग करे ॥१७॥

वक्तव्य—इन सूत्रों में सूतिका की परिचर्या तथा स्वस्थवृत्त का वर्णन किया है । सद्योपदोषा—गर्भजन्म के पश्चात् अपराजन्म होता है, जिसका विवरण आगे २०वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है । अपरा और जरायु बाहर निकल आने पर गर्भाशय पूर्ववत् होने के लिए कुछ दिनों की आवश्यकता होती है । उस अवधि में योनिगर्भाशय से रक्तस्राव (Lochia) होता है । इसी स्राव के द्वारा गर्भाशयगत दोष बाहर निकल आते हैं और गर्भाशय की अन्तःकला पूर्ववत् स्वस्थ हो जाती है । जरायु तथा अपरा के बाहर आने पर भी उसके कुछ छोटे बड़े टुकड़े गर्भाशय के भीतर रह सकते हैं और प्रायः रहा करते हैं । ये टुकड़े भीतर रहना ठीक नहीं है, यह दोष स्वरूप होते हैं । ये कणशः रक्त के साथ बाहर आया करते हैं । इस प्रकार का दोषयुक्त रक्त तीन चार दिन तक साधारणतया गर्भाशय से बाहर निकलता है । उसके पश्चात् गर्भाशय के स्राव का वर्ण कुछ फीका हो जाता है और तीन चार रोज के पश्चात् अधिक से अधिक दसवें दिन तक गर्भाशयगत स्राव पानी के समान कुछ पीलापन लिये स्वच्छ हो जाता है । गर्भाशयगत स्राव को दोष मानने का रिवाज है, जैसे आर्तवशोणित को दोष मानते हैं; और जैसे आर्तवशोणितस्राव बंद होने पर चौथे दिन स्नान कराके स्त्री शुद्ध की जाती है, वैसे ही प्रसूता प्रसवोत्तर दोषशोणितस्राव बंद होने पर ग्यारहवें दिन स्नान कराके शुद्ध की जाती है । प्रसूति के पश्चात् निरपवाद स्त्री सद्योपदोष हुआ करती है, जिसको दूर करने के लिए पिप्पल्यादि चूर्ण दिया जाता है । यदि दोष हो तो पिप्पल्यादि चूर्ण देना यह सद्योपदोषा का अर्थ नहीं है । स्त्री सद्योपदोष होती है, इसलिए प्रसवोत्तरकाल के प्रारंभिक कुछ दिनों में पिप्पल्यादि चूर्ण देना यह परिचर्यापरिपाटी है । इसलिए चरकसंहिता में, सूतिका को भूख मालूम होते ही पिप्पल्यादि चूर्णयुक्त स्नेह देने के लिए बताया है । आदुष्टशोणितात्—जब तक स्राव अधिक खराब रहता है, तब तक । इसकी अवधि तीन चार दिन की होती है । इसलिए पिप्पल्यादि चूर्णयुक्त स्नेह दो तीन दिन तक देने के लिए कहा है । अध्यर्धमास— इससे सूतिका की अवस्था (Puerperium) की अवधि बताई गई है । प्रसूतावस्था शब्द स्त्री की उस अवस्था के लिए प्रयुक्त होता है, जिस अवस्था में गर्भावस्था और प्रसव के कारण उत्पन्न हुए उसके शरीर के ह्रास की पूर्ति होकर वह यथापूर्व स्वस्थ और एक दृष्टि से फिर गर्भक्षम हो जाती है । इस अवस्था का प्रारंभ प्रसवदिन से होता है और अन्त गर्भाशय के पूर्वावस्था प्राप्त होने पर होता है । अन्तिम मर्यादा प्रारंभिक मर्यादा के समान निश्चित नहीं है । उसमें प्रत्येक स्त्री में कुछ अन्तर हो सकता है । तथापि व्यावहारिक दृष्टि से, अगर कोई खराबी या विशेष कारण न हो तो, गर्भाशय की पूर्वस्थिति छः हफ्ते में प्राप्त होती है । इसलिए आयुर्वेद के अनुसार पाश्चात्य प्रसूतिशास्त्रज्ञ भी प्रसूतावस्था की अवधि छः सप्ताह की मानते हैं— Strictly speaking, it (puerperium) lasts from the commencement of the third stage until the completion of the uterine involution—that is, for about six weeks. *Jellet's Midwifery*. प्राचीन परम्परा के अनुसार भारतवर्ष में सूतिकावस्था की अवधि तीन महीने की मनाई जाती है और चौथे महीने के प्रारंभ में बालक के साथ देवतादर्शन (आगे ५३वें सूत्र का वक्तव्य देखो) करने के पश्चात् स्त्री विगतसूतिकाभिधाना और आहाराचार से स्वतन्त्र होती है—व्युपद्रवां विशुद्धां च विज्ञाय वरवर्णिनीम् । ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यो नियमं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिहारयेत्। इन आधारों पर प्रसूतावस्था की कम से कम अवधि डेढ़ महीने की और अधिक से अधिक तीन महीने की समझना उचित है। पुनरार्तवदर्शनात्—एकीय मत से यह शब्द प्रयोग प्रसूतावस्था की उत्तर मर्यादा बतलाता है। एक दृष्टि से यह मत ठीक है क्योंकि आर्तवदर्शन से गर्भाशय अपनी पूर्व स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो चुका है, इसका परिचय हो जाता है। परंतु आर्तवदर्शन के ऊपर मर्यादा स्थिर करने में उसमें बड़ा अस्थैर्य आ जाता है। इसका कारण यह है कि दूध पिलाने की अवस्था में आर्तव-दर्शन न होना यह एक नष्टार्तव का स्वाभाविक कारण है (दूसरे अध्याय के २२वें श्लोक का और आगे ३६वें श्लोक का वक्तव्य देखो) और इसलिए कई स्त्रियों में प्रसूति के पश्चात् बारह मास तक आर्तवदर्शन नहीं होता। आर्तव-दर्शन पर उत्तरमर्यादा निश्चित करने का परिणाम यह होगा कि प्रसूतावस्था की अवधि कुछ स्त्रियों में दो महीने की, कुछ स्त्रियों में तीन महीने की, कुछ स्त्रियों में चार महीने की और कुछ स्त्रियों में साल भर की हो जायगी, और उनको उतने काल तक नियन्त्रित आहार-विहार से रहना पड़ेगा। इस प्रकार के नियन्त्रित आहार-विहार से अधिक काल तक रहना न व्यावहारिक दृष्टि से शक्य है, न स्वास्थ्य की दृष्टि से हितकर है। इसके सिवा कुछ स्त्रियों में कई बार विना आर्तवदर्शन के गर्भधारणा हुआ करती है। इस नियम के अनुसार ये स्त्रियाँ कभी प्रसूता और कभी गर्भवती रहेंगी; तीसरी अवस्था इनके लिए न हो सकेगी। अर्थात् गर्भवती और प्रसूता ये दोनों अवस्थाएँ नियन्त्रित आहार-विहार की होने के कारण इन स्त्रियों को अपनी प्रजोत्पादन की आयु नियन्त्रित आहार-विहार में बितानी पड़ेगी। संक्षेप में यद्यपि एक दृष्टि से पुनरार्तवदर्शन पर प्रसूतावस्था की उत्तरमर्यादा स्थिर करने में कुछ तथ्य है, तथापि व्यावहारिक दृष्टि से यह नियम अनुपपाद्य है। धन्वभूमिजाता—मरुभूमिप्रजाता—समानौ मरुधन्वानौ (अमरकोष)। म्रियते पिपासया यस्मिन् मरुः। आयुर्वेदिक परिभाषा के अनुसार इसको जांगलदेश कह सकते हैं—अल्पोदकद्रुमो यस्तु प्रवातः प्रचुरातपः। ज्ञेयः स जांगलो देशः। (चरक, विमान ३)। ऐसे देश में प्रसूत हुई। तु—परंतु। इससे यह स्पष्ट होता है कि इससे पहले याने पंद्रहवें सूत्र में जो उपचार वर्णन किया गया है, वह आनूप देश प्रजाता स्त्री के लिए है। घृततैलयोरन्यतरस्य—काश्यपसंहिता के अनुसार पुत्रप्रजाता के लिए तैल और कन्याप्रजाता के लिए घी। काश्यपसंहिता में तीनों प्रकार के देशों में स्त्री की उपचर्या के संक्षिप्तसूत्र निम्न प्रकार से वर्णित हैं—त्रिविधं देशमाश्रित्य वक्ष्यामि त्रिविधं विधिम्। आनूपदेशे भूयिष्ठं वातश्लेष्मात्मका गदाः॥ तत्राभिस्यन्दभूयस्त्वादादौ स्नेहो विगर्हितः। मण्डादिरत्र कर्तव्यः संसर्गोऽग्निबलावहः॥ स्वेदो निवातशयनं सर्वमुष्णं च शस्यते। नियतं जांगले देशे वातपित्तात्मका गदाः। तदत्र स्नेहसात्म्यत्वात् स्नेहादिः स्वादुपक्रमः। कार्यप्रजातमात्राया विशेषश्चात्र बुध्यते॥ कुमारप्रसवे तैलं कुमारीप्रसवे घृतम्। पिबेज्जीर्णे यवागूं च दीपनीयोपसंस्कृताम्॥ पञ्चाहं सप्तरात्रं वा ततो मण्डाद्युपक्रमः।

देशे साधारणे चास्या हितः साधारणो विधिः॥ (सूतिकोपक्रमणीय अध्याय)। उष्णोदकेन परिषिञ्चेत्—चरक और अष्टांगसंग्रह में यवागू पान करने से पूर्व दिन में दो बार गरम पानी से परिषेचन या स्नान कराने के लिए लिखा है—उभयतः कालं चोष्णोदकेन च परिषेचयेत् प्राक् स्नेहयवागूपानाभ्याम्। क्रोधायासमैथुन—इनके संबंध का विवरण इसी वक्तव्य में आगे स्वतन्त्ररूप से किया गया है।

प्रसूता की परिचर्या तथा स्वस्थवृत्त—उपर्युक्त तीन सूत्रों में प्रसूता की परिचर्या और स्वस्थवृत्त का विचार किया गया है। इसी का विचार अब जरा व्यवस्थित रूप से किया जायगा। अपरा निकल जाने के पश्चात् प्रसूता की परिचर्या का प्रारंभ होता है। अपरा के निकल जाने का, निकालने का और निकल आने पर उदर और जननेन्द्रिय के संबंध का विचार आगे २०वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। यहाँ पर सर्वसाधारण अन्य बातों का विचार कर्तव्य है। (१) आराम—अपरा निकल जाने के पश्चात् प्रसूता को खटिया या पलंग पर उत्तानासन में लेटे रहना ही प्रशस्त होता है। खटिया या पलंग का सिरहाना कुछ ऊँचा करने से प्रसवशोणित (Lochia) के नीचे की ओर बहने में आसानी होती है। यह उत्तानासन प्रसूता को दो हफ्ते से चार हफ्ते तक रखना चाहिए। प्रारंभिक कुछ दिन मलमूत्र विसर्जन और अन्नग्रहण भी लेटे लेटे करना उचित है। यदि यह न हो सके तो इन आवश्यक कामों के लिए थोड़ी देर तक प्रसूता उठ सकती है, परंतु बाकी सब काल प्रसूता को बिस्तरे पर आराम से पड़े रहना चाहिए। साधारणतया जब तक योनि से प्रसवशोणित का स्राव बंद होता रहता है, तब तक पूर्ण आराम करना चाहिए और स्राव बंद होने के पश्चात् कुछ दिनों तक आवश्यक कामों के लिए थोड़ी देर बैठना उचित है। यदि इससे फिर से योनि से स्राव प्रारंभ हो जाय तो फिर से बैठना बंद कर देना चाहिए। भारतवर्ष में प्रसूता स्त्री को प्रथम दस दिन पूर्ण आराम और पश्चात् महीना भर अधिकांश आराम देने का रिवाज अत्यंत प्राचीन काल से चला आ रहा है। यह रिवाज अत्यंत युक्तियुक्त और स्वास्थ्यवर्धक है। परंतु आधुनिक काल में भारतीय जैसे अपने अच्छे अच्छे रिवाजों और रीतियों को पाश्चात्त्यों की नकल करने के लिए छोड़ रहे हैं, वैसे इस रिवाज के बारे में भी हुआ है और प्रसूति के दो चार दिनों के पश्चात् स्त्रियाँ उठने-बैठने, चलने-फिरने लगी हैं। यह पाश्चात्त्य ढंग अधिकतर लिखी-पढ़ी स्त्रियों में और प्रसव के लिए अस्पताल में जाने वाली स्त्रियों में दिखाई देता है। लिखी-पढ़ी स्त्रियाँ वैसे भी कमजोर रहती हैं और पाश्चात्त्यों की देखा-देखी इस प्रकार के चोचले करने से उनकी मिट्टी और भी पलीद हो जाती है और उनका स्वास्थ्य खराब हो जाता है। आराम की दृष्टि से स्त्रियों के तीन विभाग कर सकते हैं। (१) जंगली और देहाती स्त्रियाँ—ये स्त्रियाँ मजबूत होती हैं। इन्हें आराम की आवश्यकता बहुत कम होती है। जंगली स्त्रियाँ अधिक मजबूत होती हैं, जो आखिर तक जंगल में या रास्ते में अपना काम किया

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करती हैं और प्रसव के समय जरा सी ओझल होकर, प्रसूति के पश्चात् बच्चे को अपनी पीठ पर बाँधकर फिर से अपने काम में लग जाती हैं। देहाती स्त्रियाँ उतनी मजबूत नहीं होतीं। ये प्रायः दस दिन तक आराम करके फिर अपने काम में लग जाती हैं। (२) मध्यमवर्ग की स्त्रियाँ—ये स्त्रियाँ प्रायः अनपढ़ या उनके बराबर होती हैं तथा अपने गृहकर्म में लगी रहती हैं। अतः इनमें न बहुत चोचले होते हैं, न बहुत कमजोरी होती है। क्योंकि गृहकर्म करने की आवश्यकता पड़ने के कारण उनको चोचले करने के लिए समय नहीं मिलता, तथा शरीर को काफी व्यायाम होता है। इन स्त्रियों के लिए प्रसूति के पश्चात् पहले वर्ग की स्त्रियों की अपेक्षा अधिक आराम की आवश्यकता होती है। इनको एक महीने से कम आराम न मिलना चाहिए। (३) लिखी-पढ़ी स्त्रियाँ—ये स्त्रियाँ पढ़ने से तथा शारीरिक श्रम न करने से अधिक कमजोर होती हैं। इनके लिए तीन महीने के आराम की आवश्यकता होती है। आराम की आवश्यकता क्यों? प्रसूति के पश्चात् प्रसूता को आराम करने के दो कारण होते हैं—(१) गर्भाशय की स्थिति—गर्भ को अपने भीतर समाने के लिए सगर्भावस्था में गर्भाशय लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, समाई और भार इन सब बातों में अगर्भावस्था की अपेक्षा कई गुना बढ़ता है। प्रसूति होते ही जादू के असर से गर्भाशय अपनी पूर्वस्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता। उसमें धीरे धीरे परिवर्तन होते हैं, जिससे वह यथापूर्व हो जाता है। इस प्रक्रिया को गर्भाशय की स्वसंवृति (Involution) कहते हैं और इसके लिए छः सप्ताह लग जाते हैं। प्रसूतावस्था की अवधि इसी स्वसंवृति पर (पीछे अध्यर्धमास की टिप्पणी देखो) निर्भर होती है। प्रसव के पश्चात् उसी दिन गर्भाशय का तोल, लम्बाई और समाई अनुक्रम से १ सेर २ छटाँक, ८ इंच और ७ इंच होती है। दो रोज के बाद तोल पौन एक सेर, लम्बाई ७ इंच, समाई ६½ इंच होती है। एक हफ्ते के बाद तोल आधा सेर, लंबाई पाँच इंच और समाई ४॥ इंच होती हैं। दो हफ्ते के बाद तोल ६ छटाँक, लम्बाई ३¾ इंच और समाई ३½ होती है। ६ हफ्ते के बाद गर्भाशय के नाप और तोल पूर्ववत् हो जाते हैं। प्रसूति के पश्चात् जैसे गर्भाशय के तोल और नाप अधिक रहते हैं वैसे ही उसके बंध (Ligaments) गर्भवृद्धि और प्रसवप्रवाहण के कारण अत्यन्त परिश्रान्त और शिथिल होते हैं। इसके सिवा श्रोणिगुहा के भीतर कुछ शून्यता भी आ जाती है। चरक में प्रसूता के रोगों की कृच्छ्रसाध्यता के जो निम्न कारण बताये गये हैं, वे गर्भाशय तथा उसके बंधों के लिए भी लागू होते हैं—गर्भवृद्धिक्षयितशिथिलसर्वधातुत्वात्, प्रवाहणवेदनाक्लेदनरक्तनिःस्रुतिविशेषशून्यशरीरत्वाच्च। संक्षेप में प्रसूति के पश्चात् गर्भाशय स्वयं कमजोर, मोटा और भारी तथा उसके बन्धन ढीले, ऐसी स्थिति होती है। इस स्थिति में अगर प्रसूता बिस्तरे पर आराम न करे तो योनिभ्रंश (Prolapse), गर्भाशय की स्थानापवृत्ति इत्यादि अनेक गर्भाशय के विकार उत्पन्न होते हैं और गर्भाशय की स्वसंवृति के लिए अधिक समय लगकर वह ठीक भी नहीं होती। योनिव्यापत्तियों के कारणों में मिथ्याचार एक कारण बताया गया है। इस मिथ्याचार में प्रसूति के पश्चात् आराम न करना, इसका समावेश होता है। (२) शरीर की स्थिति—प्रसव के पश्चात् प्रसूता की स्थिति उपर्युक्त चरक के वचन के अनुसार अत्यन्त दुर्बल, शिथिल और शून्य होती है। दुर्बलता की चिकित्सा के जो अनेक उपाय होते हैं, उनमें आराम (Rest in bed) एक प्रधान उपाय है। इस उपाय को छोड़कर अन्य उपायों को अंगीकार करने से उनसे पूर्ण और शीघ्र लाभ नहीं मिल सकता। इसलिए प्रसूति के पश्चात् दो तीन महीनों तक आराम करने की भारतीयों की पद्धति प्रशस्त और स्वास्थ्यवर्धक है। उसी के अनुसार प्रसूता को रहना चाहिए। पाश्चात्य देशों में भी प्रसूता को आराम देने की प्राचीन पद्धति का महत्त्व जँचने लगा है और वहाँ के प्रसवशास्त्रज्ञ प्रसूता को आराम देने की पद्धति के पक्ष में हो गये हैं—Strarning and muscular effort with a bulky uterus and a relaxed outlet predispose to prolapse, and hence it is more often met with among those who resume their household duties or perhaps go out to daily work after ten days in bed and a few days convalescence than in those who have a longer rest in bed followed by a further period in which fatigue and strain are avoided. There is, therefore, much to be said for the old fashioned plain of waiting till the uterus has diminished in size and weight, and has sunk well down into the pelvis, and its muscular and ligamentary supports have recovered from the stretching and relaxation of pregnancy and labour before permitting the assumption of the erect position. *Ten Teachers' Midwifery.*

(२) आहार—प्रसूता स्त्री का आहार रुचिकर, सादा, हलका, पौष्टिक और पर्याप्त होना चाहिए। प्रसूति के पश्चात् कुछ रोज उसको तरल आहार देना ही उचित है क्योंकि उस समय उसकी पचनशक्ति कुछ दुर्बल होती है। इसके साथ साथ इस बात को भी ध्यान में रक्खे कि एक समय अधिक मात्रा में देने की अपेक्षा अल्पमात्रा में अधिक समय उसको भोजन दिया जाय। खाद्यद्रव्यों में प्रोटीनों की अधिकता होनी चाहिए क्योंकि शारीरिक धातुओं की ह्रास की पूर्ति के लिए वे आवश्यक होते हैं। प्रोटीनों के अलावा जीवनीय द्रव्य और खटिक (चूना Calcium) की भी आवश्यकता होती है। पिष्टमय (Carbohydrates) और चरबीमय पदार्थ अधिक न होने चाहिएँ। इनके सेवन से पचन क्रिया में बाधा उत्पन्न होती है तथा आध्मान और मलावरोध उत्पन्न करने वाले पदार्थ भी वर्ज्य करने चाहिए। इस दृष्टि से प्रसूता को दूध, चाय, काफी तथा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूध के अन्य पदार्थ, माखन, यवागू, काँजी, हाथकुटे चावलों का भात, संपूर्ण गेहूँ की रोटी, हलुआ, मधुररस के फल (जैसे, मीठा नींबू, मोसंबा अनार इत्यादि) ये पदार्थ अधिक मात्रा में विशेष करके दूध देना फायदेमन्द होता है। ताजी डबल रोटी, मिल (Mill) के साफ किये हुए (Polished) चावल, दाल, आलू, गोभी, कच्ची साग-सब्जी, मद्य इनको वर्ज्य करना चाहिए। मांसाहार के संबंध में इतना कहना पर्याप्त है कि प्रारंभ में अण्डा दिया जा सकता है, परंतु मांस न देना ही प्रशस्त है। आगे स्वास्थ्य ठीक होने पर मांस दिया जा सकता है। पीने के लिए प्रसूता को पर्याप्त मात्रा में पानी देना उचित है। रक्तस्राव तथा प्रसव प्रवाहणादि के कारण उसको पिपासा बहुत होती है। इसके लिए उबालकर ठंडा किया हुआ जल देना उचित है। सोडा वाटर भी दे सकते हैं। इन सर्वसाधारण बातों के अलावा आहार में कुलसात्म्य और देश का भी विचार करना पड़ता है—द्वादशरात्रात्परं जांगलरसादिभिश्च क्रमादाप्याययेदग्निबलादीन्यपेक्ष्य। क्वथितशीतञ्च तोयं पाययेत्। तथा जीवनीय-बृंहणीय-मधुर-वातहरसिद्धैरन्नपानैश्च हृद्यैरुपाचरेत्। एवं पुनर्नवीभवति। (अष्टांगसंग्रह, शारीर ३)। वैदेश्याश्च प्रयच्छन्ति विविधा म्लेच्छजातयः। रक्तमांसस्य निर्यूहं कन्दमूलफलानि च॥ कुलसात्म्यं च बुध्येत यस्मिन् यस्मिन् यथा यथा। औचित्यात् कुलसात्म्यस्य तत्तथैवानुवर्तते॥ अतो नैकान्तिकत्वाच्च सूतिकोपक्रमस्य च। देशं च जातिसात्म्यं च संप्रधार्य प्रयोजयेत्॥ काश्यपसंहिता, सूतिकोपक्रमणीय)। आहार के संबंध में आगे १९वें श्लोक के वक्तव्य में अपतर्पण की टिप्पणी में विचार किया गया है, उसको भी देखो।

(३) मलमूत्र विसर्जन—मलाशय और मूत्राशय का आधार कम होने से, उदरगुहा की रिक्तावस्था से, उदर की पेशियों की शिथिलता से, प्रसूता की कमजोरी से, मूत्रमार्ग की सूजन से या पीडा के कारण मूत्रमार्ग बंद हो जाने से प्रसूति के पश्चात् कुछ रोज तक प्रसूता स्वयं मल-मूत्र का त्याग करने में असमर्थ हो जाती हैं। इसलिए आयुर्वेद में मूत्रसंग, मलावरोध, आध्मान इत्यादि प्रसूता के रोग माने गये हैं—योनिर्भ्रष्टा क्षता चैव विभिन्ना मूत्रसंगिनी। आनाहाध्मापने चोभे वर्चोमूत्रग्रहावपि॥ (काश्यपसंहिता, सूतिकोपक्रमणीय)। प्रसूति के कुछ पूर्व यदि स्त्री को विरेचन दिया गया हो तो प्रसूति के पश्चात् एक दो दिन पाखाना न होने से कोई हरजा नहीं है। उसके बाद न हो तो एरण्डी का तेल कोष्ठशुद्धि के लिए देना प्रशस्त है। रेवंदचीनी, स्यागसलफ या अन्य क्षारीय विरेचक माता के दूध में कुछ खराबी पैदा करते हैं, इसलिए उनको जहाँ तक हो सके, न देना चाहिए। एरण्डी के तैल की मात्रा कुछ अधिक (२॥ तोला) देनी चाहिए। उसके पश्चात् प्रत्येक दो दो, तीन तीन दिन के पश्चात् कोष्ठशुद्धि रखनी चाहिए। यदि विरेचन से पाखाना न हो तो बस्ति भी दी जा सकती है, परंतु जहाँ तक हो सके बस्ति न देना ही उचित है क्योंकि उससे बवासीर (अर्श) बढ़ने की संभावना होती है। बारह घंटे में कम से कम एक बार स्त्री को मूत्रत्याग करना चाहिए। इससे अधिक काल बस्ति में मूत्र रहने से बस्ति विस्फारित और निर्बल होने का डर रहता है। इसलिए छः सात घंटे में अगर स्त्री ने मूत्रत्याग न किया हो तो भग पर गरम सेक करना चाहिए और बस्तिप्रदेश पर हाथ से थोड़ा दबाव डालना चाहिए। इससे प्रायः स्त्री मूत्रत्याग करने में समर्थ हो जाती है। यदि आवश्यक हो तो उस समय उसको बैठाने से मदद होती है। यदि इन उपायों से काम न हो जाय और बारह घंटे तक मूत्र का त्याग न हो सके तो सलाई के द्वारा मूत्र को निकालना चाहिए। सलाई डालते समय योनि की सफाई की ओर बहुत ध्यान देना चाहिए। (४) मानसिक आराम और निद्रा—शारीरिक आराम के साथ प्रसूता को मानसिक आराम भी मिलना आवश्यक होता है और मानसिक आराम ठीक न मिलने से शारीरिक आराम मिलने पर भी उससे पूरा फायदा नहीं होता। प्रसूता को क्रोध, चिन्ता इत्यादि मानसिक विकारों से दूर रहना चाहिए तथा ऐसे काम न करने चाहिएँ, जिससे उसे गुस्सा, रंज और फिक्र पैदा हो। इन मानसिक विकारों से उसका स्वास्थ्य खराब होकर दूध भी खराब (आगे ३२वाँ सूत्र देखो) हो जाता है और बालक को भी तकलीफ होती है। प्रसूता को पर्याप्त निद्रा भी मिलनी चाहिए और प्रायः मिलती भी है। निद्रानाश के कारण—जैसे, कमरे के पास शोर या भीड़ (पीछे चौथे अध्याय का ४१वाँ श्लोक देखो—) भी न होने चाहिए। (५) मैथुन—प्रसूतावस्था में मैथुन वर्ज्य करना चाहिए। मैथुन वर्ज्य करने के तीन कारण हैं—(१) प्रसूति के कारण अपत्यमार्ग अत्यंत कमजोर और क्षतयुक्त हो जाता है। मैथुन के समय संपूर्ण अपत्यमार्ग पर काफी दबाव और घर्षण होता है। इससे अपत्यमार्ग के फिर से क्षतयुक्त होने का, उससे रक्तस्राव होने का डर रहता है। (२) प्रसव के कारण अपत्यमार्ग की श्लेष्मल कला क्षतयुक्त और कमजोर होती है, जिसके कारण उसके ऊपर विकारी जीवाणुओं का अधिकार जल्दी जम सकता है। जननेन्द्रिय के बाह्य भाग हमेशा ही गन्दे रहते हैं और मैथुन के कारण बाहर की गन्दगी और उसके साथ विकारी जीवाणु भीतर पहुँचकर रोग उत्पन्न कर सकते हैं। (३) गर्भाधान—मैथुन से गर्भधारणा होने का डर रहता है। जो पुरुष इसमें उतावले रहते हैं, उनका यह गुप्त कर्म कई बार साल भर के भीतर दूसरी बार स्त्री प्रसूत होने से प्रकट हो जाता है। जल्दी जल्दी बच्चे होने से पहले बालक का स्वास्थ्य खराब दूध मिलने से खराब होता है और होने वाले बालक का स्वास्थ्य माता की कमजोरी से अच्छा नहीं हो सकता और दोनों के भार से माता का स्वास्थ्य और भी खराब हो जाता है। पुनर्गर्भधारण करने के लिए स्त्री का स्वास्थ्य पूर्ववत् हो जाना चाहिए। यदि प्रसव में कोई गड़बड़ न हुई हो तथा पश्चात् भी कोई तकलीफ न हुई हो तो उचित आहार-विहार से स्त्री को पूर्व स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए छः महीनों की अवधि बताई गई है—षड्भिर्मासैः प्रसूताया धातवो रुधिरादयः। प्रत्यागच्छन्त्य-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था यथास्वं परिसंस्थितिम्। (काश्यपसंहिता, सूतिकोपनीय अध्याय)। अर्थात् इसके पहले मैथुन करने से गर्भधारणा हो जाय तो होने वाले बालक का स्थ्य खराब होगा। अब वर्तमान बालक की दृष्टि से र किया जाय तो जब तक वह माँ का दूध पी रहा तब तक भी गर्भधारणा होना ठीक नहीं है क्योंकि गर्भणा से माता का दूध खराब हो जाता है और उससे रिगर्भिक नामक रोग होता है—प्रदुष्टधातोर्गर्भिण्याः रोगकरं शिशोः। (अष्टांगहृदय)। न गर्भिण्याः पिबेत् पारिगर्भिककृद्धि तत्। (अष्टांगसंग्रह)। पाश्चात्य कित्सक भी मानते हैं कि गर्भवती स्त्री का दूध बालक के विकारकारी होता है। बालक को माता के दूध की तब आवश्यकता होती है, जब तक वह अन्नसेवन नहीं ता। अन्नसेवन बालक के लिए तब हितकर हो सकता जब बालक के दाँत निकल आते हैं। यद्यपि छठे महीने अन्नप्राशनविधि की जाती है, तथापि बालक को हार की दृष्टि से अन्न देने का काल एक वर्ष का है। का विवरण आगे ५२वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। ति बालक के अन्नसेवन करने के पश्चात् अगर माता वती हो जाय तो बालक को किसी प्रकार की तकलीफ हो सकती। धर्मशास्त्र में बालक के दन्तजनन के पश्चात् के लिए आज्ञा दी गई है—पण्मासान् कामयेन्मर्त्यो गर्भिणीं नेव हि। आदन्तजननादूर्ध्वमेवं धर्मो न हीयते। (अत्रिस्मृति)। स विषय का कुछ विवरण पीछे २ अध्याय के ३४वें के वक्तव्य के अन्त में किया गया है, उसे देखो) कों के दाँत दो से ढाई साल में संपूर्ण निकल आते हैं। तक मैथुन न किया जाय तो उत्तम पक्ष है, परंतु इसमें व्यावहारिकता है। दाँत निकल आने का प्रारंभिक काल महीने का होता है। आयुर्वेद में आठवाँ महीना त माना गया है—तथाऽष्टमे मासि सर्वगुणसम्पन्ना भवन्ति। काश्यपसंहिता, दन्तजन्मिक अध्याय)। अर्थात् मैथुन के लिए नीचे की मर्यादा आठ महीने की मान सकते इसलिए मैथुनवर्जन का काल प्रसूति के पश्चात् आठ ने का मानने में कोई आपत्ति नहीं है। जातदशन बाल आयु एक वर्ष की भी मानी जाती है और उसके पश्चात् क का स्तनत्याग करके उसको अन्न दिया जाता है— जातदशनं क्रमशोऽपनयेत् स्तनात्। (अष्टांगसंग्रह)। की टीका में इन्दु लिखते हैं—अथ वर्षादनन्तरं जातदशनं क्रमशः स्तनादपनयेत्। इस आधार पर बालक के एक वर्ष होने के बाद मैथुन करना चाहिए। संक्षेप में प्रसवोत्तर न के संबंध में निम्न नियम मार्गदर्शन के लिए होते प्रथम तीन महीनों में मैथुन करना निंद्य और गर्ह्य प्रथम छः से आठ महीने के बाद करना कनिष्ठ पक्ष है। साल के बाद करना मध्यम पक्ष है और दो साल के करना उत्तम पक्ष है। (९) अभ्यंग और आयास ssage and exercise)—व्यायाम या शरीर की स्वास्थ्य चिरन्तन करने के लिए एक आवश्यक कर्म प्रसूता स्त्री को भी उसकी आवश्यकता होती है। परंतु उसकी शरीर की स्थिति देखकर उसके लिए व्यायाम या शारीरिक परिश्रम अहितकर होते हैं। प्रारंभिक कुछ दिनों तक उसको पूर्ण आराम करना चाहिए और उसके बाद भी दैनिक आवश्यक कर्मों के अलावा अधिक थकावट उत्पन्न करने वाले कर्म न करने चाहिएँ परंतु बिस्तरे पर लेटे रहने से यद्यपि शरीर को आराम मिलता है तथापि केवल आराम करने से शरीर का स्वास्थ्य ठीक नहीं हो सकता। इसलिए कोई मध्यम मार्ग निकालना चाहिए, जिसमें आराम और व्यायाम के गुण हों परंतु दोष न हों। जैसे, गरम या ठंडे पानी में निचोड़े हुए तौलिया से शरीर पोंछने पर स्नान न करते हुए स्नान का फल मिलता है, अथवा मलखांब करने पर दूसरे कुश्तीबाज के साथ कुश्ती न लड़ते हुए कुश्ती लड़ने का फल मिलता है, वैसे ही बिस्तरे पर पड़े रहकर दूसरे से अभ्यंग या मालिश करवाने से व्यायाम न करते हुए व्यायाम का फल मिल जाता है। भारतवर्ष में प्रसूता को बलातैल या अन्य ओषधियों के तैलों को लगाकर मालिश कराने की पद्धति अत्यन्त प्राचीन काल से जारी है—जीवनीयबृंहणीयमधुरवातहरसिद्धैरभ्यङ्गोत्सादनपरिषेकावगाहैरुपाचरेत्। (अष्टांगसंग्रह)। स्वेदाभ्यङ्गपरा नित्यं भवेत्। (चिकित्सा १५)। पाश्चात्य देशों में भी मालिश का महत्त्व काफी बढ़ गया है और वहाँ के प्रसूतिशास्त्रज्ञ प्रसूता के लिए भी उसका प्रयोग हितकर मानते हैं—Gentle massage of the skin is useful also in childbed. Light massage of the back and extremities by some one especially trained for this is in many cases to be especially recommended. In general, one should be cautious with active exertion in the first days, and, where there is good assistance, devote oneself more to the passive movements and light massage, but never too great exertion. *Ideal Birth.* (७) स्नान, अवगाह, परिषेक—प्रतिदिन तैल की मालिश करने के पश्चात् एक या दो बार गरम पानी से स्नान करना चाहिए। स्नान के समय संपूर्ण शरीर की सफाई के साथ बाह्य जननेन्द्रिय की सफाई के ऊपर भी बहुत ध्यान देना चाहिए। जननेन्द्रिय का बाह्य भाग खराब होने से वह खराबी भीतर पहुँच जाती है। स्नान के पश्चात् तथा अन्य समय में भी प्रसूता को हवा के झोके झपाटे से तथा सर्दी से बचकर रहना चाहिए। शरीर कमजोर होने के कारण सर्दी से बीमार होने का डर रहता है। इसके संबंध का कुछ विवरण पीछे चौथे सूत्र के वक्तव्य में सूतिकागार के वर्णन में किया गया है। (८) आगन्तुक परिचर्या—इसमें जननेन्द्रिय का ही अधिक संबंध आता है। इसका विवरण आगे २०वें सूत्र के वक्तव्य के अन्त में किया गया है। संक्षेप में प्रसूता की परिचर्या और स्वस्थवृत्त—प्रसूता हितमाहारं विहारञ्च समाचरेत्। व्यायामं मैथुनं क्रोधं शीतसेवां विवर्जयेत्॥ सर्वतः परिशुद्धा स्यात् स्निग्धपथ्याल्पभोजना। स्वेदाभ्यङ्गपरा नित्यं भवेन्मासमतन्द्रिता॥ व्युपद्रवां विशुद्धां च विज्ञाय बलवर्णिनीम्। ऊर्ध्वं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चतुर्भ्यो मासेभ्यो नियमं परिहारयेत्। (भावप्रकाश)। ये ही श्लोक थोड़े भेद से सुश्रुत के मूढगर्भचिकित्सित अध्याय में भी मिलते हैं। अब इसके बाद उक्त आहार-विहारादि का उल्लङ्घन करने से क्या होता है, उसको श्लोकद्वय से संक्षेप में बताते हैं—

भवतश्चात्र—

मिथ्याचारात् सूतिकाया यो व्याधिरुपजायते।
स कृच्छ्रसाध्योऽसाध्यो वा भवेदत्यपतर्पणात् ॥१८॥
तस्मात्तां देशकालौ च व्याधिसात्म्येन कर्मणा।
परीक्ष्योपचरेन्नित्यमेवं नात्ययमाप्नुयात् ॥१९॥

(सूतिका रोग—) मिथ्याचार और अत्यपतर्पण के कारण सूतिका की जो (कोई) व्याधि उत्पन्न होती है, वह कृच्छ्रसाध्य अथवा असाध्य रहती है ॥१८॥ इसलिए देश और काल को देखकर व्याधिसात्म्य उपायों द्वारा उसकी चिकित्सा करे, जिससे वह मृत्यु को प्राप्त न हो जाय ॥१९॥

वक्तव्य—प्रथम श्लोक में सूतिका रोग उत्पन्न होने के कारण दिये हैं और दूसरे श्लोक में उसकी चिकित्सा का सूत्र बताया है। सूतिका रोग उत्पन्न होने के तीन कारण होते हैं, जिनमें से दो का उल्लेख यहाँ पर किया गया है और तीसरा चरक और अष्टांगसंग्रह में दिया है। काश्यपसंहिता में सूतिका रोगों में प्रधान ज्वर बताया गया है और उसके कारण दिये हैं—सर्वेषामेव रोगाणां ज्वरः कष्टतमो मतः। वेगसंधारणाद्रौक्ष्याद् व्यायामादत्यसन्क्षयात्। शोकादत्यग्निसंतापात् कट्वम्लोष्णातिसेवनात् ॥ दिवास्वप्नात् पुरोवाताद्विर्विभिष्यन्दिभोजनात्। स्तन्यागमाद् ग्रहाबाधादजीर्णाद्दुष्प्रजायनात् ॥ ज्वरः संजायते नार्याः षड्विधो हेतुभेदतः ॥ (सूतिकोपक्रमणीयाध्याय)। ये कारण भी इन तीन कारणों में समाविष्ट होते हैं। इन तीन कारणों में प्रथम कारण सहायक (Predisposing) है और शेष दो एक प्रधान या उत्पादक (Precipitating) हैं। (१) शरीरदौर्बल्य—यह प्रथम सहायक कारण है, जिसका उल्लेख यहाँ पर नहीं किया गया है, परंतु चरक में किया है और कृच्छ्रसाध्यता का वही कारण बताया गया है—तस्यास्तु खलु यो व्याधिरुत्पद्यते स कृच्छ्रसाध्यो भवत्यसाध्यो वा गर्भवृद्धिक्षयितशिथिलसर्वधातुत्वात्, प्रवाहणवेदनाक्लेदनरक्तनिःस्रुतिविशेषशून्यशरीरत्वाच्च ॥ इसके दो परिणाम होते हैं। प्रथम परिणाम प्राणशक्ति तथा रोगापहरण सामर्थ्य घटने में होता है, जिससे जरा सा कारण होने पर स्त्री रोगों की शिकार हो जाती है। दूसरा परिणाम कृमियों या आधुनिक परिभाषा के अनुसार विकारी जीवाणुओं के प्रवेश में हो सकता है। अगर सफाई की ओर ध्यान न देने से उनका अवस्थान जननेन्द्रिय के पास हो जाय। (२) अत्यपतर्पण—लंघन या मात्रा से बहुत कम आहार करना। डल्हणाचार्य तथा हाराणचन्द्र अत्यपतर्पण रोग की असाध्यता का कारण मानते हैं—अत्यपतर्पणादिति असाध्यभवने हेतुः। (डल्हण)। अत्यपतर्पणादसाध्यत्वं च। इनका कहने का तात्पर्य यह है कि प्रसूता के रोग मिथ्याचार से उत्पन्न होते हैं, वे कृच्छ्रसाध्य होते हैं और अत्यपतर्पण से वे असाध्य हो जाते हैं। यह कथन एक दृष्टि से ठीक है, परन्तु अत्यपतर्पण का संबंध रोगोत्पत्ति के साथ भी लगाया जा सकता है। प्रसूति के पश्चात् धातुक्षीणता की पूर्ति करके स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए प्रसूता को पर्याप्त पौष्टिक आहार मिलना चाहिए। प्रसूतावस्था कोई बीमारी नहीं है कि उसको लंघन दिया जाय, या अल्पमात्रा में आहार दिया जाय। प्रसूतावस्था नौ महीने बालक का बोझ उठाने के कारण तथा प्रसव के कठिन परिश्रम के कारण उत्पन्न हुई स्वस्थ मनुष्य की परिश्रान्तावस्था है, जिसमें थकावट दूर करने के लिए स्वस्थ मनुष्य की अपेक्षा अधिक पौष्टिक आहार की अपेक्षा होती है। केवल फर्क इतना ही होता है कि स्वस्थ मनुष्य का पचनसंस्थान स्वस्थ होता है और प्रसूता का कुछ कमजोर तथा थका हुआ रहता है। इस दृष्टि से प्रसूता को प्रारंभिक कुछ दिनों तक हलका और सुपाच्य आहार देना चाहिए, परन्तु कम मात्रा में देने का कोई कारण नहीं है। यदि आहार की राशि शरीरधातुक्षीणता की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त न हो तो गर्भधारणपोषण तथा प्रसूति से क्षीण हुआ शरीर और भी क्षीण होगा और क्षीण हुए शरीर पर मिथ्याचार से कोई भी रोग जल्दी अपना अधिकार जमा लेगा। प्रसूता को बीमार समझकर उसको पर्याप्त मात्रा में आहार न देने का रिवाज या परम्परा उस समय में होगी, उसको ध्यान में रखकर यह शब्द यहाँ पर लिखा गया है, ऐसा मालूम होता है। यूरोप में इस प्रकार की अपतर्पण की पद्धति थी, इसका उल्लेख जेलेट अपनी प्रसूतितन्त्र की पुस्तक में करते हैं—The older notion that a low diet was required at this time have in the words of a recent writer, been consigned to the same limboo of defunct prescriptions as the 'starve a fever' principle. A puerperal woman more than other people, requires the maximum amount of nourishment which she can digest without imposing too great a tax on her digestive organs. इस उद्धरण से यह स्पष्ट होगा कि प्रसूता आहार की दृष्टि से संतर्पणीय व्यक्ति है, अर्थात् प्रसूता को दूध, घी, शर्करा, मांसरस इत्यादि पौष्टिक आहार्य द्रव्य से पुष्ट करना चाहिए। पाश्चात्य वचन के आधार पर बनाया हुआ यह निराधार मत नहीं, परंतु आयुर्वेदसंमत यह मत है। द्विविधोपक्रमणीय अध्याय (अष्टांगहृदय, सूत्र १४ और अष्टांगसंग्रह, सूत्र २४) वाग्भटाचार्य लिखते हैं कि चिकित्सा संप्रदाय कितने भी क्यों न हों, वे दो भागों में विभक्त किये जाते हैं— संतर्पण चिकित्साविभाग और अपतर्पण चिकित्साविभाग ये ही विभाग 'बृंहण चिकित्सा' और 'लंघन चिकित्सा' कहलाते हैं। प्रसूता बृंहणचिकित्सा योग्य होती है। उपक्रमस्य हि द्वित्वाद् द्विधैवोपक्रमो मतः। एकः संतर्पणस्तत्र द्वितीयश्चापतर्पणः ॥ बृंहणो लंघनश्चेति तत्पर्यायावुदाहृतौ। बृंहणं

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बृहत्त्वाय लंघनं लाघवाय यत् ॥ बृंहयेद्व्याधिभैषज्यमद्यस्त्रीशोककर्शितान् । गर्भिणीसूतिकाबालवृद्धान् ग्रीष्मे परानपि ॥ मांसक्षीरसितासर्पिर्मधुरस्निग्धवस्तिभिः । स्वप्नशय्यासुखाभ्यङ्गस्नाननिर्वृतिहर्षणैः ॥ इससे यह स्पष्ट होगा कि जहाँ पर संतर्पण की आवश्यकता है, वहाँ पर अपतर्पण कराने से वह रोगोत्पत्ति का कारण हो जाता है। जेलेट अपने प्रसूतितन्त्र में स्पष्ट लिखते हैं—It is probable that the custom still observed by some physicians of keeping parturient patients on unnecessarily low diet is responsible for occasionally bringing about a susceptibility to infection. *Jellet's Midwifery*. (३) मिथ्याचार—शरीर और कपड़ों की सफाई न करना, उदर पर वस्त्रपट्ट बाँधना (आगे के सूत्र का वक्तव्य देखो), शीत से शरीर की रक्षा न करना, प्रसूति के पश्चात् उचित काल तक बिस्तरे पर आराम न करना और प्रारंभ से ही घूमना फिरना, मैथुन इत्यादि। संक्षेप में प्रसूता के लिए जो स्वस्थवृत्त बतलाया गया है, उसके विरुद्ध आचार। व्याधिः—यः कोऽपि व्याधिः। सूतिका को मिथ्योपचार से अनेक रोग उत्पन्न हो सकते हैं। रोग कोई भी हो, प्रसूता क्षीणमांसबल होने के कारण रोग दारुण और कृच्छ्रसाध्य होते हैं। काश्यपसंहिता में सूतिका के निम्न चौसठ रोग बतलाये गये हैं—योनिभ्रष्टा क्षता चैव विभिन्ना मूत्रसंगिनी। शोफस्राविणी चैव प्रसुप्ता वेदनावती ॥ पार्श्वपृष्ठकटीशूलं हृदि शूलं सूचिका। प्लीहा महोदरत्वं च शाखावातोऽङ्गमर्दकः ॥ आक्षेपको हनुस्तम्भो मन्यास्तम्भोऽपतानकः। मक्कल्लो विद्रधिः शोफः प्रलापोन्मादकामलाः ॥ दौर्बल्यं भ्रमली कार्श्यं भक्तद्वेषोऽविपाचकः। ज्वरातिसारौ वैसर्पश्छर्दिस्तृष्णा प्रवाहिका ॥ हिक्का श्वासश्च कासश्च पाण्डुर्गुल्मश्च रक्तजः। आनाहाध्मापने चोभे वर्चोमूत्रग्रहावपि ॥ शिरोरोगोऽक्षिरोगश्च प्रतिश्यायगलग्रहौ। राजयक्ष्माऽर्दितं कम्पः स्तन्यस्रावः प्रजागरः ॥ उष्णवातो ग्रहाबाधस्तनरोगोऽथ रोहिणी। वाताष्ठीला वातगुल्मरक्तपित्तविचर्चिकाः ॥ इत्येते सूतिकारोगाश्चतुःषष्टिरुदाहृताः ॥ (सूतिकोपक्रमणीयाध्याय)। इनमें से कुछ रोग प्रसव के समय योनि तथा उसके आस-पास के अंगों पर जो तनाव और दबाव पड़ता है उसीसे होते हैं—जैसे, मलमूत्र संग, योनिक्षत या विदार इत्यादि। कुछ रोग पहले से ही स्त्री में गुप्त या प्रकट रहते हैं और प्रसूति के पश्चात् जोर पकड़ते हैं। जैसे, राजयक्ष्मा, उन्माद इत्यादि। इनमें सब से महत्त्व का रोग है ज्वर—सर्वेषामेव रोगाणां ज्वरः कष्टतमो मतः। (काश्यपसंहिता, सूतिकोपक्रमणीय)। इसको सूतिकाज्वर (Puerperal fever) कहते हैं। अतः इसी का यहाँ पर विचार किया जायगा।

व्याख्या—प्रसूति के पश्चात् स्त्री को मसूरिका, विषमज्वर, कालाअजार, एन्फ्लुएन्जा, न्युमोनिया, जुकाम, श्लीपद, राजयक्ष्मा इत्यादि अनेक रोगों के होने से ज्वर आ सकता है, परंतु इनको प्रसूतिज्वर नहीं कह सकते हैं। ये ज्वर जैसे स्त्री को होते हैं, वैसे पुरुष को भी होते हैं और स्त्री को भी जैसे प्रसवोत्तर हो सकते हैं वैसे प्रसवावस्था को छोड़कर बचपन से वृद्धावस्था तक सभी अवस्थाओं में हो सकते हैं। अर्थात् ये ज्वर प्रसूतावस्था विशिष्ट नहीं हैं। प्रसूतिज्वर प्रसूतावस्था विशिष्ट ज्वर है, जो इस अवस्था को छोड़कर अन्य अवस्था में नहीं होता, तथा जो प्रसूतावस्था में प्रसव के कारण गर्भाशय और अपत्यमार्ग में उत्पन्न हुई स्वाभाविक विशिष्ट स्थिति की विकृति से उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से प्रसूतिज्वर को 'प्रसूतयोनिदोषज ज्वर' ऐसा संप्राप्तिदर्शक नाम दे सकते हैं। अँग्रेजी में इसके लिए कई संप्राप्तिदर्शक नाम प्रचलित हैं। जैसे, Puerperal sepsis, puerperal infection, puerperal Toxaemia, P. septicaemia, surgical fever of childbed etc. प्रधान कारण—प्रसव के कारण गर्भाशय तथा अपत्यमार्ग व्रणयुक्त और कमजोर हो जाता है। ऐसे स्थान में यदि पूयोत्पादक जीवाणुओं का प्रवेश हो जाय तो वे जल्दी व्रणयुक्त स्थानों पर अपना अधिकार जमा लेते हैं और गंभीर विकृति उत्पन्न करते हैं, जिसके कारण ज्वर उत्पन्न होता है। विकार उत्पन्न करने में निम्न जीवाणु होते हैं—स्ट्रेप्टोकोकाय, स्टाफिलोकोकाय, बैसीलसकोली, न्यूमोकोकाय, गोनोकोकाय, बै० एरिओजीनस कैटसुलेटस तथा अन्य। इनमें स्ट्रेप्टोकोकाय विशेष महत्त्व का और अधिकता से मिलने वाला होता है। ये जीवाणु कष्टप्रसूति के समय प्रसव कराने के लिए प्रयुक्त हुए गंदे हाथों से या औजारों से भीतर प्रविष्ट होते हैं। अथवा प्रसूति के पश्चात् योनिद्वार की सफाई ठीक न रखने से तथा योनिद्वार के साथ संबंध रखने वाले कपड़े गन्दे प्रयुक्त करने से भीतर प्रविष्ट होते हैं। सहायक कारण—कष्टप्रसूति जहाँ पर यन्त्रशस्त्रों का उपयोग किया गया हो, विलम्बी प्रसूति, प्रसवजन्य अधिक रक्तस्राव, अपतर्पण (पीछे अपतर्पण देखो), चिंता दुःख इत्यादि मानसिक विकार, प्रसवशोणित का स्राव ठीक न होना, अपरा और जरायु का कुछ अंश गर्भाशय में शेष रहना, मलावरोध, अकालप्रसूति, जैसे गर्भपात या गर्भस्राव इत्यादि—स्त्रीणामपप्रजातानां प्रजातानां तथाऽहितैः। दाहज्वरकरो घोरो जायते रक्तविद्रधिः। अपि सम्यक्प्रजातानामसृक्कायादनिःसृतम्। रक्तजं विद्रधिं कुर्यात् कुक्षौ मक्कल्लसंज्ञितम् ॥ (निदान ९)। शारीरिक विकृतियाँ—व्यावहारिक दृष्टि से शारीरिक विकृतियों के तीन विभाग किये जाते हैं—(१) स्थानिक—इसमें जीवाणु योनि-गर्भाशय में ही सीमित रहते हैं। इसमें स्थानिक लक्षण अधिक और सार्वदैहिक सौम्य रहते हैं। स्थानिक विकृति में गर्भाशय का वह भाग, जहाँ पर अपरा लगी रहती है, अधिक दूषित होता है। इसके सिवा योनि में या योनिद्वार में कहीं विदार या व्रण हुए हों तो वहाँ पर भी विकृति होती है। (२) समीपवर्ती विकृतियाँ (Local secondary lesions)—इसमें गर्भाशय तथा योनिसमीपवर्ती अंगों में विकृति समीपता के कारण सिराओं, रसायनियों और बीजवाहिनियों द्वारा फैलती है, जिसके परिणाम स्वरूप में सिराशोथ (Phlebitis), रसायनीशोथ (Lymphangitis), बीजवाहिनीशोथ (Salpingitis), बीजग्रंथिशोथ (oophoritis), श्रोणिगुहाशोथ (Pelvic cellutis), मूत्राशयशोथ

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(Cystitis) और उदरावरणशोथ (Peritonitis) इत्यादि उपद्रव होते हैं। (२) सार्वदैहिक और दूरवर्ती विकृतियाँ— ये विकृतियाँ तीन प्रकार की होती हैं—(अ) विषमय (Toxœmic)—इसमें स्थानिक विकृति से विष रक्त के साथ संपूर्ण शरीर में संचार करता है। विष का परिणाम अधिकतर यकृत्, प्लीहा, हृदय और मस्तिष्क पर होता है। प्रत्येक स्थानिक विकृति के साथ, चाहे सौम्य हो, चाहे तीव्र हो, न्यूनाधिक विषमयता हुआ करती है। (आ) जीवाणुमय (Septicœmic)—इसमें स्थानिक विकृति के जीवाणु रक्त और लसिका के साथ संपूर्ण शरीर में संचार करते हैं और कभी कभी स्थान स्थान पर अवस्थान करते हैं। (इ) अन्तःशल्यमय (Embolic)—कभी कभी गर्भाशय समीपवर्ती सिराओं में जमा हुआ रक्त हलचल या दबाव के कारण वहाँ से छोटे छोटे कणों के रूप में रक्त के साथ संपूर्ण शरीर में फैलता है और स्थान स्थान पर अन्तःशल्य (Embolus) के रूप में अवस्थित होता है। जमे हुए रक्त के साथ जीवाणु भी रहते हैं। द्वितीय और तृतीय विकृति के अनुसार जीवाणु या जमा हुआ रक्त अधिकतर फुफ्फुस, हृदय, हृदयावरण, संधियाँ, मस्तिष्क, मस्तिष्कावरण इत्यादि में अवस्थान करते हैं। उपसर्ग सौम्य और प्रसूता का स्वास्थ्य अच्छा होने पर विकृति प्रायः स्थानिक रहती है और उपसर्ग तीव्र और प्रसूता का स्वास्थ्य खराब होने पर विकृति समीपवर्ती या दूरवर्ती अंगों में फैलकर रोग गंभीर हो जाता है। लक्षण—विकृति के समान लक्षणों के स्थानिक और सार्वदैहिक विभाग किये जाते हैं। स्थानिक लक्षण—इनमें योनिगर्भाशय के लक्षणों का समावेश होता है। योनि में सूजन, जलन और पीड़ा होती है। गर्भाशय आकार में बड़ा रहता है, टटोलने पर पीड़ायुक्त और पिलपिला मालूम होता है। विकृतिसमीपवर्ती भागों में फैलने पर वे भाग कठिन और पीड़ायुक्त होते हैं। जब गर्भाशय में अपरा और जरायु के कुछ अंश बाकी रहते हैं, तब जीवाणुओं के उपसर्ग से उनके सड़ने के कारण गर्भाशय एक विद्रधि सा हो जाता है। इसी का उल्लेख निदान में मक्कलविद्रधि (Putrid endometritis) करके और काश्यपसंहिता में विद्रधि करके किया गया है। प्रसवशोणित के ऊपर स्थानिक विकृति का परिणाम दिखाई देता है। इसकी राशि कम या अधिक होती है, या यह बिल्कुल बंद हो जाता है, उसका रंग भूरा या काला सा होता है, उसमें गाढ़ापन आ जाता है तथा उससे दुर्गंध आने लगती है। उदर कुछ बड़ा रहता है। यदि उपसर्ग प्रसव के समय पहुँच गया हो तो ये लक्षण दूसरे या तीसरे दिन से प्रारंभ होते हैं। यदि प्रसव के बाद उपसर्ग हुआ हो तो देर में प्रारंभ होते हैं। सार्वदैहिक लक्षण—इनमें ज्वर महत्त्व का और प्रधान लक्षण है। सौम्य रोग में ज्वर दूसरे या तीसरे सप्ताह में आ सकता है और तीव्र रोग में प्रसूति के दिन भी आ जाता है। प्रसूति के पश्चात् ज्वर आने के दिन से रोग की तीव्रातीव्रता का कुछ अनुमान किया जा सकता है। ज्वर एकाएक या शनैः शनैः चढ़ता है। जब एकाएक चढ़ता है, तब ज्वर के पूर्व सर्दी या जाड़ा मालूम होता है। रोग की स्थिति के अनुसार ज्वर १०१°–१०५° तक चढ़ता है। जब रोग शरीर के अन्य अंगों में फैलता है, तब रोगी को बार बार सर्दी लगती (प्रतिशीतता Repeated rigors) है। तीव्र रोग में फुफ्फुस में विकृति होने से कास, श्वास, मस्तिष्क में विकृति होने से चित्तभ्रम, प्रलाप, बेहोशी, त्वचा पर विविध प्रकार के और सरक्त विस्फोट, कामला, पक्षाघात, एकांगवात, अर्दित इत्यादि लक्षण उत्पन्न होकर प्रसूता की मृत्यु होती है। जब गर्भाशय और योनि में अपतानक के जीवाणु का उपसर्ग होता है तब अपतानक (Tetanus), हनुस्तम्भ, मन्यास्तम्भ ये लक्षण होते हैं। कुछ स्त्रियों में उपसर्ग का परिणाम उन्माद में होता है। इसको प्रसवोन्माद (Puerperal insanity) कहते हैं। संक्षेप में, काश्यपसंहिता में प्रसूता के जो चौसठ रोग बताये गये हैं, वे वास्तव में स्वतन्त्र रोग न होकर योनिगर्भाशय की दुष्टि होने के कारण उत्पन्न हुए विविध लक्षण हैं।

देशकालौ च परीक्ष्य—देश से यहाँ पर रोगी और काल से आतुरावस्था ग्रहण करनी चाहिए। आतुर की परीक्षा प्रकृति, विकृति इत्यादि दस बातों से बलदोषप्रमाण जानने के लिए और काल की परीक्षा ओषधि का योग्य उपयोग और लाभ होने के लिए की जाती है। चरक में लिखा है— देशस्तु भूमिरातुरश्च। आतुरस्तु खलु कार्यदेशः। तस्य परीक्षा आयुःप्रमाणज्ञानहेतोर्वा स्याद्बलदोषप्रमाणज्ञानहेतोर्वा। तस्मादातुरं परीक्षेत प्रकृतितश्च, विकृतितश्च, सारतश्च, संहननतश्च, प्रमाणतश्च, सात्म्यतश्च, सत्वतश्च, आहारशक्तितश्च, व्यायामशक्तितश्च, वयतश्चेति, बलप्रमाणविशेषग्रहणहेतोः। कालः पुनः संवत्सरश्चातुरावस्था च। आतुरावस्थास्वपितु कार्याकार्यं प्रति कालाकालसंज्ञा। अस्यामवस्थायामस्य भेषजस्याकालः, कालः पुनरन्यस्य। न ह्यतिपातितकालमप्राप्तकालं वा भेषजमुपयुज्यमानं यौगिकं भवति। कालो हि भैषज्यप्रयोगपर्याप्तिमपि निर्वर्तयति॥ (विमान ८)। व्याधिसात्म्येन कर्मणा—रोग के लिए औषध, अन्न और विहार का जो लाभदायक प्रयोग हो, उसके द्वारा—उपशयो हि हेतुव्याधिविपरीतैर्विपरीतार्थकारिभिश्चौषधाहारविहारैः सुखानुबन्धः। स हि व्याधिसात्म्यसंज्ञः। (अष्टांगसंग्रह, निदान १)। गयदासाचार्य इस श्लोकार्ध का पाठ इस प्रकार से देते हैं—गयी तु 'देशकालौकव्याधिसात्म्येन कर्मणा' इति पठित्वा देशादिभिः सह पृथक् सात्म्यशब्दं संबध्नाति, ओकसात्म्यमभ्याससात्म्यम्। (डल्हणटीका)। ओकसात्म्यम्— उपशेते यदौचित्यादोकसात्म्यं तदुच्यते। इस पाठभेद से कोई विशेष अर्थ नहीं निकल आता। इसकी अपेक्षा मूलपाठ सब दृष्टि से प्रशस्त है। एवं नात्ययमाप्नुयात्—प्रसूति का रोग शरीरदौर्बल्य तथा अन्य कारणों से दारुण, कृच्छ्रसाध्य या असाध्य होता है। इसकी चिकित्सा आधुनिक उत्तमोत्तम ओषधियों (जैसे, प्रोटोन्सिल, सोल्यूसेप्टासीन इत्यादि) और चिकित्सापद्धतियों द्वारा करने पर भी कई स्त्रियों का नाश होता है और यदि पूर्व सुकृत से बच भी जाय तो रोगग्रस्त या गर्भाक्षम या सुप्रजानिर्माणाक्षम हो

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ती है। इसलिए 'प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' न्याय से स्त्री को प्रसूति रोग पैदा ही न हो जाय इस कार प्रसवपूर्व, प्रसवकालीन और प्रसवोत्तर परिचर्या ना प्रशस्त है। इस विषय का विवरण पीछे गर्भिणी रिचर्या (तीसरे अध्याय के १३वें सूत्र और इस अध्याय दूसरे सूत्र) में, प्रसवकालीन परिचर्या में और आगे के त्र में किया गया है। इसका तात्पर्य यहाँ पर संक्षेप में या जाता है। सगर्भावस्था में स्त्री सुपाच्य, पौष्टिक, ष्टि, जीवद्रव्ययुक्त आहार का सेवन करे, त्वचा और ननेन्द्रिय की स्वच्छता के ऊपर अधिक ध्यान दे; मुख ना, नासा, त्वचा इत्यादि में कोई दूषित स्थान (Septic ous) हों तो उनकी चिकित्सा करके ठीक करे। रक्तक्षय या न्य रोगों की चिकित्सा करे। जहाँ तक हो सके, योनि के तर अंगुलियों को प्रविष्ट करके परीक्षा न करे। अगर ना अत्यावश्यक हो तो हाथों की सफाई के ऊपर ध्यान ना करे। प्रसूति के कार्य में प्रयुक्त स्त्रियाँ मुख, नासा, गला, यन्त्र, फुफ्फुस और त्वचा के विकारों से पीडित हों उनको तैनात न करे, डॉक्टर या वैद्य को भी श्वसन स्थान और त्वचा के रोगों से पीडित होने पर प्रसूति का म न करना चाहिए। प्रसूति के समय विरेचन और ति के द्वारा मलाशय साफ रक्खे। प्रसवोपयोगी वस्त्रपात्र यन्त्रादि को अत्यन्त विशोधित करके काम में लावे। निद्वार में कहीं विदार हुआ हो तो तुरन्त टाँके लगावे, हार-विहार के संबंध में प्रसूता की परिचर्या जिस प्रकार बताई गई है उस प्रकार करे, योनिद्वार की सफाई खे तथा योनिद्वार के साथ संबन्ध रखने वाले सब वस्त्र त्यन्त स्वच्छ प्रयुक्त करे, इत्यादि।

अथापराऽपतन्त्यानाहाध्मानौ कुरुते, तस्मात् ण्ठमस्याः केशवेष्टितयाऽङ्गुल्या प्रमृजेत्, कटुका- बुकृतवेधनसर्षपसर्पनिर्मोकैर्वा कटुतैलविमिश्रै- र्योनिमुखं धूपयेत्, लाङ्गलीमूलकल्केन वाऽस्याः पाणिपादतलमालिम्पेत्, मूर्ध्नि वाऽस्या महावृक्ष- क्षीरमनुसेचयेत्, कुष्ठलाङ्गलीमूलकल्कं वा मद्य- मूत्रयोरन्यतरेण पाययेत्, शालमूलकल्कं वा पिप्प- ल्यादिं वा मद्येन, सिद्धार्थककुष्ठलाङ्गलीमहावृक्ष- क्षीरमिश्रेण सुरामण्डेन वाऽऽस्थापयेत्, एतैरेव स्नेहेन सिद्धार्थकतैलेनोत्तरबस्तिं दद्यात्, स्निग्धेन कृत्तनखेन हस्तेनापहरेत् ॥२०॥

(प्रसव की तृतीयावस्था—) गर्भजन्म के पश्चात् गर्भाशय से) न गिरी हुई अपरा आनाह और आध्मान ती है। अतः (अपरापातनार्थ) बालों से लिपटी हुई ली से उसके कण्ठ (गले) में गुदगुदी करे; अथवा वी तुम्बी, कड़वी तोरी, सरसों, साँप की केंचुली को वे तैल से मिलाकर उनसे योनिमुख का धूपन करे; वा उसके हाथ-पैरों की तली में लांगली की जड़ के क का लेप करे; अथवा उसके सिर पर सेहुण्ड के रस का सेचन करे; अथवा मद्य या गोमूत्र के साथ कुष्ठ और लांगली के मूल के कल्क को पिलावे; अथवा शालीमूलकल्क या पिप्पल्यादि (गण का चूर्ण) मद्य के साथ (पिलावे); अथवा श्वेत सरसों, कुष्ठ लांगली, सेहुण्डक्षीर इनसे मिश्र सुरामण्ड का आस्थापन करे; इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध सिद्धार्थक तैल की उत्तर बस्ति दे; अथवा नाखून काटे हुए और स्नेहद्रव्य से स्निग्ध किये हुए हाथ से निकाले ॥२०॥

वक्तव्य—इस सूत्र में अपरापातन के विविध उपाय बताये गये हैं। प्रसव की तृतीयावस्था की यही मुख्य घटना होती है। गर्भ को बाहर निकालने में गर्भाशय को तथा माता को अत्यधिक परिश्रम करने पड़ते हैं, जिसके कारण गर्भजन्म होने पर ये दोनों भी थक जाते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि दस-पंद्रह मिनट तक गर्भाशय में संकोच नहीं होता और इससे प्रसववेदना भी उतने समय तक बंद हो जाती है। इस अवधि में गर्भाशय पूर्णतया निष्क्रिय नहीं होता। यदि इस अवधि में गर्भाशय के ऊपर हाथ रक्खा जाय तो उसमें हलकी सी हलचल हो रही है, ऐसा मालूम होगा। इस हलचल से गर्भाशय अपनी शक्ति को फिर से काम करने के लिए इकट्ठा करता है और शरीर को छोटा बनाता है। इस परिवर्तन को संहरण (Retraction) कहते हैं। यह संहरण का कार्य बहुत महत्त्व का है। प्रथम और द्वितीय अवस्था में गर्भाशयसंकोच (Contractions) का जो महत्त्व है, वही महत्त्व तृतीयावस्था में गर्भाशयसंहरण का है। तृतीयावस्था में गर्भाशय के दो कार्य होते हैं—एक कार्य अपने प्रति होता है और दूसरा कार्य अपरा के प्रति होता है। ये दोनों कार्य अत्यन्त महत्त्व के हैं और इनका एक समय में होना भी आवश्यक है। ये दोनों कार्य संहरण के द्वारा होते हैं। संहरण में गर्भाशय के तन्तुओं में स्थायी संकोच हो जाता है, जिसके कारण गर्भाशय आकार में छोटा होता है। आकार छोटा होने से उसका भीतर का पृष्ठभाग भी क्षेत्रफल में छोटा होता है। तृतीयावस्था के पूर्व अपरा का गर्भाशयाभिमुख पृष्ठभाग और गर्भाशय का अपराभिसंबंधित पृष्ठभाग इनमें मेल रहता है। तृतीयावस्था के प्रारंभ से जब गर्भाशय छोटा होने लगता है, तब दोनों के पृष्ठभाग में कुछ अनमेल शुरू होता है और धीरे धीरे यह अनमेल बढ़ता जाता है। अपरा गर्भाशय के साथ छोटी नहीं होती, इसलिए तृतीयावस्था के प्रारंभ से अपरा गर्भाशय से पृथक् होने लगती है। प्रथम अपरा का मध्यभाग प्रायः पृथक् होता है। पृथक् होने पर गर्भाशय और अपरा के बीच में कुछ रक्त इकट्ठा होता है। अनमेल के बढ़ने से अपरा अधिकाधिक पृथक् होती जाती है तथा दोनों के बीच में अधिक रक्त इकट्ठा होता है। इसको प्रत्यापरा रक्तसंचय (Retro-placental hœmatoma) कहते हैं। यह रक्तसंचय भी अपरा को पृथक् करने में सहायता करता है। संहरण का अन्तिम परिणाम अपरा के पूर्ण पृथक् होने में होता है। तत्पश्चात् गर्भाशय के संकोच से तथा प्रवाहण से अपरा गर्भाशय के भीतर से निकलकर नीचे योनि में आती है। इस तरह संहरण का

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपरा के प्रति परिणाम उसके पृथक्करण में होता है। अपरा पृथक्करण के साथ साथ यदि अपरा को रक्त पहुँचाने वाली रक्तवाहिनियों के मुख बंद न किये जायँ, तो अपरा के स्थान से रक्त का स्राव बहुत होगा। परंतु यह देखा जाता है कि अपरा के साथ जो दो-तीन छटांक रक्त निकलता है उसके बाद रक्तस्राव नहीं होता। इसका कारण भी संहरण है। संहरण के द्वारा अपरा के स्थान की रक्तवाहिनियों के मुख गोया असंख्य बन्धनों (Ligatures) से बंद किये जाते हैं। इस तरह संहरण का गर्भाशय के प्रति कार्य रक्तस्राव बंद करने में होता है। जिस समय संहरण ठीक नहीं होता, उस समय अपरा गर्भाशय से अलग भी ठीक नहीं होती, और यदि जबरदस्ती निकाली जाय तो उसका कुछ हिस्सा भीतर रहने का तथा रक्तस्राव होने का डर रहता है।

अथ—गर्भजन्म के पश्चात्। प्रसव की तीसरी अवस्था में प्रसवरूपवृक्ष की दो शाखाएँ होती हैं—मातृशाखा और अपत्यशाखा। दोनों शाखाओं का काम साथ साथ करना पड़ता है और किया भी जाता है। इन शाखाओं के कार्य बालोपचर्या और सूतिकोपचर्या कहलाते हैं। ये दोनों कार्य साथ साथ चलते हैं, इसका स्पष्ट निर्देश चरक में किया गया है—तस्यास्तु खल्वपरायाः प्रपतनार्थे कर्मणि क्रियमाणे जातमात्रस्यैव कुमारस्य कार्याण्येतानि कर्माणि भवन्ति। बारहवें सूत्र में बालोपचर्या और पंद्रहवें सूत्र से सूतिकोपचर्या का विवरण किया गया है। वास्तव में सुश्रुत में दिया हुआ सूतिकोपचर्या का क्रम कुछ उलटा हो गया है। अपरापातन का कर्म सब से पहले याने पंद्रहवें सूत्र के पहले देना जरूरी है। अपरापतन के सिवा प्रसव पूरा नहीं होता और अभ्यंग-स्नान, भोजन इत्यादि कर्म नहीं किये जाते। चरक और अष्टांगसंग्रह में सूतिकोपचर्या का क्रम ठीक दिया है—यदा च प्रजाता स्यात्तदैवैनामवेक्षेत—काचिदस्या अपरा प्रपन्ना न वेति। तस्याश्चेदपरा न प्रपन्ना स्यादथैनामन्यतमा स्त्री इत्यादि। इसके बाद सूतिका के आहार अभ्यंगादि के बारे में विवरण किया गया है। अपतन्ती—यह अपरा का विशेषण है। चरक के उपर्युक्त वचन में और भी एक बात है, जो सुश्रुत में नहीं मिलती। वह बात इस सूत्र के पहले मानी गई है, ऐसा मालूम होता है। इस बात के साथ इस सूत्र का प्रारंभिक भाग निम्न प्रकार से परिवर्तित कर सकते हैं—अथापराऽपतन्त्यानाहाध्मानौ कुरुते, तस्मात् तस्याश्चेदपरा न प्रपन्ना स्यात्तर्हि कण्ठमस्याः केशवेष्टितयांगुल्या प्रमृजेत् इत्यादि। इसका मतलब यह है कि गर्भजन्म के पश्चात् अपरा का निष्कासन या पतन आप से हो जाता है; उसके लिए विशेष कोशिश करने की आवश्यकता नहीं होती। गर्भाशय से पृथक् होने पर अपरा एक समय में बाहर नहीं आती। प्रथम गर्भाशय से योनि में आती है और योनि से बाहर निकलती है। गर्भाशय से अपरा पृथक् कैसी होती है, इसका विवरण इस वक्तव्य के प्रारंभ में किया गया है। गर्भाशय और योनि की अपरा को बाहर फेंकने की शक्ति भिन्न भिन्न होती है। गर्भाशय के संहरण से अपरा पृथक् होकर उसी के संकोच से वह बालक के जन्म के पश्चात् दस-पंद्रह मिनट में खा[रिज] से योनि में निकाली जाती है। गर्भाशय में जो संकोच शक्ति है, वह योनि में नहीं है। इसलिए योनि से बाहर आने में अपरा को अधिक समय लगता है। अगर अपरा का संपूर्ण निष्कासन निसर्ग या स्वभाव के ऊपर ही छोड़ दिया जाय तो समय की दृष्टि से यह देखा गया है कि २५ प्र० श० स्त्रियों में अपरा निर्गमन के लिए आधा घंटा, २५ प्र० श० स्त्रियों में एक घंटा, २५ प्र० श० में दो घंटे और शेष में दो घंटे से लेकर १२ घंटे तक समय लग जाता है। इससे यह स्पष्ट होगा कि संपूर्ण निष्कासन स्वभाव के ऊपर छोड़ने में कुछ अनिश्चिति है और कालापव्यय होने की संभावना होती है। इसलिए आधुनिक काल में अपरा निष्कासन के लिए मध्यम मार्ग पसंद किया जाता है। वह मध्यम मार्ग यह है कि गर्भाशय से योनि तक का अपरा का निष्कासन स्वभाव के ऊपर छोड़ा जाता है और योनि से बाहर आने के कार्य में हस्तद्वारा सहायता दी जाती है। प्रथम कार्य याने गर्भाशय से अपरा का पृथक् होने का कार्य स्वभाव पर छोड़ने का उद्देश्य यह है कि उससे अपरा पूर्णतया निकल आती है और प्रसवोत्तर रक्तस्राव (Post partum haemorrhage) नहीं होता। अगर यह कार्य जबर्दस्ती किया जाय तो अपरा के कुछ टुकड़े भीतर रहने का डर होता है तथा गर्भाशय का संहरण ठीक न होने से रक्तस्राव भी हो सकता है। योनि से अपरा को कृत्रिम उपायों द्वारा निकालने में इन दोनों बातों का भी डर नहीं होता और समय की बचत होती है, क्योंकि योनि में संकोचन की शक्ति न होने के कारण योनि से बाहर आने में ही अधिक समय लगता है। साधारणतया बालक के जन्म के पश्चात् दस-पंद्रह मिनट तक गर्भाशय में जोर से संकोच नहीं होते और स्त्री को भी पीड़ा नहीं मालूम होती। इस समय में संहरण का कार्य जारी रहता है और उसके साथ साथ अपरा पृथक्करण का भी कार्य चलता है। अपरा जब पूर्णतया पृथक् हो जाती है, तब एकाध संकोच से वह गर्भाशय के बाहर योनि में निकाल दी जाती है। यह कार्य प्रायः पंद्रह-बीस मिनट में हो जाता है। परंतु इसके लिए अधिक से अधिक एक से सवा घंटा प्रतीक्षा की जाती है। यदि इस समय में अपरा योनि में न आ जाय तो समझना चाहिए कि गर्भाशय या अपरा में कुछ दोष है, जिससे अपरा का पृथक्करण स्वभाव से नहीं हो रहा है और कृत्रिम उपायों की आवश्यकता है।

योनिगत अपरा के लक्षण—गर्भाशय को छोड़कर अपरा जब योनि में आती है, तब कुछ लक्षण और परिवर्तन होते हैं जिनको देखने से या प्रतीत करने से अपरा के योनि में आने की सूचना मिलती है। घंटा सवा घंटे का जो समय बताया गया है तब तक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं होती। ये पाँच लक्षण होते हैं—(१) नाभिनाडी अधिक लंबी हो जाती है—बालक के जन्म के पश्चात् नाडीच्छेदन के समय नाडी पर दो बंधन लगाये जाते हैं, एक नाभि से दो तीन इंच पर और दूसरा योनिद्वार

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...। पश्चात् नाडी नाभिबन्धन के पास काट दी जाती ...। दूसरे बन्धन का उपयोग जैसे यमल के रक्तस्राव को ...ने के लिए होता है, वैसे ही अपरावतरण जानने के ... होता है। जब अपरा गर्भाशय से योनि में आती है, ... योनिद्वार के बाहर की नाभिनाडी अधिक लंबी हो ...ती है और इसका ज्ञान योनिद्वारसमीपवर्ती बन्धन ...निद्वार से अधिक दूर होने पर हो जाता है। (२) गर्भाशय ...र की ओर नाभि के पास चढ़ता है—बालक का जन्म होते ... गर्भाशय का ऊपर का हिस्सा भगास्थि से कुछ ऊपर ...र नाभि से कुछ नीचे होता है। जब अपरा गर्भाशय से ...लकर योनि में आती है, तब गर्भाशय अपरा के ऊपर ...ता है। इसका परिणाम यह होता है कि गर्भाशय उदर-...ा में कुछ ऊँचा हो जाता है और नाभि तक या उससे ... अधिक ऊँचाई तक पहुँचता है। (३) नाभि के पास ...र—श्रोणिगुहा से गर्भाशय ऊपर चढ़ने के कारण नाभि ...पास उदरप्राचीर में कुछ उभार दिखाई देने लगता है। ...) गर्भाशय की स्थिरता कम होती है—श्रोणिगुहा में अपरा ...साथ जब गर्भाशय रहता है, तब वह चारों ओर से घेरा ...ा रहने के कारण हाथ से हिलाने पर इधर-उधर बहुत ... हिल सकता है। परंतु जब वह अपराविरहित होकर ...गुहा में चढ़ता है, तब हाथ से उसको दायें बायें हिला ...ते हैं। (५) गर्भाशय को खींचने से नाडी खींची नहीं ...ी—जब तक अपरा गर्भाशय में होती है, तब तक ...र्भाशय को ऊपर की ओर खींचने से नाभिनाडी भी ...र की ओर खींची जाती है। खींचते समय योनि के ...हर की नाडी पर ध्यान देने से इस बात का पता लग ...ता है। इन लक्षणों के ऊपर ध्यान देने से अपरा ...र्भाशय से अलग होकर योनि में आ गई है या नहीं, ...सका ज्ञान हो जाता है।

तृतीयावस्था की व्यवस्था—बालक का जन्म होने पर एक ...रफ बालक की परिचर्या शुरू होती है और दूसरी तरफ ...सूता की परिचर्या जारी रहती है। बालक की परिचर्या ... विचार पीछे ११वें सूत्र में किया जा चुका है। इस सूत्र ...ं सूतिका की तृतीयावस्था की परिचर्या का विचार किया ...या है। तृतीयावस्था में प्रसूता उत्तानासन में ही रक्खी ...ाती है। यही आसन इस अवस्था के लिए सुविधाजनक ...ड़ता है। भारतवर्ष में द्वितीयावस्था में भी यही आसन ...संद किया जाता है। इसलिए तृतीयावस्था में आसन-...रिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जो लोग ...श्चात्यपद्धति के अनुसार द्वितीयावस्था में पार्श्विकासन ...संद करते हैं, वे लोग तृतीयावस्था में फिर से स्त्री को ...त्तानासन में रखते हैं। बालक का जन्म होने पर एक ...ाथ स्त्री के उदरप्राचीर पर नाभि के पास इस तरह खड़ा ...ाया जाता है कि कनिष्ठिका नीचे की ओर हो, अंगूठा ...ऊपर हो और हथेली भगास्थि की ओर हो। इस तरह ...ाथ रखने से गर्भाशय का सब हाल मालूम होता है, यदि ...आवश्यक हो तो गर्भाशय को हलके पीड़न से उत्तेजित ...र सकते हैं और अपरा के नीचे आने का पता लग जाता है। इसके सिवा गर्भाशय पर हाथ रखने से भीतर दूसरा गर्भ हो तो उसका भी ज्ञान हो जाता है।

जब अपरा योनि में आ जाती है, तब उसको निम्न तीन पद्धतियों से निकाल सकते हैं—(१) पीडन (Expression)—इसमें उदरप्राचीर पर से गर्भाशय पकड़ा जाता है और पीछे तथा नीचे की ओर दबाया जाता है। इस पीडन से योनि पर ऊपर से दबाव पड़कर अपरा बाहर निकलती है। (२) नाडी से खींचना—नाभिनाडी का जो हिस्सा बाहर रहता है, उसको पकड़कर खींचने (Traction) से अपरा बाहर चली आती है। अपरा गर्भाशय में ही रहने पर इस पद्धति का प्रयोग करने से कभी कभी गर्भाशय उलटा (Inversion) हो जाता है। यह बड़ा गंभीर उपद्रव है। इसलिए नाड़ी को खींचने से पूर्व अपरा योनि में आ गई है, इसका ठीक ठीक ज्ञान लक्षणों के द्वारा कर लेना चाहिए। (३) हाथ से निकालना (Manual removal)—इसमें स्वच्छ किया हुआ हाथ योनि में प्रविष्ट करके उसी से अपरा बाहर निकाली जाती है। ये तीनों पद्धतियाँ यथापूर्व गुणावह हैं।

आयुर्वेदोक्त अपरानिष्कासन की विधियाँ—इस सूत्र में जो विधियाँ बतलाई गई हैं, उनके अलावा चरक में निम्न विधियाँ अधिक मिलती हैं—एनामन्यतमा स्त्री दक्षिणेन पाणिना नाभेरुपरिष्टाद्बलवन्निपीड्य सव्येन पाणिना पृष्ठत उपसंगृह्य तां सुनिर्धूतं निर्धुनुयात्। अथास्याः पार्ष्ण्या श्रोणीमाकोटयेत्। इत्यादि। वाग्भटोक्त अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय में भी ये ही विधियाँ बतलाई गई हैं। इनके ऊपर ध्यान देने से एक बात स्पष्ट होती है कि जहाँ तक हो सके, अपरा का पतन स्वभाव के ऊपर ही छोड़ा जाता है। अगर उससे काम न हो तो स्वभाव को सहायता करने वाले बाहरी इलाज किये जाते हैं और उनसे न बने तो अन्त में हाथ से निकालने का काम किया जाता है। चरकसंहिता में हस्तापहरण की विधि नहीं मिलती। हाथ से जबर्दस्ती निकालने में अपरा और जरायु के हिस्से भीतर रहने का तथा रक्तस्राव होने का डर रहता है। इनके अलावा अगर हाथ की सफाई की ओर ध्यान न दिया जाय तो हाथ के साथ पूयोत्पादक जीवाणुओं का प्रवेश गर्भाशय में होकर प्रसूति रोग उत्पन्न होने की संभावना रहती है। इसलिए आधुनिक काल में बाहरी उपायों के द्वारा ही अपरापातन का कार्य, जहाँ तक हो सके, किया जाता है। जब इनसे कार्य नहीं बनता, तब हाथों से निकालने की कोशिश की जाती है। आयुर्वेद की उपर्युक्त विधियों के क्रम में अपरापातन का यही तत्त्व दिखाई देता है। ये विधियाँ अपरापातन में किस प्रकार सहायता करती हैं, इसका कुछ विचार यहाँ पर किया जाता है।

(१) केशवेष्टितयांगुल्या कण्ठं प्रमृजेत्—चरकसंहिता में तथा अष्टांगहृदय में वेणी का अग्र (बालवेणी) या वेणी कण्ठप्रमार्जन के लिए प्रयुक्त की गई है। केशवेष्टित अंगुलि या वेणी से कण्ठ या तालु को छूने से (Tickling the fausces) गले में सुरसुराहट वा गुदगुदी उत्पन्न होती

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इसका परिणाम कण्ठरासनी (Glassopharyngeal) नाडी के द्वारा सुषुम्नाशीर्षगत केन्द्र (Vomiting centre) के ऊपर होकर तद्द्वारा वमन की क्रिया होती है। वमन क्रिया में वक्षोदरगुहामध्यस्थ महाप्राचीरा पेशी (Diaphragm) का तथा उदरप्राचीरपेशियों का संकोच होता है। इससे उदरगत अंगों पर दबाव पड़ता है। अर्थात् गर्भाशय पर भी दबाव पड़ता है। इस दबाव से गर्भाशय में संकोच पैदा होकर अपरापृथक्करण में सहायता होती है। (२) लांगली प्रयोग—लांगली के गुणधर्म पीछे १०वें सूत्र के अन्त में दिये हुए हैं। लांगली में गर्भाशय में संकोच पैदा करने की शक्ति है। अर्थात् लांगली गर्भाशयसंकोचक (Ecbolic, oxytocics) है। इसका गुण शरीर पर बाँधने से, लेप करने से या पीने से प्रकट होता है। इसका प्रलेप यहाँ पर केवल हाथ पर के तलों पर करने के लिए लिखा है। अष्टांगसंग्रह में नाभिप्रदेश पर करने के लिए भी लिखा है—लांगलीमूलकल्केन वा पाणिमुदरं चालिम्पेत। लांगली का कल्क उदर पर लगाने से जब तक कल्क गीला है, तब तक वह अपनी शीतलता के कारण गर्भाशय में संकोच पैदा कर सकता है। इससे अपरापातन में सहायता होती है। इसके सिवा यह ठंडा कल्क प्रसवोत्तर रक्तस्राव रोकने के लिए भी उपयोगी हो सकता है। डा० निकोलस प्रसव के पश्चात् अपरापातन के लिए ठंडे पानी में भिगोया हुआ तौलिया उदर पर रखने के लिए लिखते हैं—I lay a towel, four fold, wrung out of cold water on the abdomen. This assists in the contraction of the uterus, helps to throw off the placenta, if still adherent, and do expel it, and is a safeguard against haemorrhage. *Esoteric Anthropology*. लांगलीकल्क प्रलेप में ठंडे पानी के सब गुण हो सकते हैं और इनके अलावा लांगली का विशेष गुण भी होता है। (३) बस्ति या आस्थापन—बस्ति देने से मलाशय में संकोच पैदा होता है और मलाशय तथा गर्भाशय के संबंधित होने के कारण उनमें भी संकोच पैदा होकर अपरापातन में सहायता होती है। चरक में इसके संबंध में लिखा है—तदास्थापनमस्याः सह वातमूत्रपुरीषैर्निर्हरत्यपरामासक्तां वायोरेवाप्रतिलोमगत्वाद्। अपरां हि वातमूत्रपुरीषाण्यन्यानि चान्तर्बहिर्भागानि सज्जन्ति। (४) नामेरुपरिष्टाद् बलवदुपपीड्य—यह पीडन आधुनिक Expression नामक उपाय के साथ मिलता है। अगर अपरा गर्भाशय में ही हो तो गर्भाशय का ऊपर का भाग एक या दो हाथों में पकड़कर निचोड़ना, जिससे अपरा नीचे योनि में चली जाय। पश्चात् गर्भाशय को पीछे और नीचे की ओर दबाना जिससे वह योनि के बाहर निकल जाय। (५) हस्तेनापहरणम्—यह अन्तिम उपाय है। उपर्युक्त बाह्य और भीतरी उपायों से अगर अपरा न निकल पड़े तो नाखून कटवाकर और हाथों को तैल या घृत से चुपड़कर यह कर्म किया जाता है। इस कर्म में हाथों की सफाई के ऊपर विशेष ध्यान देना चाहिए, वरना पूयोत्पादक जीवाणुओं का प्रवेश होकर मक्कलविद्रधि, प्रसूतिज्वर उत्पन्न होता है। प्रथम हाथों को साबुन से साफ धोकर पश्चात् लायसोल के घोल से निर्दोष करना चाहिए। यदि विशोधित रबड़ के मोजे हाथ पर चढ़ाये जायँ तो और भी अच्छा है। योनि में हस्तप्रवेश करने से पूर्व योनिद्वार को भी लायसोल के घोल से साफ धोना चाहिए। पश्चात् पाँचों अंगुलियाँ मिलाकर शंकु की तरह बनाया हुआ हाथ योनि में से गर्भाशय में प्रविष्ट किया जाता है। तदनन्तर अंगुलियों को आगे पीछे करके धीरे धीरे सारी अपरा गर्भाशय से पृथक् की जाती है। इस समय दूसरा हाथ उदरप्राचीर पर गर्भाशय के ऊपर रक्खा जाता है। इससे गर्भाशय स्थिर होता है और अपरा को पृथक् करने में सहायता होती है। पृथक् हुई अपरा हथेली पर लेकर बाहर निकाली जाती है। दूसरी बार हाथ को भीतर प्रविष्ट करके अपरा के अगर कुछ अंश भीतर रहे हों तो वे निकाले जाते हैं। इसके बाद आधे से एक प्रतिशत लायसोल का उत्तरबस्ति गर्भाशय में दिया जाता है। गर्भाशय में हाथ प्रविष्ट करते समय नाडी के अनुरोध से प्रवेश करना चाहिए—स्निग्धेन वा कृत्तनखेन पाणिना नालानुसारतोऽपहरेत्। (अष्टांगसंग्रह)। अथवा वैद्योपदेशेन काचित् पाणिना स्नेहाभ्यक्तेन क्लृप्तनखेन बहिःप्रलम्बमपरानालमनुसारयन्ति कुशला तामपरामन्तरपहरेत्। (इन्दु)। नालानुसारतः इस शब्दप्रयोग की खूबी निम्न अँग्रेजी वचन से ध्यान में आ जायगी—The other hand is inserted into the vagina and follows the cord up into the uterus to the placenta. *Ten teachers' Midwifery*. हाथ भीतर प्रविष्ट करने के पश्चात् अगर अपरा कहीं पर थोड़ी सी पृथक् हुई हो तो वहीं से पृथक् करने का काम प्रारंभ करना उचित है। इससे आसानी होती है। अगर कहीं पर भी पृथक् न हुई हो तो ऊपर किनारे से पृथक् करना चाहिए। अगर अपरा बहुत ही आसक्त हो (Adherent) तो उसको टुकड़े टुकड़े बनाकर निकालना चाहिए। स्वाभाविक तौर से निकल आने पर या कृत्रिम तौर से निकालने पर यह देखना आवश्यक है कि अपरा या जरायु का कोई टुकड़ा गर्भाशयद्वार से योनि में तो नहीं लटक रहा है। यदि लटक रहा हो तो उसको अंगुलियों से पकड़कर या चिमटी से पकड़कर धीरे से निकालना चाहिए। गर्भाशय के भीतर रहे हुए टुकड़े की अपेक्षा गर्भाशय के मुख से लटकता हुआ टुकड़ा अधिक भयावह होता है क्योंकि उसके द्वारा सीढ़ी की तरह योनिगत जीवाणु आसानी से गर्भाशय के भीतर पहुँच सकते हैं।

अपरा का परीक्षण—अपरा के बाहर निकल आने पर उसको एक थाली में रखकर भली भाँति देखना चाहिए। अपरा का गर्भाशय की ओर का भाग खुरदरा होता है। क्योंकि उसमें कई उभार होते हैं। ये दाल (Cotyledons) कहलाते हैं। अपरा परीक्षण में इन दालों के ऊपर ध्यान देना चाहिए। कभी कभी एकाध दाल भीतर रह सकता है। जरायु के बारे में उनके छिद्र देखने चाहिए। जरायु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक ही छिद्र होता है, जिसमें से गर्भ बाहर निकलता है। कभी कभी अन्य स्थान में भी जरायु फट जाने से छिद्र हो सकता है। यदि दूसरा छेद मिल जाय तो फटे हुए भाग मिलाकर देखना चाहिए कि वह केवल विदार है या उसका कुछ हिस्सा भीतर रह गया है। अपरा का कोई हिस्सा भीतर रहा हो तो उसको निकालना आवश्यक है, परंतु अगर जरायु का थोड़ा सा अंश भीतर रहा हो और गर्भाशयमुख से नीचे योनि में न लटकता हो तो उसको निकालने की आवश्यकता नहीं है। वे टुकड़े प्रसवशोणित के साथ निकल आते हैं।

अपरा निकल आने के बाद रक्त से भरे हुए कपड़ों को हटाकर योनिद्वार, चूतड़ तथा आसपास के भाग को स्वच्छ पानी और कपड़े से पोंछना चाहिए। आधुनिक काल में इसके लिए लायसोल का घोल प्रयुक्त करते हैं। जननेन्द्रिय तथा आसपास की सफाई करने के बाद जननेन्द्रिय का निरीक्षण विदारों के लिए करना चाहिए और यदि दरार हों तो उनको टाँके लगाना चाहिए। पश्चात् जननेन्द्रिय पर रुपीन की तरह स्वच्छ कपड़े की मोटी पट्टी नाभि से लेकर चूतड़ तक उदरपट्ट की सहायता से बाँधनी चाहिए। जननेन्द्रिय की पट्टी प्रसवशोणित को सोखने के लिए और प्रत्यक्षतया स्त्री के कपड़ों की खराबी न होने के लिए बाँधना आवश्यक है। उदर की पट्टी कौड़ी प्रदेश से ऊरु मध्य तक लगाई जाती है। गर्भाशय से गर्भ निकल जाने के बाद उदरगुहा में शून्यता, रिक्तता उत्पन्न होती है और उदरप्राचीर की पेशियाँ गर्भवृद्धि के तनाव के कारण दुर्बल और शिथिल हो जाती हैं। इसलिए उदर को सहारा देना आवश्यक हो जाता है। इसके सिवा गर्भाशय के ऊपर कुछ दबाव की आवश्यकता होती है। ये कार्य उदर पर कसके पट्टी बाँधने से होते हैं। यदि स्त्री का उदर अधिक मोटा और स्थूल हो तो पट्टी के नीचे नाभि पर वस्त्र की मोटी तह रखना उचित है—वेष्टयेदुदरं महताऽच्छेन वाससा; तथा तस्या न वायुरुदरे विकृतिमुत्पादयत्यनवकाशत्वात्। (चरक)। प्रजातमात्रामाश्वास्य सूतां शक्ता प्रसाविका। न्युब्जां स्थानां संवाह्य पृष्ठे संश्लिष्य कुक्षिणा॥ पीडयेद्गाढमुदरं गर्भदोषप्रवृत्तये। महताऽदुष्टपट्टेन कुक्षिपार्श्वे च वेष्टयेत्। तेनोदरं स्वस्थानं याति वायुश्च शाम्यति॥ (काश्यपसंहिता, सूतिकोपक्रमणीयाध्याय)। सूतिका के साथ संबंध रखने वाला हर एक वस्त्र अदुष्ट होना चाहिए। इसमें भी जो वस्त्र जननेन्द्रिय के ऊपर रक्खा जाता है, वह विशेष करके अदुष्ट होना आवश्यक है।

जननेन्द्रिय के ऊपर की पट्टी प्रारंभिक कुछ दिनों में दिन में कई बार बदलनी पड़ती है क्योंकि स्राव अधिक होता है। इस प्रसवशोणित स्राव के संबंध में यह ध्यान में रखना चाहिए कि यह स्राव बहुत जल्दी दूषित हो जाता है तथा व्रण के साथ इसका संबंध होने से व्रण भी जल्दी दूषित होता है। इसलिए जब तक स्राव हो रहा है, तब तक प्रसूता अपने हाथों का संबंध जननेन्द्रिय के साथ न करे, तथा दाई जननेन्द्रिय की सफाई करने से पूर्व बालक की परिचर्या समाप्त करे क्योंकि प्रसवशोणित का संसर्ग नवजात बालक की नाभि या नाभिनाडी पर होने से उसमें पाक होने का डर रहता है। जब एक ही दाई दोनों का काम करती है, तब इस नियम का पालन करना जरूरी है। जब आयुर्वेद के अनुसार प्रत्येक काम के लिए स्वतन्त्र स्त्री होती है, तब पहले और पीछे का सवाल नहीं उठता।

प्रजातायाश्च नार्या रूक्षशरीरायास्तीक्ष्णैरविशोधितं रक्तं वायुना तद्देशगतेनातिसंरुद्धं नाभेरधः पार्श्वयोर्बस्तौ बस्तिशिरसि वा ग्रन्थिं करोति; ततश्च नाभिबस्त्युदरशूलानि भवन्ति, सूचीभिरिव निस्तुद्यते भिद्यते दीर्यत इव च पक्वाशयः, समन्तादाध्मानमुदरे मूत्रसङ्गश्च भवतीति मक्कल्लक्षणम् ॥२१॥

(मक्कल्लक्षण—) प्रसूत हुई (अत एव) रूक्ष शरीर की स्त्री का (पिप्पल्यादि) तीक्ष्ण ओषधियों से अविशोधित, गर्भाशयगत वायु से रोका हुआ रक्त नाभि के नीचे दोनों पार्श्वों में, बस्ति (देश) में अथवा बस्ति-शिर में ग्रंथि पैदा करता है। उससे नाभि, बस्ति और उदर में शूल होता है, पक्वाशय सूचियों से चुभ रहा है, भेदित या विदीर्ण हो रहा है (ऐसी पीडा होती है), उदर में चारों ओर आध्मान होता है और मूत्र रुक जाता है, यह मक्कल्लक्षण है ॥२१॥

वक्तव्य—रूक्षशरीरा—शरीर की रूक्षता गर्भवृद्धिजन्य धातुक्षय, रक्तस्राव इत्यादि कारणों से होती है। अर्थात् सगर्भावस्था और प्रसव के कारण प्रत्येक प्रसूता स्त्री के शरीर में रूक्षता हो ही जाती है। तीक्ष्णैरविशोधितम्—पीछे १५वें सूत्र में प्रसवशोणित शुद्धि के लिए पिप्पली पिप्पलीमूलादि का चूर्ण देने के लिए बताया है। इसको न देने से रक्त अविशोधित रहता है। प्रसवशोणित की शुद्धि उसका ठीक स्राव होने में है। उसका ठीक स्राव न होने से वह अविशोधित रहता है। पिप्पल्यादि तीक्ष्ण ओषधियों से इसका स्राव ठीक होता है और न देने से नहीं होता। वायुना तद्देशगतेन—गर्भाशयगत वायु अर्थात् अपान वायु। मक्कल्लक्षणम्—प्रजातायाः प्रजननशोणितसंजनितशूलं मक्कल्लः। (डल्हण)। प्रजननशोणित वही है, जिसका वर्णन पीछे १५वें सूत्र के वक्तव्य में प्रसवशोणित (Lochia) करके किया गया है। मक्कल्ल को आफ्टरपेन्स (After pains) कहते हैं। मक्कल्ल के कई कारण हो सकते हैं। साधारणतया प्रसव के पश्चात् गर्भाशय में जोरदार संकोच नहीं होते, परंतु धीरे धीरे संहरण (२०वें सूत्र का वक्तव्य देखो) होता रहता है। कभी विलम्बी प्रसव, कष्टप्रसव या अन्य कारण से गर्भाशय कुछ प्रक्षुब्ध (Irritated) हो जाता है और प्रसव के पश्चात् भी कुछ काल तक जोर से संकुचित होता रहता है। इस संकोच के समय शूल होता है। कभी कभी अपरा और जरायु के कुछ टुकड़े गर्भाशय में रह जाते हैं। उनको निकालने की कोशिश में गर्भाशय में संकोच होते हैं और उससे शूल होता है। कभी कभी गर्भाशय

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की कमजोरी से संहरण ठीक नहीं होता और रक्त का स्राव कुछ अधिक होता है। यह रक्त गर्भाशय के भीतर जमने लगता है और उनकी गाँठें बनती हैं। इनको निकालने के लिए उत्पन्न हुए संकोच से शूल होता है। संक्षेप में, कभी प्रक्षोभ के कारण, कभी अपराजरायु शेष रहने के कारण, कभी भीतर रक्त जम जाने के कारण और कभी कोई ठीक कारण मालूम न होते हुए भी प्रसव के बाद गर्भाशय में जो संकोच होते हैं, उनसे मक्कल होता है। वास्तव में आवी और मक्कल में शारीरिक कार्य की दृष्टि से कोई फर्क नहीं है। जो फर्क है वह कारण और काल की दृष्टि से है। आवी गर्भ को निकालने के लिए होती है, मक्कल गर्भजनित कुछ शेष दोष निकालने के लिए होता है; आवी गर्भजन्म के पूर्व होती है और मक्कल गर्भजन्म के पश्चात् होता है। इस काल-कारण की दृष्टि से आवी को प्रसवपूर्व गर्भनिःसारक वेदना और मक्कल को प्रसवोत्तर गर्भदोषनिःसारक वेदना कह सकते हैं। इसी का संक्षेप करके आवी के लिए जैसे प्रसववेदना कहते हैं, वैसे ही मक्कल के लिए प्रसवोत्तर वेदना कहना चाहिए। अंग्रेजी में मक्कल को ऐसा ही (After pains) कहते हैं। प्रसवोत्तर वेदना गर्भाशय के संकोच के कारण जैसी होती है, वैसे ही आन्त्रगत वायु (आध्मान) और मूत्रसंग के कारण होती है। इसको मिथ्या प्रसवोत्तर वेदना (False after pains) कहते हैं। उदरगुहा से गर्भ निकल जाने पर उदर में शून्यता और रिक्तता आ जाती है तथा योनिद्वार के आस पास के भाग पर प्रसव के समय काफी दबाव और आघात होने के कारण मूत्रद्वार और मलद्वार के सुषिरस्नायु (Sphincters) संकुचित रहते हैं, जिसके कारण मल और मूत्र का उत्सर्ग नहीं होता—आनाहाध्मापने चोभे वर्चोमूत्रग्रहावपि। (काश्यपसंहिता)। प्रसवोत्तर वेदना और मिथ्या प्रसवोत्तर वेदना में निम्न भेद होते हैं—(१) मिथ्या वेदना आन्त्रगत वायु या मूत्रसंग के कारण और वास्तविक वेदना गर्भाशय संकोच के कारण होती है। (२) मिथ्या वेदना अनियमित समय पर और वास्तविक वेदना नियत समय पर होती है। (३) मिथ्या वेदना के समय गर्भाशय के ऊपर हाथ रखने से वह कड़ा नहीं मालूम होता; वास्तविक वेदना के समय कड़ा मालूम होता है। (४) बच्चे को दूध पिलाते समय वास्तविक वेदना अधिक हो जाती है या उस समय न होती हो तो शुरू होती है। मिथ्या वेदना पर बालक के स्तनपान का कोई परिणाम नहीं होता। (५) मलमूत्र त्याग करने से या अन्य उपायों द्वारा मलमूत्र निकालने से मिथ्या वेदना कम हो जाती है या बंद होती है। वास्तविक के ऊपर कोई परिणाम नहीं होता।

अष्टांगसंग्रह में 'मक्कल' का उल्लेख 'मर्कल' नाम से किया गया है।

तत्र (सर्पिषा सुखोष्णेन लवणचूर्णेन वा) वीरतर्वादिसिद्धं जलमुषकादिप्रतीवापं पाययेत्, यवक्षारचूर्णं वा पिप्पल्यादिक्वाथेन, पिप्पल्यादिचूर्णं वा सुरामण्डेन, वरुणादिक्वाथं वा पञ्चकोलैलाप्रतीवापं, पृथक्पर्ण्यादिक्वाथं वा भद्रदारुमरिचसंसृष्टं, पुराणगुडं वा त्रिकटुकचतुर्जातककुस्तुम्बुरुमिश्रं खादेत्, अच्छं वा पिबेदरिष्टमिति ॥२२॥

(मक्कलचिकित्सा—) उसमें वीरतर्वादि (गण की ओषधियों से) सिद्ध क्वाथ ऊषकादि (गण की ओषधियों) का प्रक्षेप देकर (मन्दोष्ण घृत से या नमक के चूर्ण) से पिलावे; अथवा पिप्पल्यादि क्वाथ यवक्षार चूर्ण के साथ, अथवा सुरामण्ड के साथ पिप्पल्यादि चूर्ण, अथवा वरुणादि क्वाथ पञ्चकोल और एला के चूर्ण का प्रक्षेप देकर, अथवा पृथक्पर्ण्यादि क्वाथ देवदारु और काली मिरच के साथ (पिलावे), अथवा त्रिकटु, चतुर्जात और धनिया इनसे मिश्र पुराना गुड़ खावे, अथवा केवल अरिष्ट-सेवन करे ॥२२॥

वक्तव्य—वीरतर्वादिगण, उषकादिगण, पिप्पल्यादिगण, वरुणादिगण इनकी ओषधियों का विवरण सूत्रस्थान के द्रव्यसंग्रहणीय (३८वें) अध्याय में किया गया है। अच्छं वा पिबेदरिष्टम्—अच्छं केवलम्। अरिष्टमभयारिष्टादिकम्। (डल्हण)। यदि गर्भाशयगत रक्तदोष के कारण शूल होता हो, उस दोष को गर्भाशय के पीडन से निकालने की कोशिश करनी चाहिए। शूल वायु के कारण होता है, इसलिए उदर पर नाभि के आस-पास गरम पानी से सेकना चाहिए, मलाशय में तथा योनि में बस्ति देना चाहिए और यदि कोष्ठशुद्धि न हो तो विरेचन द्वारा कोष्ठशुद्धि करनी चाहिए। इससे प्रायः मक्कल शूल दूर हो जाता है। अगर शूल कम न हो तो आजकल फेनासिटिन, एस्प्रिन, मार्फिया इत्यादि वेदनाहर ओषधियों का उपयोग किया जाता है।

सूतिका परिचर्या का विवरण यहाँ पर समाप्त होता है। इसके बाद फिर से बालकोपचर्या प्रारंभ होती है।

अथ बालं क्षौमपरिवृतं क्षौमवस्त्रास्तृतायां शय्यायां शाययेत्, पीलुबदरीनिम्बपरूषकशाखाभिश्चैनं परिवीजयेत्, मूर्ध्नि चास्याहरहस्तैलपिचुमवचारयेत्, धूपयेच्चैनं रक्षोघ्नैर्धूपैः, रक्षोघ्नानि चास्य पाणिपादशिरोग्रीवास्ववसृजेत्, तिलातसीसर्षपकणांश्चात्र प्रकिरेत्, अधिष्ठाने चाग्निं प्रज्वालयेत्, व्रणितोपासनीयं चावेक्षेत ॥२३॥

(रक्षाकर्म—) स्नान के पश्चात् बालक को क्षौम के वस्त्र में लपेटकर क्षौम का वस्त्र जिस पर बिछा हुआ हो, ऐसे बिछौने पर सुलावे; पीलु, बेर, नीम और फालसे की शाखाओं से पंखा करे; उसके सिर पर प्रति दिन तैल का फाहा रक्खे; उसे रक्षोघ्न धूप से धूपित किया करे और उसके हाथ पैर सिर और ग्रीवा में रक्षोघ्न द्रव्य बाँधे और बालक के अगार में तिल, अतसी और सरसों को बखेर दे; बालकागार में अग्नि जलावे और व्रणितोपासनीय (अध्यायोक्त विधि) को काम में लावे ॥२३॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वक्तव्य—अथ—बारहवें सूत्र में बताये हुए क्षीरवृक्ष यादि से बालक को स्नान कराने के बाद। मूर्धि—तालु terior fontenelle) पर। बालक की तालु तेल से ने का रिवाज अभी तक भी जारी है। यह कर्म पाँच छः नों तक लगातार प्रतिदिन किया जाता है। तालु के था कान में भी तेल छोड़ने का रिवाज है—अहरहश्चास्य शृंगाटकं स्नेहाप्लुतेन प्लोतेन प्रच्छादयेत्। (अष्टांगसंग्रह)। च शृंगाटकं च तयोः समाहारः श्रोत्रशृंगाटकम्। शृंगाटक—लु। धूपयेच्चैनं रक्षोघ्नैर्धूपैः—नीम की पत्ती, सरसों, नमक घृत इनके धूप को रक्षोघ्न धूप कहते हैं—सर्षपारिष्टपत्रा- सर्पिषा लवणेन च। द्विरह्नः कारयेद् धूपं दशरात्रमतन्द्रितः॥ स्थान १९)। काश्यपसंहिता में निम्न धूप रक्षोघ्न बताया तं सिद्धार्थको हिङ्गु देवनिर्माल्यमक्षताः। सर्पत्वग्भिक्षुसंघाटी रक्षोघ्न उच्यते॥ (धूपकल्पाध्याय)। भिक्षुसंघाटी—फटे ने कपड़े। धूप से बालक, उसके वस्त्र, संपूर्ण मकान का भी धूपन किया जाता है—एतैर्बालान् समापन्नानरि- स्मेव च। वस्त्रशय्यासनाद्यं च बालानां धूपयेद् भिषक्॥ श्यपसंहिता, धूपकल्पाध्याय)। रक्षोघ्नानि—व्रणितोपा- य अध्यायोक्त छत्रातिछत्रादि ओषधियाँ, किंवा ोक्त (आगे रक्षाकर्मविधि देखो) वचा कुष्ठ हिङ्गु सर्षप दि ओषधियाँ, किंवा जीवत्खड्गादिशृंगोत्थान् सदा बालः न् मणीन्। धारयेदोषधीः श्रेष्ठा ब्राह्मयैन्द्रीजीविकादिकाः॥ ष्टांगहृदय, उत्तर १)। व्रणितोपासनीयं चावेक्षेत—प्रसूता बालक दोनों भी व्रणित होते हैं। प्रसूता योनिगर्भाशय र बालक नाभिनाडी और नाभि में व्रणयुक्त होते अर्थात् व्रणित की परिचर्या जिस प्रकार करनी आवश्यक ी है, उसी प्रकार इनकी भी परिचर्या करनी चाहिए। सूत्र में व्रणितोपासनीय अध्यायोक्त कुछ बातें बताई हैं; अनुक्त बातों के लिए यह शब्दसमूह प्रयुक्त किया है—जैसे, प्रशस्त और आतपवर्जित कुमारागार, सशस्त्र ीर्ण, प्राक्शीर्षशयन, शान्तिमंगलदेवताब्राह्मण- ा, अजस्रदीपस्रक्दामादि, ऋग्यजुःसामाथर्ववेदादि ों का पठन इत्यादि।

इस सूत्र में बालक की रक्षाकर्मविधि वर्णन की गई यह विधि दस दिन तक की जाती है—अथास्य रक्षां ध्यात्—आदानीखदिरकर्कन्धुपीलुपरूषकशाखाभिरस्या गृहं न्ततः परिवारयेत्। सर्वतश्च सूतिकागारस्य सर्षपातसीतण्डुल- कणिकाः प्रकिरेयुः। तथा तण्डुलबलिहोमः सततमुभयकालं तानामकर्मणः। द्वारे च मुसलं देहलीमनु तिरश्चीनं न्यसेत्। कुष्ठक्षौमकहिङ्गुसर्षपातसीलशुनकणकणिकानां रक्षोघ्नसमाख्या- नां चौषधीनां पोट्टलिकां बद्ध्वा सूतिकागारस्योत्तरदेहल्यामव- त्, तथा सूतिकायाः कण्ठे सपुत्रायाः, स्थाल्युदककुम्भपर्यङ्के- , तथैव च द्वयोर्द्वारपक्षयोः। कणककण्टकेन्धनवानग्निस्तिन्दुक- ष्ठेन्धनश्चाग्निः सूतिकागारस्याभ्यन्तरतो नित्यं स्यात्। स्त्रिय- नां यथोक्तगुणाः सुहृदश्चानुश्चानुजागृयुर्दशाहं द्वादशाहं वा। रतप्रदानमङ्गलाशीःस्तुतिगीतवादित्रमन्नपानविशदमनुरक्तप्रहृ- नसंपूर्णं च तद्वेश्म कार्यम्। ब्राह्मणश्चाथर्ववेदवित् सततमुभयकालं न्तिं जुहुयात्, स्वस्त्ययनार्थं कुमारस्य तथा सूतिकायाः। (चरक)।

अब यहाँ पर बालक से संबंधित कुछ विषयों का विचार किया जायगा—(१) कुमारागार—चरकसंहिता में बालक के लिए स्वतन्त्र गृह बनाने के लिए लिखा है—वास्तुविद्याकुशलः प्रशस्तं रम्यमतमस्कं निवातं प्रवातैकदेशं दृढमपगतश्वापदपशुदंष्ट्रिमूषिकपतंगं सुविभक्तसलिलोलूखलमूत्रवर्चःस्थानस्नानभूमिमहानसमृतुसुखं यथर्तुशयनासनास्तरणसंपन्नं कुर्यात्। तथा सुविहितरक्षाविधानबलिमंगलहोमप्रायश्चित्तं शुचिवृद्धवैद्यानुरक्तजनसंपूर्णम्। सुश्रुत और अष्टांगहृदय में कुमारागार स्वतन्त्र नहीं दिया है, परंतु अष्टांगसंग्रह में चरक के अनुसार स्वतन्त्र दिया है। अब प्रश्न यह उठता है कि स्वतन्त्र कुमारागार आवश्यक है या नहीं है, और यदि आवश्यक हो तो किस परिस्थिति में आवश्यक होता है। जन्म के पश्चात् भी, यद्यपि गर्भावस्था के समान नहीं, माता और बालक का घनिष्ट संबंध होता है क्योंकि बालक का पोषण माता के दूध पर ही हुआ करता है। इसलिए जहाँ पर और जब तक बालक माता का ही दूध पीता है वहाँ पर और तब तक बालक के लिए माता के स्थान से स्वतन्त्र स्थान न आवश्यक है, न उचित है। जहाँ पर और जब से बालक का पोषण माता के दूध पर नहीं होता, वहाँ पर और तब से बालक का स्थान माता से अभिन्न रखने में न कोई सुविधा है, न औचित्य है। इसलिए जहाँ पर माता स्वयं बच्चे को दूध पिलाती है तथा उसकी देख-भाल करती है, वहाँ पर कुमारागार की कोई आवश्यकता नहीं है, सूतिकागार में ही कुमार के लिए आवश्यक प्रबंध करने से काम हो जाता है। परंतु जहाँ पर माता बालक को दूध नहीं पिला सकती (जैसे, रुग्ण माता), अथवा बालक को दूध पिलाना नहीं चाहती (जैसे, धनी, अमीर या राजपुरुष की स्त्री अथवा आधुनिक कालीन पाश्चात्यों का अन्धानुकरण करने वाली स्त्री, जो बच्चे को पिलाना एक असभ्य काम समझती है या जो बच्चे की अपेक्षा अपने स्तनों की पुष्टता को याने पर्याय से अपने यौवन को अधिक महत्त्व देती है) और इस परिस्थिति के कारण जहाँ पर बालक के लिए धात्री रक्खी गई है, वहाँ पर सूतिकागार और कुमारागार पृथक् रखना ही आवश्यक है। कुछ भी हो, जहाँ पर बालक रहे वहाँ पर बालक के लिए आवश्यक सब बातों का प्रबंध होना चाहिए। जैसे कि ऊपर चरक के वचन में बताया गया है। कुमारागार के संबध में कुछ विवरण पीछे चौथे सूत्र के वक्तव्य में सूतिकागार के साथ किया गया है। बालक के वस्त्र शय्यादि—बालक के वस्त्र स्वच्छ, निर्मल, मृदु, शुष्क और सुधौत होने चाहिएँ और उसकी शय्या मृदु, खटमल या पिस्सू से विरहित तथा यदि मच्छर हों तो मच्छरदानी से युक्त होनी चाहिए—निर्मत्कुणाखुमशकमतमस्कं च शस्यते। शुचिधौतोपधानानि निर्बलीनि मृदूनि च। शय्यास्तरणवासांसि रक्षोघ्नैर्धूपितानि च॥ (अष्टांगसंग्रह)। शयनास्तरणप्रावरणानि कुमारस्य मृदुलघुशुचिसुगन्धीनि स्युः, स्वेदमलजन्तुमन्ति मूत्रपुरीषोपसृष्टानि च वर्ज्यानि स्युः, असति संभवेऽन्येषां तान्येव च सुप्रक्षालितोपधानानि सुधूपितानि शुद्धशुष्काण्युपयोगं गच्छेयुः॥ धूपनानि पुनर्वाससा

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शयनास्तरणप्रावरणानां च यवसर्षपातसीहिङ्गुगुग्गुलुवचाचोरकवयःस्थागोलोमीजटिलापलङ्कूपाशोकरोहिणीसर्पनिर्मोकाणि घृतयुक्तानि स्युः। (चरक)। चरक का कथन है कि जो वस्त्र मल-मूत्रादि से दूषित हो जाते हैं, उनको वर्जित करना चाहिए। यदि यह न हो सके तो उनको अच्छी तरह धोकर और सुखाकर तथा धूपित करके काम में लाना चाहिए।

ततो दशमेऽहनि मातापितरौ कृतमङ्गलकौतुकौ स्वस्तिवाचनं कृत्वा नाम कुर्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्रनाम वा ॥२४॥

(नामकरणविधि—) तदनन्तर दसवें दिन माता-पिता मंगलोत्सव किये हुए पुण्याहवाचन करके अपने को अभीष्ट अथवा नक्षत्र नाम रक्खें ॥२४॥

वक्तव्य—दशमेऽहनि—प्रसूता के लिए दस रोज तक अशौच रहता है, इसलिए 'ग्यारहवें दिन' ऐसा इसका अर्थ करना चाहिए। चरकसंहिता में 'दशमे त्वहनि' पाद के बदले 'दशम्यां निश्यतीतायाम्' ऐसा भी पाठभेद मिलता है। यह नामकरणविधि दसवें, या बारहवें दिन में और उन दिनों में न हो सकी तो आगे शुभ मुहूर्त पर किसी दिन की जाती है—नामधेयं दशम्यां तु द्वादश्यां वास्य कारयेत्। पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा नक्षत्रे वा गुणान्विते ॥ (मनुस्मृति २–३०)। इस श्लोक की टीका में कुल्लूक भट्ट लिखते हैं—अथवा 'आशौचे तु व्यतिक्रान्ते नामकर्म विधीयते' इति शङ्खवचनाद् दशमेऽहन्यतीते एकादशाहे इति व्याख्येयम् ॥ प्रसूति के बाद माने गये इस अशौच को जननाशौच या सूतक कहते हैं। यह अशौच प्रसवशोणित स्राव के लिए रक्खा गया है जैसे आर्तवस्राव के लिए अशौच होता है उसी प्रकार का यह अशौच है और जैसे आर्तवशोणितस्राव की औसत अवधि तीन दिन की होने से उसका अशौच तीन दिन माना जाता है, वैसे ही प्रसवशोणितस्राव की औसत अवधि दस रोज की होती है, इसलिए जननाशौच दस रोज का माना जाता है—पित्रोस्तु सूतकं मातुस्तदसृग्दर्शनाद् ध्रुवम्। (याज्ञवल्क्यस्मृति ३–१९)। इस पर विज्ञानेश्वर लिखते हैं—सूतकं जनननिमित्तमस्पृश्यत्वलक्षणमाशौचं पित्रोर्मातापित्रोरेव न सर्वेषां सपिण्डानाम्। तच्चास्पृश्यत्वं मातुर्ध्रुवं दशाहपर्यन्तं स्थिरमित्यर्थः। कुतः। तदसृग्दर्शनात्। तस्याः संबंधित्वेनासृजोर्दर्शनात्। अतएव वसिष्ठः—नाशौचं विद्यते पुंसः संसर्गं चेन्न गच्छति। रजस्तत्राशुचि ज्ञेयं तच्च पुंसि न विद्यते ॥ जेलेट अपनी पुस्तक में लिखते हैं—These figures show an average duration (of lochia) of $8\frac{2}{3}$ days. *Manual of Midwifery.* अशौच मानने की कारणपरंपरा इस प्रकार की है—जैसे, आर्तवशोणित से शरीर शुद्ध होता है (३ अध्याय के ९ सूत्र के वक्तव्य को देखो), इसलिए वह शोणित अशुद्ध रहता है और उससे युक्त स्त्री अस्पृश्य मानी जाती है, वैसे ही प्रसवशोणित से योनिगर्भाशय की शुद्धि (Cleansing) होती है, इसलिए वह शोणित अशुद्ध रहता है और उससे युक्त स्त्री अस्पृश्य मानी जाती है। डा० निकोलस लिखते हैं—A cleansing discharge, called lochia, is kept up for ten or twelve days after delivery in the common practice. *Esoteric Anthropology.* इसकी औसत अवधि नौ या दस दिन की है, अर्थात् कुछ स्त्रियों में यह स्राव अधिक दिनों तक जारी रहता है। यदि प्रसवशोणित स्राव पर अशौच के दिन निश्चित किये जायँगे तो प्रत्येक स्त्री में जननाशौच की अवधि भिन्न भिन्न होगी और व्यवहार में अनवस्था प्रसंग उत्पन्न होगा। अतः व्यवहार के लिए दस दिन का अशौच औसत स्राव दिनों पर निश्चित किया गया है, जैसे आर्तव का तीन दिनों का अशौच औसत स्राव दिनों पर निश्चित किया गया है—माता शुध्येद्दशाहेनेत्येतच्च संव्यवहारयोग्यतामात्रम् (विज्ञानेश्वर)। कृतमंगलकौतुकौ स्वस्तिवाचनं कृत्वा—कौतुक का अर्थ उत्सव है। चरकसंहिता में इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—दशमे त्वहनि सपुत्रा स्त्री सर्वगन्धौषधैर्गौरसर्षपलोध्रैश्च स्नाता लघ्वहतशुचिवस्त्रं परिधाय पवित्रेष्टलघुविचित्रभूषणवती च संस्पृश्य मङ्गलान्युचितामर्चयित्वा च देवतां शिखिनः शुक्लवाससोऽव्यङ्गांश्च ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयित्वा कुमारमहतानां च वाससां संचये प्राक्शिरसमुदक्शिरसं वा संवेश्य देवतापूर्वं द्विजातिभ्यः प्रणमति ॥ नाम कुर्यातां यदभिप्रेतं नक्षत्रं वा—दो नाम रक्खे जाते हैं, एक अपनी इच्छा के अनुसार और दूसरा नाक्षत्रिक याने जिस नक्षत्र पर बालक का जन्म होता है, उस नक्षत्र की जो देवता होती है उसका नाम। नामकरण के कई नियम होते हैं—जैसे प्रारंभ में अमुक अक्षर, मध्य में अमुक, अन्त में अमुक अक्षर होने चाहिएँ। पुरुषों के नाम दो या चार अक्षर के, स्त्री के तीन अक्षर के, ब्राह्मण हो तो शर्म, क्षत्रिय हो तो वर्म इत्यादि—घोषवदाद्यन्तरस्थमभिनिष्ठानान्तं द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा। युग्मानि त्वेवं पुंसाम्। अयुजानि स्त्रीणाम्। (आश्वलायन गृह्यसूत्र)। मंगल्यं ब्राह्मणस्य स्यात्क्षत्रियस्य बलान्वितम्। वैश्यस्य धनसंयुक्तं शूद्रस्य तु जुगुप्सितम् ॥ शर्मवद् ब्राह्मणस्य स्याद्राज्ञो रक्षासमन्वितम्। वैश्यस्य पुष्टिसंयुक्तं शूद्रस्य प्रेष्यसंयुतम् ॥ स्त्रीणां सुखोद्यमक्रूरं विस्पष्टार्थं मनोहरम्। मंगल्यं दीर्घवर्णान्तमाशीर्वादाभिधानवत् ॥ (मनुस्मृति २–३१–३३)। शर्मवद् ब्राह्मणस्योक्तं वर्मेति क्षत्रसंयुतम्। गुप्तदासात्मकं नाम प्रशस्तं वैश्यशूद्रयोः ॥ (विष्णुपुराण)।

ततो यथावर्णं धात्रीमुपेयान्मध्यमप्रमाणां मध्यमवयस्कामरोगां शीलवतीमचपलामलोलुपामकृशामस्थूलां प्रसन्नक्षीरामलम्बौष्ठीमलम्बोर्ध्वस्तनीमव्यङ्गामव्यसनिनीं जीववत्सां दोग्ध्रीं वत्सलामक्षुद्रकर्मिणीं कुले जातामतो भूयिष्ठैश्च गुणैरन्वितां श्यामामारोग्यबलवृद्धये बालस्य ॥२५॥

(धात्री के गुण—) तदनन्तर वर्णानुसार मध्यम-शरीर की, मध्यम आयु की, नीरोग, सुशील, शान्तस्वभाव की, जो लोभी न हो, जो न पतली हो न मोटी हो, जिसका दूध प्रसन्न हो, जिसके होठ लम्बे न हों, जिसके स्तन न बहुत लम्बे हों न छोटे (पीन) हों, अव्यंग, व्यसनों से विरहित, जिसके अपत्य जिन्दे हों, बहुत दूध वाली,

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चार करने वाली, नीच कर्म न करने वाली, उत्तम कुल में पैदा हुई, इसलिए अनेक उत्तम गुणों से युक्त तथा श्यामा धात्री को बालक के आरोग्य और बल की वृद्धि के लिए नियुक्त करे ॥२५॥

वक्तव्य—यथावर्णम्—ब्राह्मण के लिए ब्राह्मण जाति की, क्षत्रिय के लिए क्षत्रिय जाति की इत्यादि। मध्यमप्रमाणा—जिसके शरीर में किसी बात की अधिकता या अल्पता न होकर मध्यमता हो। इसका संबंध अधिकतर शरीर के जो आठ दोष चरकसंहिता में बताये गये हैं, उनसे है—अतिदीर्घश्चातिह्रस्वश्चातिलोमा चालोमा चातिकृष्णश्चातिगौरश्चातिस्थूलश्चातिकृशश्चेति। (सूत्र, अष्टौनिन्दितीयाध्याय)। ये दोष जिसके शरीर में न हों, ऐसी। मध्यमवयस्का—जो तरुणी हो, न वृद्धा हो। इसके संबंध में दारुवाही कहते हैं—तरुणी स्याद्वत्सला। क्लेशं न सहते वृद्धा स्तन्यं चास्या न वर्धते॥ अलोलुपा—लोलुप का अर्थ यद्यपि लोभी होता है तथापि यहाँ पर उसका संबंध अधिकतर खाद्य पेयों के साथ समझना चाहिए। जो धात्री खाद्य पेयों में लोभी होगी उससे विषमाशन, अध्यशन, समशन तथा बालक के लिए अपथ्य द्रव्यों का सेवन इत्यादि आहारदोष होंगे और उसका दूध खराब होगा। इसलिए धात्री खाद्य-पेय द्रव्यों में लोभ करने वाली न होनी चाहिए। दोग्ध्री—बहुक्षीरा। श्यामा—श्यामा हि प्रायशः प्रचुरक्षीरा भवति। (डल्हण)। श्यामा के लक्षण—शीतकाले भवेदुष्णा ग्रीष्मे च सुशीतला। तप्तकांचनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कीर्तिता॥ जीवद्वत्सा—जिस स्त्री को बच्चे होकर मरते हैं उस स्त्री को कोई माता अपने बालक को धात्री रखने के लिए तैयार नहीं होगी। माता की दृष्टि से यह भावना का प्रश्न होता है। वैद्य की दृष्टि से भी मृतवत्सा धात्री योग्य नहीं होती क्योंकि बालक की मृत्यु का कारण उसका या उसके दूध का दोष हो सकता है, जो दोष इस नये बच्चे को भी दूषित कर सकता है। माता के दूध का संगठन बालक की आयुर्वृद्धि के साथ बदलता है, इसलिए जीवद्वत्सा धात्री के बालक की उम्र करीब उतनी ही होनी चाहिए, जितनी कि धात्री रखने वाले बालक की होती है। इन गुणों के अतिरिक्त चरक में निम्न गुण अधिक मिलते हैं। देशजातीया—बालक तथा उसके माता-पिता जिस देश के निवासी हों, उसी देश में रहने वाली। देशभिन्नता का परिणाम रहन-सहन और आहार पर होता है। जो आहार धात्री के लिए सात्म्य होता है, वह बालक के लिए सात्म्य नहीं होता। इससे बालक को तकलीफ होने की संभावना होती है। इसलिए समानदेशजा धात्री होनी चाहिए। कुशलोपचारा—उपचारज्ञा। बालक की परिचर्या करने में कुशल। धात्री बालक की परिचारिका भी होती है। बालक रुग्ण होने पर खानपानादि का प्रबंध उसी को करना पड़ता है। इसलिए उसमें परिचारिका गुण जो उपचारज्ञता, वह भी होना चाहिए—उपचारज्ञता दाक्ष्यमनुरागश्च भर्तरि। शौचं चेति चतुष्कोऽयं गुणः परिचरे जने॥ (चरक, सू० ९)। अजुगुप्सिता—बालक का स्वभाव चिड़चिड़ा हो सकता है, स्वरूप विकृत हो सकता है, स्वास्थ्य हमेशा खराब हो सकता है, अतीसार प्रवाहिकादि विकार हो सकते हैं, ये सब कुछ होते हुए भी जिसको बालक के संबंध में घृणा पैदा नहीं होती, ऐसी। शुचि, अशुचिद्वेषिणी—ये दोनों गुण यद्यपि एक से मालूम पड़ते हैं तथापि एक नहीं हैं। बहुतेरे नौकर जहाँ पर काम करते हैं, वहाँ पर घर की परिस्थिति और सूचनाओं के अनुसार सफाई का ध्यान रखते हैं, परंतु जब घर के बाहर जाते हैं तब सफाई के ख्याल को भूल जाते हैं और अपने गन्दे दोस्तों के साथ मिलते हैं। इसलिए धात्री में स्वयं स्वच्छ रहने का और अस्वच्छता से दूर रहने का गुण होना चाहिए। स्तनसम्पदुपेता—तत्रेयं स्तनसम्पत्—नात्यूर्ध्वौ नातिलम्बावनतिकृशावनतिपीनौ युक्तपिप्पलकौ सुखप्रपानौ चेति। (चरक)। युक्तपिप्पलकौ—युक्तचूचुकौ। 'With well shaped nipples.' सुखप्रपानौ—जिनको पीने में बालक को आसानी हो। वाग्भटाचार्य इन गुणों के अलावा निम्न गुण अधिक बताते हैं—ब्रह्मचारिणी—निषिद्धपुंसंयोगा। (इन्दु) वर्जितमैथुना। (अरुणदत्त)। इस शब्द से कई अर्थ निकल आते हैं। धात्री शीलवती, अचपला, कुलेजाता इत्यादि गुणसंपन्न होती है, अर्थात् वह अधार्मिक मैथुन नहीं कर सकती तथा करने वाली हो तो उपर्युक्त गुणों से युक्त भी नहीं मानी जाती है। ऐसी अवस्था में जब इसके लिए मैथुन या पुरुषसमागम वर्ज्य किया गया है, तब यह समझ सकते हैं कि वह विवाहित और जीवद्भर्तृका स्त्री भी होनी चाहिए। ऐसी स्त्री अगर उसको पुरुषसमागम के बारे में कुछ भी न बताया जाय तो समागम कर सकती है। पुरुषसमागम करने से उसके गर्भवती होने की संभावना होती है और गर्भवती स्त्री का दूध बालक के लिए विकारी होता है। इसलिए मैथुन का निषेध जब तक स्त्री बालक को पिलाती है, तब तक आवश्यक है। धात्री गर्भवती होने पर उसको छोड़ सकते हैं, परंतु दूसरी धात्री रखने में कठिनाई होती है और दूसरी धात्री का दूध बालक के लिए कुछ काल तक असात्म्य होने के कारण उसी से भी बालक बीमार पड़ सकता है। इसलिए दूध पिलाने के समय में धात्री को ब्रह्मचर्य व्रत से रहना नितान्त आवश्यक है। धात्री की आवश्यकता—प्रत्येक प्रसूता के लिए या प्रत्येक बालक के लिए धात्री की आवश्यकता नहीं होती। माता के समान बालक को निरपेक्ष प्यार करने वाला, बालक की रक्षा की चिन्ता करने वाला, बालक का पोषण करने वाला संसार में दूसरा कोई मनुष्य नहीं होता है क्योंकि बालक गर्भावस्था में माता के खून से पुष्ट होता है और जन्म के पश्चात् खून से पैदा हुए दूध से पुष्ट होता है—अंगप्रत्यंगजः पुत्रो हृदयाच्चाभिजायते। तस्मात् प्रियतरो मातुः प्रिया एव तु बान्धवाः॥ (रामायण २–७४)। नास्ति मातृसमा छाया नास्ति मातृसमा गतिः। नास्ति मातृसमं त्राणं नास्ति मातृसमा प्रिया॥ मातृलाभे सनाथत्वमनाथत्वं विपर्यये। समर्थं वाऽसमर्थं वा कृशं बालकृशं तथा। रक्षत्येव सुतं माता नान्यः पोष्टा विधानतः॥ (महाभारत, शान्तिपर्व २६६)। कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(शंकराचार्य) । यह वर्णन काव्य या पुराण नहीं है, वस्तुस्थिति ही ऐसी है। जन्म के पश्चात् बालक के स्वास्थ्य की दृष्टि से सर्वोत्तम खाद्य दूध है और वह भी माता का दूध है, इस बात का स्पष्ट निर्देश आयुर्वेद ने अत्यंत प्राचीन काल में किया है—मातुरेव पिबेत् स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये । (अष्टांगहृदय) । पाश्चात्य देशों में माता के दूध का महत्त्व अब मालूम होने लगा है—Breast feeding by the mother—This is the natural method of feeding an infant. *Jellet's Midwifery.* जो बालक माता के दूध पर बढ़ते हैं, उनका स्वास्थ्य औरों की अपेक्षा बहुत अच्छा होता है। इसलिए प्रत्येक स्त्री का यह कर्तव्य तथा धर्म है कि वह अपने बालक को स्तनों का दूध पिलावे । इसमें उसका भी फायदा होता है क्योंकि बालक के स्तनपान से गर्भाशय पूर्वावस्था को प्राप्त होने में सहायता होती है (१४वें सूत्र का वक्तव्य देखो) । डा० निकोल्स कहते हैं कि यदि माता दूध पिलाने के लिए योग्य स्थिति में हो तो उसको बच्चे को दूध पिलाना चाहिए; और यदि वह दूध पिलाने के लिए योग्य स्थिति में न हो तो वह प्रजोत्पादन करने योग्य नहीं है—Every mother ought to nurse her own child, if she is fit to do it, and no woman is fit to have a child who is not fit to nurse it. *Esoteric Anthropology.* परंतु कई बार ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न होती हैं या खड़ी की जाती हैं कि बालक को माता का दूध नहीं मिल सकता । ये अवस्थाएँ निम्न हैं—(१) माता की मृत्यु—कई बार प्रसूति ज्वर से माता की मृत्यु बालक के जन्म के कुछ दिनों के पश्चात् होती है। जन्म होते ही माता की मृत्यु होने से बालक के पालन-पोषण में औरों को बड़ी कठिनाई होती है और बालक को भी अनेक यातनाएँ सहन करनी पड़ती हैं। इसलिए बचपन में माता की मृत्यु होना बालक के पूर्वपाप का निदर्शन माना जाता है—बालत्वं च मृता माता, वृद्धत्वं च मृताः सुताः । यौवनं च मृता भार्या पातकं किमतः परम् ॥ (सुभाषित) । (२) माता का अस्वास्थ्य—प्रसव के पूर्व या पश्चात् अधिक रक्तस्राव से या अन्य कारण से उत्पन्न हुआ दौर्बल्य, अपची, राजयक्ष्मा, वृक्करोग, हृद्रोग, पागलपन (उन्माद) इत्यादि रोगों से माता पीडित हो तो बालक को दूध न पिलाना चाहिए। (३) स्तनस्तन्यदोष—स्तनप्रकोप, स्तनविद्रधि, स्तन्य की खराबी ये दोष होने पर बालक को दूध न पिलाना ही प्रशस्त होता है । कई बार ऐसा देखा जाता है कि जन्म के समय बालक स्वस्थ होने पर भी माता का दूध खराब होने के कारण बालक खराब होता जाता है और खराब हालत में अन्य रोगों का शिकार बनकर उसकी मृत्यु हो जाती है। ऐसी अवस्था में जन्म से माता का दूध बालक को न देना अच्छा है। (४) पाश्चात्यों का अन्धानुकरण—पाश्चात्य देशों में एक समय ऐसा था कि बालक को पिलाना असभ्यता मानी जाती थी और कृत्रिम दूध बनाकर उसके ऊपर बालक की परवरिश करना विज्ञान की करामात और मनुष्यजाति की सभ्यता मानी जाती थी। हमारे देश में भी पाश्चात्य ढंग पर लिखे पढ़े पुरुष पाश्चात्य प्रत्ययनेयबुद्धि होकर इस पद्धति की प्रशंसा करने लगे और स्त्रियाँ इसका अनुकरण करने लगीं। इस रिवाज के ऊपर—'टेन टीचर की प्रसूतितन्त्र की पुस्तक' में बड़ी मार्मिक टीका की गई है—It is a curious commentary on the triumph of science in making possible the rearing of infants on a substitute for their natural food that bottle-feeding should have become so general as almost to be taken for granted among certain sections of the community. As soon, however, as the problem is approached from the point of view of the nation as a whole and the effects studied over large numbers, the evils of substitute feeding become clear, and it is a question whether even the triumphs of science will enable a race to survive in the struggle for existance if it depends for the rearing of its young on the milk of another animal. *Ten Teacher's Midwifery.* (५) राजघराने और अमीरी खानदान—यहाँ की स्त्रियाँ प्रायः बच्चों को दूध नहीं पिलाती हैं। यह रिवाज बड़प्पन के कारण जारी हुआ होगा । (६) स्तनों का स्वास्थ्य—इसमें संदेह नहीं है कि बच्चे को पिलाने से स्तन छोटे, पिलपिले, शिथिल, मुर्झाये हुए हो जाते हैं और स्तनत्याग करने के पश्चात स्तनों को अपनी पूर्वस्थिति प्राप्त होने के लिए कुछ काल लगता है। अर्थात् साल भर के लिए उत्पन्न होने वाली स्तनों की यह स्थिति कुछ जवान स्त्रियों को अखरती है । इसलिए वे बच्चों को दूध पिलाना पसन्द नहीं करतीं।

बालक को माता का स्तनपान न मिलने के ये छः कारण हैं। इनमें से प्रथम तीन कारण आवश्यक और अनैच्छिक हैं और द्वितीय तीन कारण ऐच्छिक और अस्वाभाविक हैं। कुछ भी हो और विज्ञान की उन्नति कितनी भी क्यों न हो, मनुष्य अपनी विशेषता रखता है; इसलिए मातृस्तन्य-त्याग के ये छः कारण हमेशा उपस्थित रहेंगे। ऐसी अवस्था में बालक के पोषण का स्वतन्त्र प्रबंध करना पड़ता है। यह प्रबंध दो तरह से किया जाता है—धात्री द्वारा और गव्यादि दुग्ध द्वारा । ये दोनों उपाय प्राचीन हैं—मातुरेव पिबेत् स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये । स्तन्यधात्र्यावुभे कार्ये तदसंपदि वत्सले । स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं पिबेत् ॥ (अष्टांगहृदय) । आधुनिक काल में भी ये दोनों प्रबन्ध प्रचलित हैं।

धात्री—बालक को दूध पिलाने के लिए तथा उसकी देखभाल और सेवा-शुश्रूषा के लिए जो स्त्री रक्खी जाती है, वह धात्री कहलाती है । राजवंश में धात्री रखने का रिवाज होता है, इसका उल्लेख पीछे किया गया है । यह रिवाज बहुत प्राचीन काल से प्रचलित है—उवाच धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चांगुलिम् । (रघुवंश ३-२५) । कुमाराः कृतसंस्कारास्ते धात्रीस्तन्यपायिनः । आनन्दे-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...जेनैव समं ववृधिरे पितुः ॥ (रघुवंश १०–७८) । वाग्भ-टाचार्य इसी को स्तन्यधात्री कहते हैं। अंग्रेजी में नर्स (Nurse) और वेटनर्स (Wet-nurse) ये दो शब्द प्रचलित हैं। बालक की दृष्टि से इन दो शब्दों के लिए अनुक्रम से धात्री और स्तन्यधात्री ये दो शब्द बहुत ही उत्तम पर्याय हैं। धात्री बालक को जन्म नहीं देती, परंतु जन्म के पश्चात् माता के समान उसका पालन-पोषण अपने स्तन्य से करती है, इसलिए यह उपमाता (Foster-mother) भी कहलाती है। वाग्भटाचार्य बालक के लिए दो धात्री तैनात करने के लिए कहते हैं। यह सूचना बहुत ही अच्छी है (३०वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। अगर एकाध रोज धात्री बीमार हो जाय या आगन्तु कारण से उसको कहीं जाना आवश्यक हो जाय तो जहाँ पर एक ही धात्री है वहाँ पर बालक को तकलीफ होगी; दो होने से किसी प्रकार की तकलीफ नहीं हो सकती, जैसे जहाँ पर रेल की डबल लाइन होती है वहाँ पर एक लाइन खराब होने से आने जाने में रुकावट नहीं होती या गाड़ी को दो एन्जीन होने पर एक एन्जीन खराब होने से गाड़ी बंद नहीं होती। माता के अभाव में एवं गुणविशिष्ट धात्री का दूध मिल जाय तो वह दूध सोलहों आने माता के दूध का काम कर सकता है। इसलिए बालक की दृष्टि से माता के अभाव में धात्री रखना यही प्रशस्ततर मार्ग है। प्रश्न केवल उपर्युक्त गुणविशिष्ट धात्री मिलने का है। प्राचीन काल में थोड़े पैसे में इस प्रकार की धात्री मिलना बहुत कठिन नहीं था, इसलिए धात्री रखने का रिवाज अधिक था। आधुनिक काल में इस प्रकार की धात्री अधिक पैसा खर्च करने पर भी मुश्किल से मिल सकती है। इसलिए धात्री रखने का रिवाज इस समय बहुत कम हो गया है। इसका और भी कारण है। प्राचीन काल में कृत्रिम दुग्धपान (Artificial feeding) की जो दूसरी विधि है, उसमें कई कठिनाइयाँ थीं। आधुनिक काल में विज्ञान की सहायता मिलने के कारण कृत्रिम दुग्धपान एक सरल, सस्ती और बालक के लिए सुगम विधि हो गई है। इस विधि का विवरण आगे ५१वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है।

तत्रोर्ध्वस्तनी करालं कुर्यात्, लम्बस्तनी नासिकामुखं छादयित्वा मरणमापादयेत् ॥२६॥

(स्तनदोष के परिणाम—) इनमें ऊर्ध्वस्तनी (धात्री बालक को) कराल करती है। लंबस्तनी (धात्री दूध पिलाते समय अपने लंबे स्तनों से बालक के) नाक और मुख को आच्छादित करके मृत्यु उत्पन्न करती है ॥२६॥

वक्तव्य—कराल—विचित्र या भयानक। स्तन ऊँचे होने के कारण दूध पीते समय बालक को ऊँचा देखना पड़ता है। इस अभ्यास से उसकी दृष्टि सदा के लिए वैसी ही हो जाती है। आगे अष्टांगसंग्रह का श्लोक देखो। अरुणचन्द्र कराल से दन्तुर या विकृत दाँतों का समझते हैं—तत्र तालु मध्ये ऊर्ध्वस्तनी करालं स्तनाभ्यां दन्तमूलान्युन्नमनेनोन्नतदन्तमित्यर्थः। 'करालो दन्तुरे' इत्यमरः॥ इन दोषों का परिणाम अष्टांगसंग्रह में लिखा है—पीनोऽतिकन्धरास्तम्भं कुर्यादूर्ध्वाक्षिमूर्धगः। उच्छ्वासरोधान् लम्बोऽतिस्तनो जीवितसंशयम् ॥ (उत्तर १)।

ततः प्रशस्तायां तिथौ शिरःस्नातमहतवाससमुदङ्मुखं शिशुमुपवेश्य धात्रीं प्राङ्मुखीमुपवेश्य दक्षिणं स्तनं धौतमीषत्परिस्रुतमभिमन्त्र्य मन्त्रेणानेन पाययेत् ॥२७॥

'चत्वारः सागरास्तुभ्यं स्तनयोः क्षीरवाहिणः।
भवन्तु सुभगे नित्यं बालस्य बलवृद्धये ॥२८॥
पयोऽमृतरसं पीत्वा कुमारस्ते शुभानने।
दीर्घमायुरवाप्नोतु देवाः प्राश्यामृतं यथा ॥२९॥'

(धात्री स्तनपानविधि—) तदनन्तर प्रशस्त तिथि पर धात्री को पूर्वाभिमुख बैठाकर शिर के ऊपर से नहलाये हुए और स्वच्छ नये वस्त्र पहनाये हुए बालक को (धात्री की गोद में) उत्तराभिमुख बैठाकर धोये हुए (और दबाकर) किंचित् दूध निकाले हुए दक्षिण स्तन को इन मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके पिलावे ॥२७॥ हे सुभगे ! बालक की बलवृद्धि के लिए चारों समुद्र तेरे स्तनों में निरन्तर क्षीरवाहक हों ॥२८॥ हे शुभानने ! जैसे अमृत प्राशन करके देव दीर्घायु को प्राप्त हुए, वैसे ही अमृत रूप तुम्हारे दूध को पीकर बालक दीर्घायु को प्राप्त करे ॥२९॥

वक्तव्य—ततः—उपर्युक्त गुणयुक्त प्राप्त करने के बाद। धात्री—बालक के समान धात्री को भी उस दिन स्नान, शुभ्रवस्त्र परिधान और ऐन्द्रयादि ओषधियों का धारण करना पड़ता है—अथ धात्री स्नातानुलिप्ता नित्यमहतवासाः सुमनाः प्रजास्थापनौषधीः शिरसा बिभ्राणा इत्यादि। (अष्टांगसंग्रह)। दक्षिणं स्तनम्—प्रथम दक्षिण स्तन और पश्चात् वाम स्तन पिलावे। धौतम्—दूध पिलाने से पहले स्तन को धोने की पद्धति बहुत अच्छी है। दूध पीने के बाद कुछ दूध चूचुक से बाहर निकलता है और वहीं पर सूख जाता है। कभी कभी वह खराब भी हो सकता है। अगर स्तन न धोये जायँ तो पहले का सूखा हुआ या खराब हुआ दूध प्रथम बालक के ख में चला जायगा। इससे बालक को कभी कभी तकलीफ हो सकती है। इसलिए प्रत्येक स्तनपान के पहले स्तनों को धोकर साफ करना प्रशस्त है ! ईषत्परिस्रुतम्—स्तनचूचुक में दुग्धहारी नालियों का अन्तिम भाग होता है। चूचुकाग्र खराब होने से वह खराबी कुछ मर्यादा तक भीतर जा सकती है। यदि दबाकर थोड़ा-सा दूध निकाला जाय तो उसी दूध से उन नालियों की सफाई हो जाती है। इसलिए प्रत्येक स्तनपान के समय जरा सा दूध निकालकर पीछे बालक को स्तनपान कराना, यह प्रशस्त नियम है। आगे ३१वें सूत्र में परिस्रुत न करने का फल बताया है।

अतोऽन्यथा नानास्तन्योपयोगस्यासात्म्याद् व्याधिजन्म भवति ॥३०॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(अनियत धात्रीदोष—) इस प्रकार न किया जाय तो अनेक स्तन्योपयोग के असात्म्य से व्याधि उत्पन्न होती है ॥३०॥

वक्तव्य—अतोऽन्यथा—धात्री न रखके अनेक स्त्रियों के दूध का उपयोग करने से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। यहाँ पर कुछ लोगों का यह कथन है कि धात्री हमेशा एक ही होनी चाहिए। चरक, सुश्रुत और अष्टांगसंग्रह में एक ही धात्री के लिए लिखा है। परंतु अष्टांगहृदय में दो धात्री रखने के लिए लिखा है—स्तन्यधात्र्यावुभे कार्ये तदसंपदि वत्सले। अष्टांगहृदय ग्रंथ चरक, सुश्रुत, अष्टांगसंग्रह के पीछे का है, इसमें संदेह नहीं है। इस ग्रंथ में चरक सुश्रुतादि ग्रंथों से कई नई नई बातें मिलती हैं। ये सब बातें वाग्भटाचार्यजी ने बहुत सोच-समझकर लिखी हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। इस ग्रंथ में कोई भी बात आयुर्वेद के तत्त्वों के विरुद्ध नहीं हो सकती। दो धात्रियों का निषेध असात्म्य पर ही किया जा रहा है। कविराज यामिनीभूषणराय अपने कुमारतन्त्र की टिप्पणी में लिखते हैं—धात्र्या अनियतत्वे नानास्तन्यपानेन कुमारस्य व्याधिर्जायते। अष्टांगसंग्रहे तु चरकादिवत् एकैव धात्री उक्ता, हृदये तु 'स्तन्यधात्र्यावुभे कार्ये' इति यत् धात्रीद्वयमुक्तं तदनियत-धात्र्या बह्वनिष्टकारितामनुभवद्भिरस्माभिर्नाद्रियते। इसलिए यहाँ पर सात्म्य का थोड़ा विचार किया जाता है। सात्म्य शब्द की व्याख्या चरक में निम्न प्रकार से की गई है—सात्म्यं नाम तत् यदात्मन्युपशेते। सात्म्यं नाम तत्, यत्सातत्येनो-पसेवमानमुपशेते। (विमान ८)। संक्षेप में सात्म्य अभ्यास-सात्म्य है। यदि प्रारंभ से ही दो धात्री रखकर प्रतिदिन दोनों का दूध पिलाया जाय तो बालक के लिए दोनों स्तन्य सात्म्य हो जायँगे। इसमें किसी प्रकार की अनिष्टता मालूम नहीं होती। एक धात्री होने में ही कुछ कठिनता हो सकती है। इसका विवरण पीछे २५वें सूत्र के वक्तव्य के अन्त में किया गया है। इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि बालक के लिए धात्री नियत होना आवश्यक है चाहे एक हो, चाहे दो हों। बीच बीच में धात्री बदलना ठीक नहीं है। इससे बालक में रोग उत्पन्न होने की संभावना होती है क्योंकि प्रत्येक धात्री का दूध कुछ रोज तक असात्म्य रहता है। सात्म्य सेवन एकाएक छोड़ने से और असात्म्यसेवन एकाएक करने से असात्म्यज रोग उत्पन्न होते हैं—असात्म्यजा हि रोगाः स्युः सहसा त्यागशीलनात्। (अष्टांगहृदय, सूत्र ३)।

अपरिस्रुतेऽप्यतिस्तब्धस्तन्यपूर्णस्तनपानादुत्स्नु-हितस्रोतसः शिशोः कासश्वासवमीप्रादुर्भावः। तस्मादेवंविधानां स्तन्यं न पाययेत् ॥३१॥

(अपरिस्नुत स्तन्यसेवन के दोष—) परिस्नुत न करने पर भी देर से इकट्ठा हुए दूध से परिपूर्ण स्तन के पान से स्रोतस के भर जाने के कारण बालक को श्वास, कास और वमन होता है। इसलिए इस प्रकार की धात्रियों का स्तन्य न पिलावे ॥३१॥

वक्तव्य—अपरिस्रुते—इसका विवरण पीछे २९वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। उत्स्नुहितस्रोतसः—ऊर्ध्वं पूरितस्रोतस इत्यर्थः। उत्स्नुहितस्रोतस इति पाठे तु ऊर्ध्वं स्नुहित-मुद्गीर्णं स्रोतो यस्येति समासः। (डल्हण)। उत्स्नुहितं परितृप्तं परिपूर्णमित्येतत्। (हाराणचन्द्र) अपि—इससे पीछे के सूत्र के साथ संबंध जोड़ दिया गया है और इस बात पर जोर दिया गया है कि धात्री नियत होने पर स्तनपान कराने से पूर्व परिस्रुत न करने पर भी रोगोत्पत्ति होती है। एवंविधानाम्—अनियत धात्रियों का और अपरिस्रुत स्तनों का दूध।

क्रोधशोकावात्सल्यादिभिश्च स्त्रियाः स्तन्यनाशो भवति। अथास्याः क्षीरजननार्थं सौमनस्यमुत्पाद्य यवगोधूमशालिषष्टिकमांसरससुरासौवीरकपिण्या-कलशुनमत्स्यकशेरुकशृङ्गाटकबिसविदारिकन्द-मधुकशतावरीनलिकालाबूकालशाकप्रभृतीनि विद-ध्यात् ॥३२॥

(स्तन्यनाश के कारण और उसकी चिकित्सा—) क्रोध, शोक, (बालक के प्रति) प्रेम न होना इत्यादि से स्तन्य का नाश होता है। (उपर्युक्त कारणों से स्तन्यनाश हो जाय) तब (उसमें) मन की प्रसन्नता उत्पन्न करके जौ, गेहूँ, साँठी के चावल, मांसरस, सुरा, सौवीर, तिलकल्क, लशुन, मछली, कसेरु, सिंघाड़ा, कमलकंद, विदारीकन्द, मुलहटी, शतावरी, नाड़ीशाक, कद्दू, कालशाक इत्यादि का सेवन करावे ॥३२॥

वक्तव्य—स्तन्यनाश—स्तनगत दूध का कम होना या पूर्णतया बंद होना। स्तन्यनाश के मुख्य तीन कारण होते हैं—(१) मानसिक स्थिति—यह कारण सब से महत्त्व का है। मनःस्थिति के दो विभाग कर सकते हैं। प्रथम विभाग वह है, जिसमें विशेष घटनाओं से मन थोड़े काल के लिए अस्वस्थ हो जाता है। जैसे—क्रोध, शोक, भय, विषाद, मात्सर्य, काम, द्वेष इत्यादि; यानि घर में किसी की मृत्यु का दृश्य देखकर विषण्ण होना, आप्तेष्ट की मृत्यु की वार्ता सुनकर शोकाकुल होना, भयानक वार्ता सुनकर भयभीत होना इत्यादि। भयादि से युक्त मन की स्थिति प्रायः किसी न किसी बाह्य घटना पर निर्भर होती है और उस घटना के पश्चात् जैसे जैसे काल व्यतीत होता जाता है, वैसे वैसे मनःस्थिति भी धीरे धीरे ठीक हो जाती है। संक्षेप में, प्रथम विभाग अनैच्छिक कारणों का होता है और उससे होने वाला स्तन्यनाश स्थायी नहीं होता। द्वितीय विभाग में बाह्य घटनाओं का कुछ भी संबंध न होकर आन्तरिक भावनाओं और विचारों का संबंध होता है। जैसे, अवात्सल्य, बालक को दूध पिलाने की अनिच्छा या आत्मविश्वास का अभाव, कृत्रिम दुग्धपान और कृत्रिम दुग्धों के फायदों के भड़कदार विज्ञापनों और पुस्तकों को पढ़कर बालसंवर्धन की वही सर्वोत्तम पद्धति है, इस प्रकार की विचारसरणि पक्की

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...ता, स्तनपान कराना यह एक असभ्य जातियों की ...ा है; ऐसी भावना करना ये सब उदाहरण द्वितीय ...भाग में आते हैं। इनका परिणाम मन पर स्थायी ...ता है क्योंकि अवात्सल्यादि कुछ भावनाएं स्वाभाविक ...ती हैं और कुछ लिखने पढ़ने के पश्चात् किये हुए विचार ...फल होते हैं। इसलिए इनके कारण जो स्तन्यनाश होता वह स्थायी स्वरूप का होता है। इस मानसिक स्थिति ...संबंध में टेन टीचर के प्रसूतितन्त्र में बहुत सुन्दर ...वर्णन किया है—In the majority of cases failure ...nurse is due to the psychological or nervous ...tor. Experience has proved that nearly every ...man willing to do so can suckle her baby. ...e least hopeful case is that of the woman ...h little maternal instint. They have no desire ...make a succes of what they regard as a need... tax on their liberty. Her mother tells her ... has brought on the bottle, and her friends ...d relatives have advised this or that patent ...d; Her nurse has ordered a full bottle-feeding ...ipment in anticipation of the expected, and ... moment the birth of her baby is announced ... is flooded at every post with samples and ...ertisements from the patent food-mongers in ...ich she reads such glowing accounts of how ...ie's lives have been saved by this substitute ...d that substitute, that it is not remarkable ... should accept it as almost inevitable that ... child should be reared artificially. Want of ...nfidence in her own powers is a poor attitute ...mind in which to start nursing. वत्सलता, प्रेम ...आदि से स्तनों में दूध कैसे उत्पन्न होता है? इस विषय ...विवरण निदानस्थान के दसवें अध्याय के २१वें सूत्र में ...उसके वक्तव्य (पृष्ठ ३७५) में किया गया है। (२) ...शारीरिक स्थिति—इसका और स्तन्य का बहुत कम संबंध ...देखने में कमजोर स्त्रियाँ मन में वत्सलता होने के ...कारण अपने बालक को भली भाँति दूध पिला सकती हैं। ...बार राजयक्ष्मा से पीड़ित स्त्रियों में भी काफी दूध ...निकलता है और स्वास्थ्य की दृष्टि से उनको बच्चे को ...पिलाना मना करना पड़ता है। दूसरी ओर देखा जाय तो मोटी मोटी तन्दुरुस्त स्त्रियाँ मन में प्रेम न होने के ...कारण या आधुनिक विचारों से परिपूर्ण हो जाने के कारण ...स्तन्यहीन होती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि मानसिक ...स्थिति के मुकाबले शारीरिक स्थिति का परिणाम स्तन्य पर ...बहुत कम हुआ करता है। परंतु साधारणतया यह कह ...सकते हैं कि स्वास्थ्य खराब होने पर स्तन्य भी कम हो सकता ...है। (३) आहार—स्तन्य का उपादान कारण आहार है, ...आहार और मन सहायक कारण है—रसप्रसादो मधुरः ...आहारनिमित्तजः। कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्य स्तन्य इत्यभिधीयते॥

(निदान १०)। आहार अपर्याप्त और अनुचित होने से स्तन्य ठीक ठीक उत्पन्न नहीं हो सकता। स्तन्य में पानी की राशि बहुत होती है, इसलिए आहार में तथा उसके अलावा जल की राशि कम होने से दूध भी कम हो जाता है। इन तीन प्रधान कारणों के अलावा स्तन्याल्पता के निम्न और दो कारण हो सकते हैं—(४) स्तनों की विकृति, जैसे स्तनप्रकोप, स्तनविद्रधि, चूचुक प्रकोप इत्यादि। (५) स्तन चूषण में कमजोरी—आयुर्वेद में शुक्र के साथ स्तन्य की तुलना की जाती है (निदान १०, १९-२३)। कई बातों में यह तुलना बहुत उचित भी है। शुक्र का उत्तम प्रवर्तक जवान स्त्री का संग होता है—प्रवर्तनी स्त्री शुक्रस्य। (शार्ङ्गधर)। वाजीकरणमग्र्यं च क्षेत्रं स्त्री या प्रहर्षिणी। (चरक)। स्तन्य का उत्तम प्रवर्तक स्वस्थ सबल बालक का स्तनपान होता है। जब बालक कमजोर होता है या जुकाम, विदीर्णतालु (Cleft palate) इत्यादि से पीडित रहता है, तब वह जोर से स्तनपान नहीं कर सकता। अगर यह कमजोरी शुरू से ही रही तो उसका परिणाम स्तन्याल्पता में होता है। अष्टांगसंग्रह में स्तन्यनाश के निम्न कारण बताये हैं—रूक्षान्नपानकर्शनक्रोधशोककामादिभिः स्तन्यनाशः।

स्तन्यनाश की चिकित्सा—निदानपरिवर्जन यह चिकित्सा का प्रधान सूत्र है। यहाँ पर संहिता में जिस परम्परा में स्तन्यनाश का विचार प्रस्तुत हुआ है, उसको देखकर यह अनुमान करना अनुचित नहीं होगा कि माता और बालक दोनों के स्वस्थ होते हुए स्तन्य नाश क्यों होता है और उसकी चिकित्सा कैसी करनी चाहिए, इसका ही विवरण अभिप्रेत है। इस दृष्टि से दूसरे, चौथे और पाँचवें कारणों का विचार करने की आवश्यकता नहीं है। और यदि विचार भी किया जाय तो उसका समावेश स्तन्यनाशचिकित्सा में न होकर स्वतन्त्ररोगचिकित्सा में होगा। अतः स्तन्यनाशचिकित्सा की दृष्टि से विचार करने योग्य केवल दो ही कारण रहे, प्रथम और तृतीय; और चिकित्सा में भी इन्हीं का ही परामर्श लिया गया है। सौमनस्यमुत्पाद्य—इसमें प्रथम कारण का विचार किया गया है। सौमनस्य की उत्पत्ति करने में क्रोध-शोकादि भावों को दूर करना, बालक के प्रति प्रेम ममत्व उत्पन्न करना, कृत्रिम दुग्धपान बालक के लिए हानिकर होता है, माता का स्तनपान यही बालक की वृद्धि का स्वाभाविक, सरल, सस्ता और सर्वोत्तम उपाय है, और अगर स्त्री दिल से चाहे तो बालक के लिए जितना आवश्यक होता है उतना दूध स्तनों में आप से आप उत्पन्न होता है इस बात का आत्मविश्वास स्त्री के मन में उत्पन्न करना इत्यादि विषयों का समावेश होता है। प्राचीन काल की धार्मिक कल्पनाओं के अनुसार स्त्रियाँ गर्भधारण और स्तनपान से बालक पोषण अपना कर्तव्य समझती थीं (प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः। मनु ९-९६), तथा कृत्रिम दुग्धपान और कृत्रिम दूध इनका प्रोपेगंडा (प्रचार) करने वाले फुडमोंगर (उत्पादक) भी नहीं थे, जिसके कारण उपर्युक्त प्रकार का उपदेश करने का कारण प्राचीन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काल में नहीं था। परंतु काल-परिवर्तन के साथ स्त्रियों में कृत्रिम दुग्धपान के संबंध में जो विचार रूढ हो गये हैं, उनको दूर करने का प्रयत्न सौमनस्य उत्पादन में ही आ जाता है। (२) आहार—इसके दो विभाग हैं। प्रथम विभाग में भोजन का विचार होता है। जैसे, अपतर्पण, लंघन, कर्शन ये शरीरक्षीणकर भोजन छोड़कर जौ, गेहूँ, चावल, दूध, मांसरस, मछली, विविध शाक, पर्याप्त जल, मधुराम्ल लवणभूयिष्ठ खाद्य पदार्थ इत्यादि से युक्त शरीर को बृंहण करने वाले भोजन (पीछे १७वें सूत्र के वक्तव्य में प्रसूता का आहार देखो) का सेवन—क्षीरजननानि तु मद्यानि सीधुवर्ज्यानि, ग्राम्यानूपौदकानि च शाकधान्यमांसानि, द्रवमधुराम्लवणभूयिष्ठाश्चाहाराः क्षीरपानमनायासश्च। (चरक)। शोधनाद्वा स्वभावाद्वा यस्याः क्षीरं विशुध्यति। तस्याः क्षीरप्रजनने प्रयतेत विचक्षणः॥ मधुराण्यन्नपानानि द्रवाणि लवणानि च। मद्यानि सीधुवर्ज्यानि शाकं सिद्धार्थकादृते॥ वराहमहिषादूर्ध्वं मांसानां च रसो हितः। लशुनानां पलाण्डूनां सेवनं शयन सुखम्। (क्रोधाध्व)भयशोकानामायासानां च वर्जनम्॥ (काश्यपसंहिता, क्षीरोत्पत्त्यध्यायः)। दूसरे विभाग में क्षीरजनक (Galactogogues) ओषधियों का विचार आता है। जैसे, सिंघाड़ा, विदारीकन्द, शतावरी, तृणपंचमूल, कार्पासमूल, भूमिकूष्माण्ड इत्यादि का सेवन—क्षीरिण्यश्चोषधयः, वीरणषष्टिशालिकेक्षुवालिकादर्भकुशकाशगुन्द्रेत्कटमूलकषायाणां च पानम्। (चरक)। भूमिकूष्माण्डमूलस्य क्षीरपिष्टस्य या रसम्। पिबेत्सशर्करं तस्याः क्षीरं बहु विवर्धते॥ शतावरीक्षीरपिष्टा पीता स्तन्यविवर्धिनी। वनकार्पासकेक्षूणां मूलं सौवीरकेण वा। विदारिकन्दं सुरया पिबेद्वा स्तन्यवर्धनम्। (योगरत्नाकर)। संक्षेप में स्वस्थ प्रसूता में क्षीराल्पता हो तो सौमनस्य उत्पन्न करना और यथेष्ट बृंहण आहार देना ये ही दो मुख्य उपाय हैं—The usual methods of augmenting the supply (of milk) are attention to diet and sometimes 'over-feeding', the administration of large quantities of fluid, small quantities of alcohol, and massage of breasts. स्तनों की मालिश सूतिका के अभ्यंग के साथ की जाती है। पीछे १७वें सूत्र के वक्तव्य में सूतिका की परिचर्या जो बताई गई है, उसके अनुसार भी व्यवहार करना चाहिए। इससे दूध न बढ़े तो स्तन्यजनक ओषधियों का उपयोग कर सकते हैं। जब प्रसूता में या उसके स्तनों में या बालक में कोई बीमारी हो जाती है, तब उसकी चिकित्सा भी करनी चाहिए।

अथास्याः स्तन्यमप्सु परीक्षेत, तच्चेच्छीतलममलं तनु शङ्खावभासमप्सु न्यस्तमेकीभावं गच्छत्यफेनिलमतन्तुमन्नोत्प्लवतेऽवसीदति वा तच्छुद्धमिति विद्यात्, तेन कुमारस्यारोग्यं शरीरोपचयो बलवृद्धिश्च भवति ॥३३॥

(शुद्ध स्तन्य की परीक्षा—) उसके दूध की परीक्षा जल में करे। यदि वह ठंडा, निर्मल, पतला, शङ्ख के समान (श्वेत) वर्ण का हो, जल में डालने पर एक हो जाय, फेनविरहित, तन्तुविरहित हो, (जल में) न तैरता हो या न डूबता हो तो उसको शुद्ध समझना चाहिए। इस (प्रकार के शुद्ध दूध) से बालक का आरोग्य, शरीर की बढ़ोती और बल की वृद्धि होती है ॥३३॥

वक्तव्य—इस सूत्र में विशुद्ध स्तन्य की बड़ी सरल परीक्षणविधि बतलाई गई है। विशुद्ध और खराब दूध की परीक्षणविधि और लक्षण पहले भी निम्न प्रकार से बताये गये हैं—यत् क्षीरमुदके क्षिप्तमेकी भवति पाण्डुरम्। मधुरं चाविवर्णं च प्रसन्नं तद्विनिर्दिशेत्॥ (निदान ११)। अनिष्टगन्धमम्लं च विवर्णं विरसं च यत्। वर्ज्यं सलवणं क्षीरं यच्च विग्रथितं भवेत्॥ (सूत्र ४५)। विशुद्ध दूध की प्रतिक्रिया किंचित् क्षारीय, वर्ण किंचित् पीला, गुरुता १०१०–१०४०, स्वाद मीठा होता है और उसमें किसी तरह की गन्ध नहीं होती। दूध की खराबी प्रायः जीवाणुओं के कारण होती है। ये जीवाणु दूध में विविध अम्ल उत्पन्न करते हैं, जिनकी उपस्थिति से दूध की प्रतिक्रिया अम्ल होकर वह विग्रथित हो (फट) जाता है। उसमें खट्टापन पैदा होता है और खट्टी बू भी आती है। एकीभाव गच्छति—अगर दूध विशुद्ध हो तो पानी के साथ मिलाने पर पानी दूध में और दूध पानी में इस तरह बेमालूम मिल जाता है कि मिश्रण में कहीं दूध अधिक और कहीं पानी अधिक इस प्रकार का वैषम्य नहीं मिल सकता। खराब दूध पानी के साथ मिलाने पर उसका तलछट बन जाता है। इसका कारण यह है कि विशुद्ध दूध स्निग्ध पदार्थों का एक ऐसा स्वाभाविक घोल (Natural emulsion of fats) है कि उसमें प्रोटीनें, लवण, शर्करा आदि द्रव्य एकता से (Uniformly) फैले हुए रहते हैं और यह एकता पानी में मिलाने पर भी नष्ट नहीं होती। खराब दूध में अन्तर्गत द्रव्यों की एकता नष्ट होती है और पानी में मिलाने पर यह भेद और भी स्पष्ट हो जाता है। नोत्प्लवते न सीदति—दूध की गुरुता पानी से अधिक है। परंतु यहाँ पर उत्प्लवन या अवसाद से गुरुता का कोई संबंध नहीं है। जब तक दूध प्राकृतिक अवस्था में होता है, तब तक पानी में मिलाया हुआ दूध इस प्रकार मिश्रित होता है कि इसके स्वरूप में कोई फर्क नहीं पड़ता, केवल इसको अधिक पानी का दूध कह सकते हैं। अर्थात् वह न ऊपर तैरता है, न नीचे बैठता है। दूध विकृत होने पर उसका कुछ अंश तली में बैठता है और कुछ ऊपर तैरता है। संक्षेप में, यह शब्दप्रयोग 'एकीभावं गच्छति' इसके अर्थ को भिन्न प्रकार से प्रदर्शित करता है। तेन कुमारस्यारोग्यमित्यादि—बालक का स्वास्थ्य, शरीर की बढ़ोती और बलवृद्धि खराब दूध से कदापि नहीं हो सकती; इसमें कोई संदेह नहीं है। शुद्ध दूध से ही ये कार्य हो सकते हैं; इसमें भी संदेह नहीं होता। परंतु शुद्ध दूध से ये कार्य होने चाहिएँ, यह कोई आवश्यक नहीं है। दूध के भीतर कई सूक्ष्म परिवर्तन होते हैं, जिनका ज्ञान इस प्रकार के भौतिक या आधुनिक रासायनिक परीक्षणों द्वारा नहीं लगता और परीक्षण करने पर विशुद्ध मालूम हुए दूध के सेवन से बालक का स्वास्थ्य और वर्धन ठीक नहीं होता। स्वास्थ्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्धन सात्म्य द्रव्यों के सेवन से होता है । एक
शुद्ध दूध सात्म्य और दूसरा असात्म्य हो सकता है ।
रसवर्धन की दृष्टि से विशुद्ध और सात्म्य दूध की आ-
कता है । व्यावहारिक दृष्टि से वही दूध विशुद्ध कहा जा
ता है, जिससे बालक का स्वास्थ्य और शरीरोपचय ठीक
ता है । काश्यपसंहिता में इसी व्यावहारिक दृष्टि से शुद्ध
की व्याख्या दी गई है—अव्याहतबलाङ्गायुररोगो वर्धते
। शिशुधात्रोरनापत्तिः शुद्धक्षीरस्य लक्षणम् ॥ (क्षीरोत्पत्त्य-
) । अधिक विचार करने पर व्यावहारिक चिकित्सक
की शुद्धता के ऊपर अधिक ध्यान न देकर बालक के
दूध के परिणामों पर ही अधिक ध्यान देता है ।
हचीसन बालक के रोगों के अपने व्याख्यानों में
पमुनि के समान अपना अनुभव बताते हैं—
hould advise, you, however, to fix your attent-
on the child's weight; and so long as this
up satisfactorily not to pay too much atten-
to supposed evidences that the milk dis-
ees. Failure to gain weight, indeed, is the
y justification for weaning. Attempt to
relate any particular form of indigestion with
e special fault in the composition of breast
is apt to prove disappointing. When I
began out-patient work I used to make a
ctice of analyzing the mother's milk in cases
lyspepsia in breast-fed infants, but I gave it
as I found that the game is not worth the
dle. *Lectures on diseases of children.* इसलिए
ती के दूध की विशुद्धता देखकर निश्चित न होना चाहिए,
बालक के स्वास्थ्य और तोल पर भी ध्यान
आवश्यक है । यदि दूध के सेवन से बालक
स्वास्थ्य ठीक न रहे तो विशुद्ध स्तन्य और संपूर्ण
से युक्त धात्री होने पर भी उसका दूध बंद
ना चाहिए ।

**न च क्षुधितशोकार्तश्रान्तप्रदुष्टधातुगर्भिणी-
रितातिक्षीणातिस्थूलविदग्धभक्तविरुद्धाहार-
पितायाः स्तन्यं पाययेत्; नाजीर्णौषधं च बालं,
षधमलानां तीव्रवेगोत्पत्तिभयात् ॥३४॥**

भवन्ति चात्र—

**यास्तु गुरुभिर्भोज्यैर्विषमैर्दोषलैस्तथा ।
देहे प्रकुप्यन्ति ततः स्तन्यं प्रदुष्यति ॥३५॥
याहारविहारिण्या दुष्टा वातादयः स्त्रियाः ।
पन्ति पयस्तेन शारीरा व्याधयः शिशोः ।
ति कुशलस्तांश्च भिषक् सम्यग्विभावयेत् ॥३६॥**

(स्तन्यदूषण के कारण और उसके फल—) भूख लगी
शोकपीडित, थकी हुई, जिसके शरीर के दोषों में (तथा धातुओं में) विकार उत्पन्न हुआ है ऐसी, गर्भवती, ज्वर युक्त, अतिक्षीण, अतिस्थूल, विदाहजनक और विरुद्ध आहार सेवन की हुई स्त्री का दूध बच्चे को न पिलावे । (वैसे ही) दोष, औषध और खाये हुए द्रव्य की तीव्र वेगोत्पत्ति के डर से (प्रथम सेवन कराई हुई) ओषधि का पचन जब तक न हो जाय, तब तक दूध न पिलावे ॥३४॥ यहाँ पर श्लोक हैं—गरिष्ठ, विषम और दोषोत्पादक आहारों से धात्री के शरीर में दोष प्रकुपित होते हैं, जिससे दूध भी दूषित होता है ॥३५॥ मिथ्या आहार और विहार करने वाली स्त्री के दूषित वातादि दोष दूध को दूषित करते हैं, जिससे बालक में शारीरिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं । कुशल वैद्य इनको (निम्न पद्धति से) भली भाँति जान ले ॥३६॥

वक्तव्य—यहाँ पर स्तन्यदूषण के कारण बतलाये गये हैं । इन कारणों से दूध के प्रोटीनादि के संगठन में फर्क होता है, स्तन शरीरगत चीजों का उत्सर्ग करने वाली ग्रंथियाँ होने के कारण शरीरगत विष और जीवाणुओं का स्तन्य के साथ उत्सर्ग हो सकता है तथा प्रोटीनादि की अन्तर्गत रचना में फर्क हो सकता है । प्रत्येक अवस्था में क्या क्या फर्क होते हैं, इनका ज्ञान होना आज की स्थिति में भी कठिन है; परंतु फर्क होते हैं, इस बात को सभी मानते हैं । जैसे, माता को अफीम देने से बालक पर अफीम का परिणाम होता है, माता को एरण्डी का तेल देने से बच्चे को पतले दस्त होते हैं, माता को हींग, प्याज, लहशुन देने से स्तन्य में इनकी गन्ध आ जाती है, माता को पारा, संखिया इत्यादि ओषधियाँ देने से स्तन्य में इनका अंश मिल जाता है इत्यादि । माता अगर विषमयता (Toxaemia) या जीवाणुमयता (Septicaemia) से पीडित हो तो दूध में विष या जीवाणु मिल सकते हैं । मासिक धर्म के समय स्त्री के शरीर में एक प्रकार का विष होता है, (२ अध्याय के २७वें श्लोक का वक्तव्य देखो) उसका भी उत्सर्ग दूध के साथ होता है और उस समय का दूध पीने से बालक की प्रकृति कुछ खराब भी हो जाती है । इसी कारण से स्तनपानकाल में अधिकसंख्य (९० प्र० श०) स्त्रियों में अनार्तव दिखाई देता है (पीछे १५वें सूत्र के वक्तव्य में 'आर्तवदर्शनात्' की टिप्पणी देखो) । बालक की स्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से निसर्ग या स्वभाव का यह प्रयत्न है । अन्तर्गत संगठन क्या फर्क होता है, इसका विवरण आगे प्रत्येक कारण में कुछ किया गया है । ये स्तनदोष के कारण तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—मानसिक, शारीरिक और आहारविषयक । (१) मानसिक कारणों में क्रोध, शोक, भय, विचेतसत्त्व (विचेतसः । अष्टांगहृदय) इत्यादि का समावेश होता है । ये किस प्रकार से स्तन्यदोष उत्पन्न करते हैं, इसका ठीक ठीक जवाब नहीं दे सकते, परंतु इनके कारण अन्तःस्रावी ग्रंथियों के स्रावों में कुछ न्यूनाधिकता या विषाक्तता (सूत्रस्थान ४६वें अध्याय के ४८६वें श्लोक का वक्तव्य देखो) उत्पन्न होती है तथा दूध के संगठन में फर्क पड़ता है, जिसके कारण बालक में विविध रोग उत्पन्न होते हैं—

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Nervous impressions of a marked character have a decided and immediate effect upon the milk. An infant who takes the breast under these circumstances may show signs of acute indigestion, such as vomiting and the presence of undigested food in the stools, or there may be, in addition, great prostration, toxic symptoms, and even convulsions. *Jellet's Midwifery.*

(२) शारीरिक कारणों में क्षुधा, तृषा, थकावट, अतिक्षीणता, अतिस्थूलता, ज्वर तथा अन्य शारीरिक विकार आते हैं। इन अवस्थाओं में स्तन्य का स्वाभाविक होना असंभव है। इसके लिए अधिक विवरण की आवश्यकता नहीं है। गर्भधारणा—इसका समावेश शारीरिक कारणों में ही करना उचित है। गर्भधारणा होने से स्तन्य की राशि तथा तद्गत स्नेह तथा अन्य पदार्थों की मात्रा कम हो जाती है क्योंकि बीजग्रंथि के कार्पसल्यूटम और अपरा से प्रोजेस्टेरीन नामक द्रव्य उत्पन्न होकर (तीसरे अध्याय के १५वें श्लोक का, ३९वें सूत्र का और १०वें अध्याय के १३वें श्लोक का वक्तव्य देखो) वह पोषणिका ग्रंथि के अग्रभाग से उत्पन्न होने वाले स्तन्यप्रवर्तक को बंद करता है। गर्भिणी का दूध पीने से बालक में पारिगर्भिक रोग उत्पन्न होता है—मातुः कुमारो गर्भिण्याः स्तन्यं प्रायः पिबन्नपि। कासाग्निसादमवथुतन्द्राकार्श्यारुचिभ्रमैः। युज्यते कोष्ठवृद्ध्या तु तमाहुः पारिगर्भिकम् ॥ (अष्टांगसंग्रह)। पारिगर्भिक कोई खास रोग नहीं है कि उसके लिए कोई खास नाम दिया जाय। अपर्याप्त और हीनगुण (Poor in quality) दूध मिलने से उत्पन्न हुई शरीरक्षीणता की यह अवस्था है। इसको आधुनिक परिभाषा में वेस्टिंग या म्याराज्मस (Wasting या Marasmus) कह सकते हैं। बच्चों में शरीरक्षय होने के अनेक कारण हैं, उनमें गर्भिणी दुग्धपान एक है।

(३) आहारविषयक—इसमें विषमाहार, विदग्धाहार, विरुद्धाहार और मिथ्याहार इत्यादि आहारविषयक कारणों का विचार होता है। विषमाहार वह है जिसमें समय असमय न्यूनाधिक आहार सेवन किया जाता है—बहुस्तोकमकाले वा विज्ञेयं विषमाशनम्। विदग्ध भक्ष्य वह है, जो अग्नि पर अधिक जल गया हो (Over-cooked), किंवा जिसका सेवन करने पर आमाशय, गले में विदाह उत्पन्न होता है—विदाहिद्रव्यमुद्गारमम्लं कुर्यात् तथा तृषाम्। हृदि दाहं च जनयेत् पाकं गच्छति तच्चिरात् ॥ जैसे, चटनी, अचार, गरम मसाला युक्त खाद्य, मिर्च इत्यादि। विरुद्धाहार वह है जिसमें एक ही समय में विरोधी कार्य करने वाले पदार्थ सेवन किये जाते हैं। यह विरोध संयोग का, मात्रा का, वीर्य का या अन्य प्रकार का (सूत्रस्थान, अध्याय २० देखो) हो सकता है। मिथ्याहार वह है, जिसमें आहार्य द्रव्यों के विविध घटकों का उचित प्रमाण नहीं होता। आधुनिक परिभाषा के अनुसार मिथ्याहार को Unbalanced diet कह सकते हैं। आहाररस से स्तन्य उत्पन्न होता है और जब माता या धात्री का आहार अपर्याप्त, अनुचित, दोषयुक्त या अन्य तरह से खराब रहता है, तब उसका परिणाम स्तन्य की खराबी में होना स्वाभाविक है। धात्र्यास्तु—धात्री से उपमाता और माता दोनों का बोध होता है—धात्री स्यादुपमाताऽपि। (अमरकोश)। अपिना जनन्यपि धात्री। माता के अर्थ में धात्री का उपयोग भी होता है—पुनर्धात्रीं पुनर्गर्भमोजस्तस्य प्रधावति। अष्टमे मास्यतो गर्भो जातः प्राणैर्वियुज्यते ॥ (याज्ञवल्क्यस्मृति ३-८२)। यहाँ पर यद्यपि संदर्भ के अनुसार उपमाता का अर्थ होता है तथापि यह कथन माता और उपमाता दोनों के लिए लागू है। इसलिए धात्री से माता और उपमाता दोनों का ग्रहण करना चाहिए। सम्यग् विभावयेत्—अच्छी तरह सोच-विचार करके जाने। बड़े मनुष्य की अपेक्षा बालकों में रोगपरीक्षण में अधिक कठिनाई होती है, क्योंकि बालक स्वयं कुछ भी नहीं बता सकता या गलत बताता है। अतः शरीरगत विकार का स्थान उसके हालचाल, चर्या, रुदन, मलमूत्रादि की प्रवृत्ति इत्यादि लक्षणों, चिह्नों (Physical signs) और अनैच्छिक क्रियाओं (Involuntary actions) से जान लेने की आवश्यकता होती है। इसलिए अब उन्हीं लक्षणों और चिह्नों का वर्णन करते हैं—

अङ्गप्रत्यङ्गदेशे तु रुजा यत्रास्य जायते।
मुहुर्मुहुः स्पृशति तं स्पृश्यमाने च रोदिति ॥३७॥
निमीलिताक्षो मूर्धस्थे शिरो रोगे न धारयेत्।
बस्तिस्थे मूत्रसङ्गार्तो रुजा तृष्यति मूर्च्छति ॥३८॥
विण्मूत्रसङ्गवैवर्ण्यच्छर्द्याध्मानान्त्रकूजनैः।
कोष्ठे दोषान् विजानीयात् सर्वत्रस्थांश्च रोदनैः ॥३९॥

(बालकों में विकृति का स्थान जानने की रीति—) बालक के जिस अंग-प्रत्यंग में पीड़ा होती है, उस अंग-प्रत्यंग को बारबार छूता है और (उस अंग को) स्पर्श करने पर रोता है ॥३७॥ मस्तिष्क के रोग में आँखें बंद किया हुआ रहता है और शिर को धारण नहीं करता। बस्ति (प्रदेश के रोग) में पीडा के कारण मूत्र रुक जाता है, तृषायुक्त होता है और मूर्च्छित होता है ॥३८॥ मलावरोध, मूत्रावरोध, विवर्णता, वमन, पेट का फूलना, आँतों में गुड़गुड़ शब्द होना इनसे कोष्ठ में दोष है, ऐसा समझे। और रोने से सर्वत्र विकृति समझे ॥३९॥

वक्तव्य—अंगप्रत्यंगदेशे—शरीर में कहीं भी जब कुछ गड़बड़ होती है, चाहे वह आगन्तुक कारणों से हो चाहे निज कारणों से हो, तब उस अंग का हट जाना या स्थानिक पेशियों में संकोच पैदा होना या वहाँ पर हाथ का पहुँच जाना ये कर्म हुआ करते हैं। जैसे, आँख में पीड़ा होने से या आँख के भीतर बाहर से कोई चीज प्रविष्ट होने से पलक बंद होते हैं, पुतली सिकुड़ जाती है और मनुष्य आँख के ऊपर अपना हाथ रखता है। ये कर्म शरीररक्षा के लिए आवश्यक होते हैं। शरीररक्षा के लिए प्रयत्न करना यह जीवसृष्टि का एक स्वाभाविक गुण है और यह गुण अत्यन्त सूक्ष्म जीव से लेकर अत्यंत बड़े जीव में दिखाई देता है।

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

…नमें बुद्धि का या मस्तिष्क के उच्च केन्द्रों का कोई संबंध …हीं होता। अर्थात् ये कर्म अनैच्छिक होते हैं। इनको …त्यावर्तन कर्म (Reflex actions) कहते हैं। बालक कितना …ी छोटा क्यों न हो, उसमें भी ये कर्म दिखाई देते हैं। …सलिए अगर बालक बार बार कहीं पर छूता हो तो समझ …ना चाहिए कि उस स्थान में, या उसके आसपास, या …सके नीचे गहराई में स्थित अंगों में पीड़ा है। शरीरगत …ड़ा जानने का यह पहला मार्ग है। स्पृश्यमाने च रोदिति— …हाँ पर बालक बार बार छूता है, वहाँ पर स्पर्श करने पर …ा जरा सा दबाने पर बालक रोता है क्योंकि दबाने से …ीड़ा बढ़ती है। शरीरगत असह्य पीड़ा को मालूम कराने …ा मार्ग बच्चों में रुदन होता है। बड़े मनुष्य में प्रायः …दन नहीं होता, परंतु पीडन के समय उसके चेहरे की …ोर देखने से पीडा का ज्ञान हो जाता है। स्पर्श करने पर …ड़ा होने की अवस्था को स्पर्शनाक्षमता या पीडनाक्षमता (Tenderness) कहते हैं—स्पर्शं च न क्षमते तत्र रुजमुप-…लक्षयेत्। (अष्टांगसंग्रह)। अन्यस्पर्शनं च न सहते। (इन्दु)। …ा च स्पर्शनाक्षमः, तत्र विद्याद्रुजम्। (अष्टांगहृदय, उत्तर …)। इस तरह शरीरगत रुजा दो प्रकार से प्रकट होती …, एक प्रकार में वह बिना स्पर्श के होती रहती है। इस …प्रकार को वेदना (Pain) कहते हैं और दूसरे प्रकार में …ने पर प्रकट होती है। इसको पीडनाक्षमता कहते हैं। …र्ध्वस्थे—इसका संबंध 'रोगे' के साथ है, याने मूर्धस्थ रोग …ा विशेषण है। यहाँ पर मूर्धस्थ रोग के दो लक्षण बताये …ये हैं, आँखें बंद करना और शिर को धारण न करना। …सके और भी लक्षण होते हैं—अवकूजन याने धीरे धीरे …असंबद्ध बोलना या मुख से आवाज़ करना (Low muttering), अरतिमानस्वप्न याने ठीक नींद न आना (Disturbed sleep)। शिरो न धारयेत्—इससे सिर …धारण करने का असामर्थ्य प्रकट होता है। यह असामर्थ्य …दो प्रकार से दिखाई दे सकता है—सिर के एक तरफ़ …गिरने से या सिर के काँपने से। आगे काश्यपसंहिता का …शिरोरोग संबंध का श्लोक देखो। वस्तिस्थे—भगास्थि के …आस-पास के विकार में—मूत्रसंगतृण्मूर्च्छात्रासदिग्वीक्षणखल्ली-…पादस्तम्भकुब्जीभवनकेशलुञ्चनैर्वस्तौ गुह्ये च। (अष्टांगसंग्रह)। …ष्ठे—उदरविभाग में विशेषतया आमाशय और आन्त्र में। …स्थानान्यामाग्निपक्कानां मूत्रस्य रुधिरस्य च। हृदुण्डुकः फुफ्फुसश्च …कोष्ठ इत्यभिधीयते॥' इस व्यापक अर्थ में कोष्ठ का प्रयोग न …कर केवल 'स्थानान्यामाग्निपक्कानाम्' इनके लिए प्रयुक्त हुआ …। इस अर्थ से कोष्ठ शब्द का उपयोग 'मृदुकोष्ठ क्रूरकोष्ठ' …न शब्दों में होता है—'मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोपसेवया। …ह्यति क्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः॥ (चरक, सूत्र १३)। …सर्वत्रस्थांश्च रोदनैः—सर्वत्र च स्वभावातिरिक्तरोदनेन मुखविकूण-…नेन च। (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २)। रोदन से स्वभावाति-…रिक्त रोदन समझना चाहिए। स्वभावातिरिक्त रोदन का …अभिप्राय यह है कि बालक स्वस्थावस्था में जितना रोता है, …उससे अधिक रोने पर। कुछ बालक स्वभाव से ही न रोने …वाले होते हैं। इनके बारे में जरा सा भी रोना संदेहास्पद होता है। कुछ बालक स्वभाव से अधिक रोने वाले होते हैं। इनके बारे में जब ये उससे अधिक रोएँगे, तब संदेह होगा। मुखविकूणने च—मुखचर्या (Facial expression) के फर्क से। चेहरा शरीर का आदर्श होता है, जिसमें शारीरिक और मानसिक विकारों का प्रतिबिम्ब मिलता है। शरीर या मन में जरा सी उथल-पुथल होने से उसका पता चेहरे से लग जाता है। सर्वत्रस्थांश्च—इसके पहले जो दोष वर्णन किये गये थे, वे एकदेशीय थे। जैसे—शिरोगत, बस्तिगत, उदरगत इत्यादि। इसमें एकदेशीयता न होकर सर्वाङ्गगतता या सर्वशरीरव्यापकता होती है। अर्थात् सर्वत्रस्थ दोषों से ऐसे रोगों का बोध होता है कि जिनमें दोष किसी एक स्थान में सीमित है, ऐसा नहीं बताया जा सकता है। जैसे, ज्वर, सर्वाङ्गवात, पाण्डु इत्यादि। सूत्रस्थान के २१वें अध्याय का ३२वाँ सूत्र देखो। अर्थात् इसका अभिप्राय यह है कि जब बालक स्वभाव से अधिक रोने लगे, उसके चेहरे में कुछ फर्क पड़ जाय और स्थानिक विकृति के लक्षण कहीं पर न दिखाई दें तो यह समझना चाहिए कि बालक ज्वर जैसे सर्वाङ्गरोग से पीड़ित हुआ है।

इन श्लोकों में जो बालक बोलना नहीं जानते या अपने विचार प्रकट करना नहीं समझते, उन बालकों के रोगों का निदान लक्षणों को देखकर कैसा करना चाहिए इसका विवरण किया गया है। इस प्रकार का विवरण अष्टांगहृदय और अष्टांगसंग्रह (उत्तर २) में भी मिलता है, परन्तु ये सब विवरण बहुत संक्षेप में हैं। काश्यपसंहिता में इस महत्त्व के विषय का विवरण अधिक विस्तार से दिया गया है। अतः उसका कुछ उपयोगी अंश नीचे दिया जाता है—बालकानामवचसां विविधा देहवेदनाः। प्रादुर्भूताः कथं वैद्यो जानीयाल्लक्षणार्थतः॥ इति पृष्टो महाभागः कश्यपो लोकवृद्धपः। प्रोवाच वेदनास्तस्मै कारणैर्बालदेहजाः॥ भृशं शिरः स्पन्दयति निमीलयति चक्षुषी। अवकूजत्यरतिमानस्वप्नश्च शिरोरुजि॥ कर्णौ स्पृशति हस्ताभ्यां शिरो भ्रमयते भृशम्। अरत्यरोचकास्वप्नैर्जानीयात्कर्णवेदनाम्॥ लालास्रवणमत्यर्थं स्तनद्वेषारतिव्यथाः। पीतमुद्गिरति क्षीरं नासाश्वासी मुखामये॥ लालास्रावोऽरुचिर्ग्लानिः कपोले श्वयथुर्व्यथा। मुखस्य विवृतत्वं च जानीयादधिजिह्विकाम्॥ मुहुर्नमयतेऽङ्गानि जृम्भते कासते मुहुः। धात्रीमालीयतेऽकस्मात् स्तनं नात्यभिनन्दति॥ प्रस्रावोष्णत्ववैवर्ण्ये ललाटस्यातितप्तता। अरुचिः पादयोः शैत्यं ज्वरे स्युः पूर्ववेदनाः॥ स्तनं व्युदस्यते रौति चोत्तानश्चावभज्यते। उदरस्तब्धता शैत्यं मुखस्वेदश्च शूलिनः॥ स्तनं पिबति चात्यर्थं न च तृप्यति रोदिति। शुष्कौष्ठतालुस्तोयेप्सुर्दुर्बलस्तृष्णयार्दितः॥ रोमहर्षोऽङ्गहर्षश्च मूत्रकाले च वेदना। मूत्रकृच्छ्रे दशत्योष्ठौ वस्तिं स्पृशति पाणिना॥ सशर्करातिमूत्रत्वं मूत्रकाले च वेदना। प्रततं रोदिति क्षामस्तं ब्रूयादश्मरीगदम्॥ दृष्टिव्याकुलता तोदशोथशूलाश्रुरक्तताः। सुप्तस्य चोपलिप्यन्ते चक्षुषी चक्षुरामये॥ घर्षत्यङ्गानि शयने रोदितीच्छति मर्दनम्। शुष्ककण्ड्वर्दितं विद्यात्तत्रश्चार्द्रा प्रवर्तते॥ सुखायते मृद्यमानं मृद्यमानं च शूयते। शूनं स्रवति सस्योढामाद्रांयां शूलदाहवत्॥ नाभ्यां समन्ततः शोथः श्वेताक्षिनखवक्त्रता। पाण्डुरोगेऽग्निसादश्च श्वयथुश्चाक्षिकूटयोः॥ पीतचक्षुर्नखमुखविण्मूत्रः कामलार्दितः। उभयत्र निरुत्साहो नष्टाग्नि-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रुधिरस्पृहः ॥ मुहुर्मुखेनोच्छ्वसिति पीत्वा पीत्वा स्तनं तु यः । स्रवतो नासिके चास्य ललाटं चाभितप्यते ॥ स्रोतांस्यभीक्ष्णं स्पृशति पीनसे क्षौति कासते । उरोघाते तथैव स्यान्निष्टनत्युरसाऽधिकम् ॥ स्वस्थवृत्तपरो बालो न शेते तु यदा निशि । रक्तबिन्दुनिताङ्गश्च विद्यात्तं जन्तुकार्दितम् ॥ (वेदनाध्याय)।

तेषु च यथाभिहितं मृद्वच्छेदनीयमौषधं मात्रया क्षीरपस्य क्षीरसर्पिषा धात्र्याश्च विदध्यात्, क्षीरान्नादस्यात्मनि धात्र्याश्च, अन्नादस्य कषायादीनात्मन्येव न धात्र्याः ॥४०॥

(ओषधिप्रदान की पद्धति—) उन रोगों में मृदु, तीक्ष्णवेगरहित और यथोक्त ओषधि मात्रानुसार दूध पीने वाले बालक को दूध और घृत के साथ और धात्री (या माता) को (दुग्धादि के सिवा) सेवन करावे। दूध और अन्न खाने वाले बालक (के रोगों में उस) को तथा धात्री (या माता) को। अन्न सेवन करने वाले बालक (के रोगों में उस) को ही दे, धात्री को न दे ॥४०॥

तत्र मासादूर्ध्वं क्षीरपायाङ्गुलिपर्वद्वयग्रह(ण)संमितामौषधमात्रां विदध्यात्, कोलास्थिसंमितां कल्कमात्रां क्षीरान्नादाय, कोलसंमितामन्नादायेति ॥४१॥

(ओषधि मात्रा का बालक के लिए प्रमाण—) एक मास से ऊपर के दूध पीने वाले बालक के लिए अंगुलि के दो पोरों में जितनी ओषधि रह सके, उतनी दे। दूध और अन्न खाने वाले बालक के लिए बेर की गुठली के समान कल्क (या चूर्ण) की मात्रा और अन्न खाने वाले बालक के लिए बेर के बराबर (ओषधि की मात्रा दे) ॥४१॥

वक्तव्य—अंगुलिपर्वद्वयग्रहणसंमिताम्—चुटकी भर। क्षीरप इत्यादि—आहार की दृष्टि से बाल्यावस्था के तीन विभाग होते हैं—प्रथम वर्ष की क्षीरपावस्था, दूसरे और तीसरे वर्ष की क्षीरपान्नादावस्था और चौथे वर्ष से अन्नादावस्था। सूत्रस्थान के ३५वें अध्याय के ३३वें सूत्र को तथा उसके वक्तव्य को देखो। मात्रा—इसके संबंध का विवरण सूत्रस्थान के ३५वें अध्याय के ३६वें सूत्र तथा उसके वक्तव्य में किया गया है।

बच्चों को ओषधियाँ हमेशा द्रव या लेह के रूप में देनी चाहिए। चूर्ण या कल्क घी-शहद के साथ मिलाकर चटाना चाहिए। गोली या वटिका (Pills and tablets) बच्चों को कदापि न देनी चाहिए। माता या धात्री को ओषधि देने की कल्पना भी ठीक है क्योंकि इनसे सेवन की हुई ओषधि स्तनों से दूध के साथ उत्सर्गित होती है। बच्चों को अफीम या अफीमयुक्त ओषधि न देना ही उचित है क्योंकि उनके ऊपर अफीम का विषैला असर बहुत जल्दी होता है।

येषां गदानां ये योगाः प्रवक्ष्यन्तेऽगदङ्कराः ।
तेषु तत्कल्कसंलिप्तौ पाययेत शिशुं स्तनौ ॥४२॥

(स्तनलेप से औषध प्रदान करने का मार्ग—) जिन रोगों के जो रोगनिवारक योग कहे जायँगे, उन रोगों में उन योगों के कल्क से लिप्त किये हुए स्तन बालक को पिलावे ॥४२॥

एकं द्वे त्रीणि चाहानि वातपित्तकफज्वरे ।
स्तन्यपायाहितं सर्पिरितराभ्यां यथार्थतः ॥४३॥

(ज्वर में घृतप्रयोग—) दूध पीने वाले बालक के लिए वातज, पित्तज और कफज ज्वर में क्रमशः एक, दो और तीन दिन घृत (का पान) अहितकर होता है। क्षीरान्नाद तथा अन्नाद बालकों के लिए जैसा उचित मालूम हो, वैसा करे ॥४३॥

वक्तव्य—चरकसंहिता में ज्वरचिकित्सा के लिए प्रारंभ में लंघन और पश्चात् सर्पिष्पान की विधि बतलाई गई है—यूषैरम्लैरनम्लैर्वा जांगलैर्वा रसैर्हितैः । दशाहं तावदश्नीयाल्लघ्वन्नं ज्वरशान्तये ॥ अत ऊर्ध्वं कफे मन्दे वातपित्तोत्तरे ज्वरे । परिपक्वेषु दोषेषु सर्पिष्पानं यथाऽमृतम् ॥ निर्दशाहमपि ज्ञात्वा कफोत्तरमलंघितम् । न सर्पिः पाययेद्विद्वः कषायैस्तमुपाचरेत् । (चिकित्सा ३)। इस विधि का उपयोग तीनों प्रकार के बालकों में किस प्रकार करना चाहिए, इसका विवरण इस श्लोक में है। क्षीरप बालकों के लिए नियम स्पष्ट है। इतराभ्यां यथार्थतः—इसका अभिप्राय यह है कि क्षीरान्नाद और अन्नाद बालकों के लिए वातज्वर के लिए एक दिन से अधिक, पित्तज्वर के लिए दो दिन से अधिक और कफज्वर के लिए तीन दिन से अधिक जितने दिन उचित समझे, उतने दिन उनको घी न दे, उसके पश्चात् दे। यथार्थत इति निवृत्त्यपरपर्यायोऽयमर्थशब्दो यथा मशकार्थो धूम इति। तथाच अर्थे—'निर्दशाहमपि ज्ञात्वा कफोत्तरमलंघितम्। न सर्पिः पाययेत्' इत्युक्तं ज्वरप्रतिषेधे वक्ष्यमाणं च प्रतिषेधमनतिक्रम्य इतराभ्यामन्नादक्षीरान्नादाभ्यान्तु सर्पिर्विरहितमुपदिशेदित्यर्थः। (हाराणचन्द्र)। इतराभ्यां क्षीरान्नादान्नादाभ्यां, यथार्थतः यथाप्रयोजनतः, हितं सर्पिरित्यर्थः। (डल्हण)।

न च तृष्णाभयादत्र पाययेत शिशुं स्तनौ ।

(ज्वर में स्तनपान—) ज्वर में तृष्णा के भय से शिशु को स्तन न पिलावे।

वक्तव्य—ज्वर के प्रारम्भ में लंघन करने की या कराने की विधि होती है—ज्वरे लंघनमेवादावुपदिष्टम् ॥ (चरक, चिकित्सा ३)। पिछले श्लोक में ज्वर में सर्पिष्पान की विधि बताई गई है। इस श्लोकार्ध में लंघन की विधि पर्याय से बताई गई है। तृष्णाभयात्—स्तन्यतृष्णाभयात्, अत्याहारभयादित्यर्थः। स्वस्थावस्था में बालक जितना दूध पीता है, उतना ही दूध वह ज्वरितावस्था में भी पी सकता है क्योंकि स्तनों के साथ मुख का संबंध होने पर दूध पीना इतनी ही बात उस समय वह समझता है। ऐसी अवस्था में अगर उसको नित्य के समान स्तनपान कराया जाय तो अजीर्ण होने का डर रहता है। इसलिए ज्वर के प्रारंभिक दिनों में स्तनपान न कराना ही प्रशस्त मार्ग है। परन्तु

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लंघन के इन दिनों में बालक को उबाला हुआ पानी, जैसे कि औरों को दिया जाता है, देना चाहिए—तृष्यते सलिलं चोष्णं ...वाद्वातकफज्वरे । दीपनं पाचनं चैव ज्वरघ्नमुभयं हि तत् । ...स्रोतसां शोधनं बल्यं रुचिस्वेदकरं शिवम् ॥ (चरक, चिकित्सा ३)। ...नादिकाले एव अवस्थाविशेषे देयं जलमाह—तृष्यत इत्यादि। (चक्रपाणिदत्त)। शिशु को पानी देने में आपत्ति न करनी चाहिए। पानी किस प्रकार का देना चाहिए, इसके संबंध में काश्यपसंहिता में लिखा है—उष्णोदकं शिशोः । रक्तपित्तामयं ...त्वा प्रायो वातकफात्मके। रोगे शिशुर्वा धात्री वा गुर्विणी वोष्णकं ...बेत् । क्वचिद्रोगविशेषेण तप्तशीतं हितं बहु ॥ (पानीयगुण विशेषाध्याय)। यदि बालक स्वस्थ हो तो ज्वरित होने पर कुछ दिनों तक लंघन सह सकता है। यदि बालक दुर्बल हो तो उसके लिए लंघन कराना ठीक नहीं होता। ऐसी अवस्था में 'न' का अर्थ अल्प करके उसको थोड़ा थोड़ा स्तन पान कराना चाहिए। बालक के लंघन के संबंध में राबर्ट ...वीसन का निम्न वचन महत्त्व का है—Babies will ...and the complete withdrawal of all nourishm-...nt for two or three, or even more days without ...ny disadvantage, and, indeed, often with great ...benefit, provided always that you fulfil two ...conditions. The first of these is that child is ...kept warm. And the second condition is that ...water must on no account be withheld. That ...may take the form of boiled water. *Lectures on ...Diseases of children.* इसके ऊपर हाराणचन्द्र लिखते हैं—न चेति प्रतिषेधोऽयमजीर्णशङ्कयेति गम्यते, अतो यावन्नासा-...शङ्का बुद्धिमधितिष्ठति तावदल्पमल्पं पाययेदेव, उपस्थितायाश्च ...आमाशङ्कायां मात्रयाऽन्तरान्तरा यथास्वौषधसिद्धं जलमेव पाय-...येदित्युपदिशन्त्याचार्याः ॥ आगे ५०वें श्लोक के वक्तव्य में '...लंघनात्' देखो।

...विरेकबस्तिवमनान्यृते कुर्याच्च नात्ययात् ॥४४॥

(विरेचनादि के उपयोग का निर्देश—) आत्ययिक अवस्था के अलावा विरेचन, बस्ति और वमन न कराना चाहिए ॥४४॥

वक्तव्य—अत्ययादृते—अत्यन्त आवश्यकता जिसमें हो, ऐसी अवस्था या व्याधि। बालकों में इनका पूर्ण निषेध नहीं होता। बालकों के रोगों की चिकित्सा के कुछ तत्त्व, जो अष्टांगसंग्रह में दिये हैं, नीचे दिये जाते हैं—त एव दोषा ...धाश्च ज्वराद्या व्याधयश्च यत् । अतस्तदेव भैषज्यं मात्रा त्वस्य कनीयसी ॥ सौकुमार्याल्पकायत्वात्सर्वान्नानुपसेवनात् ॥ स्निग्धा ...सदा बाला घृतक्षीरनिषेवणात् । सद्यस्तान् वमनं तस्मात्पाय-...मतिमान् मृदु ॥ स्तन्यस्य तृप्तं वमयेत् क्षीरक्षीरान्नसेविनम् । ...वन्तं तनुं पेयामन्नादं घृतसंयुताम् ॥ वस्तिं साध्ये विरेकेण ...र्वेन प्रतिमर्शनम् । युंज्याद्विरेचनादींस्तु धात्र्या एव यथोदितान् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २)।

अब इसके बाद बालकों के कुछ रोग वर्णन किये जाते हैं—

मस्तुलुङ्गक्षयाद्यस्य वायुस्ताल्वस्थि नामयेत् ।
तस्य तृड्दैन्ययुक्तस्य सर्पिर्मधुरकैः शृतम् ।
पानाभ्यञ्जनयोर्योज्यं शीताम्बूद्वेजनं तथा ॥४५॥

(तालुपात—) मस्तुलुङ्ग के क्षय के कारण वायु जिस (शिशु) की तालु (प्रदेश) की हड्डी को दबाता है, उस तृषा और दीनता से युक्त बालक को मधुरगण की ओषधियों से सिद्ध घी का पान और अभ्यंग कराना चाहिए और ठंडे जल से उसको उद्वेजित करना चाहिए ॥४५॥

वक्तव्य—ताल्वस्थि नामयेत्—मस्तक की खोपड़ी में दो तालुएँ होती हैं—पूर्व (Anterior fontanelle) और पश्चिम (Posterior fontanelle)। इनमें पीछे की तालु जन्म के पश्चात् शीघ्र बंद हो जाती है। पूर्वतालु स्वस्थ बालक में डेढ़ साल की उम्र में बंद हो जाती है। अर्थात् डेढ़ साल तक तालु प्रदेश में हड्डी नहीं होती। बालक के इस प्रदेश में तैलपिचु रखने का रिवाज है। पीछे २३वाँ सूत्र देखो। बचपन में जब तक तालु बंद नहीं होती, तब तक उसकी स्थिति से बालक के साधारण स्वास्थ्य का, मस्तिष्कगत विकारों का तथा हृदय के स्पन्दन का पता चल जाता है। प्रवाहिका, अतीसार, अनुबद्ध वमन तथा अन्य क्षीणता-जनक तीव्र विकारों में तालु में निम्नता (Depression) आ जाती है। आगे तालुकंटक देखो। तालु की निम्नता एक गंभीरतादर्शक लक्षण होता है। अस्थिवक्रता (फक्क Rickets आगे ५२वें श्लोक के वक्तव्य में देखो) नामक रोग में तालु की अस्थियाँ देर में मिलती हैं। बड़े रोगियों में नाड़ी की क्षीणता का जो मतलब होता है, वही मतलब बच्चों में तालु की निम्नता का होता है। मस्तिष्कावरण शोथ (Meningitis), मस्तिष्कार्बुद (Tumour) इत्यादि मस्तिष्क के विकारों में तालु तनाव से युक्त और कुछ उन्नत होती है। संक्षेप में, तालुपात या तालु की अन्य स्थिति एक लक्षण है, जिससे बालक की विकृति का कुछ पता चल जाता है। तालुपात बालक की क्षीणता या स्वास्थ्य दैन्य का निदर्शक है। मस्तुलुंगक्षयात्—तालु का पात बालक के अतिसार, प्रवाहिका, वमन इत्यादि शरीरगत जलांश का नाश करने वाले विकारों में होता है। शरीरगत जल की कमी का परिणाम मस्तिष्कसुषुम्नाजल (Cerebro-spinal fluid) की कमी में होता है। यह जल मस्तिष्क के चारों ओर उसके आवरण के भीतर होता है। इसकी कमी होने से सावरण मस्तिष्क का आकार कुछ छोटा होता है। अन्य स्थानों पर कठिन हड्डियाँ होने से इसका पता नहीं लगता, परंतु पूर्वतालु प्रदेश में हड्डी न होने से वह निम्न हो जाता है। संक्षेप में 'मस्तुलुंगक्षय' से 'मस्तुलुंगजलक्षय' समझना चाहिए। वायु—तालुनिम्नता का आन्तरिक कारण मस्तिष्कजलक्षय है और बाह्य कारण वायु है। वायु से बाह्य वायु (वातावरण Atmosphere) और शरीरगत वायु दोष दोनों का बोध होता है (चरक का वातकलाकलीय अध्याय सूत्र १२)। तालु के पात में बाह्य वायु ही कारण है। हमारे शरीर पर बाह्य वायु का बहुत भारी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दबाव पड़ता है, परंतु भीतर से भी उतना ही दबाव होने के कारण या हड्डी के समान कठिन आवरण होने के कारण उसका ज्ञान हमें नहीं होता । शरीर में जहाँ पर कुछ पोलापन या निर्वात (Vacuam) स्थिति होती है, वहाँ पर बाहर की वायु दबाती है । फुफ्फुसक्षय में जब फुफ्फुस भीतर से विवरयुक्त पोला हो जाता है, तब बाहर की वायु का दबाव पड़ने से पर्शुकान्तरीय स्थान भीतर धँसे हुए दिखाई देते हैं तथा अक्षक (हँसली) के ऊपर और नीचे गढ़े बन जाते हैं । मस्तिष्कजलक्षय में बालकों की तालु में हड्डी न होने के कारण बाह्य वायु के दबाव से तालु दब जाती है । बाल्यावस्था के पश्चात् मस्तिष्कजलक्षय होने पर भी इस प्रकार की निम्नता नहीं होती क्योंकि दबने लायक स्थान खोपड़ी में नहीं होता । तृड्दैन्ययुक्तस्य—जिस समय तालुपात होता है, उस समय रोगी की स्थिति बड़ी शोचनीय होती है । जैसे—शरीर की कृशता, क्षीणता, पेशियों का पिलपिलापन, आँखें कपोल और उदर भीतर धँसे हुए, बदहवासी इत्यादि । शरीरगत जलांश का नाश जिन रोगों में अधिक होता है, उन रोगों में तालुपात होता है । अर्थात् जलांश की पूर्ति करने के लिए बालक को स्वभाव से ही अधिक प्यास मालूम होती है । मधुरकैः श्रृतम्—मधुरगण में बलकारक, जीवनीय ओषधियाँ (सूत्रस्थान के ४२वें अध्याय का २४वाँ सूत्र देखो) होती हैं । शीताम्बूद्वेजनम्—शीतल जल का प्रयोग दीन, क्षीण बालक को होशियार करने के लिए, उसको होश पर लाने के लिए होता है । इसका उपयोग अधिकतर आँखों पर, चेहरे पर किया जाता है ।

वातेनाध्मापितां नाभिं सरुजां तुण्डिसंज्ञिताम् ।
मारुतघ्नैः प्रशमयेत् स्नेहस्वेदोपनाहनैः ॥४६॥

(नाभितुण्डि—) वायु के कारण फूली हुई, पीडायुक्त तुण्डि नामक नाभि को वायुनाशक स्वेद, स्नेह और उपनाह से शान्त करे ॥४६॥

वक्तव्य—नाडीकल्पन की विधि पीछे ११वें सूत्र में तथा उसके वक्तव्य में भली भाँति वर्णन की गई है । उस समय सूत्र, कैंची, वस्त्र इत्यादि की सफाई में लापरवाही करने से व्रणयुक्त नाडी दूषित होती है । कभी कभी यह दोष नाडी के द्वारा यकृत् और रक्त में प्रवेश करके कामला, ज्वर, वमन, प्रवाहिका और जीवाणुमयता उत्पन्न करके बालक का नाश करता है । इसलिए, नाडीकल्पन के सब साधन अत्यन्त शुद्ध काम में लाने चाहिएँ । परंतु प्रायः दोष इतनी दूर तक न फैलकर नाभि तक सीमित रहता है और नाभिपाक (Omphalitis) उत्पन्न होता है । नाभितुण्डि उत्पन्न होने से पूर्व प्रायः नाभिपाक होता है । इसलिए चरक और अष्टांगसंग्रह में प्रथम नाभिपाक का उल्लेख किया गया है—तस्य चेन्नाभिः पच्येत तां लोध्रमधुकप्रियङ्गुसुरदारुहरिद्राकल्कसिद्धेन तैलेनाभ्यज्यात्, एषामेव तैलौषधानां चूर्णेनावचूर्णयेत् । (चरक, शा० १०) । नाभि का पाक होने से नाभि अधिक कमजोर होती है । इस कमजोरी के साथ यदि बालक में मलावरोध, निरुद्धप्रकाश (निदान १३–५७) और रोदनाधिक्य ये विकार हों तो उदरगत भार बढ़ जाने से आन्त्र का कुछ हिस्सा नाभि के छिद्र में से बाहर आने लगता है और नाभि ध्मापित होती है । इस अवस्था को नाभिगत आन्त्रवृद्धि (Umbilical hernia) कहते हैं । बिना नाभिपाक के भी मलावरोधादि कारण अधिक काल तक जारी रहें तो यह विकार हो जाता है क्योंकि नाभि का स्थान उदरप्राचीर के अन्य स्थानों की अपेक्षा स्वभावतः कमजोर रहता है । चरकसंहिता में नाभि के चार प्रकार दिये हैं—असम्यक्कल्पने हि नाड्या आयामव्यायामोत्तुण्डितापिण्डलिकाविनामिकाविजृम्भिकावाधेभ्यो भयम् । इसके ऊपर चक्रपाणिदत्त लिखते हैं—आयामो दैर्घ्यं, व्यायामो विस्तारः, ताभ्यामुत्तुण्डिता आयामव्यायामोत्तुण्डिता, दीर्घपीनत्वयुतेत्यर्थः । पिण्डलिका परिमण्डलयुता, विनामिका अन्तोच्छूना मध्यनिम्ना । विजृम्भिका तु मुहुर्मुहुर्वृद्धिमती । गुरुलाघवमभिसमीक्ष्येति नाडीपाककारकपित्ते तथा वाते चायामव्यायामोत्तुण्डितादिविकारचतुष्टयकारके यो दोषो गुरुः स उपचरितव्यस्त्वरयेत्यर्थः । ये चार विकार वास्तव में चार स्वतन्त्र विकार न होकर एक विकार के चार प्रकार हैं और यह विकार है नाभिगत आन्त्रवृद्धि । सुश्रुत की तुण्डि चरक की आयामव्यायामोत्तुण्डिका है । विजृम्भिका में नाभि हमेशा के लिए उभरी हुई नहीं होती, परंतु जिस समय बालक रोता है या मल त्याग करता है, उस समय उदरगत भार बढ़ने के कारण फूलती हैं । बाकी तीनों प्रकारों में नाभि सदा के लिए फूली हुई रहती है । इस नाभि में क्षुद्रांत्र का कुछ हिस्सा आता है । बालक की आयुर्वृद्धि के साथ नाभि का आयामव्यायाम नहीं बढ़ता परंतु आन्त्र की मोटाई या गोलाई बढ़ती है, जिसके कारण यह विकार आयु बढ़ने पर आपसे आप ठीक हो जाता है । स्नेहस्वेदोपनाहनैः—मालिश, स्वेद और उपनाह के द्वारा । उपनाह—उपनाहो बहलं लेपं दत्वा चर्मादिभिरावृत्य व्याधियुक्तस्यांगस्य बंधनम् । (चक्रपाणिदत्त, चरक, सूत्र० १४) । आधुनिक परिभाषा के अनुसार नाभि के उपनाहन को Umbilical belt कह सकते हैं । इसके अलावा मलावरोधादि सहायक कारणों को भी दूर करना चाहिए ।

गुदपाके तु बालानां पित्तघ्नीं कारयेत् क्रियाम् ।
रसाञ्जनं विशेषेण पानालेपनयोर्हितम् ॥४७॥

(गुदपाक—) बालकों के गुदपाक (नामक रोग) में पित्तनाशक चिकित्सा करे । (इसमें) विशेषतः रसोत पीने के और आलेपन के लिए हितकर होता है ॥४७॥

वक्तव्य—गुदपाक—क्षुद्ररोगनिदान (१३वाँ अध्याय) में अहिपूतन या गुदकुंद करके बालकों का एक रोग वर्णन किया गया है । गुदपाक के कारण और लक्षण और कहीं पर नहीं मिलते । इसलिए गुदकुंद और गुदपाक में क्या भेद है, इसका निर्णय करना कठिन है । परंतु निम्न कारणों से ये दोनों रोग एक मालूम होते हैं—(१) दोनों रोग बालकों के हैं और दोनों का स्थान एक है । (२) वाग्भटाचार्य अष्टांगहृदय और संग्रह में अहिपूतन का ही वर्णन

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...ते हैं, गुदपाक का नहीं करते । (३) गुदपाक में जैसी पित्तघ्न चिकित्सा होती है, वैसी पित्तघ्न चिकित्सा गुदकन्द की भी होती है—सर्वं च पित्तव्रणजिच्छस्यते गुदकुट्टके । (अष्टांगसंग्रह)। (४) अहिपूतन चिकित्सा की ओषधियों में रसांजन भी एक है—पटोलपत्रत्रिफलारसाञ्जनविपाचितम् । ...घृतं नाशयति कृच्छ्रामप्यहिपूतनाम् ॥ (चिकित्सा स्थान २०)। इन द्रव्यों में रसांजन विशेषतः हितकर होता है; इसका उल्लेख यहाँ द्वितीय श्लोकार्ध से किया गया है। (५) अहिपूतना की चिकित्सा आगे चिकित्सा-स्थान में स्वतन्त्र वर्णन की गई है । यहाँ पर उसका वर्णन करने का कोई कारण नहीं था । परंतु रोग बालकों में होने के कारण यहाँ पर बालकों के रोगों में संक्षेप में इसका सूत्र बताया गया है। रसांजन—दारुहरिद्रा के क्वाथ से बनाया हुआ, जो रसोत भी कहलाता है।

बालकों के रोग—बाल्यावस्था में अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। उनमें से कुछ विशेष रोगों का, जो सुश्रुत में वर्णित नहीं हैं, वर्णन यहाँ पर संक्षेप में दिया जाता है—(१) ...पद्म—विसर्पस्तु शिशोः प्राणनाशनो बस्तिशीर्षजः। पद्मवर्णो ...पद्मनामा दोषत्रयोद्भवः ॥ शाखाभ्यां हृदयं याति हृदयाद्वा गुदं ...येत् ॥ (अष्टांगसंग्रह)। यह विसर्प है। इसको नवजात विसर्प Erysipelas neonatorum कहते हैं। इसका प्रारंभ प्रायः नाभि से होता है और नाभिनाडी छेद से उदरगुहा में प्रवेश करके उदरावरण शोथ पैदा करता है । इसी उपद्रव से यह रोग प्राणनाशक होता है। सुश्रुत परिभाषा के अनुसार इस विसर्प का समावेश क्षतज विसर्प में (निदान १०) होता है । (२) दन्त शब्द—रूक्षाशिनो ...तिकस्य चालयत्यनिलः सिराः । हन्वाश्रयाः प्रसुप्तस्य दन्तैः ...दान् करोत्यतः ॥ दन्तशब्द को Grinding of teeth कहते हैं। यह कोई महत्त्व का रोग नहीं है । केंचुवे के कारण कई बार यह लक्षण हुआ करता है । (३) तालुकण्टक—तालुमांसे कफः क्रुद्धः कुरुते तालुकण्टकान् । तेन तालुप्रदेशस्य निम्नता मूर्ध्नि जायते ॥ तालुपातः स्तनद्वेषः कृच्छ्रात् पानं शकृद् ...तम्। तृडक्षिकण्ठास्यरुजा ग्रीवादुर्धरता वमिः ॥ (अष्टांगसंग्रह)। तालुकण्टक एक प्रकार का मुखपाक (Stomatitis) है। बालकों की दृष्टि से इसको थ्रश (Thrush) कह सकते हैं। (४) क्षीरालसक—स्तन्ये त्रिदोषमलिने दुर्गन्ध्यामं जलोपमम्। ...बद्धमच्छं विच्छिन्नं फेनिलं चोपवेश्यते ॥ शकृन्नानाव्यथावर्णं मूत्रं ...तं सितं घनम् । ज्वरारोचकतृट्छर्दिशुष्कोद्गारविजृम्भिकाः ॥ ...अङ्गभङ्गोऽङ्गविक्षेपः कूजनं वेपथुर्भ्रमः । घ्राणाक्षिमुखपाकाद्या ...यन्तेऽन्येऽपि तं गदम्। क्षीरालसकमित्याहुरत्ययं चातिदारुणम् ॥ (अष्टांगहृदय)। क्षीरालसक दूध की खराबी से होने वाली बालकों की प्रवाहिका है (Infantile diarrhoea) । (५) ...ल—स्तनं व्यदस्यते रौति चोत्तानश्चावभज्यते । उदरस्तब्धता ...त्यं मुखस्वेदश्च शूलिनः ॥ (काश्यपसंहिता, वेदनाध्याय)। बालकों में शूल (Colic) दूध का पचन ठीक होने से होता है। ठीक पचन न होने से आन्त्र में वायु (गैस) पैदा होकर शूल उत्पन्न करती है और उसी से उदरस्तब्धता (कठिनता) आ जाती है । (६) उपशीर्षकम्—कपाले पवने दुष्टे गर्भस्थस्यापि जायते। सवर्णो नीरुजः शोफस्तं विद्यादुपशीर्षकम्॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर० २७)। उपशीर्षक को Cephal haematoma कहते हैं। यह शोफपार्श्व कपाल पर होता है और कपाल तथा त्वचा के नीचे रक्तस्राव होने से होता है। (७) उल्वकम्—गर्भाम्भसामवनात् श्लेष्मणः कण्ठगस्य वा । संपर्काद् हृदये दुष्टो मार्गानावृणुते रसः ॥ बद्धमुष्टिस्ततो मुह्येद्रोगैर्बालोऽभिभूयते । हृद्रोगाक्षेपकश्वासकासच्छर्दिज्वरादिभिः । उल्वकं सहजं व्याधिमम्बुपूर्णं च तं वदेत् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर २)। उल्वक को (Infantile convulsions) कहते हैं । इसका कारण मस्तिष्क की विकृति होती है, जो कष्टप्रसूति के समय सिर पर दबाव के कारण कभी कभी हुआ करती है। ये आक्षेप प्रायः जन्म के पश्चात् दो तीन दिनों में उत्पन्न होते हैं। अगर हफ्ते दो हफ्ते के बाद यह रोग उत्पन्न हो जाय तो उसका कारण दूध के अपचन से उत्पन्न हुआ शूल या तत्सम अन्य विकार समझना चाहिए। (८) कामला—पीतचक्षुर्नखमुखविण्मूत्रः कामलार्दितः। उभयत्र निरुत्साहो नष्टाग्निरुधिरस्पृहः ॥ (काश्यपसंहिता, वेदनाध्याय)। बालकों में कामला निम्न कारणों से उत्पन्न हो सकती है—(अ) स्वाभाविक—जन्म के समय बालक के शरीर में रक्तकणाधिक्य होता है। ये कण कुछ दिनों में नष्ट हो जाते हैं और कणों की संख्या स्वाभाविक हो जाती है। इन अधिक कणों के नाश के कारण कभी कभी कामला होती है, जो स्वाभाविक कहलाती है । (आ) पित्तवाहिनी मुखशोथ—कभी कभी आन्त्र में जीवाणुओं का प्रवेश होने पर ग्रहणी के पित्तवाहिनीद्वार में शोथ होकर पित्त का मार्ग अवरुद्ध होता है और कामला होती है। (इ) नाभिनाडी के दूषित होने से—नाडी कल्पन में सफाई का ध्यान न रखने से कभी कभी पूयजनक जीवाणु उसमें प्रवेश करके उसी के द्वारा सीधे यकृत् में प्रवेश करते हैं। यह कामला असाध्य होती है। इसमें ज्वर भी होता है। (ई) सहजव्यंग—कभी कभी पित्तवाहिनियों की ठीक वृद्धि न होने से कामला होती है । यह रोग भी असाध्य होता है । (ऊ) सहज फिरंगजन्य—माता-पिता फिरंग पीडित होने पर वह रोग बालक में भी चला आता है। उसको सहज फिरंग (Congenital syphilis) कहते हैं। इसके कारण भी कभी कभी कामला होती है । इसमें बालक में सहज फिरंग के अन्य लक्षण दिखाई देते हैं। (ए) कुलज कामला (Familial jaundice)—इसमें खानदान में कई बालक कामला से पीडित होते हैं । इसका कारण माता की विषमयता (Toxaemia) मानी जाती है । यह रोग जन्म के पश्चात् कुछ घंटों में प्रारंभ होता है और कुछ दिनों में बालक की मृत्यु हो जाती है । (९) फक्क (Rickets)—इसका वर्णन आगे ५८वें श्लोक के वक्तव्य के अन्त में किया गया है।

क्षीराहाराय सर्पिः पाययेत् सिद्धार्थकवचामांसीपयस्यापामार्गशतावरीसारिवाब्राह्मीपिप्पलीहरिद्राकुष्ठसैन्धवसिद्धं, क्षीरान्नादाय मधुकवचापिप्पलीचित्रकत्रिफलासिद्धम्, अन्नादाय द्विपञ्चमूली-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षीरतगरभद्रदारुमरिचमधुकविडङ्गद्राक्षाद्विब्राह्मी-सिद्धं; तेनारोग्यबलमेधायूंषि शिशोर्भवन्ति ॥४८॥

(स्वास्थ्यरक्षक घृत—) दूध पीने वाले बालक को सिद्धार्थक (गौरसर्षप), वचा, जटामांसी, क्षीरकाकोली, अपामार्ग, शतावरी, अनन्तमूल, ब्राह्मी, पिप्पली, हल्दी, कुष्ठ और सैन्धव इनसे सिद्ध किया हुआ घृत पिलावे। दूध और अन्न खाने वाले को मुलहटी, वचा, पिप्पली, चित्रक और त्रिफला से सिद्ध (घृत पिलावे)। अन्न सेवन करने वाले को दोनों पञ्चमूल, क्षीर, तगर, देवदारु, काली मरिच, मुलहटी, वायविडंग, मुनक्का और दो प्रकार की ब्राह्मी इनसे सिद्ध (घृत पिलावे)। इस (आयु के अनुसार बनाये हुए विशिष्ट घृत के सेवन) से बालक के स्वास्थ्य, बल, बुद्धि और आयु (की वृद्धि) होती है ॥४८॥

वक्तव्य—द्विपञ्चमूल—दशमूल, लघुपंचमूल और बृहत्पंचमूल। द्विब्राह्मी—ब्राह्मी और मण्डूकपर्णी, अथवा 'भार्गी ब्राह्मी नाम शाकश्चेति द्विब्राह्मी।' (हाराणचन्द्र)।

बालं पुनर्गात्रसुखं गृह्णीयात्, न चैनं तर्जयेत्, सहसा न प्रतिबोधयेद्वित्रासभयात्, सहसा नापहरेदुत्क्षिपेद्वा वातादिविघातभयात्, नोपवेशयेत् कौब्ज्यभयात्, नित्यं चैनमनुवर्तेत प्रियशतैरजिघांसुः; एवमनभिहतमनास्त्वभिवर्धते नित्यमुदग्रसत्त्वसंपन्नो नीरोगः सुप्रसन्नमनाश्च भवति। वातातपविद्युत्प्रभापादपलताशून्यागारनिम्नस्थानग्रहच्छायादिभ्यो दुर्ग्रहोपसर्गतश्च बालं रक्षेत् ॥४९॥

नाशुचौ विसृजेद्बालं नाकाशे विषमे न च।
नोष्ममारुतवर्षेषु रजोधूमोदकेषु च ॥५०॥

(शिशुपालन—) बालक को (हमेशा) जिससे उसके शरीर को सुख हो, उस तरह से उठावे। उसको झिड़के नहीं। डर उत्पन्न होने के डर से उसे अचानक न जगावे। वातादि (दोषों) का प्रकोप होने के डर से उसे अचानक (दूसरे के पास से) न खींच ले अथवा ऊँचा भी न उछाले। कुबड़ा होने के डर से उसे (जल्दी) न बैठावे और (बालक के स्वास्थ्य का) नाश करने की इच्छा न करने वाला प्रतिदिन सैकड़ों प्रियकर बातों से उसका अनुनय करे। इस प्रकार (बालक के साथ बरताव रखने से) वह अप्रतिहतचित्त रहकर दिन प्रति दिन वृद्धि को प्राप्त होता है और उत्कृष्ट सत्त्वसंपन्न, स्वस्थ तथा प्रसन्न मन भी रहता है। बालक को जोर से बहने वाली वायु (आँधी), (कड़ी) धूप, बिजली की चमक, वृक्ष, लता, शून्यगृह, (कूप, गढ़े इत्यादि) गहरे स्थान, ग्रहों की छाया तथा दुष्ट ग्रहों के उपसर्ग से बचावे ॥४९॥ बालक को मैली जगह पर, आकाश में, ऊँची नीची जगह पर, धूप, आँधी, वर्षा, धूल, धुआँ, पानी (इनसे युक्त स्थानों) में न छोड़े ॥५०॥

वक्तव्य—गात्रसुखम्—बालक के शरीर के अंग-प्रत्यंग बहुत ही कोमल और कमजोर होते हैं। अतः बालक को पकड़ते समय या उठाते समय जबर्दस्ती, कड़ाई या लापरवाही करने से उसकी हड्डियाँ टूट सकती हैं, जोड़ विश्लेषित हो सकते हैं, पेशियाँ विदीर्ण हो सकती हैं और नाड़ियाँ घातित (Paralysed) हो सकती हैं। इसी के परिणाम स्वरूप में आगे चलकर हड्डियों का क्षय (Bone T. B.) या अंगघात (जैसे, Musculo spinal nerve paralysis) होता है। कई बार माताएँ क्रोध में बालक को उसके एक हाथ को पकड़कर उठाती हैं या खींचकर ले जाती हैं। बालक के ऊपर क्रोध करने की यह पद्धति खतरनाक है। इससे कभी कभी उपर्युक्त विकार उत्पन्न होकर बालक की जिन्दगी चौपट हो सकती है। माता या बालक के पालन के लिए रक्खे हुए किसी मनुष्य के लिए यह कर्म अनुचित है। इस प्रकार का बरताव अधिकतर अज्ञान के कारण किया जाता है। माता को अगर इसका परिणाम बताया जाय तो उससे ऐसा निर्घृण बरताव नहीं होगा। नौकरों से इस प्रकार का बरताव अज्ञान की अपेक्षा अवात्सल्य और लापरवाही के कारण होता है। उनको माता के समान एक बार बतलाने से काम नहीं हो सकता, उनके साथ कड़ाई से काम लेना पड़ता है। न चैनं तर्जयेत्—जब बालक बहुत रोता है या खाता नहीं या अन्य प्रकार से दिक करता है, तब उसको चुप करने के लिए भूतप्रेतपिशाचादि के नाम का या चोर, डाकू, व्याघ्र, सिंह इत्यादि का डर दिखाना यह एक बहुत साधारण व्यवहार अत्यंत प्राचीन काल से अब तक दिखाई देता है। परंतु इस प्रकार न करना चाहिए—न ह्यस्य वित्रासनं साधु। तस्मात् तस्मिन् रुदत्यभुञ्जाने वाऽन्यत्र विधेयतामगच्छति राक्षसपिशाचपूतनाद्यानां नामान्याह्वयता कुमारस्य वित्रासनार्थं नामग्रहणं न कार्यं स्यात्। (चरक, शा० १०)। वित्रासभयात्, वातादिविघातभयात्—इनका मथितार्थ निम्न तत्त्व पर निर्भर है। मनुष्य और मनुष्येतर प्राणियों में एक बात को छोड़कर सभी बातों में समता होती है और वह बात है ज्ञान—आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्। ज्ञानं हि तेषामधिको विशेषो ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः॥ पशुओं में भी कुछ ज्ञान होता है और उसकी विशेषता यह है कि वह जन्म के समय में भी होता है और उतना ही मृत्यु तक रहता है। मनुष्य में जन्म के समय कुछ भी ज्ञान नहीं होता और मृत्यु के समय तक उसका ज्ञान बढ़ता जाता है। अर्थात् जन्म के समय मनुष्य और पशु की तुलना की जाय तो पशु कहीं दर्जे मनुष्य से अधिक ज्ञानी होता है परंतु उसके पश्चात् देखा जाय तो पशु पशु ही रहता है और मनुष्य मनुष्य हो जाता है। इसका कारण यह है कि पशुओं का ज्ञान सहज और मनुष्यों का विकासनशील होता है। इस ज्ञान का स्थान मस्तिष्क के सब से ऊपर के हिस्से (Cortex of the brain) में होता है। इस भाग में कई नालियाँ और कई उभार होते हैं, जिनमें ज्ञानप्राप्ति के अनेक केन्द्र और उन केन्द्रों को जोड़ने वाले तार होते हैं। शारीरिक दृष्टि से विचार किया जाय तो मनुष्येतर प्राणियों की अपेक्षा मनुष्यों में यही मस्तिष्क का भाग अधिक होता

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनुष्यों मनुष्यों में भी देखा जाय तो पागलों की
क्षा ज्ञानी मनुष्यों में यही भाग अधिक प्रगल्भ रहता
संपूर्ण शरीर के कार्यों का नियन्त्रण मस्तिष्क से होता
मस्तिष्कगत केन्द्रों और तत्संबंधित तारों के कार्यों का
कास बाह्य परिस्थिति, शिक्षा, संस्कार इत्यादि पर निर्भर
ता है। बचपन में अगर किसी बात के लिए डर पैदा
या जाय तो आगे चलकर उस बात का डर निकल जाने
भी उसमें डरपोकवृत्ति, चित्तवैक्लव्य उत्पन्न होता है।
प में/बचपन में बालक के साथ कोई ऐसा व्यवहार न
ना चाहिए, जिससे कि उसके कोमल अविकसित
स्तिष्क पर अचानक जोर से प्रतिक्रिया हो। मस्तिष्क के
र प्रतिक्रिया होने के साधन पंचज्ञानेन्द्रियाँ हैं । इनके
यों में अचानक तीव्र भेद उत्पन्न होने से बालक के
स्तिष्क के ऊपर बुरा असर होता है और वह स्थायी बन
ता है । इसलिए, बालक को अचानक जगाना, ऊपर
ना, नीचे गिराना, भास्वर रूपों को दिखाना, इत्यादि
न करने चाहिएँ। इनसे बालक के मस्तिष्क के विकास
कुछ खराबी हो जाती है । नोपवेशयेत् कौब्ज्यभयात्—
लक का पृष्ठवंश जब तक काफी मजबूत नहीं हुआ
तब तक उसको जबर्दस्ती बैठाना उचित नहीं है ।
वंश कमजोर होने पर बैठाने से वह वक्र हो जाता है ।
एक उपलक्षण समझकर चलाने के बारे में भी इस सूत्र
उपयोग कर सकते हैं । जैसे, जब तक बालक के
में शक्ति नहीं आती, तब तक उसको जबर्दस्ती पैरों
न चलाना चाहिए, वरना तलुवे सपाट (Flat foot)
ने का डर रहता है । अष्टांगसंग्रह में पाँचवें महीने में
लक को बैठाने के लिए लिखा है—पञ्चमे मासि पुण्येऽह्नि
ग्यामुपवेशयेत् । स्वाहेति मन्त्रेणानेन प्रत्यहं च ततः परम् ।
अयं सावलम्बं च कट्यादीन् मर्दयेदनु ॥ (उत्तर १) । बालक
बैठाने के नियम निम्न होते हैं । बालक को प्रतिदिन
ड़ी देर बैठाया जाय, रोगी बालक को न बैठाया जाय,
केला न बैठाया जाय, बैठाने का स्थान मृद्वास्तरणादि से
क हो, उसके आस-पास शस्त्रतोयाग्नि इत्यादि न हो
यादि । काश्यपसंहिता में इसका बहुत उत्तम वर्णन
या है । वहाँ पर पाँचवें के बदले छठे महीने में उपवेशन
धि करने के लिए लिखा है—षष्ठे मासि पुण्याहेऽभ्यर्च्य देवतां,
तांश्च भोजनेन संतर्प्य दक्षिणाभिः स्वस्ति वाच्य च, गृहमध्ये
स्तुमध्ये वा शुचौ देशे गोमयेनाद्भिश्च चतुर्हस्तमात्रं स्थण्डिल-
लिप्य मण्डलं चतुरस्रं वा······ततस्तं मण्डलमध्ये तथैव
तमलङ्कृतमहतवाससं कुमारं प्राङ्मुखमुपवेशयेन्मुहूर्तम् । सोपा-
स्तरणोपेतायां भूमौ प्रतिदिनमभ्यासार्थं सकृदुपविशेदिति । तत्र
काः—उपलिप्ते शुचौ देशे शस्त्रतोयाग्निवर्जिते । उपविष्टं सकृच्चैनं
चिरात्स्थापयेद् बुधैः । स्तैमित्यं कटिदौर्बल्यं पृष्ठभङ्गः श्रमो ज्वरः ।
मूत्रानिलसंरोधाध्मानं चात्युपवेशनात् । आसीनस्यातिबालस्य
तं भूमिसेवनात् । आसन्नान्येव दुःखानि निर्घातं गात्रभेदनम् ।
र्घातांज्जर्जराङ्गत्वं वेदना ज्वरसंभवः । ततो न वृद्धिर्बालस्य
रोगाङ्गत्वमेव च । तस्मान्नातिचिरं नैको न बालो न च रोगितः ।
वेश्यो भवेद्बालो नापुण्याहकृतादिकः ॥ (जातकर्मोत्तराध्याय)।

अजिघांसुः—स्वास्थ्यमजिघांसुः । बालक के स्वास्थ्य का नाश न करने की इच्छा रखने वाला। हिंसा या घात का संबंध बालक की मृत्यु के साथ नहीं है । यह आलंकारिक शब्द है। इसका अभिप्राय यह है कि जो उपर्युक्त सूचनाओं के अनुसार बालक के साथ बर्ताव नहीं करता, वह बालक के स्वास्थ्य का नाश करता है याने एक दृष्टि से वह बालक की हिंसा करने वाला होता है। जैसे कि—पृथक्शय्या च नारीणामशस्त्रवध उच्यते । 'अजिघांसुः' यह माता का, धात्री का या बालक के लिए रक्खे हुए नौकर का विशेषण है—अजिघांसुरिति अहन्तुमिच्छुः सन् बालग्राहक इति शेषः। (डल्हण) । इसी को कुमारधार कहते हैं—अभियुक्तः सदाचारो नातिस्थूलो न लोलुपः । कुमारधारः कर्तव्यस्तत्राद्यो बालचित्तवित् ॥ अधार्मिकं दुराचारः स्थूलो विकटगामिनम् । करोति लोलुपो बालं घस्मरत्वेन रोगिणम् ॥ (अष्टांगसंग्रह) । इसमें 'तत्राद्यो बालचित्तवित्' यह विशेषण बहुत महत्त्व का है। इसका अभिप्राय यह है कि/कुमारधार बालस्वभाव को जानने वाला हो और उसके साथ इस प्रकार का बरताव करे कि बालक के मन पर चोट न पहुँच जाय । साथ ही साथ उस बरताव से बालक को कोई बुरी आदत न लग जाय और कोई बुरी आदत (असात्म्य) हो तो धीरे धीरे छूट जाय । यही तत्त्व 'नित्यं चैनमनुवर्तेत प्रियशतैरजिघांसुः' इस सुश्रुत के वचन में और निम्न चरक के वचन में पर्याय से बताया गया है—अरोगे त्वरोगवृत्तमातिष्ठेद्देशकालात्मगुणविपर्ययेण वर्तमानः, क्रमेणासात्म्यानि परिवर्त्योपयुञ्जानः सर्वाण्यहितानि वर्जयेत् ॥ (चरक, शा० ८) । दुर्ग्रहोपसर्गतश्च—स्कन्दादि बालकों के जो नवग्रह होते हैं, उनके उपसर्ग से। स्कन्दग्रहस्तु प्रथमः स्कन्दापस्मार एव च । शकुनी रेवती चैव पूतना चान्धपूतना ॥ पूतना शीतनामा च तथैव मुखमण्डिका। नवमो नैगमेषश्च यः पितृग्रहसंज्ञितः ॥ (उत्तर ७)। इनका उपसर्ग होने के कारण—धात्रीमात्रोः प्राक्प्रदिष्टापचाराच्छौचभ्रष्टान् मङ्गलाचारहीनान् । त्रस्तान् हृष्टांस्तर्जितान् ताडितान् वा पूजाहेतोर्हि स्युरेते कुमारान् ॥ (उत्तर २७) । शूलिनेति नियुक्तास्ते बलिपूजाभिकांक्षिणः। क्रुद्धान् भीतान् विमनसः शून्यस्थानेकचारिणः ॥ बालान् कश्मलधात्रीकान् संध्यासु रुदितो शुचीन् । ऋक्षोलूकविडालादिरूपैरन्यैस्तथाद्भुतैः ॥ संत्रासयन्तः शयितान् कदाचिज्जाग्रतोऽपि वा । प्रायः पर्वसु गृह्णन्ति ग्रहाश्छिद्रप्रहारिणः ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर ३)। अर्थात् स्कन्दादि दुर्ग्रहोपसर्ग से बालक की रक्षा करने का मार्ग इन श्लोकों में वर्णन की हुई सूचनाओं के अनुसार बालक का पालन है। शून्यागार—इसका निषेध इसलिए किया गया है कि /शून्यस्थान में बालक को रखने से स्कन्दादि ग्रहों का उपसर्ग हो जाता है। नाशुचौ—बालक जहाँ पर रक्खा जाय या जहाँ पर खेले, वह भूमि कैसी होनी चाहिए; इसके संबंध में अष्टांगसंग्रह में लिखा है—क्रीडाभूमिः समा कार्या निरशस्त्रोपलशर्करा। वेल्लोषणकणाम्भोभिः सिक्ता निम्बोदकेन वा ॥ क्रीडाभूमि पर कंकड़, पत्थर इत्यादि पदार्थ होने पर उनसे बालक को चोट लग सकती है या बालक उठाके उनको मुख में डाल सकता है । इसलिए भूमि इनसे विरहित होनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए। धूलियुक्त भूमि होने से बालक का शरीर और कपड़े खराब हो जाया करते हैं तथा मिट्टी खाने का भी डर होता है। ओषधि-द्रव्यों के पानी से भूमि सिक्त करने पर ये दोष दूर हो जाते हैं। नाकाशे—ऊँचा स्थान अथवा जहाँ पर कुछ भी आधार न हो, ऐसा स्थान—सोपाश्रयास्तरणोपेतायां भूमौ उपविशेदिति। (काश्यपसंहिता)। सुश्रुत में जिनका उल्लेख नहीं है, उन बातों का अब विचार किया जाता है। क्रीडनक या बच्चों के खिलौने के संबंध में चरक में लिखा है—क्रीडनकानि खलु कुमारस्य विचित्राणि घोषवन्त्यभिरामाणि चागुरूणि चातीक्ष्णाग्राणि चानास्यप्रवेशीनि चाप्राणहराणि चावित्रासनानि स्युः। (शारीर ८)। अतीक्ष्णाग्रं गवाश्वादिमङ्गल्यमथवा फलम्। (अष्टांगसंग्रह, उत्तर १)। अष्टांगसंग्रह में बालक के पालन में निम्न श्लोकार्ध मिलता है—वस्त्रपातात परस्पर्शात् पालयेल्लंघनाच्च तम्। वस्त्रपातात् मुखादिषु वस्त्रपतनम्। (इन्दु)। अनेक लोगों को सोते समय मुख पर वस्त्र ओढ़कर सोने की आदत होती है। यह आदत बहुत खराब है क्योंकि इससे श्वास-प्रश्वास के लिए स्वच्छ हवा नहीं मिल सकती। बड़े आदमी में इस आदत से अधिक नुकसान होने का डर नहीं रहता क्योंकि दम घुटते ही नींद में भी वह मुख के ऊपर के कपड़े को दूर कर सकता है। बच्चों में मुख पर वस्त्र गिरने पर दम घुटके मरने का डर रहता है क्योंकि वे स्वयं वस्त्र को दूर करने में असमर्थ होते हैं। इसलिए जाग्रतावस्था में बालक के मुख पर वस्त्र गिर जाय तो उसको झट से दूर करना चाहिए तथा निद्रितावस्था में उसके मुख पर वस्त्र कदापि भी न डालना चाहिए। जाग्रतावस्था की अपेक्षा निद्रितावस्था में मुखाच्छादन में अधिक खतरा होता है क्योंकि बालक के निद्रित होने के कारण बहुत देर तक उसके तरफ कोई नहीं देखता और निद्रितावस्था में बालक निश्चल होने के कारण श्वासावरोध होने की संभावना होती है। इसका विशेष निर्देश करने का कारण यह है कि मच्छरों या मक्खियों से बचाने के लिए कई माताएँ बालक निद्रित होने पर उसको पूर्णतया वस्त्र से आच्छादित करती हैं। मच्छरादि से बचाने का उत्तम मार्ग मशहरी है, बालक को पूर्णतया वस्त्र से आच्छादन करना नहीं है। परस्पर्शात्—पर से उन लोगों का बोध होता है, जो बालक के स्वास्थ्य के नाशक होते हैं याने जिघांसुः। इसमें बालकद्वेषी और नौकरों का समावेश कर सकते हैं। बालकद्वेषी लोगों के स्पर्श से नजर लगने का डर रहता है। नजर लगने की घटना पर किसी का विश्वास हो या न हो, यह घटना होती है; इसमें संदेह नहीं। जिनका विश्वास नहीं, वे दूसरी तरह से उस घटना का अर्थ करने की कोशिश करते हैं। बालक का नौकर या धात्री किस प्रकार के होने चाहिएँ, इसका विवरण पीछे बहुत कुछ हो चुका है। इस प्रकार के स्वच्छ और उत्तम आचार के अन्य नौकर नहीं हो सकते। इनके स्पर्श से बालकों में खुजली, छाजन इत्यादि अनेक त्वचा के रोग, आँखों के रोग, जूएँ, लीखें, कृमि इत्यादि उपद्रव हो जाते हैं। इसलिए किसी अज्ञात मनुष्य के पास बालक को न देना चाहिए। लंघितात्—लंघन से यहाँ अपतर्पण या हीन मात्रा भोजन अभिप्रेत है। बालक में क्षतिपूर्ति के अलावा धातुवृद्धि बहुत होती है। इसलिए उसको सन्तर्पण या बृंहण करना चाहिए—बृंहयेत् सूतिकाबालवृद्धान्। (अष्टांगसंग्रह, सूत्र २४)। अर्थात् बालक बृंह्य होता है। स्वस्थावस्था में उसको पर्याप्त मात्रा में पौष्टिकान्न देना चाहिए। जब बालक रोगपीडित हो जाता है, तब अपतर्पण या लंघन की आवश्यकता होती है। उस समय लंघन कराने में कोई आपत्ति नहीं (पीछे ४४वें प्रथम श्लोकार्ध का वक्तव्य देखो) है, परंतु उसकी उपयोगिता देखकर लंघन करना चाहिए—बृंह्यांस्तु मृदु लंघयेत्। युक्त्या वा देशकालादिबलतस्तानुपाचरेत्॥ (अष्टांगसंग्रह, सूत्र २४)।

क्षीरसात्म्यतया क्षीरमाजं गव्यमथापि वा।
दद्यादास्तन्यपर्याप्तेर्बालानां वीक्ष्य मात्रया ॥५१॥

(स्तन्याभावे देने योग्य दूध—) (माता का या धात्री का स्तन्य न मिलने पर बालकों को) स्तन्य सात्म्य होने के कारण बकरी का अथवा गौ का दूध स्तन्यपर्याप्ति तक मात्रा के अनुसार देवे ॥५१॥

वक्तव्य—इस श्लोक में माता का या धात्री का दूध न मिलने पर किसका दूध बालक को देना चाहिए, इसका निर्देश किया है। वाग्भटाचार्य के इस विषय के संबंध में निम्न श्लोक लिखते हैं—स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं पिबेत्। (उत्तर १)। यह श्लोकार्ध सुश्रुत श्लोक के उत्तरार्ध के साथ थोड़ा सा फर्क करके निम्नलिखित प्रकार से मिलाया जाय तो कृत्रिम दुग्धपान (Artificial feeding) के तत्त्व संक्षेप में वर्णन करने वाला एक सुंदर श्लोक बनता है—स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं कृतम्। दद्यादास्तन्यपर्याप्तेर्बालानां वीक्ष्य मात्रया॥ क्षीरसात्म्यतया—क्षीरसात्म्य के दो कारण बताये जाते हैं—(१) मधुरं पिच्छिलं शीतं स्निग्धं श्लक्ष्णं सरं मृदु। सर्वप्राणभृतां तस्मात् सात्म्यं क्षीरमिहोच्यते॥ (सूत्र ४५)। (२) तत्रैकान्तहितानि जातिसात्म्यात् सलिलघृतदुग्धौदनप्रभृतीनि। (सूत्र २०)। जातिसात्म्यादिति मनुष्यजातिसात्म्यात्। आत्मना देहेन स्थितं द्रव्यमविकारि सात्म्यम्। (चक्रपाणिदत्त)। जातिसात्म्य को सहज सात्म्य कह सकते हैं। इन कारणों का जरा विस्तार से विवरण किया जाता है। प्राणियों में स्तनयुक्त प्राणियों का (Mammals) एक बड़ा भारी विभाग है। इस विभाग के प्राणियों का पोषण बचपन में स्तन्य याने दूध से होता है। मनुष्यजाति सस्तन प्राणिवर्ग में से है, इसलिए दूध मनुष्यों के लिए जातिसात्म्य है याने जन्म से ही हितकर होता है। सात्म्य वस्तु वह हो सकती है, जिसका संगठन शरीर के संगठन के साथ मिलता है। दूध एक ऐसा पदार्थ है कि जिसका संगठन शरीरसंगठन के साथ पूर्णतया मिल जाता है (सूत्रस्थान ४५ के ४९वें सूत्र का वक्तव्य तथा ४६ के ५२४वें श्लोक का वक्तव्य देखो), इसलिए दूध सात्म्य है। परन्तु केवल संगठन से सात्म्यता का विचार पूरा नहीं हो सकता, उस वस्तु की भौतिक स्थिति का और पचनीयता का भी सवाल आता है। जैसे, लड्डू और रोटी जवानी में

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

त्म्य होने पर बालक के लिए सात्म्य नहीं हो सकते सूत्रस्थान ४६ के ४९४वें श्लोक का वक्तव्य देखो), क्योंकि का रासायनिक संगठन ठीक होने पर भी बालक न इनको न कर सकता है, न हजम कर सकता है। दूध पानी समान पतला होने के कारण प्रथम दिन का बालक तक को सेवन कर सकता है तथा तद्गत प्रोटीनादि अवयव कदर सूक्ष्म कणों के रूप में उसमें मिले हुए होते हैं कि के पाचन में बालक के पचनसंस्थान को किसी प्रकार की कलीफ नहीं होती है। इसलिए दूध सब दृष्टि से विचार ने पर भी सात्म्य होता है। आजं गव्यमथापि वा—आयुर्वेद अष्टविध दूध० (सूत्र ४५ का ४७वाँ श्लोक देखो) पीने के क के लिए योग्य बताया गया है। आधुनिक काल में री के दूध का समावेश इसी में कर सकते हैं। इस तरह विध दूध हो जाता है। भारतवर्ष में प्राचीन काल में ा गुण ग्रहण के लिए योग्य—अविश्रान्तं वहेद्भारं शीतोष्णं च विन्दति। ससन्तोषस्तथा नित्यं त्रीणि शिक्षेत गर्दभात्॥ चाणक्य)—मानने पर भी मंदबुद्धि और अपवित्रता के ण दुग्धग्रहण के लिए योग्य नहीं माना गया था। अत के दूध में गधी के दूध का समावेश नहीं माना गया प्रलेपादि में इसका उपयोग किया जाता है (सूत्रस्थान ४५वें अध्याय के ४७वें श्लोक के वक्तव्य में डल्हण का न देखो)। इसमें संदेह नहीं कि गधी के दूध का गठन स्त्री के दूध के साथ औरों की अपेक्षा अधिक लता है (सूत्र ४५ के ४९वें श्लोक का वक्तव्य देखो)। विध दुग्धों में गौ, भैंस और बकरी का दूध सब को ल सकता है। इनमें भैंस का दूध अत्यन्त गरिष्ठ ने के कारण बालक के लिए अयोग्य है। इसलिए का और बकरी का ही दूध देने योग्य रह गया। स्तन्यपर्याप्तिः—यावत् स्तन्यस्य पुनः पर्याप्तिः परि समन्ततो येन प्राप्तिर्भवति, अथवा यावत् स्तन्यपानस्य योग्यता तावदित्यर्थः। डल्हण)। स्तन्याभाव के मुख्य दो कारण होते हैं—त्य और नैमित्तिक। नित्य में माता की मृत्यु प्रधान है। के सिवा काम्य और निषिद्ध भी दो नित्य के प्रकार ते हैं। जब माता स्वस्थ होने पर भी बालक को पिलाना हीं चाहती, तब वह काम्य परंतु नित्य स्तन्याभाव हो जाता। जब माता राजयक्ष्मा, कुष्ठ, फिरंग इत्यादि शरीरक्षयकर गों से पीडित होती है, तब स्तन्यपान का निषेध ता है। इसको निषिद्ध और नित्य स्तन्याभाव कह सकते। जब माता बालक को पिलाती है, परंतु बीच में लंघन, पवास, ज्वर या अन्य विकारों से पीडित होने के कारण हीं पिला सकती, तब उस स्तन्याभाव को नैमित्तिक कहते। डल्हणवचन के प्रथमार्ध में इस नैमित्तिक स्तन्याभाव ी दृष्टि से अर्थ किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि ब किसी निमित्त से माता का स्तन्य बंद हो जाय, तब उस मय बच्चे को गौ या बकरी का दूध पिलावे और जब न्य पूर्ववत् आने लगे, तब बाहर का दूध देना बंद किया ाय। अभाव में अल्पता (Deficiency) का भी समावेश ता है। अगर माता का दूध पर्याप्त न हो तो कमी की पूर्ति गौ या बकरी के दूध से (Mixed breast and bottle feeding) की जाय। इस बीच में दूध बढ़ाने की कोशिश करने पर अगर दूध बढ़ जाय तो गौ का दूध बंद कर सकते हैं। अगर दूध न बढ़ा तो यही मिश्र दुग्धपान की परम्परा स्तन्यत्यागकाल (Weaning) तक जारी रक्खी जाय। यावत् स्तन्यपानस्य योग्यता यावत् स्तन्यपानस्योपयोगिता, आवश्यकता वा। माता बालक को कब तक स्तन्यपान करावे, यह एक बड़ा महत्त्व का प्रश्न है। इस प्रश्न का विचार माता और बालक दोनों की ओर से करना चाहिए। अगर दोनों स्वस्थ हों तो इस प्रश्न का विचार निम्न प्रकार से करना चाहिए। दूध जिन्दगी भर का आहार नहीं है। बाल्यावस्था में एक काल तक वह पूर्णाहार होता है। उसके पश्चात् कुछ काल तक वह आंशिकाहार होता है और उसके पश्चात् वह गौणाहार होता है। बाल्यावस्था में अन्न सेवन न करने का कारण पचनसंस्थान का अन्न सेवन और पचन करने का असामर्थ्य है। यह असामर्थ्य अधिकतर दाँतों के न होने से होता है। जब दाँत आने लगते हैं, तब धीरे धीरे बालक को अन्न का कुछ अंश दिया जाता है और दूध की राशि कम की जाती है—अथैनं जातदशनं क्रमशोपनयेत् स्तनात्। पूर्वोक्तं योजयेत् क्षीरमन्नं च लघु बृंहणम्। भजेद्यथा यथा चान्नं स्तन्यं त्याज्यं तथा तथा॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर १)। इसका साधारण काल नौ महीने का होता है। स्तन्य के द्वारा बालक माता के शरीर का शोषण करता है। जब तक माता स्वस्थ होती है, तब तक बृंहण आहार-विहार से इस शोषण की पूर्ति की जाती है, परंतु जब माता अस्वस्थ हो जाती है, तब वह पर्याप्त मात्रा में आहार सेवन नहीं कर सकती तथा स्तन्यशोषण के कारण उसका अस्वास्थ्य और भी खराब हो जाता है। इसलिए यदि माता का स्वास्थ्य ठीक न हो तो कुछ पहले स्तनपान बंद करना उचित है। इसका औसतकाल छः महीने का समझ सकते हैं। जब बालक अस्वस्थ रहता है, तब उसके लिए बाहरी दूध की अपेक्षा माता का दूध अधिक हितकर होता है। इसलिए बालक के स्वास्थ्य की दृष्टि से कुछ पीछे स्तनत्याग करना उचित है। इसका औसतकाल एक साल का होता है। संक्षेप में बालक की आयु नौ महीने की होने पर उसको स्तनपान से दूर करना चाहिए। अगर इसके पहले से माता का स्वास्थ्य ठीक न हो तो बालक नौ महीने का होने से पूर्व उसको दूर करना उचित है। अगर स्तनत्याग करने के समय बालक का स्वास्थ्य खराब हो जाय तो उस समय स्तनत्याग न करके उसका स्वास्थ्य अच्छा होने के बाद स्तनत्याग करना चाहिए। एक बरस की उम्र के पश्चात् स्तनपान जारी रखना किसी हालत में ठीक नहीं है क्योंकि उस आयु में बालक को कुछ अक्ल आने लगती है, जिसके कारण स्तनपान उसके लिए क्षुधानिवारण का उपाय न रहकर एक व्यसन बन जाता है और उसके बाद उसको स्तनपान से निवृत्त करने में कठिनाई होती है। आयुर्वेद में स्तनत्याग का जो काल दिया है, वैसा ही काल पाश्चात्य बालचिकित्सक बताते हैं—A child should be weaned

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

at nine months. Weaning should be gradual. *Ten Teacher's Midwifery.* Wean at a year old, or as soon as a child has teeth enough to make a good beginning at mastication. *Esoteric Anthropology.* इस विषय का कुछ अधिक विवरण आगे के सूत्र के वक्तव्य में किया गया है । मात्रा—जब तक बालक माता का या धात्री का दूध पीता है, तब तक मात्रा का उतना सवाल नहीं उठता, परंतु जब गौ का दूध दिया जाता है, तब मात्रा का अधिक ख्याल रखना पड़ता है । मात्रा का विचार दो प्रकार से करना पड़ता है—प्रत्येक समय की मात्रा और दिन-रात की मात्रा । प्रत्येक समय की मात्रा जठर की समाई के बराबर या उससे कुछ कम होनी चाहिए । बालक के जठर की समाई प्रथम दिन एक औंस (ढाई तोला), दो सप्ताह पर दो औंस, एक महीने पर ढाई औंस, तीन महीने पर साढ़े चार औंस, चौथे महीने पर पाँच औंस, पाँचवें महीने पर साढ़े पाँच औंस, छठे महीने पर छः औंस, सातवें महीने पर साढे छः औंस, आठवें महीने पर सात औंस, नौवें महीने पर साढ़े सात औंस, दसवें महीने पर आठ औंस, ग्यारहवें महीने पर साढ़े आठ औंस, और बारहवें महीने पर नौ औंस होती है । अर्थात् प्रत्येक समय आयु के अनुसार इतना दूध बालक को पिलाया जा सकता है । इससे अधिक कदापि भी न पिलाना चाहिए । दिन रात पिलाने का साधारण नियम यह है कि प्रथम महीने में प्रत्येक दो दो घंटे के बाद और कुल पान दस, दूसरे और तीसरे महीने में ढाई ढाई घंटे के बाद और कुल पान (Feeds) आठ, चौथे और पाँचवें महीने में प्रत्येक तीन तीन घंटे के बाद और कुल पान सात, छठे और सातवें महीने में प्रत्येक साढ़े तीन घंटे के बाद और कुल पान छः, और इसके बाद प्रत्येक चौथे घंटे के बाद और कुल पान पाँच दिये जायँ । यह साधारण नियम बताया गया है। बालक की पचनशक्ति, शक्ति और उपचय देखकर इसमें न्यूनाधिकता करनी चाहिए ।

स्तन्य के अभाव में किसका दूध दिया जाय ?—यहाँ पर गौ का या बकरी का दूध देने के लिए कहा है । आयुर्वेद में गौ का दूध सर्वश्रेष्ठ माना गया है—गोक्षीरं क्षीराणां श्रेष्ठतमम् । (चरक, सूत्र २५) । गव्यं क्षीरं घृतं श्रेष्ठम् । (सुश्रुत, सूत्र ४९) । गव्ये क्षीरघृते श्रेष्ठे । (अष्टांगहृदय, अष्टांगसंग्रह) । इसलिए यद्यपि वाग्भट तथा सुश्रुत में गौ के दूध के पहले बकरी के दूध का उल्लेख आया है तथापि वह प्राधान्य ख्यापनार्थ न होकर छन्दोऽनुरोधार्थ है । स्तन्याभाव में प्रथम गौ का ही दूध देना चाहिए । अगर गौ का दूध न मिल सके या दरिद्रता के कारण उसको प्राप्त न कर सके तो बकरी का दूध प्रयोग में ला सकते हैं । इसके अलावा जब बालक की पचनशक्ति क्षीण होती है तथा अतीसार प्रवाहिकादि उपद्रव होते हैं, तब गौ के दूध की अपेक्षा बकरी का दूध फायदेमन्द होता है । ऐसी कोई कठिनाई या आवश्यकता न हो तो हमेशा गौ का ही दूध बालक को देना चाहिए । पाश्चात्य देशों में भी बालक के लिए गौ के दूध का ही उपयोग किया जाता है ।

दूध किस प्रकार से दिया जाय ?—माता के दूध का मुकाबला अन्य किसी दूध से नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वभाव से बालक के लिए ही उत्पन्न किया गया है तथा बालक की आवश्यकताओं के अनुसार उसमें दिन प्रतिदिन और मासानुमासिक फर्क होता जाता है । यह कथन प्रत्येक जाति के सस्तन प्राणी के लिए लागू है । इसलिए एक जाति के सस्तन प्राणी का दूध दूसरी जाति के सस्तन प्राणी के लिए पूर्णतया मुआफिक नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक प्राणी की आवश्यकताएँ भिन्न भिन्न होती हैं । तथापि सब जातियों के प्राणियों का दूध बच्चों के पोषण के लिए ही उत्पन्न किया गया है, यह बात सब जातियों के दूधों की सामान्यता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है और इसी सामान्यता के आधार पर मातृस्तन्याभावे दूसरी जाति के प्राणी का दूध उपयोग में लाया जाता है । गौ का दूध तमाम संसार भर में बालक के लिए प्रयुक्त होता है । भारतवर्ष में तो गौ माता ही मानी जाती है । अब सवाल यह है कि गौ का दूध बालक को किस तरह से दिया जाय ? इसका उत्तर वाग्भटाचार्य देते हैं—तद्गुणं पिबेत् । तद्गुणम्—प्राचीन और अर्वाचीन काल के अनुसार इसके भिन्न भिन्न अर्थ कर सकते हैं—(१) प्राचीन काल के अनुसार वाग्भटाचार्य के श्लोकार्ध का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से कर सकते हैं—मातृस्तन्याभावे गव्यमाजं वा दुग्धं तद्गुणं (मातृस्तन्यगुणं) भवत्यतस्तं पिबेत् । माता का दूध न मिलने पर उसके दूध के समान गुण का गौ का या बकरी का दूध सेवन किया जाय । अर्थात् प्राचीन कल्पना के अनुसार गौ का दूध गुण की दृष्टि से माता के दूध के समान होता है । बच्चे के देते समय उसमें कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं होती (Whole milk undiluted and unaltered) यही इसका मतलब आधुनिक कल्पना के अनुसार निकलता है । वाग्भटाचार्य इस दूध में बृहत्यादि ओषधियों का उपयोग करने के लिए कहते हैं—स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं पिबेत् । मूलैः सिद्धं बृहत्याद्यैः स्थिराभ्यां वा सितायुतम् ॥ (उत्तर १) । तद्गुण का अर्थ टीकाकार निम्न प्रकार से करते हैं—स्त्रीस्तन्याभावे तद्गुणमिति पूर्वोक्तस्य स्त्रीस्तन्यस्य सर्वैराकारादिभिर्गुणैः सदृशम् । (इन्दु) । स्तन्यस्याभावे सति छागं पयो गव्यं वा छागतुल्यगुणं पिबेत् । छागसमानगुणं गव्यं कथं स्यात्तथाह । हस्वेनेत्यादि । (अरुणदत्त) । इसमें अरुणदत्त का अर्थ बिलकुल गलत है, उसका विचार करने का कारण नहीं है । इन्दु के कहने का तात्पर्य यह है कि माता के उत्तम दूध के जो लक्षण पीछे ३३वें सूत्र में वर्णन किये गये हैं उन लक्षणों से युक्त याने अदूषित दूध । इस प्रकार का अर्थ ऊपर जो अर्थ दिया है उससे विरोधी नहीं है । (२) अर्वाचीन कल्पना के अनुसार उक्त श्लोकार्ध का स्पष्टीकरण निम्न प्रकार से कर सकते हैं—मातृस्तन्याभावे गव्यमाजं वा दुग्धं तद्गुणं कृत्वा पिबेत् । आधुनिक काल में रसायनशास्त्र की उन्नति होने पर भिन्न भिन्न प्राणियों के दूधों का भी पृथक्करण होने लगा । इससे मालूम हुआ कि यद्यपि दूध का सामान्य संगठन एक

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ता है तथापि उसके अवयवों की मात्रा प्रत्येक प्राणी के में भिन्न भिन्न (क्षीरवर्ग में संगठन की तालिका देखो) करती है और यह अवयवमात्राभिन्नता प्रत्येक जाति प्राणी की आवश्यकताएँ विभिन्न होने के कारण रक्खी है। अगर एक जाति के प्राणी का दूध दूसरी जाति के क के लिए उपयोग में लाना हो तो इस भिन्नता को करना चाहिए, यही इससे अर्थ निकलता है। इसलिए प्राणियों का दूध बालक को देते समय उसमें इस परिवर्तन किये जाते हैं कि उसके अवयवों की मात्रा दूध के समान हो जाय। प्रस्तुत गौ के दूध का ही चार करना है। इसलिए यहाँ पर स्त्री के और गौ के दूध भेद प्रथम वर्णन किये जाते हैं।

गौ के और माता के दूध में भेद—(१) माता का दूध क को शरीरतापक्रम (Body temparature) पर ता है, जिसके कारण उनको गरम करने में ठंडा करने में बालक की शक्ति खर्च नहीं होती। का या अन्य प्राणी का दूध इस प्रकार नहीं ता। (२) माता का दूध, बाह्य जगत् का संबंध होकर, सीधा बालक के शरीर में चला जाता है। का दूध हवा, पात्र, हाथ इत्यादि से बहुत देर तक षित रहता है। इसलिए माता का दूध अदूषित स्थिति बालक को मिलता है; गौ का इस प्रकार नहीं मिल ता। यही कारण है कि माता का दूध जीवाणुरहित और का दूध जीवाणुयुक्त रहता है। (३) माता के शरीर में क रोगों के लिए जो क्षमता होती है, उसका भी कुछ स्तन्य के द्वारा बालक को मिलता है। गौ के दूध से प्रकार का लाभ नहीं होता। (४) माता का दूध क के शरीर में स्वाभाविक स्थिति में जाता है। उसमें कृत्रिम परिवर्तन नहीं होता। इसलिए उसकी ष्टिकता अप्रतिहत रहती है। गौ का दूध स्वाभाविक ति में नहीं मिलता। इसलिए उसकी पौष्टिकता कुछ या होती है। (५) माता के दूध की अपेक्षा गौ के दूध कुल प्रोटीनों की राशि दुगुनी होती है। इसके सिवा ता के दूध में ल्याक्टाल्बूमिन की राशि गौ के दूध की क्षा दुगुनी होती है और क्यासिनोजन की राशि केवल होती है। प्रोटीनों के प्रकारों की राशि का यह भेद न की दृष्टि से विशेष महत्त्व का है। क्यासिनोजन पचने कठिन होता है और वही गौ के दूध में अधिक रहता और ल्याक्टाल्ब्यूमिन पचन में हलका रहता है और कम रहता है। (६) दुग्धशर्करा की राशि माता के में गौ के दूध की अपेक्षा दुगुनी के करीब होती है। लिए माता का दूध गौ के दूध की अपेक्षा अधिक मीठा ता है और बालक भी उसको गौ के दूध की अपेक्षा अधिक द करता है। (७) माता के दूध की प्रतिक्रिया क्षारीय गौ के दूध की अम्ल होती है। (८) स्नेह की राशि पि दोनों में एक-सी होती है तथापि माता के दूध स्नेह गौ के दूध के स्नेह की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म कणों के में दूध में फैला रहता है। इस कारण माता के दूध का स्नेह गौ के दूध के स्नेह की अपेक्षा सुपाच्य और सुशोष्य रहता है। (९) माता के दूध में खनिज द्रव्य की राशि गौ के दूध की अपेक्षा कम रहती है। आधुनिक खोज से सिद्ध हुए माता और गौ के दूध के ये भेद देखकर 'मातुरेव पिबेत् स्तन्यं तत्परं देहवृद्धये' (अष्टांगहृदय, उत्तर १) इस वाग्भटाचार्य के वचन की यथार्थता और अपने ही दूध से बालक के पोषण की माता की कर्तव्यता स्पष्ट हो जाती है। परंतु जब विवश होकर गौ का दूध देना पड़ता है, तब उपर्युक्त भेद रूप दोषों को जहाँ तक हो सके दूर करके देने की कोशिश करनी चाहिए। गौ के दूध में कुछ दोष ऐसे होते हैं कि जो मुश्किल से दूर किये जा सकते हैं—जैसे, प्रथम चार भेद। कुछ ऐसे होते हैं कि जो अधिकांश दूर किये जा सकते हैं—जैसे, प्रोटीनादि की राशि। कृत्रिम दूध में गौ के दूध के ये दोष हटाकर उसको माता के दूध के समान (तद्गुण) करने की कोशिश की जाती है।

तद्गुण करने की विधियाँ—(१) जलमिश्रण (Dilution)—गौ के दूध में प्रोटीनों की राशि दुगुनी होती है। उसको बराबर करने के लिए दूध के साथ उतना ही उबाला हुआ जल मिलाया जाता है। इससे प्रोटीनों की राशि स्तन्य के समान होती है, परंतु स्नेह और शर्करा भी कम हो जाती है। इसके लिए दूध में मलाई और चीनी मिलाई जाती है। शर्करा के लिए दुग्धशर्करा हो तो उत्तम है; न हो तो मामूली चीनी ३ औंस दूध के लिए एक चाय का चमच भर मिलाई जाती है। मलाई भी इसी प्रमाण में मिलाई जाती है। कुछ लोग दूध में मलाई मिलाने की अपेक्षा दूध पिलाने के बाद मछली का तेल आधी मात्रा में देना पसंद करते हैं। (२) गौ का दूध आमाशय में मा के दूध की अपेक्षा अधिक कठिन रूप में जम जाता है। इसको दूर करने के लिए दूध के साथ सोडियम सैट्रेट (Sodium citrate) एक औंस के पीछे एक ग्रेन के प्रमाण में मिलाया जाता है। इसके अलावा चूने का पानी, जौ का यूष, चावल का पानी इत्यादि अन्य द्रव्य भी मिलाये जाते हैं, परंतु सब से उत्तम सोडियम सैट्रेट है। (३) माता के दूध में जीवाणु नहीं होते, गौ के दूध में बहुत होते हैं। उनका नाश करना आवश्यक होता है। यह कार्य दूध उबालने से होता है। अधिक देर तक उबालना ठीक नहीं है। एक उबाल देकर दूध को उतारना चाहिए। अधिक देर तक दूध उबालने से उसकी पौष्टिकता कम होकर गरिष्ठता बढ़ती है। घरेलू कामों के लिए यह विधि उत्तम है। इसके अलावा भाप के द्वारा जीवाणुनाशन, पाश्चरायझेशन (Pasteurigation १६०° फै० पर २० तक गरम करना) इनका भी उपयोग किया जाता है। इनमें उबालने की विधि सरल और अधिक विश्वसनीय है।

क्या गौ का दूध तद्गुण करना आवश्यक है ?—कितनी भी कोशिशें क्यों न की जायँ, गौ का दूध माता के दूध के समान कदापि नहीं हो सकता। परंतु उपर्युक्त विधियों का उपयोग करने से वह कुछ कुछ माता के दूध के समान हो जाता है। अब सवाल यह उठता है

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि क्या इस प्रकार की कोशिश करना आवश्यक है ? तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर इसका उत्तर पक्ष में ही देना पड़ता है । इसलिए कुछ लोग इस प्रकार का कृत्रिम दूध देना पसंद करते हैं । कुछ लोगों का यह मत है कि इस प्रकार का फेरफार करने की कोई आवश्यकता नहीं है । आखिर में गौ का भी दूध है और वैसा (Whole milk) ही दूध देने में कोई आपत्ति नहीं होती, बल्कि फायदा यह होता है कि बच्चे को दस्त खुलकर आता है । फेरफार किये हुए दूध से मलावरोध की शिकायत प्रायः होती है । गौ के दूध का यह दस्तावर गुण चरक, सुश्रुत, वाग्भट इन ग्रंथों में नहीं मिलता, परंतु काश्यपसंहिता में विशेष रूप से मिलता है—औषधाग्रातिभक्षत्वाद्विरेचयति तत् पयः । एतस्मात् कारणादुक्तं गवां क्षीरं रसायनम् । एष वैशेषिकगुणो गोक्षीरस्य प्रकीर्तितः ॥ (क्षीरगुणविशेषाध्याय) । परंतु इसमें दूध की निर्दोषता पर ध्यान देना चाहिए । निर्दोषता की दृष्टि से यदि हो सके तो बालक को धारोष्ण दूध देना ही उचित है । धारोष्ण दूध कैसे लेना चाहिए, इसका विचार सूत्रस्थान के ४५वें अध्याय के ६३वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है । धारोष्ण न मिल सके तो दूध को एक उबाल देकर लेना चाहिए ।

संक्षेप में स्तन्याभाव होने पर गौ का धारोष्ण दूध यदि मिल सके तो देना उत्तम पक्ष है । यदि धारोष्ण दूध न मिल सके तो दूध को उबालकर देना उचित है । यदि संपूर्ण दूध मुवाफिक न हो तो तिहाई पानी और थोड़ी चीनी मिलाकर दे सकते हैं । विशेष करके जलमिश्र दूध प्रारंभिक तीन चार महीनों में देना ठीक है । उसके बाद संपूर्ण दूध दे सकते हैं । आयुर्वेद में संपूर्ण दूध देने का ही रिवाज है । केवल लघुपंचमूल या शालिपर्णी पृश्निपर्णी के साथ वह उबाला जाता है और उसमें थोड़ी चीनी भी मिलाई जाती है—स्तन्याभावे पयश्छागं गव्यं वा तद्गुणं पिबेत् । ह्रस्वेन पंचमूलेन स्थिरया वा सितायुतम् ॥ (अष्टांगहृदय) । आज कल बच्चों को दूध पिलाने के लिए बोतल और चूसनी (Teats) का उपयोग किया जाता है । इससे दूध पिलाने में कुछ सुविधा जरूर है, परंतु यदि उनकी सफाई की ओर ध्यान न दिया जाय तो इनसे बालक को अधिक नुकसान होने का डर रहता है । अतः दूध पिलाने के बाद गरम पानी से इनको साफ करके रखना चाहिए । अन्यथा बोतलें दूषित होकर विविध रोग उत्पन्न हो सकते हैं—उपायं चिन्तयन् प्राज्ञो ह्यपायमपि चिन्तयेत् ।

षण्मासं चैनमन्नं प्राशयेल्लघु हितं च ॥५२॥

(अन्नप्राशनविधि—) छठे महीने में उसको हलका और हितकर अन्नप्राशन करावे ॥५२॥

वक्तव्य—पीछे १५वें सूत्र के वक्तव्य में यह बताया जा चुका है कि प्रसूतावस्था की अवधि तीन महीने की होती है और इस अवस्था की समाप्ति माता और बालक के देवदर्शन से की जाती है—चतुर्थे सूतिकागारादग्निस्कन्दपुरोगमान् । मासे निष्क्रामयेद् देवान् नमस्कर्तुं स्वलङ्कृतम् ॥ (अष्टांगसंग्रह, उत्तर० १) । अष्टांगसंग्रह में यह श्लोक स्तन्याभाव के पश्चात् आता है । चतुर्थे मासि कर्तव्यं शिशोर्निष्क्रमणं गृहात् । षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि, यद्वेष्टं मङ्गले कुले ॥ (मनुस्मृति, २–३४) । गृह्यसूत्रों में षष्ठ मास में अन्नप्राशन की विधि वर्णन की है—षष्ठे मास्यन्नप्राशनम् । दधिमधुघृतमन्नं प्राशयेत् । अन्नप्राशन का मन्त्र—अन्नपतेऽन्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः । प्र प्रदातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे ॥

षष्ठ मास में अन्नप्राशन की विधि का अर्थ यह नहीं है कि उस दिन से बालक को भरपेट अन्न दिया जाय । अन्न से यहाँ पर भक्ष्य और भोज्य पदार्थ समझने चाहिएँ । हिंदूधर्मशास्त्र में जो विविध संस्कार हैं, वे एक व्यक्ति के जीवन में जो विशेष कार्य होते हैं उनके लिए बनाये गये हैं । जैसे, घर के बाहर जाने का प्रारंभ गृहनिष्क्रमणविधि से, अन्नप्राशन का प्रारंभ अन्नप्राशनविधि से, हजामत करने का प्रारंभ चौलकर्मविधि से, विद्याभ्यास का उपनयनविधि से, स्त्री और पुरुष का पति-पत्नी के नाते रहने का विवाहविधि से, स्त्री-पुरुषसमागम का गर्भाधानविधि से इत्यादि । इन संस्कारों का अर्थ यह है कि विशिष्ट संस्कार के पहले विशिष्ट कार्य न किया जाय, वह विशिष्ट कार्य शुभ मुहूर्त पर मन्त्रों के द्वारा किया जाय और उसके पश्चात् आवश्यकता और शक्ति के अनुसार वह कार्य करने के लिए उस व्यक्ति के लिए स्वातन्त्र्य रहे । जैसे, उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक को श्रीगणेश से प्रारंभ करके धीरे धीरे उसकी शक्ति बढ़ने पर तमाम शास्त्र पढ़ाये जाते हैं, वैसे ही अन्नप्राशनविधि के पश्चात् उसकी शक्ति बढ़ने पर धीरे धीरे उसको तमाम भक्ष्य भोज्य पदार्थ खिलाये जाते हैं । विद्याभ्यास में शक्ति से मस्तिष्क की शक्ति और अन्नप्राशन में शक्ति से पचनसंस्थान की शक्ति अभिप्रेत है । इसलिए अष्टांगसंग्रह में लिखा है—षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि क्रमात्तच्च प्रयोजयेत् । पचनसंस्थान की शक्ति पाचक रसों पर और दाँतों पर निर्भर होती है । अन्न के लिए दाँतों की आवश्यकता होती है । जब तक दाँत नहीं होते, तब तक अन्न देना हानिकारक होता है क्योंकि बालक बिना चबाये अन्न को निगल लेता है । अन्नसेवन और दाँतों का घनिष्ठ संबंध है । इसलिए दन्तोद्भेद के प्रारंभ में अन्नप्राशनविधि की जाती है और उसके पश्चात् जैसी जैसी दाँतों की वृद्धि होती जाती है, वैसी वैसी अन्न की राशि बढ़ाई जाती है । इसी दृष्टि से ऊपर के वाग्भट के वचन में 'क्रमात्' शब्द प्रयुक्त किया गया है । काश्यपसंहिता में छठे महीने में फलप्राशन कराने के लिए, दसवें महीने में अन्नप्राशन के लिए और बारहवें महीने के बाद वास्तविक अन्न देने के लिए लिखा है—तस्मिन्नेव (षष्ठे) मासि विविधानां फलानां प्राशनं भिषगनुतिष्ठेत् तद्धि दन्तजातस्यान्नप्राशनं दशमे वा मासि प्रशस्तेऽहनि उत्थाप्योर्ध्वं द्वादशमासिकस्यान्नमभिलषतोऽल्पशश्चेमानि दद्यादिति शालीनां षष्टिकानां वा पुराणानां विशेषतः । तण्डुलैर्निस्तुषैर्भृष्टैः क्षालितैः साधिता द्रवाः ॥ सस्नेहलवणा लेह्या बालानां पुष्टिवर्धनाः गोधूमानां तथा चूर्णं यवानां वाऽपि सात्म्यतः ॥ एकान्तरं द्व्यन्तरं वा देशाग्निबलकालवित् । यदा वा क्षुधितं पश्येत् तदैनं सात्म्य

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

...वेत् ॥ (जातकर्मोत्तराध्याय)। बालक को अन्न देने में शीघ्रता कदापि न करनी चाहिए, शीघ्रता में स्वास्थ्य की हानि है। देर में अन्न देने में हानि नहीं है बल्कि फायदा है—चिरान्निषेवमाणोऽन्नं बालो नातुर्यमश्नुते। (अष्टांगहृदय)। काश्यपसंहिता में अन्न सेवन की जो साल भर मर्यादा बताई गई है, वह 'तेषु संवत्सरपराः क्षीरदाः' (सूत्रस्थान ३५–३३) के साथ मिलती है। उस सूत्र का भाष्य भी देखो। अष्टांगसंग्रहटीकाकार तथा अष्टांगसंग्रहकार अन्नप्राशन का वास्तविक काल एक वर्ष का ही मानते हैं। 'अथैनं जातदशनम्' इस श्लोक की टीका में इन्दु लिखते हैं—अथ वर्षादनन्तरं जातदशनं बालं क्रमशः स्तनादपनयेत्। काश्यपसंहिताकार की बच्चों को फल देने की विधि भी बहुत स्वास्थ्यकर है। फलों से बालकों को सुपाच्य रस तथा जीवनीय द्रव्य (Vitamines) मिलते हैं, जो बचपन में शरीरवृद्धिकाल में बहुत आवश्यक होते हैं।

अन्नप्राशन, दन्तोद्भेद और स्तनापनयन इनका परस्पर सम्बन्ध है। इसलिए यहाँ पर स्तनापनयन और दन्तोद्भेद का भी विचार किया जाता है क्योंकि इनका विचार सुश्रुतसंहिता में नहीं किया गया है। स्तनापनयन (Weaning—) के काल का विचार पीछे ५१वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। स्तनापनयन क्रम से करना चाहिए, एकाएक करना उचित नहीं है और उसी के साथ साथ क्रम से अन्नप्राशन तथा गौ के दूध का सेवन कराना चाहिए। आयुर्वेद का यह सिद्धान्त है कि चाहे गुण हो, चाहे दोष; क्रम से और धीरे धीरे ग्रहण करना या छोड़ना चाहिए—क्रमेणापगता दोषाः क्रमेणोपगता गुणाः। नाप्नुवन्ति पुनर्भावमप्रकम्प्या भवन्ति (चरक, सूत्र ७)। स्तनापनयन के तीन उपाय अष्टांगसंग्रह में बताये हैं—कुर्यादपस्तनं स्नेहसंक्रान्त्या स्तनलेपनैः। ...सैर्यावकासेककृत्रिमक्षतदर्शनैः॥ स्नेहसंक्रान्ति का मतलब यह है कि बालक को स्तनपान के लिए जो प्रेम होता है, वह प्रेम किसी दूसरे पदार्थ के लिए उत्पन्न करना। इसी के लिए यह प्रीणन मोदक दिया है—प्रियालमज्जमधुकलाजसितोपलैः। अपस्तन्यस्य संयोज्यः प्रीणनो मोदकः शिशोः॥ स्तनापनयन तथा अन्नसेवन या गोदुग्धसेवन से अगर बालक में अग्नि की मन्दता या प्रवाहिका उत्पन्न हो जाय तो इन ओषधियों का मोदक बनाकर दिया जाय—दीपनो बाल...शर्करालाजसक्तुभिः। संग्राही धातकीपुष्पशर्करालाज...॥ (अष्टांगसंग्रह)।

दन्तोद्भेद (Dentition—) तरुण विवाहित स्त्रियों के जीवन में सगर्भावस्था और प्रसूति जैसी महत्त्व की घटनाएँ हैं, वैसी बाल्यावस्था में दन्तोद्भेद की घटना होती है। ये घटनाएँ वास्तव में स्वाभाविक हैं, अतएव अविकारी होनी चाहिएँ। परन्तु प्रायः इनका समावेश विकारी घटनाओं में किया जाता है—दन्तोद्भेदश्च सर्वरोगायतनम्। पृष्ठभङ्गे ...बालानां बर्हिणां च शिखोद्गमे। दन्तोद्भेदे च बालानां न हि ...चित्र दूयते॥ (अष्टांगसंग्रह)। इसका कारण यह है कि स्वास्थ्य ठीक न होने से ये अवस्थाएँ स्वास्थ्य को और भी खराब करने वाली और अनेक विकार उत्पन्न करने वाली होती हैं। अनेक बालकों का स्वास्थ्य किसी न किसी कारण से खराब रहता ही है। इसलिए दन्तोद्भेद के संबंध में इस प्रकार की कल्पना हो चुकी है। जिस बालक का स्वास्थ्य अच्छा होता है, उसको दाँत निकलने के समय ज़रा सी भी तकलीफ़ नहीं होती; न यह पता चलता है कि उसको दाँत निकल रहे हैं। मनुष्यों को दाँत दो बार आते हैं। जो पहली बार आते हैं, वे जल्दी गिर जाते हैं। ये प्रथम दन्त या अस्थायी दन्त (Temporary milk teeth) कहलाते हैं। जो दन्त दूसरी बार आते हैं, वे पुनर्दन्त या स्थायी दाँत (Permanant) कहलाते हैं। प्रथम दन्तों की संख्या २० होती है, उनकी उत्पत्ति का प्रारंभ ६–७ महीने की आयु से होता है और ढाई वर्ष की आयु तक वे पूरे निकल आते हैं—दन्तोद्भेदश्च दीर्घायुषोऽष्टमान्मासात् परतो वा प्रवर्तते। इतरेषां तु चतुर्थात्। तत्रास्थिमज्जानौ दन्तोत्पत्तिहेतू। तदा च तयोरसम्पूर्णवीर्यत्वात् कालान्तरेण दन्तानां पतनमापूर्यमाणधातुत्वाच्च पुनरुत्थानम्। पुनर्दन्तों की उत्पत्ति का प्रारम्भ छठे साल से होता है और २५वें साल तक वे पूरे निकल आते हैं। इनकी संख्या बत्तीस होती है। दाँतों के लिए 'द्विज' शब्द प्रयुक्त होता है। परन्तु यह शब्द प्रत्येक दाँत के लिए प्रयुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि पुनर्दन्तों में से बारह दाँत केवल एक ही बार उत्पन्न होते हैं और बीस दाँतों का पुनर्जन्म होता है। अतः बारह सकृज्जात और बीस द्विज होते हैं—इह खलु नृणां द्वात्रिंशद्दन्ताः, तत्राष्टौ सकृज्जाताः खरूढदन्ता भवन्ति, अतः शेषा द्विजाः॥ (काश्यपसंहिता, दन्तजन्मिकाध्याय)। यहाँ पर अष्टौ शब्द गलत मालूम होता है, इसके बदले द्वादश होना चाहिए। ये द्वादश सकृज्जात दाँत दाढ़ें (Molars) हैं। मुखमध्य के पास के दो दाँत कर्तनक (Incisors), उसके पास का एक भेदक (Canine) और उसके बाद के दो पूर्व चर्वणक (Premolars) कहलाते हैं। इस तरह प्रत्येक हनु के एक पक्ष में पाँच करके कुल बीस दाँत बचपन में निकलते हैं। पुनर्दंतों में ये बीस और इनके अलावा हनु के प्रत्येक पक्ष में तीन चर्वणक (दाढ़ें) करके बारह दाढ़ें अधिक होती हैं। नीचे प्रथम दन्त और पुनर्दन्त इनकी उत्पत्ति का साधारण काल दिया जाता है—

नाम प्रथमदन्त	काल	नाम पुनर्दन्त	काल
नीचे के अन्तःकर्तनक	६–९ मास तक	प्रथम चर्वणक	६ वर्ष
ऊपर के चारों कर्तनक	८–१० मास तक	कर्तनक	७–८ वर्ष
नीचे के बाह्य कर्तनक	१२–१४ मास तक	पूर्व चर्वणक	९–१० वर्ष
अगले चार पूर्व चर्वणक	१२–१४ मास तक	भेदक	११–१२ वर्ष
भेदक	१६–२० मास तक	द्वितीय चर्वणक	१२–१३ वर्ष
पिछले पूर्व चर्वणक	२०–२४ मास तक	तृतीय चर्वणक	१७–२५ वर्ष

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह साधारण काल है। इसमें न्यूनाधिकता हो सकती है तथापि साधारणतया एक वर्ष के बालक के ६ दाँत, डेढ़ वर्ष के शिशु के १२ दाँत, दो वर्ष के शिशु के १६ दाँत और ढाई वर्ष के शिशु के २० दाँत होने चाहिएँ। छठे साल में चार दाढ़ें निकल आती हैं, जिससे दाँतों की संख्या २४ हो जाती है। साधारणतया नीचे के जबड़े के दाँत पहले निकलते हैं और पश्चात् वे दाँत ऊपर के जबड़े में निकलते हैं। आयुर्वेद में ऊपर के दाँतों का पूर्वजन्म एक उत्पात माना गया है और उसके लिए शान्ति करने के लिए लिखा है—यावत्स्वेव च मासेषु दन्ता निषिच्यन्ते तावत्स्वहःसूद्भिद्यन्ते। यावत्स्वेव च मासेषु जातस्य सत उद्भिद्यन्ते तावत्स्वेव च वर्षेषु पतिताः पुनरुद्भिद्यन्ते। तत्र मध्ये द्वावुत्तरौ राजदन्तसंज्ञौ भवतः, तौ पवित्रौ, तस्मात्ताभ्यां खण्डे न श्राद्धमर्हति, अपवित्रो हि सः। तत्र सदन्तजन्म च, पूर्वमुत्तरदन्तजन्म च, विरलदन्तजन्म च, हीनदन्तता च, अधिकदन्तता च, करालदन्तता च, विवर्णदन्तता च, स्फुटितदन्तता चामङ्गल्या भवति॥ पूर्णता, समता, घनता, शुक्लता, स्निग्धता, श्लक्ष्णता, निर्मलता, निरामयता, किञ्चिदुत्तरोन्नतता, दन्तबन्धनानां च समता रक्तता स्निग्धता बृहद्घनस्थिरमूलता चेति दन्तसम्पदुच्यते॥ (काश्यपसंहिता)। राजदन्त शब्द का प्रयोग चरक में भी मिलता है। इससे Upper central incisors का बोध होता है। ये दाँत सामने विशेषतया प्रकट रहने के कारण इन्हीं के ऊपर दन्तपंक्ति की शोभा निर्भर होती है। इसलिए राजदन्त (दन्तानां राजा) कहलाते हैं।

दन्तोद्भेद की प्रक्रिया—दाँतों की उत्पत्ति दन्तबीजों (Special dental germs) से होती है। ये बीज प्रत्येक जबड़े में प्रथम दाँतों के लिए दस और पुनर्दंतों के लिए सोलह होते हैं। प्रथम दाँतों के बीज आगे और पुनर्दंतों के पीछे होते हैं। दन्तबीज की कल्पना अष्टांगसंग्रह में स्पष्ट रूप में मिलती है—न पुनर्दन्तोत्पत्तिर्वेलान्निपतितानां तदधिष्ठानगतधातुबीजभ्रंशात्। (उत्तर २)। तदधिष्ठाने दन्ताधिष्ठाने गतो यो दन्तपोषको धातुस्तदेव बीजं तस्य नाशात्। (इन्दु)। इस बीज से उचित काल पर दाँत उत्पन्न होकर मसूढ़ों को छेदकर जबड़े से बाहर आते हैं। इसी को दन्तोद्भेद कहते हैं। बालक का स्वास्थ्य ठीक न होने पर मसूढ़ों को छेदकर जब दाँत बाहर आते हैं तब ज्वर, चिड़चिड़ापन, रोदन, छिछड़ेदार पतले दस्त, निद्रानाश, मृगी, कर्णशूल, खाँसी इत्यादि अनेक उपद्रव उत्पन्न होते हैं। दाँत जब बाहर आने लगते हैं, तब मसूढ़ों में सरसराहट भी होती है जिसके कारण बालक हर एक चीज को मसूढ़ों से काटना चाहता है। यह एक स्वाभाविक कार्य है, जो दाँतों के बाहर आने में सहायता करता है। इसलिए दाँत निकलना प्रारंभ होने पर बच्चे को कभी कभी एकाध चीज ऐसी देनी चाहिए, जिसमें दाँतों का उपयोग आवश्यक होता है। इससे दाँत जल्दी निकल आते हैं और मजबूत होते हैं—तौ तु धातू कालक्रमेण पच्यमानौ यदा दन्ताशयमनुप्रपद्येते तदास्य किञ्चिदुत्सेधेनोर्ध्वाधोदन्तमांससंघट्टनादङ्गहर्षो जायते। तद्वतेन च श्लेष्मणा कण्डूस्तया चूचुकं दश्यते। यद्यदालभते तत्तदास्यमानयति। मारुतश्चास्य दन्तमूलेषु मूर्च्छति। ततः स कफानुविद्धोऽस्थिमज्जस्थितः सर्वतो विसरन् सह पित्तेन धातून् मलांश्च दूषयन् विविधान्यथोदितानुपद्रवानभिनिर्वर्तयति॥

दाँतों का संगठन अस्थि के समान होता है (पाँचवें अध्याय के २२वें सूत्र का वक्तव्य देखो)। इसलिए आयुर्वेद में दाँत अस्थियों के साथ गिने गये हैं, दाँतों का उत्पत्तिहेतु अस्थि ही माना गया है—तत्रास्थिमज्जानौ दन्तोत्पत्तिहेतू। (अष्टांगसंग्रह), और अस्थिरोगों के साथ दाँतों के रोग भी बताये गये हैं—अस्थिक्षयेऽस्थिशूलं दन्तनखभङ्गो रौक्ष्यं च। अस्थ्यध्यस्थीन्यधिदन्ताश्च। (सूत्र १५)। दाँतों को अस्थियों के साथ गिनने की आयुर्वेद की पद्धति यद्यपि पाश्चात्य मतानुसार ठीक नहीं मालूम होती तथापि यह वर्गीकरण रोगसंप्राप्ति और चिकित्सा की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। दाँतों और अस्थियों के लिए चूना (Calcium) और जीवद्रव्य डी (सूत्र ४६—५२४ के वक्तव्य में जीवद्रव्य देखो) की आवश्यकता होती है। आहार में दोनों उपस्थित रहने से हड्डियों और दाँतों की वृद्धि ठीक होती है। एक या दोनों की कमी होने से फक्क या अस्थिवक्रता (Rickets), अस्थिमृदुता (Osteomalacia), कृमिदन्त (Dental caries) इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं। अस्थिवक्रता बच्चों का रोग है। इसमें चूने की कमी से या जीवद्रव्य डी की कमी से चूने का सात्म्यीकरण ठीक न होने से हड्डियाँ और दाँत ठीक नहीं बनते, जिससे हड्डियाँ मृदु होती हैं और दाँत देर में निकलते हैं तथा खराब होते हैं। हड्डियाँ मृदु होने के कारण शरीर के दबाव से वक्र हो जाती हैं। यह वक्रता हाथ-पैर की हड्डियों में और पसलियों में अधिक दिखाई देती है। अस्थि या दन्त के रोगों में, इसलिए, दूध, अण्डा, फल, साग-सब्जी, मछली का तेल, सूर्यप्रकाश इत्यादि चूना और जीवद्रव्य डी इनसे युक्त आहार-विहार रखने से सफलता मिलती है। फक्क क्या है?—यह बच्चों का एक रोग है, जो काश्यपसंहिता में कुछ विस्तार से वर्णन (फक्कचिकित्सिताध्याय) किया गया है। चरक सुश्रुतादि अन्य उपलब्ध ग्रंथों में इसका नाम तक नहीं मिलता। इसके कारण और लक्षण नीचे दिये जाते हैं—बालः संवत्सरा(पन्नः) पादाभ्यां यो न गच्छति। स फक्क इति विज्ञेयस्तस्य वक्ष्यामि लक्षणम्। संशुष्कस्फिक्बाहूरुमहोदरशिरोमुखः। पीताक्षो हृषिताङ्गश्च दृश्यमानास्थिपिञ्जरः। प्रम्लानाधरकायश्च नित्यमूत्रपुरीषकृत्। निश्चेष्टाधरकायो वा पाणिजानुगमोऽपि वा। दौर्बल्यान्मन्दचेष्टश्च मदत्वात् परिभूतकः। मक्षिकाकृमिकीटानां गम्यश्चासन्नमृत्युरुक्। विशीर्णहृष्टरोमा च स्तब्धरोमा महानखः। दुर्गंधी मलिनः क्रोधी फक्कः श्वसिति ताम्यति॥ फक्क का मुख्य लक्षण यह बताया गया है कि जिस समय बालक को चलना फिरना चाहिए, उस समय वह चल फिर नहीं सकता। इस लक्षण को चलनासामर्थ्य (Inability to walk) कहते हैं। चलने का असामर्थ्य दो प्रकार का होता है—एक चलने फिरने का कार्य शुरू होने के बाद और दूसरा चलना फिरना शुरू होने के पहले। यहाँ पर एक वर्ष की जो मर्यादा बतलाई है, उससे यह असामर्थ्य दूसरे

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का मालूम होता है। इस असामर्थ्य के तीन कारण ई हचीसन देते हैं—अस्थिवक्रता (Rickets), अंगघात (Paralysis) और बुद्धिहीनता (Mentally defective)। रोग तीनों में से एक होना चाहिए। अब अन्य लक्षणों विचार किया जाता है। महोदरशिरोमुखः—बच्चों में रवृद्धि के मुख्य दो कारण होते हैं—अस्थिवक्रता और त्रक्षय (Tabes mesenterica)। शिरोवृद्धि के भी दो रण होते हैं—अस्थिवक्रता और जलशीर्ष (Hydrophalus)। नित्यपुरीषकृत—बार बार मलत्याग करने वाला ग्राहिका (Diarrhoea) युक्त। यह लक्षण उपर्युक्त रोगों में अस्थिवक्रता और आन्त्रक्षय में होता है। क्रोधी—चिड़ा (Irritable)। यह लक्षण अन्य रोगों की अपेक्षा स्थिवक्रता में ही मिलता है। श्वसिति ताम्यति—कमजोरी, ती की विकृति, खाँसी इनके कारण अस्थिवक्रता में साँस, नी यह लक्षण अधिक मिलता है। संक्षेप में प्रधान ण तथा अन्य लक्षणों का विचार करने पर फक्क धुनिक अस्थिवक्रता (Rickets) मालूम होता है। परंतु द दोनों रोग शीघ्रता से पढ़े जायँ तो दोनों की एकता दी ध्यान में नहीं आती। इसका कारण यह है कि अस्थिता के वर्णन में अधिक जोर शारीरिक विकृतियों के र दिया जाता है और फक्क के वर्णन में शारीरिक कार्य विकृतियों के ऊपर दिया गया है।

फक्क के कारण—धात्री श्लैष्मिकदुग्धा तु फक्कदुग्धेति संज्ञिता। रपो बहुव्याधिः कार्श्यात् फक्कत्वमाप्नुयात्॥ क्षीरजं गर्भजं तृतीयं व्याधिसंभवम्। फक्कत्वं त्रिविधं प्रोक्तम्॥ (काश्यपहिता)। अस्थिवक्रता का मुख्य कारण जीवद्द्रव्य डी की ी है। इसके सिवा चूने की कमी, स्नेह और प्रोटीनों की, मय पदार्थों की अधिकता ये भी आहार के दोष इसके ण माने जाते हैं। पाश्चात्य ग्रंथों में यह लिखा जाता है अस्थिवक्रता रोग कृत्रिम दुग्धपान करने वाले बालकों होता है, स्तन्यपान करने वालों में नहीं होता। यह न ठीक नहीं है। जिस प्रकार का सदोष आहार बालक अस्थिवक्रता रोग उत्पन्न कर सकता है, वही आहार माता स्तन्यपान करने वाले बालक में माता के द्वारा वही रोग न्न कर सकता है। इसी दृष्टि से अगर देखा जाय तो दोष स्तन्यपान फक्क का कारण हो सकता है और भारतवर्ष कृत्रिम दुग्धपान की अपेक्षा सदोष स्तन्यपान इस रोग का धिक महत्त्व का कारण होता है। इस रोग का मुख्य कारण जीवद्द्रव्य डी—वह जैसे खाद्य द्रव्यों से शरीर को लता है वैसा ही सूर्य की किरणों का शरीर की त्वचा पर ने होने पर शरीर में ही उत्पन्न होता है। भारतवर्ष सूर्य काश वाला और उष्ण देश है। मनुष्यों की त्वचा भारतवर्ष सूर्यकिरणों के लिए प्रतिदिन न्यूनाधिक समय तक नावृत रहा करती है। स्त्रियों में इतनी अनावृति नहीं हो ती, यह बात सत्य है। इसलिए उनके शरीर में जीवद्द्रव्य की कुछ कमी हो सकती है। यूरोप के शीत और अतित प्रदेशों में जहाँ पर सूर्यप्रकाश की कमी होती है और ष्य हमेशा वस्त्राच्छादित रहते हैं, वहाँ पर जीवद्द्रव्य डी की कमी भारतवर्ष की अपेक्षा बहुत अधिक रहती है। इसलिए यूरोप के देशों में इस रोग का स्वरूप जितना तीव्र और प्रस्फुट होता है, उतना भारतवर्ष में कदापि नहीं हो सकता; इस बात को ज़रूर ध्यान में रखना चाहिए। पाश्चात्य ग्रंथोक्त अस्थिवक्रता के लक्षणों से फक्क के लक्षण पूर्णतया न मिलने के जो अनेक कारण हो सकते हैं, उनमें उपर्युक्त कारण बहुत महत्त्व का है।

सम्प्राप्ति और लक्षण—जीवद्द्रव्य डी की कमी से चूना, फास्फरस तथा हड्डी के लिए आवश्यक अन्य खनिजों का शोषण और सात्म्यीकरण ठीक न होकर वे खनिज हड्डियों में भली भाँति संचित नहीं होते, जिससे अस्थियाँ मृदु रहती हैं और उनकी वृद्धि ठीक नहीं होती। इसका परिणाम यह होता है कि जिन हड्डियों के ऊपर दबाव पड़ता है, वे हड्डियाँ टेढ़ी हो जाया करती हैं। जैसे, हाथ-पैर की हड्डियाँ, छाती की पसलियाँ इत्यादि। यह लक्षण पाश्चात्य ग्रंथों में विशेष रूप से वर्णित होता है परन्तु ध्यान में रखना चाहिए कि यह लक्षण रोग की तीव्रता का निदर्शक है, जो भारतवर्ष में बहुत ही कम देखने में आता है। फक्क के लक्षणों में अस्थियों की वक्रता का निर्देश न होने का यही कारण हो सकता है। इस लक्षण के अतिरिक्त शेष सब लक्षण फक्क के वर्णन में मिलते हैं। जिनका निर्देश स्पष्ट रूप से नहीं है, वे निम्न लक्षण हैं। स्वस्थ बालक में पूर्वतालु १८–२४वें महीने तक पूर्णतया बंद हो जाती है और दाँत ६–८वें महीने में निकलने लगते हैं। फक्क या अस्थिवक्रता से पीडित होने पर दोनों में देरी हो जाती है और जो हड्डियाँ या दाँत बनते हैं, वे कमज़ोर और ख़राब होते हैं।

नित्यमवरोधरतश्च स्यात् कृतरक्ष उपसर्गभयात्;
प्रयत्नतश्च ग्रहोपसर्गेभ्यो रक्ष्या बाला भवन्ति ॥५३॥

(ग्रहोपसर्गप्रतिषेध का उपाय—) बालक की रक्षा करने वाला हमेशा (ग्रहों के) उपसर्ग के भय से अवरोध के भीतर रहे, (क्योंकि) ग्रहों के उपद्रवों से बालकों की रक्षा प्रयत्नपूर्वक करनी पड़ती है ॥५३॥

वक्तव्य—अवरोधरत—अवरोध का अर्थ अन्तःपुर या मकान का अहाता होता है। समय असमय बालक को बाहर ले जाने के संबंध में यह निर्देश है। तीसरे महीने के बाद बालक को मकान के बाहर ले जाने में वैसी आपत्ति नहीं होती। पिछले सूत्र के वक्तव्य का प्रारंभ देखो।

अथ कुमार उद्विजते त्रस्यति रोदिति नष्टसंज्ञो भवति नखदशनैर्धात्रीमात्मानं च परिणुदति दन्तान् खादति कूजति जृम्भते भ्रुवौ विक्षिपत्यूर्ध्वं निरीक्षते फेनमुद्वमति सन्दष्टौष्ठः क्रूरो भिन्नामवर्चा दीनार्तस्वरो निशि जागर्ति दुर्बलो म्लानाङ्गो मत्स्यच्छुच्छुन्दरिमत्कुणगन्धो यथा पुरा धात्र्याः स्तन्यमभिलषति तथा नाभिलषतीति सामान्येन ग्रहोपसृष्टलक्षणमुक्तं, विस्तरेणोत्तरे वक्ष्यामः ॥५४॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग्रहोपसृष्ट सामान्य लक्षण—) बालक उद्विग्न होता है, डरता है, रोता है, बेहोश होता है, धात्री को तथा अपने को नखों से खरोंचता है और दाँतों से काटता है, दाँतों को कटकटाता है, आवाज़ करता है, जम्भाई लेता है, भौंहों को चढ़ाता है, ऊपर देखता है, (मुख से) झाग निकालता है, दाँतों से ओठों को काटने वाला, (देखने में) क्रूर, पतले और आँवयुक्त दस्त होने वाला, दीन और आर्तस्वर वाला, रात को जागता है, दुर्बल मुरझाये हुए अंग का, मछली छुछुन्दर और खटमल की गन्ध का, जैसे (ग्रहों का उपसर्ग होने से) पहले धात्री का दूध चाहता था वैसे नहीं चाहता है। ये ग्रहोपसर्ग के सामान्य लक्षण हैं। उत्तरतन्त्र (के सत्ताईसवें अध्याय) में विस्तार-पूर्वक कहेंगे ॥५४॥

शक्तिमन्तं चैनं ज्ञात्वा यथावर्णं विद्यां ग्राहयेत् ॥५५॥

(अध्यापनविधि—) उसको शक्तिमान् समझकर वर्ण के अनुसार विद्या पढ़ावे ॥५५॥

वक्तव्य—शक्तिमन्तम्—विद्याग्रहणशक्तिमन्तम्। कौटिलीय अर्थशास्त्र में चौलकर्म के पश्चात् याने चौथे वर्ष से अंक और अक्षर पढ़ाने के लिए लिखा है—वृत्तचौलकर्मा लिपिं संख्यानं चोपयुञ्जीत। (१–५)। रघुवंश में भी विद्याभ्यास के प्रारंभ का यही काल बतलाया है—स वृत्तचूलश्चलकाकपक्षकैरमात्यपुत्रैः सवयोभिरन्वितः। लिपेर्यथावद्ग्रहणेन वाङ्मयं नदीमुखेनेव समुद्रमाविशत् ॥ (३–२८)। यह लिपिसंख्या की शिक्षा वास्तव में विद्या नहीं कही जा सकती। वास्तविक विद्या का प्रारंभ उपनयन के पश्चात् होता है। यह उपनयन साधारणतया ब्राह्मण का आठवें, क्षत्रिय का ग्यारहवें और वैश्य का बारहवें वर्ष में होता है, परंतु यदि कुमार अधिक शक्तिमान् (अर्थात् वर्णानुसार शक्ति का स्वरूप भिन्न भिन्न होता है) हो तो ब्राह्मण का पाँचवें वर्ष में, क्षत्रिय का छठे वर्ष में और वैश्य का आठवें वर्ष में उपनयन किया जा सकता है—गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम्। गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः। ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे। राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥ (मनुस्मृति २–३६, ३७)। इसके साथ साथ यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि उपनयन के पूर्व वेद को छोड़कर अन्य विद्याओं को पढ़ा सकते हैं—तौ च भगवता वाल्मीकिना धात्रीकर्म वस्तुतः परिगृह्य पोषितौ परिरक्षितौ च वृत्तचौडकर्मणोश्च तयोस्त्रयीवर्ज्यमितरास्तिस्रो विद्याः सावधानेन परिनिष्ठापिताः। समनन्तरं च गर्भैकादशे वर्षे क्षात्रेण कल्पेनोपनीय गुरुणा त्रयीविद्यामध्यापितौ ॥ (उत्तररामचरित २)। यथावर्णम्—ब्राह्मणस्त्रयीं, राजन्यो दण्डनीतिं, वैश्यो वार्तामिति। (डल्हण)। त्रयी—सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयस्त्रयी। वार्ता—कृषिपाशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता। धर्माधर्मौ त्रय्याम्। अर्थानर्थौ वार्तायाम्। नयानयौ दण्डनीत्याम् ॥ (कौटिलीय अर्थशास्त्र १–२, ३, ४)। प्रत्येक वर्ण के लिए यह जो एक विद्या बताई गई है, वह मुख्यविद्या करके बताई गई है। इसके अतिरिक्त धर्मादि विषयों का ज्ञान प्रत्येक मनुष्य को होना चाहिए। इसलिए चरक और अष्टांगसंग्रह में बालक की विद्या के संबंध में निम्न प्रकार से सर्वग्राही वर्णन मिलता है—एवमेनं कुमारमायौवनप्राप्तेर्धर्मार्थकौशलागमनाच्चानुपालयेत्। (चरक)। शक्तिमन्तं यथावर्णं विद्यामध्यापयेत्ततः। अनुशिष्यात् सदा चैनं धर्माय विनयाय च। यथा नेन्द्रियदुष्टाश्वैर्ह्रियते यौवनागमे ॥ (अष्टांगसंग्रह)।

अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय द्वादशवर्षां पत्नीमावहेत् पित्र्यधर्मार्थकामप्रजाः प्राप्स्यतीति ॥५६॥

(विवाह—) विद्या समाप्त कर चुकने के पश्चात् पच्चीस वर्ष की उम्र वाले स्नातक को बारह साल की पत्नी प्रदान करे, जिससे कि वह पित्र्य, धर्म, अर्थ, काम और प्रजा को प्राप्त हो जाय ॥५६॥

वक्तव्य—पञ्चविंशतिवर्षाय—इससे निश्चित आयु मानने की आवश्यकता नहीं है। पुरुषों की विवाह की आयु विद्याभ्यास के ऊपर निर्भर होती है। यह स्थिति प्राचीन काल में थी और आधुनिक काल में भी है। विद्याभ्यास का काल विद्याओं की संख्या और बुद्धि की कुशाग्रता के अनुसार न्यूनाधिक होता है। इसलिए पच्चीस वर्ष से केवल यौवन प्राप्ति का बोध लेना चाहिए। ऊपर चरक का वचन देखो। अष्टांगसंग्रह में विवाह की आयु २१ साल की बतलाई है—पुमानेकविंशतिवर्षः कन्यां द्वादशवर्षदेशीयाम्... उद्वहेत् ॥ पच्चीस से अधिक भी आयु हो सकती है—त्रिंशद्वर्षोद्वहेत्कन्यां हृद्यां द्वादशवार्षिकीम् ॥ (मनु ९–९४)। द्वादशवर्षाम्—प्राचीन काल में स्त्रियों के विवाह की यह साधारण आयु है। स्त्रियों के विवाह की आयु में बहुत फर्क नहीं होता था, क्योंकि आर्तव दर्शन के पूर्व उनका विवाह कराना यह धार्मिक नियम था। कभी कभी बारह साल से कम उम्र में भी स्त्रियों का विवाह होता था—त्र्यष्टवर्षोऽष्टवर्षां वा धर्मे सीदति सत्वरः ॥ (मनुस्मृति ९–९४)। द्वादश वर्ष विवाह के लिए योग्य काल होने पर भी समागम के लिए योग्य काल नहीं होता है। आगे के श्लोक देखो। पित्र्यधर्मार्थकामप्रजाः—पितुर्हितं कर्म पित्र्यं श्राद्धदानादि, धर्मः श्रुतिस्मृतिविहितं यज्ञानुष्ठानम्, अर्थः सुवर्णादिः, कामः स्वेषु स्वेषु विषयेष्विन्द्रियाणामानुकूल्यतः प्रवृत्तिः, प्रजाः पुत्रपौत्रादयः ॥ (डल्हण)। काम और प्रजा स्त्री के विना नहीं मिल सकती, यह स्पष्ट है। श्राद्ध, यज्ञ आदि धार्मिक कर्मों में स्त्री की आवश्यकता होती है। उसके बिना ये कर्म नहीं कर सकते। इसलिए स्त्री सहधर्मचारिणी कहलाती है। अर्थ के संबंध में कुछ शंका उपस्थित हो सकती है। स्त्री प्रत्यक्ष पैसा कमाती नहीं है परंतु पति से कमाये हुए पैसे की रक्षा करती है—अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्। शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य वेक्षणे ॥ (मनुस्मृति ९–११)। प्राप्तार्थ का ठीक व्यय करना, यह भी अर्थप्राप्ति का एक साधन है—Money saved is money earned.

अगले श्लोक के साथ तथा सूत्रस्थान के ३५वें अध्याय के १४वें श्लोक के साथ अगर इस सूत्र का समन्वय करना

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ते तो 'पञ्चविंशतिवर्षाय' के बदले अष्टांगसंग्रह के अनुसार 'विंशतिवर्षाय' ऐसा पाठ होना चाहिए, अथवा 'द्वादशवर्षा' बदले 'षोडशवर्षा' ऐसा पाठ होना चाहिए। परंतु दूसरा ठ प्राचीन कल्पना के अनुसार ठीक नहीं हो सकता सलिए प्रथम पाठभेद ही सयुक्तिक है।

नषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
धाधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते ॥५७॥
तो वा न चिरं जीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः।
स्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥५८॥

(प्रथम गर्भाधानकाल—) सोलह साल से कम उम्र की स्त्री) में पच्चीस को प्राप्त न हुआ पुरुष यदि गर्भ का धान करे तो वह (गर्भ) कुक्षि में ही मर जाता है ॥५७॥ जन्म ले तो देर तक नहीं जीता, या दुर्बल इन्द्रिययुक्त ता है। इसलिए अत्यन्त बाला में गर्भ का आधान करे ॥५८॥

वक्तव्य—इस विषय का विवरण सूत्रस्थान के ३५वें ध्याय के १४वें श्लोक के वक्तव्य में किया गया है। आयुर्वेद यह सिद्धान्त है कि, चाहे पुरुष हो चाहे स्त्री, सोलह साल पहले मनुष्यशरीर स्वस्थ प्रजा उत्पादन करने में असमर्थ ता है—षोडशवर्षयोर्हि शोणितशुक्रयोर्मध्ये प्रभवतः। (काश्यप-हिता, जातिसूत्रीय शारीराध्याय)। इसका कारण यह कि इस आयु में तथा इसके पूर्व स्त्री-पुरुषों के शोणित क्र अपरिपक्व होते हैं। अर्थात् अपरिपक्व बीज जैसे उत्तम कुर उत्पन्न करने में असमर्थ होता है, वैसे ही अपरिपक्व क्रशोणित उत्तम प्रजा उत्पन्न करने में असमर्थ होता है। क्षिस्थः—यह कोई आवश्यक नहीं है कि यहाँ पर बताये परिणाम हो जायँ। बाल्यावस्था में गर्भाधान करने से हो सकता है, इसका दिग्दर्शन कुक्षिस्थ इत्यादि से या गया है। अत्यन्तबालायाम्—सोलह साल की स्त्री बाला हलाती है—बालेति गीयते नारी यावद्वर्षाणि षोडश। (योगरत्नाकर)। इसलिए सोलह साल से जिनकी आयु कम ती है, वह अत्यन्त बाला स्त्री होती है, उसमें।

अतिवृद्धायां दीर्घरोगिण्यामन्येन वा विकारे-णोपसृष्टायां गर्भाधानं नैव कुर्वीत। पुरुषस्याप्ये-विधस्य त एव दोषाः संभवन्ति ॥५९॥

(गर्भाधान के लिए अयोग्य—) अतिवृद्धा, दीर्घकाल रोगपीडित या अन्य विकार से उपसृष्ट स्त्री में गर्भाधान करे। इस प्रकार के पुरुष (से भी गर्भाधान कराने) के ही दोष होते हैं ॥५९॥

वक्तव्य—अतिवृद्धा—अतिब्रह्मचारिणी। प्रौढ कुमारी, वाह के समय जिसकी आयु बहुत अधिक हो, ऐसी। ही स्त्री ऐसा इसका अर्थ नहीं है। पुरुष के संबंध में मात्र सका अर्थ बूढ़ा पुरुष ऐसा है। इसका कारण यह है कि र्भाधान करने की योग्यता की आयुर्मर्यादा पुरुषों में श्चित नहीं होती, परंतु स्त्रियों में गर्भग्रहण करने की आयु श्चित होती है। उसके पश्चात् तरुण पुरुष भी स्त्री में गर्भ का आधान नहीं कर सकता। त एव दोषाः—कुक्षिस्थः स विपद्यते इत्यादि। विशेष विवरण के लिए २ अध्याय के ३४वें श्लोक के वक्तव्य में 'स्त्री पुरुषों का प्रथम सन्तानोत्पादक काल' देखो।

तत्र पूर्वोक्तैः कारणैः पतिष्यति गर्भे गर्भाशय-कटीवङ्क्षणबस्तिशूलानि रक्तदर्शनं च, तत्र शीतैः परिषेकावगाहप्रदेहादिभिरुपचरेज्जीवनीयशृतक्षीर-पानैश्च; गर्भस्फुरणे मुहुर्मुहुस्तत्सन्धारणार्थं क्षीर-मुत्पलादिसिद्धं पाययेत्; प्रस्रंसमाने सदाहपार्श्व-पृष्ठशूलासृग्दरानाहमूत्रसङ्गाः, स्थानात् स्थानं चोपक्रामति गर्भे कोष्ठे संरम्भः, तत्र स्निग्धशीताः क्रियाः; वेदनायां महासहाक्षुद्रसहामधुकश्वदंष्ट्रा-कण्टकारिकासिद्धं पयः शर्कराक्षौद्रमिश्रं पाय-येत्, मूत्रसङ्गे दर्भादिसिद्धं; आनाहे हिङ्गुसौवर्चल-लशुनवचासिद्धम्; अत्यर्थं स्रवति रक्ते कोष्ठागा-रिकागारमृत्पिण्डसमङ्गाधातकीकुसुमनवमालिका-गैरिकसर्जरसरसाञ्जनचूर्णं मधुनाऽवलिह्यात्, यथा-लाभं न्यग्रोधादित्वक्प्रवालकल्कं वा पयसा पाय-येत्, उत्पलादिकल्कं वा कशेरुशृङ्गाटकशालूक-कल्कं वा शृतेन पयसा, उदुम्बरफलोदककन्दक्काथेन वा शर्करामधुमधुरेण शालिपिष्टं, न्यग्रोधादिस्वरस-परिपीतं वा वस्त्रावयवं योन्यां धारयेत्; अथा-दृष्टशोणितवेदनायां मधुकदेवदारुमञ्जिष्ठापयस्या-सिद्धं पयः पाययेत्, तदेवाश्मन्तकशतावरीपयस्या-सिद्धं विदारिगन्धादिसिद्धं वा, बृहतीद्वयोत्पल-शतावरीसारिवापयस्यामधुकसिद्धं वा, एवं क्षिप्रमु-पक्रान्ताया उपावर्तन्ते रुजो गर्भश्चाप्यायते; व्यव-स्थिते च गर्भे गव्येनोडुम्बरशलाटुसिद्धेन पयसा भोजयेत्; अतीते लवणस्नेहवर्ज्याभिर्यवागूभिरुद्दा-लकादीनां पाचनीयोपसंस्कृताभिरुपक्रमेत यावन्तो मासा गर्भस्य तावन्त्यहानि; बस्त्युदरशूलेषु पुराण-गुडं दीपनीयसंयुक्तं पाययेदरिष्टं वा ॥६०॥

(गर्भपात की चिकित्सा—) पूर्वोक्त कारणों से गर्भ गिरने लगे तो गर्भाशय, कटी, वङ्क्षण, बस्ति (इन स्थानों) में पीड़ा और (योनि से) रक्तस्राव होता है। उस समय शीतल परिषेक, अवगाहन तथा प्रलेपों से (बाह्य) और जीवनीय ओषधियों से सिद्ध क्षीरपान से (आभ्यन्तरीय) चिकित्सा करे। गर्भ का स्फुरण होने पर उसको शान्त करने के लिए उत्पलादिसिद्ध क्षीर बार बार पिलावे। गर्भस्राव के समय दाहयुक्त पार्श्वों और पीठ में शूल, योनि से रक्तस्राव, आध्मान और मूत्रावरोध होता है। गर्भ के एक स्थान से दूसरे स्थान में जाते समय कोष्ठ में खलबली मचती है। उसके लिए स्निग्ध और शीत चिकित्सा करनी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए। वेदना होने पर माषपर्णी, मुद्गपर्णी, मुलहटी, गोखरू, इनसे सिद्ध दूध खाँड और मधु मिलाकर पिलावे। मूत्रावरोध में दर्भादि (तृणपंचमूल) सिद्ध (दूध पिलावे)। आनाह में हींग, सौवर्चल लवण, लशुन और वचा से सिद्ध (दूध) पिलावे। अत्यधिक रक्तस्राव होने पर कोष्ठागारिका (नामक कीड़े) के घर की मिट्टी, मञ्जिष्ठा, धाय के फूल, वनमल्लिका के फूल, गेरू, राल, रसांजन इनमें से जितने द्रव्य मिल सकें उनका चूर्ण मधु के साथ चटावे; अथवा न्यग्रोधादि वृक्षों की त्वचा और कोंपल के कल्क को दूध के साथ पिलावे; अथवा उत्पलादि के कल्क को या कसेरू सिंघाड़ा तथा कमलकन्द के कल्क को उबाले हुए दूध के साथ पिलावे; अथवा शालीधान्य के पिष्ट को शर्करा और मधु से मधुर किये हुए गूलर के फल के और (कमल आदि) जलकन्द के क्वाथ के साथ पिलावे; अथवा न्यग्रोधादि वृक्षों के स्वरस में भिगोये हुए कपड़े को योनि में धारण करावे। रक्तस्राव के विना पीड़ा होने पर मुलहटी, देवदारु, मंजिष्ठा और क्षीरकाकोली इनसे सिद्ध दूध पिलावे; अथवा पाषाणभेद, शतावरी, क्षीरकाकोली से सिद्ध अथवा विदारिगन्धादिगण से सिद्ध दूध पिलावे; अथवा छोटी और बड़ी कटेरी, नीलोत्पल, शतावरी, अनन्तमूल, क्षीरकाकोली और मुलहटी से सिद्ध दूध पिलावे; इस प्रकार तुरन्त चिकित्सित स्त्री की वेदनाएँ नष्ट होती हैं और गर्भ भी वृद्धि को प्राप्त होता है। गर्भ व्यवस्थित रहने पर कच्चे गूलर के फल से साधित गोदुग्ध के साथ भोजन करावे। यदि गर्भ गिर जाय तो पाचनीय द्रव्यों से संस्कृत नमक और घृत से विरहित उद्दालक आदि (जंगली कुधान्य) की यवागुओं से जितने महीने का गर्भ गिरा हो, उतने दिन चिकित्सा करे; बस्तिदेश तथा उदर में शूल हो तो दीपनीय द्रव्यों से पुराना गुड़ खिलावे अथवा अरिष्ट पिलावे ॥६०॥

वक्तव्य—पूर्वोक्तैः कारणैः पतिष्यति गर्भे—मूढगर्भ निदान के दूसरे सूत्र में, दसवें श्लोक में और इस अध्याय के दूसरे सूत्र में बतलाये हुए कारणों से गर्भपात होने पर। प्रस्रंसमाने गर्भे—Inevitable abortion. कोष्ठे संरम्भः—आमपच्यमानपक्वाशयादौ क्षोभः। (डल्हण)। पेट में खलबली मचना या अत्यन्त बेचैनी मालूम होना। औदकाः कन्दाः—कसेरुशालुकनदीमाषकादयः। (डल्हण)। पयस्या—अर्कपुष्पी। (डल्हण)। व्यवस्थिते—स्थिरीभूते। अतीते—पतित इत्यर्थः। दीपनीयसंयुक्तम्—पंचकोलचूर्णसंयुक्तम्। अरिष्टम्—अभयारिष्टादिकम्। गर्भश्चाप्यायते—तन्त्रान्तरे चोपविष्टकाख्योऽयं गर्भः कथितः। (डल्हण)। उपविष्टक का स्वरूप निम्न प्रकार से वर्णन किया है—तत्र यस्याः कादाचित्कार्तवपरिस्रावावल्पौ च दृश्येते सततं च गर्भः प्राप्तात्परिमाणादपरिहीयमान एव स्फुरति, न च कुक्षिर्विवर्धते तमुपविष्टकमित्याचक्षते ॥ (अष्टांगसंग्रह)। उपविष्टक का स्वरूप व्यावहारिक परिभाषा में निम्न प्रकार से बता सकते हैं। जैसे, एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने वाला मनुष्य थकावट के कारण बीच में थोड़ी देर के लिए बैठ जाता है याने प्रवास बंद करता है और फिर प्रवास शुरू करके अपने स्थान को पहुँचता है, वैसे ही वृद्धि रूप प्रवास करने वाला गर्भ बीच में कारणवश बैठ जाता है (उपविशति) याने वृद्धि रूप प्रवास बंद कर देता है और फिर अपना प्रवास करता है याने वृद्धि शुरू करता है और अपने इच्छित स्थान को पहुँच जाता है। संक्षेप में उपविष्टक का अर्थ बीच में कुछ काल तक बैठने वाला गर्भ—गर्भो वृद्धिमप्राप्नुवन्नुपविशति ॥ (अष्टांगसंग्रह, शा० ४)।

इस सूत्र में गर्भस्राव (Abortion) या गर्भपात (Miscarriage) के लक्षण और चिकित्सा वर्णन की गई है। गर्भस्राव और गर्भपात ये दो शब्द काल के अनुसार गर्भ के गिर जाने के लिए प्रयुक्त (मूढगर्भनिदान ८वें अध्याय के ११वें श्लोक का वक्तव्य देखो) होते हैं। परंतु व्यवहार में दोनों पर्यायरूप से ही प्रयुक्त होते हैं। गर्भपात के दो मुख्य लक्षण होते हैं—(१) पीडा (Pain)—यह पीडा गर्भाशय के आकुंचन से उत्पन्न होती है और आकुंचन की तीव्रातीव्रता पर पीडा की तीव्रातीव्रता निर्भर होती है। सूत्र में वेदना, शूल, संरम्भ, आनाह, मूत्रसंग इत्यादि जो लक्षण वर्णन किये हैं, वे इसी के ही विविध स्वरूप या परिणाम हैं। (२) रक्तस्राव (Uterine haemorrhage)—योनि से रक्तस्राव होना यह गर्भपात का महत्त्व का लक्षण है। रक्त का स्राव एकाएक और अधिक राशि में या धीरे धीरे और अल्प राशि में हो सकता है। प्रायः यह रक्तस्राव थोड़ी थोड़ी देर के बाद बार बार (Recurring) हुआ करता है। गर्भाशय की अन्तःकला से गर्भ और अपरा पृथक् होने के कारण रक्तस्राव हुआ करता है। इन दो लक्षणों के अलावा और दो लक्षण मिल सकते हैं। वे इनके परिणाम स्वरूप में होते हैं। इनमें प्रथम है अवसाद (Collapse)। यह लक्षण अधिक रक्तस्राव होने के कारण उत्पन्न होता है। दूसरा लक्षण है गर्भाशयमुखविस्तृति (Dilatation of the cervix)। यह लक्षण गर्भाशयसंकोच के कारण उत्पन्न होता है। रक्तस्राव का ही निर्देश ऊपर सूत्र में रक्तदर्शन, असृग्दर करके किया गया है। ये दोनों लक्षण जब किसी स्त्री में, जिसमें गर्भधारणा के निश्चित लक्षण मिलते हैं, मिल जायँ तो गर्भपात की आशंका करके उसके अनुसार चिकित्सा करनी चाहिए।

गर्भपात कई प्रकार का होता है। जब पीड़ा और रक्तदर्शन होने पर भी गर्भ चिकित्सा से गर्भाशय में रहकर वृद्धि कर सकता है, तब उसको परिहार्य (Threatened) गर्भपात कहते हैं। एवं क्षिप्रमुपक्रान्ताया उपावर्तन्ते रुजो गर्भश्चाप्यायते, व्यवस्थिते च गर्भे। उपविष्टक गर्भ ये सब शब्द परिहार्य गर्भपात के हैं। जब गर्भ और अपरा गर्भाशय से अधिक पृथक् होती है; रक्तस्राव और पीड़ा अधिक होती है, गर्भाशय का मुख काफी विवृत हो जाता है और जब चिकित्सा करने पर भी पुनश्च गर्भ के आप्यायन की आशा नहीं की जा सकती तब उसको अपरिहार्य (Inevitable) गर्भपात कहते हैं। इसका उल्लेख सूत्र में 'प्रस्रंसमाने' करके किया गया है। जब गर्भ पूर्णतया गिर जाता है, तब उसको पूर्ण (Complete)

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

र्भपात कहते हैं। इसका उल्लेख सूत्र में 'अतीते' करके या गया है। जब गर्भ या अपरा का कुछ हिस्सा गर्भाशय रहता है, तब उसको अपूर्ण (Incomplete) गर्भपात हते हैं।

साध्यासाध्यता—चरक का मत है कि प्रथम तीन महीने गर्भ अजातसार होने के कारण प्रायः वे गर्भाशय में स्थिर हीं हो सकते, इसके पश्चात् हो सकते हैं—सा चेदपचाराद् गोस्त्रिपु वा मासेपु पुष्पं पश्येन्नास्या गर्भः स्थास्यतीति विद्यात्। जातसारो हि तस्मिन् काले भवति गर्भः॥ (शारीर ८)। साधारणतया परिहार्य गर्भपात का परिहार चिकित्सा से ता है। अपरिहार्य गर्भपात का परिहार नहीं होता। चिकित्सा—गर्भपात के लक्षण मालूम होते ही स्त्री को विस्तरे आराम से रखना चाहिए। खान-पान, मल-मूत्रविसर्जन इत्यादि के लिए उठना बैठना, कुंथना इत्यादि कर्म वर्ज्य ने चाहिएँ—शयनं तावन्मृदुसुखशिशिरास्तरणसंस्तीर्णमीषद-नतशिरस्कं प्रतिपद्यस्वेति। क्रोधशोकायासव्यवायव्यायामेभ्यश्चा-रक्षेत्, सौम्याभिश्चैनां कथाभिर्मनोनुकूलाभिरुपासीत॥ (चरक)। व विरेचन या बस्ति न देना चाहिए। ये स्वस्थ स्त्री में गर्भपात उत्पन्न कर सकते हैं तो जो गर्भपात से पीडित उसमें निश्चिति से गर्भ का नाश कर देंगे। खाने के लिए जैसा हलका आहार दिया जाय। परिहार्य गर्भपात में ती से प्रायः कार्य हो जाता है। रक्तस्राव और पीडाहरण सूत्रोक्त ओषधियाँ दे सकते हैं। पीडाहरण के लिए पाश्चात्त्य वैद्यक में अफीम या मार्फिया ($\frac{1}{4}$ ग्रेन त्वचा द्वारा) ब्रोमाइडस् देते हैं। रक्तस्राव रोकने के लिए अर्गट, ड्रास्टिस, हीमोस्टारिक सीरम इत्यादि ओषधियाँ देते हैं। इसके अलावा योनि में टेन्ट (Tent) रखने का भी प्रबंध ता है। ऊपर के सूत्र में 'वस्त्रावयवं योन्यां धारयेत्' देखो। परिहार्य गर्भपात में जब रक्तस्राव अधिक होता है और र्भ बाहर नहीं निकलता या अपूर्ण निकलता है, तब गर्भा-शय को दबाकर (Expressing) या अंगुलि या तालयन्त्र (Curette) को गर्भाशय में प्रविष्ट करके गर्भ को निकालने की कोशिश की जाती है। गर्भ गिर जाने पर सूतिका के समान उसकी चिकित्सा करे। पतित गर्भ की चिकित्सा अष्टांगहृदय में निम्न प्रकार से बतलाई है—गर्भे निपतिते तीक्ष्णं मद्यं सामर्थ्यतः पिबेत्। गर्भकोष्ठविशुद्ध्यर्थमर्तिविस्मरणाय च॥ लघुना पञ्चमूलेन रूक्षां पेयां ततः पिबेत्। पेयाममद्यपाकल्के साधितां पाञ्चकौलिके॥ बिल्वादिपंचकक्काथे तिलोद्दालकतण्डुलैः। मासतुल्यदिनान्येवं पेयादिः पतिते क्रमः॥ (शारीर २)। अथा-ल्पशोणितवेदनायाम्—इसमें अ का अर्थ ईषत् या अभाव हो सकता है। गर्भपात में पीडा होती है परन्तु वह बहुत तीव्र नहीं होती। इसके साथ प्रायः रक्तस्राव होता है। जब रक्तस्राव कम होता है या नहीं होता तथा वेदना अत्यधिक होती है, तब बहिर्गर्भाशय गर्भपात (Ruptured extra-uterine pregnancy) का भी ध्यान रखना चाहिए। इसके लिए शस्त्रकर्म के सिवा और कोई चिकित्सा नहीं होती है। बहिर्गर्भ गर्भावस्था के लिए ३ अध्याय के ३ सूत्र के वक्तव्य में 'संसृज्यते चार्तवेन' की टिप्पणी देखो।

वातोपद्रवगृहीतत्वात् स्रोतसां लीयते गर्भः, सोऽतिकालमवतिष्ठमानो व्यापद्यते, तं मृदुना स्नेहादिक्रमेणोपचरेत्, उत्क्रोशरससंसिद्धामनल्प-स्नेहां यवागूं पाययेत्, माषतिलबिल्वशलाटुसिद्धान् वा कुल्माषान् भक्षयेन्मधुमाध्वीकं चानुपिबेत् सप्तरात्रं; कालातीतस्थायिनि गर्भे विशेषतः सधान्य-मुदूखलं मुसलेनाभिहन्याद्विषमे वा यानासने सेवेत; वाताभिपन्न एव शुष्यति गर्भः, स मातुः कुक्षिं न पूरयति मन्दं स्पन्दते च, तं बृंहणीयैः पयोभिर्मांस-रसैश्चोपचरेत्; शुक्रशोणितं वायुनाऽभिप्रपन्नमव-क्रान्तजीवमाध्मापयत्युदरं, तं कदाचिद्यदृच्छयोप-शान्तं नैगमेषापहृतमिति भाषन्ते, तमेव कदाचित् प्रलीयमानं नागोदरमित्याहुः; तत्रापि लीनवत् प्रतीकारः॥६१॥

(लीन और उपशुष्क गर्भ—) स्रोतों के वात के उपद्रव से पीडित होने के कारण गर्भ लीन हो जाता है। वह अधिक काल तक (गर्भाशय में) रहता हुआ मर जाता है। (इस लीन गर्भ में) स्त्री की मृदु स्नेहादि से चिकित्सा करे, उत्क्रोश (कुररी—पक्षिविशेष) के मांसरस से साधित यवागू पर्याप्त स्नेह से युक्त पिलावे, अथवा उड़द, तिल तथा बेल के शलाटु से साधित कुल्माष खिलावे और पश्चात् सात दिन तक मधुसह माध्वीक पीवे। अधिक काल तक रहने वाले गर्भ में विशेषतया ऊखल में धान्य डालकर कूटे, अथवा विषम वाहन या आसन पर बैठे। वात से पीडित होने पर भी गर्भ सूख जाता है। वह माता की कुक्षि को पूर्णतया नहीं व्यापता और धीरे धीरे हलचल करता है। उस(की माता) को पुष्टिकर दूध और मांसरस से चिकित्सित करे। वायु से पीडित हुआ शुक्रशोणित जीवात्मा की अवक्रान्ति होने पर उदर को फुला देता है। वह कदाचित् अचानक शान्त होने पर नैगमेषापहृत कहलाता है। वही कदाचित् धीरे धीरे लीन हो जाने पर नागोदर कहलाता है। यहाँ पर लीन गर्भ के समान चिकित्सा करनी चाहिए॥६१॥

वक्तव्य—लीयते गर्भः—इसको लीनगर्भ कहते हैं—यस्याः पुनर्वातोपसृष्टस्रोतसि लीनो गर्भः प्रसुप्तो न स्पन्दते तं लीनमित्याहुः। (अष्टांगसंग्रह)। माध्वीकम्—महुवे का या द्राक्षा का मद्य। कालातीतस्थायिनि गर्भे—गर्भाशय में गर्भ के रहने के योग्य काल का विचार तीसरे अध्याय के ३९वें सूत्र के वक्तव्य में किया गया है। उस काल के पश्चात्। मुसलेनाभिहन्यात् इत्यादि—ये उपाय गर्भाशय में संकोच पैदा करने के लिए होते हैं। पीछे ७वें सूत्र के वक्तव्य में अन्तिम भाग देखो। कुक्षिं न पूरयति—मासानुमासिक वृद्धि के अनुसार कुक्षि की जितनी वृद्धि होनी चाहिए, उतनी वृद्धि नहीं होती है। नागोदर—इसी को उपशुष्कक भी कहते हैं—तदुपशुष्ककं नागोदरं च। (अष्टांगसंग्रह)। तं गर्भमुपशुष्ककनागोदरशब्दाभ्यामाचक्षते। (इन्दु)। नैगमेषा-

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहृत—नागोदर या उपशुष्कक में गर्भधारणा होने के बाद कुछ काल तक गर्भवृद्धि होकर उसके पश्चात् उसकी वृद्धि रुक जाती है और गर्भ सूखने लगता है। जो लोग भूत-पिशाच के ऊपर विश्वास करते हैं, वे इस विकार को नैगमेषापहृत कहते हैं। वास्तव में वातविकृति का यह एक परिणाम है।

इस सूत्र में लीन और उपशुष्कक या नागोदर या नैगमेषापहृत करके गर्भ के दो विकार वर्णन किये गये हैं। आधुनिक पाश्चात्य परिभाषा के अनुसार यद्यपि इनके लिए निश्चित पर्याय देना मुश्किल है तथापि ये गर्भाशयस्थ मृतगर्भ (Intra-uterine death of the foetus) या मांस-गर्भ (Carneous mole) के समान मालूम होते हैं। इनमें लीनगर्भ कौन है और उपशुष्कक कौन है ? कहना कठिन है तथापि अगर नामकरण करना हो तो लक्षणों के अनुसार लीनगर्भ को Missed abortion कह सकते हैं। इसका वर्णन निम्न प्रकार से किया गया है—In exceptional cases, however, the dead foetus is not expelled from the uterus at once, but is retained for months, the so called 'missed abortion'. *Ten Teacher's Midwifery*. नागोदर को Carneous mole कह सकते हैं।

अत ऊर्ध्वं मासानुमासिकं वक्ष्यामः ॥६२॥

अब इसके पश्चात् मासानुमासिक (गर्भपात का चिकित्साक्रम) कहेंगे ॥६२॥

वक्तव्य—ये मासानुमासिक ओषधियाँ गर्भस्राव-प्रतिषेधक होती हैं। अतः जिनमें गर्भस्राव की प्रवृत्ति होती है, उनमें इसका उपयोग करना उचित है।

मधुकं शाकबीजं च पयस्या सुरदारु च।
अश्मन्तकस्तिलाः कृष्णास्ताम्रवल्ली शतावरी ॥६३॥
वृक्षादनी पयस्या च लता सोत्पलसारिवा।
अनन्ता सारिवा रास्ना पद्मा मधुकमेव च ॥६४॥
बृहत्यौ काश्मरी चापि क्षीरिशुङ्गास्त्वचो घृतम्।
पृश्निपर्णी बला शिग्रु श्वदंष्ट्रा मधुपर्णिका ॥६५॥
शृङ्गाटकं बिसं द्राक्षा कशेरु मधुकं सिता।
वत्सैते सप्त योगाः स्युरर्धश्लोकसमापनाः।
यथासंख्यं प्रयोक्तव्या गर्भस्रावे पयोयुताः ॥६६॥
कपित्थबृहतीबिल्वपटोलेक्षुनिदिग्धिका-
मूलानि क्षीरसिद्धानि पाययेद् भिषगष्टमे ॥६७॥
नवमे मधुकानन्तापयस्यासारिवाः पिबेत्।
क्षीरं शुण्ठीपयस्याभ्यां सिद्धं स्याद्दशमे हितम् ॥६८॥
सक्षीरा वा हिता शुण्ठी मधुकं सुरदारु च।
एवमाप्यायते गर्भस्तीव्रा रुक् चोपशाम्यति ॥६९॥

(मासानुमासिक ओषधिक्रम—) (१) मुलहटी, सागवान का बीज, क्षीरकाकोली और देवदारु। (२) पाषाणभेद, काले तिल, मञ्जिष्ठा, शतावरी ॥६३॥ (३) वृक्षादनी (बाँदा), क्षीरकाकोली, लता (गुडूची अथवा प्रियङ्गु) और अनन्तमूल। (४) अनन्तमूल, कृष्णसारिवा, रास्ना, पद्मा और मुलहटी ॥६४॥ (५) छोटी और बड़ी बृहती, गम्भारी, क्षीरी वृक्षों के अङ्कुर तथा छाल और घी। (६) पृश्निपर्णी, बला, शोभांजन, गोखरू, मधुपर्णिका ॥६५॥ (७) सिंघाड़ा, बिस (कमलमूल), मुनक्का (द्राक्षा), कसेरू, मुलहटी और खांड। हे सुश्रुत ! आधे श्लोक में समाप्त होने वाले ये सात योग क्रम से (सातों महीनों में) गर्भस्राव में दूध के साथ प्रयुक्त करावे ॥६६॥ आठवें महीने में वैद्य कैथ, बड़ी कटेरी, बेल, पटोल, ईख, छोटी कटेरी इनकी जड़ों से साधित क्षीर पिलावे ॥६७॥ नौवें महीने में मुलहटी, अनन्तमूल, क्षीरकाकोली और कृष्णसारिवा (इनसे साधित दूध) को पीवे। दसवें महीने में सोंठ तथा क्षीरकाकोली से साधित दूध हितकर होता है ॥६८॥ अथवा सोंठ, मुलहटी और देवदारु दूध के साथ हितकर होता है। इस प्रकार मासानुमासिक प्रयोग से गर्भ की वृद्धि होती है और तीव्र पीडा शान्त होती है ॥६९॥

वक्तव्य—पयस्या—अर्कपुष्पी। गयी तु पयस्यां क्षीरविदारीं क्षीरकाकोलीं वा ब्रूते। (डल्हण)। अश्मन्तकः—कोविदार-सदृशोऽम्लपत्रः अम्ललोटक इति लोके। (डल्हण)। 'आपटा' महाराष्ट्र भाषा में। यमलपत्रकः। (अरुणदत्त)। ताम्रवल्ली—रामतरुणी, मञ्जिष्ठामपरे। (डल्हण)। लता—प्रियङ्गु। (डल्हण)। गन्धप्रियङ्गुः। गौरसारिवेत्यन्ये। (अरुणदत्त)। गुडूची। (हाराणचन्द्र)। उत्पलसारिवा—अनन्तमूल या कृष्णसारिवा। (अरुणदत्त)। अनन्ता—दूर्वा। (इन्दु)। पद्मा—पद्मचारिणी, भार्गीमपरे। (डल्हण)। पयोयुताः—इन ओषधियों का चूर्ण, या कल्क दूध के साथ दे सकते हैं किंवा दूध में इनको साधित करके वह दूध दे सकते हैं। मधुपर्णी—मधुयष्टिका। (डल्हण)। जीवन्ती। (इन्दु)। गुडूची। (हाराणचन्द्र)।

निवृत्तप्रसवायास्तु पुनः षड्भ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वं प्रसवमानाया नार्याः कुमारोऽल्पायुर्भवति ॥७०॥

निवृत्तप्रसवा स्त्री के ६ वर्ष के पश्चात् उत्पन्न होने वाला बालक अल्पायु होता है ॥७०॥

वक्तव्य—माता और बालक के स्वास्थ्य की दृष्टि से दो गर्भधारणाओं के बीच में कुछ अन्तर होना आवश्यक है। इस अन्तर की अल्पतम मर्यादा का विचार पीछे १७वें सूत्र के वक्तव्य में 'मैथुन' की टिप्पणी में और २ अध्याय के ३४वें श्लोक के वक्तव्य के अन्त में किया गया है। इस सूत्र में इस अन्तर की अधिकतम मर्यादा बताई जाती है। इस सूत्र का अभिप्राय यह है कि एक गर्भधारणा के छः साल के पश्चात् यदि दूसरी गर्भधारणा हो तो जो बालक जन्म लेता है, वह अल्पायु होता है। अल्पायु का अर्थ अल्पप्राण, दुर्बल (Of low vitality) है। दुर्बलता के कारण वह थोड़ी उम्र में मर भी सकता है, परंतु यह कोई

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आवश्यक बात नहीं है। इसका कारण यह है कि जब चित काल में एक के बाद एक गर्भधारणा होती जाती , तब गर्भाशय अपने कर्म में मुरब्बी हो जाता है, याने त्तरोत्तर होने वाले बालक अधिकाधिक बलवान् होते हैं। epeated pregnancies tend to cause an increase the weight and length of the foetus. Such crease in weight occurs with greater regularity e longer are the intervals between each ccessive pregnancy. *Jellet's Midwifery* जैसे दो सवों का अन्तर अत्यन्त कम होने से बालक कमजोर ता है, वैसे ही दो प्रसवों के बीच का अन्तर अधिक होने बालक कमजोर रहता है क्योंकि अधिक काल बीतने से र्भाशय पूर्ववत् सिकुड़ जाता है। इसको समझाने के ए एक दृष्टान्त दिया जा सकता है। जैसे, कोई खिलाड़ी, हमेशा खेलता रहता है, फार्म (Form) में रहता है और धिक काल तक खेल छोड़ देने पर फार्म में नहीं (Out form) रहता है, वैसे ही अधिक काल तक गर्भधारणा होने से गर्भाशय 'आउट आफ फार्म' हो जाता है। इस धिक काल की मर्यादा आयुर्वेद में छः साल की बताई है। इसमें कुछ-कुछ घटा-बढ़ी हो सकती है परंतु यहाँ जो तत्त्व बताया गया है, वह बिलकुल ठीक है। राणचन्द्र इस सूत्र का अर्थ निम्न प्रकार से करते हैं— णां हि पञ्चाशति वर्षे आर्तवं क्षयं याति इत्युपदिष्टम्। अथापि त् कस्याश्चिदाहारगुणप्रकर्षादुपादानविशेषाद्वाऽधिकं कालं तत् र्तते तर्हि षट्पञ्चाशतः परं प्रसवमानायास्तस्याः प्रहीनबल- त्वेन कुमारोऽल्पायुर्भवतीत्यावेदयितुमिदमुच्यते निवृत्तेति। वृत्तप्रसवाया अतीतपञ्चाशद्वर्षायाः षड्भ्यो वर्षेभ्य ऊर्ध्वं प्रसव- ताया ऋतुमत्त्वेन प्रसवं कुर्वत्या इत्यर्थः। इसका अभिप्राय है कि साधारणतः ५० वर्ष की आयु में स्त्री निवृत्तार्तवा तएव निवृत्तप्रसवा भी हो जाती है; परंतु यदि आहारादि कारण आर्तव ५० से अधिक काल तक जारी रहे तो सको प्रजा भी हो सकती है। ५६ साल के बाद उत्पन्न ई प्रजा निर्बल या अल्पायु होती है। हाराणचन्द्र का यह त निम्न कारण से ठीक नहीं मालूम होता। (१) जिस लसिले में यह सूत्र आया है, उसके अनुसार निवृत्तप्रसवा अर्थ निवृत्तार्तवा करना ठीक नहीं है। इस अध्याय में मगर्भा स्त्री की प्रसूति और उसकी परिचर्या वर्णन पीछे ५वें श्लोक का वक्तव्य देखो) की गई है। उसी स्त्री संबंध में ये श्लोक हैं। अर्थात् प्रथम बालक के बाद सरा बालक वैसा ही स्वस्थ और दीर्घायु होने के लिए नों में कितना अन्तर उचित है, इस विषय का विवरण स सूत्र में किया गया है। सोलह या अठारह साल की म्र से छप्पन साल की उम्र में एकाएक कूद पड़ने की न ई आवश्यकता है, न प्रशस्तता मालूम होती है। (२) प्पन साल की उम्र के बाद आर्तवदर्शन जारी रहकर र्भोत्पत्ति होना यह संभवनीय घटना नहीं मालूम होती। ष्ण प्रदेशों में आर्तवनिवृत्ति की मर्यादा बढ़ने की अपेक्षा यः घट जाती है—The menstrual cycle comes to a final end at the menopause or climacteric at an avarage age of forty-five or rather earlier among the inhabitants of hot climates. *Introduction to sexual physiology by Marshall.* (३) छप्पन साल के बाद होने वाला बालक अल्पायु और छप्पन के पूर्व होने वाला दीर्घायु इस प्रकार का फर्क युक्तिसंगत नहीं मालूम होता। अगर इसमें कुछ तथ्य हो तो छप्पन के पूर्व और पश्चात् होने वाले दोनों बालक अल्पायु होंगे क्योंकि ऋतु (मौसम) के अन्त में वृक्षों को आने वाले फल हमेशा आकार में छोटे, विषम, कृमि से उपद्रुत हुआ करते हैं।

अथ गर्भिणीं व्याध्युत्पत्तावत्यये छर्दयेन्मधुराम्लेनान्नोपहितेनानुलोमयेच्च, संशमनीयं च मृदु विदध्यादन्नपानयोः, अश्नीयाच्च मृदुवीर्यं मधुरप्रायं गर्भाविरुद्धं च, गर्भाविरुद्धाश्च क्रिया यथायोगं विदधीत मृदुप्रायाः ॥७१॥

(गर्भिणी चिकित्सा के लिए कुछ मार्गदर्शक सूचनाएँ—) तीव्र व्याधि उत्पन्न होने पर गर्भिणी को मधुर और अम्ल अन्न के साथ (मिलाई हुई ओषधि से) वमन करावे तथा अनुलोमन भी करावे। मृदुसंशमनीय भी अन्नपान के साथ दे। मृदुवीर्य, मधुरभूयिष्ठ और गर्भ को हानि न करने वाला अन्न सेवन करावे। इसी प्रकार गर्भ को हानि न करने वाली और हलकी क्रियाएँ करावे ॥७१॥

भवन्ति चात्र—

सौवर्णं सुकृतं चूर्णं कुष्ठं मधु घृतं वचा।
मत्स्याक्षकः शङ्खपुष्पी मधु सर्पिः सकाञ्चनम् ॥७२॥
अर्कपुष्पी मधु घृतं चूर्णितं कनकं वचा।
हेमचूर्णानि कैडर्यः श्वेता दूर्वा घृतं मधु ॥७३॥
चत्वारोऽभिहिताः प्राशाः श्लोकार्धेषु चतुर्ष्वपि।
कुमाराणां वपुर्मेधाबलबुद्धिविवर्धनाः ॥७४॥

इति सुश्रुतसंहितायां शारीरस्थाने गर्भिणीव्याकरणं शारीरं नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥

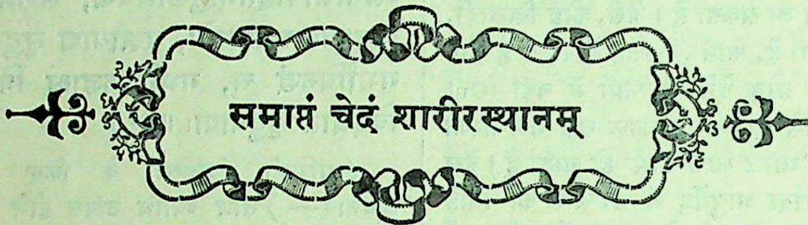
(बालबुद्धिवर्धक योग—) अच्छी तरह से तैयार किया हुआ सोने का चूर्ण, कुष्ठ, मधु, घी और वचा। मत्स्याक्षक (ब्राह्मी), शङ्खपुष्पी, मधु, घी और सुवर्णचूर्ण ॥७२॥ अर्कपुष्पी (पयस्या), मधु, घी, सुवर्णचूर्ण और वचा। सुवर्णचूर्ण, कैडर्य (कट्फल, पर्वतनिम्ब) श्वेतदूर्वा, घी और मधु ॥७३॥ चार श्लोकार्धों में बताये हुए ये चार प्राश (लेह) बालकों के शरीर, मेधा (ग्रहणशक्ति), शक्ति, बुद्धि को बढ़ाने वाले हैं (इनमें से किसी एक योग को प्रयुक्त करे ॥७४॥

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

महाराष्ट्रप्रदेशे वै राजुरीग्रामजन्मिना ।
घाणेकरउपाह्वेन काशीक्षेत्रनिवासिना ॥
श्रीगोविन्दस्य पुत्रेण भास्करेण सुधीमता ।
वैद्यके प्राच्यपाश्चात्त्ये ह्याचार्योपाधिधारिणा ॥
आयुर्वेदं सुनिर्मथ्य पाश्चात्त्यं वैद्यकं तथा ।
आयुर्वेदोपनीतानि शास्त्राण्यन्यानि वीक्ष्य च ॥
नानातन्त्रविहीनानां भिषजां चाल्पमेधसाम् ।
छात्राणां चोपकाराय यथानामतथागुणा ॥
आयुर्वेदरहस्याख्या दीपिका लिखिता च या ।
इयताऽवधिना तस्याः शारीरं च समाप्यते ॥

इति भास्करशर्मणा गोविंदात्मजेन विरचितायामायुर्वेदरहस्यदीपिकायां सुश्रुतभाषाटीकायां गर्भिणीव्याकरणं शारीरं नाम दशमोऽध्यायः समाप्तः॥



पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी
पुस्तकालय गुरुकुल कांगड़ी

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रीः

सुश्रुतसंहितायाः संस्कृत-हिन्दी-शब्दानुक्रमणिका

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ENGLISH INDEX

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Q

R

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

T

U

V

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आयुर्वेद के विद्यार्थियों तथा वैद्यों के लिए

उपयोगी पुस्तकें

लेखक—आयुर्वेदाचार्य डा० भास्कर गोविंद घाणेकर बी० एस० सी०, एम० बी० बी० एस०

(१) स्वास्थ्यविज्ञान—इसमें हवा, जल, अन्न, संक्रामक रोग इत्यादि स्वास्थ्यरक्षासंबंधी संपूर्ण विषयों का विवरण बहुत सुचारु रूप से किया गया है। साथ साथ आयुर्वैदिक ग्रंथों के तुलनात्मक प्रमाण भी दिये गये हैं। निखिल भारतवर्षीय आयुर्वेद महामण्डल की भिषक् तथा विशारद परीक्षा के लिए और मध्यप्रांत में वाचनालय के लिए यह पुस्तक स्वीकृत हुई है। संशोधित और परिवर्धित द्वितीयावृत्ति। मूल्य २॥) ढाई रुपया

(२) स्वास्थ्य-शिक्षा पाठावलि (संस्कृत)—इसमें चरक-सुश्रुतादि आयुर्वैदिक ग्रंथों के तथा संस्कृत ग्रंथों के स्वास्थ्य विषयक संस्कृत श्लोकों का संग्रह विषयानुसार किया गया है। संक्षेप में यह स्वास्थ्यसुभाषित-संग्रह है। कठिन शब्दों पर टिप्पणी भी दी गई है। मूल्य ॥) आठ आना

(३) जीवाणुविज्ञान—इसमें पाश्चात्त्य वैक्टेरिआलजी का समस्त उपयोगी भाग वर्णन किया गया है। इसके सिवाय स्थान स्थान पर तुलनात्मक श्लोक भी दिये गये हैं। अन्त में आयुर्वेदोक्त जीवाणुविज्ञान पर स्वतन्त्र और विस्तृत लेख दिया गया है। हिन्दी में इस विषय की यही एकमात्र पुस्तक है। मूल्य २॥)

(४) जीवन रसायन चिकित्सा-शास्त्र—इस पुस्तक में डाक्टर सूजलर की द्वादश क्षार-चिकित्सा का सांगोपांग विचार किया गया है। मूल्य २॥।)

(५) *Ayurvedic conception of urine formation in human body.* इस अंग्रेजी पुस्तिका में आयुर्वैदिक ग्रंथों के आधार पर मनुष्य शरीर में मूत्र कैसे और कहाँ उत्पन्न होता है, इस विषय का तुलनात्मक विवरण किया है और उसके अनुसार कुछ रोगों की संप्राप्ति दिखलाई गई है। मूल्य =) दो आना

(६) *Comparative Survey of Ayurvedic Nosology.* इसमें ग्रंथकार ने रोगों के हेतु, लक्षण, संप्राप्ति, निदान, चिकित्सा इन विषयों में आयुर्वेद और एलोपैथी की तुलना करके आयुर्वेद की श्रेष्ठता और वैज्ञानिकता सिद्ध की है। मूल्य १)

(७) औपसर्गिक रोग (Infections diseases)—इस ग्रंथ में छूत के रोगों का अद्ययावत् (Up-to-date) वर्णन है। प्रथम भाग ३॥), द्वितीय भाग ४)

प्राप्तिस्थान—डा० भास्कर गोविन्द घाणेकर, क्लब के सामने, हिंदू यूनिवर्सिटी, बनारस

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



R

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri



CC-0. In Public Domain. Gurukul Kangri Collection, Haridwar

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri